॥ श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः ॥

महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन–वेदव्यासेन विरचितम्

वेदान्तसूत्रम्

प्रथमः अध्यायः

गौड़ीयवेदान्ताचार्य

श्रीश्रीमद्बलदेव–विद्याभूषण–कृत

श्रीगोविन्दभाष्येण सूक्ष्मा टीकया च समेतम्

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्यकेशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुगृहीत

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा

सम्पादित

तत्कृत 'गोविन्दतोषणीवृत्ति' सहित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

अवतरणिका भाष्य, भाष्यानुवाद, अवतरणिका-भाष्यकी टीका, टीकानुवाद, सूत्र, सूत्रार्थ, सूत्रानुवाद, मूल-गोविन्दभाष्य, भाष्यानुवाद, मूलभाष्यकी सूक्ष्मा-टीका और टीकानुवाद एवं सम्पादक-कृत गोविन्दतोषणीवृत्ति नामक अनुव्याख्या सहित प्रकाशित

प्रथम संस्करण—
नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजजीकी
तृतीय-विरह-तिथि, २६ दिसम्बर, २०१३

प्राप्तिस्थान

श्रीरमणविहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०९८७१५७७३५४

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰प्र॰)

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ॰प्र॰)
०९७६०९५२४३५

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
राधाकुण्ड रोड, गोवर्धन (उ॰प्र॰)
०९६२७४२६३४३

श्रीराधामाधव गौड़ीय मठ
२९३, सैक्टर-१४
फरीदाबाद, हरियाणा
०९९११२८३८६९

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प॰बं॰)
०९१५३१२५४४२

जयश्री दामोदर गौड़ीय मठ
चक्रतीर्थ रोड, जगन्नाथपुरी,
उड़ीसा
०६७५२-२२७३१७

खण्डेलवाल एण्ड सन्स
अठखम्भा बाजार,
वृन्दावन (उ॰प्र॰)
०५६५-२४४३१०१

Please visit us at www.purebhakti.com

समर्पण

हम यह ग्रन्थ गौड़ीय वेदान्त प्रकाशनके संस्थापक एवं श्रीचैतन्य महाप्रभुके मनोऽभीष्ट संस्थापक श्रील रूप गोस्वामी द्वारा प्रवर्त्तित विशुद्ध–व्रजरस–धाराको वर्त्तमान समयमें सम्पूर्ण विश्वमें अत्यधिक प्रभावशाली पद्धतिसे संरक्षित एवं प्रवाहित करनेवाले श्रीमन्महाप्रभुके नित्य परिकर अपने उन परमाराध्यतम श्रील गुरुदेव नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजजीके श्रीकरकमलोंमें समर्पित करते हैं, जिन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभुके अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्तसे परिपूर्ण एवं श्रील रूप गोस्वामी द्वारा प्रतिष्ठापित श्रीश्रीगोविन्ददेवजीकी आज्ञानुसार रचित 'गोविन्दभाष्य' से समन्वित वेदान्तसूत्रको हिन्दी अनुवाद सहित सम्पादितकर गौड़ीय–वैष्णव–सम्प्रदायके एक बहुत बड़े अभावको पूर्ण किया है।

—प्रकाशन–मण्डली

प्रकाशन–मण्डली

अनुवादक

श्रीमती डा॰ मधु खण्डेलवाल 'साहित्याचार्या'
एम॰ए॰ (संस्कृत) पी॰एच॰डी॰

टाइप

श्रीपाद भक्तिवेदान्त सिद्धान्ती महाराज
श्रीमान् सुबलसखा दास ब्रह्मचारी
श्रीमान् अच्युतानन्द दास ब्रह्मचारी
श्रीमान् सञ्जय दास ब्रह्मचारी
श्रीमान् प्राणकृष्ण दास ब्रह्मचारी
श्रीमान् दामोदर दास ब्रह्मचारी
श्रीमान् गौरराज दास ब्रह्मचारी
श्रीमान् सुन्दर गोपाल ब्रह्मचारी
श्रीयुक्ता वृन्दा देवी दासी

प्रकाशन संयोजना

श्रीमान् माधवप्रिय दास ब्रह्मचारी
श्रीमान् अमलकृष्ण दास ब्रह्मचारी
श्रीमान् विजयकृष्ण दास ब्रह्मचारी

प्रूफ–संशोधन

श्रीपाद भक्तिवेदान्त माधव महाराज
श्रीमती डा॰ मधु खण्डेलवाल

ले–आउट

श्रीयुक्ता शान्ति दासी

कवर–डिजाइन

श्रीमान् कृष्णकारुण्य दास ब्रह्मचारी

कवर–चित्र

श्रीयुक्ता श्यामरानी दासी

आभार

श्रीमान् परमेश्वरी दास ब्रह्मचारी
श्रीमान् दयानिधि दास ब्रह्मचारी
श्रीयुक्ता व्रजकिशोरी दासी



कृतज्ञता

निम्नलिखित भक्तजन इस ग्रन्थके प्रकाशनमें आर्थिक सेवानुकूल्य प्रदानकर श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गके कृपाभाजन हुए हैं। प्रकाशन–मण्डली इन सबके प्रति आन्तरिक कृतज्ञता ज्ञापन करती है।

श्रीमती सपना रमेश खण्डेलवाल (मुम्बई), श्रीमती बरखा मयंक रावत (सिंगापुर), श्रीमती मीना खण्डेलवाल (दिल्ली), श्रीमती लता राजेन्द्र अग्रवाल (मुम्बई), श्रीमती विमला नवलकिशोर बैरीवाल (मुम्बई), श्रीमती श्यामलता खण्डेलवाल (मुम्बई), श्रीमती श्वेता गौरव धामाणी (जयपुर), श्रीमती शैला भानु खण्डेलवाल (मुम्बई), श्रीमती अनुराधा खण्डेलवाल (मुम्बई), श्रीमती नीता प्रमोद खण्डेलवाल (हलद्वानी), श्रीमती गीता गोविन्द खण्डेलवाल (वर्द्धमान), श्रीमान् पुरुषोत्तम दास पीतलिया एवं उनके पुत्रद्वय अजय–संजय पीतलिया।

प्रशस्तिपत्रम्

श्रीवेदव्यास–प्रशस्तिः

पाराशर्यमुनिः पुराणनिचयं वेदार्थसारान्वितं
स्त्रीशूद्रप्रतिबोधनाय च विदां वेदान्तशास्त्रं मुदे।
श्रीगीतावचसां विधाय विवृतिं ज्ञानप्रदीप प्रभा–
लोकैर्लोकमतिं समुज्ज्वलरुचिं लोके कृतार्थां दधौ॥

श्रीपराशरमुनिके पुत्र श्रीवेदव्यासजीने स्त्री, शूद्र इत्यादिके बोधके लिए वेदोंके सार अर्थसे युक्त पुराणसमूह और विद्वानोंके आनन्दके लिए श्रीगीताके वचनोंके भाष्यस्वरूप श्रीवेदान्तशास्त्रकी रचनाके द्वारा जगत्में ज्ञानरूपी प्रदीपकी प्रभासे मनुष्योंकी मतिको समुज्ज्वल कान्तिसे युक्त करके उन्हें कृतार्थ कर दिया है।

श्रीवेदव्यास–प्रणतिः

वेदं प्रमथ्य जलधिं मतिमन्दरेण
कृष्णावतार! भवता किल भारताख्या।
येनोदहारि जनतापहरा सुधा वै
तं सर्ववैदिक गुरुं मुनिमानताः स्मः॥

हे कृष्णके अवतार श्रीवेदव्यासजी! आपने बुद्धिरूपी मन्दराचलसे वेदरूपी सागरका मन्थन करके जगत्–जीवोंके तापको हर लेनेवाली महाभारत नामक सुधाका संग्रह किया है। समस्त वेदोंको जाननेवाले ऐसे गुरुस्वरूप, हे मुनिवर! आपको हम नमस्कार करते हैं।

वेदान्तसूत्र–महिमा

वेदान्तसूत्रमहिमा किमु वर्णनीयो
युक्त्या निरीश्वरमतानि निरस्य सम्यक्।
संस्थाप्य सेश्वरमतं श्रुतिभिः कृता य–
ल्लोका हरेर्भजनतः सुखमुक्तिभाजः॥

जिसने युक्तियोंके द्वारा निरीश्वरवादी मतोंको सुचारु रूपसे निरस्त कर दिया है एवं श्रुतियोंके आश्रयसे सेश्वरमतकी स्थापना की है तथा जिसके फलस्वरूप लोग भगवान् श्रीहरिका भजन करते हुए सुखपूर्वक मुक्तिके भागीदार हुए हैं, अहो! ऐसे वेदान्तसूत्रकी महिमाका किस प्रकारसे वर्णन किया जा सकता है।

श्रीबलदेव-वन्दना

नमामि पादौ बलदेवदेव!
तव प्रपन्नोऽहमतीव दीनः।
कृपाकरैर्भेदमतिं तमो मे
निरस्य विद्योतय शुद्धबुद्धिम्॥

हे देव श्रीबलदेव प्रभु! आपके श्रीचरणयुगलमें मेरा बार-बार नमस्कार है। मैं अत्यधिक दीनतापूर्वक आपके शरणागत होता हूँ। आप अपनी कृपारूपी किरणोंसे मेरे भेदबुद्धि (विश्व परमात्मासे भिन्न है) स्वरूप अज्ञान-अन्धकारको विदूरितकर मुझमें शुद्धबुद्धिका प्रकाश करें।

आचार्य श्रीबलदेव-प्रशस्तिः

जय जय बलदेव! श्रीमदाचार्यपाद!
व्रजपतिरतिगौरं सम्प्रदायस्य धर्मम्।
गुरुमवितुमहो ते स्वप्नदृष्टस्य विष्णोः
प्रियललितनिदेशान् नाम गोविन्दभाष्यम्॥

हे श्रीमद् आचार्यपाद! हे श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभु! आपकी जय हो, जय हो। आपने व्रजपति श्रीकृष्णकी रतिसे विभावित गौड़ीय-सम्प्रदायके धर्मको गौरवान्वित किया है। अहो! गुरुवर्गके विचारोंकी रक्षाके लिए आपने स्वप्नमें दृष्ट भगवान् विष्णु (श्रीगोविन्ददेव) के प्रिय-मनोहर आदेशोंसे 'श्रीगोविन्द' नामक भाष्यकी रचना की है।

श्रीगोविन्दभाष्य–महिमा

विद्धाद्वैतान्धकार प्रलय दिनकर! त्वतकृताचिन्त्यभेदा–
भेदाख्योवाद एषोऽम्बुजरुचिरधुना यद् रसं वैष्णवालिः।
श्रीमद्गौराङ्गदेवानुमतमनुगतं प्रेमनिस्यन्दि पायं
पायं श्रीमच्छुकास्याद् विगलितममृतं लीयते तत्र नित्यम्॥

हे गोविन्दभाष्य! आप अद्वैत–अन्धकाररूप प्रलयको नाश कर देनेवाले सूर्यस्वरूप हैं। इस समय आपके द्वारा अचिन्त्यभेदाभेदवाद नामक कमल–मकरन्द–रस विकसित हुआ है। इस भेदाभेदवादके परिप्रेक्ष्यमें श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके मतानुयायी रसिक वैष्णवगण इस प्रेम–स्रोतके रसका पान करते–करते श्रील शुकदेवके मुखसे निःसृत श्रीमद्भागवतामृतमें सर्वदा लीन रहते हैं।

सूक्ष्मा–टीका–प्रशस्तिः

सूक्ष्माभिधाना बुध! तस्य टीका
सूक्ष्मार्थबोधाय कृता त्वया वै।
उच्चित्य पौराणवचः श्रुतीश्च
भूयस्तदीयाङ्घ्रियुगं स्मरामः॥

हे विद्वत्वर (श्रीबलदेव प्रभु)! श्रुतियों (उपनिषदों) एवं पौराणिक वचनोंका चयन करके आपके द्वारा रचित सूक्ष्म–से–सूक्ष्म अर्थका बोध करानेवाली यह सूक्ष्मा नामक टीका धन्य है। हम आपके चरणयुगलका पुनः–पुनः स्मरण करते हैं।

सूक्ष्मा–टीका–महिमा

संक्षिप्त–सारमय–भाषितपूर्णमूर्त्तिः
सूक्ष्माभिधेयमनुभाष्यमशेषटीका ।
दीपं विनान्धतमसे न यथार्थदृष्टि–
रेनामृते स्फुरति भाष्यमिदं तथा न॥

संक्षिप्त एवं सारमय भाषासे युक्त गोविन्दभाष्यरूप पूर्णमूर्त्तिको सूक्ष्मा नामक अनुभाष्यने सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अशेष अर्थों द्वारा सम्यक् रूपसे प्रकाशित कर दिया है। (गोविन्दभाष्यके पश्चात् लिखे जानेके कारण इसे अनुभाष्य कहा गया है) जिस प्रकार गाढ़ अन्धकारमें दीपकके बिना यथार्थ दृष्टिशक्ति नहीं होती, उसी प्रकार इस अमृतस्वरूप सूक्ष्मा-टीकाके बिना गोविन्दभाष्यके गूढ़ विषय कभी भी हृदयमें स्फुरित नहीं हो सकते। अर्थात् यह सूक्ष्मा-टीका गोविन्दभाष्यको प्रकाशित करनेके लिए दीपकके समान है।

वैष्णव-प्रशस्तिः

धन्या वैष्णवमण्डली व्रजपतिप्रेम्णा यया रक्ष्यते
गोविन्दप्रियपुस्तकावलिरहो काले महासङ्कटे।
धन्यास्तत्परिशीलका अपि धनैः प्राणैश्च ये सेवका
योगक्षेमकरस्तनोतु भगवांस्तेषां हरिर्मङ्गलम्॥

अहो! वैष्णवमण्डली धन्य है! व्रजपति श्रीकृष्णके प्रेमवशतः जिसके द्वारा महासङ्कटकालमें गोविन्दप्रिय ग्रन्थावलीकी रक्षा की जाती है। इन ग्रन्थोंका अनुशीलन एवं अध्ययन करनेवाले धन्य हैं और जो धन एवं प्राणसे इन ग्रन्थावलीकी सेवा करते हैं, वे भी धन्य हैं। भगवान् श्रीहरि उन सबका योगक्षेम वहन करते हुए उनका मङ्गल विधान करें।



विषयानुक्रमणिका



सांकेतिक चिह्नोंकी सूची

अ॰—अन्त्यलीला, अन्त्यखण्ड
अ॰को॰—अमरकोष
आ॰प॰—आदि पर्व
आ॰—आदिलीला
ऐ॰—ऐतरेयोपनिषद
ऋ॰सं॰—ऋग्वेदसंहिता
कठ॰—कठोपनिषद
कै॰—कैवल्योपनिषद
कौ॰ब्रा॰—कौषीतकीब्राह्मण
गो॰ता॰—गोपालतापनी-उपनिषद
चै॰च॰—चैतन्यचरितामृत
छा॰—छान्दोग्योपनिषद
छा॰ब्रा॰—छान्दोग्यब्राह्मण
तै॰—तैत्तिरीयोपनिषद
तै॰ब्रा॰—तैत्तिरीयब्राह्मण
तै॰सं॰—तैत्तिरीयसंहिता
पा॰सू॰—पाणिनिसूत्र
पु॰सू॰—पुरुषसूक्त
बृ॰आ॰—बृहदारण्यकोपनिषद
ब्र॰सू॰—ब्रह्मसूत्र
म॰—मध्यलीला, मध्यखण्ड
म॰भा॰—महाभारत
मनुः—मनुस्मृति
महाना॰—महानारायणोपनिषद
महो॰—महोपनिषद
मी॰द॰—मीमांसादर्शन
मु॰—मुण्डकोपनिषद
मोक्ष॰—मोक्षपर्व
वि॰पु॰—विष्णुपुराण
वे॰सू॰—वेदान्तसूत्र
श॰भा॰—शङ्करभाष्य
शत॰ब्रा॰—शतपथब्राह्मण
श्रीहरि॰व्या॰—श्रीहरिनामामृत-व्याकरण
सां॰का॰—सांख्यकारिका
सु॰उ॰—सुबालोपनिषद

निवेदन

श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायके अमित प्रभावशाली आचार्य-भास्कर श्रीश्रीलभक्तिविनोद-गौरकिशोर-सरस्वती ठाकुरके मनोऽभीष्टपूरक, श्रीगौरसुन्दरकी परम्परामें दशमाधस्तन एवं श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति और उसके अधीन समग्र भारतव्यापी शाखा गौड़ीय मठोंके संस्थापक आचार्यकेशरी ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके परम प्रियतम पार्षद हमारे परमाराध्यातम श्रील गुरुदेव ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी अनुकम्पा और प्रेरणासे आज श्रीगौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु द्वारा विरचित 'गोविन्दभाष्य' एवं 'सूक्ष्मा-टीका' सहित महर्षि श्रीवेदव्यासकृत 'वेदान्तसूत्र' ग्रन्थ पाठकोंके सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हम प्रचुर आन्तरिक आनन्दका अनुभव कर रहे हैं।

श्रील गुरुदेवने अपने गुरुदपाद्म नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके मनोऽभीष्टको पूर्ण करनेके उद्देश्यसे उनके ही सतीर्थ नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिश्रीरूप सिद्धान्ती गोस्वामी महाराज द्वारा बँगला भाषामें सम्पादित ग्रन्थके आधारपर ही हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करवाया एवं अक्लान्त भावसे अनुवाद कार्यका संशोधन एवं सम्पादन किया। इस ग्रन्थपर कार्य करते समय यद्यपि श्रील गुरुदेव इस जगत्में जन-साधारणके सम्मुख अस्वस्थ लीलाका प्रदर्शन कर रहे थे, किन्तु वृद्धावस्था एवं अस्वस्थताके बीच भी अथक परिश्रमकर वे दिवा-रात्रि इसके सम्पादनमें रत रहते थे। वे प्रत्येक कार्यको इतनी तन्मयता एवं रुचिके साथ करते कि सब हतप्रभ रह जाते थे। जो भी उन्हें सम्पादन कार्य करते देखता या फिर उनके परिश्रमके विषयमें सुनता, वह विस्मित हुए बिना नहीं रह पाता था।

श्रील गुरुदेवने वेदान्तके अकृत्रिम भाष्य श्रीमद्भागवत और श्रीगोविन्दभाष्यके अनुसरणपूर्वक नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद

अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिश्रीरूप सिद्धान्ती गोस्वामी महाराज द्वारा बँगला भाषामें लिखित 'सिद्धान्तकणा' नामक अनुव्याख्याके आधारपर प्रणीत 'गोविन्दतोषणी' नामक 'वृति' सहित हिन्दी भाषामें वेदान्तसूत्रका सम्पादन करके न केवल गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायका गौरव वर्द्धित किया है, अपितु परमार्थ तत्त्वानुशीलन अभिलाषी सभी सुधीजनोंका असीम उपकार और आनन्द विधान किया है। इस 'गोविन्दतोषणीवृत्ति' में वेदान्तके दुरुह एवं जटिल विषयोंको अत्यन्त सरलभाषामें परिस्फुट किया गया है।

यद्यपि श्रीमद्भागवतको ही गौड़ीयजन वेदान्तके अकृत्रिम भाष्यके रूपमें जानते हैं, तथापि श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु द्वारा श्रीगोविन्ददेवजीके आदेशसे विरचित श्रीगोविन्दभाष्य और सूक्ष्मा-टीका भी गौड़ीय जगत्की एक अमूल्य सम्पद है। अतः गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषणके द्वारा विरचित गोविन्दभाष्यसे समन्वित वेदान्तसूत्रके आत्मप्रकाशित होनेसे यह ग्रन्थरत्न विद्वतजनोंके निकट परमादृत होगा—इसमें सन्देह नहीं है।

श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास प्रणीत वेदान्तसूत्र ब्रह्मतत्त्व निर्णायक परम प्रमाणिक ग्रन्थ है। वेदके चरम और परम सिद्धान्त इस ग्रन्थमें निबद्ध हैं।

श्रील गुरुदेवने इस ग्रन्थरत्नके विषयमें अनुवादिका श्रीमती मधु खण्डेलवालसे कहा था—"मैं विश्व-ब्रह्माण्डमें इस प्रकारका ग्रन्थ नहीं देखता हूँ। इस ग्रन्थसे जीवोंका बहुत कल्याण होगा।"

श्रील गुरुदेवने स्वरचित अपने गुरुपादपद्मकी जीवनी 'आचार्य केशरी—श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी' में लिखा है—"मेरे परमाराध्यतम श्रीगुरुपादपद्मका आन्तरिक भाव, जिसे वे अपने भाषणोंमें प्रायः उल्लेख किया करते थे, यह था कि पारमार्थिक जीवनके निर्माणके लिए महाजनोंकी निर्मल शिक्षाका अवलम्बन करना परम आवश्यक है। श्रीवेदव्यासजीने जीवोंके सर्वोत्तम कल्याणके लिए ब्रह्मसूत्रकी रचना की है। ब्रह्मसूत्रका दूसरा नाम भक्तिसूत्र भी है।

"वेदोंके सारभागका नाम उपनिषद है। इन उपनिषदोंकी संख्या १९०० से भी अधिक है। इन उपनिषदोंका प्रतिपाद्य विषय निखिल

अप्राकृत सद्गुणोंके आलय सर्वशक्तिमान, आनन्दमय परब्रह्मकी आराधना अर्थात् भक्ति है। जीव इस आराधनाके द्वारा ही जन्म, मृत्यु और त्रितापमय क्लेशसे सदाके लिए निवृत्त होकर परमानन्द पूर्णब्रह्म श्रीकृष्णकी प्रेममयी सेवाकी प्राप्ति कर सकता है। उपनिषदोंमें कहीं-कहीं आपात्-विरोधी मन्त्र या वाक्य दृष्टिगोचर होनेपर भी ये सभी एक तात्पर्यपर हैं, उनमें यथार्थतः परस्पर कोई भेद नहीं है। सर्वज्ञ श्रीवेदव्यासने इन उपनिषदोंके अत्यन्त दुर्गम एवं निगूढ़ सिद्धान्तोंको हृदयङ्गम करानेके लिए ५५० सूत्रोंकी रचना की है, जिन्हें ब्रह्मसूत्र, वेदान्तसूत्र या शारीरकसूत्र भी कहते हैं।

"हमारे भारतीय आचार्योंने वेदान्तसूत्रोंका अपने-अपने भावोंके अनुरूप भाष्य लिखकर अपने-अपने मतकी पुष्टिका प्रयास किया है। सर्वज्ञ श्रीवेदव्यासने उसी समय जान लिया था कि भविष्यमें विभिन्न आचार्यगण अपने मतानुसार मेरे सूत्रोंकी टीका-व्याख्या आदि करेंगे। इसीलिए उन्होंने स्वयं ही उसका भाष्य लिखा, जो श्रीमद्भागवतके नामसे प्रसिद्ध है। उन्होंने स्वरचित पुराणोंमें इसे स्पष्ट रूपसे लिखा है—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिवृंहितः॥

(गरुड़पुराण)

अर्थात् श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्रका अर्थ, महाभारतका तात्पर्य-निर्णय, गायत्रीका भाष्य और समस्त वेदोंके तात्पर्यका संवर्द्धन है।

और भी,

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥

(श्रीमद्भा॰ १२/१३/१५)

अर्थात् समस्त वेदोंके सारको ही श्रीमद्भागवत कहा जाता है। जो इस रससुधाका पान करके तृप्तिका अनुभव करता है, वह अन्य किसी पुराण-शास्त्रमें नहीं रम सकता।

"श्रीवेदव्यासने वेदान्तसूत्रमें *'आनन्दमयोऽभ्यासात्'*, *'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्यां'*, *'अनावृत्ति शब्दात् अनावृत्ति शब्दात्'* इत्यादि सूत्रों

द्वारा स्पष्ट रूपसे भगवद्भक्तिका ही प्रतिपादन किया है। साथ ही वेदान्त-भाष्य श्रीमद्भागवतमें भी उन्होंने *'स वै पुसां परो धर्मो यतो* ***भक्ति****रधोक्षजे।' 'मयि* ***भक्ति****र्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते', 'यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरुषे।* ***भक्ति****रुत्पद्यते', '****भक्त्या****हमेकया ग्राह्यः'* आदि श्लोकोंके द्वारा भी उक्त भक्तिका ही प्रतिपादन किया है। वेदान्तविद्-चूड़ामणि श्रील जीव गोस्वामी तथा गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुने शास्त्रीय प्रमाणों तथा अकाट्य युक्तियोंसे भक्तिको ही वेदान्तसूत्रका प्रतिपाद्य विषय प्रमाणित किया है। अतः भक्ति ही वेदान्तसूत्रका सिद्धान्ततः प्रतिपाद्य विषय है।

"कुछ अर्वाचीन तथाकथित विद्वान लोग ज्ञान और मुक्तिको वेदान्तका प्रतिपाद्य विषय प्रमाणित करनेकी कष्ट-कल्पना करते हैं। किन्तु यह विशेष रूपसे लक्ष्य करनेकी बात है कि वेदान्तसूत्रके ५५० सूत्रोंमें कहीं भी 'ज्ञान' या 'मुक्ति' शब्दका उल्लेख नहीं है। आचार्य शङ्कर *'वैष्णवाणां यथा शम्भो'*—इस उक्तिके अनुसार परम वैष्णव हैं। उन्होंने किसी विशेष कारणसे कपोल-कल्पित शास्त्रविरुद्ध केवलाद्वैतवाद या मायावादका प्रचार किया। अतः जीवोंके कल्याणके लिए विश्वमें सर्वत्र इस गूढ़ रहस्यका प्रचार करनेके लिए मैंने इस समितिका नाम 'श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति' रखा है।"

श्रील गुरुदेवके ज्येष्ठ सतीर्थ नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराजने सिद्धान्तरत्नम् ग्रन्थके स्वलिखित 'सम्पादकीय निवेदन' में वर्णन किया है कि श्रीगुरुपादपद्म नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजने गौड़ीय वेदान्त और गौड़ीय-वेदान्ताचार्य केशरी श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुके प्रति विशेष गौरव-प्रदर्शन करनेके लिए ही अपने प्रतिष्ठित मिशनका नाम 'श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति' रखा है। इस विषयमें उन्होंने लिखा है—"'ब्रह्म' शब्द 'शब्दब्रह्म' को लक्ष्य करता है। यह शब्दब्रह्म ही श्रीमन्महाप्रभुका प्रचारित श्रीनाम-ब्रह्म है। जो इस नाम-ब्रह्मका अनुसन्धान नहीं करते अथवा नामतत्त्वको नहीं जानते, उनका विशुद्ध-नाम-भजन नहीं हो सकता। इसीलिए मैं श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिकी स्थापना करके श्रीमन्महाप्रभुके

नाम-प्रेम धर्मको ही वेदान्तके प्रतिपाद्य विषयके रूपमें कहकर सर्वत्र प्रचारित कर रहा हूँ।"

श्रील भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराजने और भी लिखा है—"श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके साथ श्रीगौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुका अच्छेद्य सम्बन्ध है। श्रीबलदेवके आचार-विचार और भजन-पद्धतिको श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिने सम्पूर्ण रूपसे अङ्गीकार किया है, क्योंकि श्रील बलदेव प्रभु रूपानुग वैष्णव हैं।

"श्रील गुरुपादपद्मने अपने अभीष्टदेव ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपादकी उक्ति 'जब तक पृथ्वीपर शङ्करदर्शन प्रचलित रहेगा, तब तक शुद्धभक्ति (के प्रचार) में बाधा उत्पन्न होती रहेगी' सुनकर श्रीशङ्करके अद्वैतवाद या मायावादको समूल उखाड़ फैंकनेके उद्देश्यसे विभिन्न भाष्यकारोंके वेदान्तदर्शनके १०-१२ भाष्य संग्रहकर उनकी चर्चा करके ऐसा सिद्धान्त स्थापन किया कि आचार्य शङ्करके ब्रह्मसूत्रका मौलिक सिद्धान्त वेदान्तदर्शनसे सम्पूर्णतः विरुद्ध है। ब्रह्म निराकार, निर्विशेष और निर्गुण स्वरूप नहीं हैं। वेदान्तदर्शनके किसी भी सूत्रमें उक्त तीनों शब्दोंका उल्लेख नहीं है। 'ज्ञान' शब्द ब्रह्मसूत्रमें कहीं भी दृष्ट नहीं हुआ है। इसलिए 'ब्रह्मवाद' को कभी भी 'ज्ञानवाद' कहकर स्वीकार नहीं किया जा सकता। श्रीवेदव्यास, शाण्डिल्यऋषि और नारदऋषिने भी व्याससूत्रको भक्तिग्रन्थ कहकर निर्देश किया है।

"श्रीगुरुपादपद्मने और भी लिखा है कि श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुकी चर्चा करते ही सर्वप्रथम उनके द्वारा कृत वेदान्तभाष्य—श्रीगोविन्दभाष्यकी बात स्मृति पटलपर जाग्रत होती है। उनके भाष्यने ही उन्हें चारों सम्प्रदायोंमें सञ्जीवित करके रखा हैं। उन्होंने गोविन्दभाष्यकी 'सूक्ष्मा' नामक एक टीकाकी भी रचना की है।

"श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु गौड़ीय-सम्प्रदायके एक नक्षत्र विशेष हैं। षड्-गोस्वामियोंके उपरान्त उन्होंने सम्प्रदायका जैसा उपकार किया है, वैसा अन्य किसीने नहीं किया। इससे ऐसा बोध होता है कि वे श्रीमन्महाप्रभुके नित्य पार्षदोंमेंसे एक हैं। श्रीगौरशक्ति श्रील भक्तिविनोद ठाकुरकी उक्ति है—श्रीबलदेव प्रभुने जयपुरमें

गलता-पहाड़ीपर गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायकी विजय पताकाको लहराकर गौड़ीय-सम्प्रदायके मध्व-सम्प्रदायके अन्तर्भुक्त होनेकी वैशिष्ट्य सहित घोषणा की है एवं वे स्वयं रूपानुग गौड़ीय-वैष्णव हैं—उन्होंने इसे भी प्रमाणित किया है। इसका कारण है कि वे श्रीमन्महाप्रभुके अनुगत श्यामानन्द परिवारके अन्तर्गत हैं, श्यामानन्द प्रभुने श्रील जीव गोस्वामीका आनुगत्य स्वीकार किया है तथा श्रील जीव गोस्वामीके एकान्त भावसे रूपानुग वैष्णव होनेके कारण श्रीबलदेव प्रभु भी रूपानुग वैष्णव हैं। उनके एक साथ पाञ्चरात्रिक और भागवत-परम्परामें अवस्थान करनेपर भी उन्होंने भागवत-परम्परामें भजन-निष्ठाके माधुर्य और उसकी श्रेष्ठताको स्थापित किया है।"

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराजने सिद्धान्तरत्नम् ग्रन्थके स्वलिखित 'सम्पादकीय निवेदन' में श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुकी संक्षिप्त जीवनी एवं उनकी ग्रन्थावलीके सम्बन्धमें लिखा है—

"श्रीगौड़ीय-वैष्णव-वेदान्ताचार्य महामहोपाध्याय पण्डितकुल मुकुटमणि श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुकी अतिमर्त्य जीवनी और उनके दार्शनिक विचार-वैशिष्ट्यके सम्बन्धमें मेरे गुरुपादपद्म श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज द्वारा लिखित 'गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव', श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद द्वारा प्रदत्त 'भाष्यकार-विवरण' एवं श्रील भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा लिखित 'गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण'—इन प्रबन्धोंकी चर्चा करनेसे ही श्रील बलदेव प्रभुका सम्पूर्ण एवं सुन्दर परिचय पाया जाता है। उक्त तीन प्रबन्धोंको निम्नलिखित कुछेक भागोंमें विभक्त किया गया है—(१) श्रील बलदेवका आविर्भाव काल, (२) जाति, धर्म, जन्मभूमि और विद्याभ्यास, (३) दैव-वर्णाश्रम धर्ममें प्रतिष्ठा, (४) द्वितीय बार गुरुकरण, (५) श्रीनवद्वीप-दर्शन और श्रीवृन्दावनमें वास, (६) श्रीनारायणकी अपेक्षा श्रीकृष्णकी श्रेष्ठता स्थापन करनेके लिए जयपुर यात्रा, (७) श्रीगोविन्दभाष्यकी रचना, (८) गलता गद्दीमें सत्सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा, (९) गौड़ीय-वैष्णवोंकी श्रेष्ठताकी स्थापना, (१०) जय लाभ और 'विद्याभूषण' उपाधिकी प्राप्ति, (११) गौड़ीय-वैष्णवोंकी अभिनव रूपसे मध्व-सम्प्रदायमें स्थिति, (१२) श्रीरूपानुगत्य, (१३) श्रीवृन्दावन

स्थित श्रीश्यामसुन्दर मन्दिरमें अन्तिम जीवन यापन, (१४) काल निर्णय और गुरु-परम्परा, (१५) शिष्य-परम्परा, (१६) पाञ्चरात्रिक परम्परा और भागवत-परम्परा, (१७) ब्रह्माजीके अवतार श्रीगोपीनाथ मिश्र ही बलदेवके रूपमें अवतीर्ण और (१८) स्वरचित ग्रन्थ परिचय।

"श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुके आविर्भाव-कालका ठीक रूपसे निर्णय नहीं होनेपर भी, वे वर्त्तमान समयसे लगभग दौ-सौ से अधिक वर्ष पूर्व आविर्भूत हुए थे। वे उत्कल-प्रदेशके अन्तर्गत बालेश्वर जिलेमें रेमुणाके निकटवर्ती एक गाँवमें प्रकट हुए थे। शौक्र-वैश्यकुलमें कृषिजीवि खण्डाइत जातिमें प्रकट होकर अल्प आयुमें ही विद्या अध्ययन समाप्तकर वे तीर्थ-भ्रमणपर निकल पड़े। तत्पश्चात् चिलका-ह्रदके आस-पास व्याकरण-अलङ्कारादिका अध्ययन करके उन्होंने श्रीमाध्व-सम्प्रदायमें प्रवेश किया। वेदान्त-विशारद श्रीबलदेव थोड़े समयमें ही दिग्विजयी पण्डित हो गये।

"ब्राह्मणकुलमें जन्म-ग्रहण नहीं करनेपर भी वे जगतमें 'वैष्णवाचार्य' के रूपमें विख्यात हुए। ब्राह्मण-ब्रुवोंने वैष्णवाचार्य श्रील बलदेवके द्वारा 'विद्याभूषण' उपाधि ग्रहण करने और उनके वेदादि अध्ययनके प्रति कटाक्षपात किया, तथापि इन्होंने गीता-भागवतादिमें स्थापित वृत्तिपर (न कि जन्मपर) आधारित ब्राह्मणता या श्रौत-पन्थाकी ही श्रेष्ठता स्थापन की है।

"यद्यपि श्रील बलदेव कान्यकुब्जवासी विप्र राधादामोदरके साथ प्रथम बार विचार-प्रार्थी हुए थे, किन्तु षड्-सन्दर्भादिमें उनके अगाध पाण्डित्य एवं उनकी भक्ति और प्रेमको देखकर उनके प्रति श्रद्धायुक्त हुए तथा उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। श्रीबलदेवने अपना मध्व-सम्प्रदाय आनुगत्य सुरक्षित रखकर श्रीचैतन्यदेवको स्वयं-भगवान् जानकर श्रीमाध्व-गौड़ीय-सम्प्रदायमें प्रवेश किया। तत्पश्चात् वे गुरु-कृष्णके कृपाबलसे भगवत्प्रेममें मत्त होकर श्रीक्षेत्रसे श्रीनवद्वीपधाममें जाकर वहाँके दर्शन करनेके उपरान्त श्रीवृन्दावनमें वास करने लगे। श्रीवृन्दावनमें इन्होंने श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरसे श्रीमद्भागवतादि भक्तिशास्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की।

"उस समय वर्त्तमान राजस्थानके अन्तर्गत जयपुरमें एक विवाद आरम्भ हुआ। जयपुरके राजा गौड़ीय-सम्प्रदायके अनुगत रहकर श्रीनारायणसे पहले श्रीगोविन्दजीकी पूजा कराते थे। कुछेक 'श्री' सम्प्रदायके महान्त-वैष्णवों द्वारा इस पूजा-पद्धतिमें परिवर्तनकी चेष्टा करनेपर सदाचारी राजाने शास्त्र-विचारके लिए वृन्दावनसे वैष्णव-पण्डितोंको आह्वान किया। उस समय श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरके वृद्धावस्थामें होनेके कारण उन्होंने श्रीबलदेवको वेद-वेदान्तमें विशेष पारदर्शी जानकर जयपुर भेजा। जब श्रीबलदेव राजसभामें उपस्थित हुए और वहाँके 'श्री' सम्प्रदायी वैष्णवोंके महान्तसे मिले, तब उन महान्तने श्रीबलदेवसे पूछा कि वे किस सम्प्रदायके अन्तर्गत हैं। श्रीबलदेव द्वारा स्वयंको मध्व-शिष्य (सम्प्रदाय) और मध्वभाष्यके अनुगत बतलानेपर उन्होंने पुनः पूछा—"मध्वाचार्यके भाष्यमें केवल कृष्ण ही प्रतिष्ठित हैं, उसमें श्रीराधाकी प्रतिष्ठा नहीं है। श्रीगोविन्दजी क्या श्रीराधाको छोड़कर पूजा स्वीकार करेंगे?" तब श्रीबलदेवने यह जानकर कि यहाँ मध्वभाष्यके द्वारा विचार करनेसे चलेगा नहीं, कुछेक दिनोंमें ही श्रीगोविन्ददेवजीकी आज्ञासे वेदान्तसूत्रभाष्य, गीताभाष्य, सहस्रनामभाष्य और उपनिषद्भाष्य लिख डाला तथा गलता-पहाड़ीपर विचारसभामें 'श्री' वैष्णवोंको परास्तकर उस विद्वत्-सभा द्वारा 'विद्याभूषण' उपाधि प्राप्त की।

"उस विचार सभामें 'श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रदर्शित पथ ही सर्वोतम और सर्वश्रेष्ठ है'—इसे शास्त्रयुक्ति द्वारा स्थापनकर श्रीबलदेवने 'गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदाय श्रीव्यास द्वारा उक्त चार सम्प्रदायोंमें अन्यतम ब्रह्म-माध्व-सम्प्रदायके अन्तर्गत है', ऐसी घोषणा की। इससे पहले भी गौड़ीय-सम्प्रदाय माध्व-सम्प्रदायकी शाखाके रूपमें विवेचित होता था, क्योंकि श्रीचैतन्यमहाप्रभु द्वारा मध्व-सम्प्रदायी श्रील ईश्वरपुरीपादको आचार्यके रूपमें स्वीकार करनेके कारण उनकी माध्व-सम्प्रदायभुक्ति पहलेसे ही प्रमाणित है।

"इसके बाद श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने श्रीधाम वृन्दावनमें स्थित श्रीश्यामसुन्दर मन्दिरमें अन्तिम जीवन व्यतीत किया एवं अन्यान्य ग्रन्थोंकी भी इसी समय रचना की।

"श्रील विद्याभूषण प्रभुके परमगुरु श्रीमुरारि, मुरारिके गुरु रसिकानन्द एवं उनके गुरु श्रीश्यामानन्द हैं। श्रीश्यामानन्दके गुरु गौरीदास पण्डित हैं, इन गौरीदास पण्डितके प्रति श्रीमन् नित्यानन्द प्रभुने कृपा की थी। श्रीश्यामानन्द प्रभुने परवर्ती कालमें श्रीजीव गोस्वामीका शिष्यत्व स्वीकार किया था। आचार्य श्रील बलदेव प्रभुके शिष्य उद्धवदास तथा उनके शिष्य श्रीमधुसूदन दास हैं। वैष्णव सार्वभौम श्रील जगन्नाथदास बाबाजी महाराज इन मधुसूदन दासके शिष्य हैं। श्रील जगन्नाथ दास बाबाजी महाराजसे श्रील भक्तिविनोद ठाकुर, श्रील गौरकिशोरदास बाबाजी महाराज, श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद, हमारे गुरुपादपद्म ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज पाञ्चरात्रिक और भागवत-परम्परामें हैं।

"कथित है कि श्रीचैतन्य-पार्षद श्रीगोपीनाथ मिश्र जिन्होंने सार्वभौम भट्टाचार्यके साथ श्रीमन् महाप्रभुके श्रीमुख-निसृत सूत्रभाष्यको श्रवण किया था, वे ही बादमें ब्रह्म-सम्प्रदायके भाष्यकर्त्ता श्रील बलदेव विद्याभूषणके रूपमें आविर्भूत हुए। आचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण रचित ग्रन्थ तालिका इस प्रकार हैः (१) श्रीगोविन्दभाष्य, (२) सूक्ष्मा-टीका, (३) सिद्धान्तरत्नम् अथवा भाष्यपीठकम् (४) सिद्धान्तरत्नम्-टीका (५) साहित्य-कौमुदी, (६) व्याकरण-कौमुदी, (७) तत्त्वसन्दर्भ-टीका, (८) इशोपनिषद भाष्य, (९) सिद्धान्त-दर्पणम्, (१०) काव्य-कौस्तुभ, (११) गोपालतापनी-भाष्य, (१२) साहित्य कौमुदी टीका (कृष्णानन्दिनी), (१३) छन्दकौस्तुभ-भाष्य, (१४) लघुभागवतामृत-टीका, (१५) 'चन्द्रालोक' ग्रन्थकी टीका, (१६) नाटक-चन्द्रिका-टीका, (१७) श्रीमद्भागवत-टीका (वैष्णवानन्दिनी), (१८) वेदान्त-स्यमन्तक, (१९) प्रमेय-रत्नावली, (२०) गीताभूषण-भाष्य, (२१) विष्णुसहस्रनाम-भाष्य (नामार्थसुधा), (२२) संक्षेप-भागवतामृत-टिप्पणी (सारङ्ग-रङ्गदा), (२३) स्तव-माला-विभूषण-भाष्य, (२४) पदकौस्तुभ, (२५) श्रीश्यामानन्दशतक-टीका।

"श्रील जीव गोस्वामी और श्रील बलदेव प्रभुका मत एक ही है, किञ्चितमात्र भी भिन्न नहीं है। तत्त्व और उपासनाके विषयमें दोनोंने एक ही प्रकारका सिद्धान्त किया है। श्रील बलदेव प्रभुने

श्रीमन्महाप्रभुका 'अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्त' ही स्वीकार किया है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने 'श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा' ग्रन्थमें कहा है कि 'ब्रह्म-सम्प्रदाय नामक एक सम्प्रदाय सृष्टिके समयसे चला आ रहा है। जो समस्त लोग ब्रह्म-सम्प्रदायको स्वीकार नहीं करते, वे भगवदुक्त पाषण्ड मतके प्रचारक हैं। श्रीकृष्णचैतन्य-सम्प्रदाय स्वीकार करके भी जो भीतरमें गुरु-परम्पराकी सिद्ध-प्रणालीको स्वीकार नहीं करते, वे कलिके गुप्तचर हैं, इसमें सन्देह ही क्या है?'

"श्रील जीव गोस्वामीने आप्त-वाक्योंके प्रमाणसे स्थिर किया है कि श्रीब्रह्म-सम्प्रदाय ही श्रीकृष्णचैतन्य-दासजनोंकी गुरु-प्रणाली है। श्रीकवि कर्णपूर गोस्वामीने इसीके अनुसार दृढ़तापूर्वक स्वकृत 'गौरगणोद्देश दीपिका' में गुरु-परम्पराका क्रम लिखा है। वेदान्तसूत्र भाष्यकार श्रीबलदेव विद्याभूषणने भी उसी प्रणालीको स्थिर रखा है। जो इस प्रणालीको अस्वीकार करते हैं, वे निःसन्देह श्रीकृष्णचैतन्य चरणानुचरगणोंके प्रधान शत्रु हैं।

"भगवान्‌के अवतार महर्षि कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यास द्वारा उत्तर-मीमाँसा अर्थात् ब्रह्मसूत्र या वेदान्तदर्शन रचित हुआ है। वेदान्तभाष्योंमें मधुररस-प्रकाशक गोविन्दभाष्य ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि स्वयं अभिधेयाधिदेव श्रीगोविन्ददेवजीने श्रीबलदेव प्रभुको इस भाष्यकी रचना करनेकी आज्ञा प्रदानकर स्वयं इसका उपदेश दिया है। श्रीगोविन्ददेवजीके नामके अनुसार ही यह 'गोविन्दभाष्य' के नामसे जाना जाता है। श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुने स्वयं इसकी 'सूक्ष्मा' नामक टीकाकी रचना की है।

"ब्रह्मसूत्र चार अध्यायोंमें विभक्त है। प्रत्येक अध्यायमें चार पाद हैं। इस ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायमें समस्त वेदोंका ब्रह्ममें समन्वय है। द्वितीय अध्यायमें समस्त शास्त्रोंके साथ विरोधका परिहार है। तृतीयमें ब्रह्मप्राप्तिका साधन है। चतुर्थमें ब्रह्मप्राप्ति ही पुरुषार्थके रूपमें उक्त हुई है।

"निष्काम धर्म, निर्मल चित्त, सत्प्रसङ्गलुब्ध, श्रद्धालु, शम-दमादि सम्पन्न जीव ही इस शास्त्रके अधिकारी हैं। यह शास्त्र स्वयं वाचक है और ब्रह्म इसका वाच्य है, अतः परस्पर वाच्य-वाचक सम्बन्ध

है। शास्त्रोंका प्रतिपाद्य विषय निरन्तर विशुद्धानन्त–गुणगण अचिन्त्यानन्त शक्ति–सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं। अशेष दोषोंका विनाश करके उनका साक्षात्कार करना ही इस वेदान्तदर्शनका प्रयोजन है। इस शास्त्रमें विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और सङ्गति—ये पाँच न्यायावयव हैं। अधिकरण अर्थात् अध्यायके अंशविशेषका नाम ही न्याय है। विचार योग्य वाक्यका नाम विषय है। एक धर्मीके परस्पर विरोधी नाना प्रकारके अर्थोंके विचारका नाम संशय है। प्रतिकूल अर्थोंका नाम पूर्वपक्ष है। प्रामाणिक रूपसे उदित अर्थोंका नाम सिद्धान्त है। पूर्व–पर दोनों अर्थोंका नाम सङ्गति है।

"श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुने स्वयं कहा है—'जिन उदार पुरुषने विद्यारूप भूषणको प्रदानकर मेरी ख्याति विस्तार की है, जिनके स्वप्नादेशसे वेदान्तसूत्रका 'गोविन्दभाष्य' प्रकाशित हुआ है, वे राधाबन्धु त्रिभङ्गभङ्गिम श्रीगोविन्ददेवजी जययुक्त हों।'

"मेरे अभीष्टदेव श्रील गुरुपादपद्म ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजने भी श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुकी निम्नलिखित श्लोकसे वन्दना की है—

श्रीमध्व–सम्प्रदाय श्री–चैतन्य कुलरक्षकः।
वेदान्ताचार्य–शार्द्दूलो बलदेवो महामतिः॥

श्रीमाध्व–सम्प्रदायकी 'श्री'—श्रीचैतन्यदेवके कुल अर्थात् गौड़ीय–वैष्णव सम्प्रदायके रक्षक वेदान्ताचार्य–सिंह महामति श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभु जययुक्त हों।

"गौड़ीय–वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुके श्रीरूपानुगत्यमें सन्देह पोषणकारीजनोंके सम्बन्धमें श्रील गुरुपादपद्मने लिखा है कि जो श्रीबलदेवको रूपानुग स्वीकार करनेमें कुण्ठित हैं, वे वास्तवमें ही भ्रान्त और वैष्णव विरोधी हैं।"

हम पाठकोंसे अनुरोध करते है कि वे ग्रन्थ अध्ययनसे पूर्व बँगला भाषासे अनुवादित 'भूमिका' का मनोनिवेशपूर्वक पाठ करें, जिसमें ग्रन्थ एवं भाष्यकारके वैशिष्ट्य और परिचय आदि सभी विषयोंपर विशेष रूपसे प्रकाश डाला गया है। इससे पाठकोंको ग्रन्थके विषयोंमें

प्रवेश करनेमें एक सहज दिशा प्राप्त हो सकेगी—ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है। चार अध्यायोंमें विभाजित वेदान्तसूत्रका प्रथम अध्याय प्रकाशित हो गया है। श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गकी कृपासे अगले तीन अध्याय भी शीघ्र ही प्रकाशित होंगे।

इस विशाल ग्रन्थमें भ्रम-प्रमादवशतः कुछ त्रुटि-विच्युतियोंका रह जाना अस्वाभाविक नहीं है। सुधी पाठकजन उनका संशोधनपूर्वक पाठकर हमारी इस चेष्टाको कृतार्थ करें—यही विनम्र निवेदन है। इति।

शारदीय-रास-पूर्णिमा
श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव
गोस्वामी महाराजकी विरह-तिथि
१८ अक्टूबर, २०१३

श्रीहरि-गुरु-वैष्णव-कृपालेश-प्रार्थी
प्रकाशन-मण्डली

॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

भूमिका

ॐ अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

नमो ॐ विष्णुपादाय कृष्णप्रेष्ठाय भूतले।
श्रीमते भक्तिसिद्धान्त-सरस्वतीति नामिने॥

श्रीवार्षभानवीदेवी-दयिताय कृपाब्धये।
कृष्णसम्बन्ध-विज्ञानदायिने प्रभवे नमः॥

माधुर्योज्ज्वल-प्रेमाढ्य-श्रीरूपानुगभक्तिद ।
श्रीगौरकरुणाशक्ति-विग्रहाय नमोऽस्तु ते॥

नमस्ते गौरवाणी श्रीमूर्त्तये दीन-तारिणे।
रूपानुग-विरुद्धाऽपसिद्धान्त ध्वान्त-हारिणे॥

नमो ॐ विष्णुपादाय गौरप्रेष्ठ-प्रियाय च।
श्रीमद्भक्तिविवेक भारती-गोस्वामिने नमः॥

नमो गौरकिशोराय साक्षाद्वैराग्य मूर्त्तये।
विप्रलम्भरसाम्भोधे पादाम्बुजाय ते नमः॥

नमो भक्तिविनोदाय सच्चिदानन्द-नामिने।
गौरशक्तिस्वरूपाय रूपानुगवराय ते॥

गौराविर्भाव-भूमेस्त्वं निर्देष्टा सज्जनप्रियः।
वैष्णवसार्वभौम श्रीजगन्नाथाय ते नमः॥

जयति विद्याभूषणो बलदेवपूर्वो हरिरतिः सूरिः।
येन गोविन्दभाष्यं गोविन्दादेशात् प्रतेने॥

श्रीगोविन्ददेवके आदेशसे वेदान्तसूत्रपर गोविन्दभाष्यकी रचना करनेवाले श्रीहरिके अत्यन्त प्रिय प्रार्षद श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुकी जय हो।

वाञ्छा-कल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेमप्रदाय ते।
कृष्णाय कृष्णचैतन्यनाम्ने गौरत्विषे नमः॥

श्रीगुरु, वैष्णव आर प्रभु-भगवान्।
तिनेर शरणे हय विघ्न-विनाशन॥
सेई आशाबन्ध मुई करिनु शरण।
अनायासे हय जेन वाञ्छित पूरण॥

श्रीगुरु, वैष्णव और श्रीभगवान्—इन तीनोंकी शरण ग्रहण करनेसे भक्तिपथके विघ्नोंका सम्पूर्ण रूपसे नाश होता है। इसी आशासे मैंने उनकी शरण ली है जिसके फलस्वरूप अनायास ही पारमार्थिक वाच्छाएँ पूर्ण होती है।

परमकरुणामय श्रीगुरु-वैष्णवोंकी अहैतुकी करुणाके बलसे समस्त प्रकारकी अयोग्यता होनेपर भी एवं बहुत-सी असुविधाओंके बीच भी श्रीभगवान्की इच्छासे अभी वर्त्तमान समयमें 'वेदान्तसूत्रम्' ग्रन्थका प्रथम अध्याय आत्मप्रकाश होते देखकर मैं धन्य हुआ हूँ। श्रीगुरुकी कृपासे पङ्गु (लँगड़ा) भी पर्वतको लाँघ सकता है, मूक (गूङ्गा) भी वाचाल हो सकता है—इस शास्त्र-वाणीका जाज्वल्यमान प्रमाण इस स्थानपर विशेष रूपसे अनुभव करके यह अधम परमाराध्यतम श्रीश्रीगुरुवर्गके श्रीचरणकमलोंके उद्देश्यसे हाथ जोड़कर पुनः-पुनः प्रणाम और कातरता ज्ञापन कर रहा है। इस अधमका विश्वास यही है कि श्रीगुरुपादपद्मकी असीम करुणासे ग्रन्थका अवशिष्टांश (बाकी भाग) भी निकट भविष्यमें आत्मप्रकाश पाये।

× × × × ×

प्रचलित रीतिके अनुसार ग्रन्थके प्रारम्भमें एक भूमिका प्रदत्त होती है। इसमें संक्षेपमें ग्रन्थका परिचय, महिमा तथा ग्रन्थमें वर्णित विषयका सार वर्णित होता है। ऐसे एक दुरुह ग्रन्थकी भूमिका लिखनेकी योग्यता मुझ जैसे अधममें नहीं होनेपर भी मैं चिरकालसे

चली आ रही प्रथाका निर्वाह करता हुआ महाजनोंके आनुगत्यमें एक प्रयास मात्र कर रहा हूँ।

× × × × ×

सर्वप्रथम ही हम देखते हैं कि ग्रन्थका नाम 'वेदान्तसूत्रम्' है। इसके रचयिता भगवदवतार महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास हैं, इसलिए इसे 'व्याससूत्र' कहा जाता है। पुनः श्रीमद्व्यासदेवका और एक नाम श्रीबादरायण होनेके कारण इस ग्रन्थको 'बादरायणसूत्र' भी कहा जाता है। इस ब्रह्मसूत्रके आविर्भावके कारणके सम्बन्धमें एक आख्यायिका (उपाख्यान) स्कन्दपुराणमें पाया जाता है—द्वापरयुगमें वेदसमूहके प्राय संगुप्त होनेपर चार्वाक, बौद्ध, कपिल इत्यादि कुछ ब्राह्मणोंने स्वयंको विज्ञ मानकर अनेक वेदवाक्योंकी पर्यालोचना करते हुए अपनी-अपनी बुद्धिके द्वारा उनके अर्थ पृथक्-पृथक् रूपसे उद्भावित (कल्पना) किये, जिससे लोग परमार्थसे विच्युत हो गये। इसी अनर्थजालके निराकरणके लिए देवताओंके द्वारा भगवान् श्रीहरिकी शरणमें जानेपर श्रीभगवान्ने कृष्णद्वैपायन (बादरायण) रूपमें अवतीर्ण होकर समस्त वेदोंका उद्धार और विभाग किया एवं दोषपूर्ण मतोंका निराकरण करते हुए उन्होंने वेदोंके वास्तविक अर्थ-निर्णायक चार अध्यायोंसे युक्त वेदान्तसूत्रको प्रकटित किया। यह वेदान्तसूत्र ग्रन्थ और भी कुछ नामोंसे जाना जाता है, यथा—(१) ब्रह्मसूत्र, (२) शारीरकसूत्र, (३) व्याससूत्र, (४) बादरायणसूत्र, (५) उत्तरमीमांसा तथा (६) वेदान्तदर्शन। हमारा यह ग्रन्थ 'वेदान्तसूत्र' नामसे ही आत्मप्रकाश कर रहा है।

× × × × ×

श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीमहाप्रभुके श्रीमुखनिःसृत वचनोंमें भी हम देखते हैं—

प्रभु कहे, वेदान्तसूत्र—ईश्वर वचन।
व्यासरूपे कैल ताहा श्रीनारायण॥

भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव।
ईश्वरेर वाक्ये नाहि दोष एइ सब॥

(चै॰च॰आ॰ ७/१०६-१०७)

[अर्थात् श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा—"वेदान्तसूत्र ईश्वरके वचन हैं, स्वयं श्रीनारायणने व्यासरूपमें इसका प्रणयन किया है। भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणपाटव—ये चारों दोष ईश्वरके वचनोंमें नहीं होते।"]

श्रीगीता (१५/१५) में भी हम देखते हैं—*'वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्'* [अर्थात् श्रीभगवान् स्वयं गीतामें कह रहे हैं—"मैं ही वेदान्तको प्रणयन करनेवाला एवं वेदोंको जाननेवाला हूँ।"]

× × × × ×

'वेदान्तसूत्र' कहनेपर सर्वप्रथम ही 'वेदान्त' शब्द पाया जाता है। वेद+अन्त अर्थात् जो वेदका अन्त—चरम सिद्धान्त है, उसीको वेदान्त कहा जाता है।

श्रीमन्महाप्रभुके पूर्वोक्त वचनोंके अनुभाष्यमें परमाराध्यतम श्रीश्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर प्रभुपादने लिखा है—

"वेदान्त शब्दके विषयमें कोषकार हेमचन्द्र कहते हैं—वेदके ब्राह्मण-अंशके साथ उपनिषद-अंश ही 'वेदान्त'—वेदावशिष्ट अथवा वेदका शेष भाग अर्थात् वेदोंका अन्त है। वेदोंका चरम उद्देश्य जिन शास्त्रोंमें प्रदर्शित हुआ है, वह भी वेदान्त हैं। उपनिषदोंके प्रमाणस्वरूपमें जिन शास्त्रोंका व्यवहार हुआ है और उन शास्त्रोंके उपकारक जो सूत्रादि हैं, वह सब भी 'वेदान्त' हैं। 'वेदान्त-सूत्र' को प्रस्थानत्रयी अर्थात् तीन प्रकारके प्रस्थानोंमें अन्यतम 'न्याय-प्रस्थान' कहा गया है। उपनिषद 'श्रुति-प्रस्थान' हैं और गीता, महाभारत, पुराणादि 'स्मृति-प्रस्थान' हैं।"

× × × × ×

'वेद' कहनेसे क्या समझा जाता है, यह भी इस प्रसङ्गमें हमारे लिए जानना आवश्यक है। 'विद्' धातु कर्मवाच्यमें 'अल्' प्रत्यय लगानेसे 'वेद' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'विद्' धातुका अर्थ इस प्रकार बतलाया गया है—

वेत्ति वेद विदि ज्ञाने विन्ते विदि विचारणे।
विद्यते विदि सत्तायां लाभे विन्दति विन्दते॥

अर्थात् वेत्ति या वेदका अर्थ है—जानना या ज्ञात करना अथवा ज्ञान प्राप्त करना; विन्तेका अर्थ है—अनुभव करना, जानना या विचार विमर्श करना; विद्यतेका अर्थ है—विद्यमान होना अथवा अस्तित्व होना; विन्दतेका अर्थ है—लाभ करना, प्राप्त करना या उपलब्ध करना।

साधारणतः 'विद्' धातुका अर्थ 'जानना' अथवा 'अनुभव करना' होता है, जैसा कि कहा गया है—*'वेदयति धर्मं ब्रह्म च वेदः'* अर्थात् जो शास्त्र धर्म और ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान कराता है, उसे वेद कहते हैं।

श्रील जीवगोस्वामिपाद-रचित सर्वसंवादिनीके तत्त्व-सन्दर्भीय विचारमें कहा गया है—

'यश्चानादित्वात् स्वयमेव सिद्धः स एव निखिलैतिह्यमूलरूपो महावाक्य समुदायः शब्दोऽत्र गृह्यते,—स च शास्त्रमेव, तच्च वेदएव—स वेदसिद्धः, य एव सर्वकारणस्य भगवतोऽनादिसिद्धं पुनः सृष्ट्यादौ तस्मादेवाविर्भूतमपौरुषेयं वाक्यम्,—तदेव भ्रमादिरहितं सम्भावितं, तच्च सर्वजनकस्य तस्य च सदोपदेशायावश्यकं मन्तव्यं, तदेव चाव्यभिचारि-प्रमाणम्।' अर्थात् "अनादि होनेके कारण जो स्वयं सिद्ध हैं, समस्त ऐतिह्य प्रमाणके मूल हैं, उन महावाक्योंका समूह ही इस स्थलपर शब्दरूपमें गृहीत हुआ है। यह शब्द ही शास्त्रके नामसे जाना जाता है और उसीको वेद कहा जाता है। यह वेद अनादि सिद्ध हैं जो कि जगत्-सृष्टि आदि कार्योंमें श्रीभगवान्‌से पुनः-पुनः आविर्भूत होते हैं। यह अनादि-सिद्ध अपौरुषेय वाक्य अवश्य ही भ्रम-प्रमादादिसे रहित हैं, यह स्वीकार करना होगा। सदुपदेश-प्रचारके लिए इन वचनोंको सर्वजनक परमेश्वरके वचनोंके रूपमें अवश्य ही मानना होगा। अतएव ये वचन ही अव्यभिचारी प्रमाण हैं।"

इस प्रकार शब्दमय शास्त्रावतार ही वेद हैं। वेद दो भागोंमें विभक्त हैं—एक भागका नाम संहिता और दूसरेका ब्राह्मण है। वेद साधारणतः छन्दोमय हैं। छन्दोमय श्लोकको 'मन्त्र' और मन्त्रोंकी समष्टि अर्थात् समूहको 'सूक्त' कहा जाता है। 'सूक्त-समष्टि' को 'संहिता' कहते हैं। वेदोंके ब्राह्मणांशमें यज्ञादिके मन्त्र और नियमादिका

उल्लेख है—यह ब्राह्मणांश प्रधान रूपसे गद्यके रूपमें लिखित है। इसके अतिरिक्त वेदका और एक भाग है, जिसे आरण्यक भी कहा जाता है। वेदोंके चतुर्थ अथवा अन्तिम अंशको 'उपनिषद्', 'श्रुति' अथवा 'वेदान्त' कहते हैं। उपनिषद्को 'वेदान्त' कहनेका तात्पर्य यह है कि यह वेदका अन्तिम अंश है और वेदका चरम तथा परम सिद्धान्त इसमें ही निबद्ध है।

× × × × ×

'उपनिषद्' शब्दके अर्थमें भी देखा जाता है—*'ब्रह्मण उप समीपे निषीदति अनया इत्युपनिषद्'*, अर्थात् जिस शास्त्रकी सहायतासे साधक मुक्त होकर अर्थात् श्रीभगवान्के समीप, निषद अर्थात् स्थित होनेमें समर्थ होता है, वही 'उपनिषद्' है।

श्रीचैतन्यचरितामृतकी आदिलीलाके द्वितीय परिच्छेद (२/५) में *'यदद्वैतं ब्रह्मोपनिषदि'* श्लोकके अनुभाष्यमें श्रील प्रभुपादने लिखा है—

'उपनिषदि (ब्रह्मविद्याभिधानसर्वोन्नत-वेदशाखाविशेषे) उप-नि-पूर्वकस्य विशरणगत्यावसादनार्थस्य षद्लृधातोः क्विप् प्रत्ययान्तस्येदं तत्र उप-उपगम्य गुरुपदेशाल्लब्धेति यावत्। उपस्थितत्वात् ब्रह्मविद्यां निश्चयेन तन्निष्ठतया ये द्रष्टानुश्रविक-विषयवितृष्णाः सन्तः तेषां संसारबीजस्य सद्विशरणकत्री शिथिलयित्री अवसादयित्री विनाशयित्री ब्रह्मगमयित्रीति।'

अर्थात् उपनिषद् (ब्रह्मविद्या नामक सर्वश्रेष्ठ विद्या विशेष)—इसकी व्युत्पत्ति उप एवं नि उपसर्गपूर्वक विशरण, गति, अवसाद अर्थपरक षद्लृ धातुके अन्तमें क्विप् प्रत्यय लगानेसे हुई है। इस व्युत्पत्तिमें 'उप' शब्दका अर्थ है—गुरुके समीप पहुँचकर उनसे उपदेश प्राप्त करना। गुरुके समीप उपस्थित होनेसे ब्रह्मविद्याको निश्चयपूर्वक अर्थात् निष्ठापूर्वक जाना जाता है। द्रष्टानुश्रविक—द्रष्ट अर्थात् इन्द्रियों द्वारा गोचर तथा अनुश्राविक अर्थात् अनुभव करनेवाले—जो इन दोनों प्रकारकी विषयतृष्णासे विराग्य प्राप्त करना चाहते हैं, उपनिषद उनके संसार बीजका सद्विशरण अर्थात् उसे शिथिल करनेवाली, अवसाद अर्थात् विनाश करनेवाली, गति अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त करवानेवाली ब्रह्मविद्या है।

× × × × ×

श्रीनारायणके निःश्वाससे वेद प्रपञ्चमें प्रकटित हुए हैं, इसलिए इन्हें अपौरुषेय कहा जाता है। छान्दोग्योपनिषदमें कहा है—*'एतस्य वा महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदः'* स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णके शक्त्यावेशावतार श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासने वेद और वेदोंके सार—उपनिषदका तात्पर्य लेकर ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्तसूत्रकी रचना की है।

सूत्र कहनेका तात्पर्य है—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवत् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥
(स्कन्द और वायुपुराण)

अर्थात् अल्प अक्षरोंसे युक्त, निश्चित (सन्देहरहित), सारयुक्त, सब ओरसे स्पष्ट, अर्थ निर्धारणमें किसी भी प्रकारकी बाधासे रहित एवं निर्दोष—ऐसे वाक्यको सूत्रोंके ज्ञाताजन सूत्र कहते हैं।

श्रीधरस्वामिपादने सूत्र शब्दके अर्थमें कहा है—*'ब्रह्म सूत्रयते सूच्यते एभिरिति ब्रह्मसूत्राणि'*, अर्थात् जिन वचनोंसे ब्रह्म सूत्रित अथवा सूचित होता है, उन्हें ब्रह्मसूत्र कहते हैं।

सांख्य, पातञ्जल, न्याय, वैशेषिक और पूर्वमीमांसा इत्यादि सभी ग्रन्थ ही सूत्राकारमें गुम्फित हैं। किन्तु वेदान्तके सूत्र जिस प्रकार सुसम्बद्ध हैं, उसी प्रकार ही सुसामञ्जस्यपूर्ण भी हैं।

× × × × ×

श्रीमद्वेदव्यासने वेदान्तसूत्रकी रचना करते हुए और भी सात ऋषियों द्वारा प्रणीत वेदान्त-मतकी समालोचना की है; यथा—आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, काशकृत्स्न, जैमिनि और बादरि। इससे जाना जाता है कि वेदान्तसूत्रकी रचनासे पहले ही इन सब ऋषियोंने वेदान्तमतकी आलोचना की थी। ग्रन्थमें यथास्थानपर इनके नाम और विचारोंके विषयमें उल्लेख है।

श्रीमद्वेदव्यास रचित इस वेदान्तसूत्र अथवा ब्रह्मसूत्रको सभी वैदिक सम्प्रदायके आचार्योंने ब्रह्मतत्त्वनिर्णायक परम प्रामाणिक ग्रन्थके रूपमें स्वीकार किया है। सभी शास्त्रोंकी मीमांसा इसमें प्राप्त होनेके कारण इसे उत्तरमीमांसा अथवा मीमांसाशास्त्र भी कहा जाता है। पुनः

कोई-कोई इसकी दर्शनशास्त्रके शिरोमणि-ग्रन्थरूपमें भी पूजा करते हैं।

'दर्शन' शब्दका अर्थ है 'देखना', प्रत्यक्ष करना, अवलोकन करना। इसके अतिरिक्त जिस साधनके द्वारा वस्तुका साक्षात्कार होता है, उसे भी दर्शन कहा जाता है। अतः जिस शास्त्रके द्वारा परमेश्वरका साक्षात्कार अथवा अनुभव किया जाय, जिस प्रकार उसे तत्त्वशास्त्र कहते हैं, उसी प्रकार उसे दर्शनशास्त्र भी कहा जा सकता है। इस दर्शनकी बात उपनिषदमें भी पायी जाती है, *'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'* (बृ०आ० २/४/५) अर्थात् "आत्माका ही दर्शन करना चाहिये" किन्तु भगवान्‌की कृपाके बिना केवल शास्त्रज्ञानकी प्राप्तिके द्वारा भगवान्‌का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। उपनिषदमें यह भी कहा गया है—*'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'* (कठ० १/२/२३) अर्थात् परमात्मा जिसे वरण करते हैं, जिसपर कृपा करते हैं, वही उन्हें प्राप्त करनेके योग्य होता हैं। अतः तत्त्वज्ञान अथवा तत्त्वदर्शनका एकमात्र उपाय है—श्रीभगवान्‌की कृपा।

× × × × ×

कृपामय भगवान् श्रीमद्‌व्यासदेवने वेदान्तसूत्रकी रचनाके बाद जब देखा कि इन सूत्रोंके तत्त्वको जाननेके लिए प्रामाणिक शास्त्रोंके होनेपर भी उन शास्त्रोंका विचार दुर्बोध्य है एवं दूसरी बात यह है कि विभिन्न लोग विभिन्न प्रकारसे इन सूत्रोंके अर्थका निर्णय कर सकते हैं, तब उन्होंने अपने गुरुदेव देवर्षि नारदकी कृपासे अपनी समाधि अवस्थामें प्राप्त तत्त्वदर्शनके द्वारा जीवोंके कल्याणके लिए वेदान्तके अकृत्रिम (वास्तविक) भाष्यस्वरूप श्रीमद्भागवतकी रचना की। गरुड़पुराणादिमें भी वर्णन है—*'भाष्योऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः। गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः'* [अर्थात् श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्रका अर्थ, महाभारतका तात्पर्य-निर्णय, गायत्रीका भाष्य और समस्त वेदोंके तात्पर्यका सम्वर्द्धन है।] श्रीमन्महाप्रभु और उनके अनुगत गोस्वामियोंने श्रीमद्भागवतका ही वेदान्तके अकृत्रिम भाष्यके रूपमें प्रचार किया है।

समय-समयपर विभिन्न आचार्यों और उनके अनुगतजनोंने वेदान्तसूत्रकी बहुत प्रकारकी भाष्यवृत्तियों अथवा टीकाओं आदि की

रचना की है। इनमें सनातन–वैष्णवधर्मके संरक्षक श्रीरामानुज, श्रीमध्व, श्रीविष्णुस्वामी और श्रीनिम्बादित्य—प्रमुख चारों सात्वत वैष्णवाचार्योंके भाष्य अतिशय प्रसिद्ध हैं।

× × × × ×

श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यका नाम 'श्रीभाष्य' है। इस भाष्यके द्वारा श्रीरामानुजाचार्यने 'विशिष्टाद्वैतवाद' का ही वेदान्तके सिद्धान्तके रूपमें प्रचार किया है—*'चिदचिद्विशिष्टाद्वैतम् तत्त्वम्'* अर्थात् चित् और अचित् विशिष्ट ब्रह्मका एकत्व ही विशिष्ट अद्वैततत्त्व है।

श्रीरामानुजाचार्यके परवर्त्तीकालमें उनके ही सम्प्रदायके अनेक आचार्योंने वेदान्तके नाना प्रकारके भाष्यादिकी रचना की है।

× × × × ×

श्रीमन्मध्वाचार्यने श्रीबदरिकाश्रममें श्रीव्यासदेवका साक्षात्कार एवं कृपा प्राप्त करके उनके ही आदेशसे ब्रह्मसूत्रके भाष्यकी रचना की थी। श्रीमध्व द्वारा रचित वेदान्तसूत्रके तीन भाष्योंका परिचय प्राप्त होता है, यथा—(१) श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्यम्, (२) अनुव्याख्यानम्, (३) अणुभाष्यम्। श्रीमध्वाचार्य द्वारा प्रचारित सिद्धान्तका नाम द्वैतवाद है। इसमें पाँचभेद स्वीकृत हुए हैं—(१) जीव एवं ईश्वरमें भेद, (२) जीव और जीवमें भेद, (३) ईश्वर और जड़में भेद, (४) जीव और जड़में भेद और (५) जड़ और जड़में भेद। श्रीमध्वाचार्यके परवर्त्तीकालमें इस सम्प्रदायके बहुत–से आचार्योंने विभिन्न भाष्य और टीकाओंकी रचना करके केवलाद्वैतवादका विपुल रूपमें खण्डन किया है।

× × × × ×

श्रीविष्णुस्वामीके द्वारा रचित ब्रह्मसूत्रके भाष्यको 'सर्वज्ञसूक्ति' कहा जाता है। इन्होंने 'शुद्धाद्वैतवाद' का प्रचार किया है। इस मतमें ईश्वर, भगवत्–विग्रह और भजनकारी भक्तका शुद्धत्व स्वीकृत हुआ है तथा जीव, जगत् और मायाके तदाश्रयत्व (भगवान्‌के आश्रित) रूपमें नित्यत्व और अद्वयत्व स्वीकृत है। श्रील श्रीधरस्वामिपाद भी इस सम्प्रदायके परवर्त्ती प्रसिद्ध आचार्य हैं। बहुत–से लोग श्रीधरस्वामिपादको केवलाद्वैतवादी मानकर भ्रमित होते हैं। भक्तिरक्षक श्रीधरस्वामिपाद

श्रीनृसिंहदेवके सेवक हैं। उन्होंने शुद्धाद्वैतवादको स्वीकार करते हुए विद्धाद्वैतवादका खण्डन किया और भक्तिरक्षक आचार्य नामकी सार्थकताका सम्पादन किया है।

सुना जाता है कि—काशीस्थित भगवान् श्रीविश्वनाथने श्रीधरस्वामिपादकी टीकाकी प्रामाणिकताको स्वहस्थ लिखित इस श्लोकके द्वारा प्रस्तुत किया है—

अहं वेत्ति-शुको वेत्ति व्यासो वेत्ति न वेत्ति वा।
श्रीधरः सकलं वेत्ति श्रीनृसिंहप्रसादतः॥

[भगवान् श्रीविश्वनाथ कह रहे हैं—"वेदोंके तात्पर्यको मैं जानता हूँ, शुकदेव जानते हैं, व्यास जान सकते हैं, नहीं भी। किन्तु श्रीधर (स्वामी) भगवान् श्रीनृसिंहदेवकी कृपासे सब कुछ जानते हैं।"]

श्रीधरस्वामिपादके द्वारा रचित श्रीमद्भागवत और श्रीगीताकी टीकाएँ इत्यादि सर्वप्रसिद्ध हैं। श्रीवल्लभाचार्यने इस मतको स्वीकार करते हुए आचार्यका कार्य किया है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें वल्लभभट्टके साथ श्रीमन्महाप्रभुका कथोपकथन पाया जाता है—

भागवते स्वामीर व्याख्यान करियाछि खण्डन।
लइते ना पारि ताँर व्याख्यान-वचन॥

सेइ व्याख्या करेन याहाँ जेइ पड़े आनि।
एकवाक्यता नाहि, ताते स्वामी नाहि मानि॥

प्रभु हासि कहे—'स्वामी' ना माने जेइ जन।
वेश्यार भितरे तारे करिये गणन॥

(चै०च०अ० ७/१०९-१११)

[अर्थात् श्रीवल्लभभट्ट मनमें अभिमान रखकर श्रीमन्महाप्रभुसे कहने लगे—श्रीधरस्वामीने जो श्रीमद्भागवतकी व्याख्या की है, मैंने उसका खण्डन किया है। मैं उनकी टीकाको स्वीकार नहीं करता, इसका कारण यह है कि उन्होंने जहाँ जैसा श्लोक देखा उसका वैसा ही अर्थ लिख दिया, पूर्वापरका विचार नहीं किया। सामञ्जस्यके अभावके कारण उनकी टीकामें एक-वाक्यता नहीं है, इसलिए मैं श्रीधरस्वामीको

नहीं मानता हूँ। श्रीवल्लभभट्टके वचन सुनकर श्रीमन्महाप्रभुने हँसते हुए कहा—जो व्यक्ति श्रीधरस्वामीको नहीं मानता, उसकी गणना वेश्याओंमें होती है, अर्थात् जिस प्रकार कोई स्त्री अपने स्वामी (पति) को नहीं मानती तो वह वेश्या कही जाती है, उसी प्रकार 'स्वामी' (श्रीधर स्वामिपाद) को नहीं माननेवाला व्यभिचारी है।]

× × × × ×

श्रीनिम्बार्काचार्य भेदाभेदवादके प्रचारक हैं। उनके द्वारा रचित भाष्यका नाम 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' है। इस मतमें ब्रह्म, जीव और जगत् स्वरूपतः और धर्मतः भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं। यह भेद और अभेद समान रूपसे सत्य, नित्य और अविरुद्ध है। श्रीनिम्बाकाचार्यके परवर्त्तीकालमें इस सम्प्रदायके कुछ विख्यात आचार्योंने इस मतका प्रचार किया है।

× × × × ×

पूर्वोक्त चार वैष्णवाचार्योंके अतिरिक्त आचार्य श्रीशङ्करने भी 'शारीरक-भाष्य' नामसे ब्रह्मसूत्रके भाष्यकी रचना की है। आजकल अधिकांश लोग ही वेदान्तके शाङ्कर-भाष्यका पाठ करते हैं और यह मानते हैं कि शङ्करमत ही वेदान्तका वास्तविक मत है। इसकी अपेक्षा उत्कृष्ट मत और सिद्धान्त दूसरा कोई है ही नहीं। जो भी हो, श्रीशङ्करने वेदान्तके भाष्य द्वारा जिस मतका प्रचार किया है, वह केवलाद्वैतवाद है। इसीका विर्वत्तवाद, मायावाद, अनिर्वाच्यवाद और निर्विशेषवाद इत्यादि नामोंसे भी प्रचार हुआ है। इस मतका मूल सिद्धान्त है कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य अथवा अद्वितीय वस्तु (तत्त्व) हैं। ब्रह्म—निर्गुण, निर्विशेष और निष्क्रिय हैं। जीव और जगत् ब्रह्मका विवर्त्तमात्र है। भ्रम-संघटनकारिणी अनिर्वाच्य मायाके द्वारा ब्रह्ममें जगत्का भ्रम होता है, जगत् मिथ्या है। इस सम्बन्धमें श्रीशङ्करके वचनोंमें देखा गया है—

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

अर्थात्, कोटि-कोटि ग्रन्थोंमें जो कहा गया है, उसे मैं आधे श्लोकमें ही कहता हूँ कि ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है। जीव ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं।

श्रीशङ्कराचार्यकी शिष्य-परम्परामें इस प्रकारका मतवाद आज तक प्रचलित और प्रचारित होता आ रहा है। इस सन्दर्भमें यहाँ अधिक आलोचनासे निवृत्त होकर शङ्करमतके सम्बन्धमें श्रीमन्महाप्रभुने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यसे जो कहा था, उसे ही उद्धृत कर रहा हूँ—

जीवेर निस्तार लागि' सूत्र कैल व्यास।
मायावादि-भाष्य शुनिले हय सर्वनाश॥

'परिणाम-वाद' व्याससूत्रेर सम्मत।
अचिन्त्यशक्ति ईश्वर जगद्रूपे परिणत॥

मणि जैछे अविकृते प्रसवे हेमभार।
जगद्रूप हय ईश्वर तबु अविकार॥

व्यास—भ्रान्त बलि' सेइ सूत्रे दोष दिया।
'विवर्त्तवाद' स्थापियाछे कल्पना करिया॥

जीवेर देहे आत्मबुद्धि, सेइ मिथ्या हय।
जगत् जे मिथ्या नहे, नश्वर मात्र हय॥

'प्रणव' जे महावाक्य—ईश्वरेर मूर्त्ति।
प्रणव हइते सर्ववेद, जगते उत्पत्ति॥

'तत्त्वमसि'—जीव-हेतु प्रादेशिक वाक्य।
प्रणव ना मानि' तारे करे महावाक्य॥

एइमते कल्पित-भाष्ये शत दोष दिल।
भट्टाचार्य, पूर्वपक्ष अपार करिल॥

वितण्डा, छल, निग्रहादि अनेक उठाइल।
सब खण्डि' प्रभु निज-मत से स्थापिल॥

भगवान्—'सम्बन्ध', भक्ति—'अभिधेय' हय।
प्रेम—'प्रयोजन', वेदे तिनवस्तु कय॥

आर जे जे किछु कहे, सकलइ कल्पना।
स्वतःप्रमाण वेद-वाक्ये ना करिये लक्षणा॥
आचार्येर दोष नाहि, ईश्वर आज्ञा हैल।
अतएव कल्पना करि' नास्तिक-शास्त्र कैल॥

(पद्मपुराण उत्तरखण्ड ६२/३१)

स्वागमैः कल्पितैस्त्वञ्च जनान् मद्विमुखान् कुरु।
माञ्च गोपय येन स्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा॥

(पद्मपुराण उत्तरखण्ड २५/७)

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते।
मयैव विहितं देवि कलौ ब्राह्मणमूर्त्तिना॥

(चै॰च॰म॰ ६/१६९-१८२)

[अर्थात् जीवोंके उद्धारके लिए श्रीव्यासदेवने ब्रह्मसूत्रकी रचना की, किन्तु जो लोग ब्रह्मसूत्रका मायावादी भाष्य सुनते हैं, उनका सर्वनाश हो जाता है। शक्ति-परिणामवाद अर्थात् भगवान्‌का अपनी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा जगत्‌के रूपमें परिणत होना ही व्याससूत्र सम्मत है। जिस प्रकार स्यमन्तक मणि प्रतिदिन सोना उत्पन्न करके भी अविकृत रहती है, उसी प्रकार भगवान् भी अपनी शक्तिसे जगत्‌के रूपमें परिणत होनेपर भी अविकृत ही रहते है। आचार्य शङ्करने इन सूत्रोंमें दोष दिखलाकर श्रीव्यासदेवको भ्रान्त बतलाया है और कल्पना करके विवर्त्तवादकी स्थापना की है। जीवका देहमें आत्मबुद्धि होना मिथ्या है, क्योंकि देह अनात्म पदार्थ है, किन्तु जगत्‌को मिथ्या कहना ठीक नहीं है (क्योंकि जगत्‌के अस्तित्वकी उपलब्धि है), यह जगत् नश्वरमात्र है—ऐसा कहना ही सत्य है। ईश्वरकी नामविग्रह मूर्त्ति 'प्रणव' को ही वेद वाक्योंमें महावाक्य कहा गया है। प्रणवसे ही समस्त वेदों और जगत्‌की उत्पत्ति हुई है। 'तत्त्वमसि' जो जीव के लिये प्रादेशिक वाक्य है अर्थात् उसे एक ही स्थानपर भ्रान्त जीवको उद्देश्य करके कहा गया है। श्रीवेदव्यासने प्रणवको महावाक्यके रूपमें स्वीकार नही करके *'तत्त्वमसि'* को ही महावाक्यके रूपमें स्वीकार किया है। इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभुने आचार्य शङ्कर द्वारा

रचित कल्पित-भाष्यमें सैकड़ों दोष गिनाये। श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यने अगणित पूर्वपक्ष (प्रश्न) रखे—वितण्डा (दूसरेके मतका खण्डन), छल (वक्ताके अभिप्रायसे असम्बन्धित और स्वकल्पित दोषारोपण) और निग्रह (पराजय) इत्यादि अनेक आपत्तियाँ उठायीं, परन्तु महाप्रभुने उन सबका खण्डन करके अपने मतकी स्थापना की। श्रीमन्महाप्रभुने बतलाया कि भगवान् ही सम्बन्धतत्त्व हैं, भक्ति ही अभिधेयतत्त्व है और प्रेम ही प्रयोजन है—वेदमें इन्हीं तीन वस्तुओंको स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त श्रीशङ्कराचार्यने जो कुछ कहा है, वह सब कल्पनामात्र है। वेदवाक्य जो कि स्वतःप्रमाण हैं, उनके मुख्यार्थ (अभिधावृत्ति) को छोड़कर लक्षणावृत्तिसे गौण अर्थ नहीं करने चाहिये, किन्तु शङ्कराचार्यने ऐसा ही किया है। इसमें आचार्यका कोई दोष नहीं है, भगवान्‌की आज्ञासे ही उन्होंने ऐसा किया है। तात्पर्य यह है कि उन्होंने स्वकल्पनाके द्वारा नास्तिक शास्त्रकी रचना की है। पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें वर्णन आता है कि श्रीभगवान्‌ने शिव ठाकुरसे कहा—हे शिव! आप अपने कल्पित (सत्यसे भ्रष्ट एवं मिथ्या निर्मित) स्वागम् (निजतन्त्रादि) के द्वारा जड़-विषयोंमें रत लोगोंको मुझसे विमुख अर्थात् कर्म एवं ज्ञानमें निरत करो। इस प्रकार मुझे गोपन करो जिससे सृष्टिकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो, लोगोंकी संसारमें प्रवृत्ति हो।

पद्मपुराणमें ही श्रीशिव श्रीदुर्गादेवीसे कह रहे हैं—

"हे दुर्गे! जिसे प्रच्छन्न बौद्धशास्त्र (कपट वेद विचारपरक, श्रौत पथके विरुद्ध-नास्तिक बौद्धके मतानुगत) कहा जाता है, उस मायावादरूप असत् (नित्य भगवत्-बहिर्मुख कर्म-ज्ञानपरक अनित्य उपदेशमय) शास्त्रको मैंने ही ब्राह्मण मूर्त्ति (मालव देशमें उत्पन्न शङ्कर नामक देह) धारण करके कलियुगमें ही स्थापित किया है।"]

श्रीमन्महाप्रभु कथित अन्य वचन हैं—

प्रभु कहे—सूत्रेर अर्थ बुझिये निर्मल।
तोमार व्याख्या शुनि' मन हय त विकल॥

सूत्रेर अर्थ भाष्य कहे प्रकाशिया।
भाष्य कह तुमि—सूत्रेर अर्थ आच्छादिया॥

सूत्रेर मुख्य अर्थ ना करह व्याख्यान।
कल्पनार्थे तुमि ताहा कर आच्छादन॥
उपनिषद्-शब्दे जेइ मुख्य अर्थ हय।
सेइ अर्थ मुख्य—व्याससूत्रे सब कय॥
मुख्यार्थ छाड़िया कर गौणार्थ कल्पना।
'अभिधा'-वृत्ति छाड़ि, कर शब्देर 'लक्षणा'॥
प्रमाणेर मध्ये श्रुति-प्रमाण—प्रधान।
श्रुति जे मुख्यार्थ कहे—सेई से प्रमाण॥
जीवेर अस्थि-विष्ठा दुइ, शङ्ख-गोमय।
श्रुति वाक्ये सेइ दुइ महा-पवित्र हय॥
स्वतःप्रमाण वेद, सत्य जेइ कय।
'लक्षणा' करिते स्वतः प्रामाण्य हानि हय॥
व्यास-सूत्रेर अर्थ—जैछे सूर्येर किरण।
स्वकल्पितभाष्य-मेघे करे आच्छादन॥
वेद-पुराणे कहे ब्रह्म निरूपण।
सेइ ब्रह्म—बृहद्वस्तु, ईश्वर-लक्षण॥
सर्वैश्वर्य परिपूर्ण स्वयं भगवान्।
ताँरे निराकार करि करह व्याख्यान॥
निर्विशेष ताँरे कहे जेइ श्रुतिगण।
'प्राकृत' निषेधि, करे 'अप्राकृत' स्थापन॥

(चै॰च॰म॰ ६/१३०-१४१)

[अर्थात् हे सार्वभौम! मैं सूत्रके अर्थको स्पष्ट रूपसे समझ रहा हूँ, किन्तु सूत्रपर आपकी व्याख्या सुनकर मेरा मन व्याकुल हो रहा है। भाष्य तो सूत्रके वास्तविक अर्थको प्रकाशित करता है, किन्तु आप तो सूत्रके अर्थको ही आच्छादित करके भाष्य कर रहे हैं। आप सूत्रके मुख्य अर्थकी व्याख्या नहीं कर रहे, बल्कि कल्पित अर्थ करके सूत्रके मुख्य अर्थको आच्छादित कर रहे हो। प्रत्यक्ष,

अनुमान, ऐतिह्य और शब्द—इन चार प्रकारके प्रमाणोंमें शब्द-प्रमाण अर्थात् 'श्रुति (वेद) प्रमाण' ही प्रधान है। श्रुतिवाक्यका जो मुख्य अर्थ है, वही प्रमाण है। प्राणियोंकी हड्डी और विष्ठा अत्यन्त अपवित्र हैं, किन्तु शङ्ख और गोबर इनमें परिगणित होकर भी श्रुतिवाक्यके आधारपर महापवित्र माने जाते हैं। स्वतःप्रमाण—वेद जो कुछ भी कहते हैं, वह सब सत्य है, वैदिक वाक्योंकी लक्षणा करते हुए उन्हें अनुमानके अधीन करनेपर उनकी स्वतः प्रमाणिकताकी हानि होती है। श्रीव्यासदेवने वेदान्तसूत्रोंके जो अर्थ किये हैं, वे अर्थ सूर्यकी किरणके समान देदीप्यमान हैं, स्पष्ट हैं, किन्तु स्वकल्पित भाष्यरूपी मेघ उन अर्थोंको आच्छादित कर देते हैं। वेद एवं तदनुगत पुराण एकमात्र ब्रह्मका ही निरूपण करते हैं, वे ब्रह्म ही अपने बृहत्-धर्मके कारण ईश्वर लक्षणसे लक्षित हुए हैं। ईश्वरको उनकी सर्वैश्वर्य-परिपूर्णताके साथ देखनेपर वह बृहत्-वस्तु ब्रह्म ही स्वयं-भगवान् हो जाती है। 'ब्रह्म' एवं 'ईश्वर'—ये भगवत्-तत्त्वके अन्तर्गत तत्त्व विशेष हैं। षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् सर्वदा परिपूर्ण श्रीशोभासे युक्त हैं, इसलिए वे नित्य सविशेष हैं। उन्हें निराकार कहकर व्याख्या करनेपर वेदार्थ विकृत हो जाता है। जिन सब श्रुतियोंमें उन्हें निर्विशेष कहा गया है, वे केवल प्राकृत-विशेषका निषेध करके अप्राकृत-विशेषको स्थापन करती हैं।]

ईश्वरेर श्रीविग्रह सच्चिदानन्दकार।
से' विग्रह कह सत्त्वगुणेर विकार॥

श्रीविग्रह जे ना माने, सेई त' पाषण्ड।
अस्पृश्य, अदृश्य सेइ, हय यमदण्ड्य॥

वेद ना मानिया बौद्ध हय त' नास्तिक।
वेदाश्रये नास्तिक्य-वाद बौद्धके अधिक॥

(चै॰च॰म॰ ६/१६६-१६८)

[अर्थात् वेदशास्त्रके मतानुसार ईश्वरका नित्य सच्चिदानन्दमय श्रीविग्रह है, किन्तु आप उसी विग्रहको सत्त्वगुणका विकार कह रहे हैं। जो श्रीविग्रहको नहीं मानता, वह पाखण्डी है। अस्पृश्य तथा

अदृश्य हैं, वह यमराजके दण्डका भागीदार बनता है। वेद-विधिको नहीं माननेके कारण बौद्ध शाक्तसिंह नास्तिक कहलाते हैं, किन्तु मायावादी तो वेदका आश्रय करके जिस नास्तिक्यवादका प्रकाश करते हैं, वह तो बौद्धवादकी अपेक्षा और भी अधिक निन्दनीय है।]

काशीमें श्रीप्रकाशानन्द सरस्वतीके साथ कथोपकथनमें श्रीमन्महाप्रभुने कहा है—

उपनिषत्-सहित सूत्र कहे जेइ तत्त्व।
मुख्यवृत्त्ये सेइ अर्थ परम महत्त्व॥

गौण-वृत्त्ये जेवा भाष्य करिल आचार्य।
ताहार श्रवणे नाश जाय सर्व-कार्य॥

ताँहार नाहिक दोष, ईश्वर-आज्ञा पाञा।
गौणार्थ करिल, मुख्य अर्थ आच्छादिया॥

'ब्रह्म'-शब्दे मुख्य अर्थे कहे—'भगवान्'।
चिदैश्वर्य-परिपूर्ण अनूर्द्ध-समान॥

ताँहार विभूति, देह—सब चिदाकार।
चिद्विभूति आच्छादिया कहे 'निराकार'॥

चिदानन्द—तेंहो, ताँर, स्थान, परिकर।
ताँरे कहे—प्राकृत-सत्त्वेर विकार॥

ताँर दोष नाहि, तेंहो आज्ञाकारी दास।
आर जेइ शुने, तार हय सर्वनाश॥

प्राकृत करिया माने विष्णु-कलेवर।
विष्णुनिन्दा आर नाहि इहार उपर॥

ईश्वरेर तत्त्व—जेन ज्वलित ज्वलन।
जीवेर स्वरूप—जैछे स्फुलिङ्गेर कण॥

जीवतत्त्व—शक्ति, कृष्णतत्त्व—शक्तिमान्।
गीता-विष्णुपुराणादि ताहाते प्रमाण॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
(श्रीगी॰ ७/५)

विष्णुशक्तिः पराप्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया-शक्तिरिष्यते॥
(विष्णुपुराण ६/७/६०)

हेन जीवतत्त्व लञा लिखि परतत्त्व।
आच्छन्न करिल श्रेष्ठ ईश्वर-महत्त्व॥

व्यासेर सूत्रेते कहे 'परिणाम'-वाद।
'व्यास भ्रान्त'—बलि तार उठाइल विवाद॥

परिणाम-वादे ईश्वर हयेन विकारी।
एत कहि 'विवर्त्तवाद' स्थापना जे करि॥

वस्तुतः परिणामवाद—सेइ से प्रमाण।
'देहे आत्मबुद्धि' हय विवर्त्तेर स्थान॥

अविचिन्त्य-शक्तियुक्त श्रीभगवान्।
इच्छाय जगद्‌रूपे पाय परिणाम॥

तथापि अचिन्त्यशक्त्ये हय अविकारी।
प्राकृत चिन्तामाणि ताहे दृष्टान्त धरि॥

नाना रत्नराशि हय चिन्तामणि हैते।
तथापिह मणि रहे स्वरूपे अविकृते॥

प्राकृत-वस्तुते यदि अचिन्त्यशक्ति हय।
ईश्वरेर अचिन्त्यशक्ति—इथे कि विस्मय॥

'प्रणव' से महावाक्य वेदेर निदान।
ईश्वरस्वरूप प्रणव—सर्वविश्व-धाम॥

सर्वाश्रय ईश्वरेर प्रणव उद्देश।
'तत्त्वमसि'—वाक्य हय वेदेर एकदेश॥

'प्रणव' से महावाक्य—ताहा करि आच्छादन।
महावाक्ये करि 'तत्त्वमसि'र स्थापन॥
सर्ववेदसूत्रे करे कृष्णेर अभिधान।
मुख्यवृत्ति छाड़ि कैल लक्षणा-व्याख्यान॥
स्वतःप्रमाण वेद—प्रमाण शिरोमणि।
लक्षणा करिले स्वतः प्रमाणता-हानि॥
एइमत प्रतिसूत्रे सहजार्थ छाड़िया।
गौणार्थ व्याख्या करे सब कल्पना करिया॥

(चै॰च॰आ॰ ७/१०८-१३३)

[अर्थात् ईशादि उपनिषदोंके साथ वेदान्तसूत्र जिस तत्त्वका वर्णन करते हैं, अभिधावृत्ति (मुख्यवृत्ति) में उस अर्थका परम महत्त्व है। श्रीशङ्कराचार्यने गौणवृत्तिमें जिस भाष्यकी रचना की है, उसे सुननेसे सभी कार्योंका विनाश हो जाता है। इसमें उनका दोष नहीं है, क्योंकि ईश्वरकी आज्ञा होनेपर ही उन्होंने मुख्य अर्थको आच्छादित करके उनका गौणार्थ किया है। ब्रह्म शब्दके मुख्य अर्थमें कहा गया है कि भगवान् चित्-ऐश्वर्यसे परिपूर्ण, असमोर्ध्व तत्त्व हैं, अर्थात् न तो कोई उनके समान है और न ही कोई उनसे श्रेष्ठ है। उनकी विभूति, देहादि सभी कुछ चिदाकार हैं, किन्तु चित्-विभूतिको आच्छादित करके ही उन्हें निराकार कहा जाता है। जिस प्रकार उनकी देह चिदानन्द है, उसी प्रकार उनका स्थान (धाम) और परिकरादि सभी कुछ ही चिदानन्दमय हैं, किन्तु आचार्य शङ्कर इन सबको प्राकृत सत्त्वका विकार कहते हैं। इसमें श्रीशङ्कराचार्यका कोई दोष नहीं है, वे तो केवल प्रभुके आज्ञाकारी दास हैं, परन्तु जो भी उनके भाष्यको सुनता है, उसका सर्वनाश हो जाता है। वे भगवान् विष्णुके कलेवरको प्राकृत मानते हैं, इससे बढ़कर विष्णुकी निन्दा और कुछ नहीं हो सकती। ईश्वरतत्त्व ज्वलित अग्निके समान है और जीवोंका स्वरूप उसके स्फुलिङ्ग (चिनगारी) के समान है। जीवतत्त्व शक्ति और कृष्णतत्त्व शक्तिमान हैं—गीता और विष्णुपुराणादि इस विषयमें प्रमाण हैं। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता (७/५) में कहा गया है—

"भूमि, जल, तेज, वायु और आकाश—यह पाञ्चभौतिकरूपी स्थूलजगत् और मन, बुद्धि और अहङ्काररूपी लिङ्गजगत्—इस प्रकार इन आठ प्रकारोंसे विभक्त प्रकृति 'अपरा' अर्थात् जड़ा है—इसीका नाम माया प्रकृति है। इससे पृथक् मेरी और एक 'परा प्रकृति' है, वह प्रकृति ही जीवस्वरूप होकर इस जगत्में परिपूर्ण रूपसे विराजमान है।"

श्रीविष्णुपुराणमें वर्णन है, यथा—

"विष्णुशक्ति तीन प्रकारकी है—परा, क्षेत्रज्ञा और अविद्या नामक। विष्णुकी 'पराशक्ति' चिच्छक्ति है, 'क्षेत्रज्ञाशक्ति' जीवशक्ति है (जिसे मायारूपी 'अविद्या' के कारण 'अपरा' या भिन्ना कहा जाता है) और यह जो कर्मसंज्ञारूपी 'अविद्याशक्ति' है, उसका नाम मायाशक्ति है।"

इस प्रकारसे आचार्य शङ्करने जीवतत्त्वका परमतत्त्वके रूपमें वर्णन कर दिया और ईश्वरकी श्रेष्ठ महिमाको आच्छादित कर दिया। व्याससूत्रोंमें 'परिणामवाद' का उल्लेख किया गया है और श्रीशङ्करने 'व्यास भ्रान्त हैं'—यह कहकर विवाद उत्पन्न किया है। 'परिणामवादमें ईश्वर स्वयं विकारी हो जाते हैं'—ऐसा कहकर श्रीशङ्करने 'विवर्त्तवाद' की स्थापना की है। वास्तवमें जो परिणामवाद है, वही प्रमाण है और जो अनात्मवस्तु देहमें आत्मबुद्धि है—वह विवर्त्तवाद है। अचिन्त्य शक्तियुक्त श्रीभगवान् अपनी इच्छासे जगत् रूपमें परिणत होते हैं। इसी अचिन्त्यशक्तिके कारण भगवान् विकाररहित रहते हैं, इस सम्बन्धमें प्राकृत चिन्तामणि दृष्टान्तस्वरूप है। चिन्तामणिसे अनेक रत्न उत्पन्न होते हैं, फिर भी चिन्तामणिके स्वरूपमें विकार नहीं होता है। प्राकृत वस्तुमें यदि ऐसी अचिन्त्यशक्ति विराजमान हो सकती है, तो ईश्वरकी अचिन्त्यशक्तिके विषयमें आश्चर्यचकित होनेकी क्या बात है। महावाक्य 'प्रणव' ही वेदोंका निदान अर्थात् आदिकारण है। यह प्रणव ही ईश्वरका स्वरूप और समस्त विश्वका धाम है। प्रणवसे सर्वाश्रय ईश्वरको उद्दिष्ट किया गया है। *'तत्त्वमसि'* वचन वेदोंका एकदेशव्यापी उपदेश है। 'प्रणव' महावाक्य है—इसे आच्छादित करके श्रीशङ्करने *'तत्त्वमसि'* को महावाक्य कहकर उसकी स्थापना की है। सभी वेदान्तसूत्रोंमें कृष्ण ही स्वीकृत हैं। श्रीशङ्करने

मुख्यवृत्तिको छोड़कर लक्षणावृत्तिके आधारपर इसकी व्याख्या की है। स्वतःप्रमाण वेद प्रमाण-शिरोमणि हैं। लक्षणावृत्तिके द्वारा अर्थ करनेसे स्वतःप्रमाणताकी हानि होती है। इस प्रकार श्रीशङ्करने प्रत्येक सूत्रके स्वाभाविक अर्थको छोड़कर मनगढ़न्त कल्पना करके गौणार्थकी व्याख्या की है।]

श्रीमन्महाप्रभुने उस समयके अद्वितीय वैदान्तिक और नैयायिकके रूपमें प्रसिद्ध श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यके निकट जिस प्रकारसे शङ्करमतका खण्डन किया था और काशीमें शाङ्कर संन्यासी-प्रधान श्रीप्रकाशानन्दको संन्यासियोंसे भरी सभामें शङ्करमतके खण्डनके लिए जो उपदेश दिया था, उसीमेंसे कुछको यहाँ उल्लिखित किया गया है। जो सारग्राही हैं, उनके द्वारा श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा-ग्रहणके सौभाग्यको वरणकर पानेपर, वे शङ्करमतकी असारता एवं अयौक्तिकताको समझ पायेंगे। वे लोग यह भी उपलब्धि कर पायेंगे कि श्रीशङ्करने अपने गुरु सूत्रकर्त्ता व्यासको भ्रान्त कहनेमें भी सङ्कोच नहीं किया। यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने सूत्रके मुख्यार्थको छोड़कर गौणार्थ करके अपने स्वकपोलकल्पित भाष्यके द्वारा लोगोंको विमोहित किया है। वेदान्तमें श्रीशङ्करके मतको स्वीकार करनेपर वेदान्तके प्रणयनकर्त्ता वेदव्यासके अभिप्रायका परित्याग करना होगा, केवलमात्र इतना ही नहीं, जितने भी श्रुति, स्मृति और पुराणादिके सिद्धान्त हैं, उनका त्याग करते हुए प्रच्छन्न बौद्धवादी होकर भगवान्के चरणोंमें अपराधी होना होगा। अतः भाग्यवान विद्वत्मण्डलीसे विशेष अनुरोध है कि वे सार्वभौम और प्रकाशानन्दके साथ श्रीमन्महाप्रभुके श्रीमुखनिःसृत वेदान्त-विषयक उपदेशोंको यत्नके साथ पढ़ें और यह उपलब्धि करनेकी चेष्टा करें कि भगवान्की आज्ञासे स्वयं श्रीशङ्करने, श्रीशङ्कराचार्यके रूपमें अवतीर्ण होकर स्वकपोलकल्पित भाष्यके द्वारा जीवके चित्तको किस प्रकारसे विभ्रान्त किया है। स्वयं श्रीमन्महाप्रभुने कहा है कि श्रीशङ्कराचार्यने भगवान्का आज्ञापालनकारी सेवक होनेके कारण, अर्थात् श्रीकृष्णकी आज्ञासे महादेवने स्वयं शङ्कराचार्यके रूपमें असुरोंको मोहित करनेके लिए यह कार्य किया है, इसमें उनका कोई दोष नहीं है। किन्तु जो लोग श्रीशङ्करके भाष्यको पढ़ते अथवा सुनते हैं, उनका सर्वनाश

अवश्यम्भावी है। इस विषयमें एक दृष्टान्त भी सुना जाता है कि श्रीमधुसूदन सरस्वती महोदयने प्रथमतः श्रीचैतन्यदेवके धर्मको ग्रहण करनेकी इच्छासे नवद्वीपमें उपस्थित होकर न्यायशास्त्रका अध्ययन किया। तदनन्तर गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायके दार्शनिक सिद्धान्तोंसे आकृष्ट होकर उन्होंने उन सिद्धान्तोंसे परिपूर्ण एक ग्रन्थकी रचना की, और केवलाद्वैतमतका खण्डन करनेके अभिप्रायसे काशीमें जाकर वहाँ कुछ दिनों तक किसी शाङ्कर वैदान्तिकसे मायावाद भाष्यको सुना तथा इस भाष्यको सुननेके फलस्वरूप 'अद्वैतसिद्धि' नामक ग्रन्थको लिखा। किन्तु उनका सहज वैष्णव-धर्मानुराग उनकी श्रीमद्भागवत और श्रीमद्भागवद्गीताकी टीकामें परिस्फुटित हुआ है। इतना ही नहीं, उन्होंने सविशेष श्रीकृष्णको ही परतत्त्वके रूपमें निर्णय करते हुए द्विधा-बोध नहीं की। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरने श्रीगीताकी अपनी टीकामें स्थान-स्थानपर श्रीमधुसूदन सरस्वतीपादके वाक्योंको उद्धृत किया है।

श्रीशिवके परम वैष्णव होनेके कारण श्रीशङ्कराचार्यने श्रीशिवके अवतारके रूपमें अपने हृदगत भक्तिभावको विशेष रूपमें प्रकाशित किया है। भगवान्की आज्ञासे मायावादका प्रचार करनेपर भी वे अपनी वैष्णवताके संरक्षणसे पराङ्मुख नहीं हुए, सारग्राही व्यक्ति इन सब विचारोंको हृदयङ्गम कर सकते हैं। श्रीशङ्कराचार्य द्वारा रचित श्रीगोविन्दाष्टक और श्रीयमुनाष्टाकादिमें इस तथ्यका निदर्शन है। उन्होंने बहुत-से स्थानोंपर श्रीकृष्णलीला और श्रीव्रजगोपियोंकी महिमाका भी वर्णन किया है। उन्होंने विष्णुसहस्रनामस्तोत्र और गीताके भाष्यकी रचना की है, इससे सहज ही यह उपलब्धि हो सकती है कि वे स्वयं परम वैष्णव थे। *'शङ्करः शङ्करः साक्षात्'*—इस विचारसे आज्ञापालनकारी दास होकर केवलाद्वैतमतवाद-पोषक रचनारूपी आज्ञाके पालनके द्वारा उनकी वैष्णतामें हानि नहीं होती, तथापि जो उनके द्वारा रचित भाष्यको सुनते हैं, उन लोगोंका भक्तिरूप मङ्गल नहीं होकर, भगवान्के सहित समज्ञान करनेका महा-अपराध हो पड़ता है। अतएव साधु! सावधान।

जीवोंके मङ्गलकी कामनासे ही श्रीमन्महाप्रभुने इस मतकी निन्दा की है। गौड़ीय दर्शनाचार्य-शिरोमणि गौरपार्षद श्रील जीव गोस्वामीने भी अपने श्रीषट्सन्दर्भ और श्रीसर्वसंवादिनी टीकामें शङ्करमतका विशेष रूपसे खण्डन किया है।

गौड़ीयगण श्रीमद्भागवतको ही ब्रह्मसूत्रका अकृत्रिम भाष्य मानकर उसका परम आदर करते हैं। सूत्रकर्त्ता श्रीवेदव्यासके द्वारा स्वरचित भाष्यस्वरूप इस श्रीमद्भागवतके प्रति आदर होनेके कारण गौड़ीय भक्तोंको भाष्यान्तर अर्थात् दूसरे किसी भाष्यकी रचना करनेका प्रयोजन प्रतीत नहीं हुआ। श्रीचैतन्यदेवने चारों सात्वत आचार्योंके प्रति आदर प्रदर्शनका भाव रखते हुए भी श्रीमन्मध्वमुनि द्वारा रचित भाष्यका ही अधिक अनुमोदन किया है। इसीलिए यही भाष्य गौड़ीयजनोंकी प्रीतिका विषय हुआ था।

श्रील ठाकुर भक्तिविनोदके द्वारा रचित 'श्रीमन्हाप्रभुकी शिक्षा' ग्रन्थमें उल्लेख है—"श्रील जीव गोस्वामीने आप्त वाक्योंके प्रमाणत्वको स्थिर करके पुराण-शास्त्रोंकी तद् (भगवत्)-धर्मताका निरूपणपूर्वक वहाँ श्रीमद्भागवतकी सर्वप्रमाणोंमें श्रेष्ठताको स्थापित किया। जिन लक्षणोंके द्वारा उन्होंने भागवतकी श्रेष्ठता स्थापन की है, उन्हीं लक्षणोंके द्वारा उन्होंने ब्रह्मा, नारद, व्यास एवं उनके साथ ही शुकदेव तथा क्रमपूर्वक विजयध्वज, ब्रह्मण्यतीर्थ, व्यासतीर्थ इत्यादि और तत्त्वगुरु श्रीमन्मध्वाचार्य द्वारा प्रणीत शास्त्रोंका उल्लेख किया है। इन सब वचनोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीब्रह्मसम्प्रदाय ही श्रीकृष्णचैतन्यदासजनोंकी गुरुप्रणाली है। श्रील कविकर्णपूर गोस्वामीने भी इसी प्रणालीको सुदृढ़ करते हुए स्वकृत गौरगणोद्देश-दीपिकामें गुरुप्रणालीका यही क्रम बतलाया है। वेदान्तसूत्र भाष्यकार श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुने भी इसी प्रणालीको निश्चित किया है। जो लोग इस गुरुपरम्परा प्रणालीको अस्वीकार करते हैं, वे श्रीकृष्णचैतन्य-चरणानुचरोंके प्रधान शत्रु हैं, इसमें सन्देह ही क्या है?"

श्रीचैतन्यदेवने मध्वसम्प्रदायको ही क्यों स्वीकार किया, इस विषयमें भी सच्चिदानन्द ठाकुर श्रील भक्तिविनोदके द्वारा रचित ग्रन्थ

'श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा' में उल्लेख है—"निम्बार्कमतमें जो भेदाभेद अर्थात् द्वैताद्वैतमत है, वह पूर्ण नहीं है। श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा प्राप्त करके ही वैष्णव-जगत्ने इस मतकी पूर्णता प्राप्त की है। श्रीमध्वमतमें जिस सच्चिदानन्द नित्यविग्रहको स्वीकार किया गया है, उसीको इस अचिन्त्यभेदाभेदका मूल मानकर श्रीमन्महाप्रभुने मध्वसम्प्रदायको स्वीकार किया है। इससे पहले वैष्णवाचार्यों द्वारा सिद्धान्त किये गये सभी मतोंमें किसी-न-किसी वैज्ञानिक समताका अभाव था—इन्हीं अभावोंके कारण उनमें परस्पर वैज्ञानिक भेद होनेके कारण सम्प्रदाय भेद हुआ है। साक्षात् परतत्त्व श्रीचैतन्य महाप्रभुने अपनी सर्वज्ञताके बलपर इन समस्त मतोंके अभावको पूर्ण करते हुए श्रीमध्वाचार्यके 'सच्चिदानन्द नित्यविग्रह', श्रीरामानुजाचार्यके 'भक्तिसिद्धान्त', श्रीविष्णुस्वामीके 'शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त' उनका सर्वेश्वरत्व और श्रीनिम्बार्कके 'चिन्त्यद्वैताद्वैतसिद्धान्त' को निर्दोष और सम्पूर्ण करते हुए अपने अचिन्त्यभेदाभेदात्मक नामक अति विशुद्ध वैज्ञानिक मतको जगत्के प्रति अनुग्रह करते हुए अर्पित किया है। कुछ ही दिनोंमें भक्तितत्त्वमें एकमात्र सम्प्रदाय रहेगा—उसका नाम होगा 'श्रीब्रह्मसम्प्रदाय'। अन्य सभी सम्प्रदाय इस ब्रह्मसम्प्रदायमें पर्यवसित हो जायेंगे।"

श्रीनित्यानन्द प्रभुके शिष्य श्रीगौरीदासपण्डित थे। उनके शिष्य श्रीहृदयचैतन्य एवं उनके दीक्षा-शिष्य श्रीश्यामानन्द थे। इन्होंने परवर्त्तीकालमें श्रील जीव गोस्वामीके निकट शिक्षा ग्रहण की थी। श्रीश्यामानन्द प्रभुके शिष्य श्रीरसिकानन्द और उनके शिष्य श्रीनयनानन्द और श्रीनयनानन्दके शिष्य कान्यकुब्जवासी पण्डित श्रीराधादामोदर थे, इन्हीं श्रीराधादामोदरके शिष्य श्रीबलदेव विद्याभूषण थे, जिन्होंने बादमें विरक्तवेश धारण किया और 'एकान्ती गोविन्ददास' के नामसे प्रसिद्ध हुए और श्रीधाम वृन्दावनमें श्रीश्यामसुन्दरका विग्रह स्थापित किया। इनके प्रधान-शिष्य श्रीउद्धवदास अथवा उद्धरदास थे, जो वृन्दावन स्थित सूर्यकुण्डमें भजनानन्दी वैष्णव थे। इसी स्थानपर हमारे परात्पर श्रीगुरुदेव वैष्णवसार्वभौम श्रीश्रील जगन्नाथदास बाबाजी महाराजने भजन किया था। उनसे ही क्रमपूर्वक श्रील भक्तिविनोद ठाकुर, श्रील गौरकिशोरदास बाबाजी महाराज और श्रील प्रभुपाद

श्रीश्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुरने हमारे श्रीगुरुदेवके रूपमें आत्मप्रकाश किया है।

श्रीरसिकानन्द मुरारिके प्रशिष्य श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभुने ही श्रीगौड़ीयवैष्णव जगत्में आचार्य-भास्करके रूपमें उदित होकर श्रीव्यासरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके 'श्रीगोविन्दभाष्य' नामक भाष्य और उसकी 'सूक्ष्मा' नामक टीकाकी रचना की है। इस श्रीगोविन्दभाष्यने श्रीगौड़ीयवेदान्त-भाष्यके रूपमें विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की है। श्रीमद्बलदेव प्रभुने और भी अनेक ग्रन्थ, भाष्य और टीकाओंकी रचना करके गौड़ीय-वैष्णव साहित्यके भण्डार-सम्पदकी वृद्धि की है। श्रीमद्बलदेव प्रभुके श्रीगोविन्दभाष्यकी रचनाके सम्बन्धमें दो इत्तिवृत्त (इतिहास) सुने जाते हैं। प्रथम ऐतिहासिक कथा यह है कि वे जिस समय श्रीधाम वृन्दावनमें वास कर रहे थे, उस समय एक दिन किसी शङ्कर मतावलम्बी पण्डितके साथ उनका वेदान्तके विषयमें विचार हुआ। उस विचार-विषयमें उस पण्डितके परास्त होनेपर उसने श्रीबलदेव प्रभुसे पूछा कि किस सम्प्रदायके भाष्यके अनुगत होकर आपने विचारमें मुझे परास्त किया है? इसके उत्तरमें श्रीबलदेव प्रभुने कहा कि मेरे विचार श्रीकृष्णचैतन्य सम्प्रदायके भाष्यके अनुगत हैं। तब उस शङ्कर मतावलम्बी पण्डितने उस भाष्यको देखनेकी इच्छा प्रकट की। श्रीमद्बलदेव प्रभुने उस समय श्रीवृन्दावन धामके अधिष्ठातृदेवता श्रीश्रीगोविन्दजीके स्वप्नादेशसे कुछ दिनोंमें ही इस भाष्यकी रचना की थी। इसलिए इस भाष्यका नाम 'श्रीगोविन्दभाष्य' हुआ—यह एक प्रसिद्ध प्रवाद है।

इसके अतिरिक्त और एक आख्यायिका सुनी जाती है—श्रील रूप गोस्वामीके प्रकटित श्रीविग्रह—श्रीगोविन्दजी एक बार जयपुरमें स्थानान्तरित हुए थे और वहाँ बङ्गदेशीय गौड़ीय-वैष्णवों द्वारा पूजित हो रहे थे। जयपुरके समीप ही गलतापर्वतपर श्रीरामानन्दी-सम्प्रदायकी एक गद्दी थी। ये श्रीरामानुज-सम्प्रदायसे भिन्न और निर्विशेष विचारपरायण थे। इन रामानन्दियोंने जयपुरके गौड़ीय-वैष्णव महाराजको बतलाया कि जब गौड़ीय-वैष्णवोंका ब्रह्मसूत्रपर अपना भाष्य ही नहीं है, तो वे अवैदिक और असाम्प्रदायिक हुए, अतः उनके द्वारा श्रीविग्रहकी सेवा

नहीं हो सकती। उस समयकी और भी कुछेक घटनाएँ सुनी जाती है कि कुछ लोगोंके परामर्शसे श्रीराधारानीके श्रीविग्रहको श्रीगोविन्दजीके समीपसे पृथक् करवाया गया था, तब जयपुरके इन वैष्णव महाराजने एक स्वतन्त्र मन्दिरमें श्रीमती राधारानीकी पूजाकी व्यवस्था की थी। एक वितर्कका विषय यह भी था कि श्रीगोविन्दजीके अर्चनसे पहले श्रीनारायणका अर्चन करना होगा। इस प्रकारसे जब बहुत-से तर्क-वितर्क बहुचर्चित हो रहे थे, तब जयपुरके महाराजने रामानन्दी-सम्प्रदायकी पण्डित-मण्डलीको एक विचार-सभा (विद्वत्-गोष्ठी) में आह्वान किया। उस विचार-सभामें गौड़ीय-वैष्णवोंके पक्षसे विरक्त वेषी श्रीमद्बलदेव प्रभु तत्कालीन गौड़ीय-वैष्णव-शिरोमणि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरके द्वारा प्रेरित होकर उस विचार-सभामें उपस्थित हुए और वहाँकी पण्डित-मण्डलीको पराजित कर दिया तथा गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायके विचारनुसार पूर्ववत् यथारीति पूजादिका निर्वाह करवाया। श्रील बलदेव प्रभुने जिस भाष्यके अनुगत होकर उक्त पण्डित-मण्डलीको पराजित किया था, जब उक्त पण्डित-मण्डलीने उस भाष्यका दर्शन करनेका अनुरोध किया, तो श्रील बलदेव प्रभुने कुछ समय लेकर सात दिनोंमें ही श्रीगोविन्ददेवके आदेशसे उस गोविन्दभाष्यकी रचना करके उसे पण्डितोंके समक्ष प्रस्तुत किया। इसपर पण्डितोंने परम आनन्दके साथ श्रील बलदेव प्रभुको 'विद्याभूषण' उपाधिसे विभूषित किया।

श्रीगोविन्दभाष्यकी रचनाके विषयमें और भी एक आख्यायिका इस प्रकार है कि जिस समय श्रीबलदेव प्रभु भाष्यके विषयमें चिन्तन करते-करते सो गये, उस समय श्रीगोविन्दजीने स्वप्नमें दर्शन देकर भाष्य-रचनाकी आज्ञा प्रदान करते हुए कहा—"बलदेव! तुम्हारे प्रति मेरी आज्ञा है कि तुम भाष्यकी रचनाके लिए प्रयत्न करो। मैं स्वयं तुम्हारे द्वारा इस भाष्यकी रचना कराऊँगा। तुम्हारे इस भाष्यका नाम गोविन्दभाष्य होगा। इस भाष्यके कारण तुम 'विद्याभूषण' नामसे प्रसिद्ध होओगे।"

श्रीबलदेव प्रभुने इस ग्रन्थके परिशिष्ट-वचनमें स्वयं ही कहा है—

विद्यारूपं भूषणं मे प्रदाय ख्यातिं निन्ये तेन यो मामुदारः।
श्रीगोविन्दः स्वप्ननिर्दिष्टभाष्यो राधाबन्धुर्बन्धुराङ्गः स जीयात्॥

अर्थात् जिन उदार पुरुषने मुझे विद्यारूप भूषण प्रदान करके 'विद्याभूषण' उपाधिके द्वारा जगत्में विख्यात कराया और जिन्होंने स्वप्नमें इस भाष्यका निर्देश दिया, वे राधारमण त्रिभङ्गभङ्गी श्रीगोविन्ददेव जययुक्त हों।

कुछ दिनोंके बाद उन्होंने इसी गोविन्दभाष्यकी एक सूक्ष्मा टीकाकी भी रचना की। श्रीगोविन्ददेवके आदेशसे भाष्यकी रचना हुई है, इसी कारण उन्होंने भाष्यका नाम 'गोविन्दभाष्य' रखा। उसी समयसे गौड़ीय-वैष्णवोंके इस ब्रह्मसूत्र भाष्यको श्रीभागवतके आनुगत्यमें स्वीकार करते हुए श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रवर्त्तित अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्तका प्रचार होता चला आ रहा है। जिन्हें इस भाष्यको अध्ययन करनेका सौभाग्य प्राप्त होगा, वे निश्चय ही जान सकेंगे कि गौड़ीयजनोंका सिद्धान्त ही वेदव्यासके अभिप्रेत वेदान्तका सिद्धान्त है। यही श्रीमद्भागवत है। श्रीमन्महाप्रभु और उनके अनुगत गोस्वामिगण समस्त भूमण्डलमें उच्च स्वरसे प्रचार करते हुए वेदान्तशास्त्रके द्वारा जनसमाजको भक्तिमार्गमें प्रवेश कराके निगमकल्पतरुके गलित फल—श्रीमद्भागवतरस अथवा विमल कृष्णप्रेमरसका आस्वादन कराते हुए उन्हें कृतकृतार्थ कर रहे हैं।

उक्त सूक्ष्मा-टीका किसके द्वारा रची गयी है, इस विषयमें स्पष्ट उल्लेख न रहनेके कारण कुछ लोगोंको सन्देह होता है। किन्तु आचार्योंके श्रीमुखसे श्रवण करके एवं भाष्य और टीकाकी रचनादिका सादृश्य दिखायी देनेसे यही सिद्धान्त निर्णीत होता है कि यह सूक्ष्मा टीका भी भाष्यकार श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभु द्वारा ही रचित है। प्राचीन बहुत-से ग्रन्थकर्त्ता, भाष्यकार और टीकाकारोंने अपने ग्रन्थों, भाष्यों और टीकाओंमें कहीं भी अपने नामका उल्लेख नहीं किया। इसके दृष्टान्त भी विरल नहीं हैं।

श्रीमद्बलदेव प्रभुके द्वारा रचित बहुत-से ग्रन्थ एक बार भी मुद्रित हुए हैं या नहीं, इस विषयमें सन्देह है, और जो प्रकाशित हुए थे, वे भी प्रायः आज लोक-लोचनके अगोचर हो गये हैं। इस समय श्रीमद्बलदेव प्रभु द्वारा रचित भाष्य और टीकाके साथ

वेदान्तसूत्र ग्रन्थके प्रकाशनका प्रयास किया जा रहा है। इस कार्यमें अभी सर्वप्रथम इसका प्रथम अध्याय प्रकाशित हुआ है।

इस ग्रन्थमें चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय चार पादोंसे समन्वित है। पुनः प्रत्येक पादमें कुछ अधिकरण हैं। प्रत्येक अधिकरणमें पाँच अवयवोंसे युक्त न्याय विद्यमान है—विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सङ्गति और सिद्धान्त। विभिन्न भाष्यमतोंमें इसके एक सौ बासठ (१६२) से दो सौ तेईस (२२३) तक अधिकरण विभाग लक्षित होते हैं और सूत्रसंख्या पाँच सौ बीस (५२०) से पाँच सौ साठ (५६०) तक दिखायी देती है। श्रीगोविन्दभाष्य सम्मत विचारसे प्रथम अध्यायमें चार पाद हैं, उनमें इक्कतीस (३१) अधिकरण और एक सौ पिचहतर (१७५) सूत्र हैं। दूसरे अध्यायमें चार पाद, चौवन (५४) अधिकरण और एक सौ पचपन (१५५) सूत्र हैं। तीसरे अध्यायमें चार पाद इकहत्तर (७१) अधिकरण और एक सौ नब्बे (१९०) सूत्र हैं एवं चतुर्थ अध्यायमें चार पाद, तैंतालिस (४३) अधिकरण और अठहत्तर (७८) सूत्र हैं। इस ग्रन्थके प्रथम एवं द्वितीय अध्यायमें 'सम्बन्धतत्त्वज्ञान', तृतीय अध्यायमें 'अभिधेय'—साधनभक्ति एवं चतुर्थ अध्यायमें 'प्रयोजन फल'—भगवत्-प्रेमका विषय वर्णित हुआ है।

हम अवतरणिका भाष्य, अवतरणिका भाष्यानुवाद, अवतरणिका भाष्यकी टीका और अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद, सूत्र, सूत्रार्थ, मूलभाष्य, मूलभाष्यानुवाद, मूलभाष्यकी टीका और मूलभाष्यकी टीकाका बङ्गलानुवाद और अन्तमें सिद्धान्तकणा नामक एक अनुव्याख्याके साथ ग्रन्थका सम्पादन एवं प्रकाशन कर रहे हैं।

वेदान्तसूत्रके सम्बन्धतत्त्वात्मक—प्रथम अध्यायके प्रथम पादमें हम ग्यारह अधिकरणोंमें इक्कतीस सूत्र देखते हैं। इनमें प्रथम 'जिज्ञासाधिकरण' में ब्रह्म ही जिज्ञास्य हैं, यही प्रतिपादित हुआ है। दूसरे 'जन्माद्यधिकरण' में जगत्की सृष्टि-स्थिति प्रलयादिके कारण ब्रह्म ही एकमात्र जिज्ञास्य हैं—इसका विचार और निर्णय किया गया है। तीसरे 'शास्त्रज्ञेयत्वाधिकरणम्' में जगत्के जन्मादिके हेतु पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं—यह श्रौतपथमें अपौरुषेय शास्त्रवाक्य द्वारा बोध्य है।

तर्कसे उन्हें जाना नहीं जा सकता, उनके स्वरूपका निर्णय करनेके लिए वेदादि शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण हैं, अथवा वे ही समस्त शास्त्रोंके उत्पत्तिस्थल हैं, यह निरुपित हुआ है। चौथे 'समन्वयाधिकरण' में यह प्रतिपादित किया गया है कि समस्त शास्त्रोंमें श्रीहरिका ही परब्रह्मके रूपमें प्रतिपादन किया गया है, अर्थात् ये परब्रह्म श्रीहरि ही 'सर्व वेदवेद्य' हैं। पाँचवें 'ईक्षत्यधिकरण' में यह बतलाया गया है कि ब्रह्मस्वरूप वेद द्वारा ज्ञेय होकर भी स्वप्रकाशता धर्मसे युक्त और निर्गुणस्वरूप है। छठे 'आनन्दमयाधिकरण' में यही वर्णन हुआ है कि वे निर्गुण वेदवाच्य श्रीहरि ही पूर्ण आनन्दमय विग्रह हैं। सातवें 'अन्तरधिकरणम्' में सूर्यमण्डलान्तवर्ती और चक्षुर्मध्यवर्ती पुरुष वही परमात्मरूप श्रीहरि हैं—इसका विचार हुआ है। आठवें 'आकाशाधिकरण' में पाया जाता है कि पृथ्वी आदिके आश्रयभूत आकाश शब्दसे श्रीहरि ही बोध्य हैं। नवम 'प्राणाधिकरण' में कहा गया है कि छान्दोग्य-वर्णित प्राण-शब्दसे सर्वेश्वर श्रीहरिको ही जानना चाहिये, क्योंकि वे ही समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और लयके एकमात्र कारण हैं। दसवें—'ज्योतिरधिकरण' में विचार किया गया है कि 'ज्योतिः' कहनेसे ब्रह्म ही ज्ञातव्य हैं, क्योंकि विश्व उनका एकपाद है और परव्योमको उनकी त्रिपाद विभूति कहा गया है, इसलिए श्रीहरि ही समस्त तेजके आधार हैं। ग्यारहवें—'इन्द्र-प्राणाधिकरण' में पाया जाता है कि प्राण शब्दसे परमेश्वर ही निर्दिष्ट हैं। प्राणवायु अथवा जीवसे परमेश्वर पृथक् हैं।

अब प्रथम अध्यायके द्वितीय पादके अधिकरणका विवरण दिया जा रहा है। इस द्वितीय पादमें सात अधिकरणोंमें तैंतीस सूत्र निबद्ध हुए हैं। प्रथम पादमें जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलयके एकमात्र कारण पुरुषोत्तम परब्रह्म ही जिज्ञास्य अर्थात् आराध्य हैं—यही कहा गया है। इसी पादमें अन्यत्र प्रतीत वाक्योंका भी ब्रह्ममें समन्वय दिखलानेके लिए इस प्रकरणका आरम्भ किया गया है।

'सर्वत्र प्रसिद्धाधिकरण' में प्रदर्शित हुआ है कि श्रीहरि ही विज्ञानमय परमात्मा हैं। उन्हें ही श्रुतियोंने मनोमयादि शब्दोंसे अभिहित किया है।

मनोमयत्वादि गुण जीवमें सम्भव नहीं है। परमात्माके साथ जीवका पार्थक्य और भेद इस अधिकरणमें विशेष भावसे वर्णित हुआ है।

'अत्ताधिकरण' में प्रदर्शित हुआ है कि श्रीहरि ही स्थावर-जङ्गमात्मक विश्वके संहारक और कालादिके भी भोक्ता हैं। 'गुह्याधिकरण' में पाया जाता है कि परमात्मा और जीव दोनों ही हृदय-गुहामें अवस्थान करते हैं। किन्तु दोनोंमें प्रभेद यह है कि जीव कर्मफलका भोग करता है और परब्रह्म श्रीहरि जीवके कर्मफलके दाता रूपमें जीवको कर्मफलका भोग कराके साक्षीस्वरूपमें दर्शन करते हैं। जीव और परमेश्वर भिन्न हैं—इसकी आलोचना इस प्रकरणमें पायी जाती है। 'अन्तराधिकरण' में यह विचार किया गया है कि श्रुतियोंमें वर्णित अक्षिस्थ (नेत्रोंमें स्थित) पुरुष परमात्मा ही हैं। 'अन्तर्यामाधिकरण' में श्रुतिबोधित पृथ्वी आदिके अन्तर्यामी पुरुष परमात्मा हैं—यह निर्णय हुआ है। 'अदृश्यत्वाधिकरण' में यह स्थिर हुआ है कि अदृश्यत्वादि धर्मसे युक्त परमात्मा ही श्रुति द्वारा जाने जाते हैं। वे ही पराविद्याके विषय हैं। 'वैश्वानराधिकरण' में यही पाया जाता है कि वैश्वानर परमात्मा ही ध्येय हैं।

अब तृतीय पादका अधिकरण विवरण संक्षेपमें दिया जा रहा है। इसमें स्पष्ट रूपसे जीव इत्यादिकी प्रतिपादक कितनी ही श्रुतियोंका ब्रह्ममें समन्वय है—यह विचार किया गया है। इस पादमें ग्यारह अधिकरण और तैंतालीस सूत्र हैं। पहले 'द्युभ्वाद्यधिकरण' में यह उल्लेख है कि श्रीहरि ही स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्ष आदिके आश्रय हैं और वे ही मुक्तिके हेतुस्वरूप हैं। ये श्रीहरि मुक्त पुरुषके भी एकमात्र आश्रय हैं, इसलिए वे जीव अथवा प्रकृति नहीं हो सकते। जीव और परमेश्वरमें भेदका विषय भी इसी अधिकरणमें उपदिष्ट हुआ है। द्वितीय 'भूमाधिकरण' में यह वर्णन किया गया है कि श्रीहरि ही सर्वातिशायी, भूमा और विपुल सुखके आधार एवं सर्वोत्तम हैं। प्राण-परिचालक जीव कभी भी भूमाके रूपमें ग्रहणीय नहीं हो सकता। तीसरे 'अक्षराधिकरण' में निर्णय किया गया है कि श्रुति-कथित अक्षर पुरुष परब्रह्म ही हैं, वे प्रकृति अथवा जीव नहीं हैं, क्योंकि वे आकाश पर्यन्त समस्त वस्तुओंको धारण करते हैं। यह धारण कार्य

पुनः उनकी आज्ञासे ही होता हैं। चौथे 'ईक्षतिकर्माधिकरण' में उन्हीं पुरुषोत्तम श्रीहरिके ध्यान और दर्शनका विशेष रूपसे उपदेश है। पाँचवें 'दहराधिकरण' से यह अवगत होता है कि श्रीविष्णु ही हृत्पुण्डरीक स्थित दहर-आकाश हैं, क्योंकि वे ही समस्त वस्तुओंके आधार हैं, उन्हें जान लेनेसे समस्त पापोंका नाश होता है। इसलिए भूताकाश अथवा जीव दहर-शब्दवाच्य नही हैं। छठे 'प्रमिताधिकरण' में निरूपित हुआ है कि श्रुतियोंमें उक्त अङ्गुष्ठ परिमित पुरुष श्रीविष्णु ही हैं, वह जीव नहीं हो सकते, क्योंकि वे अतीत, भविष्यत सभी वस्तुओंके नियन्ता हैं। यह नियन्ता होनेका ऐश्वर्य जीवमें नही रह सकता, क्योंकि जीव कर्मके अधीन है। जीव मुक्तावस्थामें साधनसे आविर्भूत गुणोंको प्राप्त करके ब्रह्मसदृशमात्र होता है। सातवें 'देवताधिकरण' में दिव्यदेहधारी देवताओंके लिए भी श्रीहरिकी उपासना स्वीकृत हुई है। स्मरणकर्त्ताकी भावनाके अनुसार अङ्गुष्ठमात्र पुरुष श्रीविष्णु भक्तोंके हृदयमें आविर्भूत होते हैं। आठवें 'अपशूद्राधिकरण' में कहा गया है कि शूद्रका वेदमें अधिकार नहीं है, वेदपाठ संस्कार-सापेक्ष है। शूद्रमें द्विजाति संस्कार नहीं रहनेके कारण उसका वेदमें अधिकार नहीं है। यह भी ध्यान देनेकी बात है कि राजा ज्ञानश्रुतिके क्षत्रिय होनेपर भी उन्हें शूद्र कहकर सम्बोधन किया गया है, क्योंकि जो शोकसे कातर होते हैं, उन्हें शूद्र ही कहा जाता है। नौवें 'कम्पनाधिकरण' में यह निश्चित किया गया है कि वज्र इत्यादि कम्पनकारी द्रव्यों (पदार्थों) के साथ सारे जगत्के परिचालनके कारण कठोपनिषदमें कथित वज्र शब्दसे नियमनकर्त्ता श्रीविष्णुको ही जाना जाता है। यह उनका नाम विशेष है। दसवें 'आकाशाधिकरण' में निरूपण हुआ है कि छान्दोग्यमें कथित आकाश-शब्दका अर्थ परमेश्वर ही है, इसका कारण यह है कि नाम-रूप निर्वाह करनेका धर्म उनमें ही है, वह मुक्त जीवमें भी नहीं है। ग्यारहवें 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरण' में वर्णन है कि सुषुप्तिदशा और उत्क्रान्ति-स्थलमें जीवसे ब्रह्मके भेदका स्पष्ट उल्लेख होनेके कारण मुक्त जीव ब्रह्म नहीं हो सकता।

अब चतुर्थपादके अधिकरणोंका विवरण दिया जा रहा है। इस पादमें आठ अधिकरणोंमें अट्ठाईस सूत्र हैं। इस पादमें किसी-किसी

वेद-शाखामें दृश्यमान कपिल-तन्त्र-सिद्ध प्रधान और पुरुषबोधक शब्द-सम्वलित जो समस्त वाक्य हैं, उनका भी श्रीहरिमें समन्वय विचार किया गया है। पहले 'आनुमानिकाधिकारण' में कठोपनिषदमें वर्णित अव्यक्त-शब्दसे सांख्य-कथित प्रधानको नहीं समझकर रथरूपकमें विन्यस्त शरीरको ही समझना चाहिये—यह कहा गया है। कारणरूपी सूक्ष्मशरीर ही अव्यक्त शब्दवाच्य है। दूसरे 'चमसाधिकरण' में देखा जाता है कि श्वेताश्वतर श्रुति-कथित अजा-शब्दका तात्पर्य स्मृतियोंमें वर्णित प्रकृति नहीं है, वह श्रीहरिकी शक्तिका ही बोधक है। तीसरे 'संख्योपसंग्रहाधिकरण' में बृहदारण्यक वर्णित पञ्च-पञ्च शब्दमें सांख्योक्त पच्चीस तत्त्वोंको नहीं समझना चाहिये—यह बतलाया गया है, इसके द्वारा तो प्राणादि प्रसिद्ध पञ्च-पदार्थोंको ही जानना चाहिये। चौथे 'कारणत्वाधिकरण' में निर्णय हुआ है कि श्रीहरि ही विश्वके एकमात्र कारण हैं। विभिन्न श्रुतियोंमें आत्मा, असत्, आकाश, प्राण, सत्, प्रधान इत्यादिका सृष्टिके कारणके रूपमें वर्णन होनेपर भी श्रीहरिको ही आत्मा, आकाशादिके कारणरूपमें निदर्शन किया गया है, इसलिए समस्त वेदार्थ-विचारमें परब्रह्मका ही सृष्टि कर्त्तृत्व निरूपित होता है। पाँचवें 'जगद्वाचित्वाधिकरण' में निर्णीत हुआ है कि जगत्-रूप कर्म कहे जानेके कारण कौषीतकीब्राह्मणमें वर्णित पुरुष ही परब्रह्म श्रीहरि हैं, वे आदित्यादिके भी कर्त्ता हैं। छठे 'वाक्यान्वयाधिकरण' में वर्णन है कि पूर्वापर वाक्योंके समन्वयके कारण परमात्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य हैं। बृहदारण्यकमें वर्णित आत्मा परब्रह्म ही है, जीव नहीं। सातवें 'प्रकृत्यधिकरण' में स्थिर हुआ है कि पुरुषोत्तम श्रीहरि ही समग्र विश्वके एकमात्र उपादान और निमित्त कारण हैं। आठवें 'सर्वव्याख्यानाधिकरण' में यह प्रदर्शित हुआ है कि श्रुतिमें व्यवहृत हर, रुद्र, शिव, प्रधान और जीवादि शब्दसे एकमात्र श्रीहरि ही मुख्य रूपसे अभिहित हैं, क्योंकि समस्त नामोंके मूल आश्रय एकमात्र श्रीहरि ही हैं।

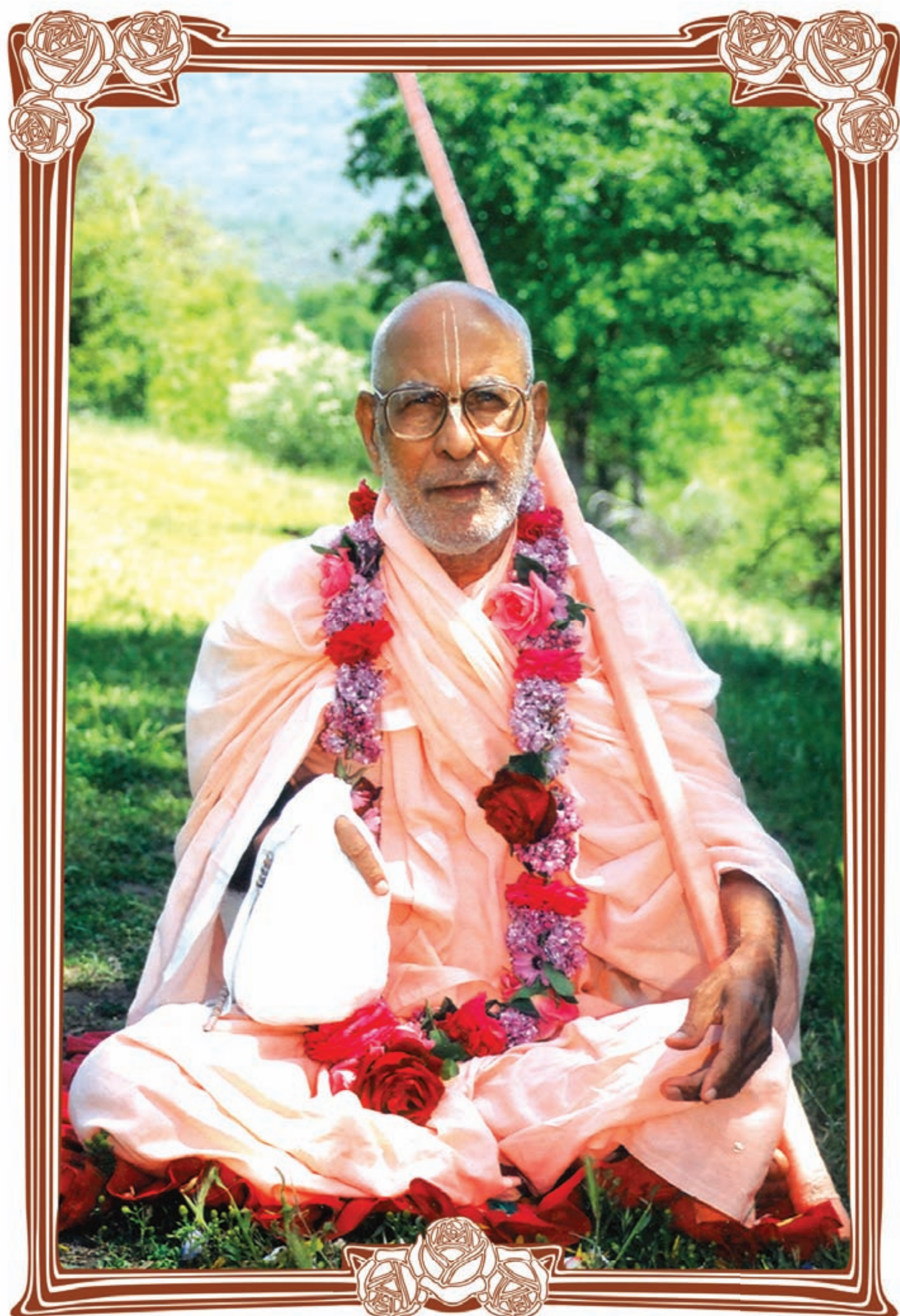
प्रत्येक अध्यायके पहले एक भूमिका प्रदान करनेकी आशासे यहाँ और अधिक विस्तार नहीं किया जा रहा है। वेदान्तके प्रथम

और द्वितीय अध्यायमें सम्बन्धात्मकतत्त्वका उपदेश निहित है। इसका प्रथम अध्याय श्रीगुरु-वैष्णवोंकी कृपासे सम्पन्न हो रहा है।

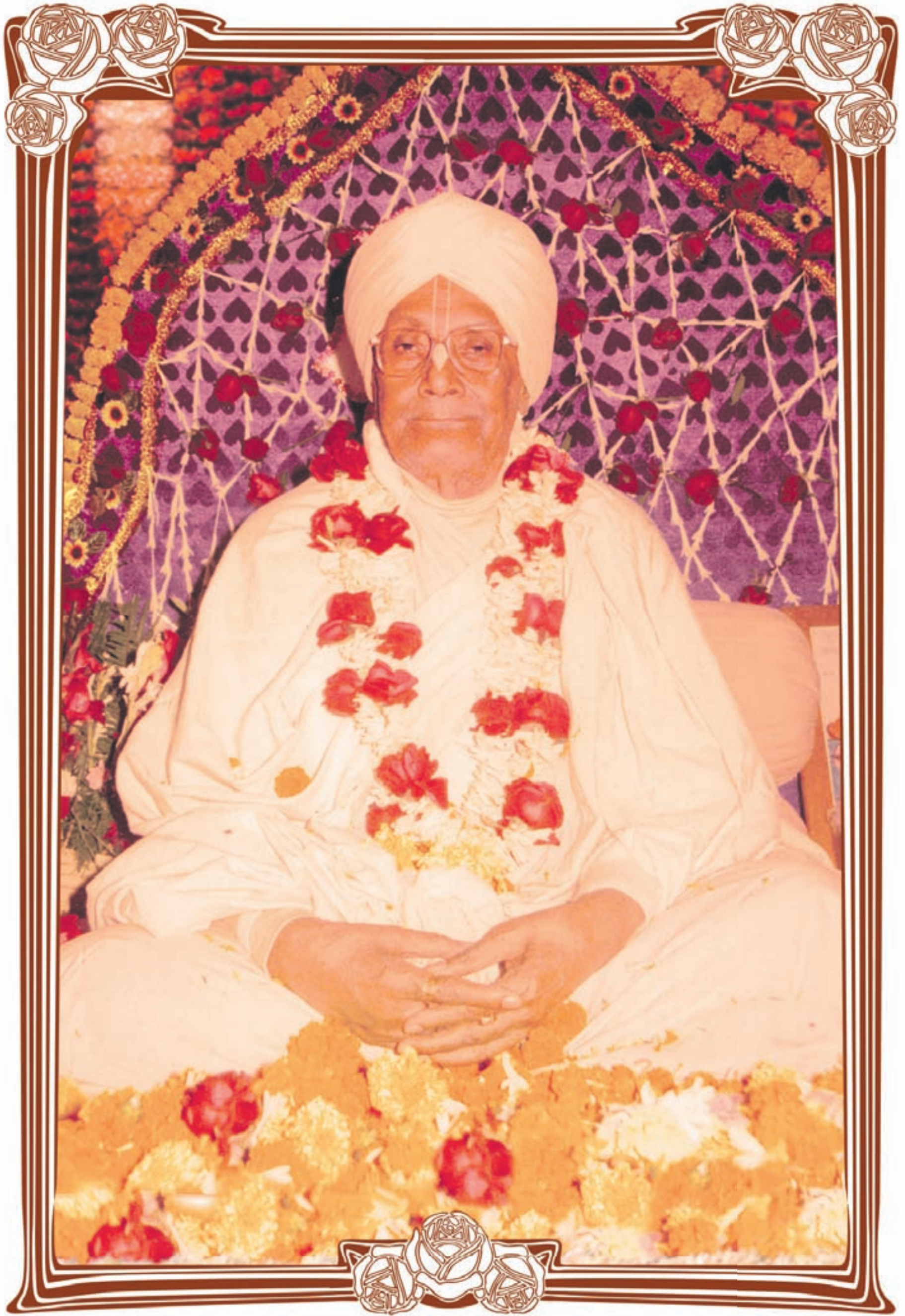
पाठकोंसे मेरा निवेदन है कि इस प्रकारसे इस दुरूह ग्रन्थका सम्पादन मेरी विद्या, बुद्धि, अर्थ, दैहिक शक्ति इत्यादि किसी भी प्रकारके सामर्थ्यसे अतीत है, तथापि मैं एकमात्र श्रीगुरुवर्गकी प्रेरणा और करुणासे अग्रसर हो रहा हूँ। ग्रन्थमें भूल, प्रमाद इत्यादि रह सकते हैं। अतः सुधी और भक्त पाठकोंसे मेरा सर्निबन्ध अनुरोध है कि वे मेरे सभी दोष, त्रुटियोंको क्षमा करते हुए अपने गुणोंसे उन भूलोंका संशोधन करते हुए ग्रन्थके तात्पर्यको हृदयङ्गम करें। इससे मैं विशेष कृतार्थ होऊँगा। अलमिति विस्तरेण।

श्रीभक्तिविनोद-विरहतिथि
श्रीगौराब्द ४८२ (१९६८ ई०)

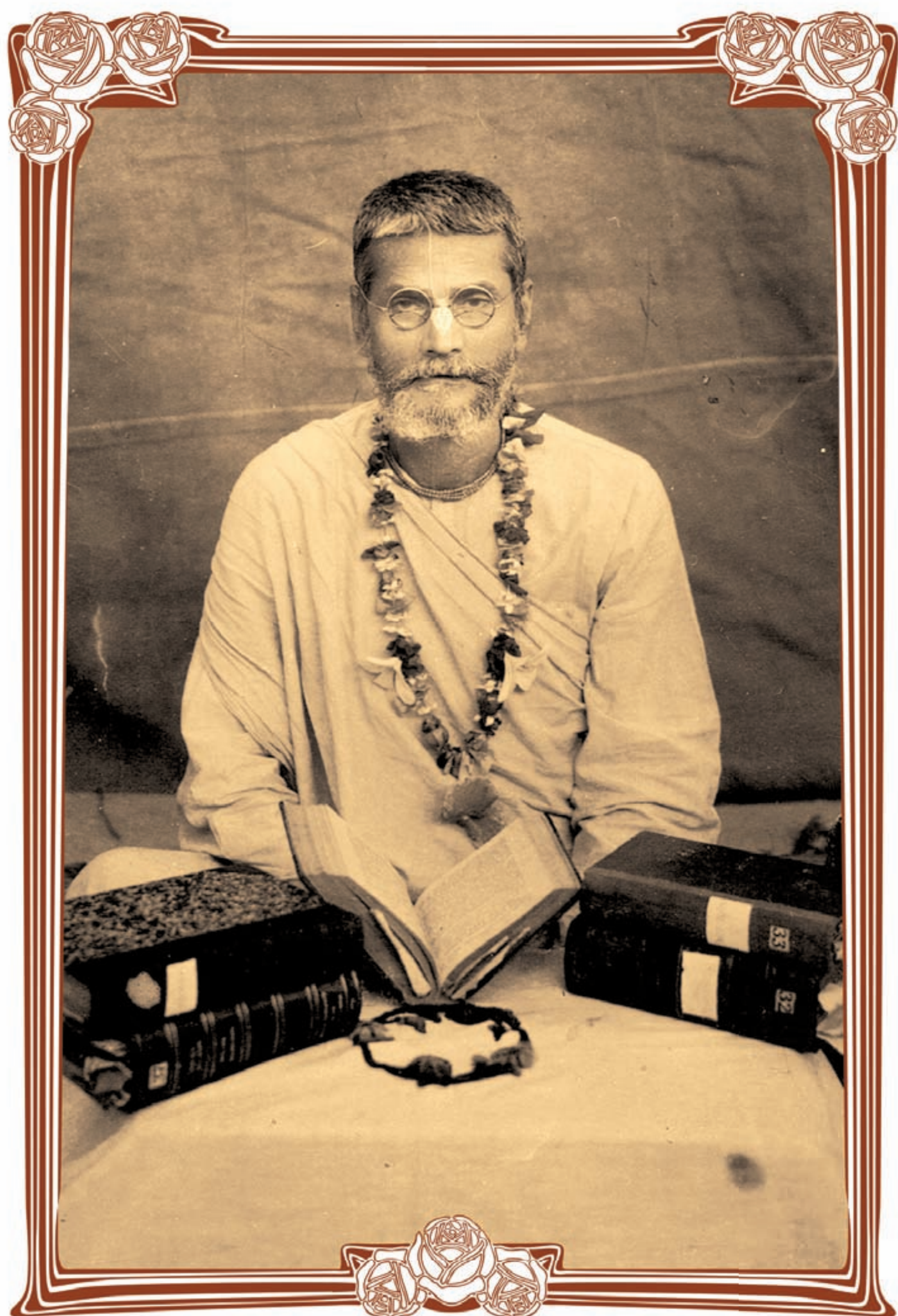
श्रीगुरु-वैष्णव-चरणरेणु-सेवाप्रार्थी
श्रीभक्तिश्रीरूप सिद्धान्ती



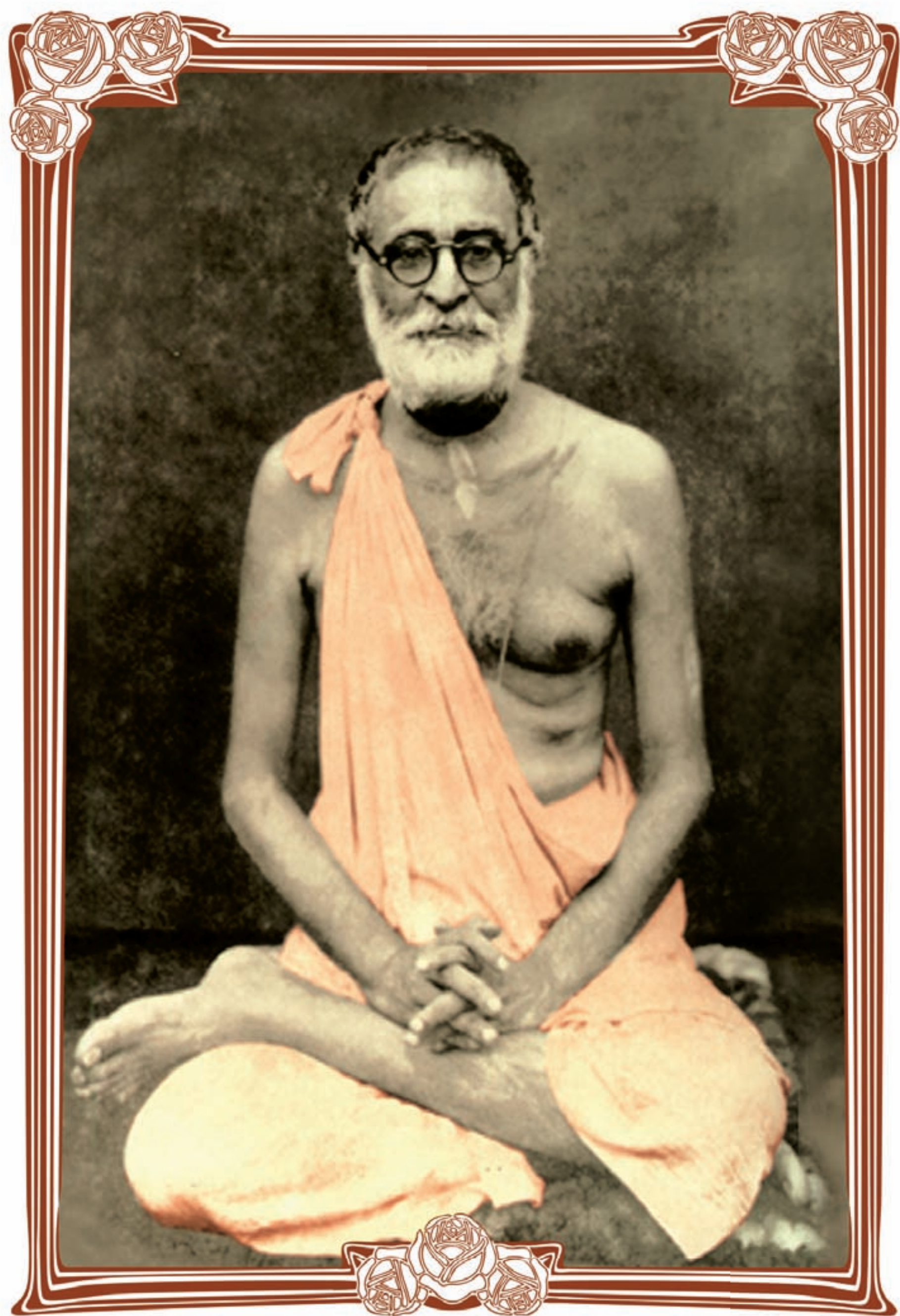
नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज



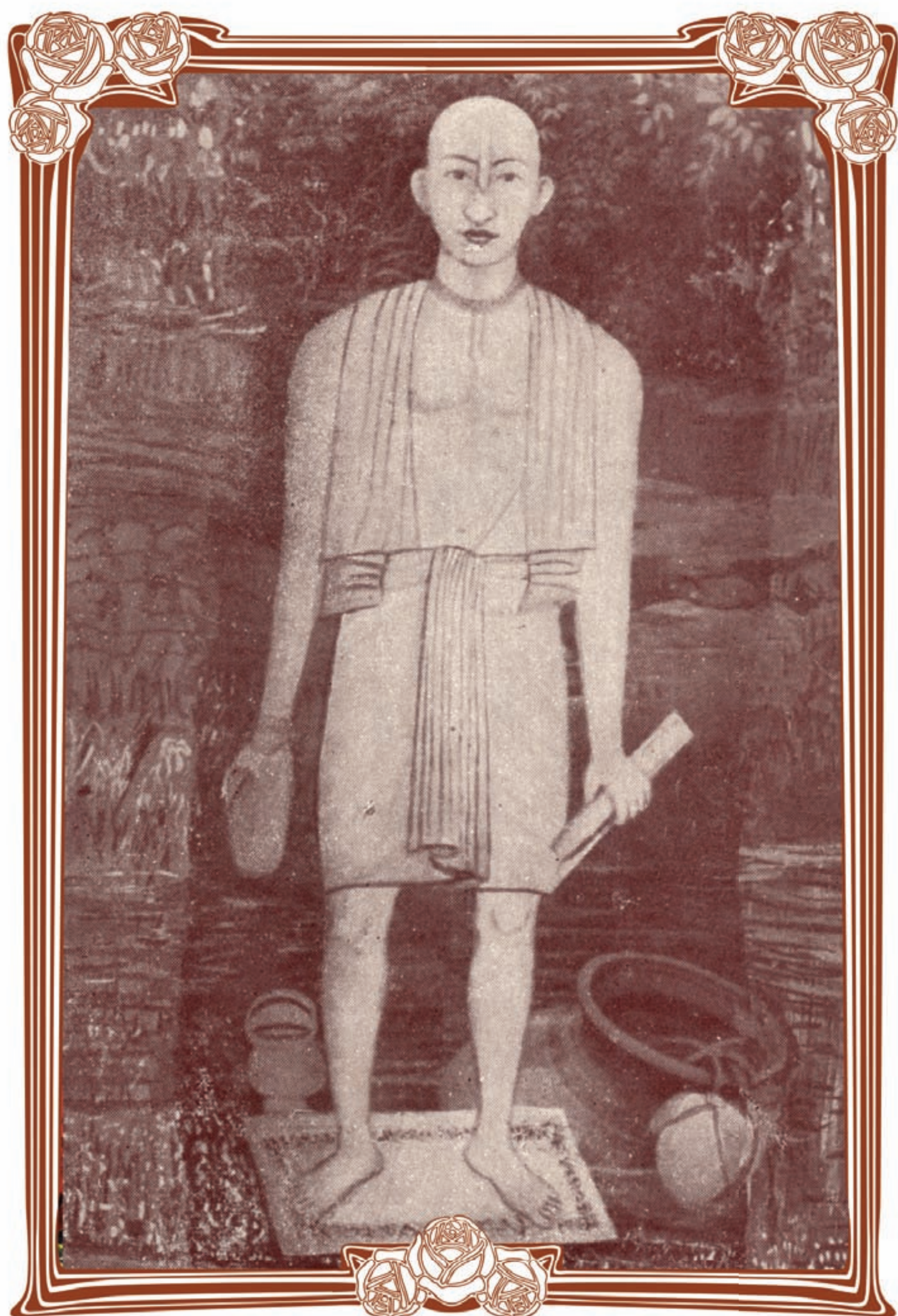
नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज



नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज



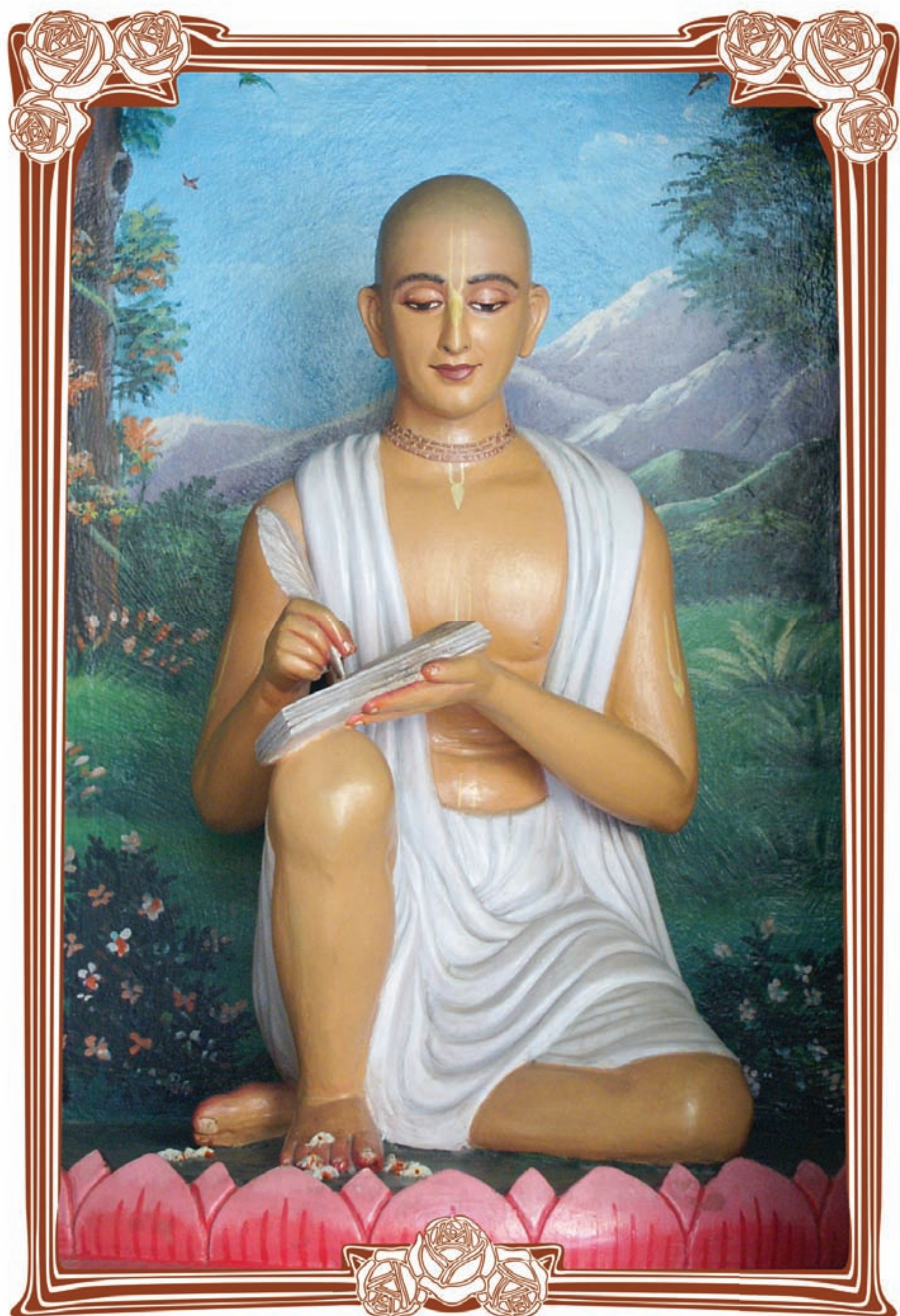
नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर प्रभुपाद



श्रीगौड़ीय–वेदान्ताचार्य
श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु



रसिककुल चूड़ामणि महामहोपाध्याय
श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर



श्रीचैतन्य मनोऽभीष्ट संस्थापक
श्रील रूप गोस्वामी प्रभु



जयपुरमें विराजमान श्रीश्रीराधागोविन्ददेवजी

॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गो जयतः ॥

श्रीश्रीमद्भगवदवतार महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास द्वारा विरचित

वेदान्तसूत्रम्

[गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रीश्रीमद्‌बलदेव विद्याभूषण-कृत श्रीगोविन्दभाष्य सहित]

मङ्गलाचरणम्

श्रीकृष्णो जयति।

गोविन्दभाष्य—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म शिवादिस्तुतं भजद्रूपम।
गोविन्दं तमचिन्तयं हेतुमदोषं नमस्यामः ॥ १ ॥

अनुवाद—[ग्रन्थके प्रारम्भमें परम-भागवताचार्य श्रीमद्‌बलदेव विद्याभूषण प्रभु ग्रन्थकी निर्विघ्न परिसमाप्तिके लिए इष्टदेवताका प्रणामस्वरूप मङ्गलाचरण कर रहे हैं—] मैं उन निर्दोष अचिन्तनीयस्वरूप (अप्राकृत गुण-ऐश्वर्यशाली) भगवान् श्रीगोविन्दको प्रणाम करता हूँ, जो सत्य अर्थात् वेदादिमें प्रतिपन्न (प्रमाणित) सत्यस्वरूप, स्वप्रकाश, अनन्त और विभु (सर्वव्यापक) हैं। वे शिवादि देवताओं द्वारा की गयी स्तुतियों द्वारा सेवित, भक्तोंके आराध्यरूप, परब्रह्म—जगत्‌की सृष्टि स्थिति एवं प्रलयके कर्ता होनेपर भी निर्विकार तथा मायातीत पुरुष हैं ॥ १ ॥

मङ्गलाचरणम्

सूक्ष्मा-टीका—

ॐ नमः श्रीभगवते गोविन्दाय॥

अनुवाद—मैं षड्गुणऐश्वर्यशाली सम्पूर्ण महिमासे युक्त गोविन्दको अर्थात् जिन्होंने वेदवाक्योंको प्रकाशित किया है और पृथ्वीको धारण कर रखा है, ऐसे श्रीविग्रहके प्रति आत्मसमर्पण करता हूँ।

वेदास्तथास्मृतिगिरो यमचिन्त्यशक्तिं, सृष्टिस्थितिप्रलयकारणमामनन्ति।
तं श्यामसुन्दरमविक्रियमात्ममुक्तिं, सवेश्वरं प्रणतिमात्रवशं भजामः॥

अनुवाद—वेद इत्यादि समस्त श्रुतिशास्त्र एवं निखिल धर्मशास्त्र जिनको अचिन्त्यशक्तिमय, विश्व-प्रपञ्चकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके मूल कारणके रूपमें घोषित करते हैं, मैं उन निर्विकार कूटस्थ, परमात्मा, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता भगवान् श्यामसुन्दरका भजन करता हूँ। वे तो प्रणाममात्रसे ही भक्तोंके अधीन हो जाते हैं।

गजपतिरनुकम्पासम्पदा यस्य सद्यः, समजनि निरवद्यः सान्द्रमानन्दमृच्छेन्।
निवसतु मम तस्मिन् कृष्णचैतन्यरूपे, मतिरतिमधुरिम्ना दीप्यमाने मुरारौ॥

अनुवाद—जिनकी कृपासम्पदसे गजेन्द्र अथवा गजपति श्रीप्रतापरुद्रने अविलम्ब घनीभूत आनन्दको प्राप्त करके निरवद्य (निर्दोष) रूप प्राप्त किया था, वे अतिशय माधुर्यरसमें देदीप्यमान मुरारि श्रीकृष्णचैतन्यस्वरूप श्रीहरि अपने चरणोंमें मेरी मति स्थिर करें।

देवाभ्यर्थनमन्दरेण मथिताद्भक्तीन्दिराभूद् यतः
श्रीमद्भागवताख्यनिर्जरतरुः सत्सूत्ररत्नोत्करः।
दीव्यद्भीतिसुधांशुकामृतरुचिर्ज्ञानिष्णा धन्वन्तरिः
स श्रीव्यासमहाम्बुधिर्विजयते प्रीत्यै समस्तात् सताम्॥

अनुवाद—देवताओंकी प्रार्थनासे मन्दर पर्वत द्वारा मथित जिस क्षीरसागरसे भक्तिरूपिणी श्रीलक्ष्मीदेवी आविर्भूत हुईं थीं; अर्थात् जिस प्रकार मन्थनके बाद क्षीरसागरसे लक्ष्मीदेवी प्रकट हुईं थीं, उसी प्रकार देवताओंकी प्रार्थनासे जिन महामुनिसे भक्तितत्त्व प्रकाशित हुआ है तथा

जिन (महामुनि) से देवतरू कल्पवृक्षके समान श्रीमद्भागवत नामक महाग्रन्थने आत्मप्रकाश किया है; जिस प्रकार क्षीरसागर कौस्तुभमणि इत्यादि उत्कृष्ट रत्नोंका आकर है, उसी प्रकार यह महापुराण उत्तम प्रवचन-समूहकी निधि है। समुद्रमें विराजमान अमृतमय प्रकाशमान चन्द्रके समान ही अमृतमयी दिव्यगीति इस महाग्रन्थसे प्रकाशित होकर पाठकोंके कर्णपुटोंमें अमृतधाराका वर्षण कर रही है। ऐसे ग्रन्थ (अमृत) को प्रकट करनेवाला श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासरूपी महासागर सर्वतोभावसे सज्जनोंकी प्रीति विधान करनेके लिए विजयी हो। मैं वैद्यराज धन्वन्तरिके समान ही ज्ञानके भण्डार इन महामुनिको बार-बार प्रणाम करता हूँ।

गोविन्दाभिधमिन्दिराश्रितपदं हस्तस्थरत्नादिवत्
तत्त्वं तत्त्वविदुत्तमो क्षितितले यौ दर्शयाष्णक्रतुः।
मायावादमहान्धकारपटलीसत्पुष्पवन्तौ सदा
तौ श्रीरूपसनातनौ विरचिताश्चर्यौ सुवर्यौ स्तमः॥

अनुवाद—श्रीमती लक्ष्मीदेवी द्वारा सम्यक् रूपसे सेवितचरण श्रीगोविन्दतत्त्वको अर्थात् श्रीकृष्णचैतन्यस्वरूपको जिन्होंने हस्त-स्थित रत्नादिके समान इस पृथ्वीपर लोगोंके दृष्टिगोचर कराया है एवं स्थिर-प्रकाश चन्द्र एवं सूर्यके समान जो मायावादरूप अन्धकारका तिरोधान करनेवाले हैं, उन तत्त्ववित्तोंमें प्रधान श्रीरूप एवं श्रीसनातन नामक आश्चर्यजनक सुश्रेष्ठ पुरुषोंकी मैं स्तुति करता हूँ।

यः सांख्यपङ्केन कुतर्कपांशुना
विवर्त्तगर्त्तेन च लुप्तदीधितिम्।
शुद्धं व्यधाद्वाक्सुधया महेश्वरं,
कृष्णं स जीवः प्रभुरस्त नो गतिः॥

अनुवाद—[अब श्रील जीव गोस्वामीके प्रति प्रणाम निवेदित कर रहे हैं।] सांख्यवादरूप पङ्क (कीचड़) के द्वारा, नैयायिकों एवं वैशेषिकोंकी कुतर्क-धूलिके द्वारा तथा केवलाद्वैतवादी शङ्कराचार्यके विवर्त्तवादरूप गर्तमें पतित होनेसे जिनकी किरणें लुप्त हो गयी

थी, उन मायातीत महेश्वर श्रीकृष्ण सूर्यको वाक्यरूपी सुधाके द्वारा जिन्होंने शुद्धरूपमें प्रकटित किया है, वे श्रील जीव गोस्वामी प्रभु हमारी एकमात्र गति हों।

यस्य श्रीमन्नामपीयूषवर्षैरासीद्विश्वं धूतपापं किलैतत्।
स्वाविर्भावोल्लासितानन्दसिन्धुर्जीयात् स श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रः॥

अनुवाद—[अब श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुकी वन्दना कर रहे हैं—] जिनके श्रीहरिनामामृत वर्षण द्वारा यह पापपूर्ण विश्व निष्पाप हो गया है और जिन्होंने स्वयंके आविर्भाव द्वारा आनन्दसागरको उच्छलित किया है, वे श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्र सर्वोपरि जययुक्त हों।

भक्त्याभासेनापि तोषं दधाने धर्माध्यक्षे विश्वनिस्तारिनाम्नि।
नित्यानन्दाद्वैतचैतन्यरूपे तत्त्वे तस्मिन् नित्यमास्तां रतिर्नः॥

अनुवाद—[श्रीनित्यानन्द आदिकी वन्दना—] जो भक्तिके आभासमात्रसे ही आनन्दसागरमें मग्न हैं, जिनका नाम विश्व-निस्तारक है, जो धर्माध्यक्ष हैं, उन श्रीनित्यानन्द-श्रीअद्वैत-श्रीचैतन्यस्वरूपके तत्त्वमें हमारी रति नित्य विराजित रहे।

सान्द्रानन्दस्यन्दिगोविन्दभाष्यं जीयादेतत् सिन्धुगाम्भीर्यजातम्।
यस्मिन् सद्यः संस्तुते मानवानां मोहच्छेदी जायते तत्त्वबोधः॥

अनुवाद—[गोविन्दभाष्यकी प्रंशसा—] यह गोविन्दभाष्य पाठकोंके चित्तमें अविमिश्र आनन्दका क्षरण करनेवाला और समुद्रके समान अगाध गाम्भीर्यसे सम्पन्न है। इसके साथ परिचय होनेपर तत्क्षणात् ही मनुष्यके मोहको ध्वंस करनेवाला तत्त्वज्ञान उदित होता है। ऐसा गोविन्दभाष्य जययुक्त हो।

आनन्दतीर्थनामा सुखमयधामा यतिर्जीयात्।
संसारार्णवतरणीं यमिह जनाः कीर्त्तयन्ति बुधाः॥

अनुवाद—[आनन्दतीर्थ नामक गुरुको प्रणाम—] जो सुखमयधाम स्वरूप हैं, वे आनन्दतीर्थ नामक संन्यासी जययुक्त हों। विद्वानोंने उन्हें संसाररूप सागरकी नौकाके रूपमें निर्दिष्ट किया है।

भवति विचिन्त्या विदुषा निरवकरा गुरुपरम्परा नित्यम्।
एकान्तित्वं सिध्यति ययोदयति येन हरितोषः॥

अनुवाद—[गुरुपरम्पराकी प्रशंसा—] विद्वानों द्वारा नित्य ही ऐसी विक्षेपशून्य गुरुपरम्पराके विषयमें विचार करना उचित है, जिनके चरित्रकी आलोचना करनेपर ऐकान्तिक भक्ति एवं श्रीहरिमें प्रीति उदय होती है।

तथाचोक्तम्—
सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते विफला मताः।
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः॥

श्री-ब्रह्म-रुद्र-सनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः।
चत्वारस्ते कलौ भाव्या हि उत्कले पुरुषोत्तमात्॥ इति॥

रामानुजः श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः।
श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुःसन॥

अनुवाद—इस विषयमें प्रमाण रूपमें कहा गया है—सत्सम्प्रदायसे बहिर्भूत गुरुस्थानसे ग्रहण किया हुआ मन्त्र फलप्रद नहीं होता। इसलिए कलियुगमें चार सत्सम्प्रदाय प्रवर्तित होंगे। श्री, ब्रह्म, रुद्र और सनक—इन वैष्णव-सम्प्रदायोंके प्रवर्तक पृथ्वीके उद्धारक होंगे। ये चारों ही कलियुगमें उत्कलदेशमें श्रीपुरुषोत्तमसे आविर्भूत होंगे। इनमें श्रीलक्ष्मीदेवीने श्रीरामानुजको प्रकट किया है (जिनसे श्री सम्प्रदायने प्रकाश पाया है)। श्रीब्रह्माने मध्वाचार्यको (जिनसे ब्रह्म सम्प्रदाय प्रकटित हुआ है), भगवान् रुद्रने श्रीविष्णुस्वामीको (जिनसे रुद्र सम्प्रदायका प्रचार हुआ) और चारों सन अर्थात् सनक, सनन्द, सनातन और सनत्कुमारने श्रीनिम्बादित्यको प्रकट किया है (जिनसे सनक सम्प्रदाय प्रकटित हुआ है)।

तत्र स्वगुरुपरम्परा यथा—
श्रीकृष्ण-ब्रह्म-देवर्षि बादरायण-संज्ञकान्।
श्रीमध्व-श्रीपद्मनाभ-श्रीमन्नृहरि-माधवान् ॥

अक्षोभ्य-जयतीर्थ-श्रीज्ञानसिन्धु-दयानिधीन् ।

श्रीविद्यानिधि-राजेन्द्र-जयधर्मान् क्रमाद्वयम्॥

पुरुषोत्तम-ब्रह्मण्य व्यासतीर्थांश्च संस्तुमः।
ततो लक्ष्मीपतिं श्रीमन्माधवेन्द्रञ्च भक्तितः॥

तच्छिष्यान् श्रीश्वराद्वैतनित्यानन्दान् जगद्गुरून्।
देवमीश्वरशिष्यं श्रीचैतन्यञ्च भजामहे।
श्रीकृष्णप्रेमदानेन येन निस्तारितं जगत्॥

अनुवाद—[आचार्य श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने अपनी गुरुपरम्पराकी यथाक्रमसे स्तुति की है। यथा—] श्रीकृष्ण, ब्रह्मा, नारद, बादरायण (वेदव्यास), श्रीमध्व, श्रीपद्मनाभ, श्रीनृहरि, माधव, अक्षोभ्य, जयतीर्थ, श्रीज्ञानसिन्धु, दयानिधि, श्रीविद्यानिधि, राजेन्द्र और जयधर्म इत्यादिकी एवं पुरुषोत्तम, ब्रह्मण्य और व्यासतीर्थकी मैं यथाक्रमसे स्तुति करता हूँ। तत्पश्चात् लक्ष्मीपति और श्रीमाधवेन्द्रपुरीको भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ। श्रीईश्वरपुरी, श्रीअद्वैत और श्रीनित्यानन्द—ये श्रीमाधवेन्द्रपुरीपादके शिष्य अति पूजनीय एवं जगत्के गुरु हैं—मैं इन सबकी स्तुति करता हूँ। तथा जो ईश्वरपुरीके शिष्य भगवदवतार श्रीचैतन्यमहाप्रभु हैं, जिन्होंने जीवोंको श्रीकृष्णप्रेम देकर जगत्का उद्धार किया है, मैं उनका भजन करता हूँ।

भाष्यमेतद्विरचितं बलदेवेन धीमता।
श्रीगोविन्दनिदेशेन गोविन्दाख्यामगात्ततः॥

अधीत्य सर्वान् वेदान्तान् गुरोर्लक्ष्मीधरप्रियान्।
दृष्ट्वा सांख्यादिशास्त्राणि भाष्यं पाठ्यमिदं बुधैः॥

अनुवाद—श्रीबलेदव विद्याभूषणने विद्वानोंकी सम्मतिके अनुसार भगवान् श्रीगोविन्ददेवके आदेशसे इस भाष्यकी रचना की है, इसलिए इसका नाम 'गोविन्दभाष्य' हुआ है। लक्ष्मीधर-प्रिय [श्रीविष्णुप्रिय (मुकुन्दप्रेष्ठ)] वेदान्त-शास्त्रोंके गुरुके निकट अध्ययन करके और सांख्य इत्यादि दर्शन शास्त्रोंकी पर्यालोचना करके पण्डितगण इस भाष्यका पाठ करेंगे।

कृतस्नानादिरासीनो गुरुः शिष्यश्च धीरधीः।
पाठयेच्छृणुयाद्भाष्यं शान्तिपूर्वोत्तरं द्विजः॥

आलस्यादप्रवृत्तिः स्यात् पुंसां यद्ग्रन्थविस्तरे।
गोविन्दभाष्ये संक्षिप्ता टिप्पनी क्रियतेऽत्र तत्॥

अनुवाद—पाठविधिक्रम—स्नानादि नित्यक्रिया समापन करनेके बाद श्रीगरु और शिष्य दोनों ही धीरचित्तसे आसीन हों। इसके बाद श्रीगुरुदेव आदि और अन्तमें शान्तिसूक्तका पाठ करते हुए भाष्यका अध्यापन करें और द्विज शिष्य भी पाठके बाद तदनुयायी भाष्यका श्रवण करे। ग्रन्थका विस्तार होनेसे अध्ययन करनेमें आलस्य आना स्वाभाविक है, जिसके कारण पाठमें सुचारु रूपसे मनोयोग नहीं हो सकता, इसलिए मैंने इस गोविन्दभाष्यकी संक्षिप्त टीका की है।

भाष्यं यस्य निदेशाद्रचितं विद्याभूषणेनेदम्।
गोविन्दः स परमात्मा ममापि सूक्ष्मं करोत्वस्मिन्॥

आम्नायमूर्द्धरसिकाः कृष्णपादाम्भोरुहासक्ताः।
सन्तः करुणावस्तो मयि प्रसादं वितन्वतामनिशम्॥

अनुवाद—श्रील बलदेव विद्याभूषणने जिनके आदेशानुसार इस भाष्यकी रचना की है, वे परमात्मा श्रीगोविन्द मेरी इस टीकामें भी सूक्ष्मतत्त्व प्रकाश करनेकी क्षमता दें। जो वेदके मस्तकस्वरूप—वेदान्तरसके रसिक हैं और जो श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें आसक्त हैं, वे दयालु साधुगण मेरे ऊपर निरन्तर अनुग्रहका विस्तार करें।

सूक्ष्मा-टीका—अथ सर्ववेदेतिहासादिमहार्णवमन्थनोत्थितमीमांसापरनामधेयब्रह्मसूत्राणि वेदव्याससमाधिलब्धतदकृत्रिमभाष्यभूतसर्ववेदान्तसार-श्रीमद्भागवतानुग, श्रीकृष्ण-चैतन्यहरिस्वीकृतमध्वमुनिमतानुसारतः व्याचिख्यासुर्भाष्यकारः श्रीगोविन्दैकान्ती विद्याभूषणापरनामा बलदेवः निर्विघ्नायै तत्पूर्त्तये शिष्टाचारपरिप्राप्तशास्त्र-प्रति-पाद्येष्टदेवतानमस्काररूपं मङ्गलमाचरति—सत्यमिति। तं सर्वेश्वरं नमस्यामः, वयमिति स्वसतीर्थशिष्याद्यभिप्रायेण बहुवचनम्। तेन केवलाद्वैतवादैकजीववादौ च निरस्तौ। तं विशिनष्टि—सत्यमित्यादिना। सत्यं प्रामानिकं श्रुत्यादिप्रतिपन्नमिति जलाकाशादितः, ज्ञानं स्वप्रकाशमिति प्रकृत्यादितः, अनन्तं विभूमिति जीवेभ्यश्च व्यावृत्तिः। सेव्यत्वं व्यञ्जयन् विशिनष्टि—ब्रह्मेत्यादिना। ब्रह्मसत्यत्वादिभिः

सार्वज्ञ्यसार्वैश्वर्यानन्द-सौन्दर्यसौहार्दादिभिश्च बृहद्भिर्गुणैर्विशिष्टं, अतएव शिवादि-भिर्देवमुख्यैस्तुतं सुखापोपश्लोकितम्। भजद्रूपं भजन्तो भक्ता नित्यमुक्तादयो रूपाणि मूर्त्तयो यस्येति तन्नित्यसाहित्यद्योतनाद्विचित्र-अनन्तलीलमित्यर्थः। भजतां रूपाणि यस्मादिति स्वसङ्कल्पेणैव पार्षदतनुप्रदमिति च। ननु स्वहेतुमेव सर्वः श्रेयति न स्वाहेतुमिति चेत् तत्राह—हेतुमिति। निखिलनिमित्तोपादानरूपमित्यर्थः। तथा अदोषं श्रमादिदोषरहितम्। अचिन्त्यं तर्कागोचरं, स्वशक्तिमात्रसहायः सृष्ट्यादिकुर्वन् श्रमादिकृतं कञ्चिदपि विकारं न लभत इति श्रुत्यादिभिः कीर्त्तनात् न तत्र तर्कावकाशः, सर्वमेतं विस्फुटीभावि। गोविन्दं गोपाललीलामिति सुखसेव्यत्वं सूच्यते। यद्यपि गोभूमिवेदविदित्यादिश्रौतनिरुक्तैरर्थान्तरमप्यस्ति तथापि *'महेन्द्रमदभित् पायान्न इन्द्रो गवाम्'* इति श्रीशुकोक्तेस्तथा व्याख्यातम्। परिकरोऽत्रालङ्कारः, विशेषणैर्यत् साकुतैरुक्तिः परिकरस्तु स इति तल्लक्षणात्। साभिप्रायैरनेकैर्विशेषणैर्विशेष्यपुष्टिः परिकर इति तदर्थः। अथ सर्वेश्वरो भगवान् नन्दसूनुर्वज्रनाभप्रीत्यार्चावतारतयाविर्भूतादनन्तरं श्रीरूपेण चाभिषिक्तः श्रीमद्वृन्दाटव्यधिदेवतात्वेन यश्चकास्ति तन्निष्ठमना भाष्यकृत् तन्निदेशेनैव ब्रह्मसूत्रार्थान् विवृण्वन् तत्प्रणतिं मङ्गलमाचचार। विद्यारूपभूषणं मे प्रदापयेत्यादि-भाष्यपीठकोक्तेरिति वदन्ति। तत्पक्षेत्वेवं व्याख्येयम्। तं श्रीवृन्दावनाधिष्ठातृदेवत्वेन प्रसिद्धः श्रीगोविन्दं वयं नमस्यामः। कीदृशं भजद्रूपं भजत् सेवमानो रूपस्तन्नामा महत्तमो यमिति द्वितीयान्तान्यपदार्था बहुव्रीहिः। भजन्ति रूपाणि यमिति वा सौन्दर्यसेवितमित्यर्थः। रूपं प्रभावसौन्दर्ये इति विश्वः। अर्चासाधारणं निर्वर्त्य साक्षाद्भगवत्तां वक्तुं विशेषणानि सत्यमित्यादीनि। सत्यादिरूपं यत् परतत्त्वं तदेव भक्तानुग्रहवशादर्चारूपमित्यर्थः। ननु चित्सुखमूर्त्तेरर्च्यत्वं कथं? तत्राह—अचिन्त्यमिति तर्काविषयमित्यर्थः। हेतुमर्चकाद्यविद्यानिवारकम्। *'वृन्दावने तु गोविन्दं ये पश्यन्ति वसुकरे। न ते यमपुरं यान्ति यान्ति पुण्यकृतां गतिम्॥'* इति स्मृतेः। पुण्यकृतां भक्तिमत्यम्। पुण्यस्तु चार्वपीत्यमरः। इह वस्तुनिर्देशादिरूपं मङ्गलं बोध्यम्। न चेदमप्रमाणमफलञ्चेति वाच्यं शिष्टाचारानुमितश्रुतिप्रामाण्यात् ग्रन्थसमाप्तेः लत्वाच्च। ननु क्वचित् सत्यपि मङ्गले तस्यासमाप्तेरसति च तस्मिन् समाप्ते-र्वीक्षणाद्व्यभिचारः। मैवं, अनुरूपमङ्गलाचरणादेस्तत्करणाच्च। अन्यथा शिष्टास्तान्नाचरेयुः। वेदप्रामाण्याभ्युपगतत्वं हि शिष्टत्वम्। न च अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यो वेदवचनस्याप्रामाण्यमितिवाच्यं, कर्मकर्त्तृसाधनवैगुण्यात् अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात् अनुवादोपपत्तेश्च॥ १॥

सूक्ष्मा-टीकानुवाद—अब इसके बाद समस्त वेद, महाभारतादि इतिहास एवं पुराणादिरूप महासागरके मन्थनसे उत्थित उत्तरमीमांसा नामक ब्रह्मसूत्र-समुदाय, श्रीवेदव्यासको समाधिमें प्राप्त उस (ब्रह्मसूत्र-

समुदायके) अकृत्रिम भाष्यस्वरूप समस्त वेदान्तके सारभूत श्रीमद्भागवत ग्रन्थके आनुगत्यमें, श्रीकृष्णचैतन्यहरि द्वारा स्वीकृत मध्वमुनिके (मध्वाचार्यके) मतानुसार व्याख्या करनेकी इच्छा करके श्रीगोविन्दके एकान्त भक्त विद्याभूषण उपाधिसे युक्त भाष्यकार [श्रीबलदेव प्रभु] ग्रन्थकी निर्विघ्न समाप्तिके लिए पर-पर (उत्तरोत्तर श्रेष्ठ) शिष्टगणोंका शास्त्र-आचार देखकर शास्त्र-प्रतिपाद्य अपने अभीष्ट देवताका नमस्कार रूप मङ्गचारण कर रहे हैं।

'तं'—उन परमेश्वरको, 'वयम्'—हम, 'नमस्यामः'—नमस्कार करते हैं। 'वयम्'—यह पद अस्मद् शब्दकी प्रथमा विभक्तिके बहुवचनसे निष्पन्न हुआ है। अभिप्राय यह है कि सहपाठी और शिष्यादिके सहित हम सब—यह अर्थ प्रकाशित हो रहा है। इसके फलस्वरूप केवल-अद्वैतवाद और एकजीववादका खण्डन हुआ है। तात्पर्य यह है कि समस्त जीवोंके एक होनेपर और अद्वैतके अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व न रहनेपर बहुवचन सङ्गत नही होता। इसलिए जीवका बहुत्व और द्वैततत्त्व स्वीकृत हुआ है। उन सर्वेश्वरको 'सत्यम्' इत्यादि विशेषणके द्वारा विशेषित कर रहे हैं। 'सत्यम्'—जो प्रमाणसिद्ध सत्यस्वरूप हैं, वेद इत्यादि द्वारा प्रतिपन्न अथवा स्वीकृत हैं तथा जलमें प्रतिबिम्बित आकाश इत्यादिके समान नहीं हैं। 'ज्ञानम्'—स्वप्रकाश, अर्थात् प्रकृति इत्यादि जड़-पदार्थ जिस प्रकार दूसरोंकी अपेक्षासे प्रकाशित होते हैं, ये परमेश्वर उस प्रकारसे नहीं हैं। 'अनन्तम्'—वे विभु अर्थात् विश्वव्यापक असीम हैं, जीवके समान परिच्छिन्न नहीं हैं। इस प्रकार उन परमेश्वरको प्रतिबिम्बसे, प्रकृति इत्यादि दृश्योंसे और जीवात्मासे पृथक् किया गया है। अब इसके बाद उनका ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादन करके उनका सर्वसेव्यत्व अथवा सर्वपूज्यत्व दिखला रहे हैं। वे परमेश्वर सत्यस्वरूप, ज्ञानमय एवं अपरिच्छिन्न हैं और सर्वज्ञता, सर्वनियन्तृत्व, परमानन्द, परमसौन्दर्य, सर्वसौहृद्य अथवा प्रेमिकत्व इत्यादि निरतिशय असाधरण बृहद्गुणोंसे विशिष्ट (युक्त) होनेके कारण शिव इत्यादि मुख्य देवताओं द्वारा स्तुत अर्थात् सुख-प्रार्थिजनों द्वारा की गयी स्तुतियोंसे सेवित हैं। 'भजद्रूपम'—जो भजन करते हैं, वे सभी नित्यमुक्त भक्तगण जिनकी मूर्त्ति हैं। इसके द्वारा उन सभी नित्य

भक्तोंके साथ उनका निरन्तर सान्निध्य प्रकाशित (प्रकट) होनेके कारण ही वे विचित्र एवं अनन्त लीलामय हैं—यह अर्थ जाना जाता है। अथवा भजनकारियोंका रूप जिनसे होता है, अर्थात् अपने सङ्कल्पबलसे जो पार्षदगणोंको शरीर प्रदान करते हैं। यहाँ आपत्ति हो सकती है कि कार्यमात्र ही अपने-अपने नियत (निश्चित) कारणकी अपेक्षा करता है, जो जिस कार्यका कारण नहीं हैं, वह कार्य उस कारणकी अपेक्षा नहीं करता, तब इस कार्यका कारण क्या है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—'हेतुम्'। वे ही समस्त वस्तुओंके निमित्त कारण एवं उपादान कारण हैं। इस प्रकारसे वे 'अदोष' अर्थात् कार्य—सृष्टि-विषयमें श्रम, आलस्यादि दोषोंसे रहित हैं। यदि कहो कि यह किस प्रकारसे सम्भव है? तो इसके लिए कह रहे हैं—'अचिन्त्यम्' वे तर्कके अगोचर हैं। अर्थात् वे किसी भी श्रम आदि दोषसे रहित क्यों और कैसे हैं—यह तर्क उनमें सङ्गत नहीं होता, क्योंकि अपनी स्वाभाविक शक्तिको ही सहायिका बनाकर वे सृष्टि इत्यादि करते हैं। अतः सृष्टि इत्यादिके कारण श्रमादि जैसे किसी विकारको वे प्राप्त नहीं होते। श्रुति-स्मृति एवं पुराण इत्यादि सभी यही बात कह रहे हैं, अतएव वेदादि वाक्योंमें तर्कका अवकाश ही कहाँ है? ये सभी तथ्य यथास्थान परिस्फुट होंगे। 'गोविन्दम्'—गोपाल-लीलाकारी, ऐसा कहनेसे वे अनायास ही (सहज-सरल रूपमें) भजनीय अर्थात् सुखसेव्य हैं—यही प्रतिपन्न हुआ है। यद्यपि गोविन्द शब्दका अर्थ है—जो गाँयोंको अर्थात् गो-मण्डलीको, पृथ्वीको अथवा वेदवाक्योंको जानते हैं—यह अर्थ निरुक्तकार यास्कने किया है और श्रुति-निरुक्तिसे भी यही सिद्ध है। अन्य अर्थ भी है—'गोपाललील', यह अर्थ ही क्यों किया गया? इसपर महामुनि श्रीशुकदेव गोस्वामी वर्णन करते हैं—*'महेन्द्रमदभित् पायान्न इन्द्रो गवाम्'* अर्थात् जिन्होंने गायोंका पालक होकर इन्द्रके गर्वको चूर्ण-विचूर्ण किया है, वे हमारा भी पालन करें। इस उक्तिके प्रमाणमें इस प्रकारकी व्याख्या की गयी है। इस श्लोकमें 'परिकर' नामक अलङ्कार है। इसका लक्षण है—साभिप्राय (अभिप्रायके साथ) विशेषणोंके द्वारा जो वाक्य कहा जायेगा, वहाँ 'परिकर अलङ्कार' होगा। तात्पर्य यह है कि जहाँ अभिप्राय विशेषणोंके

व्यञ्जक अनेक विशेषण देकर विशेष्य पदार्थको पुष्ट किया जाता है, वहाँ परिकर–अलङ्कार होता है।

अब इसके बाद जो सर्वेश्वर भगवान् श्रीनन्दकुमार वज्रनाभकी प्रसन्नताके लिए श्रीविग्रहावतारमें आविर्भूत होनेके बाद श्रीरूप (गोस्वामी) द्वारा अभिषिक्त हुए एवं श्री–समन्वित वृन्दावनके अधिष्ठातृ देवताके रूपमें प्रकट हुए थे, उनमें एकान्तमति होकर भाष्यकार [श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभु] ने उन्हीं श्रीगोविन्ददेवके निर्देशानुसार ब्रह्मसूत्रके अर्थकी विवृत्ति करनेके प्रारम्भमें भगवत्–प्रणतिरूप मङ्गलाचरण किया है। *'विद्यारूपभूषणं मे प्रदापय'* इत्यादि भाष्यकारके सन्दर्भसे यही जाना जाता है कि उन्होंने यह वचन अनेक आक्षेपमुखसे, अर्थात् अपनी भर्त्सना करते हुए कहा है।

इस पक्षमें *'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'* इत्यादि श्लोक इस प्रकारकी व्याख्याका विषय होगा। 'तम्'—जो श्रीवृन्दावनके अधिष्ठातृ देवताके रूपमें प्रसिद्ध हैं, उन 'गोविन्दं'—श्रीगोविन्दको, 'वयं नमस्यामः'–हम प्रणाम करते है। वे कैसे हैं? 'भजद्रूपम्'—'रूप' अर्थात् श्रीरूप गोस्वामी नामक महापुरुष जिनका 'भजत्' अर्थात् भजन करते हैं—इस प्रकार द्वितीयान्त पदके वाच्यको लेकर बहुब्रीहि समास हुआ है। अथवा 'भजन्ति रूपाणि यम्'—समस्त सौन्दर्य जिनका आश्रय करके रहता है, अर्थात् जो सौन्दर्यसे सेवित हैं। विश्वकोष नामक अभिधानमें रूप शब्दका अर्थ है—प्रभाव एवं सौन्दर्य। वे कोई साधारण अर्चा–विग्रह नहीं बल्कि साक्षात् भगवान् हैं—इसे ज्ञापित करनेके लिए 'सत्यम्' इत्यादि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। ये सत्यादिस्वरूप जो परब्रह्मतत्व हैं, उन्होंने ही भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए अर्चा–विग्रह धारण किया है—यह अर्थ प्रकाशित हुआ है। प्रश्न हो सकता है कि जो ज्ञान और आनन्दस्वरूप हैं, वे तो निर्गुण–निराकार हैं, तब वे अर्चनीय किस प्रकार हुए? इसके उत्तरमें कहते हैं कि वे 'अचिन्त्यम्'—तर्कके अगोचर हैं, और वे 'हेतु' अर्थात् अर्चकादिकी अविद्याके विनाशक हैं। स्मृतिमें कहा गया है—*वृन्दावन तु गोविन्दं ये पश्यन्ति वसुन्धरे! न ते यमपुरं यान्ति यान्ति पुण्यकृतां गतिम्*—"हे पृथ्वी! जो वृन्दावन धाममें श्रीगोविन्दमूर्त्तिका दर्शन करते हैं, वे फिर यमालय नहीं जाते,

अपितु भक्तिमानोंकी गति प्राप्त करते हैं।" यहाँ पुण्यकारीका अर्थ है भक्तिमान। अमरकोष नामक अभिधानमें कहा गया है—पुण्य शब्दका अर्थ है सुकृति और भक्ति। इस मङ्गलाचरणमें ग्रन्थके प्रतिपाद्य वस्तु-निर्देश इत्यादिका भी सन्धान पाया जाता है। मङ्गलाचरणको प्रमाणशून्य और निरर्थक नहीं कहा जा सकता, शिष्टगणोंके आचारको देखकर मूलभूत श्रुतिका अनुमान करना होता है और उसी श्रुतिके प्रमाणनुसार मङ्गलाचरण करना चाहिये—यह जाना जाता है; मात्र इतना ही नहीं, ग्रन्थ-समाप्ति भी उसके फलरूपमें प्रकाश पाती है। यदि कहो कि किसी-किसी क्षेत्रमें मङ्गलाचरण होनेपर भी ग्रन्थकी असमाप्ति (जिस प्रकार कादम्बरी इत्यादि ग्रन्थकी) और मङ्गलाचरण न रहनेपर ग्रन्थकी समाप्ति (जिस प्रकार नास्तिकतादियोंके ग्रन्थमें) देखी जाती है, ऐसे व्यभिचारकी (व्यतिक्रमकी) प्रसक्ति (संयोग) का होना भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि अनुकूल मङ्गलाचरण अर्थात् जितने परिमाणमें मङ्गलाचरण करनेपर विघ्नोंका ध्वंस होकर समाप्ति देखी जाती है, उतने परिमाणमें मङ्गलाचरण ही समाप्ति-फलका दान करता है। यह बात न माननेपर शिष्टगण मङ्गलाचरण नहीं करते। जो वेदको प्रमाण मानते हैं, वे ही शिष्टगण हैं।

अब आपत्ति यह है कि यदि मङ्गलाचरण करनेपर भी ग्रन्थकी समाप्ति नहीं होती है, तो शिष्टाचारमें मिथ्या, व्याघात और पुनरुक्ति दोषपातके कारण वेदवाक्योंकी अप्रमाणिकता आ पड़ती है। ऐसी अपात्ति नहीं की जा सकती है, क्योंकि कर्मके दोषमें, कर्त्ताके दोषमें, साधनके वैगुण्यमें ये सब दोष घटित होते हैं। अभ्युपगम-पक्षमें काल-भेदसे दोष और अनुवाद कहकर भी उपपत्ति की जाती है॥ १॥

गोविन्दभाष्य—

सूत्रांशुभिस्तमांसि व्युदस्य वस्तूनि यः परीक्षयते।
स जयति सात्यवतेयो हरिरनुवृत्तो नतप्रेष्ठः॥ २॥

अनुवाद—सत्यवतीके गर्भमें पराशरसे प्रकट श्रीकृष्णद्वैपायनरूपी हरि अर्थात् सूर्य अथवा चन्द्रमाने ब्रह्मसूत्ररूप किरणोंके द्वारा जीवके

अज्ञानरूप अन्धकारको दूर करके वस्तुतत्वसमूहको प्रकाशित किया है। भक्तोंके प्रियतम, सर्वव्यापी उन वेदव्यासकी जय हो॥ २॥

सूक्ष्मा-टीका—अथ प्रत्यूहाधिक्यशङ्कया शास्त्रकृत्प्रणतिञ्च मङ्गलमाचरति—सूत्रांशुभिरिति। स सात्यवतयः सत्यवत्यां पराशरात् प्रकटः श्रीकृष्णद्वैपायणः स एव हरिः सूर्यश्चन्द्रो वा जयति स्वोत्कर्षमाविष्करोतु। हरिवातार्कचन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिष्वित्यमरः। यः सूत्रांशुभिर्ब्रह्मसूत्रकिरणैस्तमांस्यज्ञानान्येव तमांसि तिमिराणि व्युदस्य विधूय वस्तूति तत्त्वान्येव वस्तूनि घटपटादीनि परीक्षयते प्रदर्शयति। तमः पापे तमोऽज्ञाने तमो ध्वान्ते प्रकीर्त्तितमिति हड्डचन्द्रः। वस्तु द्रव्ये तथा तत्त्वे वस्तुज्ञानेऽर्थदर्शने इति त्रिकाण्डशेषः। स कीदृशः? अनुवृत्त्या व्यापी, नतप्रेष्ठा भक्तातिप्रियः। स्वापकर्ष-बोधककर-कपालदिसंयोगरूपव्यापारविशेषो नमधातोरर्थः स्वाधिकोत्कर्षताज्ञापकव्यापार-विशेषो वा। भक्तस्य तदुभयवैशिष्ट्यात् न दोषः। समाप्तपुनरात्तत्वमिह वाक्यदोषो न मन्तव्यः, तस्य सर्वैरनङ्गीकारात्। जयदेवाद्यैश्चन्द्रालोकादिष्वतएव तस्योद्देशादिकं न कृतम्। अन्यं वा विशेष्यं कल्प्यम्। रूपकमत्रालङ्कारः। तत्र साङ्ग-रूपकमङ्गीश्लिष्टपरम्परितन्त्वङ्गं विवेचनीयं तमोवस्तुशब्दाविह श्लिष्टौ। तल्लक्षणञ्चोक्तम्। *'नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य य :। तत्परस्परितं श्लिष्टवाचिके भेदवाचिके॥'* इति। यस्य कस्याचिदारोपश्चेत् प्रकृतस्यान्यतादात्म्यतयारोपणे हेतुः स्यात् तदा परस्परितं रूपकमिति तदर्थः। इह तमःस्वज्ञानेषु श्लिष्टशब्दवाच्येषु तिमिरत्वारोपो वस्तुषु तत्त्वेषु च घटादित्वारोपः। प्रकृतस्य सात्यवतेयस्य सूर्यत्वं तत्सूत्र-गणस्यांशुत्वञ्चारोपयतीति लक्षणसङ्गतिः। जयतिनात्र सर्वोत्कर्षस्तदाश्रयत्वात् व्यासस्य सर्वनमस्यत्वाक्षेपः। सर्वान्तःपातादग्रन्थकर्त्तश्च तन्नतिर्व्यङ्ग्या॥ २॥

सूक्ष्मा-टीकानुवाद—अब इसके बाद भाष्यकार अधिकाधिक विघ्नोंकी आशङ्कासे वेदान्त-सूत्रकार श्रीव्यासदेवका प्रणतिरूप मङ्गलाचरण *'सूत्रांशुभिस्तमांसि'* श्लोकसे कर रहे हैं।

'स सात्यवतेयः' इत्यादि—उन सर्वप्रसिद्ध सत्यवतीमें महर्षि पराशरसे प्रकट जो श्रीकृष्णद्वैपायनावतार हैं, वे श्रीहरि अथवा तद्रूपी सूर्य अथवा चन्द्रमा ही अपनी सर्वोत्कृष्टता प्रकट करें। अमरकोष नामक अभिधानमें 'हरि' शब्दके पर्याय रूपमें अर्थ हैं—श्रीहरि, वायु, सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, यम, उपेन्द्र और किरण। 'यः'—जिन (श्रीकृष्णद्वैपायनने), 'सूत्रांशुभिः'—ब्रह्मसूत्ररूप किरणोंके द्वारा, 'तमांसि'—अज्ञानरूपान्धकारराशि, 'व्युदस्य'—दूरीकृत करके, 'वस्तूनि'—तत्वरूप वस्तु अर्थात् घटपट इत्यादिको, 'परीक्षयते'—प्रकट किया है। हड्डचन्द्रकोषमें 'तमः' शब्द

पाप, अज्ञान, अन्धकार अर्थमें कहा गया है। त्रिकाणुशेष नामक अभिधानमें वर्णन है—'वस्तु' शब्दका अर्थ है द्रव्य, तत्व (ब्रह्म), ज्ञान और अर्थज्ञान। वे मुनिरूपी हरि किस प्रकारके हैं? 'अनुवृतः'—व्यापी अर्थात् सद्रूपमें सर्वत्र अनुस्यूत (निर्बाध रूपमें बुने हुए) और 'नतप्रेष्ठ'—भक्तोंके अतिप्रिय।

अब इसके बाद 'नम्' धातुके अर्थका विवेचन करते हैं—कोई-कोई कहते हैं कि प्रणम्य देवतादिसे अपना अपकर्ष जिसके द्वारा जाना जाता है, उस प्रकारसे कपालमें हाथ स्पर्शरूप कार्य नम् धातुका अर्थ है। अन्य कोई कहते हैं कि प्रणामकारीके अपनेसे प्रणम्यके प्रति उत्कर्ष-बोधकक्रिया अर्थात् आत्मसमर्पण, यही नम् धातुका अर्थ है। यहाँ कोई-कोई समाप्त पुनरात्ततारूप वाक्य-दोषकी आशङ्का करते हैं। किन्तु विचार यह है कि क्रियापदका उल्लेख होनेपर ही वाक्यकी समाप्ति होती है, उसके बाद पुनः विशेषणादिका उल्लेख दूषणीय है। यहाँ 'स जयति हरिः' कहकर पुनः हरिको 'अनुवृत' एवं 'नतप्रेष्ठः' इन दो विशेषणोंके द्वारा विशेषित किया गया है। अतएव यहाँ समाप्तपुनरात्तता नामक आलङ्कारिक सम्मत दोष है, किन्तु इसे मानना उचित नही है, क्योंकि इस दोषको सब स्वीकार नहीं करते। जयदेव इत्यादि महाकवियोंने चन्द्रालोक इत्यादि अलङ्कार ग्रन्थोंमें इस दोषका उल्लेख तक नहीं किया है। अथवा हरिको विशेष्य न करके 'नतप्रेष्ठः' एवं 'अनुवृत्तः' इन दो विशेषणोंकी अन्य विशेष्य पदमें कल्पना करनेपर ही इस दोषका परिहार होगा। इस श्लोकमें रूपक नामक अलङ्कार है। इनमें एक साङ्गरूपक है जो प्रधान है तथा दूसरा परस्परितरूपक जो अङ्ग अर्थात् प्रधान रूपकका परिपोषक है—यह विवेचनीय है। इस श्लोकमें 'तमस्' शब्द और 'वस्तु' शब्द श्लिष्ट अर्थात् उभयार्थक है। रूपकलक्षणके सम्बन्धमें कहा गया है—*नियतारोपाणो पाय* इत्यादि। इसका अर्थ है कि किसी एक पदार्थका दूसरे पदार्थके ऊपर आरोप करना, अर्थात् भेद होनेपर भी सादृश्य दिखलाकर दोनोंका अभेद रूपमें प्रकाश किया जाना। जैसे कि मुख और चन्द्र एक नहीं हैं, यह जानकर भी आहलादकत्वरूप समानधर्मके कारण मुखचन्द्र शब्दका प्रयोग होता है। जब वही आरोप प्रकृत

(वास्तविक) वस्तुके ऊपर अन्य वस्तुके अभेदज्ञानरूप आरोपका कारण होता है, उस समय यह रूपक परस्परित नामसे कहा जाता है। जिस प्रकार यहाँ श्लिष्ट (द्वैयार्थक) 'तमस्' शब्दके अर्थ 'अज्ञान' के ऊपर अन्धकारका आरोप और 'वस्तु' शब्दके अर्थ 'तत्व' के ऊपर घटपटाादि पदार्थका आरोप हुआ है; उसी प्रकार 'सात्यवतये श्रीकृष्णद्वैपायन' के ऊपर 'सूर्यतत्व' का आरोप किया गया है और उनके द्वारा रचित सूत्रोंके ऊपर अंशुत्वका (किरणत्वका) आरोप किया गया है। अतएव एक आरोप दूसरे आरोपका कारण होनेके कारण यहाँ परस्परित रूपक हुआ है। इस प्रकारसे लक्षण-समन्वय जानना चाहिये। 'जयति' इस क्रियापदके द्वारा सर्वोत्कर्ष अर्थ प्रकट हो रहा है और उसी सर्वोत्कर्षके आधारपर वेदव्यास सर्वप्रणम्य हुए हैं—यह अर्थ बलसे प्राप्त अर्थ है। समस्त पदार्थोमें ग्रन्थकर्त्ता भी अन्तर्भूत हैं; अतएव उनकी भी प्रणति व्यञ्जनावृत्तिके द्वारा ज्ञात करायी गयी है॥ २॥



अब इसके बाद ब्रह्मसूत्र-ग्रन्थ प्रकाशके हेतु रूपमें भाष्यकार एक आख्यायिका (उपाख्यान) प्रस्तुत कर रहे हैं—द्वापरे इत्यादि।

अवतरणिका भाष्य—द्वापरे वेदेषु समुत्सन्नेषु सङ्कीर्णप्रज्ञैर्ब्रह्मादिभिरभ्यर्थितो भगवान् पुरुषोत्तमः कृष्णद्वैपायनः सन् तान् उद्धृत्य विवभाज। तदर्थनिर्णेत्रीञ्चतुर्लक्षणीं ब्रह्ममीमांसामाविश्चकार इत्यस्ति कथा स्कान्दी।

अवतरणिका भाष्यानुवाद—द्वापरयुगमें जब समस्त वेदोंका ध्वंस हो गया था, उस समय सङ्कीर्ण-बुद्धिवाले देवताओंने ब्रह्माजीको साथ लेकर भगवान् पुरुषोत्तमसे वेदोंके उद्धारके लिए प्रार्थना की। करुणामय श्रीहरिने कृष्णद्वैपायनरूपमें अवतीर्ण होकर वेदका उद्धार करके फिर उसका विभाग किया। इस वेदार्थमें अनेक विप्रतिपत्ति (असङ्गति) अथवा मतभेद हैं, उसके निरास (निराकण) के लिए एवं वास्तव वेदार्थके निर्णय हेतु श्रीकृष्णद्वैपायनने चार अध्यायोंमें सम्पूर्ण ब्रह्ममीमांसा अथवा उत्तरमीमांसाका आविष्कार किया। यह उपाख्यान स्कन्दपुराणमें वर्णित है।

अवतरणिकाभाष्य टीका—ब्रह्मसूत्राविर्भावे हेतुमाख्यायिकयाह—द्वापरे इति। अयमर्थः—वेदोत्सादे सति चार्वाकबौद्धकपिलादयः केचिद् विप्राः स्वयं विज्ञस्मन्यास्तदा कतिचिद्वेदवाक्यान्युपलभ्य तदर्थैः स्वबुद्धयुद्भावितैरन्यैश्च दुरर्थैर्मतानि निबबन्धु यैर्जनाः परमार्थाद्विच्योतेयुः। तदेतदनर्थजालनिवृत्तये देवैर्विज्ञापितो भगवान् हरिर्बादरायणः सन् आविर्भूय वेदान् उद्धृत्य तान् विवभाज। तानि दुर्मतानि निराकर्तुं वास्तवं वेदार्थं निर्णेतुञ्च चतुरध्यायीमुत्तरमीमांसामाविश्चकारेत्यस्ति कथा स्कान्दी। तथाहि—*'नारायणाद्विनिष्पन्नं ज्ञानं कृतयुगे स्थितम्। किञ्चिदन्यत् तथा जातं त्रेतायां द्वापरेऽखिलम्॥ गोतमस्य ऋषेः शापात् ज्ञाने त्वज्ञानतां गते। सङ्कीर्णबुद्धयो देवा ब्रह्मरुद्रपुरःसराः॥ शरण्यं शरणं जग्मुर्नारायणमनामयम्। तैर्विज्ञापितकार्यस्तु भगवान् पुरुषोत्तमः॥ अवतीर्णो महायोगी सत्यवत्यां पराशरात्। उत्सन्नान् भगवान् वेदानुज्जहार हरिः स्वयम्॥ चतुर्धा व्यभजत् तांश्च चतुर्विंशतिधा पुनः। शतधा चैकधा चैव तथैव च सहस्रधा। कृष्णो द्वादशधा चैव पुनस्तस्यार्थवित्तये। चकार ब्रह्मसूत्राणि येषां सूत्रत्वमञ्जसा॥ अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदा विदुः॥'* इत्याद्याः उक्तञ्च भाष्यपीठके। इह हि सुखप्राप्ति-दुःखपरिहारयोर्लोकप्रवृत्तिः दृश्यते। तौ च उपेयभूतौ उपायमन्यतरा न सम्भवेता-मतश्चार्वाकबौद्धमतानुसारिणः सारासारविचारज्ञाः कपिलादिमहर्षयश्च तत्रोपायं प्रकीर्त्तयन्ति। तत्र चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मा देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावत् प्रत्यक्षैक-प्रमाणवादितयानुमानादेरनङ्गीकारेण प्रामाण्याभावात्। अङ्गनालिङ्गनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थः। न चास्य दुःखसंभिन्नतया पुरुषार्थत्वमेव नास्तीति मन्तव्यं, अवर्जनीयतया प्राप्तस्य दुःखस्य परिहारेण सुखमात्रस्यैव भोक्तव्यत्वादिति चार्वाकाः। सर्वं शून्यमिति माध्यमिकबौद्धाः। बाह्यवस्तुजातमसत्यं क्षणिकविज्ञानमेवात्म इति योगाचाराः। बाह्यं सत्यमनुमानसिद्धञ्चेति सौत्रान्तिकाः। बाह्यं सत्यं प्रत्यक्षकसिद्धञ्चेति बैभाषिकाः। सुगतो देवः, जगत् क्षणिकं, क्षणिकविज्ञानमात्मा, प्रत्यक्षमनुमाञ्च प्रमाणं, दुःखायतनसमुदयमार्गाख्यानि चत्वारि तत्त्वानि, तत्त्वज्ञानमेव मोक्ष इति सर्वे बौद्धाः। प्रकृतिपुरुषाविवेकादस्य त्रिविधदुःखोत्पादस्तद्विवेकात् पुनरनाद्यविवेकनिवृत्तौ पुरुषं प्रति निवृत्त्याधिकारा प्रकृतिर्भवतीति तस्य त्रिविधस्य दुःखस्य प्रध्वंसः स्यात्। स च कार्योऽपि नित्यः अभावरूपत्वात्। स एवानन्दावाप्तिरित्युपचरितः। भारागमे सुखी संवृत्त इतिवन्न तु तस्मात् सातिरिच्यत इति कपिलः। प्रकृतिपुरुष-विवेकाभ्यासवैराग्य-परिपाकात् यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसम्प्रज्ञात-समाधेरस्य ताविति पतञ्जलिः। देहेन्द्रियादि विलक्षणो विभुरयमात्मा नवविशेषगुणाश्रयस्तस्य द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष-समवायानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानेन साक्षात्कारादीश्व-रोपासनासहितान्नवानां वैशेषिकगुणानां प्रागभावेन सहवृत्तिध्वंसो भवेत् स एवानन्दावाप्तिरिति कणादः। प्रमाणप्रमेयादिषोडशपदार्थानामुद्देशलक्षण-परीक्षाभिरात्मादिद्वादशविधप्रमेय-

निष्कर्षेणात्मद्वयसाक्षात्कारात् श्रवणमनननिदिध्यासनपूर्वकात् सवासनमिथ्याज्ञान-निवृत्तौ तत्कार्याणां रागद्वेषमोहानां निवृत्तिस्तत्कार्ययोः प्रवृत्तिपूर्वकयोर्धर्माधर्मयोस्ततः पूर्वार्जितकर्मणां कायव्यूहपूर्वकं भोगेन परिक्षयाद्देहान्तरानारम्भस्ततो बाधना-लक्षणस्यैकविंशतिविधस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्भवेत् सैव सुखावाप्तिरिति गौतमः। वेदोक्तैः शुभकर्मभिर्दुःखहानिः सुखलाभश्चेति जैमिनिः। तथाच, चार्वाकाद्युक्ताः सर्वे ह्येते उपाया स्तयोरात्यन्तिकयाः सिद्धये नाङ्गीकार्याः परमाचार्येण भगवता श्रीबादरायणेन सूत्रेषु तद्भाष्यभूते श्रीमद्भागवते च तत्तन्मतानां निराकृतत्वात्। किन्तु, निखिलाम्नायवेद्यस्य सर्वेश्वराख्यस्य पुरुषोत्तमस्य स्वरूपतो गुणतश्च परिज्ञानं स्वज्ञानपूर्वकं तस्यै कल्प्यत इति। दुर्मतानि दर्शयति—वेदेष्वित्यादिना।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—श्रीवेदव्यासके द्वारा ब्रह्मसूत्रकी रचनाके हेतुरूपमें भाष्यकार अब एक आख्यायिका बतला रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वेदके उत्पन्न होनेपर चार्वाक, बौद्ध, कपिल इत्यादि कुछ ब्राह्मणोंने स्वयंको विद्वान मानकर उस समय कुछ वेद वाक्योंकी पर्यालोचना करते हुए उनके अर्थोंको अपनी बुद्धिके द्वारा उद्भावित किया और अन्यान्य अयौक्तिक अर्थों द्वारा अपने ऐसे-ऐसे मत निबद्ध कर लिये जिससे लोग परमार्थसे च्युत हो गये।

इस अनर्थ-जालके निराकरणके लिए देवता भगवान् श्रीहरिके शरणापन्न हुए। तब भगवान्ने बादरायण (कृष्णद्वैपायन) रूपमें आविर्भूत होकर सम्पूर्ण वेदका उद्धार करते हुए उसका विभाग कर दिया। इस प्रकार उन्होंने सभी दोषपूर्ण मतोंके निराकरणके लिए और वास्तविक वेदार्थके निर्णयके लिए चार अध्यायोंमें पूर्ण उत्तरमीमांसाका आविष्कार किया। यह आख्यायिका स्कन्दपुराणमें इस प्रकारसे वर्णित हैं—सत्ययुगमें श्रीनारायणसे सम्पूर्ण ज्ञानमार्ग प्रकाशित हुआ था। त्रेतायुगमें उस ज्ञानका कुछ अन्यथाभाव (रूपान्तर) हो गया और द्वापरयुगमें तो उस ज्ञानका सम्पूर्ण रूपसे उलट-फेर हो गया। गौतममुनिके शापसे वेदार्थज्ञान जब अज्ञानमें परिणत हो गया तब सङ्कीर्णबुद्धि देवतागण ब्रह्मा और महादेव इत्यादिको आगे करके शरणागतवत्सल अविलुप्तमति भगवान् श्रीनारायणकी शरणमें गये। उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की और तब पुरुषोत्तम श्रीहरि सत्यवतीके गर्भमें महामुनि पराशरसे महायोगी वेदव्यास रूपमें अवतीर्ण हुए।

भगवान् श्रीहरिने इस महायोगी अवतारमें विलुप्त वेदोंका स्वयं ही उद्धार किया और वेदको चार भागोंमें विभक्त कर दिया। इन चार भागोंमें विभक्त वेदोंको पुनः चौबीस भागोंमें विभक्त कर दिया। इस प्रकारसे उन्होंने ब्रह्मसूत्रोंकी रचना की जिनका वास्तवमें ही सूत्रत्व है, क्योंकि सूत्रके लक्षण हैं—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवदिवश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यश्च सूत्रं सूत्रविदो विदु रिव्याद्या॥

अर्थात् जो अल्प-अक्षरोंमें निबद्ध हैं, जिनके किसी तात्पर्य-विषयमें सन्देह नहीं है, जो सारगर्भ हैं, जिनकी सभी ओर पूर्णगति है, जिनमें बाह्य रूपसे वाद-निरासके लिए स्तोभवाक्य नहीं दिये जाते अथवा जिनमें पाठकके लिए प्ररोचना-वाक्य नहीं हैं, जो निर्दोष अर्थात् अतिवयाप्ति, अव्याप्ति और असम्भव-दोषोंसे दूषित नहीं हैं, उन्हींको पण्डितगण सूत्र कहते हैं। इस ब्रह्मसूत्रके आविर्भावके मूलमें और भी आख्यायिकाएँ कही गयी हैं।

भाष्यपीठकमें वर्णन है कि इस जगत्में लोगोंकी दो विषयोंमें प्रवृत्ति देखी जाती है—सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्ति। मनुष्य ये दो वस्तुएँ ही चाहते हैं। उपेय (साध्य) तो उपाय (साधन) के बिना प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिए चार्वाक, बौद्ध आदि मतोंके अनुायियों (नास्तिकों) ने तथा सारासार विचारक कपिलादि महर्षियोंने इस विषयमें उपाय बतलाये हैं।

चार्वाक मत—नास्तिकवादी चार्वाक मतावलम्बी कहते हैं कि चेतनासे विशिष्ट (युक्त) देह ही आत्मा है; आत्मा जैसी स्वतन्त्र वस्तु कुछ भी नहीं है, क्योंकि देहके अतिरिक्त आत्मसताका कोई प्रमाण नहीं है। इसका मर्मार्थ यह है कि इस मतके अनुयायी प्रत्यक्षसे अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रमाण नहीं मानते हैं। अनुमान इत्यादि दूसरे प्रमाण उनके मतमें सिद्ध नहीं हैं, क्योंकि अनुमानादि अप्रामाणिक ही हैं। इनके मतानुसार स्त्रीके आलिङ्गनादिसे उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ अर्थात् पुरुषकी काम्य वस्तु है। यदि कहो कि स्त्री-आलिङ्गनसे प्राप्त सुख तो दुःखमिश्रित है, वह पुरुषार्थ कैसे हो सकता है? तो यह भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि जब सुख

प्राप्त होगा तो उसके साथ दुःख आयेगा ही। अतः दुःखके अंशका परित्याग करके केवल सुखका अंश ही भोग किया जाय।

बौद्ध मत—बौद्ध-सम्प्रदाय चार भागोंमें विभक्त है, यथा—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक। इनमें माध्यमिक बौद्ध कहते हैं—सब कुछ शून्य है। योगाचारके मतमें बाह्य घट-पटादि वस्तुमात्र ही मिथ्या, असत् और क्षणिक है तथा विज्ञान (अथवा मन) ही आत्मा (सत्य पदार्थ) है। सौत्रान्तिकगण कहते हैं—समस्त बाह्य वस्तु सत्य और अनुमान सिद्ध है (बाह्य पदार्थोंका ज्ञान अनुमानसे होता है)। वैभाषिक-सम्मत मत यह है कि बाह्य पदार्थ सत्य एवं प्रत्यक्षसिद्ध (प्रत्यक्षगम्य) हैं, अनुमेय नहीं। समस्त बौद्ध-सम्प्रदायका सार मत यह है कि सुगत (बुद्ध) ही देवता हैं, संसार क्षणमें नष्ट हो जाता है, आत्मा क्षणिक-विज्ञानस्वरूप है, प्रत्यक्ष एवं अनुमान दो प्रकारके प्रमाण हैं, चार तत्त्व हैं—दुःख, आयतन (शरीरादि), समुदय और मार्ग (साधन); तत्त्वज्ञान ही मुक्ति है।

कपिलका मत—सांख्य-सूत्रकार कपिल कहते हैं कि प्रकृति-पुरुषके विवेकके अभावसे ही जीवके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखोंकी उत्पत्ति होती है तथा प्रकृति-पुरुषका विवेक (तत्त्वज्ञान) होनेपर पुनः अनादि कालसे प्रवाहमान अविद्या अथवा अविवेककी निवृत्ति हो जाती है। प्रकृतिका फिर पुरुषके प्रति अधिकार नहीं रहता अर्थात् प्रकृति पुरुषके भोग-सम्पादनसे विरत हो जाती है। इस प्रकारसे तीनों प्रकारके दुःखोंका सूमल विनाश हो जाता है। यद्यपि ध्वंस कार्य है, तथापि अभावस्वरूप होनेके कारण वह नित्य है। इस ध्वंसका ही लक्षणावृत्तिके बलपर आनन्द-प्राप्ति रूपमें वर्णन किया जाता है। जिस प्रकार कन्धेपरसे भार उतर जानेपर मनुष्य कहते हैं कि 'मैं सुखी हो गया', इसी प्रकार दुःखके ध्वंससे आनन्द-प्राप्तिरूप मुक्ति पृथक् नहीं है।

पतञ्जलिका मत—योगसूत्रकार पतञ्जलि कहते हैं कि जब प्रकृति एवं पुरुषका विवेक परिपक्व होता है तथा अभ्यास और वैराग्य दृढ़ होते हैं तब यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और सम्प्रज्ञात (संशय आदिसे पृथक् होकर ध्येयके स्वरूपका

भलीभाँति ज्ञान होना) समाधिसे जीवके दुःखोंका ध्वंस होता है और सुःखकी प्राप्ति (मुक्ति) होती है।

कणादका मत—वैशेषिक दर्शनके प्रणेता कणादके मतमें देह, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि इत्यादिसे भिन्न यह आत्मा विभु-व्यापक अपरिच्छिन्न है। इसमें नौ विशेष गुण—ज्ञान, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, यत्न, अदृष्ट (पाप-पुण्य) भावना और संस्कार एवं द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य अथवा जाति, विशेष (प्रत्येक परमाणुगत विशेषत्व) और समवाय सम्बन्ध—इन छह पदार्थोंके साधर्म्य और वैधर्म्यके ज्ञानसे जो तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है, उससे भी ईश्वरकी उपासना सहित साक्षात्कारके लिए उक्त नौ विशेष गुणोंका ध्वंस होता है और उनकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती। इस प्राग्भावके न होनेपर अर्थात् यह ध्वंस ही आनन्द प्राप्तिका स्वरूप अथवा मुक्तिका स्वरूप है।

गौतमका मत (अक्षपाद दर्शन)—गौतम-मतावलम्बी नैयायिकगणोंका मत यह है कि प्रमाण, प्रमेय, संशय, निश्चय इत्यादि जो सोलह पदार्थ हैं, उनके स्वरूप-दर्शन, लक्षण-ज्ञान और परीक्षा द्वारा आत्मा इत्यादि बारह प्रकारके प्रमेयोंका निष्कर्ष होता है। इसके द्वारा जीवात्मा एवं परमात्मा—इन दो आत्माओंका प्रत्यक्ष जन्म होता है। इसके साथ आत्म-विषयक श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन (निरन्तर चिन्तन) होनेपर उससे पूर्व-पूर्व जन्मोंमें अर्जित वासनाओं अथवा संस्कारोंके साथ मिथ्या-ज्ञान ध्वंस हो जाता है। संस्कारके ध्वंस होनेपर उसके कार्य राग (विषयोंमें आसक्ति), द्वेष (विषयोंसे विद्वेष) और मोहकी भी निवृत्ति होती है, इसके साथ ही उस रागादिके कार्य—प्रवृत्तिसे उत्पन्न धर्म और अधर्मका क्षय होता है। इससे कायव्यूह धारणवशतः भोग द्वारा पूर्वोर्जित कर्मोंका आत्यन्तिक भावसे विनाश होता है, अतः फिर अन्य देह धारण करना नहीं होता। देहान्तर न होनेपर इक्कीस प्रकारके दुःखोंकी जो आत्यन्तिक निवृत्ति होती है, उसका नाम सुखप्राप्ति अथवा मुक्ति है।

जैमिनिका मत—पूर्वमीमांसा-दर्शनकार जैमिनिका सिद्धान्त यह है कि वेद-विहित पुण्यजनक याग-यज्ञ इत्यादि कर्मोंके द्वारा दुःखकी निवृत्ति एवं सुखकी प्राप्ति होती है।

श्रीव्यासदेवका मत—जो भी हो, इन सभी उपायोंको आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति और आत्यन्तिक सुख-प्राप्तिका कारण नहीं माना जा सकता। सर्वदर्शन-परमाचार्य भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनने इन सभी मतोंका खण्डन करके सर्वेश्वररूपमें ख्यात पुरुषोत्तमके स्वरूपतः एवं गुणतः सर्वथा परिज्ञान एवं उससे प्राप्त आत्मतत्त्व-ज्ञान—इसीको आत्यन्तिक दुःख-निवृत्तिका कारण निर्णय किया है। 'वेदेषु इत्यादि' के द्वारा भाष्यकारने उपरोक्त वर्णित सभी मतोंको दोषपूर्ण बतलाया है।



॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

सम्बन्धतत्त्वात्मक

प्रथमः अध्यायः

प्रथमः पादः

(ब्रह्मे समन्वयाध्याय)

१—जिज्ञासाधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—वेदेषु खलु कर्मणो निखिलपुमर्थहेतुत्वं, विष्णोस्तु कर्माङ्गत्वं, स्वर्गादेः कर्मफलस्य नित्यत्वं, जीवस्य प्रकृतेश्च स्वतः कर्त्तृत्वं, परिच्छिन्नस्य प्रतिबिम्बस्य भ्रान्तस्य वा ब्रह्मण एव जीवत्वं, चिन्मात्र-ब्रह्मात्मकत्वधीमात्रादेवास्य जीवस्य संसृतिविनिवृत्तिरित्यापाततोऽर्था दुर्मतिभिः प्रतीयन्ते। तानिमान् पूर्वपक्षान् विधाय परस्य विष्णोरिह स्वातन्त्र्यसर्वकर्त्तृत्वसार्वज्ञ्य-पुमर्थत्वादिधर्मकविज्ञानस्वरूपत्वं निरूप्यते। तथाहि, ईश्वरजीवप्रकृतिकालकर्माणि पञ्चतत्त्वानि श्रूयन्ते। तेषु विभुचैतन्यमीश्वरोऽणुचैतन्यन्तु जीवः। नित्यज्ञानादि-गुणकत्वमस्मदर्थत्वञ्चोभयत्र। ज्ञानस्यापि ज्ञातृत्वं प्रकाशस्य स्वप्रकाशकत्ववदविरुद्धम्। तत्रेश्वरः स्वतन्त्रः स्वरूपशक्तिमान् प्रवेशनियमनाभ्यां जगद्विदधत् क्षेत्रज्ञभोगापवर्गौ वितनोति। एकोऽपि बहुभावेनाभिन्नोऽपि भक्तिव्यङ्ग एकरसः प्रयच्छति चित्सुखं स्वरूपम्। जीवात्मानस्त्वनेकावस्था बहवः। परेशवैमुख्यात्तेषां बन्धस्तत्साम्मुख्यात् तु तत्स्वरूपतद्गुणावरणरूपद्विविधबन्ध-विनिवृत्तिस्तत्स्वरूपादिसाक्षात्कृतिः। प्रकृतिः सत्त्वादिगुणसाम्यावस्था तमोमायादिशब्दवाच्या तदीक्षणावाप्तसामर्थ्या विचित्रजगज्जननी। कालस्तु भूतभविष्यद्वर्त्तमानयुगपच्चिरक्षिप्रादि-व्यवहारहेतुः क्षणादिपरार्द्धान्तश्चक्रवत् परिवर्त्तमानः प्रलयसर्गनिमित्तभूतो जडद्रव्यविशेषः। ईश्वरादयश्चत्वारोऽर्था नित्याः। *'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामिति'* (श्वे॰ ६/१३), *'गौरनाद्यनन्तवति'* (मन्त्रिक ५) इति। *'सदेव सौम्येदमग्र आसीदिति'* (छा॰ ६/२/१) श्रुतेः। जीवादयस्तु तद्वश्याश्च। *'स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिः, ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद् यः।*

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः॥' (श्वे॰ ६/१६) इति श्वेताश्वतर-वचनात्। कर्म च जडमदृष्टादिशब्दव्यपदेश्यमनादि विनाशि च भवति। चतुर्णामेषां ब्रह्मशक्तित्वादेकं शक्तिमद् ब्रह्मेत्यद्वैतवाक्येऽपि सङ्गतिरितीमेऽर्थाश्चतुर्लक्षण्यामस्यां यथास्थलं प्रकाश्यन्ते। लक्षणान्यध्यायाः। तदर्थात्मके श्रीभागवते विव्रियते—*'भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले। अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्॥ यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्। परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते॥ अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे। लोकस्याजानतो व्यासश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥'* (श्रीमद्भा॰ १/७/४-६) इति। *'द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च। यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥'* (श्रीमद्भा॰ २/१०/१२) इति चैवमादिभिः। अस्य सूत्रार्थत्वञ्च स्मर्यते। *'अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणाम्'* इति। तत्र प्रथमे लक्षणे सर्वेषां वेदानां ब्रह्मणि समन्वयः। द्वितीये सर्वशास्त्राविरोधः। तृतीये ब्रह्माप्तिसाधनानि। चतुर्थे तु तदाप्तिः फलमिति। यत्र निष्कामधर्मनिर्मलचित्तः सम्प्रसङ्गलुब्धः श्रद्धालुः शान्त्यादिमान् अधिकारी। सम्बन्धो वाच्यवाचकभावः। विषयो निरवद्यो विशुद्धानन्तगुणगणोऽचिन्त्यानन्त शक्तिः सच्चिदानन्दः पुरुषोत्तमः। प्रयोजनन्त्वशेष-दोषविनाशपुरःसरस्तत्साक्षात्कार इत्युपरि स्पष्टं भावि। यस्यां खलु विषयसंशयपूर्वपक्ष-सिद्धान्तसङ्गतिभेदात् पञ्च न्यायाङ्गानि भवन्ति। न्यायोऽधिकरणं, विषयो विचारयोग्यवाक्यं, सङ्गतिरिह शास्त्रादिविषयतया बहुविधाऽपि न वितायते, विषयावगतौ स्वयमेव विद्योतनात्। इत्येवं स्थिते ब्रह्मजिज्ञासाधिकरणं तावत् प्रवर्त्तते। *'यो वै भूमा तत् सुखं नान्यत् सुखमस्ति, भूमैव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य'* इति (छा॰ ७/२३/१), *'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि'* (बृ॰आ॰ २/४/५) इति च श्रूयते। निदिध्यासितव्यो जिज्ञासितव्यः इति भवति संशयः। अधीतवेदस्य पुंसो धर्मज्ञस्य ब्रह्मजिज्ञासा युक्ता न युक्ता वेति? *'अपामसोमममृता अभूम्', 'अक्षयं ह वै चातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवती'* इत्यादिषु धर्मैरमृतत्वाक्षयसुखत्वश्रवणान्नयुक्तेति पूर्वस्मिन् पक्षे प्राप्ते भगवान् बादरायणो व्यासः प्रारिप्सितस्य शास्त्रस्यादिमं सूत्रमिदमवतारयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—सम्पूर्ण वेदमें ही कर्ममात्रको समस्त प्रकारके पुरुषार्थोंका (भुक्ति एवं मुक्तिका) कारण कहा गया है। विष्णु उस कर्मके अङ्ग अर्थात् उपकारक अथवा उद्देश्यीभूत देवता हैं। स्वर्ग इत्यादि कर्मफल नित्य हैं। जीवात्मा एवं प्रकृति स्वाधीन रूपसे ही कार्य करते हैं। स्वरूपतः, कालतः एवं देशतः परिच्छिन्न (सीमाबद्ध) बुद्धि-दर्पणमें चित्प्रतिबिम्ब अथवा अविद्यामूढ़ ब्रह्म ही जीवात्मा एवं जीवके स्व-स्वरूपज्ञान अर्थात् 'मैं चिन्मात्र स्वरूप हूँ', 'मैं ही ब्रह्म हूँ'

इस प्रकारके तत्त्वज्ञानसे ही जीवकी संसार-निवृत्ति अथवा मुक्ति होती ही है—ऐसी दुर्मतिसे युक्त व्यक्ति आपातदृष्टिसे (ऊपर-ऊपर-से) इन सब मतोंको देखा करते है। इन सब मतोंको पूर्वपक्ष करके उत्तरपक्ष अथवा सिद्धान्त रूपमें पुरुषोत्तम विष्णुका ही इसमें स्वतन्त्रत्व, (अन्योंसे निरपेक्ष रूपमें कर्त्तृत्व), सर्वकर्त्तृत्व, सर्वज्ञत्व, भुक्ति अथवा मुक्तिरूप पुरुषार्थदातृत्व और विज्ञानस्वरूपत्वका निरूपण किया गया है। ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म—ये पाँच तत्त्व ही शास्त्रोंमें सुने जाते हैं। इनमें विभुचैतन्य ईश्वर हैं, अणुचैतन्य जीव हैं। दोनों आत्माओंका ही नित्य ज्ञान, नित्य आनन्द इत्यादि गुण और अस्मद् शब्द वाच्यत्व अर्थात् 'मैं' इस बोधका विषयत्व है। यदि कहो कि जो ज्ञाता है, वे ज्ञानस्वरूप किस प्रकार हो सकते हैं? तो इसमें कोई विरोध अर्थात् असमञ्जस नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार प्रकाशक प्रदीपादि धट-पटादि दूसरी वस्तुओंका प्रकाशक है और स्वयंका भी प्रकाशक है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप होनेपर भी आत्मा ज्ञाता है।

ईश्वर-तत्त्व—इनमें ईश्वर स्वाधीन (कर्म-कालादिसे निरपेक्ष) एवं स्वरूप-शक्तिमान हैं। वे स्वेच्छासे प्रकृतिमें प्रवेश करके प्रकृतिको नियमनी-शक्ति द्वारा नियमबद्ध करके जगत्की सृष्टि करते हैं और जीवको भोग एवं मुक्ति दान करते हैं। ईश्वर एक होकर भी, बहुत प्रकारसे अभिन्न होकर भी गुण-गुणीरूपमें और देह-देहीरूपमें विद्वत प्रतीतिसे प्रकाशित होते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जगत्में गुणसे गुणी पृथक् होता है, देह और देही पृथक् होता है, परन्तु श्रीभगवान् एक होकर भी बहुत प्रकारसे गुण-गुणीरूपमें और देह-देहीरूपमें अभिन्न हैं। यह विद्वत प्रतीतिकी विषय-वस्तु है। जो अत्यक्त अर्थात् अवाडके मन गोचर होनेपर भी एकमात्र भक्ति द्वारा ग्राह्य हैं। एक रस अर्थात् एक आनन्दमय होकर भी स्वरूपभूत ज्ञान और आनन्द जीवको वितरण करते हैं। यही ईश्वर-तत्त्व है।

जीव-तत्त्व—परमात्मा एक हैं, परन्तु जीवात्मा बहुत हैं एवं नाना अवस्थाओंसे युक्त हैं। ईश्वरसे विमुखता ही जीवोंके बन्धनका कारण है अर्थात् उसमें ईश्वरके प्रति भक्ति-प्रवणताका अभाव है। जीव जब ईश्वरके सम्मुख होता है, तब जीवका स्वरूपावरण और नित्य बद्ध,

मुक्त स्वरूप-गुणका आवरण भी कट जाता है और उसका स्वरूप-साक्षात्कार घटित होता है।

प्रकृति-तत्त्व—सत्त्व, रज और तमोगुणकी साम्यावस्था ही प्रकृति है अर्थात् जब प्रकृतिके गुण सत्त्व, रज और तम—इनमें कोई विक्षोभ अथवा विकार घटित नहीं होता, ऐसी अवस्थासे जो युक्त है, वह प्रकृति है। इस प्रकृतिको 'तमः' शब्दसे अथवा 'माया' शब्दसे, या अविद्यादि शब्दसे अथवा अव्याकृतादि शब्दसे अभिहित किया जाता है। यह परमेश्वरके ईक्षणसे अथवा इच्छासे अथवा कटाक्षसे महतत्त्व इत्यादि रूपोंमें परिणामका सामर्थ्य प्राप्त करके स्थावर-जङ्गमात्मकरूप विचित्र जगत्‌की सृष्टि करती है।

काल-तत्त्व—काल एक जड़-पदार्थ है। इसीके द्वारा अतीत भविष्यत् और वर्त्तमान, युगपत् (समकाल), चिर (विलम्ब), क्षिप्र (द्रुत) इत्यादि लौकिक व्यवहार होते हैं। क्षणसे परार्द्ध तक चक्रके समान परिवर्त्तनशील यह काल प्रलय और सृष्टिका निमित्त कारण है। ईश्वर, प्रकृति, जीवात्मा और काल—ये चार पदार्थ नित्य हैं। *'नित्यो नित्यानाम् चेतनश्चेतनानाम्'*—जो नित्योंका भी नित्य और चेतन पदार्थोंका भी चैतन्य-सम्पादक है—इस कथनसे अनादि-अनन्त वस्तुको ही जाना जाता है। श्रुति कहती है *'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'* अर्थात्, हे सौम्य श्वेतकेतु! इस चराचर विश्वकी सृष्टिसे पहले वे सद्‌रूपमें वर्त्तमान थे। इस प्रकार जीव, प्रकृति और काल ये सभी परमात्माके अधीन हैं। श्वेताश्वतरोपनिषदमें कहा गया है—*'स विश्वकृद्‌विश्वविदात्मयोनिः, ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद् यः! प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसार-मोक्षस्थितिबन्धहेतुरिति।'* अर्थात्, वे (ईश्वर) विश्व-स्रष्टा और विश्ववेत्ता ब्रह्मा इत्यादि जीवोंके उपादान हैं। वे सर्वज्ञ, कालके कारण, प्रशस्त सर्वोत्तम गुणोंके आधार, समस्त कलाओंमें कुशल, प्रकृति एवं क्षेत्रज्ञ पुरुषोंके अधिपति, सत्त्वादि गुणोंके नियन्ता तथा संसारके बन्धन, स्थिति एवं मुक्तिके कारण हैं।

कर्म-तत्त्व—कर्म जड़-पदार्थ है और अदृष्ट, नियति, दैव इत्यादि नामोंसे जाना जाता है। यह अनादि, परन्तु नश्वर है। उक्त चारों पदार्थ ब्रह्मकी ही शक्ति हैं। इसीलिए *'एकं शक्तिमद् ब्रह्म'* अर्थात्

सशक्तिक ब्रह्म ही अद्वितीय तत्त्व हैं—इस अद्वैत-वाक्यमें कोई भी विरोध नहीं है। इन समस्त विषयोंका वेदान्तदर्शनके चार अध्यायोंमें यथास्थान वर्णन होगा। अध्यायका नाम लक्षण है। श्रीमद्भागवत ग्रन्थ इसका भाष्यस्वरूप है, उसीमें इस तत्त्वकी विवृति हुई है। यथा *'भक्तियोगेन मनसि'* इत्यादि अर्थात् व्यासदेवने भक्तियोगके बलपर ही मनको समाधिस्थ किया था और उसी विशुद्ध मनमें पूर्ण पुरुष भगवान्‌का दर्शन किया था और मायाको भी अपाश्रित (शरणापन्न) रूपसे उनसे थोड़ी दूरीपर स्थित होकर ही भगवान्‌का आश्रय किये हुए देखा था। इस माया द्वारा मोहित होकर जीव स्वयंको सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंसे युक्त मानता है। यद्यपि यह जीव वस्तुतः इस मायासे अतीत है, फिर भी मायारचित अनर्थोंके जालमें पतित हो जाता है। अधोक्षज भगवान्‌के प्रति साक्षात् भक्तियोग ही इन अनर्थोंका निवारक है। इसका साक्षात् अनुभव करके अज्ञ जीवोंके हितके लिए श्रीव्यासदेवने सात्वत-संहिता अर्थात् वैष्णव-संहिता श्रीमद्भागवतकी रचना की। और भी, द्रव्यमित्यादि—द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव जिनके अनुग्रहसे अर्थात् अनुप्रवेशसे अपने-अपने कार्योंमें समर्थ होते हैं एवं जिनकी उपेक्षासे अर्थात् सम्बन्धके अभावसे विनाशको प्राप्त होते हैं अथवा असत्-कल्प अर्थात् कार्य करनेमें असमर्थ होते हैं, इत्यादि वाक्यों द्वारा उन्हीं व्यासदेवने जीवोंके अज्ञानकी निवृत्तिके लिए श्रीमद्भागवतको प्रकट किया है। श्रीमद्भागवत-संहिता ब्रह्मसूत्रका भाष्यस्वरूप है। यह *'अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणाम्'* इत्यादि गरुड़पुराणमें कहे गये वचनोंसे जाना जा सकता है। अब संक्षेपमें इस वेदान्तदर्शन-शास्त्रके प्रतिपाद्य अथवा वक्तव्य विषयको कह रहे हैं—तत्रेत्यादि। तत्र—उस चार अध्यायोंसे समन्वित ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायमें समस्त वेदका ब्रह्ममें समन्वय अर्थात् तात्पर्य, द्वितीय अध्यायमें समस्त शास्त्रोंके साथ विरोधाभाव (विरोधका अभाव), तृतीय अध्यायमें ब्रह्मप्राप्तिके साधन अथवा उपायोंका निर्देश एवं चौथेमें ब्रह्मप्राप्तिरूप फल अथवा पुरुषार्थका निरुपण हुआ है। जिनका चित्त निष्काम-धर्मानुशीलनसे रागद्वेषादिरूप मलसे विमुक्त हो गया है, जो सत्प्रसङ्ग लोलुप हैं, शास्त्रार्थमें दृढ़ विश्वास करनेवाले हैं तथा

शम, दम, तितिक्षा, विषयोंसे विरक्ति एवं तत्त्वजिज्ञासासे सम्पन्न हैं—वे ही इस शास्त्रके अधिकारी हैं। शास्त्र-प्रतिपाद्य ब्रह्म और शास्त्र—इन दोनोंका वाच्य-वाचक-रूप सम्बन्ध है। इस शास्त्रके प्रतिपाद्य विषय हैं—अनिन्दनीय अर्थात् अकलङ्क, विशुद्ध अनन्तगुणोंसे समन्वित, अचिन्त्य-अनन्त-शक्तियोंसे युक्त सच्चिदानन्द भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण। समस्त दोषोंका विनाश करते हुए इन्हीं भगवान् पुरुषोत्तमका साक्षात्कार ही इस ग्रन्थका प्रयोजन है। इस समस्त विषयको बादमें और भी स्पष्ट किया जायेगा। इस शास्त्रमें विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और सङ्गति भेदसे पाँच न्यायाङ्ग हैं।

न्याय शब्दका अर्थ है—अधिकरण। विषय अर्थात् विचारणीय वाक्य। सङ्गति—यद्यपि इस चतुर्लक्षणी ग्रन्थमें शास्त्र-सङ्गति इत्यादि बहुत प्रकारके भेद हैं, तथापि उनका विस्तारसे वर्णन नहीं किया है। इसका कारण है कि विषयका बोध होनेपर बोद्धा (जाननेवाले) के समीप वह स्वयं ही विवृत होगा। इस प्रकारकी स्थितिमें उपनीत (दीक्षित) होनेके बाद ब्रह्मजिज्ञासारूप अधिकरण (अंश विशेष) का आरम्भ हुआ है। जो भूमा-विपुल हैं, निरवशेष (सम्पूर्ण) हैं, देशतः, कालतः और स्वरूपतः परिच्छेद (सीमा) से रहित हैं, वे ही सुखस्वरूप हैं। उनसे अतिरिक्त अन्य कोई सुख नहीं है। जो ये भूमा हैं, वे ही सुखस्वरूप हैं, वे ही जिज्ञास्य हैं, इन्हीं भूमाको जाननेकी इच्छा करें। बृहदारण्यकोपनिषदमें पत्नी मैत्रेयीके प्रति महर्षि याज्ञवल्क्यकी उक्तिसे भी अवगत हुआ जा सकता है—"अरि मैत्रेयि। आत्माका ही दर्शन करो, उसीका श्रवण करो और उसीका मनन करो, यह आत्मा ही जिज्ञासाका (विचारका) विषय है।" यह विषय—वाक्यार्थ है। इसमें संशय है कि वेद-अध्ययनके बाद जीवको धर्मका ज्ञान होता है—इस धर्मज्ञानके पश्चात् उसकी ब्रह्मजिज्ञासा युक्तियुक्त है कि नहीं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं—कर्मकाण्डमें जब श्रुति कहती है—*'अपाम सोमममृता अभूम'*—हमने सोमयाग करके अमृतत्व प्राप्त किया है। *'अक्षयं ह वै चातुर्मास्याजिनः सुकृतं भवति'*—इस श्रुतिमें भी कहा गया है कि—जो चातुर्मास्य याग करते हैं उनके पुण्यका कभी क्षय नहीं हो सकता। इत्यादि श्रुतियोंसे बोध होता है कि धर्मकार्य द्वारा अमृतत्व और

अक्षय सुखकी प्राप्ति होनेपर फिर ब्रह्मजिज्ञासाका कोई प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार पूर्वपक्ष होनेपर भगवान् बादरायण वेदव्यास कर्त्तव्यत्व रूपमें अभीष्ट वेदान्तसूत्रकी अवतारणा कर रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—तेषु कर्मणो निखिलपुमर्थहेतुत्वं, कारीर्या यजेत वृष्टिकामः, पुत्रेष्ट्यो यजेत पुत्रकामः, ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः, आचार्यकुल-द्वेदमधीयीतेत्यादिश्रवणात्। विष्णोस्तु कर्माङ्गत्वं, विष्णुरूपांश्च यष्टव्या इत्यादिश्रवणात्। कर्मणो द्वे अङ्गे द्रव्यं देवता चेति। कुशघृतादिवत् विष्णोः कर्माङ्गत्वमाहुः। स्वर्गादेः कर्मफलस्य नित्यत्वं, *'अक्षयं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति।' 'अपामसोमम्'* इत्यादिश्रुतेः। जीवस्य स्वतः कर्त्तृत्वं, विज्ञानं यज्ञं तनुते; एष हि द्रव्यात् प्रेष्ठेत्यादिश्रुतेः। प्रकृतेः स्वतः कर्त्तृत्वं, अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपा इत्यादिश्रुतेः। परिच्छिन्नस्य ब्रह्मण एव जीवत्वं, इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत इत्यादि श्रुतेः। प्रतिबिम्बितस्य तस्य जीवत्वं, एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदित्यादिश्रुतेः। भ्रान्तस्य जीवत्वं, स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम्। स्त्रीरन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत् परितुष्टिमेतीत्यादिश्रुतेः। उपलक्षणमेतत् परमाणुवादासद्वादस्वभाव-वादानाम्। न्यग्रोधफलमद आहरेति, इदं भगवत इति, भिन्धीति, भिन्नं भगवत इति, किमत्र पश्यसीति, अत्र व्यद्रवे माधाना भगव इति, असदेवेदमग्र आसीन्न तद्वेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियतेत्यादिश्रुतिभ्यः। चिन्मात्रेत्यादि। तत्र कः शोकः को मोह एकत्वमनुपश्यत इत्यादि श्रुतिभ्यः। एषां सिद्धान्तार्थास्तु स्वपीठकभाष्याद्बोध्यः। आपातत इति। ऐदम्पर्यावधारणं विनाभूतात् ज्ञानादित्यर्थः। उभयत्रेति। ईश्वरे जीवे चेत्यर्थः। तत्रेश्वरस्याहमर्थत्वम्। *'अहमात्मा गुडाकेश'* इत्यादिष्वस्मदर्थात्मनोरभेदाभिधानात्। ननु महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेवचेत्यादावहमर्थस्य क्षेत्रज्ञत्वोक्तेः कथमीश्वरस्य तत्त्वमिति चेन्मैवं भ्रमितव्यम्, तस्य ततोऽनन्यत्वात्। अतएव *'सोऽकामयत बहुस्याम्'* इत्यादौ प्रधानमहदादिसर्गात् पूर्वमेव सोऽस्मदर्थतया श्रूयते। *'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि'* इति श्रुतिः। *'अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परं पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्'* इत्यादि श्रुतेश्च। श्रद्धात्मनो हरेरस्मदर्थत्वमवतारयति। तस्यानिवृत्तिश्चान्ते स्थित्युक्तेः। अथ जीवात्मनो-ऽप्यस्मदर्थत्वं *'विलीनोऽहमिति',* सुषुप्तौ *'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्'* इति तत्त्वेनैव तस्य परामर्शात्। यत् तु तस्यां स्वप्रकाश आत्मा। किन्तु पश्चाज्जातेनान्तः-करणेन सम्बन्धात् तत्त्वेन सोऽनुभूयत इत्याह तन्मन्दम्। अस्वाप्समित्युत्तमपुरुष-प्रयोगार्हस्य अस्मदर्थस्यैव तस्यां परामर्शात् न किञ्चिदवेदिषमित्यज्ञानाद्यंशे परामर्शाप-पत्तेश्च। न ह्यज्ञानादिकं निराश्रयमन्याश्रयं वा परामृश्यते अपि तु अस्मदर्थाश्रयमेव। इतरथा योऽहं श्रान्तोऽस्मि सोऽहं सुप्त्वा सुखी स्यां इतीच्छया तस्यां प्रवृत्तिः। योऽहं

सुप्तः सोऽहं जागर्मीति प्रत्यभिज्ञा च न स्यात्। किञ्चास्वाप्सीन्न किञ्चिदवेदीदिति विमर्शश्च स्यात्। किञ्च तत्रास्मदर्थापरामर्शे। एतावन्तं कालं सुप्तोऽहं वा अन्यो वेति सन्देहादिः स्यान्न तु निश्चय इति। तस्मादुभयोरहमर्थत्वं सिद्धम्। तत्र ज्ञानस्यापि ज्ञातृत्वं द्वितीये तृतीये च व्यक्ती भावि। अव्यक्तोऽपीति प्रत्यगपि भक्तिग्राह्य इत्यर्थः। प्रकृतिरिति। तस्येश्वरस्येक्षणेन कटाक्षेणावाप्तं बलं महदादिभावेन परिणाममें सामर्थ्यं यया सा इत्यर्थः। ईश्वरादयश्चत्वारोऽर्था नित्या इत्यत्र भाल्ववेयश्रुतिश्च—*'अथ ह वाव नित्यानि पुरुषः प्रकृतिरात्मा काल इति। अथ यान्यनित्यानि प्राणः श्रद्धाभूतानि भौतिकानि इति। यानि ह वा उत्पत्तिमन्ति तान्यनित्यानि। यानि ह वा अनुत्पत्तिमन्ति तानि नित्यानि। न ह्येतानि कदा नोत्पद्यन्ते नो विलीयन्ते पुरुषः प्रकृतिरात्मा काल इत्येषा।'* श्रुतिः। स विश्वकृदिति। विश्वकृतां द्रुहिणादीनामात्मनां जीवानां योनिरुपादानं सशक्तिकात् तस्मात् तेषामुत्पत्तेः। ज्ञः सर्ववित्। गुणी प्रशस्तगुणवृन्दकः। सर्ववित् यो निखिलकलाकुशलः। सदेवेत्यत्र कालस्यापि नित्यत्वं प्रलयेऽपि तस्य प्रतीतः। भक्तियोगेनेति श्रीभागवते सूतोक्तिः। सम्यक् प्रणिहिते समाधिं लब्धे। तदपाश्रयां ततो दूरतोऽवस्थित्वा तमाश्रयन्तीम्। यया मायया। तत्कृतं मायारचितम्। द्रव्यमुपादानम्। कर्मादिकं निमित्तम्। सन्ति कार्यक्षमा भवन्तीत्यथः। अस्येति श्रीभगवतस्य। स्मर्यते गारुडे—*'अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः। गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः॥ पुराणानां सामरूपः साक्षाद्भगवतोदितः। द्वादशस्कन्धयुक्तोऽयं शतविच्छेदसंयुतः। ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिध॥'* इति। श्रोतृप्रवृत्तये संक्षेपतस्तावच्छास्त्रार्थं दर्शयति। तत्रेति तस्यां चतुर्लक्षण्याम्। तदाप्तिर्ब्रह्मलाभः। यत्र यस्यां धर्मे। सत्यादीनिअग्निहोत्रादीनि च ग्राह्ययाणि। श्रद्धालुस्तदुपदिष्टवेदान्तवाक्यार्थदृढविश्वासवान्। शान्त्यादिमानित्यादिपदात् यमोपरतितितिक्षासमाधयः। एतेनानुरक्तस्यापि ज्ञाने अधिकारः, कर्मसु न पङ्ग्वादेरिति व्यञ्जिता। वाच्यं ब्रह्म; वाचकं शास्त्रं तद्भावः सम्बन्ध इत्यर्थः। विषयः शास्त्रप्रतिपाद्यः। तत्साक्षात्कारस्तत्प्राप्तिः। संशय एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानार्थविमर्शः। प्रतिकूलोऽर्थः पूर्वपक्षः। प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः। सङ्गतिः पूर्वोत्तरयोरर्थयोरविरोधः। सा तावत् शास्त्रसङ्गतिरध्यायसङ्गतिः पादसङ्गतिश्चेति। तत्र निखिल शास्त्रे ब्रह्मैव सपरिकरं विचार्यमिति शास्त्रसङ्गतिः। अध्यायसङ्गतिस्तु तत्र प्रथमे लक्षणे सर्वेषां वेदानामित्यादिना दर्शितास्ति। पादसङ्गतयस्तु प्रतिपादं दर्शिताः सन्ति। पूर्वोत्तराधिकरणयोर्मिथोऽवान्तरसङ्गतयश्च षट् सम्भवन्ति। आक्षेपसङ्गतिः, दृष्टान्तसङ्गतिः, प्रतिदृष्टान्तसङ्गतिः, प्रसङ्गसङ्गतिः, उपोद्घातसङ्गतिः, अपवादसङ्गतिश्चेति। पूर्वाधिकरणे सिद्धान्तयुक्तिमुत्तराधिकरणे पूर्वपक्षयुक्तिञ्चान्यत्राक्षेपादिकं योज्यम्। वक्ष्यमानमर्थं मनसि निधाय तदर्थमर्थान्तरवर्णनमुपोद्घातः। तदुक्तं, चिन्तां, प्रकृति–सिद्धार्थामुपोद्घातं विदुर्बुधा इति। आश्रयाश्रयिभावादयोऽप्यत्र सङ्गतयो बोध्याः। एता यथास्थलं व्यञ्जयिष्यामः। विषयावगताविति। शास्त्राध्यायपादानामधिकरणानाञ्चार्थप्रतीतौ

सत्यामित्यर्थः। विद्योतनात् स्फुरणात्। एकत्रिंशत्सूत्रस्यैकादशाधिकरणस्य प्रथमपादस्य व्याख्यानमारभते— *'यो वै भूमा'* इति। विपुलसुखरूपा हरिर्जिज्ञास्य इत्यर्थः। आत्मा वा इति आत्मा परेशः *'अतति व्याप्नोति'* इत्यादिव्युत्पत्तेः। ध्यानमिति। साङ्गं वेदमधीत्य तस्य फलवदर्थावबोधकत्वं वीक्ष्य तन्निर्णये स्वयं प्रवर्त्तत इति। श्रवणस्य प्राप्तत्वादनुवादः। श्रवणप्रतिष्ठार्थत्वान्मननस्यापि सः। तस्मान्निदिध्यासनमेव विधीयत इति व्याचक्षते। तदिदं विभाव्यम्। धर्मज्ञस्य निश्चितकर्मतत्फलस्वरूपस्य। अपामेति। सोमरसपानेनामरत्वं वाक्यार्थः। अक्षयमिति। चातुर्मास्येन कर्मणा य इष्टवान् तस्य सुकृतमक्षयमविनाशि भवतीत्यर्थः॥

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—कर्म समस्त पुरुषार्थका हेतु है, 'वेदेषु'—यह बात वेदमें प्रकट हुई है। यथा *'कारीर्या वृष्टि कामो यजेत्'*—वर्षाकी कामनावाले व्यक्ति 'कारीरी' याग करेंगे। *'पुत्रेष्टया पुत्रकामो यजेत'*—पुत्रकी कामनावाले पुत्रेष्टि याग करेंगे। *'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्'*—जिन्हें स्वर्गकी अभिलाषा है, वे ज्योतिष्टोम याग करेंगे। *'आचार्यकुलाद्वेदमधीयीत'*—आचार्य-गृहसे वेदोंका अध्ययन करें, इत्यादि कर्मोंकी फलश्रुतियोंके विषयमें वेदसे जाना जा सकता है। *'विष्णोस्तु कर्माङ्गत्वम्'*—यागादि कर्मोंके दो अङ्ग हैं—एक द्रव्य और दूसरा देवता। इनमें समस्त कर्मोंमें ही विष्णु देवता हैं, क्योंकि विष्णु ही इन्द्रादिरूपोंमें वर्त्तमान हैं। श्रुतिमें कहा गया है— *'विष्णुरूपाश्चयष्टव्याः'* अर्थात् विष्णुरूपमें देवतओंका याग करें। विष्णु कुश-घृतादिके समान कर्मके अङ्ग अर्थात् साधक हैं—ऐसा याज्ञिकगण कहते हैं। *'स्वर्गादेः कर्मफलस्य नित्यत्वम्'*—स्वर्ग इत्यादि कर्मफल नित्य अर्थात् अविनश्वर हैं। श्रुति ही इसका प्रमाण है यथा— *'अक्षयं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति'* अर्थात् जो चातुर्मास्य यज्ञ करते हैं, उनका पुण्यफल अक्षय होता है। इसी प्रकार *'अपाम सोमम् अमृता अभूम्'* अर्थात् हमने सोमरसका पान किया है, इसलिए अमृतत्व प्राप्त किया है।

जीवात्माका कर्त्तृत्व स्वाधीन है, क्योंकि श्रुति कहती है— *'विज्ञानं यज्ञं तनुते'*—विज्ञान आत्मा यज्ञका उत्पादन करे। *'एष हि द्रव्यात् प्रेष्ठः'*—यह आत्मा द्रव्यसे प्रियतर है। प्रकृतिका भी स्वाधीन कर्त्तृत्व है। श्रुति यही बात कहती है— *'अजामेकां लोहितत्यादि'* अर्थात् प्रकृति नित्य है। वह लोहितवर्णा अर्थात् रजोगुणमयी है। पुनः यह

शुक्ला—सत्त्वागुणात्मिका है, तथा कृष्णा—कृष्णवर्णा-तमोरूपिणी भी है। यह 'वहवीः प्रजाः'—बहुत-से पदार्थोंकी (भोगके द्रव्योंकी) 'सृज्यमानां' अर्थात् सृष्टि करती है। ब्रह्मका परिच्छिन्न होना ही जीवत्व है, जैसा कि श्रुति कहती है—*'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप इयते।'* इन्द्र—परमात्मा, मायाभिः—नाना प्रकारकी माया द्वारा, बहुरूपः—बहुरूपी ऐन्द्रजालिकके समान, इयते—प्रतीत होते हैं। *'प्रतिबिम्बितस्य तस्य जीवत्वम्'*—प्रतिबिम्बित ब्रह्मका जीवत्व है, श्रुति ही इसका प्रमाण है यथा—*'एक एव हि भूतात्मा'* इत्यादि। अर्थात् एक ही आत्मा प्रत्येक देहमें प्रत्यगात्म रूपमें विराजमान है। यह प्रतीति भेदसे एक अथवा अनेक प्रकारसे प्रतीत होती है। श्रुतिमें कहा गया है—एक ही जलपात्रमें प्रतिबिम्बत चन्द्र जिस प्रकार एकरूपमें और वही बहुत-से जलपात्रोंमें बहुसंख्यकरूपोंमें प्रतीत होता है। भ्रान्त ब्रह्म ही जीवात्मा है, कहा गया है कि *'स एव मायापरिमोहितात्मा'* इत्यादि। अर्थात् वह ब्रह्म ही माया द्वारा भ्रान्तस्वरूप होकर शरीर परिग्रह (धारण) करके समस्त कार्य करता है। जाग्रत दशामें वह स्त्री एवं अन्न-पानादि नाना प्रकारके भोगों द्वारा तुष्टि प्राप्त करता है। मात्र इतना ही नहीं, इस मतमें नैयायिकों द्वारा सम्मत परमाणुकारणतावाद है और अद्वैतवादियोंका असद्वाद अथवा मिथ्यावाद भी है। तथा यहाँ स्वभाव-कारणतावादके प्रति भी कटाक्ष किया गया है। इस मतके प्रतिपक्षमें समस्त श्रुतियाँ हैं—*'न्यग्रोधफलमिद-माहव'* अर्थात् 'यह वट-फल लेकर आओ' कहनेपर शिष्य वह फल लाया और कहने लगा—'इदं भगवः', हे भगवन्! यह रहा वट फल। तब गुरुने कहा—'भिन्दि', इसे तोड़ डालो। शिष्यने कहा—'भिन्नं भगवः', तोड़ दिया। गुरु—'किमत्र पश्यसि', इसमें क्या देख रहे हो? शिष्य—'अत्र व्यद्रवे माधानाः' अर्थात् इसमें टूटे-फूटे जौ हैं। 'असदेवेदमग्रमासीत्' अर्थात् प्रलयके बाद, सृष्टिसे पूर्व यह चराचर विश्व असत् ही था अर्थात् उस समय कुछ नहीं था, सब शून्य था। 'न तद् वेदं तर्हयव्याकृतमासीत्' अर्थात् कुछ भी जाना नहीं जाता, इसलिए तब सब कुछ अव्याकृत—अव्यक्त अर्थात् सब कुछ नाम-रूपसे हीन था। बादमें यह अदृश्य विश्व नाम-रूप द्वारा व्यक्त किया गया। इन सभी श्रुतिवचनोंका सिद्धान्त-अर्थ [श्रीबलदेव प्रभु

द्वारा] स्वयं रचित भाष्यपीठकसे बोद्धव्य है। यह जो भ्रान्त जीवका सृष्टिकर्त्तत्व है, वह आपात्-दृष्टिसे कहा गया है। किन्तु तत्त्वज्ञानके बाद यह अन्यथाभूत होता है। जीव और ईश्वर दोनोमें अहमर्थत्व अर्थात् 'मैं' बोध है। ईश्वरका अहमर्थत्व अर्थात् 'अस्मद्' शब्द वाच्यत्व है। श्रीमद्भागवत प्रमाण-वाक्यसे इस प्रकारसे सङ्गत है—*'अहमात्मा गुडाकेश! सर्वभूताशयस्थितः'* अर्थात् मैं परमात्मा सब प्राणियोंमें प्रत्यगात्मरूपमें अवस्थित हूँ। यहाँपर ईश्वर 'मैं' पदके विषय हैं। आत्मासे अभिन्नरूपमें कथनके कारण यह उक्ति सङ्गत है। आपत्ति यह है कि 'महाभूतानि' इत्यादि वाक्यमें श्रीभगवान्‌ने कहा है—पञ्चमहाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, प्रकृति—इनमें क्षेत्रज्ञको 'अहम्' पदका वाच्य माना जाता है, तब ईश्वर किस प्रकारसे आत्मस्वरूप हैं? यदि ऐसा कहते हो तो यह भूल होगी, ऐसा समझना भी नहीं। कारण यह है कि जीव ईश्वरसे भिन्न नहीं है, इसलिए ही *'सोऽकामयत् बहुस्याम्'* अर्थात् परमात्माने इच्छाकी कि 'मैं बहुत हो जाऊँ', इत्यादि श्रुतिसे प्रकृति, महतत्त्व इत्यादि प्राकृतिक अथवा वैकृतिक सृष्टिसे पहले ही श्रुतिमें परमात्माका 'मैं'-बोध जो अस्मदर्थरूपमें है, वह पाया जाता है। अन्य श्रुति भी कहती है—*'तदात्मानमेवैदहं ब्रह्मास्मीति'* तब आत्माको ही उन्होंने ज्ञान किया कि—मैं ही ब्रह्म हो गया हूँ। *'अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्। पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्।'* अर्थात् सृष्टिके पूर्वमें एकमात्र मैं ही था, उस समय और कुछ भी न था। जो सत् अर्थात् स्थूल है एवं जो असत् अर्थात् सूक्ष्म है, उस सदसत्‌से परे ब्रह्म भी मेरेसे भिन्न न था। बादमें अर्थात् सृष्टिके परवर्ती कालमें यह जो परिदृश्यमान प्रपञ्च है—इन सभी स्वरूपोंमें मैं ही अवस्थित हूँ और इस प्रलयमें भी एकमात्र मैं ही अवशिष्ट रहूँगा। इत्यादि श्रुतिसे भी जीवके तदात्मकत्वका विचार हुआ है। तदुपरान्त शुद्धस्वरूप भाष्यकारने श्रीहरिके अस्मदर्थत्व-विषयकी अवतारणा की है।

'तस्या निवृत्तिश्चान्ते स्थित्युक्तेः' अर्थात् संसारके निवृत्त होनेपर भी वे रहते हैं—यह उक्ति है क्योंकि श्रुति कहती है—*'योऽवशिष्येत'* अर्थात् जो अवशिष्ट रहता है, मैं ही वह परमात्मा हूँ। अब इसके बाद

जीवात्माका भी अस्मद् शब्दका वाच्यत्व है, क्योंकि विलीनोऽहम्—मैं विलीन था। सुषुप्ति अवस्थामें भी *'सुखमहमस्वापसम्, न किञ्चिदवेदिषम्'*—मैं बहुत सुखपूर्वक सोया, कुछ पता ही नहीं चला। इस प्रकार उस समय भी उस जीवकी स्वानुभूति जानी जाती है। तब सुषुप्तिमें आत्मा स्वप्रकाश ही है, बादमें अर्थात् सुषुप्ति-भङ्गके बाद पुनः उठनेपर अन्तःकरणके साथ जो उसका सम्बन्ध होनेके कारण वह (जीवात्मत्व) तत्त्वस्वरूपमें अनुभूत होता है—ऐसा जो कोई कहते हैं—वे मन्द अर्थात् युक्तिहीन हैं, क्योंकि 'अस्वाप्सम्' इस पदमें 'स्वप्' धातुमें लुङ्के उत्तम पुरुषके एकवचनका प्रयोग किया गया है। इस प्रयोगके उपयुक्त जीवात्मा ही सुषुप्तिमें प्रतीत होती है और *'न किञ्चिदवेदिषम्'*—इस कथनमें अज्ञान इत्यादि अंशोमें भी जीवात्माकी ही प्रतीति सङ्गत होती है। 'कुछ पता ही नहीं चला' कहनेपर अज्ञान ही ज्ञानका विषय है। ये अज्ञान इत्यादि किसी अधिकरण अथवा विषयीके बिना अथवा अन्य किसीका आश्रय किये बिना रह नहीं सकते, क्योंकि सुषुप्ति कालमें सभी कुछ निद्रित अर्थात् लुप्त है। अतएव 'मैं' बोधके जो विषयी हैं, वह जीवात्मा ही उस अज्ञान-विषयक ज्ञानका आश्रय है—यह बात कहनी होगी। यह यदि अङ्गीकार करते हो तो *'योऽहं श्रान्त सुखी स्याम् इतीच्छया'*—मैं जो क्लान्त अथवा परिश्रान्त हो गया हूँ, वह 'मैं अब निद्राको प्राप्त करके सुखी हो जाऊँगा'—इस इच्छासे ही हमारी सुषुप्तिमें प्रवृत्ति होती हैं। अतएव जीवात्मा ही इसका विषयी है। इसके अतिरिक्त परमात्माको उस सुषुप्ति-कालीन अज्ञानका विषयी माननेपर और एक दोष यह होता है कि जो मैं सोया था, वही मैं जागा हूँ—यह 'मैं' का बोध एक ही आत्माकी प्रत्यभिज्ञा (पहचान) है—इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, बल्कि भिन्न आत्मा कहनेपर तो इस प्रत्यभिज्ञाकी अनुपपत्ति हो पड़ती है। और भी एक अनुपपत्ति है—*'अस्वाप्सीत्-न किञ्चिदवेदीत्'*—इस प्रकारका प्रयोग भी होता, किन्तु वैसा तो हुआ नहीं। और भी एक बात है, सुषुप्ति अवस्थामें यदि 'अस्मद्' वाच्य जीवात्मा प्रतीयमान नहीं होता, तो इतने समय तक मैं सोया या फिर दूसरा कोई सोया, इस प्रकारका सन्देह भी हो सकता है—'मैं सोया' ऐसा निश्चय नहीं होता। अतएव

यही सिद्धान्त है कि 'अस्मद्' शब्दके वाच्य जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही है। उस ज्ञानस्वरूप आत्माका ज्ञातृत्व अथवा ज्ञानकर्त्तृत्व दूसरे एवं तीसरे अध्यायमें सुस्पष्ट होगा। भाष्यस्थित 'अव्यक्तोऽपि' में 'अपि' शब्दका अर्थ प्रत्यगात्मा अन्तर्यामी क्षेत्रज्ञ पुरुष है एवं वे भक्ति द्वारा ग्राह्य हैं। अब प्रकृतिका स्वरूप निर्णीत किया जा रहा है। 'प्रकृतिरिति'—उस परमेश्वरकी कटाक्ष प्राप्तिमें प्राप्त-सामर्थ्य अर्थात् महदादिविकाररूप परिणाम विषयमें प्राप्त शक्ति ही प्रकृति है।

'ईश्वरादयश्चत्वारोऽर्था नित्या' ईश्वर—इत्यादि चारों पदार्थ नित्य हैं। इस विषयमें भाल्ववेय श्रुति कहती है—*'अथ ह वाव नित्यानि'*—अब जो नित्यरूपमें प्रसिद्ध हैं, उनका उल्लेख किया जा रहा है—पुरुष (ईश्वर), प्रकृति, जीवात्मा और काल। ये चारों नित्य हैं। जो अनित्य हैं, उसका भी वर्णन किया जा रहा है, जैसे—दस प्रकारके प्राण, श्रद्धा, क्षिति, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत और इन पाँच महाभूतोंसे उत्पन्न, जैसे पार्थिवादि देह, चक्षु आदि इन्द्रिय और द्वयणुकादि विषय जिनसे उत्पन्न होते है, वे अनित्य हैं एवं जो उत्पत्तिहीन हैं, उन्हें नित्य कहा गया है। ईश्वरादि चारों पदार्थ किसी भी समय उत्पन्न नहीं होते, कभी भी लयको प्राप्त नहीं होते। ये चार पदार्थ हैं—पुरुष, प्रकृति, आत्मा और काल—इस प्रकारसे श्रुति है। *'विश्वकृदविश्वविदात्मयोनिः'*—वे विश्वस्रष्टा ब्रह्मा इत्यादि प्रजापति प्रमुख जीवोंके उपादान कारण हैं, क्योंकि शक्ति-समन्वित उन परमेश्वरसे ही वे उत्पन्न हुए हैं। 'ज्ञः'—सर्ववेता, 'गुणी'—प्रशस्त गुणोंसे विशिष्ट, 'सर्वविद्'—जो समस्त कलाओंमें पारदर्शी हैं। 'सदैव सौम्यदम्' इत्यादि—इस श्रुतिमें कालको नित्य कहा गया है, क्योंकि प्रलयकालमें भी उसकी प्रतीति होती है। *'भक्तियोगेन'* इति—श्रीभागवत नामक ग्रन्थमें *'भक्तियोगेन'* इत्यादि कितने ही श्लोक श्रीसूतजीके मुखसे कहे गये हैं। *'मनसि सम्यक् प्रणिहिते'* अर्थात् मनके द्वारा समाधि प्राप्त करनेपर उनमें, *'तदपाश्रयाम्'*—उन परमात्मासे दूर रहकर जो माया उनका आश्रय करती है। 'यया'—जिस माया द्वारा 'तत्कृतम्'—उस माया द्वारा रचित, द्रव्य शब्दका अर्थ है उपादान कारण, जीवका कर्म है निमित्त कारण। 'सन्ति' अर्थात् कार्य उत्पन्न करनेमें समर्थ होता है।

'अस्य सूत्रार्थत्वम्'—अर्थात् इस भागवतकी वेदान्तसूत्रकी भाष्यरूपता। 'स्मर्यते'—गरुड़पुराणमें स्मृत अथवा कथित है, यथा—*'अर्थोऽयम्'* इत्यादि अर्थात् यह (श्रीमद्भागवत) ब्रह्मसूत्रका अर्थ है, महाभारतमें वर्णित विषयका अर्थ-निर्णायक है, गायत्री मन्त्रका भाष्यस्वरूप है और यह वेद-प्रतिपाद्य विषयों द्वारा परिपुष्ट है। वेदोंके सार सामवेदके समान यह समस्त पुराणोंका सारभूत है। श्रीभगवान्ने स्वयं अपने मुखसे इसका उच्चारण किया है। इसमें बारह स्कन्ध हैं और एक सौ उपाख्यानोंका वर्णन है। यह अठारह हजार श्लोकोंसे पूर्ण है। अब इसके बाद श्रोताकी श्रवण-प्रवृत्ति उत्पन्न करनेके लिए संक्षेपमे वेदान्तसूत्र-शास्त्रके प्रतिपाद्य विषयका वर्णन किया जा रहा है। शास्त्रमें कहा गया है—*'ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते। शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः स प्रयोजनः।'* अर्थात् सबसे पहले तो श्रोता किसी भी ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयको, शास्त्रके साथ उस विषयके सम्बन्ध और ग्रन्थपाठका फल जानकर तब उस ग्रन्थको सुननेमें प्रवृत्त होता है, इसलिए शास्त्रारम्भ करनेके पूर्व ही सम्बन्ध, प्रतिपाद्य और प्रयोजनका वर्णन करना उचित है। शास्त्रके इस नियामानुसार ही शस्त्रार्थका वर्णन करनेमें भाष्यकार प्रवृत हुए हैं। 'तत्र'—जिस चतुरध्यायी वेदान्तसूत्रमें, 'तदाप्तिः'—उन ब्रह्मका साक्षात्कार है, 'यस्यां'—जिस चतुरध्यायीमें निष्काम धर्मपदमें सत्य इत्यादि धर्म और अग्निहोत्र इत्यादि भी ग्रहणीय हैं, 'श्रद्धालुः'—उनके द्वारा उपदिष्ट वेदान्त-वाक्यार्थमें जो दृढ़विश्वासी हैं, 'शान्त्यादिमान्'—इसमें कहे गये 'आदि' पद द्वारा यम, उपरति, तितिक्षा और समाधि ग्राह्य है। इस वर्णनसे सूचित होता है कि केवल ईश्वरके प्रति भक्तिमान होनेपर ही उस श्रोताका तत्त्वज्ञानमें अधिकार होता है, पङ्गु इत्यादिके समान कर्ममें अधिकार नहीं है। शास्त्रवाच्य—ब्रह्म अर्थात् शास्त्र उन ब्रह्मका वाचक है। इस प्रकार वाच्य-वाचकरूप सम्बन्ध है। 'विषयः' अर्थात् शास्त्र जिसे प्रतिपादन करना चाहता है। 'तत्प्राप्तिः'—उनका (ईश्वरका) साक्षात्कार। न्याय अथवा अधिकरणमें पाँच अङ्ग रहते हैं, यथा—*'विषयोविषयश्चैव पूर्वपक्षश्च सङ्गति। सिद्धान्तश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणम् स्मृतम्',* इनमेंसे विषयकी बात कही गयी है। विषय अथवा संशय कहनेपर

एक धर्मीमें अनेक विरुद्ध विषयोंकी आलोचना होती है। जैसे—यह यही है, यह नहीं है इत्यादि प्रकारसे। प्रतिपाद्य विषयका प्रतिकूल अर्थ पूर्वपक्ष है। प्रमाणसिद्ध रूपमें स्वीकृत अर्थ ही सिद्धान्त है। सङ्गति शब्दका अर्थ है—पूर्वापर अर्थका विरोध न रहना। यह सङ्गति तीन प्रकारकी है यथा—शास्त्र-सङ्गति, अध्याय-सङ्गति और पाद-सङ्गति। इनमें शास्त्र-सङ्गतिसे तात्पर्य है कि समग्र शास्त्रमें सपरिकर ब्रह्म ही विचारणीय वस्तु हैं। अध्याय-सङ्गति *'जन्माद्यस्य यतः'* इस दूसरे सूत्रमें *'सर्वेषाम् वेदानाम् ब्रह्मणि तात्पर्यम्'* इत्यादि वाक्य द्वारा वर्णित हुई है। पाद-सङ्गति प्रत्येक अध्यायके प्रत्येक पदमें दिखायी गयी है। पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनों अधिकरणोंकी परस्पर अवान्तर-सङ्गति छह प्रकारकी हैं—आक्षेप-सङ्गति, दृष्टान्त-सङ्गति, प्रति-दृष्टान्त-सङ्गति, प्रसङ्ग-सङ्गति, उपोद्घात-सङ्गति और अपवाद-सङ्गति। पूर्वपक्षमें *'तन्मतसिद्धान्तयुक्ति'* और उत्तराधिकरणमें पूर्वपक्षयुक्तिको त्याग करके अन्य विषयमें आक्षेपादि सङ्गति प्रयोज्य है। उक्त छह प्रकारकी सङ्गतियोंमें उपोद्घात-सङ्गतिका प्रतिपाद्य यह है कि अभिप्रेत किसी एक विषयको मनमें रखकर उसके लिए अन्य विचारोंकी अवतारणा। कहा गया है कि प्रस्तावित विषयकी सिद्धिके लिए जो आलोचना अथवा समीक्षा की जाती है, उसका नाम उपोद्घात है।

आश्रय-आश्रयीभाव इत्यादि सङ्गतियोंके विषयमें भी यहाँ जान लेना चाहिये। उन्हें यथास्थलपर अभिव्यक्त किया जायेगा। 'विषयावगतौ' का अर्थ है—इस वेदान्त-शास्त्रके अध्यायों एवं अधिकरणोंका तात्पर्य प्रतीत होनेके बाद *'स्वयमेव विद्योतनात्'*—स्वयं ही प्रकाश होगा। प्रथम-पादमें इक्कतीस सूत्रोंमें ग्यारह अधिकरण हैं। अब इस प्रथम पादकी व्याख्याका आरम्भ *'यो वै भूमा'* इत्यादि वाक्यसे कर रहे हैं—

'यौ वै भूमेति'—विपुल सुखस्वरूप श्रीहरि ही जिज्ञास्य अर्थात् जाननेकी इच्छाके विषय हैं। आत्मा वा इति—आत्मा परमेश्वर है। 'अत्' धातुका अर्थ है—'व्याप्ति', वे सर्वव्यापी हैं। यही आत्मा शब्दका व्युत्पत्तिसे प्राप्त अर्थ है। *'आत्मा वाऽरे श्रोतव्यः'* इत्यादि श्रुतिके अन्तर्गत निदिध्यासन अर्थात् ध्यान, यही इस वाक्यमें विधेय है, क्योंकि श्रवणसे उसकी विधि प्राप्त होती नहीं है, अतएव वह अनुवाद

है। इसका कारण है कि श्रवणप्राप्त अर्थात् विधिव्यतिरेकसे भी अवगत वही कहते हैं—*'साङ्गं वेदमधीत्य'* इत्यादि। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—इन छह अङ्गोंके साथ वेदका अध्ययन करके अध्ययनकारी जान सकता है कि सभी वेद-वाक्योंमें फलके साथ अर्थ-बोधनका सामर्थ्य है। इसके बाद वह अध्ययनकारी उसकी परीक्षाके लिए स्वयं ही इसमें प्रवृत होता है, इसलिए तत्त्व-श्रवण उसके अधिगत है। अधिगत वस्तुके पुनः कथनका नाम अनुवाद है। इस प्रकार मनन भी उसके अधिगत है, क्योंकि श्रवणकी सफलताकी प्रतिष्ठाके लिए वह अध्यनकारी मनन भी करता है। अतएव मनन भी अनुवाद्य है। केवल ध्यान (निदिध्यासन) ही विधेय अर्थात् विधि द्वारा बोध होनेवाला कर्त्तव्य कार्य है। इस प्रकारकी व्याख्या कोई-कोई करते हैं, परन्तु यह चिन्तनका विषय है। 'धर्मज्ञस्य'—जिन्होंने वैदिक कर्त्तव्य कर्म और उसके फलका निश्चय किया है। 'अपामेत्ति' से तात्पर्य है—सोमरसपान द्वारा अमरत्वकी प्राप्ति। यही उक्त वाक्यका तात्पर्य है। 'अक्षयामिति'—चातुर्मास्य कर्म द्वारा जो इष्टि (यज्ञ) सम्पादन करते हैं, उनका 'सुकृत'—पुण्य 'अक्षयम्'—अविनाशी होता है।

सूत्र—अथातो ब्रह्मजिज्ञासा॥ १ ॥

सूत्रार्थः—अर्थात्—अनन्तर (अब) तत्त्वज्ञ व्यक्तिके सङ्गके बाद; अर्थात्—इस कारणसे काम्य-कर्मोंका फल सीमित एवं नश्वर होनेके कारण; ब्रह्मजिज्ञासा—ब्रह्मको जाननेकी इच्छा [युक्ता—युक्तियुक्त है]॥ १ ॥

सूत्रानुवाद—अब अर्थात् तत्त्वज्ञ व्यक्तिके सङ्गके उपरान्त (फलस्वरूप) यह जानकर कि काम्य-कर्मोंका फल सीमित एवं नश्वर है, ब्रह्मको जाननेकी इच्छा युक्तियुक्त है॥ १ ॥

गोविन्दभाष्य—अथातः शब्दावत्रानन्तर्यहेतुभावयोर्भवतः। अथानन्तरमतो ब्रह्मजिज्ञासा युक्तेत्यक्षरयोजना। विधिनाधीतवेदस्यापाततोऽधिगततदर्थस्याश्रमसत्यादिभिश्च विमृष्टसत्त्वस्य लब्धतत्त्ववित्प्रसङ्गस्याथ तत्प्रसङ्गानन्तरमतः काम्यकर्माणि परिमितानित्यफलानि, ब्रह्मस्वरूपं तु ज्ञानलभ्यमक्षयानन्तचित्सुखं नित्यज्ञानादिगुणकं नित्यसुखहेतुरिति प्रत्ययात् काम्यकर्म प्रहाणपुरःसरा चतुर्लक्षण्याः जिज्ञासा युक्तेत्यर्थः। नन्वधीताद्वेदादेव तत्तदवगतिः स्यादध्ययनस्यार्थावबोधनपर्यन्तत्वात्। ततस्तत्प्रहाणे तदुपासने च धीः

प्रवर्त्तते, किमनया चतुर्लक्षण्येति चेदुच्यते। आपाततः प्रतीतादर्थाद्वास्तवादपि संशयविपर्य्ययाभ्यां धीर्विभ्रंशते। सोपपत्तिकया तया तु अधीतया तावतिवर्त्त्य परमार्थे तस्मिन्नसौ स्थिरीभवतीत्यावश्यकं तदध्ययनं। अयमर्थः, आश्रमकर्माणि चित्तशोधकतया ज्ञानाङ्गानि भवन्ति। *'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति, यज्ञेन दानेन, तपसानशनेन'* इति बृहदारण्यकश्रुतेः (४/४/२२) सत्यतपोजपादीनि च *'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्'* इति मुण्डकश्रुतेः। (३/१/५) *'जप्येनैव च संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्नवा कुर्यान्मैत्रौ ब्राह्मण उच्यते'* इत्यादिस्मृतेश्च (मनुः २/८/७)॥ तत्त्ववित्प्रसङ्गः खलु ज्ञानहेतुः। नारदादीनां सनत्कुमारादिप्रसङ्गेन ब्रह्मजिज्ञासादर्शनात्, *'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'* इति स्मृतिभ्यश्च (श्रीगी॰ ४/३४)। काम्यकर्माण्यनित्यफलानि। *'तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते'* इति छान्दोग्यश्रुतेः (८/१/६)। ब्रह्मैव तु ज्ञानैकगम्यं *'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन, तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियम् ब्रह्मनिष्ठम्'* इति मुण्डकश्रुतेः (१/२/१२)। *अक्षयानन्तसुखञ्च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* (तै॰ २/१), *'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानाद्'* इति तैत्तिरीयकात् (३/६)। नित्यज्ञानादिगुणकञ्च *'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'* (श्वे॰ ६/८), *'सर्वस्य शरणं सुहृत्'* (श्वे॰ ३/१७), *'भावग्राह्यमनीडाख्यम्'* (श्वे॰ ५/१४) इत्यादि श्वेताश्वतरवचनात्। नित्यसुखदत्वञ्च *'तं पीठस्थं ये तु यजन्ति धीरास्तेषां सुखं शास्त्रवतं नेतरेषाम्'* इति गोपालोपनिषदुक्तेः (२३)। काम्यकर्मणां हेयता तु तृतीये वक्ष्यते (३/४/८)। तथा च। साङ्गं सशिरष्कं वेदमधीत्य तदर्थानापाततोऽधिगम्य तत्त्ववित्प्रसङ्गेन नित्यानित्यविवेकतोऽनित्यवितृष्णो नित्यविशेषावगतये चतुर्लक्षण्यां प्रवर्त्तत इति। न चात्र कर्मसम्पत्त्यानन्तर्यं शक्यं वक्तुं तद्वतामपि सत्सङ्गविरहिणां ब्रह्मजिज्ञासाया अदर्शनात्, तच्छून्यानामपि सत्यादिपूतानां सत्प्रसङ्गिनां दर्शनाच्च। न च नित्यानित्यविवेकादि, साधनचतुष्टयसम्पत्त्यानन्तर्यं शक्यं वक्तुं। प्राक् तस्याः दौर्लभ्यात् सत्प्रसङ्गशिक्षापरभाव्यत्वाच्च। तदवाप्तज्ञानाः खलु देशिकभावानुसारिणः सन्निष्ठादिभेदात् त्रिधा भवन्ति। निष्ठया कर्माण्याचरन्तः सन्निष्ठाः। लोकसंजिघृक्षया तान्याचरन्तः परिनिष्ठिताः। ध्यानमेवानुतिष्ठन्तो निरपेक्षाश्च। सर्वे ह्येते ब्रह्मविद्ययैव स्वभावानुसारिपरं ब्रह्म गच्छन्तीत्युपर्य्युपरि विशदीभविष्यति। *'नन्वोङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा, कण्ठं भित्त्वाविनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ'* इति स्मृतेर्मङ्गलमेवाथशब्दार्थः, शास्त्रारम्भे हि शिष्टा विघ्ननाशाय तदाचरन्तीति चेन्मैवं, ईश्वरस्य विघ्नाशङ्काविरहात्। तस्येश्वरत्वन्तु, *'कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्'* इति स्मृतेः। तथापि मङ्गलात्मकत्वात् तस्मात् कम्बुस्वनादिवत् तत् सम्भवेदिति तेनैव लोकोऽपि संगृहीतः। तस्मात् तादृशस्य पुंसस्तदनन्तरं तज्जिज्ञासा

युक्तेति। (अबिन्दुमस्तको योऽङ्कः सूत्रतो वृत्तितोऽपि सः। द्विबिन्दुमस्तावोध्यो-ऽधिकरणश्रितः)॥ १॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—प्रस्तुत सूत्रमें निहित 'अथ' एवं 'अतः'—इन दो शब्दोंका प्रयोग क्रमशः 'अनन्तर' एवं 'हेतु' अर्थमें हुआ है। सूत्राक्षरोंकी योजना इस प्रकार हैः अथ—अनन्तर (इसके उपरान्त); अतः—इस कारणसे ब्रह्मजिज्ञासा युक्तियुक्त है। सूत्रकारका तात्पर्य यह है कि 'अथ'—'विधिना' विधिपूर्वक, 'अधीतवेदस्य'—जिसने वेदका अध्ययन किया है, 'आपाततोऽधिगततदर्थस्य'—आपाततः (ऊपर-ऊपर-से) जिसने वेदका अर्थ भी जान लिया है, 'आश्रमसत्यादिभिश्च विमृष्टसत्त्वस्य'—चारों आश्रमोंके विधि-विधानको पालन करनेसे तथा सत्य, ज्ञान और तपस्यादिके आचरणसे जिसका चित्त शुद्ध हो गया है तथा जिसने तत्त्वविद् महापुरुषका प्रकृष्ट (वास्तविक) सङ्ग प्राप्त कर लिया है, ऐसे व्यक्तिके लिए उन तत्त्वविद् महापुरुषके सङ्गके पश्चात् ब्रह्मजिज्ञासा करना युक्तियुक्त है।

'अतः'—इसलिए। किसलिए? *'काम्यकर्माणीत्यादि'*—क्योंकि पुत्रादि प्राप्तिरूप काम्यकर्मसमूह सीमित एवं नश्वर फल देनेवाले हैं, किन्तु जो 'ब्रह्म' स्वरूप ज्ञानके द्वारा प्राप्त होने योग्य हैं, वह अक्षय, अनन्त, चित्सुख-स्वरूप, नित्यज्ञानगुणसे युक्त, नित्येच्छा एवं नित्य सुखादि गुणोंका आधार और उपासकके नित्य सुखका कारण हैं। इस प्रकारकी धारणा द्वारा समस्त काम्य-कर्मोंका परित्याग करनेके उपरान्त चतुर्लक्षणयुक्त (चार अध्यायोंसे युक्त) ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्त-युक्त दर्शनके द्वारा उन ब्रह्मकी जिज्ञासा युक्तियुक्त है।

पूर्वपक्ष या शङ्का—यदि कहो कि वेदके अध्ययनसे भी तो ब्रह्म-तत्त्वका बोध हो सकता है, क्योंकि यहाँ अध्ययन कहनेसे ही अर्थ-बोधको उदित करना समझना होगा और उस अध्ययन एवं अर्थ-बोधके फलस्वरूप काम्यकर्मोंका त्याग और ब्रह्मकी उपासनामें मति स्वतः ही प्रवृत्त हो जाती है, तब फिर चतुर्लक्षणीय अनुशीलन अर्थात् ब्रह्मसूत्रके अध्ययनकी आवश्यकता ही क्या रहती है?

समाधान—यद्यपि वेदाध्ययनसे आपाततः (ऊपर-ऊपर-से) वास्तव अर्थ प्रतीयमान होनेपर भी उन-उन विषयोंमें संशय एवं भ्रम-ज्ञानवशतः

बुद्धि भ्रमित रहती है, किन्तु इस युक्तिपूर्ण चतुर्लक्षणी (वेदान्त-दर्शन) का अध्ययन करनेसे संशय एवं भ्रान्तिका नाश हो जाता है और परमार्थ वस्तुमें मति दृढ़ एवं स्थिर हो जाती है। अतः इस चतुर्लक्षणी (चार अध्यायोंसे युक्त) ब्रह्मसूत्रका अध्ययन अति आवश्यक है।

तात्पर्य यह है कि वर्णाश्रमोचित कर्म चित्तकी शुद्धिके कारण हैं, इसलिए उन्हें ब्रह्मज्ञानका अङ्ग अर्थात् उपकारक कहा जाता है। इस विषयमें श्रुति प्रमाण है, यथा— *'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मण विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानशनेन'* (बृहदारण्यकोपनिषद ४/४/२२) अर्थात् जिन्होंने वेदाध्ययन किया है, ऐसे ब्रह्मचारीगण, 'तम् एतम्'—उस परमात्माको 'वेदानुवचनेन'—वेदार्थके अनुशीलन द्वारा; गृहस्थगण 'यज्ञेन दानेन'—यज्ञ और दानके द्वारा; तथा वनवासीगण 'तपस्या और अनशन'—उपवास और आहार-संयमके द्वारा 'विविदिषन्ति'—जानना चाहते हैं अर्थात् उस ब्रह्मज्ञानके उपायका अनुष्ठान करते हैं। इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद (३/१/५) में भी एक श्रुति है— *'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यमिति'*—अर्थात् उस परमात्माको सत्यवचन, तपस्या, यथार्थ ज्ञान, अग्निहोत्रादि कर्म और ब्रह्मचर्यके अनुष्ठानके द्वारा निश्चित ही प्राप्त किया जा सकता है। मनुस्मृति (२/८७) आदिमें कहा है— *'जप्येनैव च संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्नवा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते'*—अर्थात् ब्राह्मण मन्त्र-जपके द्वारा ही कृत-कृतार्थ होंगे अर्थात् सिद्धि प्राप्त करेंगे, इस विषयमें कोई सन्देह नहीं है। मन्त्र-जपनेवाला ब्राह्मण अग्निहोत्रादि यज्ञादिका अनुष्ठान करे अथवा न करे, वह सिद्ध हो जाता है। ब्राह्मणको सूर्यके समान माना गया है।

तत्त्वविदजनों अर्थात् ब्रह्मको जाननेवालोंका भलीभाँति सङ्ग निश्चित ही ज्ञानका हेतु है। ऐसा कहा गया है कि नारदादि मुनि एवं ऋषियोंने सनत्कुमारके उदिष्ट वास्तविक सङ्गसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था। श्रीमद्भगवद्गीता (४/३४) में श्रीभगवान्ने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

अर्थात् हे अर्जुन! ज्ञानका उपदेश देनेवाले गुरुके निकट प्रणिपात (आत्म-समर्पण), परिप्रश्न (तत्त्व-जिज्ञासा) और सेवाके द्वारा ब्रह्मज्ञानको समझो। तत्त्वदर्शी ज्ञानीगण तुम्हें उस ज्ञानका उपदेश करेंगे। इस प्रकार इन स्मृति-वाक्योंसे भी यह जाना जा सकता है कि तत्त्ववित्-प्रसङ्ग (तत्त्वविदजनोंका वास्तविक सङ्ग) ज्ञानका हेतु है।

काम्यकर्मोंका फल अनित्य होता है, इसका प्रमाण भी बहुत-सी श्रुतियोंमें देखा जाता है। छान्दोग्योपनिषद (८/१/६) में कहा गया है—*'तद्यथेह कर्मचित्तो...'* इत्यादि अर्थात् काम्यकर्म नश्वर हैं। किस प्रकार? जिस प्रकार इस जगत्में कर्मोंसे उपार्जित अभ्युदय (फल) क्षयको प्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार उस (पर) लोकमें भी पुण्योंसे उपार्जित स्वर्गादिका भी क्षय हो जाता है। मुण्डक श्रुति (१/२/१२) में कहा गया है—*'ब्रह्मैव तु ज्ञानैकगम्यमिति'* अर्थात् ब्रह्म एकमात्र ज्ञान द्वारा ही प्राप्य हैं। इसीलिए वेदज्ञ व्यक्ति कर्मोपार्जित लोक (गति) आदि सभीकी परीक्षा करके अर्थात् उन्हें नश्वर जानकर भोगोंसे विरक्त हो जाते हैं। 'अकृतः' अर्थात् नित्यलोक (नित्यवस्तु ब्रह्म) को 'कृतेन' अर्थात् सकाम अनित्य कर्मोंके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतएव साधक ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए हाथमें समिधा लेकर वेदवेत्ता एवं भगवान्के अनुभवसे युक्त गुरुके समीप जाय, तथा उनकी सेवा द्वारा उनसे ज्ञान उपार्जित कर ब्रह्मकी प्राप्ति करे। तैत्तिरियोपनिषदमें कथित है—अक्षयानन्तेति *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* (२/१), *'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानादिति'* (३/६) अर्थात् ब्रह्मका कभी भी नाश नहीं है, वे अनन्त सुखस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, सत्यस्वरूप और आनन्दस्वरूप हैं। इस प्रकार इन श्रुतियोंके द्वारा ब्रह्मके अक्षयत्व, अनन्तत्व एवं सुखरूपत्वका परिचय प्राप्त होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद (६/८) की उक्ति है—वे नित्यज्ञान, नित्य सुखादि गुणोंसे युक्त है, यह देखा जाता है यथा—*'परास्य शक्तिर्विविधैव'* (श्वे॰ ६/८), *'भावग्राह्यमनीडाख्यम्'* (श्वे॰ ५/१४), *'सर्वस्य शरणं सुहृत्'* (श्वे॰ ३/१७) अर्थात् परमात्माकी पराशक्ति विविध प्रकारकी है, जो ज्ञान, बल और क्रिया आदिके रूपमें सुनी जाती है। भगवान्में ये सभी शक्तियाँ नित्यसिद्ध और स्वाभाविक रूपसे उसी प्रकार विद्यमान रहती

हैं, जिस प्रकार अग्निमें उष्णता विद्यमान रहती है। भगवान् सभीके बन्धु एवं आश्रय हैं। वे अनिकेत अर्थात् विभु हैं। उन्हें एकमात्र भक्तिसे ही वशमें किया जा सकता है। वे उपासकको नित्य सुख प्रदान करनेवाले हैं। यह बात गोपालतापनी-उपनिषद (२३) में, सुस्पष्ट है, यथा—*'तं पीठस्थं ये तु ... इति'* अर्थात् जो ज्ञानीगण सिंहासनपर स्थित श्रीहरिकी उपासना करते हैं, उनका ही सुख चिरन्तन, शास्त्रवत और अविनश्वर है, अन्य प्रकारके योगियोंका नहीं। काम्य-कर्मोंकी हेयताका वर्णन तीसरे अध्यायमें किया जायेगा।

यहाँ तकके प्रबन्धमें यही प्रतिपादित किया गया है कि शिक्षादि छह अङ्गोंसे समन्वित तथा उपनिषदों सहित वेदोंका अध्ययन करनेके बाद आपाततः प्रतीयमान अर्थको जानकर तत्त्वज्ञ व्यक्तिका सङ्ग करें। तत्त्वज्ञ व्यक्तिके सङ्गके प्रभावसे विवेकपूर्वक नित्य-अनित्य वस्तुकी भिन्नताको समझे कि जगत् अनित्य है, ब्रह्म एकमात्र नित्य हैं। यह विवेक हो जानेपर अनित्य वस्तुसे तृष्णारहित अर्थात् विरक्त हो जाय और अन्ततः नित्य वस्तु ब्रह्मको विशेष रूपसे जाननेके लिए चतुर्लक्षणी ग्रन्थ वेदान्त-दर्शनके अध्ययनमें प्रवृत्त हो जाय। इसके बाद सूत्रोक्त 'अथ' शब्दके अर्थपर विचार होगा।

इस सूत्रमें यज्ञादि कर्म-निष्पत्तिके बाद ब्रह्मकी जिज्ञासा उचित है ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता। इसका कारण है कि कर्मादि करनेपर भी यदि सत्सङ्ग प्राप्त नहीं हो, तो ब्रह्मजिज्ञासाका उदय नहीं हो सकता, जब कि कर्म न करके भी सत्य, तप-जप इत्यादि आचरणोंसे विशुद्ध-चित्त होकर सत्सङ्ग प्राप्त होनेपर ब्रह्मजिज्ञासाका उदय होता देखा गया है। अद्वैतवादी कहते हैं कि नित्य-अनित्य वस्तुका विवेक; ऐहिक एवं पारलौकिक फल-भोगसे वितृष्णा (वैराग्य); शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान—यह षट्-सम्पत्ति; रूप, गुण, सम्पन्नता तथा मुमुक्षत्व—इस साधन चतुष्टयके पश्चात् ब्रह्म-जिज्ञासायुक्त होना उचित है। परन्तु ऐसा अर्थ भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि जीवको जब तक तत्त्वज्ञजनोंका सङ्ग प्राप्त न हो, उससे पहले इन चारों साधनोंकी सिद्धि होना दुष्कर है। तत्त्वविद् जनोंके सङ्गमें (साधुसङ्ग) शिक्षा प्राप्त होनेके पश्चात् ही साधन-सम्पत्ति

अथवा साधन-सिद्धि युक्तियुक्त है, अन्यथा नहीं। अतएव बिना साधुसङ्गके साधन-चतुष्टयरूप सम्पत्तिका व्यवधानरहित अधिकार कहना स्वीकार नहीं किया जा सकता।

साधुसङ्ग द्वारा विद्याप्राप्त व्यक्ति ही आचार्यके भावका अनुसरण करके तीन प्रकारके होते हैं—सनिष्ठ, परिनिष्ठित एवं निरपेक्ष। इनमें जो निष्ठाके साथ ऐकान्तिक भावसे कर्मका आचरण करते हैं, वे सनिष्ठ हैं; जो लोकसंग्रहके लिए अर्थात् अपने आचरणके द्वारा लोगोंको शिक्षा देनेकी भावनासे कर्म करते हैं, वे परिनिष्ठित हैं और जो अविचलित रूपमें केवल ध्यानमें ही निमग्न रहते हैं, उन्हें निरपेक्ष कहा जाता है। जैसा भी हो, इन सबको केवल ब्रह्म-विद्याके बलपर अपने-अपने स्वभावानुसार परब्रह्मकी प्राप्ति होती है—इस विषयमें बादमें विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायेगा।

इस समय आपत्ति यह है कि स्मृतिशास्त्रमें जो यह कहा गया है कि *'ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान् माङ्गलिकावुभौ॥'* अर्थात् पुराकालमें 'ॐकार' (प्रणव) एवं 'अथ' ये दो शब्द ब्रह्माजीके कण्ठको भेद करके निकले हैं—अतः ये दोनों शब्द मङ्गल अर्थके वाचक एवं मङ्गलप्रद हैं। इस प्रकारके स्मृतिवाक्यके कारण मङ्गल ही 'अथ' शब्दका अर्थ कहा जायेगा तथा शास्त्रके आरम्भमें शिष्टगण विघ्न-विनाशके लिए मङ्गलाचरण करते हैं, इसी सदाचारकी प्रामाणिकता स्वरूप मङ्गलार्थक 'अथ' शब्दका यहाँपर व्यवहार किया गया है।

इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि यह सब कहना ठीक नहीं है, क्योंकि साक्षात् ईश्वर श्रीवेदव्यासके लिए विघ्नकी आशङ्का हो ही नहीं सकती, तब विघ्नके निवारणार्थ मङ्गलाचरणकी प्रयोजनीयता ही किस प्रकार हो सकती है? *'कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुमिति'* अर्थात् कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ईश्वर हैं, उन्हें नारायण ही जानो (वि॰पु॰ ३/४/५)—इस प्रकार यह तथ्य स्मृतियों द्वारा प्रमाणित है। ऐसा होनेपर भी उनके द्वारा व्यवहृत सूत्रका प्रथम 'अथ' शब्द स्वाभाविक रूपसे मङ्गलात्मक है, क्योंकि यह 'अथ' शब्द शङ्खध्वनिकी भाँति मङ्गलको सूचित करते हुए लोक-संग्रह अर्थात् लोक-शिक्षाके

रूपमें भी उपदिष्ट हुआ है। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि निष्काम-कर्मादिके द्वारा विशुद्धचित्त पुरुषके लिए सत्सङ्गके बाद मङ्गलमय ब्रह्म-जिज्ञासाका होना युक्तिसङ्गत है। इस विषयमें एक कारिकाके द्वारा प्रथम पादका सार अति संक्षेपमें व्यक्त हो रहा है *'अबिन्दुमस्तको'* ... इत्यादि। जो अङ्क अथवा अध्याय सूत्र एवं वृत्तिसे हीन है, वह बिन्दुहीन मस्तक है। अतः इस अधिकरणका आश्रय करके जो परिच्छेद कहा गया, उसे द्विबिन्दुयुक्त मस्तक जानना चाहिये अर्थात् इस अध्यायमें सूत्र भी है और वृत्ति भी है॥ १॥

सूक्ष्मा-टीका—अथात इति। तदर्थस्य वेदार्थस्य। विमृष्टसत्त्वस्य विशुद्धचित्तस्येत्यर्थः। काम्यकर्मेति। काम्यकर्माणि पुत्रादिफलानि पुत्रेष्ट्यादीनि विहाय ब्रह्मज्ञानेच्छा युज्यत इत्यर्थः। अत्र इच्छाया इष्यमाण प्रधानं तादृशं ज्ञानं विधित्सितं। तच्च वाक्यार्थ ज्ञानादन्यदेवोपासनाशब्दवाच्यं। *'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत'* (बृ॰आ॰ ४/४/२१) इति श्रवणात्। *'इहात्मानमेव लोकमुपासीत'* (बृ॰आ॰ १/४/५), *'ओमित्येवात्मानं ध्यायेत निदिध्यासितव्य'* (बृ॰आ॰ १/४/७) इत्यादिवाक्यैकार्थात् विज्ञायेति वाक्यार्थ-ज्ञानमुपकारित्वादनूद्य प्रज्ञां कुर्वीतेत्युपासनलक्षणं ज्ञानं विधीयते। नन्वधीतादिति॥ तत्तदवगतिः काम्यकर्मणां परिमितानित्यफलत्वप्रतीतिःपरस्यहरेर्ज्ञानलभ्याक्षयानन्दत्वादि-प्रतीतिश्चेत्यर्थः। तत्प्रहाणे काम्यकर्म परित्यागे। तदुपासने ब्रह्मोपासने। ताविति संशयविपर्य्ययौ। अतिवर्त्त्य उल्लज्य्य निरस्येति यावत्। परमार्थे वास्तवे वस्तुनि असौ धीः स्थिरतामेतीत्यर्थः। पूर्वोक्ताननर्थान् सप्रमाणान् कर्त्तुं प्रयतते। अयमर्थ इति। *'तमेतमिति'*। एतं परमात्मानं। वेदानुवचनेन ब्रह्मचारिणः। दानयज्ञाभ्यां गृहिणः, तपोहनशनाभ्यां वनस्थयतयः। अनशनं भोजनसङ्कोचः। अत्र वेदानुवचनादीनि कर्माणि विविदिषुणामनुष्ठेयानि भवन्ति तेषां ज्ञानाङ्गत्वं प्रतीयते। सत्यतपोजपादीनि चेति ज्ञानाङ्गानि भवन्तीति च शब्देनोक्तं सत्येनेति सत्यभाषणेनेत्यर्थः। एष परमात्मा परमेश्वरः। *'जप्येनेति'* मनुवाक्यं। ब्राह्मणो जप्येन मन्त्रजप्येन संसिध्येत् कृतार्थो भवेत्। अन्यदग्निहोत्रादिकं, मैत्रः सूर्यसदृशः सूर्यदैवतोवेत्यन्ये। नारदादीनामिति भूमाधिकरणे विस्फुटीभावि। तद्विद्धीति। तत्परमात्मात्मरूपं। तद्यथेति। कर्मचितो दुर्गादिः। पुण्यचितः स्वर्गादिः। सोपपत्तिकत्वात् बलवदिदं वाक्यं। *'परीक्ष्येति'*। कर्मचितान् कर्मनिष्पादितान् लोकान् परीक्ष्य अनित्यान् वीक्ष्य तेषु कर्मसु ब्राह्मणो वेदाभ्यासरतो निर्वेदं विरागमायात् प्राप्नुयात्। ननु परमात्मलोकोऽपि कर्माभिर्लभ्यः स्यादतस्तानि तदर्थमनुष्ठेयानीति चेत् तत्राह नास्त्यकृत इति। अकृतो नित्यलोकः कृतेन कर्मणानास्ति न लभ्यते साधनसाध्ययोर्वैरूप्यादित्यर्थः। किन्तु ज्ञानेनैव लभ्यस्तयोः सारूप्यात्। एवमुक्तं मोक्षधर्मे, *'मृगैर्मृगाणां ग्रहणं पक्षिणां पक्षिभिर्यथा।*

गजानाञ्च गजैरेवं ज्ञेयं ज्ञानेन गृह्यत' इति। ज्ञानञ्च गुरोपसत्तिलभ्यमित्याह, *'तद्विज्ञानार्थम्'* इति। उपायनपाणिः सन् गुरुमुपसर्पेदित्याह, समिदिति। समिदग्निहोत्रार्था। अन्तःशुद्ध्यर्था वा बोध्या गुरुं विशिनष्टि, श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमिति। श्रोत्रियं वेदज्ञं। अन्यथा संशयं छेत्तुं न शक्नुयात्। ब्रह्मनिष्ठं भगवदनुभाविनं। अन्यथा तदुपदिष्टो हरिः शिष्यहृदि न स्फुरेत्। *'परास्य'* इति। स्वाभाविकी स्वरूपानुबन्धिनी। स्वरूपञ्च स्वभावश्च निसर्गश्चेत्यमरः। अग्न्युञ्चतावदस्य नैसर्गिकी शक्तिरस्ति। कीदृशीत्याह, ज्ञानेति। सम्वित्सन्धिनीरूपा क्रमात् सा बोध्या। श्रूयत इति सप्रमाणता दर्शिता। *'सर्वस्येत्यादि'।* शरण्यसौहार्दभक्तिवश्यतादयः सेव्यत्वहेतवो धर्माः प्रोक्ताः। अनीडाख्यं विभुमपीत्यर्थः। *'तम्'* इति। तं कृष्णं पीठस्थं सिंहासने विराजमानं। तथाचेति। साङ्गं शिक्षादिषडङ्गसहितं। सशिरस्कं सोपनिषादं। नित्यानित्येति जगद्ब्रह्मणोरनित्यत्वनित्यत्वाभ्यां भेदं विज्ञायानित्येजगति वितृष्णः सन् नित्यस्य ब्रह्मणो विशेषावगतये चतुरध्यायां निविष्टः स्यादित्यर्थः विशेषाश्चरूपगुणाभिधानधामपरिकरादयो बोध्याः। अथात् इत्यत्र तत्त्ववित्सत्प्रसङ्गानन्तर्स्यमथशब्दार्थो भाषितः। केचित् कर्मानन्तर्यमेव तदर्थं भाषन्ते तन्निराकर्त्तुमाह, न चात्र कर्मेति। तद्वतां कर्मसम्पत्तिमतां। तच्छून्यानां कर्मसम्पत्तिरहितानां। ननु यत्र कर्मसम्पत्तिविरहिणां सत्सङ्गादिमतां विद्यादयो वर्णयन्ते तत्रापि प्राग्भवे कर्मसम्पत्तिरूह्या। तस्याश्चित्तशोधकतया प्रमाणप्रतिपन्नत्वात्। न कर्मणेत्यादिश्रुतिस्तु कर्मणां साक्षान्मुक्तिहेतुत्वं निराकरोति। अतश्च कर्मानन्तर्य्यं नियतमिति चेत् मैवं। यत्र हरिभक्तिरेव चित्तशोधिका मुक्तिजनिका वोपदिश्यते तत्र कर्मानन्तर्य्यनियमो व्यभिचारीति। तथाहि स्मरन्ति। *'पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सताम्'* इत्यादि। न च भक्तिरपि कर्मैवेति वाच्यं। *'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योहस्ति कर्हिचिद्'* इत्यादि स्मरणात् केचिन्नित्यानित्यवस्तुविवेकाद्यान्तर्यं तदर्थं भाषन्ते तन्निरासायाह, न च नित्येति। चतुष्टयेति। नित्यानित्यवस्तुविवेक इहामुत्रफलभोगविरागः शमदमादिषट्सम्पत् मुमुक्षुत्वञ्चेति। तस्याः साधनचतुष्टयसम्पत्तेस्तत्त्वज्ञसत्प्रसङ्गात् पूर्वं दुर्लभत्वादित्यर्थः। सत्प्रसङ्गेति। सत्प्रसङ्गेन शिक्षायां सत्यां ततः परस्मिन् काले सा सम्पत्तिर्भवितुं युक्तेत्यर्थः। शिक्षा विद्याग्रहणं, विद्याचशाब्दी। तदवाप्तेति। सत्प्रसङ्गलब्धविद्या इत्यर्थः। देशिक आचार्यः। ब्रह्मविद्ययैवेति। कर्मैव ज्ञानकर्मणी वा मुक्तिहेतुरिति निरस्तं। आत्मानुसन्धिप्रधानत्वादेतच्चोपरि विस्फुटीभावि। ईश्वरस्य बादरायणस्य। 'कृष्णेति' श्रीवैष्णवे पराशरवाक्यं। कोह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेदिति वाक्यशेषः। तथापीति। तस्मादथशब्दात् तत् मङ्गलं। तादृशस्य निष्कामकर्मादिविशुद्धस्य पुंसः। तदनन्तरं सत्सङ्गोत्तरं। अङ्कौ वृत्तिपरौ यौ तौ भाषौ भाष्यकृता धृतौ। तावेव सूक्ष्मे लिखितौ द्वयोः क्रमजिघृक्षया। पूर्वाधिकरणे तादृशस्य पुंसो ब्रह्मज्ञानेच्छा युक्तत्युक्तं। ब्रह्मसुखन्तु परेश इति भूमात्मब्रह्मशब्दैर्विमृष्टं। ते च शब्दा जीवपक्षे सङ्गच्छरेन्नित्येवंविधापेक्षसङ्गत्या पराधिकरणं प्रवर्त्तते॥ १ ॥

सूक्ष्मा-सार—यहाँ 'तदर्थ' शब्दका अर्थ है 'वेदार्थ' और 'विमृष्टसत्त्वस्य' पदबन्धमें 'सत्त्व' का अर्थ है 'चित्त' एवं 'विमृष्ट' का अर्थ है 'शोधित' अर्थात् विशुद्ध चित्त व्यक्ति। इस प्रकारके विशुद्ध-चित्त-व्यक्तिके द्वारा पुत्रेष्टि इत्यादि काम्य-कर्मोंका परित्याग करनेके बाद ब्रह्मज्ञानकी इच्छा करना युक्तिसङ्गत है। 'जिज्ञासा' पद 'ज्ञा' धातुमें 'सन्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। 'सन्' प्रत्ययका प्रयोग 'इच्छा' अर्थमें होता है। यहाँ इच्छा की गयी वस्तु ज्ञान है। इच्छा द्वारा ज्ञान ही अभीष्ट है। इस ज्ञानको कर्त्तव्य रूपमें भी अभिप्रेत जानना चाहिये। यह ज्ञान वाक्यार्थ ज्ञानसे पृथक् है तथा उपासना शब्दका वाच्य है। *'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत'* (बृ॰आ॰ ४/४/२१) अर्थात् अच्छी तरह जानकर 'प्रज्ञा' (मनन या ध्यान) करना चाहिये। इस वाक्यार्थसे यह बोधित होता है कि वाक्यार्थ ज्ञानसे भिन्न ध्यान-उपासना ही वेदान्त वाक्योंका अभीप्सित तात्पर्य है। यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि विज्ञान (अच्छी तरह-से जानने) के बाद ही 'प्रज्ञा' को 'विधेय' (कर्त्तव्य) बतलाया गया है। *'आत्मानमेव लोकमुपासीत'* (बृ॰आ॰ १/४/५) अर्थात् आत्माकी ही उपासना करें; *'ओमित्येवात्मानं ध्यायेत् निदिध्यासितव्यः'* (बृ॰आ॰ १/४/७) अर्थात् आत्माका ही प्रणव रूपमें चिन्तन करें, आत्मा ही निदिध्यासितव्य—गहन चिन्तन करने योग्य है। इस प्रकारसे ये सभी श्रुति-वाक्य एक ही अर्थके द्योतक हैं। इन सभी वाक्यार्थोंके साथ एक-वाक्यता करनेपर 'विज्ञाय' पदका अर्थ होता है 'वाक्यार्थ-ज्ञान'। इसीको अनुवाद अर्थात् उद्देश्य रूपमें ग्रहण करके 'प्रज्ञा' शब्दका अर्थ हुआ 'उपासना'। इसी उपासनाको विधेय किया गया है। 'उपासना' का लक्षण है—ज्ञान। वाक्यार्थ-ज्ञान ही ध्यानका उपकारक है।

'तद् यथेति कर्मचितः'—कर्मोंके द्वारा दुर्ग इत्यादिको अधिकृत किया जा सकता है और पुण्यादि द्वारा स्वर्गादिको अर्जित किया जा सकता है। ये वाक्य युक्तियुक्त रूपमें प्रबल हैं, किन्तु वेदपाठरत मनुष्य कर्मोंके द्वारा निष्पादित अभ्युदयों (सम्पन्नता) को अनित्य जानकर वैराग्यको प्राप्त होते हैं। अब आपत्ति यह है कि जब परमात्मलोक अर्थात् ब्रह्मलोक कर्मानुष्ठानसे प्राप्त हो जाता है, तब तो कर्मोंका ही अनुष्ठान किया जाना चाहिये। अतः इस विषयपर कह रहे हैं कि

नित्यलोक—ब्रह्मलोकको कर्मोंसे प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि साधन और साध्यमें विसदृशता (असमानता) होनेसे ब्रह्मलोकको प्राप्ति कैसे होगी? कारण वह लोक तो एकमात्र ज्ञानके द्वारा ही प्राप्य है। ज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान दोनोंमें सादृश्य (समानरूपता) है। महाभारतके मोक्ष-प्रकरणमें इसी प्रकार कहा गया है, यथा—*'मृगैर्मृगाणामित्यादि'*—जिस प्रकार पशुके द्वारा पशु, पक्षीके द्वारा पक्षी और हाथीके द्वारा हाथी वशमें किये जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञेय वस्तुको ज्ञानके द्वारा जानना चाहिये।

'तद्विज्ञानार्थम्' इत्यादि वचनोंके द्वारा यही सङ्केत दिया गया है कि ज्ञान गुरुसेवाके बलपर ही प्राप्त हो सकता है। *'उपायन पाणिः सन्'* अर्थात् अपने हाथमें गुरुसेवाके योग्य कोई द्रव्य लेकर गुरुके समीप उपस्थित होना चाहिये। उससे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है तथा गुरु भी सन्तुष्ट होते हैं। गुरुको सन्तुष्ट करनेवाली वस्तुएँ कैसी होनी चाहिये? इसका परिचय देते हुए कहते हैं—अग्निहोत्र होमादिके लिए यज्ञीय काष्ठको हाथमें लेकर जाना चाहिये। गुरु कैसा होना चाहिये? उसे दो विशेषणोंसे युक्त होना चाहिये—श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ। श्रोत्रिय अर्थात् वह वेदार्थ-ज्ञानमें निपुण हो अन्यथा संशयोंका निराकरण नहीं कर सकेगा और ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् भगवत्-निष्ठापरायण अथवा भगवत्-भावका भावुक हो। ऐसे गुरुके द्वारा उपदिष्ट श्रीहरिमूर्त्ति शिष्यके हृदयमें स्फुरित हो सकती है। इन दोनों विशेषणोंसे रहित किसीको गुरु मान लेनेसे यह सम्भव नहीं हो सकता।

'परास्य शक्तिः'—स्वाभाविकी अर्थात् स्वरूपानुबन्धिनी। अमरकोषमें कहा गया है—स्वभाव, स्वरूप एवं निसर्ग आदि पर्यायवाची शब्द हैं। अग्निमें उष्णताकी भाँति परमेश्वरमें ज्ञान, बल एवं क्रिया-शक्ति स्वाभाविक रूपसे विद्यमान रहती है। किस प्रकारसे? ज्ञान उनकी सम्वित्-शक्ति है, बल उनकी सन्धिनी-शक्ति है और क्रिया उनकी आह्लादिनी-शक्ति है। 'श्रूयते' पदसे इस बातका प्रमाण देखा जाता है। श्रीकृष्ण अनिकेत एवं परम विभु हैं, वे ही सेवनीय हैं। सेव्य होनेके कारण-स्वरूप सेव्यके स्वाभाविक तीन धर्म हैं—शरणागतकी रक्षा, सौहार्द एवं भक्तिवश्यता। वे हृदयरूप सिंहासनपर विराजमान हैं, इस

रूपमें उनकी उपासना करनी चाहिये। यथाक्रम नित्यता और अनित्यता द्वारा ब्रह्म और जगत्के भेदको समझकर, नश्वर जगत्से तृष्णाशून्य होकर नित्य ब्रह्मके विशेष धर्मको जाननेके लिए चार अध्यायोंसे युक्त वेदान्त-दर्शनमें निविष्ट होंगे। ब्रह्मके विशेष धर्म हैं—रूप, गुण, अभिधान (नाम), धाम एवं परिकर।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्रमें 'अथ' शब्दका अर्थ है—तत्त्वविद्-सत्प्रसङ्गके बाद अन्य कोई कहते हैं—कर्मोंके बाद। इस शङ्काके समाधानके लिए भाष्यकार कह रहे हैं—*'न चात्र कर्मेति'*—कर्मका आनन्तर्य (नित्यत्व) नहीं है, क्योंकि 'तद्वताम्' अर्थात् कर्म-सम्पत्तिसे युक्त व्यक्तियोंका और 'तत्शून्यानाञ्च' अर्थात् कर्म-सम्पत्तिसे रहित व्यक्तियोंको भी तत्त्वज्ञान होता है। यहाँ आपत्ति यह है कि जिसकी कर्म-सम्पत्ति नहीं है, परन्तु सत्सङ्ग इत्यादि है, उसका जो तत्त्वज्ञान कहा गया है, ऐसी असङ्गति क्यों होगी? यहाँ भी उसमें पूर्वजन्मकी कर्म-सम्पत्तिकी कल्पना कर ली जायेगी, क्योंकि कर्म-सम्पत्ति चित्त-शुद्धिका कारण है—यह प्रमाण सिद्ध है। तब जो *'न कर्मणा न प्रजया धनेन'* (महाना॰ १०/५) अर्थात् न कर्मके द्वारा, न ज्ञानके द्वारा, इत्यादि ये जो श्रुतिवाक्य तत्त्वज्ञानके पक्षमें कर्मको कारण नहीं बतला रहे हैं, इसकी सङ्गति किस प्रकार होगी? इसका उत्तर यह है कि कर्म साक्षात् रूपसे (सीधे ही) मुक्तिका कारण नहीं है, यही इस श्रुतिका तात्पर्य है। अतएव कर्मके बाद तत्त्वजिज्ञासा होती ही है, इस आपत्तिके उत्तरमें कह रहे हैं—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस स्थानपर हरिभक्ति ही चित्तकी शुद्धि एवं मुक्तिकी जननी, इन दोनों रूपोंमें ही उपदिष्ट हैं, वहाँ कर्मके आनन्तर्य (निरन्तरता) का नियम स्वयं ही भङ्ग हो रहा है।

हरिभक्ति चित्तकी शोधक है—यह स्मृति-वाक्योंसे प्रमाणित है। *'पिबन्ति ये भागवत आत्मनः सताम्'* इत्यादि अर्थात् जो व्यक्ति साधुओंके आत्मास्वरूप भगवान्के विषयमें श्रद्धापूर्वक श्रवण (युक्तियुक्त वाक्यार्थ ग्रहण) करते हैं, उनके लिए मुक्ति करतलगत (सहज रूपसे प्राप्त) है। भक्तिको कर्म नहीं कहा जा सकता, ऐसा कहनेसे *'योगास्त्रयो मया'* इत्यादि भगवत्-वाक्योंकी असङ्गति होती है।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—“मैं जीवके आत्यन्तिक श्रेय (कल्याण) के लिए तीन योग बतला रहा हूँ—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग।” इनके अतिरिक्त अन्य किसी उपायसे जीव श्रेय प्राप्त नहीं कर सकता। अतः भगवान्‌के इन वचनोंसे कर्म एवं भक्तिका पार्थक्य स्पष्ट रूपसे जाना जा सकता है। तदुपरान्त कह रहे हैं कि नित्य-अनित्य वस्तुका विवेक, ऐहिक और पारत्रिक (पारलौकिक) फल-भोगोंसे वैराग्य अथवा वितृष्णा, शम-दम इत्यादि षड्-सम्पत्ति एवं मुक्तिकी कामना—ये चार प्रकारकी साधन-सम्पत्तिको तत्त्ववित्-सत्प्रसङ्गसे पहले प्राप्त करना अति दुर्लभ है। 'सत्सङ्गेति'—सत्प्रसङ्ग द्वारा शिक्षा अर्थात् ब्रह्मविद्या पूर्ण रूपसे आत्मसात् (ग्रहण) कर ली जाय, तब साधन-चतुष्टय सम्पत्तिका होना ही युक्तियुक्त है। यहाँ जिस शिक्षा अथवा विद्याग्रहणकी बात की जा रही है, वह शाब्दबोधात्मक (अभिधार्थसे जाननेयोग्य) है, अर्थात् प्रत्यक्षात्मक नहीं है। 'तदवाप्तज्ञाना' इत्यादि अर्थात् सत्प्रसङ्ग द्वारा जिन्होंने विद्या प्राप्त की है, 'देशिक' अर्थात् आचार्य। ब्रह्मविद्ययैवेत्यादिका अर्थ है केवल ब्रह्मविद्या द्वारा। 'केवल' पदके प्रयोगसे 'केवल कर्म' अथवा 'ज्ञान-कर्मका समुच्चय' (संयोग) मुक्तिके कारण हैं—यह वाद खण्डित हो जाता है। इसका कारण है कि ब्रह्मविद्याका तात्पर्य केवल आत्मानुसन्धानमें है—यह आगे सुस्पष्ट होगा।

'ईश्वरस्य' अर्थात् बादरायणका—श्रीकृष्णद्वैपायनका। *'कृष्णद्वैपायनं व्यासमित्यादि'*—यह वाक्य श्रीविष्णुपुराणमें मैत्रेयजीके प्रति महर्षि पराशरकी उक्ति है। इस उक्तिका समर्थन अवशिष्ट अंशसे भी होता है, यथा—*'कोह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान् महाभारतकृद् भवेत्'*—अर्थात् कमलदल लोचन श्रीहरिके अतिरिक्त और कौन महाभारत-ग्रन्थकी रचना करेगा? 'तथापीति'—फिर भी, 'तस्मात्'—उस अथ शब्दसे, 'तत्' अर्थात् मङ्गल और 'तादृशस्य'—पुंसः अर्थात् निष्काम कर्मादिके आचरणसे विशुद्धचित्त व्यक्तिका। 'तदनन्तरम्'—सत्सङ्ग-प्राप्तिके बाद, *'अङ्गौ वृत्ति परौ यौ तौ भाष्ये'* इत्यादि—जो दो परिच्छेद (अथ—'अनन्तर' अर्थमें एवं अतः—'हेतु' अर्थमें) वृत्तिग्रन्थ रूपमें भाष्यकारने भाष्यग्रन्थमें

वर्णन किये हैं, वे दोनों परिच्छेद ही क्रम निर्देश अभिप्रायसे सूक्ष्म रूपमें यहाँ प्रदर्शित (अभिव्यक्त) हुए हैं।

तदुपरान्त प्रथम अधिकरणके वक्तव्यका सार बतला रहे हैं—पूर्व अधिकरणमें निष्काम कर्माचरण द्वारा विशुद्धचित्त व्यक्तिकी ब्रह्मज्ञानेच्छा युक्तियुक्त है—ऐसा कहा गया है। ब्रह्म—जो विपुल सुखस्वरूप हैं, इसके वाचक 'परेश' शब्दको भूमा, आत्मा, ब्रह्म इत्यादि शब्दोंके द्वारा विचार किया गया है, परन्तु क्या ये भूमादि शब्द जीवके लिए सङ्गत हो सकते हैं? इस प्रकारके आक्षेपकी सङ्गतिको लेकर उसके समाधानके लिए द्वितीय सूत्ररूप अधिकरणका आरम्भ हो रहा है॥ १ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—श्रीमद् वेदव्यासने ब्रह्मके जिज्ञास्यत्वका प्रतिपादन करनेके लिए जिज्ञासाधिकरणमें इस प्रथम बह्मसूत्रकी अवतारणा की है। इस सूत्रके भाष्यमें भाष्यकार श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु कह रहे हैं कि तत्त्ववित्-प्रसङ्ग अर्थात् सत्सङ्ग ही परमार्थप्राप्तिका निश्चित उपाय है। बहुत-से लोग बहुत-से शास्त्रोंका अध्ययन करके भी तत्त्ववित् साधु-सङ्गके अभावमें प्रकृत (वास्तविक) तत्त्वज्ञान अथवा तत्त्वानुशीलनसे वञ्चित रह जाते हैं, इसके विपुल प्रमाण देखे जाते हैं। अतएव तत्त्ववस्तुको जाननेके लिए शास्त्रज्ञ एवं तत्त्वदर्शी गुरुके चरणाश्रयकी ऐकान्तिक आवश्यकता बतलायी गयी है। मुण्डकोपनिषद (१/२/१२) में प्रेरणा दी गयी है—*'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'* अर्थात् भगवत्-तत्त्व जाननेके लिए श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप जाना चाहिये। शास्त्रोंमे पराङ्गत सद्गुरु शिष्यके समस्त संशयोंको दूर करनेमें समर्थ होते हैं तथा निष्ठावान सद्गुरु शिष्यके हृदयमें भी निष्ठा प्रदान करके उसे श्रीभगवान्की स्फूर्ति प्राप्त करा सकते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी सद्गुरुके लक्षणस्वरूप *'तस्मात् गुरुं प्रपद्येत'* श्लोक देखा जाता है। श्रीमन्महाप्रभुने भी कहा है—*'येइ कृष्णतत्त्ववेत्ता सेइ गुरु हय।'* श्रीनारदादिके दृष्टान्तमें भी सनत्कुमारादिके प्रसङ्गकी कथा प्राप्त होती है।

यदि कोई सूत्रस्थ 'अथ' शब्दके अर्थको माङ्गल्यके लिए निरूपण करता है, तो इसका भी श्रीमन्बलदेवप्रभुने अपने भाष्यमें युक्तिपूर्वक खण्डन कर दिया है।

श्रीमद् शङ्कराचार्यने कहा है 'अथ' शब्दका अर्थ है—चार प्रकारकी साधन-सम्पत्तिके पश्चात् अर्थात् जिन्होंने ज्ञान-प्राप्तिके इन सब उपायोंको प्राप्त कर लिया है, वे 'तदन्तर' अर्थात् इन उपायोंके बाद ब्रह्मज्ञानके अधिकारी होंगे। परन्तु श्रीमल बलदेव प्रभुकी मान्यता है कि तत्त्वविद्-प्रसङ्गके बाद ही ब्रह्मजिज्ञासाका उदय होता है, कर्मान्तरके बाद नहीं। भाष्यकार स्पष्ट रूपसे कह रहे हैं कि सत्प्रसङ्गसे शिक्षा अर्थात् ब्रह्मविद्या ग्रहण करना सम्पूर्ण होनेके उपरान्त ही साधन-सम्पत्तिका प्राप्त होना युक्तियुक्त है। महाभारतके मोक्षधर्ममें द्रष्टव्य है—

या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये।
तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः॥

अर्थात धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंको प्राप्त करनेके लिए जिन साधनोंका प्रयोजन है, श्रीनारायणके आश्रित व्यक्ति उन साधनोंके बिना ही उन्हें प्राप्त कर लेते हैं।

श्रीमद्भागवत (१०/६३/३४) में श्रीरुद्रका कथन है—

त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये।
यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम्॥

अर्थात् श्रीरुद्रने कहा—हे देव! आप स्वयं परमज्योतिस्वरूप हैं। आप वेदमन्त्रोंमें गूढ़ रूपसे छिपे हुए परब्रह्म हैं। जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, वे भक्त ही निर्मल आकाशके समान शुद्धस्वरूप आपको साक्षात् रूपसे देख सकते हैं।

इस प्रसङ्गमें निम्न श्लोक भी आलोच्य है—

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः।
अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्रसर्वदा॥

(श्रीमद्भा॰ २/९/३५)

अर्थात् आत्मतत्त्वके ज्ञानके जिज्ञासु व्यक्ति मेरे स्वरूपतत्त्वको अन्वय और व्यतिरेक क्रमसे विचार करते हैं। यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म नहीं है, यह ब्रह्म नहीं है—इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वातीत एवं सर्वस्वरूप भगवान् ही सर्वत्र एवं सर्वदा नित्य स्थित हैं और वे इसी विषयपर परिप्रश्न किया करते हैं।

श्रीमद्भागवतके अन्य श्लोक भी विचारणीय हैं, जिनमें श्रीभगवान्ने गुरु रूपसे ब्रह्माजीपर कृपा करते हुए कहा था—*'ज्ञानं परमं गुह्यं मे ....गृहाणं गदितं मया', 'तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्'* (श्रीमद्भा॰ २/९/३१–३२)। इन श्लोकांशोंका तात्पर्य यह है कि "मैं तुम्हें अनुभव, प्रेमाभक्ति और साधनोंसे युक्त अत्यन्त गोपनीय अपने स्वरूपका ज्ञान बतला रहा हूँ, तुम उसे ग्रहण करो। मेरा जितना विस्तार है, मेरा जो लक्षण है, मेरे जितने और जैसे रूप, गुण एवं लीलाएँ हैं—मेरी कृपासे तुम उन सबके तत्त्वका ठीक-ठीक वैसा ही अनुभव करो।"

श्रीनारदजीने भी श्रीव्यासदेवसे कहा है—*'जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महदद्भुतम्', 'जिज्ञासितमधीतञ्च ब्रह्म यत्तत् सनातनम्'* (श्रीमद्भा॰ १/५/३–४) अर्थात् "आपकी जिज्ञासा तो भलीभाँति पूर्ण हो गयी है, क्योंकि आपने जो इस महाभारतकी रचना की है, वह बड़ी ही अद्भुत है। तथा सनातन ब्रह्मतत्त्वको भी आपने अच्छे-से विचार करके जान लिया है।"

परीक्षित्के जातकर्म सम्पन्न हो जानेके बाद ब्राह्मणोंने कहा था—*'जिज्ञासितात्मयाथात्म्यो मुनेर्व्याससुतादसौ'* (श्रीमद्भा॰ १/१२/२८) अर्थात् "हे महाराज! यह बालक व्यासनन्दन शुकदेवजीके मुखसे अपने द्वारा जिज्ञासा किये गये आत्माके यथार्थ तत्त्वका श्रवण करेगा।"

श्रीमद्भागवतके *'जन्माद्यस्य यतः'* (१/१/१) श्लोकमें *'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये'* की टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरने लिखा है—*'आदिकवये ब्रह्मणे यो ब्रह्म वेदं स्वतत्त्वं वा तेने प्रकाशयामास'* अर्थात् आदिकवि ब्रह्माजीके निकट जिन्होंने वेद या अपने तत्त्वको प्रकाशित किया।

और भी कह रहे हैं—*'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'* इति सूत्रार्थः फलतौ विवृतः—*'ध्यानस्यैव जिज्ञासायाः फलत्वात्'* अर्थात् अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—यही सूत्रका अर्थ है। यह फलस्वरूपमें स्पष्ट हो रहा है, ध्यानकी जिज्ञासा ही फलत्वका कारण है।

तत्त्वविद् प्रसङ्गके अतिरिक्त तत्त्वज्ञान अथवा भगवत्-उपासना हो नहीं सकती। यही श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी वर्णित है—

कृष्ण यदि कृपा करेन कोन भाग्यवाने।
गुरु-अन्तर्यामीरूपे शिखाय आपने॥
(चै॰च॰म॰ २२/४७)

साधु शास्त्र कृपाय यदि कृष्णोन्मुख हय।
सेई जीव निस्तारे, माया ताहारे छाड़य॥
(चै॰च॰म॰ २०/१२०)

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर प्रभुपादने अपने अनुभाष्यमें इन कारिकाओंका अर्थ इस प्रकार किया है—"जीव श्रीकृष्णसे विमुख होनेपर संसारके सुख-भोगमें व्यस्त रहते हैं। वैष्णव-कृपा एवं शास्त्र-अनुग्रहसे कर्मफलको भोगनेकी वासनासे जब वे निवृत्त हो जाते हैं, तब कृष्ण-सेवाके प्रति उन्मुख होते हैं और इस प्रकार भोग एवं मुक्तिकी तृष्णासे निस्तार प्राप्त कर लेते हैं। जैसे ही उनकी बुद्धि कृष्णसेवापरायण होती है, वैसे ही विषयभोग-वासनारूप माया उन्हें छोड़कर चली जाती है। अहंग्रहोपासनासे मत्त होनेवाले मुक्तिकामी, ज्ञानी अथवा विषय-भोग-वासना क्रमसे फलभोगके इच्छुक व्यक्ति कृष्ण सेवोन्मुख होनेपर कृष्णेतर (कृष्णके अतिरिक्त) किसी भी वस्तुमें आबद्ध नहीं होते, बल्कि मायाके हाथोंसे निस्तार प्राप्त कर लेते हैं॥"१॥

२—जन्माद्यधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—ननु पूर्वत्र भूमशब्देन च जीवमभ्युपेत्य ब्रह्मशब्देनापि तमेवाह। प्राक् प्राणप्रक्रियया पतिजायादिप्रीतिसंसूचनया च तस्यैव प्रत्ययत्वात् बृहज्जातिजीवकमलासनशब्दराशिष्विति, ब्रह्मशब्दस्य च तत्र रूढेरित्येतां भ्रान्तिं

अपनेतुमारम्भः। तैत्तिरीयके (३/१), *'भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार अधीहि भो भगवो ब्रह्म'* इत्युपक्रम्य पठन्ते। *'यतो वा इमानि भुतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व'* (तै॰ ३/१) इति। इह संशयः, जिज्ञास्यं ब्रह्म जीवः सर्वेश्वरो वेति? *'विज्ञानं ब्रह्मचेद्वेद तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुते'* (तै॰ २/५)। इति तत्रैव जीवेऽपि ब्रह्मत्वध्येयत्वादिश्रवणाददृष्टद्वारा भूतोत्पत्त्यादिहेतुत्वसम्भवाच्च जीवः स्यादिति प्राप्ते जिज्ञास्यस्य ब्रह्मणो लक्षणमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—[यहाँ आपत्ति यह है कि] पूर्व (प्रथमाधिकरण) में 'भूम' शब्दका तात्पर्य 'जीव' मानकर उसे ही प्रथम 'ब्रह्म-जिज्ञासा' सूत्रमें कथित 'ब्रह्म' शब्दका प्रतिपाद्य कहना होगा, क्योंकि 'भूम' बोधक वाक्य (*'यो वै भूमा'* छा॰ ७/२३/१ इत्यादि) के पूर्व जिस प्राण-प्रक्रियाका वर्णन है और आत्मवाक्य (आत्मा वा एषः) के पहले जो पति-पुत्रीके प्रति प्रीतिका उल्लेख है, उसके द्वारा उन-उन स्थलोंपर जीवात्माका ही बोध होता है। अभिधानमें भी 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ 'जीवात्मा' के रूपमें प्रसिद्ध है यथा— *'बृहज्जातिजीवकमलासनशब्दराशिषु'*, तदनुसार ब्रह्म शब्दके बहुत-से अर्थ प्राप्त होते हैं—बृहत् अर्थात् विश्व-व्यापक निरवच्छिन्न परमात्मा, ब्राह्मण-जाति, जीवात्मा, पद्मयोनि अर्थात् ब्रह्मा एवं शब्दराशि (वेद)। इस रूढ़ि (प्रसिद्ध अर्थ) के आधारपर ब्रह्म-शब्दका तात्पर्य 'जीव' में सन्निहित है—इस भ्रमको दूर करनेके लिए द्वितीय सूत्रका आरम्भ किया जा रहा है।

पूर्वपक्ष—*'भृगुर्वै वारुणिर्वरुणम्'* (तैत्तिरीय ३/१) के अनुसार वारुणि भृगु अपने पिता वरुणके पास गये और उनसे निवेदन किया—"हे भगवन्! आप मुझे ब्रह्म-विद्याका उपदेश कीजिये।" इस उपक्रममें (उपदेशके आरम्भमें या प्रस्तावनामें) वरुणने कहा—*'यतो वा इमानि'* (तै॰ ३/१) अर्थात् जिससे ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेके बाद ब्रह्म-सम्बन्धके कारण अनुप्राणित होकर स्थिति प्राप्त करते हैं और क्रमशः प्रलयकालमें जिसमें प्रवेश करते हैं, वह ब्रह्म है, उसीकी जिज्ञासा (जाननेकी इच्छा) करो। यह वाक्य 'विषय' वाक्य है। यहाँ संशय होता है कि जिज्ञासाका विषयीभूत वह ब्रह्म

कौन है—'जीव' अथवा 'परमेश्वर'। पूर्वपक्षवादियोंका वक्तव्य है कि 'जीव' ही जिज्ञास्य है, क्योंकि श्रुति कहती है *'विज्ञानं ब्रह्म चेद् वेद'* इति (तै॰ २/५) अर्थात् यदि जीवरूप ब्रह्मको जान सकते हो अर्थात् विवेकपूर्ण व्यक्ति यह जान सकता है कि जीव प्रकृतिसे भिन्न है और यदि वह मतिभ्रष्ट नहीं होता तो यह जान लेनेपर वह समस्त शारीरिक पापोंसे मुक्त होकर परम विशुद्ध हो जायेगा और सभी काम्य फलोंका भोग प्राप्त करेगा। अतएव इस वाक्यमें 'जीव' को ही 'ब्रह्म' कहा गया है। तथा *'आत्मा वा अरे श्रोतव्यः'* इत्यादि श्रुतिके द्वारा भी जीवके ब्रह्मत्व अथवा 'ध्येयत्व' से अवगत हुआ जा सकता है। मात्र इतना ही नहीं, जीवकी अदृष्ट विशेषता द्वारा उसमें समस्त पृथ्वी आदि भूतोंको उत्पन्न करनेकी शक्तिकी भी सम्भावना दिख रही है। अतः जिज्ञास्य ब्रह्म जीव ही है। *'यतो वा इमानीति'* से इस श्रुतिसे बोध होनेवाले ब्रह्मशब्द-वाच्य तत्त्वको ही जीव कहा जायेगा। अर्थात् जिज्ञास्य ब्रह्म जीव ही है—यह कहा जायेगा। अब उत्तर पक्षमें इस मतको निरस्त करनेके लिए सूत्रकार जिज्ञास्य ब्रह्मके लक्षणका उल्लेख कर रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—ननु पूर्वत्रेति। यो वै भूमेत्यत्रभूमशब्देन, आत्मा वा इत्यत्र आत्मशब्देन जीवमभ्युपेत्य सुत्रकारेण ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र बह्मशब्देनापि तं जीवमेवाह। भूमादिवाक्यात् प्राक् पत्यादिप्रियतासंसूचनाय तत्र तत्र जीवस्यैव बोध्यत्वादित्यर्थः। अथ ब्रह्मशब्दस्य जीवे रूढत्वादपि तथेत्याह, बृहदिति। जातिब्राह्मणजातिः। शब्दराशिर्वेदः रूढिर्योगमपहरतीतिन्यायात् बृहत्वगुणयोगेन भगवत्परता न वाच्येत्याश्यः। यतो वा इति। यतः प्रकृतिजीवशक्तिकाद्ब्रह्मणो हेतोः। भूतानि प्राणिनः। जातानि तानि येन ब्रह्मणास्थितिं विदन्ति। प्रषन्ति प्रलयाभिमुखानि तानि यत्प्रविशन्तीत्यर्थः। विज्ञानमिति। शरीरे विद्यमानं विज्ञानं जीवरूपं ब्रह्मचेद्वेद प्रकृतितो विविच्य जानाति तर्हि पाप्मनो हित्वा निरवद्यः सन् सर्वान् कामान् अश्नुते प्राप्नोति कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः। ब्रह्मणो लक्षणमिति। असाधारणधर्मवचनमितर भेदानुमापकं वा लक्षणं। न च जगज्जन्मादिकर्त्तृत्वमेतत् जीवे सम्भवति तस्य तत्रासामर्थ्यादिति निरूपयियति इतरव्यपदेशादित्यादिना अतएव जीवाद्भेदश्चानुमीयते।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'यो वै भूमा'* इत्यादि श्रुतिवाक्यके अन्तर्गत 'भूम' शब्दके द्वारा और *'आत्मा वा अरे'* इत्यादि श्रुतिमें

'आत्मन' शब्द द्वारा जीवको स्वीकार करके सूत्रकार *'ब्रह्म-जिज्ञासा'* सूत्रमें ब्रह्म शब्दके द्वारा जीवका उल्लेख ही कर रहे हैं। इसमें युक्ति यह है कि 'भूम' वाक्यके पूर्व पति, पुत्र-पुत्री इत्यादिकी प्रियताको सूचित करनेके लिए इस स्थलपर जीवका ही बोध होता है। यहाँ आपत्ति हो सकती है कि 'ब्रह्मन्' शब्द तो रूढ़िशक्ति द्वारा भी जीव-बोधक है, तब यहाँ 'ब्रह्म' शब्द जीवका ही बोधक है—यह अभ्युपगम (सिद्धान्त) किस प्रकारसे हुआ? इसका कारण है कि 'ब्रह्म' शब्दके बृहत्, ब्राह्मण-जाति, जीव, ब्रह्मा, वेद आदि ऐसे कितने ही अर्थ प्रसिद्ध हैं। यदि कहो कि योगशक्तिके कारण बृहत् अथवा भूमाको ही जानना चाहिये, तो ऐसा भी नहीं हो सकता क्योंकि *'लब्धात्मिकासतीरूढिर्भवेद्योगापहारिणी। कल्पनीयातु लभते नात्मानं योगबाधतः॥'* अर्थात् क्लप्त रूढ़ि (प्रतिष्ठित अधिकस्याधिक फलम्) योगशक्तिको बाधा देती है और कल्पनीय रूढ़ि-योगशक्तिके निकट परास्त हो जाती है—इस न्यायके अनुसार योगशक्तिसे रूढ़िशक्तिका प्राबल्य अधिक ज्ञात होता है। अतः बृहत्त्व अर्थात् विशालत्व गुणके योगके कारण 'ब्रह्मन्' शब्दकी रूढ़िसे भगवान्‌को न मानकर जीवको ही समझा जायेगा—यह पूर्वपक्षीय अभिप्राय है।

उत्तरपक्षीय—*'यतो वा'* इत्यादि श्रुतिमें 'यतः' शब्दका अर्थ है 'प्रकृति', 'जीव'। ये ब्रह्मकी शक्ति विशेष हैं और उस शक्तिसे विशिष्ट ब्रह्मरूप कारणसे 'भूतानि' अर्थात् प्राणी, 'जातानि तानि' अर्थात् उत्पन्न होकर 'येन ब्रह्मणा जीवन्ति'—ब्रह्मके अनुग्रहसे स्थिति प्राप्त करते हैं तथा 'प्रयन्ति' अर्थात् प्रलयकी ओर क्रमशः अग्रसर होते हैं। वे ही ब्रह्ममें प्रवेश करते हैं। 'विज्ञानमिति' शरीरमें विद्यमान जीवस्वरूप ब्रह्मको यदि वे जान लेते हैं अर्थात् प्रकृतिसे जीव भिन्न है, इस प्रकारका विवेक प्राप्त कर लेते हैं, तब उस विवेकके परिणामस्वरूप वे पापमुक्त होकर विशुद्ध सत्त्वमय हो जाते हैं और उन्हें समस्त काम्य वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं अर्थात् उनका जीवन कृतकृतार्थ हो जाता है।

'ब्रह्मणोलक्षणमिति' अब ब्रह्मके लक्षण बतला रहे हैं। ऐसा कहा गया है—*'मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणात्'* अर्थात् प्रमाणसे

प्रमेय (साध्य अथवा ज्ञानके विषय या वस्तु) की सिद्धि होती है और प्रमाणकी सिद्धि लक्षणसे होती है। लक्षणका तात्पर्य है 'असाधारण धर्म'। जिस प्रकार 'गौ' का लक्षण है 'गोत्व' ('मातृत्व'), इसी प्रकार ब्रह्मका लक्षण है 'बृहत्त्व' (विशालता)। अथवा 'इतर भेदानुमापकं लक्षणम्'—जो उससे भिन्न पदार्थसे उस वस्तुके पार्थक्यका अनुमान करा देता है, जिस प्रकार 'इतरेभ्योभिद्यते गन्धवत्त्वात्' अर्थात् यह गन्धत्त्व धर्म पृथ्वीसे भिन्न पदार्थसे पृथ्वीके पार्थक्यका अनुमान करा रहा है। अतः 'गन्धत्व' पृथ्वीका 'लक्षण' है। इसी प्रकार *'ब्रह्मेतरेभ्यो भिद्यते जगज्जन्मादिकर्त्तृत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा जीवः'* अर्थात् इस जगत्की सृष्टि इत्यादिका कर्त्तृत्व (कर्त्तापन) जीवमें कभी भी सम्भव नहीं है, नहीं है। अतएव जीव ब्रह्म शब्दका वाच्य नहीं है, 'जीव' में जगत्की सृष्टि करनेका सामर्थ्य नहीं है। यहाँ भी जीवसे ब्रह्मके भेदका अनुमान हो रहा है। यह विचार 'इतरव्यपदेशात्' इत्यादि सूत्रोंके द्वारा निरूपित किया जायेगा।

सूत्र—जन्माद्यस्य यतः॥ २॥

सूत्रार्थः—'यतः'—जिन परमेश्वरसे, अर्थात् जो परमेश्वर अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न, स्वयं ही विश्वके कर्त्ता, पालक, अनुग्राहक (पोषक), विनाशक हैं एवं जो इस प्रपञ्चात्मक जगत्के उपादान कारण हैं, उनसे, 'अस्य'—इस परिदृश्यमान् चतुर्दश-भुवनस्वरूप विश्वकी, 'जन्मादि'—उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय हो रहा है, वे ही जिज्ञास्य ब्रह्म हैं॥ २॥

सूत्रानुवाद—जिनसे इस परिदृश्यमान् जगत्की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय होता है, वे ही ब्रह्म हैं॥ २॥

गोविन्दभाष्य—जन्मादीति। तद्गुणसम्विज्ञानबहुब्रीहिणा जन्मस्थितिभङ्गादि बोध्यते। अस्य चतुर्द्दशभुवनात्मकस्य विरिञ्चयादिस्थावरानन्तकर्त्तृभोक्तृयुक्तस्य नानाविधकर्म-फलायतनस्य जीवातर्क्यातिविचित्ररचनस्य विश्वस्य यतो यस्मात् परात् वा अविचिन्त्य शक्तिकात् स्वयं कर्त्रादिरूपादुपादानरूपाच्च जन्मादि भवति तद्ब्रह्मात्र जिज्ञास्यमित्यर्थः। भूमात्मशब्दौ व्याप्तिगुणयोगेन भगवति मूख्यवृत्तौ भूमाधिकरणे (१/३/८) वाक्यान्वयाधिकरणे (१/४/१९) च तथैव निर्णेष्यमानत्वात् ब्रह्मशब्दस्तु निःसीमातिशयगुणयोगात् तत्रैव वर्त्तते। *'अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति वृहन्तो ह्यस्मिन्*

गुणा इति' (अथर्व शि॰ ३/४) श्रौतनिर्वचनात् अतोऽयं तत्रैव मुख्यः। ततोऽन्यत्र तु तद्गुणांशयोगात् भक्त एव राजादिवत्। स एव स्वाश्रितवात्सल्यनीरधिस्तापत्रय-विप्लुष्यमानैर्जीवैर्निःश्रेयसाय जिज्ञास्यः अतः परब्रह्माभिधानः पुरुषोत्तम एव जिज्ञासाकर्म-भूतः। न चात्र गुणाध्यासौ वक्तुं युक्तः वस्तुतो ब्रह्मत्वप्रसङ्गात्। जिज्ञासा च ज्ञानेच्छैव। ज्ञानञ्च परोक्षापरोक्षरूपं द्विविधं, विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीतेति श्रुतेः (बृ॰आ॰ ४/४/२१)। तत्र परमेव प्रापकं, पूर्वन्तु तत्र द्वारमिति स्फुटीर्भविष्यति (३/३/५२)। विज्ञानं ब्रह्म चेत्यादिकं (तै॰ २/५) तु जीवस्वरूपज्ञानमिहोपयोगीतीहैव वक्ष्यते च, इह ब्रह्मणो जीवेतरत्वप्रतिपादनात् तयोरद्वैतं नाभिमतं नेतरोऽनुपपत्तेर्भेदव्यपदेशाच्च (१/३/२१) मुक्तोपसृप्यं व्यपदेशात् (१/३/५) आकाशोहर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाद्भेद-मात्रसाम्यलिङ्गाच्चेति सुत्रे मो सेऽपि तयोर्द्वैतनिरूपणाच्च॥ २॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'यत इति हेतो पञ्चमी'*—'यतः' इस पदमें यद् शब्दके उत्तरमें 'हेतु' अर्थमें पञ्चमी है, इसका अर्थ है कि जो इस विश्वके जन्मादिका हेतु है। यहाँ *'जन्मादि'* पद 'तद्गुणसंविज्ञान' बहुब्रीहि समाससे निष्पन्न हुआ है। बहुब्रीहि समास दो प्रकारके अर्थ प्रकाशित करता है—तद्गुणसंविज्ञान बहुब्रीहि एवं अतद्गुणसंविज्ञान बहुब्रीहि। जिस बहुब्रीहिमें किसी शब्दके अन्तर्गत पदोंको उस शब्दके अङ्गके रूपमें ग्रहण किया जाता है, उसे तद्गुणसंविज्ञान बहुब्रीहि कहा जाता है, यथा *'जन्मादि'* कहनेसे उसके अन्तर्गत जन्म, स्थिति एवं लय तीनों ही अङ्गोंको समझा जाता है। किन्तु अतद्गुणसंविज्ञान बहुब्रीहि स्थलपर समस्त पदके एक पदार्थको छोड़कर अवशिष्टों (बचे हुओं) को माना जाता है, जिस प्रकार गणेशादि पाँच देवता कहनेपर गणेशजीको छोड़कर पाँच देवता और कुल छह देवता माने जाते हैं। 'अस्य' पदसे तात्पर्य है—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, पाताल और रसातल—ये सात अधोभुवन निम्नलोक और भू, भुवः, स्वः, महः, जन, तप और सत्य—ये सात ऊर्ध्वभुवन (उच्चलोक) मिलकर चौदह भुवनस्वरूप विश्व है, जिसमें ब्रह्मा इत्यादि जीवसे स्थावर तृण तक कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व भावसे युक्त होकर अनन्त कर्त्ता एवं भोक्ता हैं, जो (विश्व) नाना प्रकारके कर्मफलोंकी भोगभूमि (आधारभूमि) है, जिसकी रचना अति अद्भुत है और जो जीवकी कल्पनासे अतीत है—वैसे विश्वका। 'यतः' का अर्थ है जिनसे अर्थात्

परमेश्वरसे जो अचिन्त्यशक्तिमय हैं, अन्योंसे निरपेक्ष रहकर स्वयं कर्त्ता, रक्षक एवं प्रलयकर्त्ता हैं, जो जगत्के उपादान कारणस्वरूप हैं, जिनसे 'जन्मादि' अर्थात् सृष्टि, स्थिति एवं लय होते हैं। इस प्रकार इस श्रुतिमें निहित वे ब्रह्म—परमेश्वर ही विशेष रूपसे जिज्ञास्य हैं, जीवात्मा नहीं। 'भूमन्' एवं 'आत्मन्' पदोंकी मुख्यवृत्ति अर्थात् अभिधावृत्ति पुरुषोत्तम भगवान्में ही है, क्योंकि एकमात्र उनमें ही सर्वव्यापकत्व गुण है। जिज्ञास्य ब्रह्म जीव नहीं है। इन सब बातोंका भूमाधिकरण एवं वाक्यान्वयाधिकरणमें निर्णय किया जायगा।

ब्रह्म शब्द योगार्थके बलपर सीमाहीनता (अपरिच्छिन्नत्व) एवं सर्वोत्कृष्टता गुण-सम्बन्धके कारण परमेश्वरको ही निर्देश कर रहा है। ब्रह्मको परमेश्वर किसलिए कहा जाता है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—*'बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्'*—'बृह्धि वृद्धौ' धातुसे 'बृंहनोऽच्च' (पा॰सू॰ ४/१४६) सूत्रके द्वारा मनिन् प्रत्यय और बृहिन् धातुके 'नकार' को 'अकार' आदेश देकर ब्रह्म शब्द निष्पन्न हुआ है। अधिकरणवाच्यमें 'सन्' (मन) प्रत्यय होनेसे (अथर्व शि॰ ३/४) जिसमें (ब्रह्ममें) बृहत्त्व असाधारण गुण हैं, यह अर्थ प्रकाशित हो रहा है। *'बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च तद्ब्रह्मेत्यभिधीयते'* (विष्णुपुराण ३/२२) अतएव परमेश्वरमें असीम गुणराशि रहती है, इसलिए ब्रह्म शब्दका मुख्य प्रयोजन परमेश्वर (भगवान्) में ही है। भगवान्से अन्य स्थल जीवमें 'आत्मन्' शब्द और 'ब्रह्मन्' शब्दका प्रयोग गौण रूपमें है, अर्थात् परमेश्वरसे सम्बन्धके कारण जीवमें कतिपय गुणका लक्षण रहता है, जिस प्रकार राजपुरुष (राजसेवक) में राजकीय गुणोंके आंशिक योगसे उसके लिए भी 'राजन्' शब्दका प्रयोग होता है। 'स एव'—वे भगवान् ही स्वाश्रितजनोंके प्रति वात्सल्यके अपार सागर हैं, वे ही आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—इन तीन तापोंसे दग्ध जीवोंके निःश्रेयस (परम कल्याण) के जिज्ञासाके विषय हैं। अतः परब्रह्म नामक पुरुषोत्तम श्रीभगवान् ही जिज्ञास्य अर्थात् ज्ञानेच्छाके विषय—कर्मकारक हैं।

'न चात्र गुणाध्यासो वक्तुं युक्तः' इत्यादि। 'अत्र'—इन भगवत्-शब्दवाच्य ब्रह्ममें गुणोंका अध्यास है, अर्थात् उनमें अपने

आश्रितोंके प्रति वात्सल्य इत्यादि गुणोंका आरोप है—ऐसा नहीं कहा जा सकता और ऐसा कहनेका कोई औचित्य भी नहीं है, क्योंकि आरोप तो अप्रकृत (अवास्तव) वस्तुमें होता है, यहाँ तो वास्तविक ब्रह्मत्वका प्रसङ्ग है। जिस प्रकार मुखका चन्द्रत्व न रहनेपर भी मुखचन्द्र कहा जाता है, किन्तु ब्रह्म अथवा भगवान्में आरोप नहीं हो सकता—वे वास्तव हैं। कुछ लोग कहते हैं कि जिज्ञासाका अर्थ विचार है, किन्तु वैसा भी नहीं है। जिज्ञासाका अर्थ है—यथाश्रुत ज्ञानकी इच्छा। ज्ञान दो प्रकारका है—परोक्ष एवं अपरोक्ष। *'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत'* (बृ०आ० ४/४/२१) यह श्रुति कहती है—ज्ञानपूर्वक प्रज्ञा अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त करें अथवा ब्रह्मको वेद द्वारा जानकर उसकी उपासना करे। इस श्रुतिके अर्थमें पूर्वापरीभूत अर्थात् परोक्ष एवं अपरोक्ष दोनों ही प्रकारके ज्ञानोंका उल्लेख है। इसमें परवर्ती ज्ञान अर्थात् प्रज्ञात्मक (अपरोक्ष) ज्ञान परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है और पूर्ववर्ती (परोक्ष) ज्ञान परवर्ती ज्ञानका उपाय अथवा द्वार मात्र है। इस विषयको विस्तारसे बादमें स्पष्ट किया जायेगा।

'विज्ञानं ब्रह्म च' (तै० २/५) इत्यादि श्रुति द्वारा बोध होनेवाला जीवके स्वरूपका ज्ञान कि 'जीव ब्रह्मसे पृथक् है'—यह ज्ञान ब्रह्मज्ञानका उपयोगी—उपकारक है। 'वक्ष्यते च' अर्थात् सूत्रकार द्वारा *'अन्यार्थश्च परामर्शः'* सूत्र (१/३/२०) में भी जीव और ब्रह्मकी पृथक्ताके सम्बन्धमें बतलाया जायेगा। यहाँ *'जन्माद्यस्य यतः'* इस सूत्रमें भी ब्रह्मको जीवसे भिन्न प्रतिपादित किया गया है। इस सूत्रका अभिमत यह कदापि नहीं है कि जीव और ब्रह्म एक हैं। दोनोंका अद्वैत होना अभिप्रेत (अभीष्ट) भी नहीं है। जीव एवं ब्रह्मका पारमार्थिक भेद नित्य एवं अचिन्त्य है। इन सभी तथ्योंका प्रतिपादन इन पाँच सूत्रों द्वारा किया जायेगा—(क) *नेतरोऽनुपपत्तेः* (१/१/१६), (ख) *भेदव्यपदेशाच्च* (१/३/५), (ग) *मुक्तोपसृप्य व्यपदेशात्* (१/३/२), (घ) *आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्* (१/३/४१), (ङ) *भोगमात्र-साम्यलिङ्गाच्च* (४/४/२१)। अर्थात् (क) जीवकी ब्रह्मसे पारमार्थिक भिन्नता नहीं, व्यावहारिक भिन्नता है—यह भी सङ्गत नहीं हो सकता, (ख) भिन्न रूपमें निर्देश भी है, (ग) मुक्तपुरुष जब ब्रह्मका आश्रय

लेता है, उस समय मुक्तिमें भी द्वैतवाद निरूपित होता है, (घ) ब्रह्म आकाश एक होनेपर भी ब्रह्मको जीवसे भिन्न पदार्थ माना जाता है, (ङ) भेदमात्र कहनेसे ही साम्य नहीं माना जा सकता। इस प्रकार कितने ही सूत्रोंके द्वारा मुक्तिके बाद भी जीव एवं ब्रह्मका द्वैत अर्थात् भेद निरूपित हुआ है॥ २॥

सूक्ष्मा-टीका—सूत्रे यत इति हेतौ पञ्चमी। जन्मादिषु साधारण्यात् भूमादिशब्दान् ब्रह्मणि हरौ व्युत्पादयति भूमात्मेत्यादिना। तत्रैव भगवत्येव ब्रह्मशब्दो मुख्यो वाचकः। ततोऽन्यत्र भगवतोऽन्यस्मिन् जीवे। राजादिशब्दवदिति राजसेवकोऽपि राजाचोच्यते तद्गुणांशयोगात्। स एव भगवानेव। विप्लुष्यमानैर्दह्यमानैर्निश्रेयसाय मोक्षाय। न चात्रेति। अत्र भगवच्छब्दवाच्ये ब्रह्मणि। वस्तुत इति। बृहद्गुणयोगेन ब्रह्मत्वं श्रुत्या वर्णितं यद्यपि रूढियोगात् बलवती तथापि श्रुत्युक्तस्य योगार्थस्य जीवे असम्भवात् न साद्रियते। ज्ञानञ्चेति परोक्षं शब्दः। अपरोक्षन्तु भक्त्युपासन-शब्दव्यपदेश्योऽनुभवः तत्र प्रमाणं विज्ञायेति। विज्ञाय वेदाद्विदित्वा प्रज्ञामुपासनां कुर्वीतेत्यर्थः। तत्र परमेवेति। परं विज्ञानं। पूर्वं ज्ञानं। तत्र विज्ञाने। इहोपयोगीति। इह ब्रह्मज्ञाने। एवं वक्ष्यते सूत्रकृता अन्यार्थश्च परामर्श इति। इह ब्रह्मण इति। इह जन्मादिसूत्रे। ननु व्यावहारिको भेदः परैरप्यङ्गीकृतः पारमार्थिकस्त्वभेदो भावीति चेत् तत्राह नेतरोहनुपपत्तेरित्यादि। एषां पञ्चानामर्थास्तु भाष्ये द्रष्टव्याः॥ २॥

सूक्ष्मा-सार—*'जन्माद्यस्य यतः'* सूत्रके अन्तर्गत 'यद्' शब्द हेतु अर्थमें पञ्चमी स्थानपर 'तसिल्' प्रत्ययके योगसे निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है—जिस कारणसे। *'जन्मादिषु साधारण्याद्'* इति भूमा, आत्मा इत्यादि शब्द ब्रह्म शब्दके समान साधारण रूपसे जन्मादिके कारण हैं, इसलिए भाष्यकार 'ब्रह्मन्' शब्दसे वाच्य 'श्रीहरि' में 'भूमात्मशब्दौ' इत्यादि उक्तियोंके द्वारा भूमादि शब्दकी योजना कर रहे हैं। *'अतोऽयं तत्रैव मुख्यः'* इत्यादिके अनुसार 'तत्र' अर्थात् श्रीहरिमें ही 'अयं' अर्थात् यह ब्रह्म शब्द 'मुख्य वाचकः' अर्थात् ब्रह्मशब्द अभिधा शक्ति द्वारा प्रधान भावसे भगवान्‌का ही बोधक है। *'ततोऽन्यत्र तु'*—भगवान्‌से अतिरिक्त अन्यत्र अर्थात् जीवादिमें इसका प्रयोग राजपुरुषकी भाँति लक्षणमात्रसे होता है। अर्थात् जिस प्रकार राजसेवकमें आंशिक राजगुण रहनेसे वह भी राजा कहा जाता है।

'न चात्र' इत्यादिमें 'अत्र' पदका तात्पर्य भगवत् शब्दवाच्य ब्रह्म पदार्थसे है। 'वस्तुतः' अर्थात् वास्तविक रूपसे उसमें (ब्रह्ममें) गुण हैं।

'बृहद् गुणयोगेन'—बृहत्त्व धर्म रहनेके कारण श्रुति ही भगवान्‌को ब्रह्मरूपमें प्रतिपादन कर रही है। अतएव ईश्वरमें ब्रह्मत्व गुणका अध्यास (आरोप) है, यह कहना निराधार है। यद्यपि रूढ़ि योगशक्तिसे प्रबल होती है, तथापि प्रकृति एवं प्रत्ययका योग करनेपर वह योगार्थ अथवा योगशक्ति जीवमें असम्भव होनेके कारण आदरणीय नहीं है। 'ज्ञानञ्च' से तात्पर्य है—परोक्ष ज्ञान अर्थात् शाब्दबोधात्मक ज्ञान। अपरोक्ष ज्ञानसे तात्पर्य है—भक्तिरूप उपासना शब्दसे संज्ञित कथित 'स्वरूपानुभव' अर्थात् 'अनुभव स्वरूपज्ञान'। इस विषयमें प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं—'विज्ञाय' इति। विज्ञाय अर्थात् जानकर। किस प्रकार जानकर? वेद द्वारा जानकर। 'प्रज्ञाम्' अर्थात् उपासना करें। 'तत्र परमेव'—यहाँ 'परम्' का अर्थ है परवर्ती विज्ञान और 'पूर्वम्' का अर्थ है ज्ञान। 'तत्र' का अर्थ है—'विज्ञान विषयमें'। 'इहोपयोगी' का अर्थ है इस ब्रह्मज्ञानमें एवं 'इत्यादि' का अर्थ है इस प्रकारसे। सूत्रकारका तात्पर्य है *'अन्यार्थश्च परामर्शः'* (ब्र॰सू॰ १/३/२०) अर्थात् शाब्दबोधात्मक पूर्वज्ञान, 'अन्यार्थ' अर्थात् अनुभूतिके लिए करना चाहिये—इसी सूत्रमें और स्पष्ट करेंगे।

'इह ब्रह्मन्' इत्यादि—इस जन्माद्यस्य सूत्रमें प्रतिपादन है कि जीव ब्रह्मसे भिन्न है, अतएव जीव-ब्रह्मका अद्वैतत्व अथवा ऐक्य नहीं है। यदि कहो कि अद्वैतवादियोंने भी व्यवहार-दशामें जीव एवं ब्रह्मका भेद स्वीकार किया है। किन्तु वास्तवमें उनका अभेद है, भेदका अभाव है, ऐक्य है—यह सब नहीं कहा जा सकता। *'नेतरोऽनुपपत्तेः'* सूत्रकी दृष्टिसे जीव और ब्रह्मका व्यवहारिक भेद भी नहीं कहा जा सकता। 'इतरः' अर्थात् मुक्तावस्थामें भी जीव जीव ही है, मान्त्रवर्णिक अर्थात् (मन्त्रोंमें जिसका वर्णन किया जाता है, वह) नहीं। यदि ऐसा होता, तो जीव समस्त काम्यवस्तुओंका भोग करता, सर्वज्ञ ब्रह्मके साथ उसका भोग होता और इस प्रकार एक हो जानेसे, सह-भाव होनेसे योगश्रुतिकी भी सङ्गति कैसे रह पाती? *'भेदव्यपदेशाच्च'* इत्यादि अन्य सूत्रोंका अर्थ भाष्यमें ही देखना चाहिये॥ २॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—आभिधानिक अर्थसे ब्रह्म शब्दका तात्पर्य जीव है। इसे प्रमाणित करनेकी चेष्टाका निरसन करनेके लिए *'जन्माद्यस्य*

यतः' इत्यादि द्वितीय सूत्र उत्थापित (प्रेरित) हुआ है। श्रीबलदेव प्रभुने अपने भाष्यमें यह विशेष रूपसे प्रमाणित किया है कि बृहत् गुण-राशि परमेश्वरमें रहनेपर वे ही ब्रह्म शब्दका मुख्यार्थ हैं। पुनः परमेश्वरके किञ्चित् गुण उनके विभिन्नांश जीवमे रहते हैं, इसलिए ब्रह्म शब्द जीवके सम्बन्धमें लाक्षणिक है। जिनकी करुणासे जीव उद्धार प्राप्त करता है, वे परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ही जीवोंकी एकमात्र जिज्ञासाके विषय हैं।

सूत्रकार स्वयं श्रीमद्भागवतको वेदान्तसूत्रोंका अकृत्रिम भाष्य मानते हैं— *'ब्रह्मसूत्राणामर्थस्तेषामकृत्रिम भाष्य भूत इत्यर्थः।'* श्रील जीव गोस्वामीने कहा है— *'पूर्वं सूक्ष्मत्वेनमनस्याविर्भूतं तदेव संक्षिप्य सूत्रत्वेन पुनः प्रकटितम् पश्चाद्विस्तीर्णत्वेन साक्षाच्छ्रीभागवतमिति।'*

अर्थात् श्रीमद्भागवतकी रचना ब्रह्मसूत्रोंका रहस्य परिस्फुटित करनेके लिए हुई है। श्रीमद्भागवत शास्त्र सर्वप्रथम समाधिस्थ श्रीकृष्णद्वैपायनके चित्तमें आविर्भूत हुआ। तत्पश्चात् उन्होंने उसके विस्तृत अर्थको संक्षेप करके सूत्रके रूपमें प्रकाशित किया। इसके बाद उनसे ही विस्तार रूपसे साक्षात् श्रीमद्भागवतका प्रचार जगत्में हुआ है।

गरुड़पुराणमें वर्णन है—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ विनिर्णयः।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थ परिवृंहितः॥

(उद्धृत क्रमसन्दर्भ १/१/१)

अर्थात् श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्रोंका अर्थ है, महाभारतके अर्थका निर्णायक है, गायत्रीका भाष्य एवं वेदार्थका विस्तार है। अतः सूत्रकारने वेदान्तसूत्रमें पहले ही ब्रह्मकी जिज्ञास्यताका प्रतिपादन करके ब्रह्मका स्वरूप निर्णय करनेके लिए वेदान्तके द्वितीय सूत्रकी रचना की है। श्रीवेदव्यासने श्रीमद्भागवतका प्रणयन करते हुए लिखा है—

'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्'—अतएव श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्रोंके अर्थका निर्णायक ग्रन्थ है, इसमें सन्देह नहीं है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर अपनी सारार्थदर्शिनी टीकामें भी लिख रहे हैं— *'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'* (ब्र॰सू॰ १/१/१) सूत्रका अर्थ है *'फलतो विवृतः ध्यानस्यैव जिज्ञासायाः फलत्वात्'* अर्थात् ब्रह्म-जिज्ञासाका फल

ध्यान है, इसी कारण भागवत शास्त्रमें 'धीमहि' (ध्यान करते हैं) शब्दकी विवृति (व्याख्या) हुई है।

हमारे परमाराध्यतम परमगुरुदेव श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपादने श्रीमद्भागवतके प्रथम श्लोककी अपनी 'सिन्धुवैभव-विवृति' के प्रारम्भमें श्रील जीव गोस्वामी द्वारा विरचित परमात्मसन्दर्भके शेषांशके तात्पर्यका किञ्चित् उल्लेख किया है।

श्रीमद्भागवतपुराण साक्षात् भगवान् है। इस प्रधान पुराणमें छह प्रकारके तात्पर्य पर्यालोचित हुए हैं—उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वताफल, अर्थवाद और उपपत्ति। इन छह प्रकारके निदर्शनोंसे तात्पर्यकी उपलब्धि होती है।

श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्रोंका व्याख्यात्मक ग्रन्थ तथा सूत्रोंका अकृत्रिम भाष्य है। *'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादि'*—यह उपक्रम (प्रारम्भिक) श्लोक इसी *'जन्माद्यस्य यतः'* सूत्रके तात्पर्यसे युक्त प्रथम अवतार है। *'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'* प्रश्नकी प्रथम व्याख्यामें तेज (अग्नि), वारि (जल) एवं मृत्तिक (पृथ्वी) आदिके परस्पर विनिमयके कारण सत्य रूपमें प्रतीत होनेवाले विश्वकी नश्वरता एवं उसके पश्चात् उसके उत्तर रूपमें 'भगवान्का हम ध्यान करते हैं' कहा गया है।

'मुक्तप्रग्रह' योगवृत्ति (बाधारहित मुख्यार्थ वृत्ति) के अनुसार बृहत्त्व गुणके कारण ब्रह्म सर्वात्मक और उससे भी बहिर्भूत होकर है। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों इत्यादिके कारण स्वतः ही श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार मूलरूपकी अभिव्यक्तिके लिए परब्रह्म शब्दसे भगवान् ही लक्षित हुए हैं। अन्तर्यामी पुरुष भगवान्के अंशविशेष हैं तथा प्राकृत गुणोंसे रहित निर्गुण ब्रह्मका मूलस्वरूप भी भगवान् ही हैं।

श्रीपाद रामानुजाचार्यने अपने श्रीभाष्यमें कहा है—*'बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च तद्ब्रह्मेत्यभिधीयते'* (विष्णुपुराण ३/२२) अर्थात् सर्वत्र ही बृहत् गुण योगके कारण ब्रह्म शब्द निष्पन्न है और इस शब्दका मुख्यार्थ भगवान्में ही लक्षित होता है। बृहत्त्व उनका स्वरूप है, उनके गुणोंकी अवधि नहीं है। उनके गुणोंकी अपेक्षा अधिक गुण अन्यत्र देखे भी नहीं जाते, ब्रह्म शब्दका यही मुख्यार्थ है। वे सर्वेश्वर हैं। प्रचेताओंने कहा है—भगवान्की विभूतियोंका अन्त नहीं है, वे अनन्त हैं। अतएव

विविध, मनोहर, अनन्त आकारोंसे युक्त और उन-उन आकारोंके आश्रयस्वरूप भगवान्‌का परमाद्भुत मुख्याकार प्रकट हो रहा है।

इस प्रसङ्गसे भगवान्‌की मूर्त्तिमत्ता भी सिद्ध होती है। 'पर' शब्दसे उनके 'विष्णु' इत्यादि नित्यरूपोंसे समन्वित (युक्त) भगवत्ता प्रमाणित होती है। ब्रह्मा शिवादिसे अतीत वस्तु रूपमें 'पर' शब्दसे विवक्षित विष्णु ही शास्त्रमें अभिव्यक्त हैं। 'धीमहि' अर्थात् 'ध्यान करते हैं'—यहाँ 'जिज्ञासा' शब्दकी व्याख्या भी ध्यान है और जिज्ञासाका तात्पर्य भी ध्यान है इत्यादि बहुत-सी बातें श्रील जीव गोस्वामीने प्रतिपन्न (प्रमाणित) की हैं। श्रीरामानुजाचार्यने भी इस सूत्रसे ब्रह्मका जो सविशेषत्व प्रमाणित हुआ है, उसीको बतलाया है। *'जन्माद्यस्य'* श्लोकपर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तीने अपनी सारार्थदर्शिनी टीकामें वेदान्तके प्रारम्भिक पाँचों सूत्र उद्धृत किये हैं। इस प्रसङ्गमें उन्होंने बहुत-सी श्रुतियोंके साथ-साथ श्रीमद्भागवतके प्रमाण भी लिपिबद्ध किये हैं।

'सत्यं परं धीमहि'—यहाँ 'सत्य' पदमें 'अथातः' सूत्रकी व्याख्या है। 'अथ' शब्दका अर्थ है 'अनन्तर' अर्थात् पूर्वमीमांसामें वर्णित कर्मकाण्डको समाप्त करके और 'अतः' शब्द 'हेतु' अर्थमें प्रयुक्त है, जिसका अभिप्राय है कि ब्रह्मजिज्ञासामें जो हेतु है, वही सत्य ज्ञान है। यह सत्य सर्वसत्ताका दाता एवं अव्यभिचारी रूपसे सत्तामय है। अनन्त ज्ञान ब्रह्म ही परम सत्य हैं। अन्यान्य सत्ताएँ उनकी इच्छाधीन सत्तामय रूपमें व्यभिचारी सत्तात्मक हैं। हम भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य व्यभिचारी सत्ताओंके ध्यानमें इतने ही नियुक्त थे, इस समय उस प्रकारकी व्यभिचारी सत्ताओंके ध्यानका परित्याग करके परम सत्यका ध्यान करेंगे, जो ब्रह्मज्ञानका हेतु है, मूल है।

पूर्वपक्षवादियोंका आग्रह है कि ब्रह्म जीवसे पृथक् है, तो भी जिज्ञास्य ब्रह्मका स्वरूप निर्विशेष है। इसके उत्तरमें उपनिषदका *'यतो वा इमानि'* श्लोक आलोच्य है। जगत्‌के जन्म, स्थिति एवं लय उसके (ब्रह्मके) ही उपलक्षण (परिचायक) हैं। इनकी जीवमें सम्भावना भी नहीं हो सकती। यतः, येन और यत्—ये तीनों पद जन्मादि कारणके

अनुवादकमात्र हैं। जीव एवं ब्रह्मके भेदके सम्बन्धमें श्वेताश्वेतरोपनिषद (४/६) में कहा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

अर्थात् क्षीरोदशायी पुरुष एवं जीव उस अनित्य संसाररूप पीपलके वृक्षके ऊपर सखाकी तरह वास करते हैं। उन दोनोंमेंसे एक अर्थात् जीव अपने कर्मके अनुसार उस वृक्षके फलोंको चख रहा है और दूसरा अर्थात् परमात्मा उन फलोंका भोग न कर साक्षीस्वरूप केवल देख रहा है।

श्रील बलदेव प्रभुने इस सन्दर्भमें विस्तारपूर्वक आलोचना की है। उनका भाष्य एवं टीका द्रष्टव्य है।

श्रीमन्महाप्रभुके वाक्योंसे भी यही सिद्ध होता है—

ब्रह्म हइते जन्मे विश्व ब्रह्मेते जीवय।
सेइ ब्रह्मे पुनरपि हये जाय लय॥

(चै॰च॰म॰ ६/१४३)

अर्थात् यह चराचर विश्व ब्रह्मसे उत्पन्न होता है, ब्रह्म द्वारा जीवित रहता है और उस ब्रह्ममें पुनः लीन हो जाता है।

श्रीभगवान् श्रीमद्भगवद्गीतामें कह रहे हैं—*'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते'* (१०/८) अर्थात् "मैं सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ, मुझसे ही सभी कार्यमें प्रवृत्त होते हैं।"

नारायणोपनिषदमें भी कहा गया है—

'नारायणात् ब्रह्मा जायते, नारायणात् प्रजापतिः प्रजायते, नारायणादिन्द्रो जायते, नारयणादष्टौ वसवः जायन्ते, नारायणादेकादश रुद्रा जायन्ते, नारायणात् द्वादशादित्याः' इत्यादि।

अर्थात् नारायणसे ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, अष्ट वसु, एकादश रुद्र और द्वादश आदित्य इत्यादिकी उत्पत्ति हुई है।

वराहपुराणमें भी कथित है—

नारायणः परोदेवस्तस्माज्जातश्चतुर्मुखः।
तस्मात् रुद्रोऽभवद्देवः यश्च सर्वज्ञतां गतः॥

अर्थात् नारायण ही परमदेव हैं, उनसे ही ब्रह्मा, रुद्र आदि सभी उत्पन्न हुए हैं, वे सर्वज्ञ हैं, वे श्रीकृष्णके वैभव-विलास हैं।

वेदमें प्रतिपादित है—*'ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रः'* इत्यादि।

इस प्रकार जीव ब्रह्म नहीं हो सकता, सूत्रकारने इस जन्माद्याधिकरणमें यह स्पष्ट ही बतला दिया है॥ २॥

३—शास्त्रज्ञेयत्वाधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य— *'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलं। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥'* इति यानि शास्त्रतात्पर्यनिनिणेतृणिषड्विधानि लिङ्गानि स्मृतानि तान्यपि द्वैत एव विलोक्यन्ते। तथाहि श्वेताश्वतराः, द्वासुपर्णेत्युपक्रमः (४/६), अन्यमीशमित्युपसंहारः (४/७), तयोरन्योऽनश्नन्नन्यो (४/६) ऽन्यमीशमित्यभ्यासः (४/७)। ईश्वरसम्बन्धिभेदस्य शास्त्रं विना अप्राप्तेरपूर्वता, वीतशोक इत्यादि फलं (४/७), अस्य महिमानमेतीत्यर्थवादः; (४/७) अन्योऽनश्नन्नित्युपपत्तिश्चे (४/६) त्येवमन्यत्राप्येतानि मृग्याणि। ननु फलवत्यज्ञातेऽर्थे शास्त्रतात्पर्यात् तादृशमद्वैतं तस्य गोचरः, वैफल्याज्ज्ञातत्वाच्च द्वैतं न तद्गोचरः, किन्त्वनूद्यमानमेव तदिति चेन्मैवं। *'पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टंस्ततस्तेनामृतत्वमेतीत्यादिना'* (श्वे॰ १/६) श्वेताश्वतरैस्तत्र फलस्योक्तेः। विरुद्धधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिकतया लोके तस्याज्ञातत्वाच्च। अद्वैतं त्वफलमस्वीकारादज्ञातञ्च शशशृङ्गवदसत्त्वात्। यानि च तदद्वैतबोधकानि वाक्यानि क्वचिद्वीक्ष्यन्ते तानि तन्मात्रायत्तवृत्तिकत्वतद्व्याप्यत्वादिभिः शास्त्रकृतैव सङ्गमयियन्ते। शास्त्रदृष्ट्या तुपदेशो वामदेववदित्युपरिष्टात् (ब्र॰सू॰ (१/१/३०)। अथ जगज्जन्मादिहेतुः पुरुषोत्तमोऽविचिन्त्यत्वाद्वेदान्तेनैव बोध्यो न तु तर्कैरितिवक्तुमारम्भः। *'सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे'* (गो॰ता॰ १/१) इति गोपालतापन्यां, *'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'* (बृ॰आ॰ ३/६/२६) इति बृहदारण्यके पठ्यते च। इह संशयः। उपास्यो हरिरनुमानेनोपनिषदा वा वेद्य इति। गौतमाद्यैर्मन्तव्य (बृ॰आ॰ २/४/५) इति श्रुत्या चाभ्युपगमादनुमानेन स वेद्य इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—शास्त्रके तात्पर्य निर्णायक प्रमाण छह प्रकारके लक्षणोंसे युक्त होते हैं। पहले भी इसका निदर्शन किया गया है—उपक्रम, उपसंहार एवं दोनोंकी एकरूपता, अभ्यास, अपूर्वता फल, अर्थवाद एवं उपपत्ति। देखा जाय तो ये छह शास्त्र-तात्पर्य-निर्णायक प्रमाण जीव एवं ब्रह्मके द्वैतत्व अर्थात् भेदके ही ज्ञापक हैं। किस प्रकारसे? इसे ही क्रमशः बतला रहे हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥
(श्वे० ४/६)

इस श्रुतिका तात्पर्य है कि जीव और ईश्वर दो पक्षी एक साथ रहते हैं—दोनों परस्पर सख्य भावसे युक्त हैं। दोनों एक देहरूप वृक्षका आश्रय लिये हुए हैं, उनमेंसे एक जीवरूप पक्षी सुस्वादु अश्वत्थ फल (पीपल वृक्षके फल) का भोग कर रहा है, अर्थात् सुख-दुःखरूप कर्मफलका भोग कर रहा है और दूसरा ईश्वररूप पक्षी फल न खाकर प्रदीप्त भावसे विराजमान हैं। इस श्रुतिमें तात्पर्य-निर्णायक-प्रमाण इस प्रकारसे हैं—

(१) उपक्रम—उपर्युक्त श्रुतिमें दो आत्माओंका उल्लेख है, ईश्वर एवं जीव।

(२) उपसंहार—ईश्वर उपसंहार हैं। वे जीवसे भिन्न हैं। उपर्युक्त श्रुतिमें कथित पद 'अन्यः' का सम्बन्ध 'ईश' से है—*अन्यमीशमित्युपसंहारः* (४/७), यह भलीभाँति जाना जा सकता है।

उपक्रम एवं उपसंहारकी एकरूपता—इस श्रुतिमें जीव और ब्रह्मकी एकरूपताकी निषिद्धता प्रमाणित हुई है, जिसका सीधा सम्बन्ध *'तयोरन्योऽनश्नन्नन्यो'* (४/६) श्रुतिसे है।

(३) अभ्यास—पुनः-पुनः उल्लेखका नाम अभ्यास है। प्रस्तुत *'द्वा सुपर्णा'* इति श्रुतिमें तयोरन्यः अर्थात् *'अनश्नन् अन्यः'*—इस कथनमें जीवसे जो अन्य है, उसे ईश्वर कहा गया है। पुनः *'अन्यमीशम्'* श्रुतिमें भी ईश्वरको जीवसे पृथक् कहकर पुनः-पुनः दोनोंके भेदका दिग्दर्शन है—एक फलभोगी है पर दूसरा नहीं।

(४) अपूर्वता—ईश्वरसे जीवका भेद है। ईश्वर एवं जीवके बीचमें भेदको शास्त्रके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारसे जाना नहीं जा सकता। जीवका अणुत्त्व और ब्रह्मका बृहत्त्व—यह जीव एवं ईश्वर भेदक धर्म-फल भी एक शास्त्र निर्णायक प्रमाण है, यथा 'वीतशोकेति' अर्थात् जो यह जानते हैं, वे शोकमुक्त हो जाते हैं। इस प्रमाणसे भी दोनोंका भेद जाना गया। इस प्रकार इस नित्य भेदको अपूर्वता कहा

जाता है। यह तथ्य इस श्रुतिसे स्पष्ट है—*'ईश्वरसम्बन्धिभेदश्च शास्त्रं विना अप्राप्तेरपूर्वता, वीतशोक इत्यादि फलम्'* (श्वे॰ ४/७)।

(५) अर्थवाद—*'अस्य महिमानमेतीत्यर्थवादः'* (श्वे॰ ४/७) उनकी महिमाको जानना अर्थवाद है। अर्थवादका अर्थ है 'प्रशंसा'। ईश्वरके उपासक उनकी महिमाका अनुभव करते हैं और गुणानुवाद करते हैं। इस प्रकार यह अर्थवाद (उनकी महिमाको जानना) रूपी प्रमाण भी जीव एवं ब्रह्म दोनोंका भेदबोधक है।

(६) उपपत्ति—इस प्रमाणका अर्थ है भेदमें युक्ति। ईश्वर एवं जीव—जो परस्पर भिन्न हैं, उनमें युक्ति अथवा सङ्गति—*'अन्योऽनश्नन्नभिचाकशीति'* (श्वे॰ ४/६) अर्थात् ईश्वर नामक पक्षी खाता नहीं है, परन्तु उसका वेश समुज्ज्वल है और जीव नामक पक्षी फल खाकर भी मलिन है। इस प्रकार दोनों एक नहीं हो सकते। ईश्वर फल-भोगी नहीं है—यह उपपति है।

यहाँ आशङ्का होती है कि शास्त्रका उद्देश्य क्या है? जो अज्ञात विषय है और फलवान् है, वही शास्त्रका प्रतिपाद्य (उद्देश्य) है। इस रीतिके अनुसार अद्वैत ब्रह्म तो अज्ञात है और उसका ज्ञान फलप्रसू (फलवान्) है। अतएव यही अद्वैत ब्रह्म जिज्ञास्य होनेसे शास्त्रका तात्पर्य है, परन्तु लोकप्रसिद्ध वस्तुका कथन अनुवादके रूपमें गृहीत होता है। अतः अद्वैत ब्रह्मका जिज्ञास्यत्व कहना विधि नहीं, अपितु अनुवाद—भेदोक्ति मात्र है।

इसके उत्तरमें कह रहे हैं—यदि ऐसा कहते हैं, तो यह हो नहीं सकता, क्योंकि ब्रह्म अद्वैत भी नहीं है, अफल भी नहीं है और अज्ञात वस्तु भी नहीं है, जिससे शास्त्रका तात्पर्य उनमे प्रमाणित हो। यथाक्रमसे यही दिखला रहे हैं—*'पृथगात्मानम् प्रेरितारञ्च मत्वा'* (श्वे॰ १/६) इत्यादि। जीव अपने स्वरूपको एवं उसके प्रवर्त्तक (प्रेरक) ईश्वरको पृथक् मानकर उसका भजन करता है और भजनके फलस्वरूप ईश्वरके अनुग्रहसे मोक्ष प्राप्त करता है—इस प्रकार इस श्रुति द्वारा ज्ञानका फल द्वैतमें कहा गया, पर अद्वैतत्वकी सफलता नहीं कही गयी है।

और एक बात, अद्वैत अज्ञात हुआ किस प्रकार? भेद कहनेपर तो दो विरोधी धर्मोंसे अवच्छिन्न (अलग-अलग) प्रतियोगी जीव एवं ईश्वरका भेद शास्त्रसे जाना ही जाता है, लौकिक व्यवहारमें यह भेद अज्ञात ही है। अतः जीवसे विरुद्ध धर्मवाले ब्रह्मके विशिष्टरूपका ज्ञान न होनेके कारण केवल अद्वैत ब्रह्म ही शास्त्रका विषय है—यह भी नहीं कहा जा सकता। पुनः अद्वैततत्त्व फलहीन है, फलवान् नहीं, क्योंकि अद्वैततत्त्व (अद्वैतज्ञान) स्वीकृत नहीं है तथा शशक-शृङ्ग (खरगोशके सींग) के समान असत्-वस्तु है, अलीक है, मिथ्या है, इसलिए यह अज्ञात है। जो सब आपाततः (ऊपर-ऊपर-से) अद्वैतका बोध करानेवाले वाक्य किसी-किसी दर्शनमें देखे जाते हैं। उनकी भी उपपत्ति (युक्ति) को शास्त्रकार तन्मात्राधीन (ब्रह्माधीन) वृत्ति और तद्व्याप्यत्व (विश्वमें ब्रह्मकी व्यापकता) इत्यादिके आधारपर सङ्गत करते हैं।

शास्त्रकारोंका कथन है कि उपदेश शास्त्रोक्तिके अनुसार होता है—*'शास्त्र-दृष्ट्यातूपदेशो वामदेववदित्युपरिष्टात्'* (ब्र॰सू॰ १/१/३०)। जब समस्त वाक्योंका तात्पर्य ब्रह्ममें है, तो वक्ता इन्द्रका स्वविषयक उपदेश राजा प्रतर्दनके प्रति किस प्रकार हो सकता है? इन्द्र ब्रह्मरूपमें प्रतर्दनसे कहते हैं—'मुझे जानो, मेरी उपासना करो।' अद्वैतवादी कहते हैं कि इस उक्तिमें उपास्यने ब्रह्मरूपमें निजविषयक उपदेश दिया है—यह शास्त्र दृष्टिसे सम्पन्न हुआ है, अन्य विधिसे नहीं। इन्द्रादि जीवोंकी ब्रह्माधीनवृत्तित्वके कारण ब्रह्मरूपता है। दृष्टान्त है 'वामदेववत्', जिस प्रकार वामदेव ब्रह्मस्वरूप अनुभव करके कह रहे हैं, 'मैं मनु हूँ, मैं सूर्य हूँ'—इस प्रकार स्वयंकी वृत्तिके कारण उन्होंने ब्रह्मका निर्देश किया है, इस प्रकार यहाँ इन्द्रके सम्बन्धमें भी जानना चाहिये।

अथ जगज्जन्मादिहेतुरित्यादि—अतः इसके बाद *'जन्माद्यस्य यतः'* इस सूत्रके आधारपर जो ज्ञानके विषय हैं, ज्ञात हैं, वे जगत्की सृष्टि, स्थिति एवं लयके कारण अचिन्तनीय हेतु, एकमात्र वेदान्त-वाक्यों द्वारा बोध्य पुरुषोत्तम श्रीहरि हैं। वे तर्क द्वारा ज्ञात नहीं हैं, इसके निरूपणके लिए तृतीय सूत्रका आरम्भ है। गोपालतापनी श्रुतिमें कहा है—वे सच्चिदानन्द स्वरूप, अक्लिष्ट भाव (सहज-सङ्कल्प मात्र) से

जगत् आदिकी सृष्टि करनेवाले, वेदान्तवेद्य, बुद्धिवृत्तिके साक्षी, जगद्गुरु भगवान् हैं, ऐसे श्रीकृष्णको नमस्कार है। बृहदारण्यकमें भी कहा है—*'तत्त्वोपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'*—मैं उपनिषदके प्रतिपाद्य पुरुषके विषयमें जिज्ञासा कर रहा हूँ। यहाँ पुरुषोत्तम भगवान् श्रीहरिको 'उपनिषद पुरुष' कहा है।

प्रश्न यह है कि उपास्य हरि क्या अनुमान द्वारा अनुमेय हैं अथवा उपनिषद द्वारा ज्ञेय। पूर्वपक्षी गौतमादि मुनि कहते हैं—*'ब्रह्म मन्तव्यः'* अर्थात् ब्रह्म मननके विषयीभूत और अनुमेय (अनुमानसे जानने योग्य) हैं। श्रुति भी यही कह रही है—आत्मा वा अरे श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यश्च। याज्ञवल्क्य मैत्रेयीसे कहते हैं—आत्माका श्रवण करो, मनन (अनुमान) करो एवं ध्यान करो। अतः श्रुति एवं स्मृति दोनोंके ही द्वारा स्वीकृत आत्मविषयकको अनुमान द्वारा जानो। इसी पूर्वपक्षीय कथनके खण्डनके लिए उत्तर–पक्षरूप तृतीय सूत्रका प्रदर्शन है।

अवतरणिकाभाष्य टीका—उपक्रमेति। बृहत्संहितावाक्यं। उपक्रमोपसंहार–योरैकरुप्यमितितुषऽेव लिङ्गानि। अभ्यासोऽविशेषः पुनरुक्तिः। अर्थवादः प्रशंसा। उपपत्तिर्भेदे युक्तिः सा च भुञ्जानस्यापि मालिन्यमभुञ्जानस्यापि दीप्तिरित्येवंरूपा। नन्वर्थवादस्य स्वार्थे प्रामाण्यं नेति चेन्न। त्रिधा ह्यर्थवादः। *'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः'* इत्युक्तः। आदित्यो युपो यजमानः प्रस्तर इति गुणवादः। अग्निर्हिमस्य भेषजं इत्यनुवादः। इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छदिति भूतार्थवादः। एषवन्त्ययोः स्वार्थे तात्पर्यमिव प्रकृते तदस्तीति न कापि क्षतिः। एवमन्यत्रापीति श्वेताश्वतरोपनिषदादौ इत्यर्थः। किन्त्विति। लोकप्रसिद्धं शास्त्रेणानुद्यते अद्भ्यो वा एषा प्रातरुदेत्यपः सायं प्रविशतीति वदतो न तत्र शास्त्राभिप्राय इति भावः। पृथगिति। आत्मानं स्वं प्रेरितारं ईश्वरं च पृथक् भिन्नं मत्वा जुषण् भजन् जनस्ततस्तदनन्तरं तेन ईश्वरेण हेतुना अमृतत्वं मोक्षमेति। ततस्तत्सम्बन्धेन व्याप्त इति केचित्। आदिपदात् जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमिति गृह्यते। तत्र द्वैते। विरुद्धेति। अणुत्वविभुत्वनियम्यत्वनियामकत्वादयो मिथो विरुद्धा ये धर्मास्तैरवच्छिन्नौ विशिष्टौ प्रति योगिनौ जीवेशौ यस्य स विरुद्धधर्मावच्छिन्नप्रतियोगी जीवेशयोर्भेदस्तत्तया शास्त्र एव स ज्ञायते न तु लोके, लोके अज्ञातत्वं भेदस्यास्ति। न चाद्वैतमीदृशं भवतीत्याह 'अद्वैतन्त्विति'। न खलु केवलाद्वैतिनो मोक्षे किञ्चित् फलमात्मनि स्वीकुर्वन्ति तत्स्वीकारे तस्य वैशिष्ट्यापत्तेः ततश्च

कैवल्यक्षतिः। न च उपनिषन्मात्रगम्यत्वाददद्वैतमज्ञातमिति शक्यं वक्तुं ब्रह्मात्मकस्य तद्गम्यत्वेऽवाच्यत्वप्रतिज्ञाभङ्गात्। लक्षणाविषयत्वन्तु न स्यात्, सर्वशब्दावाच्ये तस्यायोगात्, तस्मात् खपुंष्पादिवदसत्त्वादेवाज्ञातं तत् पर्यवस्यतीति भावः। नन्वद्वयं बोधयन्तीति श्रुतिः प्रतीयते तस्याः का गतिरिरिति चेत तत्राह 'यानि चेति'। तत्राहुः। न च द्वैतं वेदान्तार्थः सांख्यादिशास्त्रैर्द्वैतिभिर्जीवब्रह्मस्वरूपैक्यरूपतया तदर्थस्याक्षेपादिति। मन्दमेतत् आपातविभ्राजितेन श्रुत्यर्थेन तेषां तथाक्षेपात्। न चैवं शास्त्रान्तरत्वासिद्धिर्व्यावर्त्तकविशेष सत्त्वात् अन्यथा भेदवादिनां तेषां आक्षेप्तुर्न तत्त्वसिद्धिः। न चाद्वैतमेव तदर्थोऽस्तु सूत्रैरसकृन्निराकरणादिति। पूर्वसूत्रे विषयवाक्ये जगज्जन्मादिहेतुभूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं ज्ञातुं ध्यातुं चेषणीयमिति श्रुतं। क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्त्तृकं कार्यत्वात् घटवदित्यनुमानेनापि तद्बोधसिद्धौ किं श्रुत्येत्याक्षेपसङ्गत्यारभ्यते। वेदान्तेषु मुमुक्षुप्रवृत्त्यनुपपत्तिः पूर्वपक्षे फलं, सिद्धान्ते तेषां प्रवृत्तिरिति। 'सच्चिदिति'। अक्लिष्टमश्रमं यथा स्यात् तथा बहु स्यामिति सङ्कल्पमात्रेण करोति जगदित्यक्लिष्टकारी अथवा भक्तानक्लिष्टान् करोतीति तथाभूतायेत्यर्थः। अत्र सर्वदा सेव्यत्वमुक्तं। तन्त्विति। उपनिषदा प्रतिपाद्यते उपनिषदः शैषिकाण्प्रत्यय—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—उपक्रम, उपसंहार इत्यादि छह प्रमाण बृहत्संहिता वाक्यके द्वारा जाने जाते हैं। उपक्रम-उपसंहारकी एकरूपताके द्वारा छहों प्रमाण सिद्ध हुए। अभ्यास शब्दका अर्थ है—वैशिष्ट्यहीन पुनरुक्ति। अर्थवादका अर्थ है—प्रंशसा। उपपतिका अर्थ है—भेदयुक्ति। जीव-पक्षीके फल द्वारा खानेपर भी मलिनता है और ईश्वर-पक्षीके फल न खानेपर भी उसकी दीप्ति है। इस प्रकारसे अणुत्व, विभुत्व इत्यादि गुण भी ज्ञातव्य हैं। आपत्ति यह है कि अर्थवाद-प्रशंसा तो स्वकीय अर्थमें प्रमाण नहीं है, वह विधेय अर्थका उत्तेजक है। मीमांसा दर्शनमें अर्थवादके सम्बन्धमें जैमिनीका पूर्वपक्षीय सूत्र है—*'आम्नायास्य क्रियार्थत्वाद-प्रामाण्यामतदर्थानाम्'* (जै॰सू॰ १/२/१) (अर्थात् वेदवाक्यमात्र ही क्रियाबोधक रूपमें प्रमाण हैं, अर्थवादरूप वेद क्रियाबोधक नहीं है)। तदनुसार अर्थवाद अप्रामाणिक है। इस सूत्रके उत्तरपक्षमें कहा है—*'विधिनात्वेकवाक्यात्वादस्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः'* (जै॰सू॰ १/२/७) (अर्थात् अर्थवाद वाक्य विधिपरक वाक्योंके साथ एकवाक्यतापन्नको प्राप्त होकर विधेय पदार्थकी स्तुति और निषिद्ध पदार्थकी निन्दामें उपयोगी होते हैं)। हाँ, अर्थवाद क्रियाबोधक नहीं है, यह सत्य है, किन्तु विधिके साथ एकवाक्यता

करके उसकी प्रामाणिकता हो जाती है। इसका कारण यह है कि *'विधिशक्तिरवसीदन्ती अर्थवादेनोत्तभ्यते'* अर्थात् विधि-शक्ति जिस समय दुर्बल हो जाती है, उस समय अर्थवाद विधेय वस्तुको उज्जीवित करता है। उदाहरणके लिए—'प्रति दिन त्रिसन्ध्या उपासना करें', यह विधेय अर्थ है। जिस समय क्लेश-असहिष्णु (कष्ट न सह सकनेवाला), आलसी एवं प्रत्यक्षमें फल न जाननेवाले श्रद्धाहीन व्यक्तिको सन्ध्यामें प्रवृत्त करनेमें कोई समर्थ नहीं होता, तब अर्थवाद वाक्य कहा जाता है कि जो व्रती होकर नित्य सन्ध्योपासना करते हैं, वे पापोंसे मुक्त होकर अविनश्वर शास्त्रवत ब्रह्मलोकको प्राप्त करते हैं। यह अर्थवादके आधारपर कहा हुआ फल है, जो अप्रवृत्त व्यक्तिको कार्यमें प्रवृत्त करता है, अन्यथा अर्थवादकी स्वतः कोई भी प्रामाणिकता नहीं है। इस आपत्तिके खण्डनके लिए कह रहे हैं 'इति चेन्न' अर्थात् देखो, यदि ऐसा कहते हो तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थवाद तीन प्रकारका है—

(१) गुणवाद—जिस समय वाक्यार्थ-बोधमें विरोध हो, उस समय गुणवाद अर्थात् लाक्षणिक सादृश्यार्थ (लक्षणोंके आधारपर समानता) जानना चाहिये। यथा—*'आदित्यो यूपो भवति'* अर्थात् 'सूर्य यूप ही है' (यूपका अर्थ है बाँस या खदिरकी लकड़ीसे बनाया हुआ खूँटा, जिसके साथ बलि चढ़ानेवाले पशुको बाँधा जाता है)—'यूप' कह देनेसे सूर्यकी यूपरूपता सङ्गत नहीं होती, अतः सङ्गतिके लिए यूपको सूर्यके समान कहकर उसकी प्रशंसा की गयी। इसी प्रकार 'यजमानः प्रस्तरः' अर्थात् यजमान स्वयं प्रस्तर (पत्थर) नहीं हो सकता, अतः निन्दारूप अर्थवाद होगा कि यजमान प्रस्तरके समान हृदयहीन है।

(२) अनुवाद स्वरूप अर्थवाद—जिस प्रकार 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' अर्थात् अग्नि हिमका औषध है, यह अनुवाद है, क्योंकि यहाँ ज्ञात वस्तुको ज्ञापित कराया गया है। ज्ञात वस्तुका ज्ञापक होनेसे यह अनुवादस्वरूप अर्थवाद है।

(३) भूतार्थवाद—'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' अर्थात् इन्द्रने वृत्रासुरका विनाश करनेके लिए वज्र उठा लिया। यह वाक्य इतिवृत्त (घटित वृत्तान्त) को ज्ञात करानेवाला है। अतः यहाँ भूतार्थवाद है।

इस प्रकार तीनों प्रकारके अर्थवादोंमें अन्तिम दो अर्थवाद जिस प्रकार अपने ही अर्थके ज्ञापक हैं, उसी प्रकार इस स्थलपर भी वह अनुवाद है तथा भूतार्थवाद भी है। अतः असङ्गतिका प्रश्न ही नहीं उठता। श्वेताश्वतरोपनिषदादि ग्रन्थोंमें भी इस प्रकार देखा जाना चाहिये।

'किन्त्विति' अर्थात् लोकप्रसिद्ध वस्तुका शास्त्रमें उल्लेख करते हैं यथा 'अद्भ्यो वा एषप्रातरुदेति, अपः सायं प्रविशति' अर्थात् सूर्यदेव प्रातःकाल जलसे उदित होते हैं और सायंकाल जलमें प्रवेश करते हैं। इस वाक्यको वक्ताका अभिप्राय समझना चाहिये—शास्त्र यह कहनेकी सम्मति नहीं देते। 'पृथगिति आत्मानम्' अर्थात् स्वयंको एवं प्रेरक ईश्वरको पृथक् मानकर लोग ईश्वरकी सेवा करते हैं और उसके फलस्वरूप ईश्वरके अनुग्रहसे 'अमृतत्व' मुक्ति प्राप्त करते हैं। इस स्थलपर कोई-कोई 'तत्' इस पदका अर्थ करते हैं, 'ईश्वरके साथ सम्बन्धयुक्त होकर'। 'तत्र फलस्योक्तः' यहाँ फलका सम्बन्ध भी जीवमें ही कहा गया है। 'विरुद्धेति' अर्थात् जीवमें अणुपरिमाणत्व है और ईश्वरमें विभुत्व अर्थात् विश्वव्यापकत्व है, जीव नियम्य है और ईश्वर उसके नियामक हैं।

इस प्रकार परस्पर विरोधी धर्मोंसे युक्त जीव एवं ईश्वरका प्रतियोगी, जो भेदका विषय है, उसे उसी रूपमें शास्त्र द्वारा जानना चाहिये, यह लौकिक व्यवहार द्वारा नहीं ज्ञात होता। लोकव्यवहारमें दोनोंका भेद अज्ञात ही रहता है। पूर्वपक्ष! तुम जो कहते हो कि अद्वैत फलवान् और अज्ञात है, एवं शास्त्रका तात्पर्य भी यही है—यह कैसे हो सकता है? केवल-अद्वैतवादी (जो मानते हैं कि जीव-जगत्का कोई अस्तित्व नहीं है, अतः ब्रह्मके साथ उनका सम्बन्ध भी नहीं है) यह स्वीकार नहीं करते कि मोक्षके बाद आत्मामें कोई फल जन्मता है, यदि यह स्वीकृत होता है, तो विशिष्टाद्वैतवाद आ जाता है। इस विशिष्टाद्वैतवादसे तात्पर्य है कि जीव (चित्) एवं जगत् (अचित्) दोनों सत्य हैं और ये दोनों ब्रह्मके शरीर हैं, इस प्रकार जीव-जगत्रूप शरीर विशिष्ट अद्वयतत्त्व ही ब्रह्म हैं—यह सिद्धान्त आ

जाता है। ऐसा होनेपर कैवल्यवाद (जीव और परमात्माकी तद्रूपता) असङ्गत हो जाता है। पुनः अद्वैतको अज्ञात किस प्रकारसे कहते हो?

यदि कहो कि 'ब्रह्मात्मक अद्वैत' उपनिषदोंके द्वारा ज्ञेय है, तो यह भी हो नहीं सकता, क्योंकि जब ब्रह्म अवाच्य (कहने योग्य नहीं) है, तब वह उपनिषदगम्य कैसे हो सकता है? इससे तो ब्रह्मकी अवाच्यताका प्रसङ्ग ही भङ्ग होगा। और यदि लक्षणाके आधारपर उपपत्ति (युक्ति) करते हो, तो वह भी हो नहीं सकता, क्योंकि जो समस्त शब्दों एवं वाक्योंके द्वारा अवाच्य है, वह लक्षणाका विषय भी कैसे हो सकता है? जहाँ लक्षणा है, वहाँ मुख्यार्थ बाधित रहेगा ही। इसलिए अद्वैत आकाश-कुसुमके समान असत् है और इसी कारण अज्ञात रूपमें पर्यवसित हुआ है।

प्रश्न है कि 'अद्वैत जाना जा रहा है', श्रुतिसे यह प्रतीत होता है कि अतः इसका उपाय क्या? इसका उत्तर है 'यानि चेति' अर्थात् द्वैतवाद किसी भी वेदान्त-शास्त्रका प्रतिपाद्य नहीं है, क्योंकि सांख्यादि शास्त्रमें द्वैतवादी जीव एवं ब्रह्मस्वरूपकी एकरूपता द्वारा द्वैतवादका फलतः (परिणाम रूपमें, मूल रूपमें नहीं) प्रतिपादन मात्र करते हैं, वास्तवमें द्वैत नहीं है। यह भी असङ्गत है, क्योंकि आपाततः प्रतीत होनेवाले श्रुतिके अर्थको लेकर वे आक्षेप करते हैं। यदि कहो कि तब तो सांख्यशास्त्र अद्वैतवादियोंका है, तो फिर वहाँ दूसरा शास्त्र होगा ही क्यों? यह भी कहना अनुचित है, कुछ विशेषता उसमें भी है, इसलिए उसकी सत्ता है, ऐसा न हो तो उन भेदवादियोंके सम्बन्धमें आक्षेपकारीकी तत्त्वसिद्धि नहीं हो सकेगी। पुनः अद्वैत ही उनका तत्त्व है, यह भी नहीं है, क्योंकि सूत्रोंके द्वारा बार-बार अद्वैत तत्त्वका निराकरण ही किया गया है।

पूर्व *'जन्माद्यस्य यतः'* सूत्रके द्वारा विषय-वाच्यसे अवगत हुआ जा सकता है कि जगत्की उत्पत्ति, स्थिति एवं लयके कारणीभूत ब्रह्म ही जिज्ञास्य हैं अर्थात् वे ही ब्रह्म जानने एवं ध्यान करनेकी इच्छाके विषय हैं। यह श्रुति द्वारा भी प्राप्य है और अनुमान द्वारा भी बोध्य है। यथा *'क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्'* अर्थात् जो कार्य अर्थात् क्रियाके लिए अनित्य है, वही कर्त्तृसापेक्ष अर्थात् कार्य होनेपर

उसका कर्त्ता है। ये जो क्षिति, बीजका अङ्कुर इत्यादि हैं, उनका भी एक कर्त्ता है, क्योंकि क्षिति इत्यादि सभी कार्य हैं। जिस प्रकार घट कार्य (कर्मरूप) है, अतः कर्त्तृ-सापेक्ष है, इसी प्रकार अनुमानके द्वारा कर्त्तारूपमें ब्रह्मके बोधकी सिद्धि हो सकती है, 'ब्रह्म-अपगम' ब्रह्मको जाना जा सकता है, तब श्रुतिकी आवश्यकता क्यों? इस प्रकारकी आक्षेप-सङ्गतिसे सूत्रका उत्थापन (प्रेरण) हुआ है।

'वेदान्तेषु इति' अर्थात् वेदान्त-वाक्योंमें मुमुक्षुकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इस प्रवृत्तिकी असङ्गतिका क्या फल है, यह पूर्वपक्षसे जाना जा सकता है। सिद्धान्त वाक्योंमें देखा जाता है कि मुमुक्षुओंकी वेदान्त-वाक्योंमें प्रवृत्ति रहती है। 'बहुस्याम् प्रजायेय'—इस श्रुतिके अनुसार इच्छामात्रसे ही जो जगत्की सृष्टि करते हैं, इसलिए वे अक्लिष्टकारी हैं अथवा भक्तोंको क्लेशहीन (कष्टरहित) करते हैं, इसलिए वे अक्लिष्टकारी हैं, ऐसे भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम है। गोपालतापनीकी इस उक्तिमें भगवान् श्रीकृष्णकी उपास्यता अथवा सेवनीयता कथित हुई है। औपनिषद्य—जो उपनिषद द्वारा बोधित होते हैं, इस अर्थमें उपनिषदम् शब्दके उत्तरमें शैषिक तद्धित 'अण्' प्रत्यय द्वारा 'औपनिषद्य' शब्द निष्पन्न हुआ है।

सूत्र—शास्त्रयोनित्वात्॥ ३॥

सूत्रार्थ—'शास्त्रयोनित्वात्' (शास्त्र अर्थात् उपनिषद, वेद आदि) 'योनिः', जिसके बोधके हेतु हैं। उपनिषदके द्वारा ब्रह्म बोध्य हैं, यह सुना जाता है—इस रूपमें ब्रह्म 'न अनुमेयम्'—ब्रह्म अनुमानके विषय नहीं हैं अर्थात् अनुमान नामक प्रमाण द्वारा ब्रह्म बोध्य नहीं हैं, केवल वेदान्त वाक्य द्वारा बोध्य है॥ ३॥

सूत्रानुवाद—वेदादि शास्त्र ब्रह्मस्वरूपको बोधकराने हेतु हैं॥ ३॥

गोविन्दभाष्य—ईक्षतेर्नेत्यतो नेत्याकृष्यं। मुमुक्षुभिरसौ नानुमेयः, कुतः, शास्त्रेति। शास्त्रमुपनिषद् योनिर्बोधहेतुर्यस्य तत्त्वात् उपनिषद्बोध्यत्वश्रवणादित्यर्थः। अन्यथौपनिषद-समाख्याविरोधः। मन्तव्यः (बृ॰आ॰ २/४/५) इति श्रुत्या तु स्वानुसारितर्कोऽभ्युपगतः। *'पूर्वापराविरोधेन कोऽर्थोऽत्राभिमतो भवेत्। इत्याद्यमूहनं तर्कः शुष्कतर्कन्तु वर्जयेत्।'* इत्यादि श्रुतेः। गौतमादिशुष्कतर्कहेयत्वन्तु वक्ष्यते, तर्काप्रतिष्ठानादिति। तस्माद्वेदान्ताद्वि-

दित्वासौ ध्येय इति। इदमेवादुष्टं प्रमाणमिति सूत्रयति। श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादिति। इत्थञ्च हरेरात्ममूर्त्तित्वमनुभूतेरनुभवितृत्वं स्वात्मकधर्माधिष्टानशालित्वं जगत्कर्तृनिर्–विकारत्वं वेत्यादि—श्रूयमाणरूपतया तस्योपासनं सिध्यति। तत्राह, न खलु तावद्वेदान्तवाक्यगणः प्रयोगयोग्यः सिद्धार्थबोधकत्वेन प्रयोजनशून्यत्वात् सप्तद्वीपाव–सुन्धरेत्यादिवाक्यवत्। प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपसाध्यार्थबोधकानि वाक्यानि प्रयोजनवत्त्वात् प्रयोगयोग्यानि दृष्टानि। *'अर्थलिप्सुर्नृपं गच्छेत्' 'मन्दाग्निर्न जलं पिवेत्'* इति लोके, *'स्वर्गकामो यजेत', 'सुरां न पिबेत'* इति वेदे च। नहि प्रयोजनमनुद्दिश्य वाक्यप्रयोगःसम्भवति। तच्च प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्येष्टाप्त्यनिष्टपरिहारात्मकमवगतं। ब्रह्म खलु परिनिष्पन्नं वस्तु। तद्बोधकस्य सत्यं ज्ञानमित्यादि (तै॰ २/१) वाक्यस्य तच्छून्यत्वान्नतद्योग्यत्वं। यदि कश्चित् तं प्रयुयुक्षुर्भवेत् तर्हि प्रयोजनवद्वाक्यैकवाक्य–तया तं प्रयुञ्जानः तस्यापि तद्वत्त्वं ब्रूयात्। तस्मात् क्रतुदेवताकर्तृप्रतिपादनेन तद्वान् तद्वाक्यगणः तद्योग्यो भवतीति। आह चैवं जैमिनिः। *'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यत्वमुच्यते* (जै॰सू॰ १/२/१) *तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वाद्'* (जै॰सू॰ १/१/२५) इति। मैवं भ्रमितव्यं। प्रवृत्तिनिवृत्तिबोधकताविरहेऽपि परमपुमर्थरूपब्रह्मास्तित्वबोधनेनैव तस्य तद्वत्त्वात् निधिसत्तावबोधकवाक्यवत्। यथा त्वद्गृहे निधिरस्तीत्याप्तवाक्यात् तत्प्राप्त्येकलक्षणः पुमर्थस्तथाक्षयानन्दचिद्रूपं निरवद्यसर्वसुहृदात्मप्रदं मदंशि ब्रह्मास्तीति। तत्सत्त्वप्रत्ययादेव स इति न तद्वत्त्वविरहः। पुत्रस्ते जातो नायं सर्पोरज्जुरेवेत्यादिषु स्वरूपपरेष्वपिवाक्येषु हर्षभयनिवृत्तिरूप फलवत्त्वं दृष्टं। किञ्च स्फुटमस्य तद्वत्त्वं परिदृश्यते *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां ... सोऽश्नुते सर्वान् कामान्'* (तै॰ २/१) इत्यादिषु। न चोक्तरीत्या क्रियापरता तस्य शक्या वक्तुं प्रकरणभेदात् प्रत्युत कर्मतत्फलविगानात् श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्। न च निखिलजगदुदयादिकारणे नित्यचिद्वपुष्यनन्तकल्याणगुणरत्नाकरे श्रीनिवासे ब्रह्मणिव्युत्पन्नं शास्त्रमन्यपरं शक्यं कर्त्तुम्। प्रमाणत्वेन स्वविषयावगतिपर्यवसायित्वात्। न चाम्नायस्येत्यादिन्यायेन (जै॰सू॰ १/२/१) जैमिनिना कर्मपरत्वं तस्य समर्थितमिति वाच्यं तस्य ब्रह्मनिष्ठत्वात्। तस्मात् कर्मप्रकरणस्थानां केषाञ्चिद्वाक्यानां स्वार्थान् त्यक्त्वैव तत्परत्वं तेन समर्थितं न त्वन्यत्। तस्मात् ब्रह्मपरमेवतदिति स्फुटम्॥ ३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'ईक्षतेर्नाशब्दम्'* (ब्र॰सू॰ १/१/५) सूत्रमें स्थित निषेधार्थक 'न' का आकर्षण हुआ है। अर्थात् परब्रह्म श्रीकृष्ण उपास्य हैं। इसलिए सूत्रका अर्थ है—मुमुक्षुओं (मुक्तिकामियों) द्वारा वे उपास्य परमेश्वर श्रीहरि अनुमान द्वारा अनुमेय (बोध्य) नहीं है। किस कारणसे? इसका उत्तर है—*शास्त्रयोनित्वात्*। शास्त्र ब्रह्मको जगत्की

योनि या कारण बतलाते हैं। शास्त्रसे अर्थ है उपनिषदादि और योनिका अर्थ है—बोधका मूल कारण, अर्थात् ज्ञानका उपाय। ऐसा न होनेपर तो बृहदारण्यकोपनिषदमें कथित *'औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'* (उपनिषद-वेद्य पुरुषको जाननेकी इच्छा करता हूँ)। इस श्रुतिके अन्तर्गत जो 'उपनिषद' पद है, उसकी व्युत्पत्ति सङ्गत नहीं होगी, अपितु विरोध हो जायेगा। उपनिषदोंमें जिनका प्रतिपादन है, वे ही उपनिषद-वेद्य हैं, व्युत्पत्तिसे यही अर्थ प्राप्त होता है। *'आत्मा वा अरे'* इत्यादि (बृ॰आ॰ २/४/५) श्रुतिमें 'मन्तव्य' पद द्वारा 'मनन' अर्थात् 'तर्क' को ज्ञानका उपाय कहा गया है।

इसका तात्पर्य यह है कि 'स्वानुकूल' (अर्थात् ब्रह्मज्ञानमें अनुकूल) जो तर्क है, वह उपाय रूपमें ग्रहण करने योग्य है। 'तर्क' किसे कहते हैं? इसके उत्तरमें कहा है—पूर्वापर दोनों वाक्योंके विरोध अथवा असङ्गतियोंको छोड़कर कौन-सा अर्थ यहाँ अभिमत होगा, इस प्रकारकी कल्पनाओंका नाम तर्क अथवा ऊहन है। स्मृतिमें कहा गया है कि इस प्रकारके तर्कोंको ग्रहण करे और शुष्क तर्क का सर्वदा त्याग करें। गौतम आदि महर्षियोंका शुष्क तर्क वर्जनीय है, क्योंकि उसकी प्रतिष्ठा नहीं है—*'तर्काप्रतिष्ठानात्'* (ब्र॰सू॰ २/१/११) तर्ककी न कहीं स्थिति है और न ही कहीं समाप्ति। 'मन्तव्यः' का अर्थ है कि वेदान्तवाक्योंका मनन करके, सिद्धान्तको निश्चित करके और उपास्य इष्टको जान करके उसका ध्यान करें। इस प्रकारके शब्द (वचन) निर्दोष प्रमाण हैं। श्रुति दोषरहित प्रमाण है, क्योंकि वह शब्दमूलक है। आगे कहे जानेवाले सूत्र (ब्र॰सू॰ २/१/२७) में इसका वर्णन किया जायेगा। शास्त्रोंमें श्रीहरिका आत्मविग्रहस्वरूपत्व, अनुभूतिका अनुभव-कर्त्तृत्व (साक्षित्व), स्वरूपधर्मका अधिष्ठानत्व, जगत्-कर्त्तृत्व और निर्विकारत्वरूप सुना जाता है। इन शास्त्रीय वचनोंसे उनकी उपासना सिद्ध होती है।

इस विषयमें कोई-कोई कहते हैं कि वेदान्तके समस्त वाक्य ब्रह्मोपदेशके लिए उपयुक्त (प्रयोगके योग्य) नहीं हैं, क्योंकि सिद्ध वस्तु (सिद्ध-अर्थ) ज्ञात होनेके कारण उसके प्रयोजनका अभाव रहता है। अतः ज्ञात वस्तुको जानना उसी प्रकार निष्फल है, जिस प्रकार यह

कहना कि वसुन्धरा सप्तद्वीपवती है। इस वाक्यमें सिद्धार्थका बोध होनेके कारण उसके प्रयोजनका अभाव है। तात्पर्य यह है कि विधायक (व्यवस्थित करनेवाले) वाक्य असिद्ध अथवा अज्ञात विषयमें ही प्रवृत्त होते हैं और उनमें फलश्रुतिकी व्यवस्था रहती है। यथा *'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'* अर्थात् 'स्वर्गकी कामना रखनेवाला व्यक्ति अग्निहोत्र यज्ञ करे'—यह वाक्य अज्ञात अग्निहोत्र, होमका निर्देशक है, परन्तु यहाँ तो ब्रह्म ज्ञात पदार्थ हैं, उनकी जिज्ञासामें किसी भी फलकी कोई श्रुति नहीं है, अतः जिज्ञासा विधेय (अनुष्ठेय अथवा कर्त्तव्य) नहीं हो सकती।

देखा जाता है कि प्रवर्त्तक (प्रवृत्तिजनक) एवं निवर्त्तक (निवृत्तिजनक) रूप अर्थको साधित करनेवाले वाक्य प्रयोजनीय (उद्देश्य) होनेके कारण प्रयोगके योग्य होते हैं। जैसे 'लौकिक व्यवहारमें जिसे धनकी कामना है, वह राजाके समीप जाय'—यह प्रवर्त्तक वाक्य है और 'जिसे मन्दाग्नि दोष है, वह जल न पिये'—यह निवर्त्तक वाक्य है। इन वाक्योंमें यथाक्रमसे अर्थलाभरूप प्रवृत्तिफल और मन्दाग्निरूप निवृत्तिपरक फल सुने जाते हैं। इसी प्रकार वेदमें भी 'स्वर्गका इच्छुक ज्योतिष्टोम यज्ञ करे' और 'सुरापान न करे'—इन वाक्योंमें क्रमशः याग-प्रवृत्ति और सुरा-पानरूप प्रत्यवाय (पाप) के परिहाररूप फलको जाना जा सकता है। इन वेदवाक्योंमें प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप साधनीय विषय कहे जानेसे इनके प्रयोगकी योग्यता स्वीकार करनी पड़ती है। बिना प्रयोजनके वाक्यका प्रयोग असम्भव होता है—यह देखा जाता है। ज्योतिष्टोम यागमें प्रवृत्ति-साध्य स्वर्ग-लाभ (इष्ट वस्तुकी प्राप्ति) तथा सुरापान-त्यागमें अनिष्ट अर्थात् प्रत्यवाय-परिहाररूप प्रयोजन परिलक्षित हो रहे हैं, परन्तु ब्रह्म तो सिद्ध वस्तु हैं, किसी क्रियाके द्वारा साधित होनेवाले नहीं है। *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* (तै॰ २/१) अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप हैं। इस ब्रह्म-बोधक वाक्यमें किसी फलका भी उल्लेख नहीं है। इस प्रकार इन वाक्योंमें प्रयोजनका अभाव होनेके कारण कुछ भी तो अनुष्ठानके योग्य नहीं है, इसलिए इनमें प्रयोग-योग्यता नहीं है।

यदि कोई व्यक्ति किसी स्थानपर इन ब्रह्मपरक वाक्योंका प्रयोग करना चाहता है, तो उसे प्रयोजन-बोधक किसी वाक्यके साथ *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* इत्यादि वेदान्त-वाक्यकी एकवाक्यता करके उन वाक्योंका प्रयोग करना होगा और उस *'सत्यं ज्ञान'* इत्यादि वाक्यमें उस फलके सत्ताबोधक शब्दोंका प्रयोग करना होगा। इसीके परिणामस्वरूप यज्ञ, यज्ञके अङ्गरूप विष्णु इत्यादि देवतागण और यज्ञकर्त्ता यजमानादिके प्रतिपादन द्वारा समस्त वेदान्तवाक्य प्रयोजन-विशिष्ट (प्रयोजनयुक्त) होंगे और वेदान्त-वाक्योंके साथ एकवाक्यता होनेके कारण उनकी प्रयोग-योग्यता देखी जा सकेगी।

पूर्वमीमांसाकार जैमिनिने भी यही बात कही है—*'आम्नायस्य.... नित्यत्वमुच्यते'* (जै॰सू॰ १/२/१) अर्थात् वेदवाक्यमात्र ही अनुष्ठानके बोधक हैं, जो वेदवाक्य क्रियाबोधक नहीं हैं अथवा उनका धर्म-प्रमिति (क्रियापरकता) रूप अर्थ-प्रतिपादकत्व नहीं हैं, वे अप्रामाणिक हैं। अतः इन अक्रियापरक वाक्योंकी अनित्यता एवं निष्फलताका बोध होने लगता है। किन्तु जो क्रियापरक वाक्य हैं, उनके साथ एकवाक्यतारूप विशेष सम्बन्ध रहनेके कारण उनका साफल्य एवं नित्यत्व जानना चाहिये। *'तद्भूतानां क्रियार्थेन....त्वादिति'* (जै॰सू॰ १/१/२५) इस मतके खण्डनके लिए कह रहे हैं कि यह सिद्धान्त भ्रान्त है। इस प्रकारसे भ्रम नहीं करना चाहिये, क्योंकि यद्यपि वेदान्त-वाक्योंसे प्रवृत्ति-निवृत्तिका बोध नहीं होता, तथापि परम पुरुषार्थरूप ब्रह्मके अस्तित्व बोधक वाक्योंसे उन अक्रियापरक वाक्योंका भी सफलत्व जानना होगा, जैसे कि 'धन है'—यह निधिकी सत्ताका बोध करानेवाला वाक्य निधिकी प्राप्तिरूप फलको भी बतलाता है।

बात यह है कि यदि कोई श्रेष्ठ व्यक्ति किसीको कहता है, अरे! तुम्हारे घरमें निधि है, रत्न-खान है। तब वह व्यक्ति समझ लेता है कि यह निधिरूपी पुरुषार्थ उसे प्राप्त हो चुका है। ठीक उसी प्रकार अक्षयानन्द, चित्-स्वरूप, अनिन्द्य (निर्दोष) सुन्दर, सभीके बन्धु, आत्मप्रद अंशविशिष्ट मेरे अंशी ब्रह्म तुममें है—इस वाक्यसे उसके सत्ताबोधकत्वके कारण सभी उपनिषद-वाक्योंका साफल्य सूचित होता

है, अर्थात् प्रयोजन-वैशिष्ट्य बोध होता है, इसलिए फलवत्ताका अभाव नहीं है। 'तुम्हारा पुत्र उत्पन्न हुआ है', 'यह सर्प नहीं, रज्जु है' इत्यादि स्वरूपपर (स्वरूपबोधक) वाक्योंमें हर्ष एवं भय-निवृत्तिरूप फलवत्ता देखनेमें आती है, तब सुव्यक्त फलरूप वेदान्त-वाक्योंको निष्फल बताना कितना असङ्गत है।

किञ्चेत्यादि—इन उपनिषद-वाक्योंकी फलवत्ता स्पष्ट ही देखी जाती है। यथा *'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'* इत्यादि अर्थात् सत्यस्वरूप, ज्ञानात्मक, सनातन ब्रह्म अति रहस्यसे आवृत हैं, जो उन्हें जान लेता है, वह ब्रह्मविद् व्यक्ति समस्त काम्य वस्तुको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार श्रुति ब्रह्मज्ञानकी फलवत्ताको स्पष्टतः व्यक्त कर रही है। परन्तु एक बात है कि इस उक्त रीतिसे अथवा फलकी दृष्टिसे अथवा अर्थवादके समान इन वेदान्तवाक्योंका कर्मबोध (क्रियापरता) में तात्पर्य नहीं जाना जा सकता, क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न प्रकरण हैं—एक ज्ञान है और दूसरा कर्म है। इससे अधिक तो वेदान्त-शास्त्रमें कर्म और कर्मफलकी निन्दा सुनी जाती है। क्रियापरतारूप फलमें श्रुत-हानि और अश्रुत-कल्पना दोष घटित हो जाते हैं अर्थात् उपनिषद-वाक्योंकी ब्रह्मपरता छोड़नी पड़ती है और अश्रुत कर्मपरताकी कल्पना हो जाती है। जो समग्र विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं लयके कारण, नित्य, चित्स्वरूप, अनन्त कल्याण गुणोंके आकर हैं, उन श्रीनिवास ब्रह्ममें व्युत्पन्न शास्त्रकी अन्य विषयक कल्पना नहीं की जा सकती अर्थात् कर्म-तात्पर्यमें उन्हें प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। जिस विषयका जो प्रमाण है, वह उसी विषयका बोध कराता है। उपनिषदके वाक्य ब्रह्म-बोधनमें प्रमाण हैं, ब्रह्मको ही जानना है, कर्मको किसलिए जानना है? और फिर, यह भी नहीं कहा जा सकता कि महर्षि जैमिनि युक्तिबलसे वेदवाक्य मात्रकी ही कर्मपरता (कर्मविधायकता) का समर्थन कर रहे हैं, क्योंकि वे स्वयं ब्रह्मनिष्ठ हैं। उनका कर्ममें अभिप्राय किस प्रकार सम्भव हो सकता है? अतः उनकी इस प्रकारकी उक्तिका अभिप्राय है कि कर्म-प्रकरणमें जितने भी कर्मके अबोधक वाक्य हैं, उन सब वाक्योंके स्वार्थ (निज अर्थ) का परित्याग करके कर्मको ही जानें, इसका समर्थन उन्होंने

'आम्नायेति' सूत्रमें किया है, इसके अतिरिक्त अन्य अफल कथाका वे समर्थन नहीं करते। अतः सिद्धान्त यह हुआ कि वेदान्त शास्त्र सुस्पष्टरूपसे ब्रह्मपरक (ब्रह्मबोधक) है॥ ३॥

सूक्ष्मा-टीका—शास्त्रेति। नानुमेयं ब्रह्म। कुतः, शास्त्रेति, वेदवेद्यत्वावगमात्, नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमिति स्फुटं, मानान्तरप्रतिषेधाच्च। शास्त्रेत्यादिषु हेत्वादिप्रतीकेन हेतुत्वादि बोधयन् भाष्यकृत्समासव्याख्याकर्तृत्वं स्वस्य व्यञ्जयति। एकाक्षरकृतं गौरवं त्वन्तु नापनयसि, ननु स्वफक्किकासु बह्वीषु वह्वक्षरकृतं गौरवमस्ति तत् कथं नापनीतमिति चेत्, न, स्वतन्त्रेच्छुत्वात्। समाख्येति। समाख्या यौगिकः शब्दः स्वानुसारिश्रुत्यनुकुलः। पूर्वेति। कौर्मे वनपर्वणि च। शुष्कतर्कं परित्यज्य आश्रयस्व श्रुतिस्मृतीत्युक्तं। अत्रानुमानं तर्कश्च निरस्यते। अनुमाननिरासे तद्धर्मभूतव्याप्ति-शङ्कानिवर्त्तकस्तर्कोऽपि निरस्यते। तर्कनाशे तर्कनिश्चितव्याप्तिधर्मकमनुमानञ्च निरस्यत इति बोध्यमेवं परत्र च। इत्थञ्चेति। स्वात्मकानि हर्यभिन्नानि यानि धर्माधिष्ठानानि गुणधामानि, तच्छालित्वं तद्वैशिष्ट्यमित्यर्थः। अथ केवलकर्मजडानां मतमनुवदति तत्राहेत्यादिना। प्रयोगयोग्यः उपदेशार्हः। तच्चेति। तच्च प्रयोजनं ज्योतिष्टोमादि-प्रवृत्तिसाध्यस्वर्गादीष्टप्राप्तिरूपं सुरापानादिनिवृत्तिसाध्यानिष्टपरिहाररूपं चेत्यर्थः। अनिष्टं प्रत्यवायः। ब्रह्मेति। परिनिष्पन्नं सिद्धं वस्तु न तु कर्मवत् साध्यमित्यर्थः। तच्छूंन्यत्वादिति। प्रयोजनशून्यतात् प्रयोगार्हत्वं नेत्यर्थः। यदीति। कश्चिद्विद्वान् यदि तं वेदान्तवाक्यगणं। प्रयोक्तुमिच्छुर्भवेत् तर्हि ज्योतिष्टोमादिविधिवाक्यैकवाक्यतया तं तद्वाक्यगणं प्रयुञ्जानः सन् तस्यापि तद्‌गणस्य तद्वत्त्वं ब्रूयादित्यर्थः। तथा तस्य तद्वत्त्वं स्वयं दर्शयति, तस्मात् क्रत्विति। यज्ञादिभूता या देवता विष्णवादयो ये च यज्ञकर्त्तारो यजमाना स्तत्प्रतिपादनेन तद्वाक्यगणः प्रयोजनवान् सन् प्रयोगयोग्यो भवतीत्यर्थः। विधिवाक्यानां यत् फलवत्त्वं तदेव वेदान्तवाक्यानामिति निष्कर्षः। स्वाभ्युपगमे जैमिनिसम्मतिं दर्शयति आह चैवमिति। आम्नायस्येति पूर्वपक्षसूत्रं। तस्यार्थः। आम्नायस्य वेदस्य क्रियार्थत्वात् कर्मपरत्वात्, अतदर्थानां क्रियापरतारहितानां सोऽरोदीदित्यादिवाक्यानां। आनर्थक्यं धर्मप्रमितिरूपार्थप्रतिपादकत्वविरह इत्यर्थ इति। सिद्धान्तमाह। तद्भुतेति। तस्यार्थः, क्रियार्थेन वाक्येन तद्भुतानामक्रियार्थानां समाम्नायः समुच्चारणं सम्बन्ध इति यावत्। कुतः, अर्थस्येति। पदार्थस्य वाक्यार्थहेतुत्वादित्यर्थः। तदेतन्मतं निरस्यति मैवमित्यादिना। तस्य तद्वाक्यगणस्य। तदिति। तत्सत्त्वप्रत्ययात् तादृशब्रह्मास्तित्वावगमात् स पुरुषार्थः प्रकाशत इति न तस्य फलशून्यत्वमित्यर्थः। परिनिष्पन्नवस्तुपरेष्वपि वाक्येषु फलवत्त्वं दृष्टमित्याह पुत्रस्ते इत्यादि। किञ्चेति। तस्य तद्वाक्यगणस्य। तद्वत्त्वं फलवत्त्वं स्फुटं परिदृश्यते। सत्यमिति। आदिपदात् रसो वै सः इत्यादिग्रहः। ब्रह्मणा सह सर्वकामाशनं ब्रह्मज्ञानानन्दित्वं विस्फुटं प्रतीयत इत्यर्थः। परकृतां सङ्गतिं भङ्क्तुमुङ्क्ते नचोक्तेति। तस्य तद्वाक्यगणस्य।

प्रकरणभेदादिति। अन्यत् कर्मप्रकरणं। अन्यत्तुज्ञानप्रकरणमित्यर्थः। प्रकरणैक्ये तु तथात्वं सम्भवेत्। प्रत्युतेति। वेदान्ते कर्म तत्फलञ्च विनिन्दयते। तत् यथेह कर्मजित इत्यादिवाक्याच्च। तद्वाक्यैकवाक्यता दूरोत्सारिता। श्रुतेति। श्रुतं ब्रह्मपरत्वं हीयते। अश्रुतं कर्मपरत्वं कल्प्येत। तथाच शब्दस्वारस्यभङ्गादयो दोषाः प्रसज्जेरन्नित्यर्थः। न चेति। यत्प्रमाणं यद्विषयकं तत्तद्विषयमवबोधयति नान्यत्। अन्यथा निखिलप्रमाणमर्यादाविपर्ययः स्यादिति भावः। न चाम्नायेति। तस्य तद्वाक्यगणस्य। तस्य ब्रह्मेति। जैमिनेर्ब्रह्मनिष्ठत्वं, तद्गुरुणा बादरायणेन जिज्ञास्यते, स्वशास्त्रे तथा मन्मतोपन्यासात्। तद्भूतानामिति जैमिनिसूत्रार्थमाह। तस्मादिति केषाञ्चित् सोऽरोदीदित्यादिवाक्यानां न तुपनिषदामपीत्यर्थः। स्वार्थान् त्यक्त्वेति। विधिवाक्यैक-वाक्यत्वेऽपि स्वार्थपरता न हीयते। तेन जैमिनिना अन्यार्थोत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध इति तदुक्तिविरोधः स्यादिति भावः। तत्शास्त्रम्॥ ३॥

सूक्ष्मा-सार—*'नानुमेय ब्रह्म इति'* अर्थात् ब्रह्म अनुमेय नहीं है। अनुमान मात्रमें ही एक पक्ष, दूसरा साध्य और तीसरा हेतु रहता है। इस स्थलपर अनुमानका पक्ष है—ब्रह्म, साध्य है—अनुमेयताका अभाव और हेतु है—शास्त्रयोनित्व। किस प्रकारका शास्त्रयोनित्व? उत्तर है—वेद-वेद्यत्व क्योंकि वेद वेद्यृत्व है अर्थात् ब्रह्म श्रौतपथ द्वारा ज्ञात है एवं जो वेदज्ञ नहीं है, वह ब्रह्मका मनन नहीं कर सकता। इस श्रुतिसे यह भी स्पष्ट होता है कि शास्त्रके बिना अन्य प्रमाणके द्वारा बोध्यत्वका निषेध अथवा अभाव है।

भाष्यकारने हेतुके प्रतीक 'शास्त्रेत्यादि' (शास्त्रयोनित्वात्) पदोंके समास द्वारा अपना व्याख्या-कर्त्तृत्व (अपनी व्याख्या) प्रकट कर दिया है। सूत्रान्तर (दूसरे सूत्र) से 'न' पदका आकर्षण करके अन्वय करनेमें एक अक्षरका सूत्रमें उल्लेख रहनेपर जो गौरव है, उसका तुम खण्डन नहीं कर रहे हो। यदि कहो कि सूत्रकारका भी तो बहुत फष्टिकाओंमें बहुत अक्षरकृत गौरव है, उसका परिहार क्यों नहीं किया? इसके उत्तरमें कहा जारहा है कि मुनियोंकी इच्छा स्वाधीन है, उनके ऊपर अभियोग नहीं चलता है। फष्टिका-कूट प्रश्न न्यायशास्त्रमें प्रचलित अति सूक्ष्म-पूर्वपक्ष।

'उपनिषदसमाख्याविरोधः' अर्थात् उपनिषद पदके प्रकृति-प्रत्यय योगका विरोध होता है। 'समाख्या' का अर्थ है—यौगिक शब्द स्वयंके उपजीव्य (संरक्षक) मन्तव्य हैं, यह श्रुतिके अनुकूल स्वीकार किया

जाता है। कूर्मपुराण और महाभारतके वनपर्वमें कहा है—शुष्कतर्क अर्थात् वितण्डा छोड़कर श्रुति-स्मृतिका आश्रय करो, उन्हें अपने प्रमाण रूपमें स्वीकार करो। इस स्थानपर ब्रह्मके अनुमान, प्रमाणगम्यत्ववादियोंके अनुमान एवं उनके तर्कका खण्डन कर रहे हैं। अनुमानका खण्डन होनेसे अनुमान धर्म-व्याप्तिकी शङ्काका निराकरण करनेवाले तर्कका भी खण्डन हो रहा है। पुनः तर्कका खण्डन होनेपर तर्कके द्वारा निश्चित व्याप्ति-ज्ञान (एक ज्ञानका पूर्णरूपेण दूसरे ज्ञानमें मिला होना) मूलक अनुमानका भी खण्डन हो रहा है। बात यह है कि अनुमानमें 'हेतु' के व्यभिचार (नियम-भङ्ग) की शङ्काकी निवृत्ति करना तर्क है, वह तर्क ही यदि परास्त होता है, तो व्यभिचारकी शङ्कासे दूषित हेतुके द्वारा अभ्रान्त अनुमिति किस प्रकार होगी? इस रीतिको यहाँपर और अन्यत्र भी जानना चाहिये। इस प्रकार श्रीहरिसे अभिन्न उनका जो समस्त धर्माधिष्ठान है, समस्त गुण एवं धाम है, उन सबका शालित्व अर्थात् वैशिष्ट्य है—यह अर्थ है। यहाँ 'तत्राह' इत्यादि वाक्य द्वारा श्रीहरिकी उपासनासे विमुख केवल कर्मपरायण जड़ व्यक्तिका मत उठाया है।

प्रयोगयोग्यका अर्थ है—उपदेशनीय (उपदेशके योग्य)। इसी प्रयोजनसे ज्योतिष्टोमादि यागमें प्रवृत्ति द्वारा साध्य स्वर्गादि अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति और सुरापानादिसे निवृत्ति द्वारा साध्य अनिष्टकी अनुपपत्ति (असिद्धि) का वर्णन है। अनिष्टका अर्थ है—'प्रत्यवाय'। ब्रह्म सिद्ध वस्तु हैं, कोई भी क्रिया ब्रह्मको उत्पन्न नहीं कर सकती अर्थात् जैसे कोई वस्तु कर्मसाध्य होती है, ब्रह्मके सम्बन्धमें वैसा नहीं है। प्रयोजनका उल्लेख नहीं है, इसलिए प्रयोगार्ह (प्रयोगके योग्य नहीं) है। यदि कोई ज्ञानी व्यक्ति इन वेदान्त-वाक्योंको प्रयोग-पथपर जानना चाहता है, तो वह ज्योतिष्टोमादि वाक्योंके साथ एक-वाक्यता करके उन ब्रह्म-प्रतिपादक वाक्योंका प्रयोग करे। इस प्रकारसे होनेपर उन वाक्योंका सफलत्व कहा जा सकता है—इसे भाष्यकार स्वयं ही दिखला रहे हैं—यज्ञके प्रधानीभूत विष्णु आदि देवता और यज्ञानुष्ठान करनेवाले यजमान उनका प्रतिपादन (बोधन) करके वे वाक्य प्रयोजन-विशिष्ट होकर प्रयोगके योग्य होते हैं।

जहाँ तक फलकी बात है, विधि वाक्योंमें जो फलवत्ता है, उसे वेदान्त-वाक्योंमें जानो। भाष्यकार स्वयंके मतसे महर्षि जैमिनिकी भी सङ्गति दिखला रहे हैं। महर्षि जैमिनि कहते हैं—*'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्'* (जै॰सू॰ १/२/१)। यह सूत्र पूर्वपक्षवादियोंका मत-परिदर्शक सूत्र है। इसमें उनका तात्पर्य इस प्रकार है—आम्नायस्य अर्थात् वेदका, क्रियार्थत्वात्—क्रियामें तात्पर्य हेतु, (क्रियापरत्व) अतदर्थानाम्—जो क्रियाको सूचित नहीं कर रहे हैं, उन सब वाक्योंका। जिस प्रकार 'सोऽरोदीद्'—वह रोया था, इसलिए उसका नाम रुद्र है। इस वाक्यमें किसी विधिका उल्लेख नहीं है—इसलिए ऐसे अर्थवाद वाक्योंके धर्मनिश्चयरूप अर्थकी प्रतिपादकताके अभावके कारण अप्रामाणिकता है और थी। *'सोऽरोदीद् यदरोदीत्तद्रुद्रस्य'* (तै॰सं॰ १/५/१) अर्थात् देवता और असुर परस्पर युद्धके लिए तैयार हैं, देवता अपना चाँदी-सोना अग्निदेवके पास धरोहर रख देते हैं, युद्ध जीतकर आते हैं, अपनी धरोहर अग्निदेवसे माँगते हैं। अग्निदेव धन लेकर भागते हैं, पीछा करनेवाले देवगण उन्हें मारने लगते हैं, उनके नेत्रोंसे जो आँसू निकलते हैं, वे पृथ्वीपर गिरते ही रजत बन जाते हैं। रजतने अग्निदेवसे रोदन कराया, इसलिए उनका नाम रुद्र हुआ, इत्यादि वाक्योंमें विधिपरकता नहीं है अर्थात् यहाँ भी किसी विधिका उल्लेख नहीं है। सिद्धान्तवादी कहते हैं, नहीं, ऐसा नहीं है। *'तद्भूतानाम्'* इत्यादि वाक्योंका अर्थ है कि क्रियाबोधक वाक्योंके साथ अक्रियापरक वाक्योंका उच्चारण है, सम्बन्ध है। किस प्रकार? पदार्थ वाक्यार्थोंका हेतु होता है। 'मैवम्' इत्यादि वाक्यसे इस मतका खण्डन करते हुए कहते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं, यह भूल मत करना, क्योंकि इन वाक्योंकी प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिकी बोधकता रहे अथवा न रहे, परम पुरुषार्थरूप जो ब्रह्म हैं, उनके अस्तित्वका बोध हो जाता है। उनके अस्तित्वका प्रत्यय (निश्चित विश्वास) होता है अर्थात् उस ब्रह्मका अस्तित्व जाना जाता है। पुरुषार्थ प्रकाशित हो रहा है, इसलिए सफलत्व है, फलशून्यत्व नहीं।

इसके लिए दृष्टान्त दे रहे हैं कि सिद्ध वस्तुके बोधक वाक्योंमें भी फलवत्ता दिखती है। जिस प्रकार किसीने कहा—"अरे! तुम्हें पुत्र

हुआ है।" यह कथन यद्यपि स्वरूप-बोधक है, तथापि यह सुननेपर हर्षरूप फल होता है। उसी प्रकार 'यह सर्प नहीं, रज्जु है', इस वाक्यमें भी स्वरूप-बोधकता है, तथापि भय-निवृत्तिरूप फल देखा गया है। *'स्वरूप परेष्वादि इत्यादि'* पदोंमें आदि पदके द्वारा *'रसो वै सः'* इत्यादि वाक्य भी ज्ञातव्य हैं। जिनका तात्पर्य है कि ब्रह्मके साथ समस्त कामनाओंकी सिद्धि और ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति स्पष्ट प्रतीत होती है।

अतः दूसरे द्वारा प्रदर्शित सङ्गतिको भङ्ग करनेके लिए कह रहे हैं—*'नचोक्तरीत्येत्यादि।'* यहाँ तस्यका अर्थ है—उपनिषद-वाक्योंका, हेतुका अर्थ है—प्रकरणभेदात् अर्थात् वेदान्त-वाक्य ज्ञान-प्रकरणीय हैं और अर्थवाद कर्मप्रकरणीय—इसलिए दोनों भिन्न हैं। यदि एक प्रकरणमें दो रहते हैं, तो कर्मपरत्व सम्भव होता, परन्तु वेदान्तमें तो कर्म और कर्मफलकी निन्दा है। पुनः, *'यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवममुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते'* (जिस प्रकार यह कर्मचित् लोक नष्ट होता है, उसी प्रकार पुण्यचित् लोक भी नष्ट हो जाता है) इत्यादि वाक्य भी कर्म और कर्मफलकी निन्दाके परिपोषक है। इस कारण कर्मपरक वाक्योंके साथ ब्रह्म-परक वाक्योंकी एकवाक्यता दूरसे ही पराहत (असिद्ध) होती है। श्रुतार्थ अर्थात् वेदान्त-वाक्योंकी ब्रह्मपरताका त्याग किया जाय और और अश्रुत कल्पना जो अर्थमें प्रयुक्त नहीं होती, उस अर्थपरता (कर्मपरता) की कल्पना कर ली जाय—यह दो दोषोंवाली बात है। इन दोषोंके फलस्वरूप शब्दके स्वरसता-भङ्ग इत्यादि दोषोंकी भी शङ्का होती है। जो प्रमाण जिसे विषय करके प्रयुक्त किया जाता है, वह उसी विषयको सूचित करेगा। दूसरेको नहीं, यह नियम है। यदि ऐसा नहीं मानते हो, तो सभी प्रमाणोंकी शृङ्खला टूटती है। वक्ताके कहनेका यही अभिप्राय है।

'नचाम्नायेति'—'कर्मपरत्वं' 'तस्य'—पदका अर्थ है उपनिषद-वाक्योंमें। तस्य ब्रह्मनिष्ठत्वात् अर्थात् जैमिनिकी ब्रह्मनिष्ठता प्रमाणित हुई है। उनके गुरु वेदव्यास द्वारा जिज्ञासा है, क्योंकि जैमिनिने अपने मीमांसा-शास्त्रमें वेदान्तके मतको ग्रहण किया है। पूर्वोक्त जैमिनिसूत्रके अर्थका तात्पर्य बतला रहे हैं कि कर्म-प्रकरणमें स्थित ये सब सिद्ध

वस्तुएँ हैं, अतएव भूतार्थ जिस प्रकार 'सोऽरोदीत्' इत्यादि कुछ वाक्योंका ही है, इसके अतिरिक्त उपनिषद-वाक्योंका नहीं है। विधि-वाक्योंके साथ एक-वाक्यता रहनेपर भी सम्पूर्ण रूपसे स्व-अर्थका त्याग नहीं है, जैमिनि मुनि इसीका समर्थन करते हैं। वे अन्य कुछ समर्थन नहीं कर रहे हैं, क्योंकि उसमें उनके निजवाक्य—*'अन्यार्थोपपत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः'* का विरोध होता है। 'तत्' से यहाँ अर्थ है 'वेदान्त-शास्त्र'॥ ३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—जगत्के जन्मादिके हेतु पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णको श्रौत-पथसे शास्त्र-वाक्योंके द्वारा जाना जा सकता है, तर्क द्वारा नहीं। इसमें श्रुतियाँ प्रमाण हैं—*'तर्कोऽप्रतिष्ठानात्'* (ब्र०सू० २/१/११), *'नैषा तर्केण मतिरपनेया'* (कठोपनिषद २/९), *'न तां तर्केण योजयेत्'*। इस प्रकार भगवान् तर्कसे अतीत हैं। तब वे किस प्रकारसे बोधगम्य हैं? बृहदारण्यक श्रुतिमें वर्णन है—*'तत्त्वौपनिषदं पुरुषम्'* और गोपालतापनी श्रुति भी कहती है—*'सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायक्लिष्टकारिणे। नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे!'*

इस स्थलपर गौतमादिका पूर्वपक्ष है कि वे अनुमानके द्वारा जाने जाते हैं। जैसा कि श्रुति है—*'आत्मा वाऽरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च।'* इसी पूर्वपक्षके उत्तरमें श्रीमद् वेदव्यासने तृतीय सूत्रकी अवतारणा की है। *'शास्त्रयोनित्वात्'* सूत्रका तात्पर्य है कि ब्रह्मके प्रतिपादक अथवा प्रमाणस्वरूप वेदादि शास्त्र ही हैं अर्थात् उनका स्वरूप निर्णय करना हो, तो वेदादि शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण हैं अथवा वे ही समस्त शास्त्रोंके उत्पत्ति स्थल हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—*'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो'* (श्रीगी० १५/१५) अर्थात् मैं ही सभी वेदोंमें जानने योग्य भगवान् हूँ।

श्रीलजीवगोस्वामीने तत्त्वसन्दर्भमें अपनी सर्वसंवादिनीके अन्तर्गत लिखा है—*'यद्यपि प्रत्यक्षानुमान शब्दार्षोपमानार्था-पत्त्यभावसम्भवैतिह्य चेष्टाख्यानि दश प्रमाणानि विदितानि, तथापि भ्रमप्रमादविप्रलिप्सा-करणापाटवदोषरहितवचनात्मकः शब्द एव मूलं प्रमाणम्।'* अर्थात् यद्यपि प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, आर्ष, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव,

सम्भव, ऐतिह्य और चेष्टा इत्यादि दस प्रकारके प्रमाण सर्वविदित हैं, तथापि इनमें भ्रम, प्रमाद, वञ्चनेच्छा और इन्द्रियोंकी अपटुता इत्यादि चार दोषोंसे निर्मुक्त शब्द प्रमाण ही मूल प्रमाण है।

किसी विषयपर प्रमा अर्थात् निश्चय ज्ञानकी प्राप्ति करनी हो, तो प्रमाणकी आवश्यकता होती है। शब्द प्रमाणके अतिरिक्त अन्य प्रमाणोंमें पूर्वोक्त चार दोषोंकी सम्भावना रहती है और उन दोषोंके कारण प्रकृत (वास्तविक) ज्ञान असङ्गत हो जाता है। शब्द प्रमाण समस्त दोषोंसे रहित होता है, यह असंदिग्ध रूपसे कहा जा सकता है। शब्द प्रमाण निरपेक्ष एवं स्वाधीन होता है। सेवक जिस प्रकार राजाके अधीन होते हैं, उसी प्रकार अन्यान्य प्रमाण शब्द प्रमाणके अधीन होते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा है—

भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव।
आर्ष—विज्ञवाक्ये नाहि दोष एइ सब॥

(चै॰च॰आ॰ २/१६)

इन पयारोंमें भ्रमका अर्थ है जो वस्तु जैसी नहीं है, उस सम्बन्धमें मिथ्याज्ञान, यथा—रज्जुमें सर्पका भ्रम, अथवा शुक्तिमें रजतका भ्रम। प्रमादका अर्थ है—अनवधानता (असावधानी) अर्थात् एक बातको अन्य प्रकारसे उपलब्ध करना (समझना) अथवा श्रवण करना। करणापाटवका अर्थ है—इन्द्रियोंकी अपटुता, यथा—आँखोंकी दूरदर्शिता-रहितता, क्षुद्र वस्तुको देख न पाना, सुदूर स्थित शब्दके श्रवणमें अक्षमता, पीलिया आदि रोगके कारण वर्ण-ज्ञानका विपर्यय और विप्रलिप्साका अर्थ है—चित्तका अन्यत्र विक्षेप (इधर-उधर होना)। जो आर्ष अर्थात् ऋषिकृत विज्ञ वाक्य हैं, उनमें ये सब दोष नहीं होते।

श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यके शिष्योंके साथ श्रीगोपीनाथ आचार्यका कथोपकथन द्रष्टव्य है—

शिष्यगण कहे—ईश्वर कह कोन प्रमाणे?
आचार्य कहे—विज्ञमत ईश्वर लक्षणे।
शिष्यगण कहे—ईश्वरतत्त्व साधि अनुमाने।

आचार्य कहे—अनुमाने नहे ईश्वर-ज्ञाने। इत्यादि।

अनुमान प्रमाण नहे ईश्वरतत्त्व-ज्ञाने।
कृपा विना ईश्वरेरे केह नाहि जाने॥

(चै॰च॰म॰ ६/८०-८२)

अर्थात् शिष्यगण कहते हैं—आप किस प्रमाणके आधारपर उन्हें ईश्वर कहते हैं?

आचार्य कहते हैं—विज्ञजनों (विद्वानों) ने जिन लक्षणोंके आधारपर ईश्वरको स्थापित किया है, मैं उन्हीं लक्षणोंके द्वारा उन्हें ईश्वर कहता हूँ।

शिष्यगण कहते हैं—ईश्वरतत्त्व अनुमानके द्वारा जाना जाता है।

आचार्य कहते हैं—ईश्वरको जानना है, तो अनुमान प्रमाण रूपमें कार्य नहीं करता, क्योंकि ईश्वरकी कृपाके अतिरिक्त कोई उन्हें जान नहीं सकता।

(वस्तु-तत्त्वज्ञान ही ईश्वरकी कृपाका प्रमाण है।)

इस स्थलपर शिष्योंका निराधार तर्क-व्याप्ति-ज्ञान-लक्षण ही अनुमान है। यथा *'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'* अर्थात् जहाँ धुआँ देखा जाता है, वहाँ अग्नि है, यह अनुमान द्वारा समझा जाता है। ईश्वर विषयमें अनुमान इस प्रकार कार्य करता है यथा—जो वस्तु देखी जाती है, उस सबका कारण है। यह परिदृश्यमान जगत् एक वस्तु है, इसलिए इसका कोई कारण न रहे, ऐसा हो नहीं सकता। अतः ईश्वर विश्वका कारण है, यह तत्त्व साधित है परन्तु इस प्रकारके अनुमानोंसे ईश्वर ज्ञेय नहीं है।

श्रीमद्भगवद्गीता (१६/२४) में द्रष्टव्य है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि॥

अर्थ—अतएव कार्य-अकार्यकी व्यवस्थाके विषयमें शास्त्र ही तुम्हारे लिए प्रमाण है। इस कर्त्तव्यके विषयमें शास्त्रमें उपदिष्ट कर्मसे अवगत होकर उसे करनेके लिए निमित्त होओ।

इस श्लोकको टीकामें श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने कहा है—"शास्त्रविमुखताके फलस्वरूप कामादिके अधीन प्रवृत्ति पुरुषार्थसे भ्रष्ट करती है, इसलिए कार्य-अकार्य व्यवस्थामें तुम्हारा क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य है—इस विषयमें निर्दोष अपौरुषेय वेदरूप शास्त्र ही प्रमाण हैं। भ्रमादि दोषोंसे युक्त पुरुष द्वारा उपदिष्ट वाक्य प्रामाणिक नहीं हैं।" श्रील नरोत्तमदास ठाकुरने कहा है—

साधु-शास्त्र-गुरु-वाक्य, चित्तेते करिया ऐक्य
आर ना करिह मने आशा॥

(प्रेमभक्तिचन्द्रिका)

अर्थात् साधुओं, शास्त्रों और श्रीगुरुदेवके मुखसे निःसृत उपदेशोंको ही हृदयमें धारण करना चाहिये, इसके अतिरिक्त किसीपर आशा नहीं रखनी चाहिये।

श्रीमद्भागवत (१०/१६/४३-४४) में नागपत्नियाँ अपनी स्तुतिमें कह रही हैं—

नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये॥
नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये।

अर्थात्—आप नाना मतभेदोंके अनुसार उन मतवादियोंको उन-उन रूपोंमे दर्शन देते हैं। शब्दोंके अर्थके रूपमें तो आप हैं ही और शब्दोंके रूपमें भी आप ही हैं। आप शब्द एवं अर्थका संयोग करानेवाली विविध प्रकारकी अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जनाके मूलकारण रूपमें भी प्रतीयमान होते रहते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंको प्रमाणित करनेवाले मूल आप ही हैं। आप स्वतःसिद्ध ज्ञानस्वरूप हैं। आप ही आधिकारिक प्रामाण्यके लिए भागवत-प्रकाशक वेदव्यासस्वरूप हैं। आप ही समस्त शास्त्रोंके मूल उद्गम स्थान हैं।

श्रीमद्भागवतके ही *'ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियब्रह्म निर्गुणम्'* (३/३२/२८) श्लोकमें श्रील जीवगोस्वामी अपने क्रमसन्दर्भकी टीकामें लिखते हैं—*'ब्रह्म च जीवानां शब्द गोचरे एव नत्वनुभवगोचरः तत्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि इति श्रुतेः। शास्त्र-योनित्वादिति न्यायाच्च।'* अर्थात् ब्रह्म

भी शब्दके द्वारा गोचरीभूत हैं, जीवके अनुभव अर्थात् अनुमान-गोचर नहीं हैं। अतः इस विषयमें जीवका प्रयास अकिञ्चित्कर है।

पुनः कोई-कोई वेद-उपनिषदोंको प्रामाणिक शास्त्र कहकर मर्यादा देते हैं, परन्तु पुराणोंको मर्यादा नहीं देते। इस प्रसङ्गमें हम श्रीमद्भागवत (१/४/२०) में देखते हैं—

इतिहासपुराणञ्च पञ्चमो वेद उच्यते।

अर्थात् इतिहास और पुराण भी साक्षात् 'वेद' शब्दसे ही संज्ञित होते हैं। श्रीमैत्रेयजीकी उक्ति है—

इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/१२/३९)

पञ्चम वेद—इतिहास एवं पुराणोंकी भी उन्होंने चारों मुखोंसे सृष्टि की।

वेदान्तमतमें—*'धर्म-ब्रह्म-प्रतिपादकमपौरुषेय वाक्यं वेदः'* अर्थात् धर्म एवं ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले अपौरुषेय वाक्योंको वेद कहा जाता है।

पुराणकर्त्ता कहते हैं—*'ब्रह्ममुखनिर्गतधर्मज्ञापक शास्त्रं वेदः'* अर्थात् ब्रह्मके मुखसे निकले हुए धर्मके ज्ञापक शास्त्रोंको वेद कहा जाता है।

न्यायशास्त्रके मतमें—*'मीनशरीरावच्छेदेन भगवद्वाक्यं वेदः'* अर्थात् मत्स्य शरीर धारण करके भगवान्के द्वारा कहे गये वाक्योंको वेद कहते हैं।

महाभारत और मनुसंहितामें कथित है—*इतिहासपुराणाभ्यां वेद समुपबृंहयेत्* (महाभारत आ॰प॰ १/२०४)।

अर्थात् इतिहास एवं पुराणके द्वारा वेद पूर्ण करें।

इसी प्रकार नारदीयपुराणमें भी कथित है—

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने।
वेदाः प्रतिष्ठिता सर्वे पुराणे नात्र संशयः॥

पुराणमन्यथा कृत्वा तिर्यग्योनिमवाप्नुयात्।
सुदान्तोऽपि सुशान्तोऽपि न गतिं क्वचिदाप्नुयात्॥

अर्थात् हे वरानने! वेदार्थकी अपेक्षा मैं पुराणार्थको अधिक महत्त्वपूर्ण मानता हूँ, क्योंकि सम्पूर्ण वेद शब्द-पुराणमें ही प्रतिष्ठित हैं, इसमें सन्देह नहीं है। सुदान्त हो अथवा सुशान्त हो, जो मनुष्य पुराणोंको वेदसे अन्य प्रकारका मानता है, वह तिर्यक् योनि प्राप्त करता है, उसकी उत्तम गति कभी नहीं होती।

स्कन्दपुराणके प्रभास खण्डमें द्रष्टव्य है—

यन्नं दृष्टं हि वेदेषु तद् दृष्टं स्मृतिषु द्विजाः।
उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत् पुराणैः प्रगीयते॥

अर्थात् हे ब्राह्मणो! वेदमें जो परिलक्षित नहीं होता है, उसका दर्शन मनुस्मृति आदिमें होता है। वेद और स्मृति—दोनोंमें जो उपलब्ध नहीं होता है, वह पुराणमें दृष्ट है।

अन्यत्र भी—

'पूरणात् पुराणम्' अर्थात् वेदार्थको परिपूर्ण करते हैं, इस कारण इसका नाम पुराण है। अतः पुराण अवेद नहीं है।

वेदेर निगूढ़ अर्थ बुझन ना जाय।
पुराण वाक्ये सेइ करय निश्चय॥
(चै॰च॰म॰ ६/१४८)

यदि कहो कि वेदमें किसी वाक्यमें यह स्पष्ट रूपसे नहीं कहा गया है, तो विचार करके देखो, वेद-वाक्योंका अर्थ अत्यन्त निगूढ़ है। महर्षियोंने वेद-वाक्योंका तात्पर्य जगत्में ज्ञात करानेके लिए पुराण-वाक्योंमें ही वेद-तात्पर्य निश्चित कर दिया है। इस प्रकार वेदके निगूढ़ अर्थको पुराणके वाक्योंसे अच्छी प्रकार समझा जा सकता है।

अठारह पुराणोंके विषय श्रीमद्भागवतके बारहवें स्कन्धके सातवें अध्यायके बाइसवें, तेइसवें एवं चौबीसवें श्लोकमें देखे जाते हैं। पुराणोंके भेद तीन प्रकारके हैं—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। उनमें श्रीमद्भागवत पुराणकी सात्त्विक पुराणके रूपमें गणना करनेपर भी यह निर्गुण है। श्रीमद्भागवतकी श्रेष्ठताके विषयमें प्रतिपादन है—*'सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते'* (१२/१३/१५) अर्थात् भागवतको

समस्त उपनिषदोंका सार कहा जाता है। *'श्रीमद्भागवतं पुराणममलम्'* (१२/१३/१८)। श्रीमन्महाप्रभुने भी श्रीमद्भागवतको अमल-पुराण कहा है।

अतः अधिकारी भेदसे विभिन्न लोग विभिन्न शास्त्रोंका आश्रय करते हैं, तथापि निर्गुण वैष्णवगण सर्वशास्त्रशिरोमणि और सर्वशास्त्रचूड़ामणिरूप श्रीमद्भागवतका ही वरण करते हैं।

शास्त्रके सम्बन्धमें भी वेदव्यास स्कन्दपुराणमें कह रहे हैं—

ऋग् यजुः सामाथर्वाख्यं भारतं पञ्चरात्रकम्।
मूलरामायणञ्चैव शास्त्रमित्यभिधीयते॥

यच्चानुकूलमेतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्त्तितम्।
अतोऽन्यग्रन्थविस्तारो नैव शास्त्रं कुवर्त्मतत्॥

अर्थात् ऋक्, यजुः, साम, अथर्ववेद, भारत, पञ्चरात्र, मूल रामायण और पुराणको शास्त्र कहते हैं। इनके अनुकूल ग्रन्थोंको भी शास्त्रोंमें परिगणित किया जाता है। इनके अतिरिक्त ग्रन्थोंको शास्त्र नहीं कहा जा सकता, वे कुवर्त्म हैं।

श्रीमद्भागवतमें ही श्रीसनत्कुमारकी उक्ति है—

शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां क्षेमस्य सध्र्यग्विमृशेषु हेतुः।
(श्रीमद्भा० ४/२२/२१)

अर्थात् शास्त्र जीवोंके कल्याणके लिए भलीभाँति विचार करनेवाले हैं। (कल्याणसे तात्पर्य है—आत्मासे भिन्न देहादिके प्रति वैराग्य तथा अपने आत्मस्वरूप निर्गुण ब्रह्ममें सुदृढ़ अनुराग होना।)

श्रीमद्भागवतमें अन्य स्थलपर भी द्रष्टव्य है—*'पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर'* (श्रीमद्भा० ११/२०/४)।

अर्थात् सर्वशक्तिमान परमेश्वर! आपकी वाणी—वेद ही पितर, देवता और मनुष्योंके लिए श्रेष्ठ मार्गदर्शकका कार्य करती है। इस श्लोककी टीकामें श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने कहा है—वेद केवल मनुष्योंके लिए ही निःश्रेयस्कर नहीं है, देव, पितरादिके लिए भी श्रेष्ठ चक्षु, ज्ञानके हेतु और मार्गदर्शक हैं।

इसी प्रकार *'नाभिह्रदादिह सतोऽम्भसि यस्य पुंसो'* (श्रीमद्भा॰ ३/९/२४) श्लोककी टीकामें श्रील चक्रवर्ती ठाकुर कह रहे हैं कि ब्रह्माजीने कहा—हे भगवन्! वेदाभ्यासकी कृपासे आपके ऐश्वर्य-सिन्धुके कणमात्रमें मेरा जो प्रवेश है, अब इस विचित्र विश्वका विस्तार करते हुए मुझे वेदकी विस्मृति न हो जाय, यह वाणी लुप्त न हो जाय!

पुनः ब्रह्म ही समस्त शास्त्रोंका उत्पत्ति-स्थान है, यह श्रीमद्भागवतके *'जन्माद्यस्य'* श्लोकके *'तेने ब्रह्म हृदा'* (जिन्होंने सङ्कल्पमात्रसे ब्रह्माके हृदयमें वेद प्रकाशित किया है) श्लोकमें प्रकाशित हुआ है॥ ३॥

४—समन्वयाधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—अथ पूर्वार्थदाढर्याय ब्रह्मणः सर्ववेदवेद्यत्वमुच्यते। *'योऽसौ सर्वैर्वेदैर्गीयत'* (गो॰ता॰ २/२३) इति गोपालोपनिषदादि; *'सर्वे वेदायत् पदमामनन्ति'* (कठवल्ली २/१५) इति कठवल्याञ्च पठ्यते। तत्र संशयः। सर्ववेदवेद्यत्वं विष्णोरयुक्तं नवेति। वेदेषु प्रायेण कर्मविधानदर्शनात् अयुक्तं तस्य तत्। वृष्टिपुत्रस्वर्गादिफलकानि कारिरीपुत्रकाम्येष्टिज्योतिष्टोमादीनि कर्माणि साङ्गानि सेतिकर्त्तव्यानि विदधतो वेदा दृश्यन्ते। ते च प्रमाणत्वेन स्वविषयावगतिपर्यवसायिनो, विणुपरतया न शक्या नेतुमिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब चतुर्थ सूत्रकी अवतरणिका कह रहे हैं। पूर्वोक्त वाक्यकी सुदृढ़ता सम्पादनके लिए ब्रह्मका जो सर्ववेद-वेद्यत्व है, वही बतला रहे हैं। *'योऽसौ सर्वैर्वेदैर्गीयते'* (गो॰ता॰ २/२३) अर्थात् जो समस्त वेदोंके द्वारा कीर्त्तित होते हैं अर्थात् जिनमें समस्त वेदोंका तात्पर्य कहा जाता है। कठोपनिषद (२/१५) में भी कहा है—*'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'* अर्थात् जो समस्त वेद विष्णु पदका बार-बार वर्णन करते हैं। इस प्रकार यहाँ 'विष्णुका समस्त वेदवेद्यत्व'—यह विषय है। इस विषयपर यह संशय होता है कि विष्णुका समस्त वेदवेद्यत्व युक्तियुक्त है कि नहीं।

पूर्वपक्ष कहता है—वेदमें प्रायः कर्मोंका विधि-विधान देखा जाता है। इसलिए विष्णुका सर्ववेदवेद्यत्व अयुक्त है। यथा—पुत्रकी कामना करनेवाले पुत्रेष्टि यज्ञ करें, वृष्टिकी कामना करनेवाले कारिरी यज्ञ करें और स्वर्गकी कामना करनेवाले ज्योतिष्टोम यज्ञ करें—इस प्रकार

वेदोंमें फल-विशेषमें क्रियाविशेषका दिग्दर्शन किया है तथा जहाँ इन यज्ञोंका अङ्गानुष्ठान और कर्त्तव्यविधि उपदिष्ट हुई है, वहाँ इन वेद-वाक्योंकी अपने-अपने विषयको अवगत करानेमें ही चरितार्थता दिखायी गयी है। अतः उन वाक्योंका तात्पर्य विष्णु-बोधनमें पर्यवसित नहीं हो सकता। उनमें विष्णुका प्राधान्य नहीं है। जहाँ-जहाँ विष्णुका उल्लेख है, वहाँ केवल यज्ञाङ्गभूत देवतामात्रको ही जानना चाहिये। इस पूर्वपक्षके समाधानके लिए चतुर्थ सूत्रकी उत्थापना है।

अवतरणिका भाष्यस्य टीका—अथ पूर्वार्थेति। पूर्वं हरेर्वेदान्तवेद्यत्वमभिहितं इदानीं निखिलवेदवेद्यत्वमभिधीयते। तेन प्राप्ते उक्तोऽर्थो दृढ़ो भवतीत्यर्थः। तत्रापि पूर्वोक्तैवाक्षेपसङ्गतिः, भगवतो वेदवेद्यत्वमाक्षिप्य समाधानात्। फलन्तु प्राग्वन्निभाल्यं। योऽसाविति। यो गोपालः। यत्पदमिति यद्ब्रह्मस्वरूपं। आमनन्ति अभ्यस्यन्ति। ते चेति। ते वेदा प्रमाणत्वां स्वविषयं कर्मैव बोधयेयुर्नेश्वरं। ये च केचन शब्दास्तत्र जीवेशपरा इव दृश्यन्ते ते विकलयज्ञाङ्गभूतकर्तृदेवतासमर्पणेन तत्रवै पर्यवस्यन्तीति इत्यवोचाम एवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इस चतुर्थ सूत्रके अवतरणके लिए भाष्यकार कह रहे हैं—पहले श्रीहरिको 'वेदान्त-वेद्य' कहा गया, अब गोपालतापनी इत्यादि वाक्योंके द्वारा उनका 'समस्त वेद-वेद्यत्व' कह रहे हैं। इस कथनसे पूर्वोक्त वचन और भी सुदृढ़ होता है—यह अभिप्राय 'आक्षेप-सङ्गति' से प्राप्त है। 'आक्षेप-सङ्गति' का स्वरूप पहले बतलाया गया है। किस प्रकारकी आक्षेप-सङ्गति? इसके उत्तरमें कहते हैं—भगवान्‌की वेदान्त-वेद्यतापर आपत्ति करके फिर उसका समाधान कर रहे हैं। इसका फल पहलेके समान ही कल्पनीय है। योऽसौ—जो गोपाल हैं, यत्पदमिति—जो ब्रह्मस्वरूप हैं, आमनन्ति—पुनः-पुनः बतलाते हैं अर्थात् गोपाल समस्त वेदमें गाये जाते हैं। आपत्ति यह है कि विष्णुका सर्ववेदवेद्यत्व अयुक्त है अथवा युक्त क्योंकि वृष्टि, पुत्र इत्यादि वेद प्रमाण वाक्य अपने वक्तव्य कर्मका ही बोध कराते हैं, ईश्वर श्रीहरिका नहीं। तब जो कितने ही शब्द वेदमें ईश्वर-बोधक रूपमें देखे जाते हैं, वे सब त्रुटिपूर्ण (विफल) यज्ञके अङ्गभूत कर्त्ता और देवताको सूचित करके उनके ही तात्पर्यमें पर्यवसित हो जाते

हैं। इस प्रकार श्रीहरिके वेदवेद्यत्वका खण्डन करके पूर्वपक्ष स्थिर हुआ है, उसीको निरस्त करनेके लिए इस सूत्रकी प्रवृत्ति है।

सूत्र—तत्तु समन्वयात्॥ ४॥

सूत्रार्थ—'तु' (किन्तु), 'तत्' (विष्णुका सर्ववेदवेद्यत्व युक्तियुक्त है), 'समन्वयात्' (सुविचारित होनेके कारण)॥ ४॥

सूत्रानुवाद—किन्तु समस्त वेद-वाक्योंके समन्वयके कारण विष्णुका सर्ववेदवेद्यत्व होना युक्तियुक्त है॥ ४॥

गोविन्दभाष्य—तुशब्दः शङ्काच्छेदार्थः। तत् सर्ववेदवेद्यत्वं विष्णोर्युक्तं, कुतः, समन्वयात्। अन्वयस्तात्पर्यलिङ्गम्। समन्वयत्वं सुविचारितत्वम्। सुविमृष्टैरुपक्रमोप-संहारादिभिःषड्भिर्लिङ्गैस्तत्रैव शस्त्रतात्पर्यात् स एव तद्वेद्य इत्यर्थः। इतरथा कथं योऽसावित्यादिश्रुतिवाक्योपपत्तिः (गो॰ता॰ २/२३)। आह चैवं भगवान् पुण्डरीकाक्षः (श्रीगी॰ १५/१५)। *'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्'* इति। *'किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्। इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन। मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम्'* इति वा (श्रीमद्भा॰ ११/२१/४२)। एतदुक्तं भवति, साक्षात्परम्पराभ्यां वेदा ब्रह्मणि प्रवर्त्तन्ते। तत्र स्वरूपगुणनिरूपणेन ज्ञानकाण्डे साक्षात्, कर्मकाण्डे तु ज्ञानाङ्गभूतकर्मप्रतिपादनेन परम्परयेति मन्यन्ते, *'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'* (बृ॰आ॰ ३/९/२६), *'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति'* इत्यादि (बृ॰आ॰ ४/४/२२) श्रवणात्। वृष्टिपुत्रस्वर्गादिफलकर्मविधायिता तु तेषां रुच्युत्पादनार्थैव। वृष्ट्यादिफलदृष्ट्या तेष्वभिजातरुचेस्तदर्थान् विचारयतो नित्यानित्यवस्तुविवेकिनो ब्रह्मतृष्णा जगद्वैतृष्णयञ्च स्यादिति सिद्धं सर्वेषां तेषां ब्रह्मपरत्वम्। कामितस्यैव वृष्ट्यादेः फलत्वेन प्रतीतेरकामितोऽसौ न स्यात्। किञ्च ज्ञानोदयार्था बुद्धिशुद्धिरेव भवेत्। तमेतमित्यादेरिति ब्रह्माङ्गभूतदेवतार्चनं खलु ब्रह्मार्चनमेव तत्फलन्तु चित्तशुद्धिरेवेत्यन्यत् प्राग्वत्॥ ४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रस्थ 'तु' शब्द शङ्काके निराकरणके लिए है। 'तत्' अर्थात् विष्णुका 'सर्ववेदवेद्यत्व' युक्तियुक्त है। किस प्रकार लिए? क्योंकि समन्वय है। अन्वय शब्दका अर्थ है—तात्पर्य बोधक प्रमाण वही कह रहे हैं। समन्वय शब्दका अर्थ है—'सुन्दर रूपसे विचारित।' किस रूपमें—उत्तम रूपसे विज्ञात—उपक्रम, उपसंहार इत्यादि पूर्वोक्त छह प्रकारके तात्पर्य लक्षणों (प्रमाणों) के द्वारा शास्त्रके अभिप्रायसे अवगत होता है कि विष्णु ही वेदवेद्य हैं। यदि

वेदका तात्पर्य ब्रह्ममें पर्यवसित न हो, तो *'योऽसौ...'* इत्यादि श्रुतिकी किस प्रकारसे सङ्गति होगी? यही बात (श्रीहरिका समस्त वेदवेद्यत्व) भगवान् पद्मपलाश-लोचन (पुण्डरीकनयन) श्रीहरि स्वयं अपने श्रीमुखसे श्रीगीताशास्त्रमें कह रहे हैं—"सभी वेद मेरे ही विषयमें बतलाते हैं, मैं ही वेदशास्त्रोंका कर्त्ता और मैं ही समग्र वेदवेत्ता हूँ।" इसी अभिप्रायको श्रीभगवान्ने श्रीमद्भागवत शास्त्र (११/२१/४२) में भी कहा है—*'किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्'* अर्थात् "कर्मकाण्डमें विधिवाक्योंसे क्या व्यक्त होता है, देवताकाण्डमें मन्त्रवाक्यों द्वारा क्या प्रकाशित होता है और ज्ञानकाण्डमें नेति, नेति द्वारा प्रतिषेधार्थ करके विकल्पमें (तर्क-वितर्कमें) किसका उल्लेख होता है, इस जगत्में मुझसे अतिरिक्त कोई नहीं जानता, केवल मैं ही जानता हूँ। वेद मुझे ही यज्ञ कहते हैं, मुझे ही यज्ञके देवताके रूपमें प्रकाशित करते हैं तथा महत्-तत्त्व इत्यादि विश्व-प्रपञ्चको सृष्टिकालमें मुझसे पृथक् कहकर पुनः उस प्रपञ्चको मेरा ही स्वरूप प्रतिपादित करते हैं। मैं ही सर्वस्वरूप हूँ।" इन प्रमाणोंसे 'अपोह' अर्थात् ईश्वरातिरिक्त वस्तु स्वयं ही निरस्त हो गयी है।

बात यह है कि वेदका ब्रह्ममें तात्पर्य दो प्रकारसे है, साक्षात् रूपसे (सीधे-सरल) और परम्परा (परोक्षरूप) से। मनीषीगण विचार करते हैं कि समस्त वेदका ज्ञानकाण्ड भगवान्के स्वरूप एवं गुण-निरूपणके द्वारा साक्षात् रूपसे ईश्वरका बोधक है एवं कर्मकाण्ड तत्त्वज्ञानके अङ्ग अथवा उपायीभूत कर्मके प्रतिपादन द्वारा परम्परा सम्बन्धसे ईश्वरका प्रतिपादक है। ऋषि कहते हैं—*'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'* (बृ॰आ॰ ३/९/२६) अर्थात् भृगुने वारुणिसे कहा—"भगवन्! मैं उपनिषद-वाक्य-वेद्य पुरुषको जानना चाहता हूँ।" "तत्त्वपिपासु व्यक्ति उन परमेश्वरको वेदवाक्योंके द्वारा जानना चाहते हैं" (बृ॰आ॰ ४/४/२२) इत्यादि श्रुतियाँ भगवान्के वेदवेद्यत्वकी प्रमाणस्वरूपा हैं। तब जो वेदवाक्य कर्मकाण्डमें वृष्टि, पुत्र, स्वर्गादि फल देनेवाले कर्मोंको प्रकाशित करते हैं, उनका उपाय क्या है? इसीलिए बतलाया कि इन सब कार्योंमें जीवकी रुचि उत्पन्न हो। वृष्टि इत्यादि फल देखकर उन-उन कर्मोंमें जीवकी प्रवृत्ति होगी ही। इसके बाद वेदार्थका

विचार करके जान लेंगे कि ये सब फल अनित्य हैं, केवल ब्रह्म ही सत्य अर्थात् नित्य हैं। इस प्रकारसे विवेक जाग्रत होनेपर ब्रह्म विषयमें आकांक्षा और संसारसे वितृष्णा हो जायेगी। अतः यही सिद्ध होता है कि समस्त वेदोंका तात्पर्य ब्रह्ममें ही निहित है। जब देखा जाता है कि यज्ञ, वृष्टि, स्वर्गादि अभीष्ट वस्तुएँ फलपरक हैं, तब ऐसा प्रतीत होने लगता है कि ये यज्ञादि वस्तुएँ अनभीष्ट (अकामित) होनेपर फलपरक नहीं होंगी। और एक बात, कर्मके द्वारा चित्त-शुद्धि होती है और उससे ज्ञानोदय होता है। *'तमेतम्'* (बृ॰आ॰ ४/४/२२) श्रुतिका तात्पर्य है, ब्रह्मशक्तिभूत इन्द्रादि देवताका अर्चन ईश्वरका अर्चन है और चित्तशुद्धि ही उसका फल है। (इन्द्रादि देवता ब्रह्मके शक्तिभूत तथा कर्माङ्गभूत रूपसे अर्चित होते हैं।) यदि कहो, तब ये सब फल-श्रुति क्यों बतला रहे हैं? केवल रुचि उत्पन्न करनेके लिए ही, अन्य किसी कारणसे नहीं। यहाँ पूर्वोक्त मत ही जानना, दूसरा कुछ नहीं॥ ४॥

सूक्ष्मा-टीका—तत्त्विति। स एवेति। स विष्णुरेव वेदवेद्य इत्यर्थः। वेदैश्चेति श्रीगीतासु। वेदान्तकृद्वेदार्थनिश्चायकः। उभयोरपि दृष्टोऽन्त इत्यादावन्तशब्दस्य निश्चयार्थत्वप्रत्ययात्। किमिति श्रीभागवते। कर्मकाण्डे विधिवाक्यैः किं विधत्ते। देवताकाण्डे मन्त्रवाक्यैः किमाचष्टे प्रकाशयति। ज्ञानकाण्डे प्रतिषोधाय किमनूद्य विकल्पयेत्। अस्या वेदवाण्याः। अस्या हृदयं स्वयमाह, मामिति। मां यज्ञरूपं विधत्ते। तत्तद्देवतारूपं मामभिधत्ते प्रकाशयति। यश्च प्रधानमहदादिप्रपञ्चजातं सर्गे विकल्प्य पृथङ्निरूप्य पुनः प्रतिसर्गे मद्रूपतामापाद्य पृथग्भावस्तस्यापोह्यते। तत्सर्वमहमेव। शक्तिमतो ममैतद्रूपत्वादिति। तेषां वेदानां। तेष्वति। वेदषुत्पन्नप्रीतेर्वेदार्थान् विचारयतो जनस्येत्यर्थः। ननु कर्मणां कारिरीप्रभृतीनां वृष्ट्यादिफलानि श्रूयन्ते ज्ञानाङ्गचित्त-शुद्धिफलकत्वं कथं श्रद्दधीमहीति चेत् तत्राह। कामितस्यैवेति। स्वर्गकामो यजेत इत्यादौ कामित एव स्वर्गादिः फलत्वेन प्रतीतो नत्वकामित इत्यर्थः। असौ वृष्ट्यादिरित्यर्थः। अपरां सङ्गतिं दर्शयति ब्रह्माङ्गेति। चिदचिच्छक्त्युपेतं खलु ब्रह्म। तच्छक्तिभूता इन्द्रादयो देवता स्तदङ्गबुद्ध्या इज्यन्ते। ब्रह्मार्चनमेव तद्यजनं। तेन चित्तं शुद्ध्यति न तु फलान्तरं तत्स्पृहाविरहादित्यर्थः। तर्हि फलश्रवणं कथं सङ्गतं तत्राहान्यत् प्राग्वदिति। रुच्युत्पादनार्थं तदिति॥ ४॥

सूक्ष्मा-सार— *'स एवेति'*—विष्णु ही वेदवेद्य हैं। *'वेदैश्चेत्यादि'*—विष्णु ही वेदवेद्य हैं। श्रीमद्भगवद्गीताके वेदैश्चेत्यादि श्लोकके 'वेदान्तकृत्'

पदका तात्पर्य है कि 'वेदोंके अर्थका निश्चय करनेवाला मैं हूँ।' उभयोरपि इत्यादिमें जिस प्रकार अन्त शब्दका अर्थ निश्चय है, उसी प्रकार 'वेदान्त' शब्दका अर्थ 'वेदार्थका निश्चय' जानना चाहिये। *'किमित्यादि'* श्लोक श्रीमद्भागवत (११/२१/४२) से उद्धृत है। इस श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—कर्मकाण्डमें विधिवाक्योंके द्वारा श्रुति किसका विधान कर रही है? देवताकाण्डमें मन्त्रवाक्य किसे प्रकाशित कर रहे हैं अथवा ज्ञानकाण्डमें निषेधका उद्देश्य करते हुए विकल्प (तर्क-वितर्क) में किसका उल्लेख है? 'अस्याः' का अर्थ है—इस वेदवाणीका, जिसका अभिप्राय वक्ता स्वयं कह रहे हैं—'माम्' अर्थात् यज्ञरूपी मेरा ही सर्वत्र विधान किया गया है, उन-उन देवताओंके रूपमें मुझे ही प्रकाशित किया है और जिन प्रकृति, बुद्धि इत्यादि प्रपञ्चोंको सृष्टिकालमें पृथक्-पृथक् रूपसे प्रकाशित किया है, वे सब मेरे ही स्वरूपभूत हैं, मुझसे पृथक् नहीं हैं पुनः प्रलयकालमें मेरा ही (ईश्वरमें लय) स्वरूप बतलाकर खण्डन करते हैं कि प्रपञ्चसे ईश्वर पृथक् है। अरे! समस्त मैं ही हूँ, सभी कुछ मुझ सर्वशक्तिमानका ही रूप है। उन वेद-वाक्योंसे, वेदार्थमें रुचि अथवा प्रीति उत्पन्न होनेके बाद वेद-प्रतिपाद्य वस्तुका विचार करते हैं। कौन नित्य है, कौन अनित्य है? अब शङ्का उत्पन्न होती है कि कारिरी इत्यादि कर्मोंका वृष्टि इत्यादि फल तो इन सब वाक्योंमें सुना जा रहा है, तब उनके ज्ञान द्वारा साध्य जो चित्तशुद्धि है, उसके फलपर किस प्रकार विश्वास कर सकते हैं? यदि ऐसा कहते हो, तो उत्तर यह है कि जो वृष्टि इत्यादि फल कामनाकी वस्तु होंगे, उनकी ही कामना करनेसे फलकी सिद्धि होगी, यदि इनकी कामना नहीं की जायेगी, तो फल भी नहीं होगा। शास्त्रोंका यही तात्पर्य है। और एक सङ्गति दिखला रहे हैं—ब्रह्म चित् एवं अचित् इत्यादि सभी शक्तियोंसे सम्पन्न है। इन्द्रादि देवता उसके अङ्ग हैं, इस ज्ञानसे उनका पूजन होता है। इसीलिए देवताका अर्चन ब्रह्मका अर्थात् परमेश्वरका अर्चन है। इस अर्चनका फल चित्तशुद्धि है, अन्य कुछ नहीं। फलकी तो कामना ही नहीं है। यदि कहो, तब कर्मबोधक श्रुतिवाक्योंमें फल किसलिए कह रहे हो?

जो कामनाएँ रखते हैं, उनमें रुचि उत्पन्न करनेके लिए ही, अन्य किसी कारणसे नहीं॥ ४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—श्रीहरि सर्ववेदवेद्य हैं, इसे दृढ़ करनेके लिए सूत्रकारने चतुर्थ सूत्रकी अवतारणा की है। जो वेदोंको कर्मपरकके रूपमें घोषणा करते हैं, उनका विचार इस सूत्र द्वारा निरस्त हुआ है। कठोपनिषदमें कहा है कि समस्त वेद विष्णुकी महिमाका गान करते हैं। श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—*'वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदम्'* (१/१/२)। इस शास्त्रमें शुद्धान्तःकरण सत्पुरुषोंके जानने योग्य वास्तविक वस्तु परमात्माका निरूपण हुआ है, यह तीन तापोंका जड़से नाश करनेवाला और परम कल्याण देनेवाला है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीमन्महाप्रभुकी उक्ति है—

वेदशास्त्र कहे—सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन।
कृष्ण—प्राप्य-सम्बन्ध, भक्ति—प्राप्येर साधन॥
(चै०च०म० २०/१२४)

अर्थात् समस्त वेदशास्त्रोंमें सम्बन्ध-ज्ञान, अभिधेय-ज्ञान औन प्रयोजन-ज्ञानकी शिक्षा है। जीवके द्वारा प्राप्य जो कृष्ण-तत्त्व है, वह सम्बन्ध-ज्ञानसे प्राप्त होता है। कृष्ण-प्राप्तिके साधनका नाम भक्ति है। उसे ही अभिधेय कहा जाता है। कृष्ण-प्राप्तिमें प्रेम नामका एक विचित्र किया है, उसका नाम प्रयोजन है। अन्यत्र भी, यथा—

एइत कहिलूँ सम्बन्ध तत्त्वेर विचार।
वेदशास्त्र उपदेशे कृष्ण एक सार॥
(चै०च०म० २२/३)

अर्थात् सम्बन्धतत्त्वका विचार तो आलोचित हो गया है। समस्त वेदशास्त्रोंका यही उपदेश है कि श्रीकृष्ण ही एकमात्र सारतत्त्व या सम्बन्ध-तत्त्व हैं। समस्त शास्त्रोंके प्रतिपाद्य विषय साक्षात् रूपसे या परोक्ष रूपसे श्रीकृष्ण ही हैं। और भी,

वेदादि सकल शास्त्रे कृष्ण मुख्य सम्बन्ध।
ताँर ज्ञाने आनुषङ्गे जाय मायाबन्ध॥
(चै०च०म० २०/१४४)

अर्थात् वेदादि समस्त शास्त्रोंमें श्रीकृष्णको सम्बन्धतत्त्व, कृष्णभक्तिको अभिधेयतत्त्व और प्रेमरूप प्रयोजनतत्त्वको महाधन कहकर वर्णन किया गया है। इन समस्त शास्त्रोंके मुख्य सम्बन्ध श्रीकृष्णको जान लेनेपर अथवा उनकी सेवाकी प्राप्ति हो जानेपर मायाका बन्धन भी आनुषङ्गिक रूपसे अपने आप नष्ट हो जाता है।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (२/४/१४२) में द्रष्टव्य है—

व्यामोहाय चराचरस्य जगतस्ते ते पुराणागमा-
स्तां तामेव हि देवतां परमिकां जल्पन्तु कल्पावधि।
सिद्धान्ते पुनरेक एव भगवान् विष्णुः समस्तागम-
व्यापारेषु विवेचनव्यतिकरं नीतेषु निश्चीयते॥

अर्थात् वे-वे पुराण और आगम-शास्त्र (तन्त्रादि ग्रन्थ) चराचर जगत्-वासियोंमें मोह उत्पन्न करनेके लिए उन-उन फलोंके उद्देश्यसे उन-उन देवताओंको प्रधान कहकर कल्पावधि तक जल्पना करते रहें, तो किया करें, इन सभी आगम-शास्त्रोंमें रूढ़ि आदि वृत्तिके द्वारा समस्त प्रकारसे विचार करके देख लिया कि सिद्धान्त-स्थल भगवान् विष्णु ही सम्बन्ध-तत्त्वके रूपमें उपनीत हैं।

शास्त्रीय वाक्योंको अन्वय एवं व्यतिरेक रूपसे प्रतिपन्न करना समन्वय है। आजकल अनेक अर्वाचीन (नवीन व्यक्ति) सबको एक ही मानकर अपना राग अलापते हुए मनगढ़ंत रूपसे सब मिला देते हैं और समन्वय कर देते हैं। इनमेंसे कुछ तो शास्त्रोंको मानना नहीं चाहते और कुछ उसपर अन्वय एवं व्यतिरेक विचारके द्वारा शास्त्रका तात्पर्य धारण करनेमें असमर्थ होनेके कारण शास्त्रके प्रतिपाद्य विषयका निर्णय नहीं कर पाते। इसीलिए श्रीमद्भागवतके *'जन्माद्यस्य'* श्लोकमें देखा जाता है—*'मुह्यन्ति यत्सूरयः'* अर्थात् जिसके सम्बन्धमें बड़े-बड़े विद्वान भी मोहित हो जाते हैं।

हंसगुह्यमें कथित *'यच्छक्तयो वदतां वादिनाम्'* (श्रीमद्भा॰ ६/४/३१) श्लोकपर श्रील चक्रवर्ती ठाकुरकी टीकाका मर्म है—प्रजापति दक्ष कहते हैं—वादियोंके लिए जिनकी शक्तियाँ विवाद और संवाद उत्पन्न

करती हैं और बार-बार उनमें आत्ममोह उत्पन्न करती हैं, उन अनन्त गुणस्वरूप भूमापुरुषको मैं नमस्कार करता हूँ।

प्रश्न है कि यदि एक ही ब्रह्म इस विश्वके एकमात्र कारण हैं, तब अद्वैतवादी सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद स्वीकार नहीं करते। नैयायिकगण सोलह पदार्थोंको नित्य मानते हैं, द्वैतवादी उनके साथ विवाद करते हैं, वैशेषिक विशेषको स्वीकार करते हैं, मीमांसक अनीश्वर अर्थात् ईश्वराधीन आत्माको स्वतन्त्र ईश्वर मानते हैं और स्वकर्म द्वारा जीव ही सृष्टि आदिका हेतु है—ऐसा कहते हैं। स्वभाववादी स्वभावको ही जगत्के कारण रूपमें कहकर भिन्न-भिन्न मत प्रकाशित करते हैं और परस्पर विवाद करते हैं। किसलिए? विशेष रूपसे तत्त्ववादी तत्त्वविदोंके द्वारा प्रतिबोधित होकर (समझाये जानेपर) भी मोहको प्राप्त होते हैं। क्यों? इसका उत्तर यही है कि भगवान्की माया-विद्या शक्तियाँ तत्त्ववादियोंके विवाद, संवाद एवं मोह-प्राप्तिका कारण हैं, क्योंकि इस आलोच्य श्लोकमें 'अनन्तगुणाय' शब्दसे श्रीभगवान्के गुणोंका अनश्वरत्व एवं असीमत्व कथित हुआ है। इसके अतिरिक्त पृथ्वीकी उक्ति है—

एते चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः।

(श्रीमद्भा॰ १/१६/३०)

अर्थात् हे भगवन्! ये सब एवं अन्यान्य महत् आदि गुण जिनमें नित्य अक्षय रूपसे विराजमान हैं। श्रीपराशरमुनि कहते हैं—

ज्ञान-शक्ति-बलैश्वर्य वीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्द वाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥

अर्थात् जिनका अक्षय ज्ञान, शक्ति-बल, ऐश्वर्य, वीर्य एवं तेज है, जो प्राकृत गुणादिसे रहित हैं, वे भगवत् शब्द वाच्य हैं। अतः भगवान्के गुणोंको अप्राकृत जानकर भी जो उन्हें अवास्तव और अनित्य कहते हैं, वे अपराधी हैं, उन्हें तो अपनी अविद्याके द्वारा मोहित होना ही है। श्रीसूतगोस्वामी कहते हैं—*'नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मु र्योगेश्वरा ये भवपाद्म मुख्याः'* (श्रीमद्भा॰ १/१८/१४) अर्थात् समस्त प्राकृत गुणोंसे अतीत भगवान्के अचिन्त्य, अनन्त कल्याणमय

गुणोंका पार तो ब्रह्मा, शङ्कर आदि बड़े-बड़े योगेश्वर भी नहीं पा सके।

और भी—

युक्तञ्च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा।
मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किंनु दुर्घटम्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१२/४)

इस श्लोककी टीकामें श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने कहा है—"ब्राह्मणोंने जो कहा है, वह सर्वत्र युक्त ही है, क्योंकि मेरी मायाका आश्रय करके वे जो कुछ कहते हैं, उनके लिए वैसा कहना दुर्घट नहीं है। अभिप्राय यह है कि भगवान्की माया अघटन-घटन-पटीयसी है, इसलिए कई स्थलोंपर सत्यका गोपन करके मिथ्याको स्थापित किया जा सकता है। इसी मायाका आश्रय लेकर कपिल, गौतम, जैमिनि और कणाद आदि ब्राह्मणोंने बहुत-से असार वाक्योंको युक्त वाक्यके समान प्रकाशित किया है।"

श्रीचैतन्यभागवत (म॰ १/१४९) में भी देखा जाता है—

मुग्ध सब अध्यापक कृष्णेर मायाय।
छाड़िया कृष्णेर भक्ति अन्य पथे जाय॥

अर्थात् जो कृष्णकी भक्ति छोड़कर अन्य पथपर चलते हैं, वे सब अध्यापकगण श्रीकृष्णकी मायासे मोहित हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृत (म॰ ६/१०७) में वर्णन है—

तोमार ये शिष्य कहे कुतर्क नानावाद।
इहार कि दोष—एइ मायार प्रसाद॥

अर्थात् तुम्हारे शिष्योंने जो अनेक कुतर्क उठाये हैं, यह सब मायाकी कृपा है, इसमें इनका कोई दोष नहीं है। वेद माया मात्रका ही विचार करके अन्ततः उसका सम्पूर्ण रूपसे प्रतिषेध करके विचारादिसे शान्त हो जाते हैं।

अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा समस्त विषयका विचार करके तात्पर्य निश्चित किया जाता है। चतुःश्लोकी भागवतमें यह प्रसङ्ग आलोच्य है—'*अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा*' (श्रीमद्भा॰ २/९/३५)।

इस प्रसङ्गमें श्रीलभक्तिविनोद ठाकुरने लिखा है—"मैं स्वरूप, स्वरूप-वैभव, जीव एवं प्रधानरूपमें अवभासित (प्रकाशित) होनेपर भी नित्य, अखण्ड और अद्वयतत्त्व हूँ। मायाबद्ध जीव उस तत्त्वकी उपलब्धि न करनेके कारण कितने प्रकारके वितर्क करते हैं। उनका कर्त्तव्य यह है कि मेरी कृपासे प्राप्त शास्त्रके अभिधेयको अन्वय-व्यतिरेक अर्थात् विधि-निषेध अथवा विधि-रागके भेदसे सद्गुरुके चरणोंमें जिज्ञासा करें और जो सर्वदा सर्वत्र सत्यके रूपमें स्थिर हो, उसके साधनमें प्रवृत्त हों।"

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी श्रीमन्महाप्रभु स्वयं कह रहे हैं—

मुख्य-गौण-वृत्ति किंवा अन्वय-व्यतिरेक।
वेदेर प्रतिज्ञा केवल कहये कृष्णके॥

(चै॰च॰म॰ २०/१४६)

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर प्रभुपाद इस प्रसङ्गमें अपने अनुभाष्यमें कह रहे हैं—"रूढ़ि एवं लक्षणावृत्ति अथवा अन्वय और व्यतिरेक साक्षात् रूपसे श्रीकृष्णको ही वेदके प्रतिपाद्य विषय रूपमें निर्दिष्ट कर रहे हैं। देखा जाता है कि निवृत्तिको उद्देश्य करके ही प्रवृत्ति मार्गका विधान किया जाता है।"

श्रीमद्भागवत (११/५/११) में वर्णन है—

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्या हि जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥

संसारमें स्त्रीसङ्ग, मांस भोजन और मद्यपानमें प्राणीमात्रकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इस विषयमें शास्त्र-विधानकी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि इन सभी कार्योंका सम्पूर्ण रूपसे परित्याग करना असम्भव हो तभी विवाहके द्वारा स्त्रीसङ्ग, यज्ञके द्वारा मांस भक्षण एवं सौत्रामणी नामक यज्ञके द्वारा ही मद्यपानका वेदोंमें विधान है। इसलिए इन समस्त विषयोंसे सब प्रकारसे निवृत्ति कराना ही वेदका मुख्य उद्देश्य समझना होगा।

आचार्य श्रीशङ्कर इस सूत्रका अर्थ इस प्रकार कहते हैं कि उपनिषद-वाक्योंका मूल तात्पर्य ब्रह्ममें ही अनुगत हैं। जो भी हो, श्रुतियाँ शास्त्रके तात्पर्यको निश्चित करके कहती हैं—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

(श्वे॰ ६/२३)

अर्थात् जिनकी श्रीभगवान्में पराभक्ति है और श्रीभगवान्के समान ही श्रीगुरुदेवके प्रति भी शुद्धभक्ति है, उन महात्माके हृदयमें श्रुतियोंके सभी मर्मार्थ प्रकाशित होते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी वर्णन है—

ईश्वरेर कृपालेश नाहिक तोमाते।
अतएव ईश्वर तत्त्व ना पार जानिते॥

(चै॰च॰म॰ ६/८३)

अर्थात् आपपर भगवान्की कृपा नहीं है, इसलिए आप ईश्वर-तत्त्वको नहीं जान सकते। ब्रह्माजी भी कह रहे हैं—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१४/२९)

हे स्वामिन्! आप भक्तोंके हृदयमें स्वयं ही स्फुरित होते हैं। आपके ज्ञानस्वरूप और माहात्म्यके प्रभावसे अज्ञानकल्पित जगत्का नाश हो जाता है। हे देव! जो आपके चरणकमलोंकी तनिक भी कृपा प्राप्त कर लेता है, एक मात्र वही आपके यथार्थ सच्चिदानन्दमय माहात्म्यको जान सकता है। इसके अतिरिक्त दीर्घकालतक शास्त्राभ्यासके द्वारा अथवा योग-वैराग्यादि साधनरूप अपने प्रयत्नसे कोई भी आपकी महिमाको तत्त्वतः नहीं जान सकता।

श्रीमद्भागवत (१०/८७/५०) में वर्णन है,

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः।

यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम्॥

परीक्षित्! जो जीवोंके समस्त प्रकारके पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिए सृष्टि-स्थिति-प्रलयादि कार्योंके निमित्त रूपमें वर्त्तमान हैं, वे जगत्के कारण रूपमें माने जानेवाले प्रकृति एवं पुरुष दोनोंके स्वामी हैं। उन्होंने ही इस ब्रह्माण्डकी सृष्टि करके भोक्ता जीवके साथ इसमें प्रवेश किया है। वे ही जीवके भोगायतन शरीरोंकी रचना करते हैं, और भोग-सम्पादनके लिए उसका पालन करते हैं। गाढ़ निद्रामें सोया व्यक्ति जिस प्रकार अपने शरीरके सम्बन्धसे मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार भगवान्के प्राप्त होनेपर जीव अविद्याका परित्याग कर देता है। अतः जो अपने अच्युत स्वरूपमें रहते हुए मूलकारण मायाका तिरस्कार करते हैं, उन भयहारी श्रीहरिका निरन्तर ध्यान करना ही जीवका एकमात्र कर्त्तव्य है॥४॥

५—ईक्षत्यधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—अथोक्तवक्ष्यमाणसमन्वयोपपत्तये ब्रह्मणोऽवाच्यत्वं निरस्यते। *'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'* इति (२/४) तैत्तिरीयके। *'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म तद्विद्धि नेदं यदिदमुपासत'* इति केनोपनिषदि च पठ्यते। तत्र संशयः;—अशब्दं शब्दवाच्यं वा ब्रह्मेति? श्रुतिस्वारस्याद-शब्दं तत्, अन्यथा स्वप्रकाशताहानात्। *'यतोऽप्राप्य निवर्त्तन्ते वाचश्च मनसा सह। अहञ्चान्य इमे देवास्तस्मै भगवते नमः'* (श्रीमद्भा॰ ३/६/४०) इति स्मृतेश्चेत्येवं प्राप्ते निराकर्त्तुमाह—

अवतरणिका भाष्यका अनुवाद—इसके बाद पूर्व वर्णित और आगे कहे जानेवाले ईश्वरके वेदवेद्यत्व समन्वयकी सङ्गतिकी रक्षाके लिए ब्रह्मके अवाच्यत्वका खण्डन कर रहे हैं। तैत्तिरीयोपनिषदमें कहा गया है कि जहाँ शब्द विमुख हो जाते हैं एवं मन भी जिन्हें प्राप्त न करके उनसे निवृत्त हो जाता है (तै॰ २/४)। इस प्रकार इन श्रुतियों द्वारा यह निरूपित होता है कि ब्रह्म वाणी एवं मनके अगोचर हैं। पुनः केनोपनिषद (१/४) में भी देखा जाता है कि ब्रह्म वाक्य द्वारा प्रकाश्य नहीं है, बल्कि ब्रह्म ही वाक्यके प्रकाशक हैं अर्थात् वाक्य

उनके द्वारा प्रकाशित होते हैं। इन दोनोंको विषय रूपमें उपजीव्य (मूल स्रोत) बनाकर संशय होता है कि ब्रह्म शब्द-वाच्य हैं अथवा शब्दके अवाच्य, अर्थात् ब्रह्मका शब्दके द्वारा निदर्शन किया जा सकता है अथवा नहीं। इस संशयपर पूर्वपक्षवादी प्रस्ताव रखते हैं कि श्रुतियोंके अभिप्रायानुसार ब्रह्म शब्दके द्वारा अवाच्य हैं, यदि उन्हें शब्द-प्रकाश्य स्वीकार करते हैं, तो अन्य-प्रकाश्य आ पड़ता है और ब्रह्मकी स्वाधीन-प्रकाशताका लोप हो जाता है अर्थात् उनकी स्वप्रकाशताकी हानि होती है। श्रीमद्भागवत (३/६/४०) में मैत्रेयजीके वचनोंसे भी ब्रह्मका शब्द-अप्रकाश्य-भाव प्रमाणित होता है। यथा—जहाँ न पहुँचकर मनके साथ वाणी भी लौट आती है तथा जिनका पार पानेमें अहङ्कारके अभिमानी रुद्र तथा अन्य इन्द्रियाधिष्ठाता देवता भी समर्थ नहीं हैं, उन श्रीभगवान्को हम नमस्कार करते हैं। इस प्रकार पूर्वपक्ष द्वारा ईश्वरके वेद-वेद्यत्वका (शब्द-वाच्यत्व) खण्डन हुआ है। पूर्वपक्षके इसी खण्डनका निराकरणके लिए उत्तरपक्षीय कहते हैं—

अवतरणिका भाष्यस्य टीका—ब्रह्मणो वेद्यत्वमुक्तं। तच्च यतो वाचो निवर्त्तन्त इतिश्रुतेर्नाभिधया शब्दवृत्त्या भवितुं युक्तं; किन्तु लक्षणयैव तया इति आक्षेपसङ्गत्यारभ्यते। अथोक्तेत्यादि। यत इति। वाचो वेदलक्षणा गिरो अप्राप्य विषयमकृत्वा यतो ब्रह्मणः सकाशान्निवर्त्तन्ते। मनसा सहेति। मनोऽपि यतो निर्वत्तते इत्यर्थः। यद्वाचेति। *'यद्ब्रह्म वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते प्रकाश्यते तद्ब्रह्मेति।'* शाखाचन्द्रन्यायेन कथञ्चिद्भागलक्षणया लक्ष्यमिति पूर्वपक्षवाक्यार्थः। सिद्धान्ते तु यतो निवर्त्तन्ते अप्राप्य स्वरूपगुणपारमलब्ध्वेत्यर्थः। एवं यद्वाचेत्यत्रापि वाक्यार्थः। नेदमिति। यदिदं मनःप्रभृतिप्रतीकरूपं एतच्च कात्स्न्यागोचरत्वमग्रे स्फुटीकरिष्यते। अन्यथेति शब्दप्रकाश्यताभ्युपगमे सतीत्यर्थः। *'यतोऽप्राप्येति'* श्रीभागवते मैत्रैयवाक्यम्। अर्थः प्राग्वत्। अत्र भगवतस्तथात्वमुक्तं न तु निर्गुण्स्य। तेन श्रुतावप्येवमेवार्थः—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—'यतो वाचेति' श्रुतिके प्रमाणसे ब्रह्मका वेद्यत्व ही कहा गया है। अभिधा शब्द-वृत्ति द्वारा इसका सिद्ध होना सम्भव नहीं है, किन्तु लक्षणा नामकी शब्द-वृत्ति द्वारा यह जानना होगा। इस आक्षेप-रूप सङ्गतिका आश्रय करके 'अथेत्यादि' से ग्रन्थकी अवतारणा की गयी है। वेदस्वरूप वाक्य ब्रह्मको विषय न बनाकर ब्रह्मके निकटसे लौट आते हैं, मन भी वहाँसे लौट आता

है। *'यद्वाच्य अनभ्युदितमिति'* अर्थात् ब्रह्म, जिनकी शक्तिसे वाक्य शाखाचन्द्रके समान प्रकट होते हैं। वृक्षकी शाखाओंके अन्तरालमें चन्द्र जिस प्रकार प्रकाश पाता है, उसी प्रकार किसी-न-किसी रूपमें ब्रह्म भी भाग-लक्षणा अर्थात् उपादान-लक्षणा द्वारा लक्षित होते हैं। पूर्वपक्षमें वाक्यका यही तात्पर्य है। सिद्धान्तपक्षमें इस श्रुतिका अर्थ इस प्रकार है 'जिनके स्वरूप एवं गुणकी सीमा प्राप्त न करके वाक्य वहाँसे विमुख हो जाते हैं।' इसी प्रकार *'यद्वाच्य अनभ्युदितमिति'* का अर्थ भी जानना चाहिये। यह जो मन इत्यादिको प्रतीक स्वरूप कहा जाता है, इसका भी वही तात्पर्य है कि वे समस्त ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा समग्रभावसे अगोचर हैं—इसे बादमें स्पष्ट किया जायेगा। *'अन्यथा स्वप्रकाशता हानात् इति'* यहाँ 'अन्यथा' शब्दके द्वारा ब्रह्मकी प्रकाश्यता स्वीकार की गयी है। श्रीमद्भागवतमें मैत्रेयजीके जो वचन (३/६/४०) हैं, उनका अर्थ *'यतो वाचो निवर्त्तन्ते'* इत्यादि श्रुतिके समान कहा गया है। 'अहञ्चान्य' वाक्य द्वारा श्रीभगवान्के तत्स्वरूपका वर्णन है, किन्तु निर्गुण स्वरूपके सम्बन्धमें नहीं। इसलिए श्रुतिका भी यही अर्थ ग्रहण किया जाना चाहिये।

सूत्र—ईक्षतेर्नाशब्दम्॥ ५॥

सूत्रार्थ—'अशब्दम्' (जिनमें शब्द वाचक नहीं है, अर्थात् जो शब्दवाच्य नहीं हैं), ईदृशं ब्रह्म (इस प्रकार शब्दके द्वारा अवाच्य ब्रह्म) 'न'—नहीं हैं। तो वे क्या हैं? वे शब्दवाच्य ही हैं। किस कारणसे? ईक्षते (दर्शनके कारण अर्थात् उपनिषद शब्दकी प्रकृति एवं प्रत्ययके दर्शनके कारण) 'उपनिषद' शब्दसे 'उपनिषद्य' को जानना चाहिये—यह अर्थ है। इस अर्थमें उपनिषद शब्दके उत्तरमें 'अन्' प्रत्यय द्वारा 'उपनिषदनम्' पदकी निष्पत्ति होती है। अतः सूचित हुआ कि वे परमेश्वर 'उपनिषद द्वारा ज्ञेय' अर्थात् उपनिषद्य हैं। अतएव वे शब्द-प्रकाश्य हैं, इसी कारण उन्हें 'अशब्द' नहीं कहा जा सकता॥ ५॥

सूत्रानुवाद—उपनिषद शब्दकी प्रकृति एवं प्रत्ययके दर्शनके कारण सूचित होता है कि ब्रह्म उपनिषद द्वारा ज्ञेय हैं, उन्हें 'अशब्द' नहीं कहा जा सकता॥ ५॥

गोविन्दभाष्य—नास्ति शब्दो वाचको यस्मिन् तदशब्दं। ईदृशं ब्रह्म न भवति। किन्तु शब्दवाच्यमेव तत्। कुतः, ईक्षतेः। *'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'* इति (बृ०आ० ३/६/२६) प्रष्टव्यस्य पुरुषस्य औपनिषदसमाख्यादर्शनादित्यर्थः। भावे तिप्प्रत्ययस्त्वार्षः। *'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'* इत्यादि (कठ० १/२/१५) वाक्येभ्यश्च। अशब्दन्तु कात्स्न्र्येनाशब्दितत्वात्। दृष्टोऽपि मेरुः कात्स्न्र्येनादर्शनाददृष्टः कथ्यते। अन्यथा यत इति (तै० २/४), अप्राप्येति (तै० २/४), अनभ्युदितमिति (केन० १/४), तदेव ब्रह्मेति (केन० १/४) च व्याकुप्येत्। स्वात्मना वेदेन ज्ञापनं खलु स्वप्रकाशतया न विरुद्ध्यते। तस्य स्वात्मकत्वं तु उपरि वक्ष्यते। तस्मात् शब्दवाच्यं ब्रह्म॥ ५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—भाष्यकार सूत्रके अन्तर्गत 'अशब्द' शब्दके प्रकृति-प्रत्ययका अर्थ दिखा रहे हैं। 'नास्ति शब्दः' अर्थात् नहीं है शब्दवाचकत्व जिनमें वे ही अशब्द हैं अर्थात् वे शब्द-वाच्य नहीं हैं। परन्तु वे ब्रह्म ऐसे नहीं हैं, वे शब्द-वाच्य ही हैं। किस कारणसे? 'ईक्षतेः' अर्थात् ईक्षण शब्दके कारण। *'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'* (बृ०आ० ३/६/२६) अर्थात् 'मैं पनिषद-शास्त्र वेद्य पुरुषकी जिज्ञासा करता हूँ।' इससे स्पष्ट होता है कि प्रश्नके विषयीभूत अथवा जिज्ञास्य पुरुष उपनिषदवेद्य पुरुष हैं। यह उपनिषद शब्दकी व्युत्पत्तिके आधारपर कहा गया है। 'ईक्षति' शब्द दर्शन (ईक्षण) अर्थमें 'ईक्ष' धातुके भाववाचक 'तिप्' प्रत्ययसे निष्पन्न हुआ है, किन्तु 'तिप्' प्रत्यय कर्त्तृवाच्य होता है, वह भाववाच्य होगा कैसे? इसके उत्तरमें कहते हैं—यह आर्ष प्रयोग है। मात्र उपनिषद शब्दकी समाख्या (व्युत्पत्ति) देखकर ही नहीं, वेदसे भी ब्रह्मका शब्द-वाच्यत्व जाना जाता है। वेद ब्रह्मको ही प्रकाश करता है—*'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्तीत्यादि'* (कठ० १/२/१५) अर्थात् समस्त वेद उन ब्रह्म पदका वर्णन बहुत प्रकारसे करते हैं। जिन श्रुतियोंके द्वारा ब्रह्मका अवाच्यत्व कहा गया है, उसका कारण है कि ब्रह्म शब्द (वेदादि) द्वारा कृत्स्न अर्थात् सर्वांश रूपसे प्रकाश्य नहीं हैं। इस विषयमें दृष्टान्त है कि सुमेरु पर्वत दृष्ट होनेपर भी जिस प्रकार सर्वांश रूपसे दिखायी न देनेके कारण अदृश्यरूप (मैंने सुमेरु देखा नहीं) कहा जाता है, नहीं तो (ऐसा अर्थ न होनेपर तो) 'मनके सहित वाणी जिन्हें न पाकर लौट आती हैं', 'जो वाणीके द्वारा सर्वभावसे प्रकाश्य नहीं है', 'वे ब्रह्म हैं' इत्यादि

श्रुतियोंके साथ विरोध हो जायेगा। यदि कहो कि वेद-प्रकाश्य होनेपर ब्रह्म स्व-प्रकाश कैसे हो सकते हैं? यह बात कुछ अर्थ नहीं रखती, क्योंकि वेद ब्रह्मकी आत्मा अर्थात् स्वरूप हैं। वेद द्वारा ज्ञापन होनेसे उनके स्व-प्रकाशत्वकी हानि नहीं होती। अतः कुछ भी उक्ति विरोध नहीं है। वेद ब्रह्मात्मक हैं—यह बादमें स्फुटित होगा। इस प्रकार सिद्ध होता है कि ब्रह्म शब्द-वाच्य हैं॥५॥

सूक्ष्मा-टीका—ईक्षतेरिति। भावे तिप् प्रत्ययस्त्वार्षाः। ईक्षतेरिति धातु-वाचक ईक्षतिशब्दो लक्षणया धात्वर्थेक्षणपरः ईक्षितृत्वश्रवणादित्यन्ये। अन्यथा यत इति। देवदत्तः कस्या निवृत्तः इत्युक्ते काशीं स्पृष्टवैव निवृत्त इत्यधिगम्यते। एवं *'यतो वाचो निवर्त्तन्ते'* इत्युक्ते कथञ्चिद्गोचरं कृत्वैव निवर्त्तन्ते इत्यधिगम्यते; एवं अप्राप्येत्यत्र प्रकर्षेण न, कथञ्चिल्लब्ध्वेत्यर्थः प्रतीयते। अनभ्युदितं अभितो नोदितं कियदुदितमेवेत्यर्थः। तस्मात् तत्र कात्स्न्येनागोचरत्वमेव साधु व्याख्यातम्। *'कात्स्न्येन नाजोऽप्यभिधातुमीश'* इति स्मृतेश्च। तस्येति वेदस्य। उपरीति तद्धर्माद्यधिकरणेषु इत्येवं ध्येयम्॥५॥

सूक्ष्मा-सार—'ईक्षति' यह शब्द किस प्रकार निष्पन्न हुआ है, इसे ही बतला रहे हैं। 'ईक्ष्' धातु 'दर्शन' अर्थमें है, भाववाच्य है, तिप् प्रत्यय है और आर्ष प्रयोग है। जब भाववाच्य होता है, तब प्रत्यय स्थलपर केवल क्रियाको ही जाना जाता है। 'इक्षिधातोः' अर्थात् धातुवाचक 'ईक्षति' शब्द लक्षणा-वृत्तिके बलपर 'ईक्ष' धातु नहीं, बल्कि ईक्षणरूप अर्थका बोध कराता है। कोई-कोई 'ईक्षतः' इसका अर्थ दर्शनकारित्व (ईक्षितृत्व) बतलाते हैं और यदि इस प्रकार सम्पूर्ण रूपसे अर्थ न किया गया, तो 'यतः' इत्यादि श्रुति-वाक्योंकी सङ्गति न हो सकेगी। 'देवदत्त काशीसे लौट आया है' यह वाक्य कहनेसे जिस प्रकार काशीका स्पर्श करके देवदत्तकी निवृत्ति जानी जाती है, उसी प्रकार *'यतो वाचो निवर्त्तन्ते'* इत्यादि वाक्य भी ब्रह्मको किञ्चित् मात्र गोचर करके निवृत्त हो जाते हैं, यह ज्ञात हो जाता है। इसी प्रकार 'अप्राप्य' शब्दका अर्थ है 'प्रकृष्ट रूपसे न पाकर, बल्कि कुछ पाकर।' *'वाचा अनभ्युदितम्'* अर्थात् वे सर्वतोभावसे प्रकाशित नहीं हैं, बल्कि ईषत् उदित हैं। अतएव यही व्याख्या करना समीचीन होगा कि ब्रह्मका सर्वांशरूपसे अगोचरत्व (अदृश्यत्व) है, पर

उनका शब्द-वाच्यत्व है। पुराणादि स्मृतियोंसे भी यही प्रमाणित होता है। यथा ब्रह्मा भी उन्हें शब्दके द्वारा प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं हैं। तद्धर्माधिकरण समुदायमें इसपर पुनः विचार किया जायेगा॥ ५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कुछ लोग कहते हैं कि ब्रह्म वेदवेद्य हैं और कुछ कहते हैं, जिन्हें प्राप्त न करके मनके साथ वाक्य लौट आते हैं। केनोपनिषदके अनुसार जो वाक्योंके द्वारा प्रकाशित नहीं, बल्कि वाक्य ही उनके द्वारा प्रकाशित हैं, इस प्रकार यदि ब्रह्मका शब्दवाच्यत्व स्वीकार कर लिया जाय, तो इन सब श्रुतियोंके साथ विरोध होगा और ब्रह्मके स्वप्रकाशत्वकी हानि होगी। श्रीमैत्रेयके वचन हैं—

यतोऽप्राप्य न्यवर्त्तन्त वाचश्च मनसासह।
अहञ्चान्य इमे देवास्तस्मै भगवते नमः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/६/४०)

अर्थात् मनके सहित वाक्य, अहङ्कारके अधिष्ठाता रुद्र और अन्यान्य इन्द्रियाधिष्ठाता देवता भी जिनकी अचिन्त्य महिमामें प्रवेश करनेमें असमर्थ होकर लौट आते हैं, उन भगवान्‌को नमस्कार है।

इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकारने इस पाँचवें सूत्रकी अवतारणा की है। जिनमें शब्दवाचक नहीं, वे ही अशब्द हैं, किन्तु ब्रह्म शब्दवाच्य हैं। ईक्षणके कारण अर्थात् देखा जाता है, इसलिए। समस्त वेद उनके पदका पुनः-पुनः वर्णन करते हैं। तब जो उनके सम्बन्धमें श्रुतियाँ-स्मृतियाँ कह रही हैं कि वे शब्दके कारण अवाच्य हैं, तो इसके उत्तरमें वक्तव्य यह है कि शब्द ब्रह्मको सर्वांश रूपसे प्रकाशित नहीं कर सकते, आंशिकमात्र ही कर सकते हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि शब्द-ब्रह्म एवं पर-ब्रह्म दोनों ही उनका शरीर हैं। अतः वेद ब्रह्मसे अभिन्न हैं। वेदके द्वारा प्रकाशित होनेपर भी उसके स्वप्रकाशत्वकी हानि नहीं होती।

श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान् कह रहे हैं—

ममाहमेवाभिरूपः कैवल्यादथापि ब्रह्मवादो न मृषा भवितुमर्हति।

(श्रीमद्भा॰ ५/३/१७)

अर्थात् हे मुनियो! मेरे समान तो मैं ही हूँ, क्योंकि मैं अद्वितीय हूँ, तो भी ब्राह्मणोंका (ब्रह्मवादियोंका) वचन मिथ्या नहीं होना चाहिये।

अशब्द (अवैदिक) इत्यादि कहनेसे प्राकृत शब्दादिका निषेध किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्राकृत शब्द अथवा इन्द्रियादि उन्हें गोचरीभूत नहीं कर सकते—यही अवाङ्मनसोगोचर शब्दका तात्पर्य है। परन्तु भक्तोंकी अप्राकृत इन्द्रियोंके द्वारा ब्रह्म गोचरीभूत हैं।

श्रीमन्महाप्रभुके वचनोंसे भी स्पष्ट है—

अप्राकृत वस्तु नहे प्राकृत गोचर।
वेद पुराणेते एइ कहे निरन्तर॥

(चै॰च॰म॰ ९/१९५)

अर्थात् वेद-पुराण निरन्तर यही बतला रहे हैं कि उनका अप्राकृतरूप जीवके दर्शन-पथपर अवस्थान नहीं करता, कोई भी अपनी चेष्टासे अपने चक्षुओंके द्वारा उन्हें देख नहीं सकता।

और भी, श्रीमद्भागवत (५/१/२७) में कहा गया है—

परमभक्तियोगानुभावेन परिभावितान्तर्हृदयाधिगते भगवति।

अर्थात् (इन निवृत्तिपरायण महर्षियोंका संन्यासाश्रममें रहते हुए ही) श्रेष्ठ भक्तियोगसे अन्तःकरण शुद्ध हो गया और उसमें श्रीभगवान्का आविर्भाव हुआ।

इस सूत्रकी सङ्गति श्रीमद्भागवतके कई श्लोकोंमें देखी जाती है, यथा—

(१)

ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं
दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम्।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया
स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१३/३४)

मनोकल्पित, विनाशशील, अलातचक्रके समान इस देखे जानेवाले जगत्को भ्रममात्र समझो, विज्ञान स्वरूप एक ब्रह्म ही नाना प्रकारसे प्रकाशित हो रहे हैं, परन्तु वस्तुतः वे विभिन्न प्रकारके नहीं है, क्योंकि गुणोंके परिणामके द्वारा ही जागरण आदि भेद स्वप्नकी भाँति केवल मायाका ही खेल है, वह अज्ञानसे कल्पित है।

(२)

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८७/५०)

परीक्षित्! जो जीवोंके समस्त प्रकारके पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिए सृष्टि-स्थिति-प्रलयादि कार्योंके निमित्त रूपमें वर्त्तमान हैं, वे जगत्के कारण रूपमें माने जानेवाले प्रकृति एवं पुरुष दोनोंके स्वामी हैं। उन्होंने ही इस ब्रह्माण्डकी सृष्टि करके भोक्ता जीवके साथ इसमें प्रवेश किया है। वे ही जीवके भोगायतन शरीरोंकी रचना करते हैं और भोग-सम्पादनके लिए उसका पालन करते हैं। गाढ़ निद्रामें सोया हुआ व्यक्ति जिस प्रकार अपने शरीरके सम्बन्धसे मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार भगवान्के प्राप्त होनेपर जीव अविद्याका परित्याग कर देता है। अतः जो अपने अच्युत स्वरूपमें रहते हुए मूलकारण मायाका तिरस्कार करते हैं, उन भयहारी श्रीहरिका निरन्तर ध्यान करना ही जीवका एकमात्र कर्त्तव्य है।

इस प्रकार भागवतमें भगवान्को उपनिषद और ब्रह्मसूत्रोंके आधारपर उत्प्रेक्षक (अवलोकन अर्थात् ईक्षण करनेवाला) कहा गया है॥५॥

अवतरणिका भाष्य—स्यादेतत्। वाच्यत्वेनेक्षितः पुरुषः सगुणोऽस्तु तत्र गृहीतशक्तयो वेदाः शुद्धे पूर्णे वाच्यलक्षणया पर्यवस्येयुरिति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्य—अर्थात् यदि आगे कहा जानेवाला मेरा वाक्य युक्तियुक्त नहीं हो, तो तुम्हारे द्वारा कहा हुआ अर्थ सिद्ध हो सकता

है। वह वाक्य क्या है? पूर्वपक्षवादी इसका उत्तर बतलाते हैं—जो वाच्य पुरुष हैं, वे सगुण हैं, उनमें ही वेदवाक्योंका शक्तिग्रह (बल या अर्थको धारण करना) है, किन्तु वेदवाक्योंका वाच्य अर्थ निर्गुण ब्रह्ममें बाधित होनेसे लक्षणा द्वारा शुद्ध पूर्ण ब्रह्ममें उसका पर्यवसान स्वीकार करना पड़ेगा। इसके उत्तरमें सूत्रकार कह रहे हैं—

अवतरणिका भाष्यस्य टीका—स्यादेतदिति। यदि वक्ष्यमाणं मद्वाक्यं नोपपद्ये तर्हि त्वया यदुक्तं तत् स्यात् सिध्येदित्यर्थः। वक्ष्यमाणमाह वाच्यत्वेनेत्यादि—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्वपक्षवादी कहते हैं—हाँ, यह हो सकता है, यदि मेरा वाक्य सङ्गत न हो तो। मैं कहूँगा—सगुण ब्रह्म शब्दवाच्य हैं, उनमें ही वेदवाक्योंका शक्तिग्रह है। निर्गुण ब्रह्ममें (शब्दवाच्यत्व) बाधित होनेके कारण लक्षणावृत्तिके बलपर वेद-वाक्योंकी अर्थ-बोधकता है। इसके उत्तरमें कह रहे हैं—

सूत्र—गौणश्चेन्नात्मशब्दात्॥ ६॥

सूत्रार्थ—चेत् (यदि कहो कि) 'गौणः' (शुद्ध निरुपाधिक ब्रह्म, वाच्य रूपमें गृहीत सगुण ब्रह्म, लक्षणा द्वारा बोध्य) 'न' (नहीं हो सकता)। कारण, 'आत्मशब्दात्' (श्रुतिमें निर्गुण पुरुषको ही 'आत्मन्' शब्द द्वारा अभिहित किया गया है, अतएव पूर्णब्रह्म लाक्षणिक नहीं, अपितु अभिधेय हैं॥ ६॥

सूत्रानुवाद—वाच्य रूपमें गृहीत निर्गुण ब्रह्म 'आत्मन्' शब्दके द्वारा अभिहित होनेसे लक्षणावृत्ति द्वारा बोध्य नहीं हो सकते॥ ६॥

गोविन्दभाष्य—वाच्यत्वेन दृष्टोऽसौ सत्त्वोपाधिको न भवेत् कुतः आत्मशब्दात्। *'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः'* (बृ॰आ॰ १/४/१) इति वाजसनेयके। *'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किञ्चनमिषत् स ईक्षत लोकान् नु सृजा'* (ऐ॰ १/१/१) इत्यैतरेयके च सृष्टेः पूर्वस्य पुरुषस्य आत्मशब्देन अभिधानात्। तस्य शब्दस्य पूर्णे ब्रह्मणि मुख्यवृत्तता प्रागभानि। *'वदन्ति तं तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयं। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते॥'* (श्रीमद्भा॰ १/२/११) *'शुद्धे महाविभूताख्ये परे ब्रह्मणि शब्दयते। मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे॥'* (वि॰पु॰ ६/५/१३) इत्यादिस्मृत्या च पूर्णस्य शुद्धस्य वाच्यता। न ह्यवाच्यः शब्दितुं शक्यः॥ ६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ब्रह्म वेदके वाच्य होनेपर भी सगुण (सत्त्वगुण उपाधियुक्त) ब्रह्म नहीं हैं, क्योंकि वेदमें उनके लिए 'आत्मन्' शब्दका बार-बार प्रयोग हुआ है। यथा—*'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः'* अर्थात् सृष्टिके पूर्व प्रलयकालमें केवल पुरुष नामका आत्मा था। इस श्रुतिको वाजसनेयकके अन्तर्गत देखा जाता है। इसी प्रकार ऐतरेयोपनिषदमें भी—*'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किंचन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा'* अर्थात् इस परिदृश्यमान जगत्की सृष्टिके पहले एकमात्र आत्मा प्रकाशवान था और कुछ नहीं था। सृष्टिके आरम्भमें उस पुरुषरूप आत्माने इच्छा की कि मैं लोककी सृष्टि करूँगा। इस प्रकार ये श्रुतियाँ सृष्टिके पूर्ववर्ती पुरुषको 'आत्मन्' शब्दसे अभिहित करती हैं। पूर्णब्रह्ममें ही आत्मा शब्दकी मुख्य वृत्ति है, *'जन्माद्यस्य यतः'* सूत्रके भाष्यमें पहले भी यह बात कही गयी है, लक्षणा-वृत्ति द्वारा उसकी बोध्यता कदापि नहीं होती। श्रीमद्भागवत शास्त्रमें वर्णित है—तत्त्वविद्गण अद्वयज्ञान-तत्त्वको ही ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् शब्दसे कहते हैं। इसी प्रकार विष्णुपुराणमें महर्षि पराशर मैत्रेय ऋषिसे कह रहे हैं—"हे मैत्रेय! जो ब्रह्म हैं, वे पारमैश्वर्यादिसे युक्त हैं, समस्त कारणोंके कारण हैं, उन्हें ही भगवत् शब्दसे कहा जाता है।" इस प्रकार बहुत-से पुराणादि स्मृति वाक्योंके द्वारा पूर्ण, निरुपाधि, निर्गुण ब्रह्म ही शब्दवाच्य हैं। यदि ब्रह्म अवाच्य होते, तो उन्हें शब्दके द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता था॥ ६॥

सूक्ष्मा-टीका—असौ पुरुषः, मिषत् प्रकाशमानं, प्राक् जन्मादिसूत्रभाष्ये। वदन्तीति श्रीभागवते। अद्वयमेकम्। शुद्ध इति श्रीवैष्णवे। शब्दितुं शब्दगोचरतां नेतुम्॥ ६॥

सूक्ष्मा-सार—जिसे वाच्य रूपमें जाना जाता है, वे पुरुष सगुण नहीं हो सकते। मिषत्का अर्थ है प्रकाशवान्। पहले भी *'जन्माद्यस्य यतः'* इत्यादि सूत्रके भाष्यमें भागवतके *'वदन्तीति'* श्लोककी अवतारणा की गयी थी। 'अद्वयम्' का अर्थ है 'एक'। 'शब्दितुम्' से तात्पर्य है कि अवाच्यवस्तु शब्दबोधका विषय नहीं होती॥ ६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस प्रकार पूर्वपक्ष यह हुआ कि ब्रह्म यदि शब्दवाच्य हैं, तो उन्हें सगुण ब्रह्म मान लिया जाय एवं लक्षणा-वृत्तिके

बलपर शुद्ध एवं पूर्ण निर्गुण ब्रह्ममें उनका प्रयोग (पर्यवसान) मान लिया जाय। इसीके उत्तरमें सूत्रकारने छठवें सूत्रकी अवतारणा करते हुए कहा है—जो वाच्यके रूपमें ज्ञात होते हैं, वे सगुण ब्रह्म नहीं है, क्योंकि वाजसनेय एवं ऐतरेयोपनिषदमें आत्मा शब्दका पुनः-पुनः प्रयोग हुआ है। ब्रह्म श्रुतिकी अभिधावृत्तिसे ही निष्पन्न है। ब्रह्म वेदवेद्य हैं और वेदकी अभिधावृत्तिसे ही लक्षितव्य हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें यही व्यक्त हुआ है—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजानन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥
(श्रीगी॰ १४/२)

अर्थात् इस ज्ञानका आश्रय करके मुनिगण मेरे सारूप्य धर्मको प्राप्तकर सृष्टिकालमें जन्म-ग्रहण नहीं करते और मृत्युकालमें मृत्युकी यन्त्रणाका भी भोग नहीं करते। *'जन्माद्यस्य'* सूत्रमें यही उल्लेख हुआ है कि अवाच्य वस्तु कभी भी शब्दके द्वारा व्यक्त नहीं हो सकती। श्रीमद्भागवतमें भी *'वदन्ति तत्तत्त्वविदः'* (श्रीमद्भा॰ १/२/११) कहा है अर्थात् अद्वयज्ञान-तत्त्वको ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् शब्दोंसे संज्ञित किया जाता है।

श्रीमद्भागवतमें श्रुति-स्तवमें देखा जाता है कि विभिन्न मतावलम्बी विभिन्न प्रकारसे उपदेश करते हैं। इन उपदेशोंको तत्त्व-सृष्टि-जात नहीं कहा जा सकता, ये भ्रमजनित होते हैं—

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे॥
(श्रीमद्भा॰ १०/८७/२५)

अर्थात् हे देव! वैशेषिकादि मतावलम्बी परमाणुओंसे जगत्की उत्पत्तिको स्वीकार करते हैं, पातञ्जलादि मतावलम्बी असत्से ब्रह्मकी उत्पत्ति बतलाते हैं, गौतम ऋषि आदि नैयायिकगण इक्कीस प्रकारके दुःखोंके नाशको ही 'मुक्ति' कहते हैं, कपिल आदि सांख्यकारगण

आत्मवस्तु परमात्मामें भेद-बुद्धि करते हैं अर्थात् उन्हें अनेक मानते हैं, और जैमिनि आदि मीमांसक कर्मफलको ही ईश्वर मानते हैं तथा कर्मफलसे उत्पन्न स्वर्गादिको ही सत्य और परमपुरुषार्थ मानते हैं—परन्तु इन सबकी ये धारणाएँ भ्रान्त ही हैं। पुरुषको त्रिगुणमय मानकर उसमें जो भेद-भाव रहता है, वह अज्ञानका ही विलास है और हे ईश! आप अज्ञानसे अतीत, अनासक्त चिद्घनस्वरूप हैं—आपमें अज्ञानसे उत्पन्न भेद रह नहीं सकता। श्रीमद्भागवत (७/७/१९) में वर्णन है—

आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः।
अविक्रियः स्वदृग्हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः॥

अर्थात् आत्मा नित्य, अव्यय, शुद्ध, एक, क्षेत्रज्ञ, सर्वाश्रय, विकाररहित, आत्मदर्शी, सर्वकारण स्वरूप, व्यापक, असङ्ग और आवरणरहित है। ये आत्माके बारह उत्कृष्ट लक्षण हैं। अतः तत्त्वदर्शियोंको चाहिये कि वे इन लक्षणोंके द्वारा आत्माको देहादिसे पृथक् मानकर मोहसे उत्पन्न 'मैं और मेरा' इस मिथ्या ज्ञानका त्याग कर दें॥ ६॥

सूत्र—तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्॥ ७॥

सूत्रार्थ—तन्निष्ठस्य (निर्गुण परब्रह्ममें ऐकान्तिक भक्तिनिष्ठ व्यक्तिके लिए) मोक्षोपदेशात् (मुक्तिकी बात कही गयी है, इसलिए शब्दवाच्य ब्रह्मको सगुण कहा नहीं जाता है॥ ७॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्ममें ऐकान्तिक भक्ति (निष्ठा) रखनेवालेके लिए मुक्तिके उपदेशकी बात कही गयी है, इसलिए ब्रह्मको सगुण नहीं कहा जा सकता॥ ७॥

गोविन्दभाष्य—चतुर्षु नेत्यनुवर्त्तते। तैत्तिरीयके। *'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत तदात्मानं स्वयमकुरुतेत्यारभ्य यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्ये अनिरुक्तेऽनिलयने अभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति'* (तै॰ २/७) इति प्रपञ्चातीते वेदवाच्येविश्वकर्त्तरि तस्मिन् परब्रह्मणि परिनिष्ठितस्य विमुक्तिकथनान्न स गौणः।

तस्य गौणत्वे तद्भक्तस्य मुक्तिः न भूयात्। निर्गुणः परमात्मा तस्यानुवृत्त्या मोक्षः स्मर्यते। *'हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः। स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेत्'* (श्रीमद्भा॰ १०/८८/५) इति॥७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस सूत्रमें 'न' यह निषेधार्थक शब्द नहीं है, किन्तु 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्रसे 'न' पदकी चार सूत्रोंमें अनुवृत्ति (सूत्रार्थ पूर्ण करने हेतु पूर्वशास्त्रसे पदका अनुकर्षण) है। ब्रह्म सगुण नहीं हैं, इसका प्रमाण श्रुतिके द्वारा दिखा रहे हैं—"यह परिदृश्यमान् स्थूल-जगत् सृष्टिसे पहले सूक्ष्म रूपमें था। अभिप्राय यह है कि ब्रह्म ही एकमात्र थे, उनमें जगत् विलीन था। चित्-शक्तियुक्त उन सूक्ष्म ब्रह्मसे सत् स्थूल-जगत् अभिव्यक्त हुआ। "प्रकाश-स्वरूप उन ब्रह्मने ही चित्-शक्तियुक्त स्वयंको स्थूल जगत् रूपमें प्रकाशित किया।" तैत्तिरीयमें इस श्रुतिसे आरम्भ करके *'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति'* तक श्रुतिमें परब्रह्मकी सृष्टिकी बात कही गयी है। इसका अर्थ है "जब वह प्रमाता (ज्ञानकर्त्ता) जीव द्रष्टा, स्वर्गादि भोग्य वस्तुसे पृथक् अर्थात् भोक्ता, अनिर्वाच्य, सम्पूर्ण रूपसे वाणीके अगोचर, स्वयं प्रकाशवान् (प्रकाशकरहित) परमात्मामें ऐकान्तिकी भक्ति करता है, तब वह अभय प्राप्त करता है अर्थात् मुक्त होता है और जीव जब उनसे अल्प भी व्यवधान प्राप्त करता है, अर्थात् विमुख (बहिर्मुख) होता है, उस समय उसका भय अर्थात् संसार-बन्धन होता है। इस प्रकार विश्वसे अतीत (प्रपञ्चातीत), वेदवाच्य, विश्वके कर्त्ता उन परमेश्वरमें भक्तिमान जीवकी मुक्तिका सन्धान (उद्देश्य) होनेसे वे ईश्वर गौण अथवा सगुण ब्रह्म नहीं हो सकते। वे औपनिषद पुरुष यदि सगुण होते, तो उनके भक्तकी मुक्तिका उपदेश सङ्गत नहीं होता। जो निर्गुण परमात्मा हैं, उनकी भक्तिके द्वारा मोक्ष-प्राप्तिकी बात शास्त्रमें देखी जाती है। *'हरिर्हि निर्गुणाः'*—श्रीमद्भागवत (१०/८८/५) में कहा है कि श्रीहरि मायोपाधिसे रहित सत्त्व, रज और तम इन त्रिगुणोंके सम्पर्कसे परे परम ईश्वर हैं। प्रकृतिका धर्म उनका संस्पर्श नहीं कर सकता। वे समस्त ज्ञानके कारण, साक्षीस्वरूप, साक्षात्-पुरुष (ईश्वर) हैं। उनका जो भजन करता है, वह भक्त भी निर्गुण ब्रह्मस्वरूप हो जाता है॥७॥

सूक्ष्मा-टीका—तन्निष्टस्येति। चतुर्षु सूत्रेषु। असद्वा इति। इदं जगत् अग्रे सृष्टेः प्राक् असत् सूक्ष्मं। ब्रह्मैवासीत्तस्मिन् विलीनमासीदित्यर्थः। ततोऽसतः सूक्ष्मात् ब्रह्मणः सत् स्थूलं जगदजायत। तदब्रह्मैव स्वयमात्मानमकुरुत; सूक्ष्मं चिदचिच्छक्त्युपेतं स्वं स्थूलं चिच्छक्त्युपेतं सज्जगद्रूपमरचयत। चितिशक्तौ धर्मभूतं ज्ञानं विकासः स्थौल्यं। अचिति तु महदाद्यवस्थेति बोध्यं। यदा ह्येवेति। एष प्रमाता जीवः। एतस्मिन् परमात्मनि। अदृश्ये दृश्यभिन्ने द्रष्टरि। अनात्म्ये। आत्म्यं स्वर्गादिभोग्यं वस्तु तद्भिन्ने—भोक्तरि। अनिरुक्ते गुणानन्त्यात् कृत्स्ननिर्वचनागोचरे। अनिलयने निलयनं प्रकाशस्तद्रहिते स्वयं प्रकाशमाने। प्रतिष्ठां स्थितिं। ऐकान्तिकीं भक्तिमित्यर्थः। अभयं तद्धेतुत्वात्। अभयं गतो भवति विमुच्यते इत्यर्थः। उदरमल्पं। अन्तरं विच्छेदम् कपटलक्षणं। परिनिष्ठितस्य ऐकान्तिकभक्तस्य। न स गौणः इति। स औपनिषदसमाख्यया वेदे दृष्टः। पुरुषो गौणः न सत्त्वोपाधिको नेत्यर्थः। हरिर्हीति श्रीभगवते। प्रकृतेरुपाधितः परस्तद्धर्म्मैरसंस्पृष्टः। स्वतंत्रव निर्गुणः, तत्र हेतुः, साक्षादेव पुरुषः ईश्वरः। न तु प्रतिबिम्बवद्व्यवधानेनेत्यर्थः। अतएव सर्वेषां शिवादीनां दृक् ज्ञानं यस्मात् तादृशः सन्नुपद्रष्टा तदादिसाक्षी भवति। भजन्निर्गुणो गुणातीतफलभाग्जनो भवेदिति॥ ७॥

सूक्ष्मा-सार— *'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्'* 'न' यह नञ पदकी बार-बार चार सूत्रोंमें अनुवृत्ति होगी। 'असद्वा इति' श्रुतिकी व्याख्यामें 'इदं' शब्दका अर्थ है—यह परिदृश्यमान जगत्, 'अग्रे' का अर्थ है—सृष्टिके पूर्वकालमें सूक्ष्म रूपमें था अर्थात् सूक्ष्म रूपसे ब्रह्ममें विलीन था। उन सूक्ष्म ब्रह्मसे यह स्थूल-जगत् अभिव्यक्त हुआ। चित्- एवं अचित्-शक्ति युक्त ब्रह्मने स्वयं ही (बिना किसीकी सहायताके) स्वयंको चित्-शक्ति युक्त स्थूल जगत् रूपमें रचा। चित्-शक्तिमें ज्ञान धर्मस्वरूप है, उसके विकासका नाम स्थूलता है, जो अचित् है, उसमें महत्-तत्त्व इत्यादि अवस्थाएँ हैं—यह जानना चाहिये। जो सुख-दुःखका अनुभव करता है, वह जीवात्मा है एवं जो परमेश्वर हैं वे दृश्य वस्तु नहीं, द्रष्टा हैं, वे अनात्म्य अर्थात् स्वर्गादि भोग्य-वस्तुओंसे पृथक् हैं अर्थात् भोक्ता हैं, वे अनन्तगुण सम्पन्न होनेके कारण 'अनिरुक्त' अर्थात् सर्वांश रूपसे निर्वचनके अगोचर हैं। वे 'अनिलयन' अर्थात् प्रकाश-सापेक्ष नहीं, स्वयं प्रकाशमान हैं। उनमें ऐकान्तिकी भक्ति रखनेवाला अभय अर्थात् अभयके कारणस्वरूप होनेके कारण अभय पदको प्राप्त हो जाता है। जीव जब ब्रह्मसे किञ्चित् मात्र भी विच्छेद अर्थात् कपटमय

व्यवधानको प्राप्त होता है तो उसका संसारसे बन्धन होता है। अतः ईश्वर ऐकान्तिक भक्तके उपास्य हैं, वे शब्दवाच्य ब्रह्म सगुण नहीं हो सकते। वे उपनिषद वेद्य हैं, उन्हें वेद ज्ञात कराता है, वे गौण अर्थात् सत्त्वोपाधिसे युक्त नहीं हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—वे प्रकृति (तीनों उपाधियोंसे) असंस्पृष्ट एवं उपाधि धर्मसे दूर हैं। वे स्वतः ही निर्गुण हैं, क्योंकि वे साक्षात् ईश्वर हैं। साक्षात् शब्दसे तात्पर्य है, प्रतिबिम्बके समान परम्परा अथवा व्यवधानमें नहीं। 'सर्वदृक्' अर्थात् शिवादि समस्त देवताओंको जिनसे ज्ञान होता है, वे शिवादिके ज्ञानके भी उत्पादक हैं। इस प्रकार वे उपद्रष्टा अर्थात् सबके साक्षी हैं। जो उनका भजन करता है, वह गुणातीत हो जाता है॥७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—वेदादि शास्त्रोंके प्रतिपाद्य ब्रह्म सगुण नहीं हो सकते। सातवें सूत्रकी अवतारणामें इसका कारण बतलाया गया है कि उन ब्रह्ममें निष्ठायुक्त व्यक्तिको मोक्ष प्राप्त होता है—ऐसा उपदेश मिलता है। अतः जिनमें निष्ठाके फलस्वरूप निर्गुण फल—मोक्षकी प्राप्ति होती है, वे कभी भी सगुण नहीं हो सकते। श्रीभगवान्से विमुख होनेपर जीवकी क्या गति होती है, यह श्रीमद्भागवत शास्त्रमें देखा जाता है—

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्य्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत् तं,
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२/३७)

शरीरमें आत्मबुद्धि होनेसे ही भय उत्पन्न होता है। भगवत्-विमुख लोगोंको भगवत्-स्मरण नहीं होता। भगवान्की मायासे इस मरणशील देहमें 'मैं' और 'मेरे' की बुद्धि होती है। अतएव अपने गुरुको ही परमाराध्यतम परम प्रियतम मानकर अनन्य भक्तिके द्वारा भगवान्की भलीभाँति आराधना करनी चाहिये।

निम्न श्लोक भी आलोच्य है—

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥
(श्रीगी॰ ९/१२)

अर्थात् वे निष्फल आशा, निष्फल कर्म और निष्फल ज्ञानवाले विक्षिप्तचित्त होकर मोहिनी, तामसी और राजसी प्रकृतिके ही आश्रित होते हैं।

इसी प्रकार श्रीचैतन्यचरितामृत (आ॰ ७/११५) में भी कहा गया है—

प्राकृत करिया माने विष्णु-कलेवर।
विष्णु निन्दा आर नाइ इहार उपर॥

अर्थात् सविशेष तत्त्ववस्तु ही विष्णु हैं। विष्णुकी प्रकृति ही प्राकृत जड़-जगत्का मूल है। वे वैकुण्ठवस्तु हैं, उन्हें प्रकृतिसे उत्पन्न जानना वस्तुनिर्देश सम्बन्धमें दौरात्म्य करना है, और ऐसा करना निन्दा कहलाता है। विष्णु-कलेवरको प्राकृत माननेके समान और कोई निन्दा नहीं हो सकती।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें ही श्रीमन्महाप्रभु श्रीसनातन गोस्वामीको शिक्षा देते हुए कहते हैं—

कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसारादि दुःख॥

कभु स्वर्गे उठाय, कभु नरके डुबाय।
दण्ड्यजने राजा येन नदीते चुबाय॥

साधु-शास्त्र कृपाय यदि कृष्णोन्मुख हय।
सेइ जीव निस्तारे, माया ताहारे छाड़य॥
(चै॰च॰म॰ २०/११७-११८, १२०)

अर्थात् नित्यमुक्त जीव श्रीकृष्णको कभी भी भूल नहीं सकता। अनादि कालसे कृष्णोन्मुख रहकर वह हरिसेवारूप नित्यवृत्तिमें अधिष्ठित रहता है, किन्तु जो जीव श्रीकृष्णको भूलकर अनादि कर्मफलरूपी भोगवासनामें फँसकर मायामें मुग्ध होकर स्वयंको

कर्मफलका भोक्ता समझता है, उसके लिए मायाके द्वारा कर्मफल निर्दिष्ट होता है। राजाके पुरस्कार एवं दण्डके समान बद्धजीव पुण्यकर्मके प्रभावसे कभी स्वर्गमें देवता पदपर आरूढ़ होकर सुख भोग करता है और कभी पापके फलस्वरूप नरकादिमें क्लेश प्राप्त करता है। कृष्ण-बहिर्मुखताके कारण जीवका जो पतन होता है, वह साधु एवं शास्त्रकी कृपासे जाना जाता है और उसे जानकर जीव जब पुनः कृष्णोन्मुख होता है, तब वह निस्तार प्राप्त कर लेता है और माया भी उसका परित्याग कर देती है।

श्रीमद्भगवद्गीता (७/१४) में भी द्रष्टव्य है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

अर्थात् यह जीव-विमोहिनी एवं त्रिगुणात्मिका मेरी बहिरङ्गा-शक्ति निश्चय ही दुस्तरणीय है, परन्तु जो मेरा ही आश्रय ग्रहण करते हैं, वे इस मायाको पार कर जाते हैं।

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुक-वाक्यमें भी देखा जा सकता है—

बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः।
मात्रार्थञ्च भवार्थञ्च आत्मनेऽकल्पनाय च॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८७/२)

श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—परीक्षित्! जगदीश्वरने जीवोंके लिए बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणरूप उपाधियोंकी सृष्टि की है, जिससे वेरूप-रसादि विषयोंको ग्रहणकर इन्द्रिय-तृप्ति कर सकें, उत्तम जन्म प्राप्तिके लिए उपयोगी कर्मोंका आचरण कर सकें, पारलौकिक सुख-भोग प्राप्त कर सकें और मुक्ति प्राप्त कर सकें।

श्रीमद्भागवत (१/७/१०) में भी वर्णन है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

श्रीसूत गोस्वामीने कहा—ब्रह्मानन्दके सुखमें मग्न होकर जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है, जो आत्मामें ही रमण करते हैं, वे भी मुक्त होकर अमित-विक्रम श्रीहरिकी फलकी कामनाओंसे रहित

अहैतुकी निष्काम सेवा करते हैं, क्योंकि भगवान् श्रीहरि ऐसे ही गुणसम्पन्न हैं कि वे आत्मारामोंको भी आकर्षित कर लेते हैं।

इसी प्रकार और भी,

एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।
न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया॥

(श्रीमद्भा॰ १/११/३८)

अर्थात् जिस प्रकार भगवान्‌की शरणागत बुद्धि अपनेमें रहनेवाले प्राकृत गुणोंसे लिप्त नहीं होती, उसी प्रकार प्रकृतिके अन्तर्गत प्रपञ्चमें अवस्थित होकर भी श्रीकृष्ण सुख-दुःख आदि प्राकृत गुणोंसे कदापि लिप्त नहीं होते, परमेश्वर या उनकी वस्तुओंका यही ऐश्वर्य है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी देखा जाता है—

यद्यपि तिनेर माया लञा व्यवहार।
तथापि तत्स्पर्श नाहि सबे माया पार॥

(चै॰च॰आ॰ २/५४)

अर्थात् विराट्, हिरण्यगर्भ और कारण—ये सभी मायासे सम्बन्धित उपाधियाँ हैं। उक्त तीनों पुरुषोंका मायाके साथ व्यवहार रहनेपर भी वे मायासे परे हैं। वे मायाधीश तत्त्व हैं। वे मायामें ईक्षण तो करते हैं, किन्तु मायाका संस्पर्श नहीं करते। प्रपञ्चमें रहकर भी प्रपञ्चातीत रहते हैं।

अतः जिस प्रकार श्रीभगवान् सर्वदा निर्गुण हैं, उनके आश्रित भक्त भी निर्गुण हैं—*'निर्गुणो मदपाश्रयः'* (श्रीमद्भा॰ ११/२५/२६)।

ब्रह्मको सगुण कहना अत्यन्त अपराधका परिचायक है। श्रीमद्भगवद्गीताके बहुत-से श्लोक इस विषयमें आलोच्य हैं, यथा—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(श्रीगी॰ ९/११)

अर्थात् मूर्ख व्यक्ति मनुष्याकृति-श्रीविग्रह-आश्रित मेरे परमभावको न जानकर मायिक मनुष्यबुद्धिसे भूतसमुदायके महान ईश्वर मेरी अवज्ञा करते हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥
(श्रीगी॰ ७/२४)

बुद्धिहीन व्यक्तिगण मेरे सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ, अव्यय, अप्राकृत स्वरूप-जन्म-लीलादिको नहीं जानकर, प्रपञ्चातीत मुझे मायिक मनुष्यादिकी भाँति जन्म-ग्रहण करनेवाला मानते हैं।

'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्रके 'न' अक्षरको चार सूत्रोंमें ग्रहण करना होगा। इन चारों सूत्रोंके आधारपर व्यक्त किया जायेगा कि श्रीभगवान् शब्द द्वारा अवाच्य नहीं हैं। सन्तानको जन्म देनेवाले पिताकी सन्धान (सूचना) जिस प्रकार माता ही देती है, उसी प्रकार श्रुतियाँ मातृ-स्वरूपा होनेसे जगत्-पिता जगदीश्वरका सम्वाद जीवको देती हैं। स्मृतिशास्त्र भी भगिनी स्वरूपा हैं।

तथापि उपनिषद शास्त्र परब्रह्मका सम्वाद जीवके निकट प्रस्तुत करनेपर भी सम्पूर्ण रूपसे उस विषयका निरूपण नहीं कर सकते, क्योंकि 'श्रुतिभिर्विमृग्याम्' अर्थात् उस ब्रह्मपदका श्रुतियाँ भी अनुसन्धान कर रही हैं। किन्तु *'वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु'* (श्रीमद्भा॰ १/१/२)—इस विचारसे श्रीमद्भागवतकी कृपासे ही एकमात्र वास्तव वस्तुको जाना जा सकता है। इसीलिए श्रीमद्भागवतको समस्त शास्त्रोंका सार बतलाया गया। श्रीमद्भागवतके सम्बन्धमें कहा है—*'इदं भागवत नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्'* (श्रीमद्भा॰ १/३/४०)।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि ब्रह्ममें भक्तिनिष्ठ होनेपर जीवको मोक्ष प्राप्त होता है। इस उपदेशके आधारपर ब्रह्म कभी भी सगुण नहीं हैं, सगुण होनेसे उनकी उपासनासे मोक्ष-प्राप्तिकी सम्भावना भी न रहती। श्रीमद्भागवत (५/१/१६) में ही,

मुक्तोऽपि तावद्बिभृयात् स्वदेहमारब्धमश्नन्नभिमानशून्यः।
यथानुभूतं प्रतियातनिद्रः किन्त्वन्यदेहाय गुणान् न वृङ्क्ते॥

अर्थात् हे प्रियव्रत! मुक्त पुरुष अपने प्रारब्ध कर्मोंके अनुसार सुख-दुःखका भोग उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार निद्रा टूटनेपर मनुष्य स्वप्नमें देखे हुए विषयको स्मरण करता है, किन्तु वह उन

गुण-कर्म और वासनाओंको स्वीकार नहीं करता, जिनके कारण दूसरे-दूसरे देह प्राप्त करने पड़ते हैं॥ ७॥

सूत्र—हेयत्ववचनाच्च॥ ८॥

सूत्रार्थ—'च' यदि शब्दवाच्य ब्रह्म सगुण होते, तो 'हेयत्ववचनात्'—जिस प्रकार स्त्री-पुत्रादिकी हेयताका शास्त्रोंमें निदर्शन है, उसी प्रकार ब्रह्मका भी हेयत्व कहा गया होता, 'न' किन्तु वैसा नहीं है, इसलिए ब्रह्म सगुण नहीं हैं॥ ८॥

सूत्रानुवाद—श्रीहरिको छोड़कर अन्य विषयोंका हेयत्व कहे जानेसे भी ब्रह्म सगुण नहीं हैं॥ ८॥

गोविन्दभाष्य—यद्यसौ जगत्कर्त्ता गौणः स्यात्तर्हि साधनोपदेशिषु वेदान्तवाक्येषु स्त्रीपुंसादेरिव हेयत्वं ब्रूयान्न चैवमस्ति। किं गुणहानाय मुमुक्षुभिरुपास्यः स कीर्त्यते? तद्भिन्नस्य तु गौणस्य तदुच्यते। *'अन्या वाचो विमुञ्चथ'* इति (मु॰ २/२/५)। कर्त्तृत्वञ्चेदं शुद्धनिष्ठमतः सत्यत्वादिरिव मुमुक्षुध्येयत्वं बोध्यं तथाच निर्गुणत्रव वाच्यः इति॥ ८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जगत्की सृष्टि करनेवाले शब्दवाच्य ब्रह्म यदि सगुण होते, तो साधनका उपदेश करनेवाले वेदान्तवाक्य स्त्री-पुरुषकी भाँति उनके भी हेयत्वका वर्णन करते, किन्तु ऐसा नहीं है। मुमुक्षु व्यक्ति गुणरहित अर्थात् निर्गुण होनेके लिए सगुण ब्रह्मको कभी उपास्य कहकर वर्णन कर सकते हैं? क्या सगुण ब्रह्मकी गुण-हानि उनका उद्देश्य होता? वे तो ऐसा कभी नहीं कहते, बल्कि इससे भिन्न संसारी जीवकी ही हेयताका निरूपण करते हैं। उनका तो कहना है कि श्रीहरि विषयक वाक्योंसे भिन्न सभी वाक्योंका त्याग करें। जगत्-कर्त्तृत्व भी एकमात्र निरुपाधिक (शुद्ध) ब्रह्मके द्वारा ही सम्भव है। अतएव शुद्ध ब्रह्मके ही सत्यत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्व इत्यादिकी भाँति मुमुक्षुका ध्येयत्व भी वही जानना चाहिये। अर्थात् मुमुक्षुओंकी ध्येय वस्तु भी वही निर्गुण ब्रह्म हैं। इस प्रकार यह प्रतिपन्न हुआ कि निर्गुण (गुणातीत) ब्रह्म ही शब्द (वेद) वाच्य हैं॥ ८॥

सूक्ष्मा-टीका—हेयत्वेति। कीर्त्यते। हरिर्हीत्यादौ। तदन्यस्य हरीतरस्य संसारिजीवस्य हेयत्वन्तु कथ्यत इत्यर्थः। अन्या हरीतरविषया वाचः॥ ८॥

सूक्ष्मा-सार—जो निर्गुण ब्रह्म हैं, क्या उन्हें हेय कहा जा सकता है? ऐसा नहीं है। श्रीहरिसे भिन्न संसारी जीवकी हेयताका वर्णन है तथा उनसे भिन्न अन्य विषयक समस्त वाक्य हेय हैं॥ ८॥

गोविन्दतोषणी वृत्ति—निर्गुण ब्रह्म ही वेदवाच्य हैं। श्रीमद्भागवत शास्त्रमें श्रीनारदजीके वचनोंमें देखा जा सकता है—

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा
न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः॥

(श्रीमद्भा० १/५/१०)

अर्थात् जो वचन अथवा ग्रन्थ विचित्र रस, भाव, अलङ्कारादि पदोंसे अलंकृत होनेपर भी भुवन-पावन श्रीवासुदेवकी महिमाका कोई उल्लेख नहीं करते, ज्ञानीजन उन वचनों और ग्रन्थोंको मृत शरीरके समान अपवित्र अथवा काकतीर्थ—काकतुल्य कर्मियोंका रतिस्थान जानकर उसका सम्मान नहीं करते। मानस-सरोवरके कोमल-कमल-वनमें रहनेवाले राजहंस जिस प्रकार काक-क्रीड़ा-स्थल विचित्र अन्नादिसे पूर्ण उच्छिष्ट गड्ढेमें कभी भी उल्लसित नहीं होते, उसी प्रकार ब्रह्म-धाममें विचरण करनेवाले भगवच्चरणारविन्दाश्रित परमहंस भक्त भी शब्द-विचारादि आडम्बरसे पूर्ण होनेपर भी हरिकथाके रससे हीन वाणियों अथवा ग्रन्थोंको शुष्क समझकर परित्याग कर देते हैं।

इसी प्रकार और भी,

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत्
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥

(श्रीमद्भा० १/५/११)

अर्थात् जिन वाणियों अथवा ग्रन्थोंमें भगवान् अनन्तदेवकी महिमासूचक नामोंका वर्णन है, उसका प्रत्येक श्लोक अथवा आख्यान अपशब्दादिसे युक्त रहनेपर भी सुर, मान, लय, तान आदि साहित्यगत प्रसादगुण न रहनेपर भी लोगोंके पापोंका विनाश करता है। ऐसी ही वाणीको साधुजन वक्ता मिल जानेसे श्रवण करते हैं, श्रोता मिल जानेपर कीर्त्तन करते हैं और कोई न हो, तो स्वयं ही गान करते हैं।

जगत्-कर्त्तृत्व इत्यादि शक्तियाँ निर्गुण ब्रह्ममें ही सम्भव है। अतः वे सत्य, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और मुमुक्षुओंकी ध्येय वस्तु हैं। वे ही वेदवाच्य हैं। श्रीमद्भागवतमें ही वर्णन है,

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-
र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥

(श्रीमद्भा॰ १/५/१७)

अर्थात् जो अपने वर्णाश्रमधर्मके पालनको छोड़ करके श्रीहरिके चरणकमलोंका भजन करता है, सिद्ध होनेकी बात तो दूर रहे, असिद्ध अवस्थामें भी यदि वह भजनसे किसी प्रकारसे भ्रष्ट हो जाय अथवा उसकी मृत्यु हो जाय, फिर भी कर्मोंमें अनधिकारके कारण यह आशङ्का नहीं करनी चाहिये कि उसका पतन हो गया। वह किसी भी अवस्थामें रहे, यहाँ तक कि नीच योनिमें भी रहे, तो भी ऐसे भगवत्-रसिकका क्या कभी अमङ्गल हो सकता है? किन्तु स्वधर्मका पालन करनेवाले भक्तिसे शून्य मनुष्योंको न कोई लाभ मिलता है और न ही उनका कोई प्रयोजन सिद्ध होता है।

और भी,

त्यजेत कोशस्कृदिवेहमानः कर्माणि लोभादवितृप्तकामः।
औपस्थ्यजैह्व्यं बहु मन्यमानः कथं विरज्येत दुरन्तमोहः॥

(श्रीमद्भा॰ ७/६/१३)

अर्थात् गृहमें आसक्त गृहस्थ उस रेशमके कीड़ेके समान है, जो अपने चारों ओर धागा बुनकर अपने लिए गृह-निर्माण करता है और

उसीमें बन्दी हो जाता है, उससे निकल नहीं पाता। इसी प्रकार जीव भी उन-उन फलोंके लोभके कारण कर्म करते-करते उनसे बँध जाता है। वह कभी पूर्णकाम नहीं होते तथा जननेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय सुखको ही अपना अभीष्ट मानकर मोहसे अभिभूत हो जाते हैं। इस प्रकार कोई जीव किस प्रकार विरक्त हो सकता है? इस प्रकार इस आठवें सूत्रसे यह प्रमाणित हुआ कि ब्रह्म शब्दके अर्थात् वेदके अवाच्य नहीं हैं। ब्रह्म यदि सगुण होते तो मुमुक्षु व्यक्ति कभी भी उपास्यके रूपमें उनका निर्णय नहीं करते। जिन वाक्योंमें श्रीहरिका वर्णन नहीं है, वे सभी हेय एवं परित्यज्य हैं॥ ८॥

सूत्र—स्वाप्ययात्॥ ९॥

सूत्रार्थ—'स्व' में (स्व-स्वरूपमें) 'अप्ययात्' लय होनेकी बात कही गयी है। 'न' इसलिए उक्त शब्दवाच्य ब्रह्मको सगुण नहीं कहा जा सकता॥ ९॥

सूत्रानुवाद—अपनेमें ही लय कहे जानेसे ब्रह्म, शब्द द्वारा अवाच्य नहीं कहे जा सकते॥ ९॥

गोविन्दभाष्य—वाजसनेयके। *'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदुच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥'* (बृ॰आ॰ ५/१/१) पूर्णे स्वस्मिन्नेव पूर्णस्यैव स्वस्याप्ययाभिधानात् न पूर्णमशब्दम्। यदीदं गौणं स्यात्तर्हि परस्मिन्नपीयान्न तु स्वस्मिन्नेव। न च पूर्णशब्दितं स्यात्। वाक्यार्थन्तु अदो मूलरूपम्। इदं प्रकाशरूपम्। उभयं पूर्णम्। रासादिषु कर्मसु मूलरूपात् पूर्णादुदुच्यते प्रादुर्भवति। तत्पूर्णे पूर्णस्य पूर्णप्रकाशरूपमादायैक्यं नीत्वा पूर्णं मूलरूपमन्यत्राविलीनं अवशिष्यत इति। निर्गुणस्य हरेरैवम्विध्यं स्मृतिराह। *'स देवो बहुधा भूत्वा निर्गुणः पुरुषोत्तमः। एकीभूय पुनः शेते निर्दोषो हरिरादिकृत्'* (मध्वभाष्य १/१/९) इति॥ ९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—वाजसनेयकोपनिषदमें कहा गया है, *'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'*—'वे मूलरूप ब्रह्म परिपूर्ण हैं, ब्रह्मसे प्रकाशित वस्तु भी परिपूर्ण है, पूर्णसे पूर्ण ही प्रकाशित होता है और पूर्णसे पूर्ण ग्रहण करनेपर पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है।' इस श्रुतिके अनुसार पूर्ण, अपनेमें ही पूर्ण, 'उनका अपने ही में लय' कहे जानेसे पूर्ण मूल ब्रह्म अशब्द (शब्द या वेद द्वारा अवाच्य) नहीं कहे जा सकते। यदि

शब्दवाच्य पूर्ण मूल ब्रह्म सगुण होते, तो दूसरे (परवस्तु) में उनका लय कहा जाता, स्वयंमें लय नहीं कहा जा सकता था। पुनः अपूर्ण (सगुण) होनेसे वे ब्रह्म पूर्ण शब्दसे अभिहित भी नहीं होते। भाष्यकार स्वयं इस श्रुतिका अर्थ परिस्फुट कर रहे हैं—'अदः' अर्थात् मूलरूप ब्रह्म, 'इदं' अर्थात् प्रकाशरूप ब्रह्म—दोनों ही पूर्ण हैं। रासलीला इत्यादि कार्योंमें भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण मूलस्वरूपसे आविर्भूत हुए हैं। अतएव पूर्ण वस्तुमें पूर्ण वस्तुका पूर्ण प्रकाशरूप लेकर अर्थात् दो पूर्ण वस्तुओंको एक करके मूल पूर्णब्रह्म अन्यत्र अविलीन होनेसे उसी रूपमें (पूर्ण मूल-वस्तु रूपमें) अवशिष्ट रहते हैं। पूर्णत्व ही निर्गुण श्रीहरिका स्वभाव है, यह पद्मपुराणमें भी कहा गया है। इसी प्रकार स्मृतिमें भी, वे निर्गुण परमेश्वर बहुरूप होकर लीला करते हैं, वे मायातीत पुरुषोत्तम श्रीहरि विश्वके आदिकर्त्ता हैं। वे ही प्रलयकालमें अपनेमें समस्तका उपसंहार करके कारण-सलिलमें शयन करते हैं। (मध्वभाष्य १/१/९)॥ ९॥

सूक्ष्मा-टीका—रासादेष्विति। आदिना महिषीविवाहादिग्रहणं। ऐवम्विध्यं पूर्वोक्तश्रुत्यर्थरूपत्वम्। स देव इति पाद्मे॥ ९॥

सूक्ष्मा-सार—भाष्यमें उक्त 'रासादिषु' में आदि पदसे महिषी-विवाहमें रुक्मिणी इत्यादि महिषियोंको उपलक्षित किया गया है। यदि भगवान् निर्गुण हैं, तो उनके महिषी-विवाहादि कार्य किस प्रकारसे सम्भव हो सकते हैं? इसी आशङ्काके उत्तरमें कह रहे हैं—यह पूर्वोक्त श्रुतिका प्रतिपाद्य विषय है, इसीको पद्मपुराणके उदाहरणसे स्पष्ट किया है कि श्रीहरिको इस प्रकारसे जानना चाहिये। यही बात महाभारतके उदाहरणसे भी स्पष्ट की गयी है॥ ९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—*पूर्णमदः* इत्यादि वाक्यमें मूल ब्रह्म ही पूर्ण हैं। यदि ये मूल ब्रह्म सगुण होते, तो उनका अपनेमें लय कभी न कहा जाता। श्रीकृष्णने पूर्ण ब्रह्म एवं मूल ब्रह्मके रूपमें रासलीला और महिषी-विवाहमें पूर्णसे पूर्णकी ही लीलाका प्रदर्शन किया है। इस सन्दर्भमें स्मृतिमें भी पाया जाता है कि निर्गुण पुरुषोत्तम आदिकर्त्ता

निर्दोष श्रीहरि ही बहुतरूप धारण करके पूर्णस्वरूप आत्मामें एकीभूत होकर अवस्थित रहते हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें द्रष्टव्य है—

व्रजे कृष्ण सर्वैश्वर्य प्रकाशे 'पूर्णतम'।
पुरीद्वये, परव्योमे—'पूर्णतर', 'पूर्ण'॥
(चै॰च॰म॰ २०/३९६)

अर्थात् श्रीकृष्ण व्रजमें सर्वैश्वर्य प्रकाश करते हैं, इसलिए व्रजेन्द्रनन्दनके रूपमें वे 'पूर्णतम' हैं। द्वारका एवं मथुरा दोनों पुरियोंमें श्रीकृष्ण व्रजकी अपेक्षा न्यून भावसे सर्वैश्वर्य प्रकाशित करते हैं, इसलिए वहाँ वे पूर्णतर हैं और परव्योम वैकुण्ठमें श्रीकृष्ण दोनों पुरियोंकी अपेक्षा न्यून (स्वल्प रूपमें) सर्वैश्वर्य प्रकाश करते हैं, इसलिए वहाँ वे पूर्ण हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें ही वर्णन है—

प्राभव-वैभवरूपे द्विविध प्रकाशे।
एक वपु बहुरूप यैछे हैल रासे॥

महिषी विवाहे हैल बहुविध मूर्त्ति।
प्राभव-विलास एइ शास्त्र-परसिद्धि॥
(चै॰च॰म॰ २०/१६७-१६८)

अर्थात् श्रीभगवान्‌का 'प्रकाशरूप' दो प्रकारका होता है—प्राभव-प्रकाश और वैभव-प्रकाश। एक ही विग्रह जैसे रासलीलामें अनेक रूपोंमें प्रकाशित हुआ एवं महिषियोंके विवाहके समय जैसे अनेक श्रीकृष्णमूर्त्ति प्रकाशित हुईं—उन स्वरूपोंको शास्त्रोंमें प्राभव-विलास कहा गया है।

श्रीमद्भागवत (१०/६९/२) में भी द्रष्टव्य है—

चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्॥

अर्थात् अहो, यह कितने आश्चर्यकी बात हैं कि भगवान् श्रीकृष्णने एक ही शरीरसे एक ही समय सोलह हजार महलोंमें अलग-अलग सोलह हजार राजकुमारियोंका पाणिग्रहण किया।

श्रीमद्भागवत (१/२/२८) में कहा गया है—

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः॥

अर्थात् चारों वेदोंका तात्पर्य श्रीवासुदेवमें ही है, वेदोक्त समस्त यज्ञ यज्ञेश्वर श्रीविष्णुपरक ही हैं, योगशास्त्र भी योगेश्वरेश्वर श्रीविष्णुके तात्पर्यसे युक्त हैं और योगशास्त्रोंमें कहे गये अनुष्ठान भी श्रीविष्णु—भक्तिमें पर्यवसित होते हैं। इसी प्रकार ज्ञानशास्त्र भी भगवान् श्रीवासुदेवको लक्ष्य करते हैं, ज्ञान-वैराग्य भी हरिभक्तिके उद्देश्यसे ही हैं। दान-व्रतादि विषयक धर्मशास्त्र भी हरिभक्तिमें पर्यवसित होते हैं। स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिरूप अनित्य सुखका परित्याग करके हरिभक्तिरूप नित्यानन्द ही जीवनका लक्ष्य होना चाहिये।

इसी प्रकार *'कालोमायामये जीवे जीव आत्मनि मय्यज'* (श्रीमद्भा॰ ११/२४/२७) अर्थात् काल मायामय जीवमें और जीव मुझ अजन्मा आत्मामें लीन हो जाता है॥ ९॥

अवतरणिका भाष्या—यत्तु सगुणं निर्गुणञ्चेति द्विरूपं ब्रह्म। तत्राद्यंसत्त्वोपाधि सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगत्कारणम्। द्वितीयञ्च। सत्तानुभूतिमात्रं पूर्णं विशुद्धम्। पूर्वत्र वेदानां शक्तिः। परत्र तु तात्पर्यमित्याद्यभिप्रेतं, तदपि निरस्यति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब दसवें सूत्रकी अवतरणिकाके लिए आपत्तिका सङ्केत कर रहे हैं कि कोई-कोई सगुण विषयक वाक्योंको देखकर भ्रान्त होते हैं और अपना मत रखते हैं कि ब्रह्मके दो प्रकार हैं—सगुण और निर्गुण। उनमेंसे जो प्रथम सगुण हैं—वे सत्त्वोपाधि, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और जगत्के कारण हैं और जो निर्गुण ब्रह्म हैं, वे सत्तानुभूति मात्र, पूर्ण, उपाधिसे निर्मुक्त एवं विशुद्ध हैं। सगुण ब्रह्ममें वेदकी अभिधा शक्ति है और निर्गुण ब्रह्ममें वेदवाक्योंका तात्पर्य है, वाच्यता नहीं। इस मतका खण्डन इस सूत्र द्वारा किया जा रहा है।

अवतरणिका भाष्यस्य टीका—सगुणविषयकं वाक्यं दृष्ट्वा केचिद् भ्रमन्ति तन्मतं निराकरोति। यत्त्वित्यादिना। पूर्वत्र सगुणे ब्रह्मणि, परत्र तु निर्गुणे—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—सगुण विषयक वाक्योंको देखकर कोई-कोई भ्रममें पड़ जाते हैं, उन्हींके मतका 'यत्तु' इत्यादि वाक्योंके

द्वारा खण्डन कर रहे हैं। यहाँ 'पूर्वत्र' का अर्थ है सगुण ब्रह्म और 'परत्र' का अर्थ है निर्गुण ब्रह्म।

सूत्र—गतिसामान्यात्॥ १०॥

सूत्रार्थ—'गतेः' अर्थात् अवगति (ज्ञान) की समानताके कारण अर्थात् एक हीरूप ब्रह्मके ज्ञानके कारण। 'विज्ञानघनः सर्वज्ञ' इत्यादि ज्ञान—समस्त वेदोंमें एक ब्रह्मकी ही गति है, दो प्रकारके ब्रह्मकी नहीं॥ १०॥

सूत्रानुवाद—गति (ज्ञान) की समानताके कारण सभी वेद एकरूप ब्रह्मका ही प्रतिपादन करते हैं॥ १०॥

गोविन्दभाष्य—गतिः अवगतिः, विज्ञानघनः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः पूर्णो विशुद्धः परमात्मा जगद्धेतुरुपासितः सन् विमुक्तिकृदिति धीरित्यर्थः। तस्याः सर्वेषु वेदेषु सामान्यादैकरूप्यात्। तथाभूतस्यैकस्य ब्रह्मणः सर्वेषु तत्तयाभिधानात्। सगुणं निर्गुणञ्चेति द्विरूपता नास्तीत्यर्थः। स्मृतिश्च। *'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय'* इति (गीता ७/७)॥ १०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—गतिका अर्थ अवगति (ज्ञान) है। वे (परमात्मा) विज्ञानघन (चित्स्वरूप), सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान, पूर्ण, मायाधीश-स्वरूप एवं जगत्के अद्वितीय कारण हैं। उनकी उपासना करनेपर वे मुक्ति प्रदान करते हैं—इसी ज्ञानका समस्त वेदोंमें समान भावसे प्रतिपादन है, सगुण-निर्गुण भेदसे ब्रह्म दो प्रकारके नहीं हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्ने स्वयं कहा है *'मत्तः परतरं'* (गीता ७/७)—"हे धनञ्जय! मुझसे अतिरिक्त श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।" अतः प्रमाणित होता है कि एकमात्र श्रीकृष्ण ही परतत्त्व वस्तु हैं। उनसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। अतएव ब्रह्मके दो प्रकार नहीं हैं। श्रुतियोंने ज्ञानकी समानता (निर्गुणता) का ही सर्वत्र उल्लेख किया है॥ १०॥

सूक्ष्मा-टीका—सुगमं गतिरित्यादि॥ १०॥

सूक्ष्मा-सार—निर्गुण ज्ञानके सम्बन्धमें कही बातें सुगम ही है॥ १०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—शङ्कराचार्य इत्यादि कोई-कोई मतवादी कहते हैं कि सगुण (नाम, रूप, विकारादि भेदरूप उपाधि संयुक्त) और

निर्गुण (समस्त उपाधियोंसे रहित) ब्रह्म दो प्रकारके हैं। इस प्रकारके मतके निराकरणके लिए इस दसवें सूत्रकी रचना की गयी है। वस्तुतः समस्त वेदोंमें ही ब्रह्मका सामान्यतः एक ही रूपमें प्रतिपादन है। सगुण एवं निर्गुण भेद काल्पनिक हैं। ब्रह्मके दोरूप नहीं हैं। सभी वेदोंमें एक ही ब्रह्मका निरूपण किया गया है। श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—*'ममाहमेवाभिरूपः कैवल्यात्'* (श्रीमद्भा॰ ५/३/१६)।

भगवान् स्वयं कह रहे हैं—कैवल्यात् अर्थात् अद्वितीयात्वात्—मैं अद्वितीय पुरुष हूँ। 'अभिरूपः' अर्थात् मेरे समान मैं ही हूँ, अन्य कोई मेरे समान नहीं हो सकता। इसी तथ्यकी व्याख्या श्रीधरस्वामीने इस प्रकार की है—*'मम अहमेवाभिरूपः सदृशः कैवल्याददि्वतीयात्वाम्।'* श्वेताश्वेतरोपनिषद (६/८) में भी द्रष्टव्य है—*'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते कुतोऽन्यः।'* अर्थात् उनके समान और उनसे बढ़कर कोई भी दिखायी नहीं देता। इसी उपनिषदमें अन्यत्र (३/४) भी उल्लिखित है—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

अर्थात् उन्हें ही जानकर पुरुष मृत्युको पार करता है, इसके अतिरिक्त परमपद-प्राप्तिका और कोई मार्ग नहीं है।

और भी, *'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।'* अर्थात् जो इन्हें जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

वेदान्तसूत्रमें ही बादमें कहा जायेगा—*'तथान्यप्रतिषेधात्'* (३/२/३७) अर्थात् ब्रह्मके अतिरिक्त और कोई भी परतत्त्व नहीं है। भक्त अर्जुनके वचन हैं—*'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो'* (श्रीगी॰ ११/४३)।

इस प्रकार श्रीकृष्ण ही परब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर हैं, उनसे श्रेष्ठ तत्त्व कुछ भी नहीं है। समस्त वेदादि उच्च स्वरमें उनकी महिमाका बार-बार कीर्त्तन कर रहे हैं। भाग्यवान व्यक्ति ही सद्गुरुकी कृपासे शास्त्रोंके मर्मसे अवगत हो सकते हैं। अन्यथा जैसा कि श्रीचैतन्यभागवत (म॰ ८/२१०) में कहा है—

शास्त्रेरे ना जानि' मर्म अध्यापना करे।
गर्दभेर प्राय येन शास्त्र बहि' मरे॥

अर्थात् अपनेको पण्डित माननेवाले जो व्यक्ति भागवतके अध्यापक बनकर भक्तिहीन विचारोंके द्वारा अपने घमण्डका प्रदर्शन करते हैं, वे भार ढोनेवाले गधेकी भाँति शास्त्रोंके वाक्योंको केवल ढोते हैं, उनके द्वारा लाभान्वित नहीं होते। वे व्यर्थ परिश्रम करते हुए मात्र कष्ट उठाते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृत (म॰ २०/१५२) में श्रीमन्महाप्रभुके वचन हैं—

कृष्णेर स्वरूप-विचार शुन, सनातन।
अद्वयज्ञान-तत्त्व, व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥

अर्थात् हे सनातन! श्रीकृष्णका स्वरूप-विचार यह है कि वे व्रजधाममें व्रजपति नन्दके कुमार हैं। वे अद्वयज्ञान परतत्त्व हैं। उनके नाम, रूप, गुण एवं लीला—इन चार प्रकारके तत्त्वोंमें मायाजनित परस्पर भेद अथवा विरोध दिखायी नहीं देता।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवतमें भी वर्णन है—

वासुदेवपरा वेदा, वासुदेवपरा मखाः।
वासुदेवपरा योगा, वासुदेवपरा क्रियाः॥
(श्रीमद्भा॰ १/२/२८–२९)

अवतरणिका भाष्य—अथ स्फुटमेव निर्गुणस्य वाच्यत्वमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब सूत्रकार सुस्पष्ट भावसे निर्गुण ब्रह्मकी वाच्यता बतला रहे हैं।

सूत्र—श्रुतत्वाच्च॥ ११॥

सूत्रार्थ—कठकादि श्रुतिमें निर्गुण ब्रह्मकी उक्ति होनेके कारण वे ही वाच्य हैं॥ ११॥

सूत्रानुवाद—श्रुतिमें उक्ति होनेके कारण ब्रह्म अवाच्य नहीं हो सकते॥ ११॥

गोविन्दभाष्य—काठकादिषु। *'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। धर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च'* इति (श्वे॰ ६/११)॥ निर्गुणस्य श्रुत्युक्तत्वाच्च वाच्य एव सः। न ह्यशब्दः श्रूयेत। यत्तु लक्षणया

निर्गुणस्यावगतिः नत्वभिधया प्रवृत्तिनिमित्ताभावादिति जल्पन्ति तदसत्। सर्वशब्दावाच्ये लक्षणायोगात्। निर्गुणत्वादेरप्यदृश्यत्वादेरिव तन्निमित्तत्वात्। ननु निर्गुणोऽपि गुणवानिति विरुद्धं। मैवं। रहस्यानवबोधात्। तथाहि, निर्गुणादयः शब्दाः नैर्गुण्यादिना निमित्तेन तत्र प्रवर्त्तेरन्। सर्वज्ञादयस्तु सार्वज्ञत्वादिना। तेन प्राकृतैः सत्त्वादिभिर्गुणैर्विहीनः स्वरूपानुबन्धिभिस्तैस्तैस्तु विशिष्टोऽसाविति न कापि विचिकित्सा। स्मरन्ति चेत्थम्। (वि॰पु॰ १/९/४४) *'सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र चाप्राकृता गुणाः।' 'समस्त-कल्याणगुणात्मकोऽसौ'* इत्यादिभिः (वि॰पु॰ ६/५/४८)। तस्मात् पूर्णो विशुद्धो हरिर्वेदवाच्यः। अनामादिशब्दास्तु गुणाप्रसिद्धिकात्स्न्र्यागोचरत्वादितः सङ्गमनीयाः। तदप्रसिद्धिश्च प्राकृतवैलक्षण्येनाग्रहात्। कात्स्न्र्येनागोचरता त्वानन्त्यात्। यस्तु तेषां स्फुटार्थं ब्रूते स एवं प्रष्टव्यः। तैस्तस्य बोधः स्यान्नवेति? आद्ये तेऽपि तस्याख्याः। अन्त्ये तु तदारम्भवैफल्यापत्तिरिति॥ ११॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—काठकादि श्रुतिमें निर्गुण ब्रह्मका वर्णन है। यथा—*'एको देवः सर्वभूतेषु'* इत्यादि—"वे विविध आश्चर्य लीलामय हैं तथा प्राणीमात्रके ही हृदयमें गूढ़ भावसे विद्यमान हैं।" ऐसा कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि ब्रह्म ससीम हैं, बल्कि वे सर्वव्यापक हैं। वे समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी, धर्माध्यक्ष (सभीके कर्मोंके फलोंके विधाता) एवं सभीके आश्रय (आवास) हैं। जीवोंके कर्मके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। वे दृश्यवस्तु नहीं, द्रष्टा हैं, वे चित्-स्वभाव हैं, सभी जीवोंको ज्ञान (चेतना) प्रदान करते हैं। निर्गुण होनेके कारण वे रागद्वेषादिसे रहित हैं। मायाके साथ उनका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार श्रुतियाँ ब्रह्मकी निर्गुणताके विषयमें ही उल्लेख कर रही हैं। अतः निर्गुण ब्रह्म ही शब्दवाच्य हैं। जो शब्दवाच्य नहीं है, वह श्रुत भी नहीं हो सकता। अवाच्य वस्तु कभी श्रुतिका विषय नहीं बन सकती। तब जो कहते हैं कि सगुण ब्रह्म ही शब्दवाच्य हैं, निर्गुण ब्रह्म साजात्य (सजातीयता) सम्बन्धसे लक्षणा द्वारा बोधित होते हैं, अभिधा शक्ति द्वारा नहीं, क्योंकि उनमें शक्तिग्रह नहीं है। यह कथन अतीव असाधु और भ्रान्त है, क्योंकि जो समस्त शब्दके द्वारा अवाच्य हैं, उसमें लक्षणाका प्रवेश नहीं हो सकता।

वादीगण जो यह कहते हैं कि निर्गुण ब्रह्म शक्यतावच्छेदक धर्म (गुण) से रहित हैं, यह भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार अदृश्यत्वादि धर्मके द्वारा वेदवाक्योंकी ब्रह्ममें प्रवृत्ति होती है, उसी

प्रकार निर्गुणत्वादि धर्म भी शब्द-प्रवृत्तिके निमित्त हैं। अब प्रश्न यह है कि वे निर्गुण होकर भी गुणवान हैं, तब तो बड़ा विरोध है—यह कैसे हो सकता है? अरे वादियो! तुमलोग इस सम्बन्धमें रहस्य तत्त्वको नहीं जानते हो, इसलिए इस प्रकार कह रहे हो। किस प्रकार? वही बतला रहे हैं—ब्रह्मके स्वरूपके विशेषणके रूपमें जो निर्गुण इत्यादि शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वे नैर्गुण्यादि रूपमें ब्रह्ममें प्रवृत्त होनेके लिए निमित्तीभूत हैं। बात यह है कि जब तक निर्गुण शब्दके तात्पर्यका बोध नहीं होता, तभी तक सगुण-निर्गुणका विरोध रहता है। सर्वज्ञत्वादि शब्द जिस प्रकार सर्वज्ञतादि धर्मके द्वारा ब्रह्ममें प्रवृत्तिके निमित्त हैं, उसी प्रकार निर्गुणत्व आदि शब्द नैर्गुणत्वादि धर्मके द्वारा प्रवृत्त होते हैं। निर्गुण रूपमें ब्रह्म प्रकृतिगत सत्त्व इत्यादि गुणोंसे रहित हैं और स्वरूपानुबन्धिकृत (अथवा स्वरूपगत) दयालुत्व, सर्वज्ञत्व इत्यादि अप्राकृत गुणोंसे विशिष्ट हैं, ऐसा प्रतिपादन करनेपर किसी अन्य विचारके लिए अवकाश नहीं है। निर्गुण होकर भी गुणवान हैं, इसमें भी कोई असङ्गति नहीं है। *'सत्त्वादयो न सन्तीशे'* इत्यादि स्मृति-वाक्योंके अनुसार परमेश्वरमें सत्त्व, रज और तम ये प्राकृत गुण नहीं हैं, किन्तु वे अप्राकृत गुणोंसे युक्त हैं। यह भी कहा गया है कि वे समस्त कल्याण-गुणोंके आधार हैं। इन सब वचनोंसे उनका सगुणत्व, निर्गुणत्व दोनों ही व्यक्त हुए हैं। इसलिए पूर्ण, विशुद्ध (मायाधिकारसे बहिर्भूत) श्रीहरि वेदवाच्य हैं।

वेद-बोधित ब्रह्मके लिए अनाम, अरूप, अवाच्य और निर्गुण इत्यादि विशेषणोंका प्रयोग गुणोंकी अप्रसिद्धि अथवा समस्त गुणोंका सर्वांशमें गोचर न होनेके कारण होता है। गुणोंकी अप्रसिद्धिका कारण है, प्राकृत वैलक्षण्य (विलक्षणता) की प्रतीतिका अभाव। इसी प्रकार अवाच्यत्वका प्रयोग भी ब्रह्मकी अनन्तताके सम्पूर्ण रूपसे अज्ञेयत्वके कारण होता है। जो इन अनामादि शब्दोंका यथाश्रुत अर्थ करते हैं, उनसे यह प्रश्न किया जाता है कि अनामादि शब्दोंसे निर्गुण ब्रह्मका बोध है कि नहीं। यदि बोध होता है, तो अनामादि शब्दोंको भी ब्रह्मका वाचक कहना होगा और यदि इन शब्दोंसे ब्रह्मका बोध नहीं होता, तब तो उसे अनामादि विशेषण देना व्यर्थ है। यदि बोध नहीं

है, तो कोई ब्रह्म-विचारका आरम्भ नहीं कर सकता। आरम्भकी विफलता सिद्ध है॥ ११॥

सूक्ष्मा-टीका—एको देव इति। मत्स्यकूर्माद्यात्मना भेदं निरस्याह। एक इति। देवो विविधाश्चर्यक्रीडः। सर्वभूतेषु गूढः। सर्वप्राणिहृद्वर्त्ती। तत्तद्हृद्वर्त्तित्वेन परिच्छेदो नेत्याह। सर्वव्यापीति। आकाशवत्ताटस्थ्यं वारयति। सर्वभूतान्तरेति निखिलास्तन्तर्यामीत्यर्थः। सर्वेभ्यः कर्मफलदाता चेत्याह धर्माध्यक्ष इति। दयालुत्वमाह। सर्वभूताधिवास इति सर्वाश्रय इत्यर्थः। सर्वान्तर्वर्त्त्यपि तत्कृतकर्मास्पृष्ट इत्याह। साक्षीति। साक्षित्वे हेतुः। चेता इति। चित्स्वभाव इत्यर्थः। अथवा चेताश्चेतयिता प्राणिनां ज्ञानप्रद इत्यर्थः। केवलः शुद्धः। शुद्धत्वं कुत इत्याह—निर्गुण इति मायागन्धास्पृष्ट इत्यर्थः सर्वशब्देति। सर्वैः शब्दैर्यदवाच्यं तत्र लक्षणा न युज्यत इत्यर्थः। तथाहि ब्रह्म किञ्चिच्छब्दावाच्यं सर्वशब्दावाच्यं वा? आद्ये शब्दवाच्यत्वमायाति केनचिच्छब्देनावाच्यत्वेऽपि केनचिद्वाच्यं तदित्यर्थात्। अनेन तु लक्षणापि न सम्भवेत्। यत् किल सर्वशब्दावाच्यं न तत्र लक्षणा शक्या वक्तुं दृष्टान्तविरहात्। सोऽयं देवदत्त इत्यत्राजहत्स्वार्थया तत्काले तत्कालरूपो भागो विहीयते। पिण्डमात्ररूपो भागस्तु न हीयते। स च भागो वाच्य एव। पिण्डमात्रशब्देन दृष्ट इति। नास्ति सर्वशब्दावाच्यस्य लक्षणयां दृष्टान्त इति। अद्वितीयं चिन्मात्रं ब्रह्म। केनापि शब्देन वाच्यं न भवति। किन्तु लक्ष्यमेव तदिति भवतामभ्युपगमः। निर्गुणत्वादेरपीति। अदृश्यत्वादिगुणकधर्मोक्तेरिति सूत्रे यथाऽदृश्यत्वादीन् गुणान् भगवान् व्यासः प्रवृत्ति-निमित्तानि मन्यते। तथा निर्गुणत्वादयो धर्माः प्रवृत्तिनिमित्तानि भवेयुरित्यर्थः। अनामेति। अप्रसिद्धेस्तु गुणानामनामासौ प्रकीर्त्तितः इत्यादि स्मृतेः। यतो वाचो निवर्त्तन्ते इत्यादावशब्दं ब्रह्मेति यत् प्रतीयते तत् खलु अनन्तस्य तस्य कात्स्न्येनागोचरत्वादित्यवोचाम। यस्तु तेषामिति। तेषामनामादिशब्दानां तेऽपीति। तेऽनामादिशब्दाः। तस्य ब्रह्मणः अनामानीत्यर्थः। अन्त्ये तैस्तस्य बोधो न स्यादिति पक्षे तदारम्भवैफल्यं अनामादिशब्दवैयर्थ्यमित्यर्थः।

एतामेकादशसूत्रीं सभाष्यां पञ्चन्यायीं ये पठेयुः सुसूक्ष्माम्। तत्त्वज्ञानं सुलभं किं न तेषां शेषग्रन्थोऽयमतिविस्तारकारी॥ ११॥

सूक्ष्मा-सार—मत्स्य, कूर्मादि अवतार भेदसे ब्रह्मके प्रभेदोंका खण्डन करते हुए कह रहे हैं—वे एक ही देव हैं अर्थात् वे नाना प्रकारसे आश्चर्यजनक रूपसे लीलामय हैं। यदि एक ही हैं, तो विभिन्न रूपोंमें प्रतीत क्यों होते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—वे समस्त प्राणियोंके हृदयमें गूढ़ भावसे रहते हैं, इस रूपमें वे सीमाबद्ध अथवा परिच्छिन्न नहीं हैं, बल्कि सर्वव्यापी हैं। आकाश भी सर्वव्यापी है,

किन्तु ब्रह्म आकाशके समान उदासीन अर्थात् निर्लिप्त नहीं हैं, वरन् समस्त प्राणियोंके हृदयमें रहकर इन्द्रियोंको प्रेरित करते हैं। मात्र इतना ही नहीं, कर्मानुसार जीवोंके कर्म-फलके भी प्रयोजक हैं अर्थात् जो जैसा कर्म करता है, वे उसे उसी प्रकारका फल देते हैं। उनके समान दयालु भी कोई नहीं है, वे सबके आश्रय, हैं। समस्त जीवोंके अन्तरमें रहकर भी वे जीवकृत कर्मोंके सम्पर्कसे रहित हैं, इसीलिए उन्हें 'साक्षी' पदसे व्यक्त किया गया है। वे चित्स्वरूप हैं अर्थात् इन्द्रिय, देह, प्राण इत्यादि जड़-पदार्थोंमें चेतनाका सम्पादन करनेवाले हैं, इसलिए वे द्रष्टा हैं, दृश्य नहीं। वे केवल हैं अर्थात् शुद्ध हैं, राग-द्वेषादिसे रहित हैं। इसका कारण है कि वे निर्गुण हैं, मायाके लेशमात्र सम्पर्कसे भी रहित हैं, क्योंकि निर्गुण ब्रह्ममें लक्षणा हो ही नहीं सकती। इसलिए युक्ति द्वारा प्रतिपादन कर रहे हैं कि जो किसी शब्दके द्वारा वाच्य नहीं होता, उसमें लक्षणावृत्तिकी भी सङ्गति नहीं हो सकती। किस कारणसे? उसीको 'तथाहि' युक्ति द्वारा प्रमाणित कर रहे हैं—आक्षेप है कि निर्गुण ब्रह्म किसी एक शब्दके द्वारा अवाच्य हैं, नहीं! नहीं वे तो समस्त शब्दोंके द्वारा अवाच्य हैं।

यदि कहो कि एक शब्दके द्वारा अवाच्य हैं, तब तो उनकी शब्दवाच्यता हो जायेगी, क्योंकि किसी एक शब्दके द्वारा अवाच्य होनेपर भी अन्य शब्द द्वारा तो वे निश्चित ही वाच्य हैं—इस प्रकार इस प्रथम पक्षके द्वारा ब्रह्मके अवाच्यत्वका निराकरण हुआ। द्वितीय पक्षमें, यदि कहा जाय कि वे सभी शब्दोंके द्वारा अवाच्य हैं, तब दृष्टान्तके अभावमें वहाँ लक्षणावृत्तिका प्रसव किस प्रकार हो सकता है? *'सोऽयं देवदत्तः'*—यह वही देवदत्त है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा (पहचान) स्थलपर उस समय उस स्थानपर जिस देवदत्तको देखा था, अब वह यहाँ है, यह अर्थ प्रकाशित हो रहा है। इसमें अजहत् स्वार्थलक्षणा (जिसमें स्वार्थ एक बारमें त्यक्त नहीं होता, अपितु भागतः अर्थात् भाग-भाग करके परित्यक्त होता है, जिस प्रकार कि यहाँ तत्कालीनरूप भागका परित्याग हुआ है।) द्वारा उस समय तत्कालरूप भागका परित्याग है, किन्तु देवदत्त व्यक्ति अथवा शरीरोपाधि देवदत्त, उसका तो परित्याग नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्मका

अपरित्यक्त भाग तो वाच्य है, समस्त शब्दोंके द्वारा अवाच्य पदार्थका लक्षणामें दृष्टान्त नहीं है। अरे वादियो! तुम्हारा अभिप्राय है कि ब्रह्म चिन्मात्र हैं, उनका सजातीय एवं विजातीय कोई नहीं है तथा वे ब्रह्म किसी शब्दके द्वारा वाच्य नहीं हैं, और वे लक्ष्य (लक्षणा द्वारा बोध्य) हैं।

देखो, अदृश्यत्वादि धर्म जिस प्रकार ब्रह्मके शक्यतावच्छेदक हैं, उसी प्रकार निर्गुणत्वादि भी है। भगवान् वेदव्यासने जिस प्रकार अदृश्यत्वादि धर्मको ब्रह्म शब्दका शक्यतावच्छेदक माना है, उसी प्रकार निर्गुणत्वादि धर्म भी उनके शक्यतावच्छेदक माने गये हैं। निर्गुण ब्रह्ममें जो अनाम, अरूप इत्यादि शब्दोंका प्रयोग है, इसकी सङ्गति यह है कि वे शब्द प्रसिद्ध अर्थात् प्राकृतसे विलक्षण गुणवान रूपमें ज्ञात नहीं हैं। पुराणादिमें स्मृतियाँ भी यही कह रही हैं कि गुणकी अप्रसिद्धि अर्थात् प्राकृतसे विलक्षण गुणोंकी प्रसिद्धिके अभावमें उन्हें (ब्रह्मको) अनाम कहा जाता है और अवाच्य कहनेसे भी यही तात्पर्य है कि वे ऐसे गुणोंके आधार हैं, जिनका सर्वांश भावसे निर्वचन नहीं हो सकता अर्थात् उनके गुणोंका सर्वाङ्गीण रूपसे वर्णन नहीं हो सकता। वे अनन्त हैं, उन्हें सम्पूर्ण रूपसे कोई भी समझ नहीं सकता।

जो यह कहते हैं कि अनामादि शब्दका यथाश्रुत अर्थ ही ग्राह्य है, उनसे जिज्ञासा करना उचित है कि जब अनाम इत्यादि शब्द उन ब्रह्मके आख्या अर्थात् नाम हैं और अन्ततः जब उन अनाम इत्यादि शब्दोंके द्वारा ब्रह्मका बोध नहीं हो सकता, तो अनामादि शब्दोंका प्रयोग ही व्यर्थ है।

भाष्यके सहित पञ्च-अधिकरण सम्पन्न अति सूक्ष्म विषयपूर्ण इन ग्यारह सूत्रोंका जो पाठ करते हैं, उन्हें क्या तत्त्वज्ञान सुलभ नहीं है? अवश्य है। अवशिष्ट ग्रन्थमें यह मानना चाहिये कि इसी सूक्ष्म तत्त्वका अति विस्तार किया जा रहा है॥ ११॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार निर्गुण ब्रह्मके वाच्यत्वके सम्बन्धमें सुस्पष्ट रूपसे बतला रहे हैं। काठकादि श्रुतियोंमें निर्गुण ब्रह्मकी बात कही गयी है। अतः वे वाच्य हैं। कठोपनिषदमें यह भी

प्राप्त होता है कि वे विविध आश्चर्य लीलामय अद्वितीय पुरुष मत्स्य, कूर्मादि विभिन्न रूपोंमें लीला करके भी अभिन्न रूपसे समस्त जीवोंके हृदयमें गूढ़ रूपसे विराजमान हें। श्रीमद्भागवतमें कहा है—*'हरिहि निर्गुणः साक्षात्'* अर्थात् श्रीहरि ही निर्गुण ब्रह्मतत्त्व हैं। पूर्वपक्षीय जो यह कह रहे हैं कि सगुण ब्रह्म ही शब्दवाच्य हैं, निर्गुण ब्रह्म केवल लक्षणा-वृत्तिके द्वारा बोध्य हैं, अभिधा-वृत्तिके द्वारा वे बोधित नहीं होते, यह मत अत्यन्त भ्रान्त, दुष्ट, असाधु एवं युक्तिहीन है। जो शब्दके द्वारा अवाच्य हैं, उनकी लक्षणा भी नहीं हो सकती। ब्रह्मका अवाच्यत्व युक्तियुक्त नहीं है, यह श्रीमबलदेव प्रभुकी टीकामें द्रष्टव्य है।

ब्रह्मके स्वरूपज्ञानके अभावमें ही अनेक सगुण एवं निर्गुण भेदोंकी कल्पना कर ली जाती है। अतः श्रुतिमें जो निर्गुणत्वादिका उल्लेख है, वह केवल उनके प्राकृततत्त्वका निषेध करके अप्राकृत तत्त्वकी स्थापनाके लिए है।

श्रीचैतन्यचरितामृत (म॰ ६/१४१) में श्रीमन्महाप्रभुके वचनोंमें भी देखा जाता है—

निर्विशेष ताँरे कहे येई श्रुतिगण।
'प्राकृत' निषेधि करे 'अप्राकृत' स्थापन॥

अर्थात् जो श्रुतियाँ ब्रह्मको निर्विशेष अथवा निराकार कहकर वर्णन करती हैं, वहाँ उनका तात्पर्य ब्रह्म या स्वयं-भगवान्में प्राकृत गुणोंका निषेध करके अप्राकृतकी स्थापना करना है।

श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक (६/६७) में हयशीर्षपञ्चरात्रका वचन उद्धृत करते हुए कहा गया है—

या या श्रुतिर्जल्पति निर्विशेषं सा साभिधत्ते सविशेषमेव।
विचारयोगे सन्ति हन्त तासां प्रायो बलीयः सविशेषमेव॥

इस श्लोकके अपने अमृतप्रवाह भाष्यमें श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं—जो-जो श्रुति तत्त्ववस्तु (ब्रह्म) को पहले निर्विशेष (रूप, गुणादिसे रहित निर्विकार) कहकर कल्पना करती है, वे ही श्रुति अन्तमें उन्हें सविशेष कहकर निश्चय करती है। दो ही गुण नित्य

हैं, निर्विशेष एवं सविशेष—यह विचार करनेपर सविशेष ही प्रबल हो उठता है, क्योंकि जगत्में सविशेष तत्त्व ही अनुभूत होता है, निर्विशेष तत्त्व नहीं।

श्रीचैतन्यचरितामृत (म॰ ६/१४५-१५१) में और भी देखा जाता है—

भगवान् अनेक हैते यवे कैल मन।
प्राकृत शक्तिते तखन कैल विलोकन॥

से काले नाहि जन्मे 'प्राकृत' मन नयन।
अतएव 'अप्राकृत' ब्रह्मेर नेत्र मन॥

ब्रह्म शब्दे कहे पूर्ण स्वयं भगवान्।
स्वयं भगवान् कृष्ण शास्त्रेर प्रमाण॥

वेदेर निगूढ़ अर्थ बुझन न जाय।
पुराण वाक्ये सेइ अर्थ करय निश्चय॥

अपाणिपाद-श्रुति वर्जे, 'प्राकृत' पाणि चरण।
पुनः कहे, शीघ्र चले, करे सर्वग्रहण॥

अतएव श्रुति कहे ब्रह्म सविशेष।
मुख्य छाड़ि 'लक्षणाते' माने निर्विशेष॥

अर्थात् सृष्टिके आदिमें श्रीभगवान्ने जब एकसे अनेक होनेकी इच्छा की, तब उन्होंने मायाशक्तिके प्रति दृष्टिपात किया, किन्तु उस समय प्राकृत मन एवं नेत्रोंकी सृष्टि ही न हुई थी। अतः सिद्ध होता है कि उस समय ब्रह्मके अप्राकृत मन एवं नेत्र थे। भगवान्ने जिस मनसे चिन्तन किया और जिस नयनसे प्रकृतिकी ओर ईक्षण किया, वे मन एवं नयन प्राकृत सृष्टिके पूर्व थे। अतः परब्रह्मके जो स्वरूपगत अप्राकृत नेत्र एवं मन थे, वे सर्ववेदसम्मत हैं। उपनिषदोंमें प्रायः सर्वत्र 'ब्रह्म' शब्द पाया जाता है, वे ब्रह्म ही पूर्वावस्थामें स्वयं भगवान् हैं, यह सिद्ध है। यदि कहो कि वेदमें इस प्रकारसे स्पष्ट वाक्य नहीं देखे जाते, तब विचार करके देखा जाता है कि वेदवाक्योंका अर्थ अत्यन्त निगूढ़ है। महर्षियोंने वेदवाक्योंका तात्पर्य

जगत्‌को बतलानेके लिए ही पुराणवाक्यमें वेदतात्पर्यका निर्णय किया है। *'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता'* (श्वे॰ ३/१९) अर्थात् वे हाथ-पैरसे रहित होकर भी वेगसे चलनेवाले और ग्रहण करनेवाले हैं। इस प्रकार कहकर ये ही श्रुतियाँ पुनः कहती हैं कि वे शीघ्र चलते हैं और समस्त वस्तुओंको ग्रहण करते हैं—इन वाक्योंमें 'अप्राकृत हाथ-पैर हैं' कहकर श्रुतियाँ ब्रह्मको सविशेष कह रही हैं। श्रीमन्महाप्रभुने कहा—आपने श्रुतिका मुख्यार्थ छोड़कर लक्षणा-वृत्तिसे ब्रह्मका सविशेषत्व निषेधक निर्विशेषत्व अन्याय रूपसे स्थापित किया है।

श्रीमद्भागवत (११/२५/१२) में श्रीकृष्ण स्वयं कह रहे हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाजीवस्य नैव मे।
चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते॥

अर्थात् सत्त्व, रज और तम—ये तीन जीवोपाधि चित्तसे उत्पन्न होनेवाले गुण हैं, मेरे नहीं। इन गुणोंके द्वारा सभी जीव देह एवं दैहिकादि विषयोंमें आसक्त होकर संसारमें आबद्ध हो जाते हैं।

गोपालतापनीमें भी कहा गया है—*'साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्चेति'*, अर्थात् वे पुरुष साक्षी, चेता, केवल निर्गुण हैं।

विष्णुपुराण (१/९/४३) में कहा है—

सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र चाप्राकृता गुणाः।
स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यो पुमानाद्यः प्रसीदतु॥

अर्थात् सत्त्वादि प्राकृत गुण ईश्वरमें नहीं हैं।

श्रीमद्भागवत (१/७/२३) में भी कथित है,

मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि।

अर्थात् अर्जुन कहते हैं—हे श्रीकृष्ण! तुम अपनी चित्-शक्ति (स्वरूपशक्ति) से बहिरङ्ग एवं त्रिगुणमयी मायाको दूर भगाकर अपने अद्वितीय स्वरूपमें स्थित होओ।

श्रीमद्भागवत (१/२/२३) में ही वर्णन है—

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।

स्थित्यादये हरि विरिञ्चि-हरेतिसंज्ञाः
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः॥

सत्त्व, रज और तम—ये तीन प्रकृतिके गुण हैं। इन तीन गुणोंके अधीश्वररूप परमपुरुष तुरीय श्रीनारायण अपनी मायाशक्तिके द्वारा इस विश्वका पालन, उत्पत्ति और ध्वंस करनेके लिए विष्णु, ब्रह्मा और शिव—ये तीन नाम धारण करते हैं। इनमेंसे सत्त्व-विग्रह श्रीवासुदेव ही भक्तोंका अभिलषित मङ्गल करते हैं। अतः अन्य देवताओंकी उपासनाको छोड़कर श्रीवासुदेव भगवान्‌की ही एकमात्र उपासना करनी चाहिये।

इस श्लोकको टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर लिख रहे हैं—*'पर इति गुणैर्युक्तोऽपि अचिन्त्यशक्त्या तेभ्यो बहिः पृथगवस्थित्यैव तेषामस्पर्शनात् पर अयुक्त इत्यर्थः। तदपि श्रेयांसि भक्तानामभीष्टानि।'*

अर्थात् 'पर' शब्दका अर्थ है—गुणोंके द्वारा युक्त होनेपर भी (तुरीय पुरुष नारायण) अपनी अचिन्त्यशक्तिके बलसे इन सब (प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम) तीनों गुणोंके बाहर पृथक् रूपसे अवस्थान करके उनके अस्पर्शके कारण 'पर' अर्थात् अयुक्त हैं, उनसे युक्त नहीं हैं। उनमें 'सत्त्व-विग्रह' (वासुदेव) से ही भक्तोंका अभिलषित मङ्गल होता है।

अतएव ब्रह्म जो प्राकृत गुणरहित एवं स्वरूपानुबन्धि अप्राकृत गुणोंसे युक्त हैं, उन्हींको निर्गुण शब्दके द्वारा प्रतिपन्न करते हैं। श्रुति एवं स्मृति इसी उच्चस्वरसे घोषणा कर रही हैं।

'अनाम' भी उस निर्गुण ब्रह्मका एक परिचय है, अन्यथा इन सब उक्तियोंकी सार्थकता नहीं रहती। इस प्रकार यह भी शब्दवाच्य रूपमें घटित है।

श्रीमद्भागवतमें देवर्षि नारद भक्त चित्रकेतुको जिस विद्याका उपदेश दे रहे हैं, वह इस प्रकारसे है—

ॐ नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय धीमहि।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च॥

(श्रीमद्भा॰ ६/१६/१८)

अर्थात् हे प्रणवात्मक भगवान्! आपको नमस्कार है। हे वासुदेव! मैं आपकी प्रसन्नताके लिए आपका अपने हृदयमें ध्यान करता हूँ। हे प्रद्युम्न! हे अनिरुद्ध! हे सङ्कर्षण! आपको नमस्कार है।

वचस्युपरतेऽप्राप्य य एको मनसा सह।
अनामरूपश्चिन्मात्रः सोऽव्यान्नः सदसत्परः॥
(श्रीमद्भा० ६/१६/२१)

मनके सहित वाणी जिन्हें प्राप्त करके संसारसे उपरत हो जाती है, जो नाम-रूपसे रहित, चिन्मात्र केवल ज्ञानमय, स्थूल सूक्ष्मसे अतीत एवं अद्वितीय है अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप हैं, वे हमारी रक्षा करें।

इस प्रकार भगवान् श्रीवासुदेवका ही नाम-रूप-विवर्जित चिन्मात्र ब्रह्मके रूपमें वर्णन है। अतएव सविशेष एवं निर्विशेष दोनों ही श्रीभगवान्के गुण हैं, किन्तु स्वरूप दो नहीं हैं। असम्यक् प्रतीतिमें जो ब्रह्म हैं, आंशिक प्रतीतिमें जो परमात्मा हैं, पूर्ण प्रतीतिमें वही परब्रह्म श्रीहरि हैं, जैसा कि श्रीमद्भागवत (१/२/११) में कहा है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

जो भी इस पञ्चाधिकरणसम्पन्न सुसूक्ष्म तत्त्वज्ञानपूर्ण ग्यारह सूत्रोंको सटीक भाष्य सहित मनोयोगके साथ विचारपूर्वक पाठ करते हैं, वे निश्चित रूपसे अनायास ही तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। अवशिष्ट सूत्र इन्हींका विस्तार मात्र हैं। इन ग्यारह सूत्रोंमें सर्वप्रथम जिज्ञासाधिकरणमें ब्रह्मकी जिज्ञास्यताका प्रतिपादन है, द्वितीय सूत्र जन्माधिकरणमें ब्रह्मके स्वरूपका निर्णय है, तृतीय सूत्र शास्त्रज्ञेयत्वाधिकरणमें परब्रह्मके शास्त्रगम्यत्व, तर्कातीतत्व और वेदवाच्यत्वका वर्णन है। चतुर्थ सूत्र समन्वयाधिकरणमें बताया गया कि श्रीहरि ही परब्रह्मके रूपमें समस्त शास्त्रमें प्रतिपन्न (प्रमाणित) हैं और पाँचवेंसे ग्यारह सूत्र तक कि ईक्षत्यधिकरणमें ब्रह्मका स्वरूप निर्गुण एवं स्वप्रकाश होकर भी उनसे अभिन्न वेद द्वारा ज्ञेय है, इसका दिग्दर्शन हुआ। इस प्रकार

यह सारा तत्त्व इन ग्यारह सूत्रोंमें वर्णित है। तत्त्व-ज्ञान-प्राप्तिके इच्छुक व्यक्ति सद्गुरुके श्रीचरणाश्रयमें प्रणिपात, परिप्रश्न एवं सेवा करें, तभी वे इस ज्ञानसे अवगत हो सकते हैं, किन्तु दम्भवश स्वयं ही वेदान्त अध्ययन करने गये, तो विभ्रान्त होंगे, यह ध्यान रखना चाहिये॥ ११ ॥

६—आनन्दमयाधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—

शब्दा वाचकतां यान्ति यत्रानन्दमयादयः।
विभुमानन्दविज्ञानं तं शुद्धं श्रद्दधीमहि॥

यस्य समन्वयस्योपपादनाय वाच्यत्वं ब्रह्मणः समर्थितं तमिदानीं दर्शयत्यानन्दमय इत्यादिना यावदध्यायपूर्त्तिः। तत्रास्मिन् प्रथमे पादे प्रायेणान्यत्र प्रसिद्धानां शब्दानां ब्रह्मणि समन्वयः प्रदर्श्यते। तैत्तिरीयके (तै॰ २/१)। *'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'* इत्युक्रम्य *'स वा एषा पुरुषोऽन्नरसमय'* इत्यादिनान्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयान् क्रमेणाम्नायेदमभिधीयते। *'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तरात्मानन्दमयस्तेषा पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः, तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्टा'* (तै॰ २/५) इति॥ तत्र संशयः किमयमानन्दमयो जीव? उत परब्रह्मेति एष शारीर आत्मेति (तै॰ २/३) देहसम्बन्धप्रतीतेर्जीव इति प्राप्ते।

अवतरणिका भाष्यानुवाद—*'तत्तु समन्वयात्'* इस सूत्रमें प्रतिज्ञात (दृढ़तापूर्वक कहे हुए) समन्वयके कारण अर्थात् सुविचारित उपक्रम, उपसंहारादि छहों प्रमाणोंके द्वारा ब्रह्ममें ही शास्त्रका तात्पर्य है, वे विष्णु ही वेदवेद्य हैं—यह निरूपण हुआ। इसी समन्वयको विस्तृत रूपसे बतानेके लिए भाष्यकार मङ्गलाचरण कर रहे हैं—

शब्दा वाचकतां यान्ति यत्रानन्दमयादयः।
विभुमानन्दविज्ञानं तं शुद्धं श्रद्दधीमहि॥

अर्थात् श्रुतियोंमें वर्णित आनन्दमय, आनन्दरूप इत्यादिरूप जहाँ वाचकताको प्राप्त होते हैं, जो विभु (व्यापक), चिदानन्दस्वरूप एवं विशुद्ध (माया एवं माया-कार्यके लेशमात्र सम्पर्कसे रहित) हैं, उन परब्रह्म श्रीगोविन्दका हम आन्तरिक (अकृत्रिम) भावसे भजन करते हैं।

जिस समन्वयकी उपपत्ति (युक्ति) के कारण ब्रह्मकी वाच्यता सिद्ध हुई है, उस समन्वयस्वरूपको सूत्रकार इस अध्याय (अधिकरण) की समाप्ति तक *'आनन्दमयोऽभ्यासात्'* इत्यादि सूत्र द्वारा दिग्दर्शन कर रहे हैं। इस बीच इस प्रथम अध्यायके प्रथम पादमें प्रायः अन्यत्र प्रसिद्ध शब्दोंका ब्रह्ममें समन्वय अर्थात् शास्त्र-तात्पर्य दिखला रहे हैं। यथा तैत्तिरीयोपनिषदमें 'ब्रह्मज्ञ पुरुष उस ब्रह्मको प्राप्त होता है' इत्यादिसे उपक्रम (आरम्भ) करके *'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः'* (वह पुरुष अन्नरसमय है)। इस भौतिक पिण्डमय पुरुषको अन्नरसमय अर्थात् अन्न एवं रसका विकार इत्यादि कहकर यथाक्रमसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोशका वर्णन किया है और अन्तमें कहा है *'यथा तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयात् इत्यादि'* अर्थात् उन विज्ञानमयसे आनन्दमय अन्तर्यामी पृथक् हैं, वह पुरुष आनन्दमय कोश द्वारा ही सम्पूर्ण हैं। वे आनन्दरूपी हैं। अन्नरसमय पिण्ड एक पुरुषका अनुकारी है, क्योंकि वह पुरुषाकृतिका अनुकरण करता है, अतएव उस (पक्षीको) पुरुषविध (पुरुषकी तरह) कहा गया। इस पक्षीका मस्तक उस पुरुषके मस्तकके समान प्रिय है। दक्षिण पक्ष-मोद (आनन्द), वाम पक्ष-प्रमोद, आनन्द आत्मा और ब्रह्म पुच्छ है। ब्रह्म ही पुच्छ है, वही प्रतिष्ठा है, वही सत्तास्वरूप है। अब आनन्दमय शब्दके अर्थमें सन्देह है कि यह आनन्दमय सर्वान्तर आत्मा है कौन? वह जीव (बन्धन-मुक्तिवाला प्रत्यगात्मा) है अथवा परब्रह्म हैं? पूर्वपक्षवादी कहते हैं—'यह आत्मा शरीर है', इस प्रकार जब शरीरको आत्मा कहकर निर्देश किया गया है, तो शरीर-सम्बन्धित प्रतीतिके कारण आनन्दमय पुरुष जीव ही है। इस पूर्वपक्षके निराकरणके लिए सूत्रकार कह रहे हैं—

अवतरणिका भाष्यस्य टीका—प्रतिज्ञातं समन्वयं विस्तारेण प्रतिपादयितुं मङ्गलमाचरति। शब्दा इति। यत्र श्रीगोविन्दे ब्रह्मण्यानन्दमयादयः शब्दा वाचकतां यान्ति ते यस्य वाचका भवन्तीत्यर्थः। तं वयं श्रद्दधीमहि दृढ़विश्वासेनानन्दमयं तं भजेम इत्यर्थः। शुद्धं मायातत्कार्यगन्धास्पृष्टं। स्फुटमन्यत्।

यस्येति। वाच्यत्वं वेदाभिहितत्वं अभिधया वृत्त्या कथितत्वं समर्थितं श्रुत्या स्मृत्या साधितमीक्षत्यधिकरणे। प्रायेणेति। अन्यत्र जीवप्रधानादौ तैत्तिरीयक इति।

पूर्वं ब्रह्मणः सर्ववेदवेद्यत्वं प्रतिपादितं तन्न संभवेत्। आनन्दमयादिशब्दानां जीवादिषु प्रसिद्धेरित्याक्षिप्य समाधानादाक्षेपसङ्गतिः। तत्र हि ब्रह्मविदाप्नोतीत्युपक्रम्यान्नमयादयः पञ्च पुरुषाः पठ्यन्ते। तत्रान्नमयो यथा। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयं उत्तरः पक्षः। अयमात्मा इदं पुच्छं प्रतिष्ठा तदप्येव श्लोको भवति। अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते याः काश्च पृथिवीं श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्त्यथान्नं तदपि यं त्यजन्त्यत इति। अस्यार्थः—वै प्रसिद्धौ निश्चये वा एष मृज्जलादिपिण्डलक्षणः पुरुषोऽन्नरसमयः। अन्नरसो नामात्रान्नरसविकारः तेन त्वादिरूपः सर्वोऽपि तद्विकारो लभ्यते। तन्मयत्वं जलादिविकारश्लेष्माद्यपेक्षया तस्याधिक्यात् तत्प्राचुर्य एव मयट्प्रत्ययात् विकारे तदयोगात्। द्व्यचश्छन्दसीति सूत्रेण विकारावयवयोर्द्व्यच एव मयट् छन्दसि स्यात्। मयतयोरित्यादिना बहुस्वरात्तयोस्तस्य विधानं लोके एव। पक्षिरूपकेणानुवर्णयति। तस्येदमिति। इदं प्रसिद्धं शिर एव शिरः। नूनमुत्तरोत्तरत्रैवरूपकमयम्। एवं पक्षादिष्वपि व्याख्येयम्। पक्षो बाहुः। उत्तरो वामः। अयं मध्यमो देहभागः। आत्मा अङ्गानां मध्यस्त्वेषामात्मेति श्रवणात्। इदमिति नाभेरधोऽङ्गम्। तत् पुच्छमिव पुच्छं अधोलम्वनसामान्यात्। तदेव प्रतिष्ठाश्रयः। प्रकर्षेण तिष्ठत्यस्यामिति व्युत्पत्तेः। तदेवमरुन्धतीदर्शनन्यायेनान्तरतमत्वज्ञानार्थं लोकप्रसिद्धमात्मानमनूद्य तस्यान्तरतमं आत्मानं शास्त्रप्रसिद्धसाधनादिक्रमेण प्रवेशयन् प्राणमयादीनप्याह। तत्र मनसो धारणार्थं तदाधारः प्राणो धार्य इति प्रथमं प्राणमयमाह। तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्माप्राणमयस्तेन एष पूर्णः। स वा एष पूरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणपक्षः। अपान उत्तरपक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति—*'प्राणं देवा अनुप्राणन्ति मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुस्तस्मात् सर्वायाषमुच्यते॥'* इत्यादि। तस्यैष एव शारीर आत्मा एषः पूर्वस्येति। अस्यार्थः—अन्नरसमयात् प्राणमयोऽस्तरस्तदपगमेऽन्नरसमयस्य मृतेः। एषोऽन्नरसमयस्तेन प्राणमयेन पूर्णः। वायुनेव दृतिः। स च प्राणमयः पुरुषविधः पुरुषाकारः। कथं? तस्य पूर्वस्यान्नरसमयस्य पुरुषविधतामनुलक्षीकृत्य विशेषं बोधयितुं अयं प्राणमयोऽपिरूपककल्पितैः शिरः पक्षाद्यैः पुरुषाकार एव निरूप्यत इति। तदेवरूपकं दर्शयति। तस्य प्राणमयस्य हृदि स्थितः प्राणवायुरेव प्रथमधर्यत्वेन शिरः कल्प्यते। एवं साधनक्रमेण दक्षिणपक्षत्वादिक्रमो बोध्यः। उदानानिर्देशः प्राणेनाभेदोपासनात्। आकाशस्तत्स्थो वायुवृत्तिविशेषः समानाख्यो वायुःप्राणादिवृत्त्यधिकारात्। स च मध्यस्थत्वादितरपर्यस्त (न्त?) वृत्तिनिरपेक्षः अध्यक्षः। पृथिवी तदभिमानिनी देवता प्रतिष्ठा। आध्यात्मिकस्य प्राणस्य धारयित्री स्थितिहेतुत्वात्। सैषा पुरुषस्यापान-मारभ्येति श्रुत्यन्तरात्। तस्य प्राणमयस्येष *'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।'* इत्युपक्रमोक्त एवात्मा शारीर आत्मा तद्रुपशारीरान्तर्यामी। कीदृशः? एषः पूर्वस्यान्नरसमयस्यापि शारीर आत्मा। एवं यः पूर्वस्य प्राणमयस्येत्यादिकम् परत्रापि

योज्यम्। यत्त्वानन्दमयोऽन्तेऽपि तस्यैष एव शारीर आत्मेति पठ्यते। तत्र तस्यौपचारिकभेदनिर्द्देश अनन्यात्मत्वमेव बोधयति नत्वात्मान्तरम्। विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा इति वदन्यप्रस्तावात्। ततश्च तत्रैव पूर्वोक्त आनन्दमयतात्पर्यावसानविवेक आत्मैव तस्य शारीर आत्मेति योज्यम्। एवं प्राणधारणया मनोवशीकृत्य। तच्च मनो निकामकर्मात्मकतया धार्यमिति मनोमयमाह। तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयस्तेन एष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एवस्तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधस्तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति। *'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणोविद्वान् न विभेति कदाचन'* इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा य पूर्वस्येति। अस्यार्थः—मनः सङ्कल्पाद्यात्मकमन्तःकरणं अस्य पूर्वस्मादन्तरत्वं ज्ञानसम्बन्धेन जडात् प्राणमयश्रैष्ठ्येन बोध्यम्। तेनैष पूर्णः। मनोमयेन प्राणमयः पूर्णः। एष एव मनोमयः पुरुषाकारः। तस्य प्राणमयस्य पुरुषविधतामनुलक्षीकृत्यायं मनोमयोऽपि पुरुषाकार इत्यर्थः। तदेवरूपकं दर्शयति। तस्य यजुरित्यादिना। यजुरित्यनियताक्षरपादविशेषो मन्त्रविशेषः। तज्जातिवाची यजुःशब्दः। तस्य शिरस्त्वं प्राथम्या यजुषा हिऽविदीर्यते। एवमृक्सामयोश्च वैशिष्ट्यं बोध्यम्। आदेशोऽत्र ब्राह्मणम्। आदेष्टव्यविशेषान्निर्द्दिशति। अथर्वाङ्गरसा च दृष्टा मन्त्रा, ब्राह्मणञ्च शान्त्यादि प्रतिष्ठाहेतुकर्मप्रधानत्वात् पुच्छं प्रतिष्ठा। मनोमयाङ्गत्वं चैषां मनोवृत्त्या वाविर्भावित्वेन तत्प्राचुर्यात्। तद्विकारत्वे तु पौरुषेयत्वापत्तिः। अत्र पारमार्थिकपथस्यैव प्रकृतत्वाद्व्यावहारिक-सङ्कल्पाद्यात्मकमनोमयत्वं न प्रयुज्यतो प्राणधारणायाः प्रागेव हि त्यक्तं तत्। अतत्रव मनुष्याधिकारवत्त्वान्मनुष्यशरीरमेवोपक्रान्तम्। तस्य मनोमयस्येष तस्माद्वा एतस्मादित्युपक्रमः कथित एवात्मा शारीर आत्मा तद्रुपशारीरान्तर्यामी। यः पूर्वस्य प्राणमयस्यापि शारीर आत्मेत्यर्थः। अथ विज्ञानमयमाह। तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधस्तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योगः आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति। *'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठं उपासत'* इत्यादि। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्येति। अस्यार्थः—विज्ञानमयस्य जीवस्य मनोमयादन्तरत्वं करणात् तस्मात् कर्त्तृत्वेन श्रैष्ठ्यात्। तेनैष पूर्णः। विज्ञानमयेन मनोमयः पूर्णः। स वा एष विज्ञानमयः पुरुषविधः। तस्य मनोमयस्य पुरुषविधतामनुलक्ष्यीकृत्यायं विज्ञानमयोऽपि पुरुषविध इत्यर्थः। तदेवरूपकं दर्शयति तस्य श्रद्धैवेत्यादिना श्रद्धात्राध्यात्मशास्त्रयाथार्थ्यप्रतीतिः। ऋतं तच्छास्त्रार्थनिश्चिता बुद्धिः। सत्यं तदर्थानुभवप्रषत्नः। योगो युक्तिः समाधिरित्यर्थ। स तस्य मध्यकायः। श्रद्धादीनामेतत् साक्षात्काराङ्गत्वात् महस्तत्तत्सर्वप्रकाशकत्वेनोत्तमतरं शुद्धजीवस्वरूपम् तत् किल पुच्छम्। तत्तदवधिभूतत्वात्। तत् खलु प्रतिष्ठा। तेषां सर्वेषामाश्रयः।

तदेवं शुद्धजीवपर्यन्तमुपदिश्य तथा तथा लब्धान्तराणां पुनः सर्वान्तरतमत्वेन तत्रैव पूर्वोपक्रान्तमुख्यात्मतत्त्वपर्यवसायकयत्वानन्दमयमुपदिशति। तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञान-मयादित्यादिना। शेषं भाष्ये द्रष्टव्यम्। अस्यार्थः—आनन्दमयस्य सर्वान्तरवर्त्तित्वात्। इह पूर्वत्र शास्त्रीयपरमार्थप्रक्रियैव लब्धा। न तु व्यावहारिकी। ततः प्रियादिशब्दैः इष्टपुत्रदर्शनादिजमानन्दादिकं न व्याख्येयम्। किन्त्वेकस्यैव परमानन्दरूपस्य हरेरुत्तरोत्तरोदयविशेषात् प्रियादिशब्दैर्व्यपदेशः। तथाहि—एक एव परमात्मा व्युहित्वेन व्युहत्वेन द्विधा भवति। तत्रानन्दमयस्य प्रियरूपो नारायणः शिरो भवति मोदरूपः प्रद्युम्नो दक्षिणः पक्षः। प्रमोदरूपोऽनिरुद्ध उत्तरपक्षः। आनन्दरूपो वासुदेव आत्मा मध्यकायः यथा—नारायणो मध्यकायः वासुदेवः शिर इति। ब्रह्मरूपः सङ्कर्षणस्तु पुच्छं भवति। एवं हि स्मरन्ति—*'शिरो नारायणः प्रोक्तो दक्षिणः सव्य एव च। प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च सदेहो वासुदेवकः। नारायणोऽथ सदेहोवासुदेवः शिरोऽपि वा। पुच्छं सङ्कर्षणः प्रोक्त एक एव तु पञ्चधा। अङ्गाङ्गित्वेन भगवान् क्रीडते पुरुषोत्तमः। ऐश्वर्यान्न विरोधश्च चिन्त्यस्तस्मिन् जनार्द्दने॥'* इति॥ सङ्कर्षणस्य ब्रह्मत्वमाधाररूपस्य तस्याधेयपुरुषोत्तमविग्रहापेक्षया वृहद्रुपत्वात् तद्धारकत्वस्वरूप-बृहद्गुणयोगाच्च वदन्ति। अतएव तदाधारतवरूपं प्रतिष्ठात्वं च तस्योक्तं पुच्छत्वन्तु सर्वोत्तरोदितत्वादिति। न चैवमुत्तरोत्तरोदयतारतम्याद् भेदः प्राप्नोति। एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभातीत्यादिश्रुतेः। अङ्गाङ्गित्वेनेत्यादिस्मरणाच्च। अतएव शिरः सदेहरूपके परिवृत्तिः सङ्गच्छते। तथाच नारायणादि शिरःप्रभृत्यवयवः श्रीकृष्णानन्दमयः स्वयं भगवानिति निकृष्टम्। अतएवानन्दमयमधिकृत्य रसो वै स रस इत्यादिकमपि सङ्गतिमत्। मल्लानामशनिरित्यादौ पञ्चविधप्रेमरसाश्रयतया तस्यैवाभिधानात्। तथाच ब्रह्मविदाप्नोति परमिति यद् ब्रह्मापक्रान्तं तस्यैव तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश इत्यादिनात्मत्वं प्रदर्श्य तत्त्वस्य पर्यवसानकमाननदमय एव दर्शितं अन्यानुक्तेरिति। विशेषस्तु प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरित्यत्र द्रष्टव्यः। यद्यपि व्याख्यान्तरं प्राचीनैरप्यत्र दर्शितं अस्ति तथाप्येतदेव व्याख्यानं सद्भिश्च श्रद्धेयं प्रमाणमूलत्वादिति। एतावतार्थकदम्बेनाचिन्त्येऽस्मिन् विषये सन्देहादिकं दर्शयति। किमयमित्यादिना। शारीरो देहभृत्। तत्त्वञ्च जीवस्यैव प्रसिद्धम्। स हि स्वार्जिताभ्यां पापपुण्याभ्यां नानाविधानि शरीराणि भजतीतिशास्त्रे दृष्टम्। परब्रह्मणस्तु कर्मसम्बन्धाभावाच्छरीराणि न भवन्तीत्यशरीरत्वं प्रसिद्धम्—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'तत्तु समन्वयात्'* इस सूत्रमें प्रतिज्ञात (दृढ़तापूर्वक कहे हुए) समन्वयका विस्तृत रूपसे प्रतिपादन करनेके लिए भाष्यकार 'शब्दा' इत्यादि श्लोक द्वारा मङ्गलाचरण कर रहे हैं। जो श्रीगोविन्द ब्रह्म हैं, वे आनन्दमय इत्यादि शब्दोंके द्वारा वाचकत्वको प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् आनन्दमयादि शब्द जो ब्रह्मके

वाचक हैं, उनकी हम श्रद्धा करते हैं अर्थात् दृढ़ विश्वासके साथ उन आनन्दमय पुरुषका भजन करते हैं। शुद्ध शब्दका अर्थ है कि ब्रह्म माया एवं मायाके कार्य देहादिके लेशमात्र भी सम्पर्कसे रहित हैं। विभु, विज्ञान इत्यादि जो कहा गया, उसका अर्थ तो स्पष्ट ही है।

समन्वयकी उत्पत्तिके कारण ब्रह्म वेदके द्वारा अभिहितत्व (वाच्यत्व) अर्थात् अभिधावृत्ति द्वारा कथितत्व श्रुति-स्मृतियोंके द्वारा समर्थित होकर 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' अधिकरणमें साधित (प्रमाणित) हुआ है। अन्यत्र जीव-प्रकृति इत्यादि तैत्तिरीयकमें प्रसिद्ध हैं। इस समय आपत्ति यह है कि पहले ब्रह्मका जो वेदवेद्यत्व प्रतिपादित किया गया, वह तो सम्भवपर नहीं है, क्योंकि आनन्दमयादि शब्द तो जीव इत्यादिमें भी प्रसिद्ध हैं। इसका समाधान करते हुए भाष्यकार कह रहे हैं कि परवर्ती ग्रन्थ आक्षेप-सङ्गतिका सूचक है। पूर्वपक्ष ग्रन्थमें 'ब्रह्मविद् व्यक्ति ब्रह्मको प्राप्त होता है'—इस प्रकार आरम्भ करके अन्नमयादि पञ्चविध पुरुषका वर्णन है, उसीमें ही अन्नमय पुरुषका वर्णन है। *'स वै एषः'*—'वै' शब्द एक अव्यय है, जो प्रसिद्धि अथवा निश्चयार्थमें प्रयुक्त होता है। 'एषः' से तात्पर्य है—यह जो मृत्तिका, जल, अग्नि, वायु एवं आकाशमय एक पिण्ड है, तदभिमानी (वह पिण्डाभिमानी) पुरुष अन्नरसमय नामसे अभिहित है। अन्नरस शब्द यहाँ अन्नरसके विकार अर्थमें प्रयुक्त है। इसीलिए त्वक् इत्यादि सभी विकार माने गये हैं। तब जो जलादिमय न कहकर अन्नरसमय कहा गया, इसका कारण यह है कि जलादिके विकार श्लेष्माकी अपेक्षा शरीरमें अन्नका विकार अधिक है, यहाँ प्राचुर्य अर्थके कारण 'मयट्' प्रत्यय है। विकार होनेपर मयट् प्रत्ययका सम्बन्ध नहीं रहता। *'द्व्यचश्छन्दसि'* (४/३/१५०), इस पाणिनि सूत्रके द्वारा वैदिक प्रयोगमें दो स्वर-वर्ण युक्त दो अवयव वाचक शब्दोंके मध्य जिसमें विकार सूचित होगा, उसके उत्तरमें मयट्का विधान है। (अर्थात् विकार और अवयव अर्थ होनेपर मयट् प्रत्यय होता है।) लौकिक प्रयोगमें 'मयतयोः' इत्यादि सूत्रानुसार मयट् एवं तयप् प्रत्यय वहाँ होता है, जहाँ बहुत स्वरोंसे युक्त अवयव वाचक शब्द होता है। अतः भाष्यकारने अन्नरसमय पुरुषका पक्षीरूपमें वर्णन किया है।

इस अन्नमय रसके सम्बन्धमें एक श्लोक भी सुना जाता है। यथा *'अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते'* (तै॰ २/२) इत्यादि अर्थात् अन्नसे ही प्रजा उत्पन्न होती है। जो कोई इस पृथ्वीको आश्रय करके स्थित है, वह सब अन्नसे ही उत्पन्न होता है, अन्नसे ही जीवित रहता है, बादमें इस अन्नमय देहका त्याग भी कर देता है। उत्तरोत्तर निश्चित भावसे इस अन्नरसमय पुरुषका पक्षीरूपमें वर्णन देखा जाता है। इस प्रकार पक्ष इत्यादि स्थलपर भी व्याख्या करनी चाहिये। पक्ष अर्थात् बाहु। उत्तर शब्दका अर्थ है वाम। अङ्गसमूहका मध्य भाग आत्मा है। 'इदं पुच्छं' अर्थात् नाभिका अधो-अङ्ग—वही पुच्छ है, पुच्छके समान है, पुच्छ जिस प्रकार नीचे लटका हुआ है, उसी प्रकार। 'तत् प्रतिष्ठा'—वही आश्रय है। प्रतिष्ठा शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'प्रकर्ष रूपसे जिसमें स्थिर करता है'। इस प्रकार अरुन्धती दर्शन न्यायसे आत्माको सर्वाधिक आन्तरिक ज्ञात करानेके लिए साधारणतः लौकिक व्यवहारमें प्रसिद्ध देहाभिमानी आत्माका उल्लेख किया जाता है। शास्त्र-प्रसिद्ध साधन-क्रमके अनुसार इस आत्माके भी अन्तरतम आत्माको बाहरसे अभ्यन्तरमें क्रमपूर्वक प्रवेश कराते हुए प्राणमयादि आत्माका वर्णन करते हैं। अरुन्धती-न्याय इस प्रकार है, जैसे कोई अरुन्धती देखना चाहता है, तो जानकार व्यक्ति पहले तो उसे मूल नक्षत्र दिखाता है, बादमें यथाक्रम सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम दिखाता है, इसी प्रकार बाह्य प्रसिद्ध आत्मासे अन्नरसमय, उससे भी सूक्ष्म प्राणमय, सूक्ष्मतर मनोमय, सूक्ष्मतम विज्ञानमय और उससे भी आन्तरिक आनन्दमय ब्रह्मका निर्देश कराया गया है। इस बीचमें प्राणमें मनको धारण करनेके लिए मनका आधार प्राण धारणीय है, इसलिए पहले प्राणमय आत्माके विषयमें बता रहे हैं—अन्नरसमय आत्मासे प्राणमय आत्मा अन्तरस्थित है। वह प्राणमय आत्मा भी पुरुषाकृति है, इसलिए पुरुषके ही समानरूप बता रहे हैं क्योंकि इनके भी मस्तकादि हैं। प्राणादि पञ्चवायुमें प्राणवायु ही उसका मस्तक स्वरूप है, व्यान वायु दक्षिण बाहु है, अपान वायु बाम बाहु है, आकाश (अथवा शरीरके भीतर रहनेवाला अवकाश) आत्मा

(मध्यभाग) है और पृथ्वी पुच्छ है, वही प्रतिष्ठा है, उसका आश्रय है। इस विषयपर एक श्लोक है—

प्राणं देवा अनुप्राणन्ति मनुष्याः पशवश्च ये।
प्राणो हि भूतानामायुस्तस्मात् सर्वायुषमुच्यते॥
(तै॰ २/३)

अर्थात् देवगण प्राणके अनुगामी होकर प्राणन क्रिया करते हैं तथा जो मनुष्य और पशु आदि हैं (वे भी प्राणन क्रियासे चेष्टावान होते हैं) प्राण ही प्राणियोंकी आयु (जीवन) है, इसीलिए 'सर्वायुष' कहलाता है।

इसका तात्पर्य है कि अन्नरसमय आत्मा बाह्य है, इससे प्राणमय आत्मा और भी अन्तरमें है। जब अन्नरसमय आत्माका प्राणमय आत्मासे सम्बन्ध नष्ट हो जाता है, तब अन्नरसमय आत्माकी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार यह अन्नरसमय आत्मा प्राणमय आत्मा द्वारा पूर्ण होता है। उदाहरणके लिए चर्मपेटिका अथवा मशक वायु द्वारा पूर्ण होता है और वायुके निकल जानेपर उसका अस्तित्व नहीं रहता, उसी प्रकार प्राणमय आत्मा है। यह प्राणमय आत्मा भी मानव शरीराकृति है, किस प्रकारसे? वही बता रहे हैं—पूर्व वर्णित अन्नरसमय आत्मा जिस प्रकार पुरुष सदृश है, उसी प्रकार यह प्राणमय आत्मा भी पुरुषविध है। फिर भी, इसका कुछ वैशिष्ट्य है। इस वैशिष्ट्यको ज्ञात करानेके लिए ही प्राणमय आत्माकी रूपकके द्वारा कल्पना की गयी है। इसे भी मस्तक, पक्ष इत्यादि योगसे पुरुषाकार बताया है। यथा—प्राणमय शरीरके हृदयमें जो प्राणवायु रहती है, उसमें ही पहले मनकी धारणाके लिए सिर (शिरोरूप) की कल्पना की गयी है। इस प्रकार कल्पनाक्रमसे दक्षिणपक्षादिकी कल्पना भी करनी चाहिये। उदान वायुका पृथक् रूपसे निदर्शन न करनेके कारण 'प्राणके साथ उदान वायुकी अभेद रूपसे उपासना होती है'—यह कहकर निरूपण कर दिया कि यह उदान वायु आकाश अर्थात् प्राणमय स्थित वायुका कार्यविशेष है। समान शब्दका अर्थ समान नामक वायु समझना होगा, क्योंकि प्राणादि वायुकी वृत्तिके

वर्णन प्रसङ्गमें ऐसा ही उल्लेख है। समान संज्ञक वायु हृदयके मध्य स्थित है, इसलिए यह वायुकी दूसरी वृत्तियोंकी अपेक्षा नहीं करता, अतः यह प्रधान है, आत्मा है, मध्यवर्ती है। पृथ्वी पुच्छ है, प्रतिष्ठा है, आश्रय है, क्योंकि स्थितिकी हेतुभूत होनेसे पृथ्वी आध्यात्मिक प्राणोंको धारण करनेवाली है। इस प्रकार पृथ्वी शब्दसे तात्पर्य है—पृथ्वी-अभिमानी देवता, वही प्राणमयकी प्रतिष्ठाका आश्रय है। इस विषयमें एक दूसरी श्रुति भी बतला रहे हैं—*'सैषां पुरुषस्यापानमवष्टभ्य'* (प्र० ३/८) अर्थात् 'वह पृथ्वी-देवता पुरुष (प्राणमय आत्मा) के अपानका आश्रय करके सम्पूर्ण वायुको धारण करनेवाला है। इस प्राणमय आत्माके सम्बन्धमें इस प्रकारसे वर्णन है, यथा *'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः'* अर्थात् 'इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ है'—इस प्रकार उपक्रम (आरम्भ) करके जिस आत्माकी बात कही गयी, वह शरीरधारी अन्तर्यामी है, उसीका पक्षीरूपमें वर्णन हुआ है। यह वर्णन किस प्रकारसे है? कहा गया है कि वे पूर्व-वर्णित अन्नरसमय (शरीरधारी) के भी अन्तर्यामी हैं। इसी प्रकार वे पूर्व-वर्णित आत्माके भी अन्तर्यामी हैं। इसी प्रकार परवर्ती वाक्योंमें भी व्याख्या करनी चाहिये। अन्तमें जिस आनन्दमय आत्माका उल्लेख है, उसका भी अन्तर्यामी यह आत्मा (परमात्मा) है, इस प्रकार पढ़नेमें आता है। इस आत्माके साथ जीवात्माका लाक्षणिक भेद निदर्शन करनेपर जाना जाता है कि दोनों अभिन्न हैं, विभिन्न नहीं। *'विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः'* (इस विज्ञानमयसे दूसरा इसका अन्तर्वर्ती आत्मा आनन्दमय है), अतः इस प्रकारके मतभेद-निदर्शनके कारण आत्माका भेद मानना होगा। तब अर्थ-बोध इस प्रकार होना चाहिये कि पूर्वोक्त श्रुतिमें जिस प्रकार आनन्दमय आत्मामें पर्यवसित आत्मा है, उसी प्रकार परमेश्वरके शरीरमें रहनेवाला आत्मा है। इस प्रकारसे अन्नरसमयादि आत्मामें प्राणकी धारणा द्वारा मनको वशीभूत करके बादमें उस मनको निष्कामकर्मपरत्वरूपमें धारण करना चाहिये। इसी उद्देश्यसे मनोमय आत्माका वर्णन किया जा रहा है—*'तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधता—मन्वयं पुरुषविधः।*

तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति। यतो वाचो निवर्त्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्येति।'

अर्थात् उस प्राणमय आत्मासे और भी अन्तर्वर्ती (अन्दर रहनेवाला) आत्मा मनोमय है। उसके द्वारा ही यह प्राणमय आत्मा पूर्ण है। (उसकी सत्तामें इसकी सत्ता है।) यह मनोमय आत्मा भी पुरुषाकृति स्वरूप है। उसकी पुरुषविधता (पुरुषाकारता) को लक्ष्य करके ही यह आत्मा पुरुषविधरूपमें (पुरुषाकार) में कही गयी है। अतः इसके शरीरका वर्णन इस प्रकार है। उस यज्ञपुरुषका मस्तक यजुर्वेद है, ऋग्वेद उसका दक्षिण बाहु (पक्ष) है, सामवेद वाम बाहु (पक्ष) है, वेदोंके ब्राह्मणांश विधिवाक्य (आदेश) आत्मा हैं, आङ्गिरस अथर्ववेद इसका पुच्छ है, इसीमें उसकी प्रतिष्ठा अथवा स्थिति है। इस विषयमें एक श्लोक है—यतो इति। 'जिसे प्रकाशित करनेके कार्यसे वाक्य विरामको प्राप्त हो जाते हैं, मन भी वहाँ पहुँच नहीं पाता।' ब्रह्मके इस आनन्दस्वरूपको जाननेपर कोई भय नहीं रहता। मन सङ्कल्प-विकल्पमय अन्तःकरण विशेष है। यह पूर्ववर्णित प्राणमय कोशसे और भी अन्दर रहनेवाला तथा और भी अधिक सूक्ष्म है। इसका कारण यह है कि मन ज्ञानका करण (साधन) है, पर जड़ होनेके कारण प्राण ऐसा नहीं है, मनोमय आत्मासे इस प्राणमय आत्माका अस्तित्व है। यह मनोमय आत्मा भी पुरुषाकृति सम्पन्न है। प्राणमय आत्माके शरीरके अनुसार इसके भी शरीरकी कल्पना की गयी है। इसका रूपक इस प्रकार है—'यजुः' शब्दका अर्थ है कि जिसमें श्लोकके चरणोंका अथवा अक्षर-व्यवस्थाका कोई नियम नहीं है, इस प्रकारके मन्त्र-विशेष जिसमें हैं, वह यजुर्वेद है। उस जातिके मन्त्रोंका वाचक (यजुः) शब्द है। इसकी मस्तकरूपमें कल्पना करनेका कारण यह भी है कि पहले यजुर्मन्त्रोंके द्वारा अग्निमें आहुति दी जाती है। इसी प्रकार ऋग्वेद एवं सामवेदका भी वैशिष्ट्य जानना होगा। आदेश शब्दसे तात्पर्य है वेदोंका ब्राह्मण भाग। ब्राह्मण भाग करणीय कार्यविशेषका निर्देश (आदेश-उपदेश) करते हैं। अथर्ववेदविद

अङ्गिरा ऋषिने जिन मन्त्रोंको ध्यानयोगसे देखा (साक्षात्कार किया था), वे मन्त्र एवं ब्राह्मण ही पुच्छ एवं प्रतिष्ठा हैं, क्योंकि उनमें शान्ति और प्रतिष्ठाके हेतुभूत समस्त कर्मोंका प्रधान रूपसे निदर्शन है। ये मन्त्र मनोमय आत्माके रूपमें सिद्ध हैं, क्योंकि ये मनोवृत्ति द्वारा आविर्भूत हैं, ऐसे मन्त्रोंकी इस वेदमें प्रचुरता है, किन्तु मन्त्र मनका विकार नहीं हैं। यदि ऐसा होता, तो वेदोंको पौरुषेय कहा जाता। वेदान्तदर्शनमें पारमार्थिक पथको ही विषय बनाया गया है, व्यावहारिक सङ्कल्पादि स्वरूप अथवा मनोमयत्वका प्रयोग नहीं है। मनोमयत्वमें प्राण-धारणाके पहले ही मनोमयत्व परित्यक्त हो जाता है। धारणा मनुष्यका कार्य है, इसलिए मनुष्याकृतिकी कल्पना की जाती है। मनोमय आत्माका उपक्रम (आरम्भ) करके यह विज्ञानमय आत्मा तद्रूपधारी शरीर (पुरुषाकृति शरीरमें रहनेवाला आत्मा) है अर्थात् मनोमयका भी अन्तर्यामी यह विज्ञानमय है। तात्पर्य यह है कि यह पूर्ववर्णित बाह्य प्राणमयकी भी आत्मा है। यह विज्ञानमय है, यही बता रहे हैं—*'तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति। विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद।'*

अर्थात् जीव विज्ञानमय है। उस मनोमय आत्मासे विज्ञान (विज्ञानवान् पुरुष) यज्ञका विस्तार करता है, वही कर्मोंका भी विस्तार करता है। सम्पूर्ण देव ज्येष्ठ विज्ञान-ब्रह्मकी उपासना करते हैं। विज्ञान ब्रह्म है। दूसरा इसका अन्तर-आत्मा (अन्तरमें रहनेवाला) विज्ञानमय है। इसका कारण यह है कि मनोमय आत्मा करण है, उससे विज्ञानमय आत्मा कर्त्तृत्वके कारण श्रेष्ठ है। उसके द्वारा (विज्ञानमयके द्वारा) मनोमय आत्मा पूर्ण है। वह यह विज्ञानमय आत्मा भी पुरुष शरीरके समान आकृतिवाला है। इस मनोमय आत्माकी पुरुषाकारताके अनुसार ही विज्ञानमय आत्मा भी पुरुषाकार है। वही रूपक दिखा रहे हैं। इसका श्रद्धा ही सिर है इत्यादि। श्रद्धा

शब्दका अर्थ है उस अध्यात्म शास्त्रमें यथार्थ रूपसे विश्वास। ऋत इसका दक्षिण पक्ष (हस्त) है। 'ऋत' का अर्थ है अध्यात्म शास्त्रके प्रतिपाद्य अर्थमें निश्चयात्मिका बुद्धि। इस विज्ञानमय आत्माका वाम हस्त है सत्य। 'सत्य' अर्थात् अध्यात्म शास्त्रके अर्थकी अनुभूतिके विषयमें प्रयत्न। यह विज्ञानमय आत्माका वाम हस्त है। समाधि उसकी आत्मा है अर्थात् शरीरका मध्य भाग है। श्रद्धादि उस विज्ञानमय आत्माके साक्षात्कारके साधन हैं। महः इसका पुच्छ है अर्थात् समस्त इन्द्रियोंके प्रकाशकत्वके कारण उत्तमतर जो शुद्ध जीव स्वरूप है, वही पुच्छ है। पुच्छ जिस प्रकार पक्षीके शरीरकी चरम सीमा है, उसी प्रकार यह विज्ञानमय आत्मा पाँच प्रकारकी आत्माकी परावधि है। यही प्रतिष्ठा है अर्थात् इन सबका आश्रय है। यही शुद्ध जीव है। इस प्रकार शुद्ध जीव तक उपदेश करके पूर्वोक्त प्रकारसे अन्नरसमयादिसे विज्ञानमय तक आत्माका उत्तरोत्तर अन्तरत्व बतलाकर अन्तमें उपदेश करेंगे कि अब तक कहे हुए सबसे अन्तरतमरूपमें आनन्दमय पुरुष है और वही आत्मारूपमें पर्यवसित है। यथा— *'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोदः उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।'* अर्थात् इस विज्ञानमय आत्मासे आनन्दमय अन्तरात्मा पृथग्भूत है। इस आनन्दमय आत्माके द्वारा विज्ञानमय आत्मा पूर्ण अर्थात् सत्तावान है। यह आनन्दमय आत्मा भी पुरुषके समान आकृतिसम्पन्न है, विज्ञानमय आत्माकी आकृतिके अनुसार यह भी पुरुषाकृति है, जो कुछ भी जगत्में प्रिय वस्तु है, वह सब इसका सिर है, मोद दक्षिण हस्त है, प्रमोद वाम हस्त है, आनन्द आत्मा है, ब्रह्म पुच्छ है, वही प्रतिष्ठा अथवा सबका आश्रय है। आनन्दमय आत्मा ही सबका अन्तरतम है, इसलिए वह आत्मा है। इस वेदान्तशास्त्रमें पहले शास्त्रीय परमार्थ प्रक्रियासे अवगत हुआ गया है, व्यावहारिक प्रक्रियासे नहीं। इसलिए प्रिय इत्यादि शब्दोंकी व्याख्यामें इष्ट–वस्तु, पुत्र–दर्शन इत्यादिके लिए आनन्दादि शब्दोंका प्रयोग नहीं किया गया, किन्तु जो सर्वशास्त्रानुगत हैं, उन एक ही

परमानन्दस्वरूप श्रीहरिके अन्नरसादिरूपमें उत्तरोत्तर उदय-विशेषके कारण प्रिय इत्यादि संज्ञा (नामों) से उनका ही निर्देश किया है। किस प्रकार? वही बता रहे हैं कि एक ही परमात्मा व्यूही अर्थात् व्यूह-विशिष्ट और व्यूहरूपमें दो प्रकारके हैं। उनमें आनन्दमय आत्माका प्रियरूप नारायण मस्तक है। प्रद्युम्न मोदस्वरूप है, वे उसकी दक्षिण बाहु हैं। अनिरुद्ध प्रमोदस्वरूप हैं, वे उसकी वाम बाहु हैं। आनन्दस्वरूप वासुदेव उसकी आत्मा अर्थात् शरीरका मध्य भाग हैं। यह भी कहा गया है कि नारायण उस आत्माका मध्य भाग हैं और वासुदेव सिर हैं। ब्रह्म अथवा सङ्कर्षण अथवा बलराम उनकी पुच्छ हैं। ऐसा भी कहा गया है कि नारायण मस्तक-रूप हैं, प्रद्युम्न दक्षिण बाहु, अनिरुद्ध वाम बाहु और वासुदेव देहधारीरूपमें अवतीर्ण हैं अथवा नारायण देहधारी हैं, वासुदेव उनके मस्तक और सङ्कर्षण पुच्छरूपमें हैं। एक ब्रह्म पाँच प्रकारसे (नारायण, वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इस पञ्चव्यूहमें) व्यूहित हैं। भगवान् पुरुषोत्तम ही अङ्ग और अङ्गीरूपमें लीला कर रहे हैं। व्यूह-व्यूहीके एकरूप होनेमें भी किसी विरोधकी आशङ्का नहीं है, क्योंकि ऐश्वर्य भेदसे ईश्वरका भेदमात्र है, वास्तवमें भेद नहीं है। सङ्कर्षणको जो ब्रह्मरूप कहा गया, इसका उद्देश्य यह है कि आधेय पुरुषोत्तमकी विग्रहापेक्षाके कारण वे (सङ्कर्षण) आधार हैं। अतः आधेयापेक्षा आधारके बृहत्त्व—बृहत्-रूपत्वके कारण और उन वासुदेव-विग्रहके धारकत्वके कारण बृहत्-गुण योगसे उनका (सङ्कर्षणका) ब्रह्मरूपमें निर्देश हुआ है—यह बात प्राचीन तत्त्वविद् कहते रहते हैं।

अतः इन सब कारणोंसे सङ्कर्षणकी प्रतिष्ठा अर्थात् सर्वाधार रूपमें वर्णन हुआ है—पुच्छ कहनेका कारण यही है कि वे सर्वोत्तम रूपमें उदित हैं। अब प्रश्न यह है कि उत्तरोत्तर उदयके तारतम्य भेदसे उनका एक ही स्वरूप किस प्रकार हो सकता है? यहीं तो भेद आ गया न? इसका उत्तर श्रुति कहती है—*'एकोऽपि सन् बहुधा योऽविभाति।'* अर्थात् जो एक होकर भी बहुत-से रूपोंमें प्रकाशित होते हैं। कोई अङ्ग है, तो कोई अङ्गी। अङ्ग अङ्गीसे अलग नहीं

रह सकता, अतः ब्रह्म एक हैं। इसीलिए मस्तकसहित जो रूपक बतलाया गया है, उसमें रूपका परिवर्तन भी सङ्गत है। अब निष्कर्ष यह निकलता है कि नारायणादि सिर हैं—इत्यादि अवयवोंसे सम्पन्न श्रीकृष्ण आनन्दमय स्वयं-भगवान् हैं। इसी एकत्वके कारण आनन्दमय आत्माको अधिकृत करके *'रसो वै सः'* अर्थात् 'वे रसमय अथवा आनन्दस्वरूप हैं' इत्यादि उक्तियाँ सङ्गत हुई हैं। श्रीमद्भागवत शास्त्र (१०/४३/१७) में कहा गया है—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराड़विदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥

परीक्षित्! उस समय बलदेवजीके साथ रङ्गभूमिमें प्रवेश करते हुए श्रीकृष्ण मल्लोंको वज्रके समान कठोर, साधारण नरोंको नरोत्तम स्वरूप, कामिनियोंको मूर्त्तिमान कामदेव, गोपोंको बान्धव, दुष्ट राजाओंको शासन-कर्त्ता, माता-पिताके समान वृद्धजनोंको शिशु, कंसको मृत्यु, अज्ञजनोंको विराट् पुरुष, योगियोंको परमतत्त्व एवं भक्त वृष्णियोंको परम आराध्यके रूपमें प्रतीत हो रहे थे (सबने अपने-अपने भावके अनुरूप क्रमशः रौद्र, अद्भुत, शृङ्गार, सख्य और हास्य; वीर, वात्सल्य और करुण; भयानक, वीभत्स, शान्त और दास्य—द्वादश रसोंमें देखा)।

इस प्रकार यहाँ भी पञ्चविध प्रेमरसके आश्रयरूपमें एक श्रीकृष्णको परब्रह्म कहा गया है। उनके एकत्वके सम्बन्धमें और भी प्रमाण हैं। जिन्होंने ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया है, वे उस सर्वोत्तम पुरुषोत्तमको प्राप्त होते हैं—*'ब्रह्मविदाप्नोति परम्।'* इस कथनसे जो ब्रह्मके विषयमें कहना आरम्भ हुआ है और फिर *'तस्माद्वा एतस्माद् आकाशः सम्भूतः'* इत्यादि श्रुतिके द्वारा उन ब्रह्मका ही आत्मत्व दिखाकर तत्त्वके पर्यवसानमें आनन्दमयको ही दिखाया गया है। किसी अन्यके विषयमें नहीं कहा गया है। विशेष बात यह है कि प्रिय कौन है, सिर क्या है? यह सब पहले नहीं बतलाया, इन सबको यहाँ

देखना चाहिये। यदि प्राचीनगण भी यहाँ अन्य प्रकारकी व्याख्या करते हैं, तो भी यह व्याख्या ही साधुओंके लिए श्रद्धाके योग्य है, क्योंकि यह प्रमाणमूलक है। यहाँ तक अर्थ-समुदाय द्वारा भाष्यकार इस अचिन्तनीय विषयमें सन्देहादि दिखा रहे हैं। शरीर अर्थात् 'देहको धारण करनेवाला आत्मा', तत्त्व अर्थात् ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति जीवकी ही प्रसिद्ध है, क्योंकि जीव अपने कर्मोंके द्वारा अर्जित पाप-पुण्यके द्वारा नानाविध शरीर ग्रहण करते हैं, यह शास्त्रमें देखा गया है। परब्रह्मका कर्म-सम्बन्धके अभावके कारण शरीर होता ही नहीं। उसका तो इसी कारण अशरीरत्व ही प्रसिद्ध है।

सूत्र—आनन्दमयोऽभ्यासात्॥ १२॥

सूत्रार्थ—आनन्दमयः—आनन्दमय शब्द द्वारा प्रतिपाद्य आत्मा ब्रह्म ही है, क्योंकि अभ्यासात्—श्रुतिमें बार-बार उन्हीं परब्रह्मका ही उल्लेख किया गया है॥ १२॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्मकी आनन्दमय पुरुषरूपमें बार-बार उक्तिके कारण आनन्दमय शब्दसे ब्रह्मको ही जानना चाहिये॥ १२॥

गोविन्दभाष्य—परं ब्रह्मैव सः। कुतः? अभ्यासात्। प्रतिष्ठन्तेनानन्दमयं निरूप्य *'असन्नेव सम्भवति असद्ब्रह्मेति वेद चें अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः'* (तै॰ २/६) इति तत्रैव ब्रह्मशब्दस्याभ्यस्तत्वात्। अविशेषपुनःश्रुतिरभ्यासः। न चाभ्यासः पुच्छ ब्रह्मणीति वाच्यम्। *'अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते'* (तै॰ २/२) इत्यादीनां पुच्छान्तपठितानां चतुर्णां श्लोकानामन्नमयादिपुच्छिपुरुषचतुष्टयपरत्वेनास्यापि श्लोकस्य तथाभूतस्याप्यानन्दमयस्योत्तरोत्तरोदयभेदेन तत्तन्नामभेदात् तदयोगात्। विशेषतस्तु तृतीये (तै॰ ३/३) वक्ष्यते प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तेरित्यादिना। यत्तुहु— *'अन्नमयाद्यसुखप्रवाह-निपातान्नानन्दमयस्य मुख्यत्वमिति। नैष दोषः। तस्य सर्वान्तरत्वात्'* (श॰भा॰ १/१/१२)। अज्ञानां ज्ञप्तिसौलभ्याय तथोपदेशप्रवृत्तेः। परमोपकर्त्ता हि वेदः परमेवात्मानं विजिज्ञापयिषरुन्धतीदर्शनन्यायेनापरोपदेशेऽपि प्रवर्त्तते। नन्वेतावता परत्र तस्य तात्पर्यं न वा परस्या मुख्यत्वमिति। किञ्चोत्तरत्र ब्रह्मजिज्ञासुं प्रति तत्पिता वरुणो विश्वोत्पत्त्यादिहेतुभूतं वस्तु ब्रह्मेत्युपदिश्य पुनः स बुद्ध्यर्थमन्नप्राणमनोविज्ञानानि क्रमेण ब्रह्मेत्युक्त्वान्तेत्वानन्दमयं ब्रह्मेत्युपदर्श्योपरराम। मदुक्तेयं विद्या भगवन्निष्ठेत्यभिदधौ। अथोपसंहारेऽपि। स य एवन्विदस्माल्लोकात् प्रेत्य एतमन्नमयमात्मानं उपसंक्रम्येत्याद्युक्त्वा *'एतमानन्दमयमात्मानं उपसंक्रम्य इमान् लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसञ्चरन्नेतत्*

साम गायन्नास्ते' (तै॰ ३/१०) इत्युक्तमतः परं ब्रह्मैवानन्दमयः। पुरुषविधोऽन्नमयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतमितिस्मृतेश्च। (श्रीमद्भा॰ १०/८७/१७)

शारीरत्वन्तु तस्मिन्नपि न विरुद्धम्। यस्य पृथिवी शरीरमित्यादिश्रुतौ (बृ॰आ॰ ३/७/३) तस्यापि तदुक्तेः। अतः शारीरकमिदं शास्त्रम्। यत्त्वानन्दमय (तै॰ २/५) इत्यत्र ब्रह्मपुच्छमित्यादि (तै॰ २/५) व्याचष्टे, तन्मन्दम्। शब्दस्वारस्य-भङ्गाद्देशिकानुगतिहानाच्च॥ १२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आनन्दमय पुरुष परब्रह्म ही हैं, यदि कहो कि किस प्रकारसे, तो इसका उत्तर है—अभ्यासके कारण, अर्थात् श्रुतिमें बार-बार कहे जानेके कारण। *'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठेति'* (तै॰ २/५) इस श्रुति द्वारा आनन्दमय ब्रह्मका निरूपण करके कहा गया—प्रलयकालमें अर्थात् आदिमें ब्रह्म 'असत्' अर्थात् 'अविद्यमान' थे, बादमें सृष्टिकालमें उत्पन्न हुए—जो इस प्रकारसे जानता है, वह व्यक्ति निन्दनीय है (स्वयं असत् ही है)। और यदि कोई ऐसा जानता है कि सृष्टिके पहले भी ब्रह्म थे, उसे पण्डितगण 'सत्' मानते हैं। आनन्दमय पुरुषमें ही ब्रह्म शब्दकी पुनः-पुनः उक्ति है, अतएव ब्रह्मको ही आनन्दमय पुरुष जानना चाहिये। यहाँ सूत्रमें जो अभ्यास शब्द बार-बार कहा जा रहा है, उसका अर्थ है 'अविशेष रूपसे पुनः-पुनः प्रयोग।' यह नहीं कह सकते हो कि पुच्छ ब्रह्ममें पुनः-पुनः उल्लिखित (अभ्यास) है। *'अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायते'*—अन्नसे जीवका जन्म इत्यादिसे आरम्भ करके पुच्छं प्रतिष्ठा—यहाँ तकके चार श्लोक अन्नमयादि पुच्छ-विशिष्ट चार ब्रह्म (पुरुष-चतुष्टय) के बोधक हैं।

'पुच्छं ब्रह्म' कहनेके बाद जो श्लोक कहा गया, उस श्लोकमें भी उक्त पुरुषका ही ब्रह्मपरत्व कहा गया, तब जो अन्नरसमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय नामसे जिस ब्रह्मका पृथक्-पृथक् निर्देश करते हैं, तो इसे उत्तरोत्तर उत्कर्षसे समझें। इस विषयमें विशेष विवरण तृतीय अध्यायमें *'प्रिय शिरस्त्वाद्यप्राप्तेः'* इत्यादि सूत्रमें दिया जायेगा। कोई-कोई (शाङ्करमतवादी) कहते हैं कि आनन्दमय पुरुष मुख्य अर्थमें प्रयुक्त नहीं है, क्योंकि अन्नमयादि पुरुष क्लेशमय (दुःखमय) है और इन्हीं क्लेशमय कोषोंके बीच आनन्दमय कोषका

उल्लेख है—यह इस अधिकरणमें देखा जाता है। नहीं, ऐसा नहीं है, यह विषमता कदापि आपत्तिके योग्य नहीं है, क्योंकि आनन्दमय पुरुष उक्त समस्त कोषोंका अन्तर्वर्त्ती है। (इसके बाद किसी और आत्माकी बात श्रुति नहीं कहती है।) केवल अज्ञ व्यक्तियोंके ज्ञानकी सुविधाके लिए अन्नमयादि प्रवाहके मध्य ही आनन्दमयका उपदेश एक स्थानपर हुआ है। जीवके परम उपकारक वेद परमात्माका परिचय करानेकी इच्छासे अरुन्धती-दर्शन-न्यायसे अर्थात् स्थूल क्रमसे सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर पदार्थ दिखाते हैं अर्थात् जिस व्यक्तिने पहले कभी अरुन्धती तारा नहीं देखा है, बुद्धिमान् जन उसे पहले सप्तर्षि-मण्डल दिखाकर बादमें वशिष्ठ और उनके निकट स्थित क्षुद्र अरुन्धतीको दिखाते हैं उसी प्रकार पहले स्थूल अन्नमय पुरुषका उल्लेख करके उत्तरोत्तर उत्कृष्ट और सर्वान्तवर्त्ती आनन्दमय ब्रह्मका उपदेश किया गया है। अरे तत्त्वजिज्ञासुओ! यहाँ तकके वर्णनमें यह स्पष्ट है कि अन्नमयादि प्रकरणमें आनन्दमयका उल्लेख होनेसे भी श्रुतिका तात्पर्य यह है कि आनन्दमय पुरुषको ही मुख्य और परब्रह्म जानें। वे परब्रह्म अमुख्य नहीं हो सकते। और एक बात, परवर्ती ग्रन्थमें भृगु-वारुणि सम्वादमें भी हम यही देखते हैं कि ब्रह्मजिज्ञासु भृगु पिता वरुणके समीप गये। तब वरुणने उन्हें समझाया कि जो इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति एवं लयादिके कारण हैं, वह वस्तु सत् ब्रह्म है। यह उपदेश देनेके बाद पुत्रके संशयकी निवृत्ति और उन्हें विशेष ज्ञान उत्पन्न करानेके लिए क्रमपूर्वक उत्तरोत्तर अन्तर्वर्त्ती अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय ब्रह्मका उपदेश दिया। अन्तमें 'आनन्दमय पुरुष ही ब्रह्म हैं' इस सिद्धान्तका दर्शन कराकर विरत हो गये। इसके बाद वरुण जब उपदेशसे निवृत्त हो गये, तब उन्होंने कहा—"वारुणि! मेरे द्वारा कथित यह विद्या जिन भगवान्में पर्यवसित है (भगवन्निष्ठामयी है), वे भगवान् आनन्दमय हैं। पुनः उपसंहारमें भी कहा गया है कि जो व्यक्ति इन ब्रह्मको आनन्दमयरूपमें जानकर इस लोकसे परलोक जाता है, वह उत्कृष्ट गति प्राप्त करते हुए अन्नमय आत्माके प्रति संक्रमण (जन्म-ग्रहण) करता है, इत्यादि (अर्थात् वह क्रमशः प्राणमय आत्माके प्रति संक्रमण कर, इस मनोमय आत्माके प्रति संक्रमण कर

तथा इस विज्ञानमय आत्माके प्रति संक्रमण करता है)। अन्तमें (तै० ३/१०/५) कहते हैं कि पुनः वह आनन्दमय आत्माके प्रति संक्रमण कर इन लोकोंमें कामान्नी (इच्छानुसार भोग भोगता हुआ) और स्वाधीनरूप होकर (इच्छानुसाररूप धारण कर) विचरता हुआ सामगान करता है। श्रीमद्भागवत (१०/८७/१७) में कहा है—

दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा
महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम्॥

अर्थात् प्राणी आपके प्रति भक्तियुक्त होनेपर ही उसका जीवन धारण करना सार्थक होता है, अन्यथा वे लुहारकी धौंकनीकी भाँति व्यर्थ ही साँस ले रहे हैं। हे देव! महत्-तत्त्व, अहङ्कार आदिने आपके प्रवेशसे ही सामर्थ्य प्राप्तकर समष्टि-व्यष्टिरूप देहकी सृष्टि की है। आप ही अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—इन पञ्चकोशोंमें प्रवेशकर उन-उन स्वरूपोंमें परिलक्षित होते हैं, तथा सभीके अन्तमें पञ्चकोशोंके आश्रय आप स्वरूपतः स्थूल-सूक्ष्म पदार्थोंसे अतीत हैं तथा पञ्चकोषोंमें 'नेति, नेति' के द्वारा निषेध हो जानेपर एकमात्र आप ही अवशिष्ट रहते हैं—इस प्रकार आप परम सत्य हैं, इसी प्रकार आपका वर्णन हुआ है। इसलिए भगवत्-उपासनाके बिना जीवन व्यर्थ है; क्योंकि वह इस महान सत्यसे वञ्चित है।

पुरुषविधः पुरुषः आत्मा पुरुषाकृति (परमात्मा पुरुष शरीरधारी हैं) इस बातमें संशय हो सकता है कि ब्रह्म शरीरधारी किस प्रकारसे हैं? परन्तु इसमें कोई विरोधी बात नहीं है, क्योंकि श्रुति कहती है *'यस्य पृथिवी शरीरमित्यादि'* (बृ०आ० ३/७/३) अर्थात् पृथ्वी जिसका (परमात्माका) शरीर है। अतः प्रमाणित हुआ कि परमात्माका शरीर है। इसलिए इस वेदान्त-शास्त्रको भी तो शारीरिक शास्त्र कहा जाता है। केवल अद्वैतवादीगण *'आनन्दमयः'* (तै० २/५) (आत्मा आनन्दमय है) इस आनन्दमय स्थलपर जो *'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा'* (तै० २/५) ब्रह्म,

पुच्छ व्याख्या करते हैं, वह असङ्गत है। बात यह है कि अद्वैतवादी कहते हैं कि यदि ब्रह्म शरीरधारी होता, तो अद्वैत ब्रह्म हो ही नहीं सकता है। 'शारीर' शब्दका अर्थ है 'परमात्मा'। इसके उत्तरमें स्वार्थमें 'क' प्रत्ययका योग होनेपर 'शारीरक' शब्द निष्पन्न होता है। यह (शारीरक) वाच्य होनेपर वाच्य-वाचकत्वका अभेद स्वीकार करके शारीरक शब्दका अर्थ 'शास्त्र' भी होता है। ब्रह्म जो शारीर है, उसका प्रमाण ब्रह्म पुच्छ इत्यादि उक्तियाँ हैं—अद्वैतवादियोंकी उन उक्तियोंमें सामञ्जस्य नहीं है। इसका कारण यह है कि अनुमान प्रमाणमें पक्ष एवं साध्य समान विभक्तिवाले होते हैं। यथा *'पर्वतो वह्निमान्'*। परन्तु यहाँ तो विभक्तियोंमें समानताका अभाव है। यहाँ आनन्दमयः पक्ष है—इसमें प्रथमा विभक्ति है और *'तस्य प्रियमेव शिरः'*—साध्य 'तस्य' में षष्ठी विभक्ति है—इस प्रकार (शब्द-स्वारस्य) शब्द शास्त्रकी पद्धतिका भङ्ग हो रहा है। दूसरा दोष यह है कि आचार्य बादरायण और वरुण इत्यादिके ज्ञानकी हानि हो रही है॥ १२॥

सूक्ष्मा-टीका—प्रतिष्ठास्तेनेति। वाक्येनेत्यर्थः। असन्निति। असन्निन्द्यः सम्भवति। यो ब्रह्म असन्नास्तीति वेद। योऽस्ति ब्रह्मेति वेद। ततो ब्रह्मास्तित्ववेदनाद्धेतोरेनं जनाः सन्तं विदुर्जानन्तीत्यर्थः। तत्रैवेति। आनन्दमये पुंसि ब्रह्मशब्दस्य द्विपाठादित्यर्थः। अविशेषेति। तस्यैव शब्दस्य पुनः प्रयोग इत्यर्थः। इदं द्वितीयं तात्पर्यलिङ्गम्। पुच्छं ब्रह्मणि केचित्तदभ्यासं मन्यन्ते तान्निरस्यति। न चेति। तथाभूतस्य पुच्छान्तपठितस्य। तथाच। प्रक्रमभङ्गाख्योदोषः इत्याशयः। तदयोगादभ्यासासम्भवात्। यत्त्विति। मुख्यत्वमिति। तस्येति तस्यानन्दमयस्य सर्वान्तरत्वं सर्वान्तरवर्त्तित्वं तदनन्तरमन्यस्यात्मनोऽनुपदेशात्। नन्वेवञ्चेत् तस्यान्नमयादिभिः सह कृत उपदेशो भवितुं युज्यतेति चेत्तत्राह। अज्ञानामिति। अपरोपदेशे अन्नमयादिपुरुषोपदेशे। अपरत्र। अन्नमयादिषु। नवेति। परस्यानन्दमयात्मनः। अभ्यासलिङ्गेनानन्दमयस्य परमात्मत्वं सूत्रकृद्भिर्निर्णीतम्। अथोत्तरग्रन्थात् भृगुवार्त्तातस्तस्य तत्त्वं निर्णेतव्यमिति। भाष्यकृषोजयति किञ्चोत्तरत्रेति।

स य एवन्विदिति। आनन्दमयं ब्रह्म जानन्नित्यर्थः। एतमानन्दमयमात्मान-मीश्वरमुपसंक्रम्य तस्यान्तिकं प्राप्य। इमान् चतुर्द्दशलोकान् अनुसञ्चरन् साम गायन्नास्ते वर्त्तते इत्यर्थः। सर्वत्र गतिस्वाच्छन्द्यवर्णनेन मुक्तत्वं, सामगानेन मुक्तावपि भगवद्रतत्वं च बोध्यते। यत्तुपसंक्रम्येत्यस्योल्लज्य्येत्यर्थम् अभिधायानन्दमयादन्यत् परतत्त्वमित्याहुस्तन्मन्दम्। तच्छब्दस्य तत्र शक्त्यभावात्। मेषादिराशिषु रवेः प्राप्तिरेव मेषादिसंक्रान्तिरिति प्रसिद्धेः। स कीदृश इत्याह। कामान्नीति कामं यथेष्टमन्नं भोगाः

सन्त्यस्य कामान्नी, कामं यथेष्टंरूपमस्त्यस्य कामरूपी। स सत्यसङ्कल्पत्वान्निखिल-भोगसम्पन्नो विचित्ररूपश्च तदा भगवन्तमनुकूलयन् विभातीत्यर्थः पुरुषविध इति। अत्र प्रधानमहदादिपरिणामरूपेषु समष्टिव्यष्टिजीवशरीरेषु जीवानामनुग्रहाय त्वमन्नमयः प्रविष्ट इत्यर्थः। को ह्येवान्यादित्यादिश्रुत्या प्राणनादिचेष्टानां त्वन्निमित्त-त्वाभिधानात्तवानुग्राहकत्वम्। अन्नमयादिषु यश्चरमः पुरुषविधः पूर्वपूर्ववत् पुरुषरूपकेण निरूपित आनन्दमयः स त्वमेव। ननु तत्र जीवशरीरेषु प्रविष्टस्य मम तद्गतमालिन्यप्रसङ्ग इति चेत्तत्राह। सदसतः परमिति। स्थूलसूक्ष्मकार्यकारणवर्गात् परमन्यद्वस्तु त्वम्। तत्प्रविष्टौऽपि त्वं तद्गन्धास्पृष्ट इत्यर्थः। एषु समष्टिरूपेषु जीवशरीरेषु लीनेषु सत्सु यद्वस्तु अवशेषं शिष्यमाणं ऋतं तत्तत्सर्वाश्रयभूतं तत्त्वमेवेत्यर्थः। ऋग ताावित्य-स्मादधिकरणार्थकेनक्तप्रत्ययेन सिद्धे ऋतशब्दस्य तदर्थत्वं बोध्यम्। शारीरत्वन्त्विति। तस्मिन् परमात्मनि। तदुक्तेः शारीरत्वाभिधानात्। शारीरकमिति। शारीरपरमात्मा स्वार्थे 'क' प्रत्ययः। वाच्यवाचकयोरभेदविवक्षया शास्त्रं शारीरकम्। यत्त्विति व्याचष्टे केवलाद्वैती। शब्देति। पक्षसाध्ययोरेकविभक्तिकत्वं दृष्टं। तदभावात्तद्भङ्गम्। देशिको गुरुः स च बादरायणो वरुणश्च॥ १२॥

सूक्ष्मा-सार— *'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा'* अर्थात् प्रतिष्ठा शब्द जिसके अन्तमें है, उस वाक्यके द्वारा भी जो व्यक्ति यह सोचता है कि ब्रह्म असत् हैं (अर्थात् नहीं हैं), वह निन्दनीय होता है। जो यह कहता है कि ब्रह्म तब भी अर्थात् सृष्टिसे पूर्व थे, उसके ऐसे ब्रह्मके अस्तित्वके ज्ञानके कारण उसे जगत्में सत्पुरुष कहा जाता है। *'असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति।'* इस प्रकार आनन्दमय पुरुषमें ब्रह्म प्रतिपादक वाक्यके दो बार अर्थात् ब्रह्म शब्दके पाठ (अभ्यास) के कारण निर्गुण ब्रह्मको आनन्दमय पुरुषके रूपमें जानना होगा। 'अविशिष्ट भावमें' शब्दका पुनः प्रयोग है, यह भी 'द्वितीय तात्पर्य लिङ्गम्' अर्थात् आनन्दमय शब्दका जो ब्रह्ममें तात्पर्य है, उसमें यह अविशेष श्रुति द्वितीय अनुमापक है। कोई-कोई कहते हैं कि पुच्छ ब्रह्ममें 'अभ्यास' है, उसका यहाँ निराकरण किया है कि पुच्छान्त पठित वाक्यका आनन्दमय ब्रह्ममें तात्पर्य है, यह कहा नहीं जा सकता। इस प्रकार कहनेपर प्रक्रम-भङ्ग दोष होता है। पुच्छान्त वाक्यका यदि ब्रह्ममें 'तात्पर्य' नहीं होगा, तो आरम्भके साथ उपसंहार वाक्यका अनैक्य होगा और इस प्रकार प्रक्रम-भङ्ग दोष हो जायेगा, यह अभिप्राय है।

अभ्यासकी असङ्गति रहनेसे तो प्रिय शिरत्व इत्यादिका भी सम्बन्ध नहीं रहेगा। आनन्दमयका मुख्यत्व नहीं है, ऐसा जो कहते हैं, इसमें यह असङ्गति दोष नहीं है, क्योंकि आनन्दमय पुरुष सभी कोषोंका अन्तर्वर्त्ती है। वह किस प्रकारसे सर्वान्तर है? इसका कारण यह है कि इसके बाद किसी और आत्माका और कोई उपदेश नहीं है। यदि कहो कि ऐसा है, तो अन्नमयादि पुरुषके साथ एक भावसे आनन्दमयका उपदेश होना किस प्रकारसे उचित है, तो इसका उत्तर यह है कि अन्नमयादि पुरुषके उपदेशमें भी वेदकी प्रवृत्ति है। अतः आनन्दमयात्माका अमुख्यत्व नहीं, बल्कि मुख्यत्व है। अभ्यासरूप तात्पर्य लिङ्गके द्वारा 'आनन्दमय जो परमात्मा हैं' सूत्रकारका यही सिद्धान्त है। इसपर भी उत्तर-ग्रन्थ भृगु-वरुण सम्वादसे उसकी यथार्थताका निर्णय करना उचित है। इसी उद्देश्यसे भाष्यकारने 'किञ्चोत्तरत्र ब्रह्मजिज्ञासु' इत्यादि ग्रन्थकी योजना की है, जिसका अर्थ भाष्यानुवादमें देखना चाहिये।

इस प्रकार आनन्दमय ब्रह्मके जाननेपर व्यक्ति आनन्दमय पुरुष स्वरूप ईश्वरके निकट जाता है और चौदह लोकोंमें विचरण करते हुए सामगान करता है। उसकी इस सर्वत्र स्वच्छन्द गति वर्णन द्वारा उसका मुक्तत्व और सामगान द्वारा मुक्ति प्राप्त होनेपर भी भगवदाराधना-व्रतत्व सूचित होता है। तब भी कोई-कोई 'उपसंक्रम्य' इस पदका उल्लंघन न करके यह अर्थ बतलाते हैं कि 'आनन्दमयसे परमात्म-तत्त्व स्वतन्त्र है।' यह मन्द व्याख्या है, क्योंकि उपसंक्रम्य पदके उल्लंघन अर्थमें शक्ति बोध नहीं है। इसका कारण स्पष्ट है कि मेषादि राशिमें सूर्यका संक्रमण कहनेपर मेषादि राशिकी प्राप्ति स्पष्ट बोध होती है। कैसे? इसका उत्तर है कि जैसे कामान्नीका काम अर्थात् इच्छानुसार अन्न अथवा भोग होता है और वह कामरूपी होकर अभीष्टरूप धारण करता है। वह सत्यसङ्कल्परूपमें अखिल भोगसम्पन्न एवं विचित्ररूप होकर भगवान्को प्रसन्न करके प्रकाश पाता है। पुरुषविधः अर्थात् हे भृगु! इस प्रकृति (प्रधान), महत्-तत्त्वादिके परिणामरूप समष्टि एवं व्यष्टि जीव शरीरमें तुम जीवके अनुग्रहके लिए अन्नमय होकर प्रविष्ट होते हो। अन्नमयादि शरीरमें प्रवेश

जीवका अनुग्राहकत्व किस प्रकारसे है? वही कहते हैं—*'को ह्येवा अन्यत्'* अर्थात् और कौन है, जो अनुग्रह करेगा इत्यादि श्रुति द्वारा प्रतिपादित हुआ है कि जीवकी प्राणनादि (श्वास-प्रश्वास लेना) चेष्टाएँ तुम्हारे ही आनन्दमय (आत्मा) के लिए हैं। अन्नमयादि पञ्चविध पुरुषोंमें जो चरम अर्थात् सर्वान्तमें वर्णित आनन्दमय आत्मा है, वे ही पूर्ववर्णित पुरुषविध (पुरुषाकृति) अन्नमयादिके समान रूपक द्वारा निरूपित आनन्दमय पुरुष हैं। भृगु! तुम वही हो। यदि तुम कहो कि जीव-शरीरमें प्रवेश करनेसे देहगत मलिनतासे मेरा सम्पर्क होगा, तो इसका उत्तर यह है कि तुम सत् और असत् अर्थात् स्थूल भूतादि एवं सूक्ष्म इन्द्रियादि कार्य-कारण-समष्टिसे परे स्वतन्त्र हो। इस शरीरमें प्रविष्ट होकर भी तुम इसके सम्पर्कसे रहित हो। यह समष्टि जीव शरीर जब प्रलयकालमें ब्रह्ममें लीन हो जाता है, तब जो एकमात्र अवशिष्ट रहता है, उसका नाम 'ऋत' है। ऋत अर्थात् वास्तव पदार्थ—जो समस्त विश्व-प्रपञ्चका आश्रयभूत है, वह तुम हो। ऋत शब्द गत्यर्थक 'ऋ' धातुके अधिकरण वाच्यमें 'क्त' प्रत्ययके द्वारा निष्पन्न होता है। अतः 'ऋत' शब्दका अर्थ जिसमें गत होता है, वह ब्रह्म तुम हो, क्योंकि उस परमात्मामें शारीरत्वका कथन है। शारीरः अर्थात् परमात्मा। इस अर्थमें 'क' प्रत्ययके योगसे शारीरक होता है। वाच्य और वाचक (अर्थ और भेद) अभिन्न होनेसे ब्रह्म-प्रतिपादक शास्त्रको भी शारीरक कहा जाता है। ऐसी व्याख्या केवलाद्वैतवादी करते हैं, ऐसी व्याख्याओंसे शब्दकी स्वारसिकता अर्थात् नीतिकता भङ्ग होती है, इसलिए यह मत मन्द है। किस शब्दकी स्वारसिकता भङ्ग हुई है? उत्तर है कि पक्ष एवं साध्य—दोनोंकी समान विभक्तियाँ होनी चाहिये—यह नियम है, यहाँ नियम भङ्ग हुआ है। इसके अतिरिक्त देशिक दोष भी है कि गुरु वेदव्यास और भृगुके पिता वरुण, उनकी अनुगति अर्थात् जिस भावसे उक्ति है, उसकी भी हानि हो रही है॥१२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पहले श्रुतिने प्रतिपादन किया है कि ब्रह्म निर्गुण हैं अर्थात् वे प्राकृत गुणरहित और अप्राकृत गुणोंसे युक्त हैं। इस विषयका निश्चय करके यह सिद्धान्त निरूपित हुआ कि पूर्ण,

विशुद्ध श्रीहरि ही वेदवाच्य हैं। आनन्दमयाधिकरणमें जो पूर्ण आनन्दमय विग्रह हैं, उनका ही कुछ सूत्रोंमें प्रतिपादन है। उन आनन्दमयादिका शब्दवाच्यत्व अध्याय (अधिकरण) की समाप्ति तक प्रदर्शित हुआ है। तब इस प्रथम पादमें अन्यत्र प्रसिद्ध शब्द जो परब्रह्ममें समन्वित होते हैं, उनका भी निर्णय किया गया है। *'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'* (तै॰ २/१) अर्थात् 'ब्रह्मवित् पुरुष ब्रह्मको प्राप्त होता है' इस तैत्तिरीय श्रुतिसे आरम्भ करके *'स वा एष'* अर्थात् 'वे पुरुष' अन्नरसमय, प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमय इत्यादि शब्दोंसे अभिहित हैं—यह कहकर आगे दिग्दर्शित करते हैं कि विज्ञानमय कोषसे भिन्न उसके अभ्यन्तरमें अवस्थित पुरुष आनन्दमय आत्मा है। उनका सम्पूर्ण शरीर आनन्दस्वरूप है। कोई-कोई 'यह आत्मा शारीर (देह धारण करनेवाला) है'—इस कथनमें 'शारीर' शब्दमें देह-सम्बन्धकी प्रतीतिके द्वारा देहधारी जीवको ही आनन्दमय बतानेका प्रयास करते हैं। इस पूर्वपक्षके निराकरणके लिए ही सूत्रकारने इस बारहवें सूत्रकी अवतारणा करके कहा है कि आनन्दमय शब्दमें जब-जब पुनः-पुनः ब्रह्मका निर्देश किया गया है, तब-तब उस आनन्दमय पुरुष ब्रह्मको ही जानना होगा, जीवको नहीं। विशेष रूपसे श्रुतिमें कहा है कि 'जो आनन्दमय ब्रह्मके अस्तित्वका अनुभव कर सकता है, उसका ही अस्तित्व सिद्ध है, अन्यथा स्वयंका भी अस्तित्व असिद्ध हो जाता है'—इत्यादि वाक्योंमें बार-बार उल्लेखके कारण ब्रह्मको ही जानना होगा। अन्नमयादि कोषके बीच आनन्दमयका उल्लेख क्रमपूर्वक उत्कर्ष-प्रदर्शनके लिए ही समझना चाहिये।

ब्रह्मजिज्ञासु भृगुको उसके पिता वरुण विश्वकी सृष्टि आदिके कारणभूत वस्तु रूपमें ब्रह्मका उपदेश करके बादमें अन्नमयादि कोषका उल्लेख करते हुए आनन्दमय पुरुषको ब्रह्म कहकर निर्देश करते हैं और कहते हैं कि जो इस आनन्दमय पुरुषको जानते हैं, वे अन्तमें उत्कृष्ट गति प्राप्त करते हैं।

श्रीमद्भागवत (१०/५८/३८) में देखा जाता है—

अर्चितं पुनरित्याह नारायण जगत्पते।
आत्मानन्देन पूर्णस्य करवाणि किमल्पकः॥

अर्थात् नग्नजित्ने यथाविधि पूजन करके अन्तमें श्रीकृष्णको पुनः इस प्रकारसे कहा—हे जगत्पते नारायण! आप आत्मानन्दमें परिपूर्ण हैं, अतः मुझ जैसा क्षुद्र व्यक्ति आपका कौन-सा प्रिय कार्य करनेमें समर्थ हो सकता है?

दूसरी बात यह है कि 'शारीर' शब्दका प्रयोग भी असङ्गत नहीं है, इसका कारण श्रुति कहती है—'यह पृथ्वी उनका (ब्रह्मका) शरीर है।' इसी प्रकार अन्य श्रुति भी कहती है—

'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्' (कठ॰ २/२३) अर्थात् उसके (साधकके) प्रति यह आत्मा अपने स्वरूपको अभिव्यक्त कर देता है।

वाच्य परब्रह्मसे अभिन्न वाचक इस शास्त्रको शारीरक शास्त्र भी कहा जाता है, इसलिए भी 'शारीर' शब्द असङ्गत नहीं है।

मनुष्यके आनन्दसे प्रजापतिका आनन्द शतगुणोत्तर अधिक है, क्रमशः शतगुणोत्तर गुणित करनेपर जो उत्कर्ष है, वह प्राजापत्य आनन्द है और प्राजापत्य आनन्दसे शतगुणा करनेपर ब्रह्मानन्द है, उससे भी असन्तुष्ट होकर कहते हैं—जिससे श्रुति भी निरस्त हो जाती है अर्थात् परम ब्रह्मके आनन्दका परिमाण श्रुति भी निर्णय करनेमें असमर्थ है। इस प्रकार निरतिशय आनन्द ब्रह्मसे भिन्न अन्यत्र ब्रह्मकी सम्भावना नहीं है। जीवका आनन्द सीमाबद्ध है, इसलिए आनन्दमय शब्दसे ब्रह्मसे अतिरिक्त जीवका कभी भी निर्देश नहीं किया जा सकता।

श्रीरामानुजके श्रीभाष्यमें भी देख सकते हैं—

ब्रह्मानन्दस्य प्रभूतत्वमन्यानन्दस्याल्पत्वपेक्षत इति उच्यते च तत् 'स एको मानुष आनन्दः' (तै॰ २/८) इत्यादिना जीवानन्दापेक्षया ब्रह्मानन्दो निरतिशयदशापन्नः प्रभूत इति।

अर्थात् ब्रह्मानन्दका जो प्रभूतत्व है, वह अन्यान्य आनन्दोंसे अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है, उसके समक्ष सभी प्रकारके आनन्द अल्प हैं—इसके लिए कहा भी गया है कि 'मानुष आनन्द' एक अंशमात्र है। जीव-आनन्दकी अपेक्षा ब्रह्मानन्द अतिशय आनन्दपूर्ण है।

अन्य श्रुतियाँ भी द्रष्टव्य हैं, यथा—

रसो वै सः रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति

(तै॰ २/७)

वह निश्चय रस ही है, इस रसको पाकर पुरुष आनन्दी हो जाता है।

एष ह्येवानन्दयाति (तै॰ २/७), यही रस तो सबको आनन्दित करता है।

सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति (तै॰ २/८), उस ब्रह्मके आनन्दकी यह मीमांसा (विचारणीय) है।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान न विभेति कुतश्चन (तै॰ २/९), आनन्द ब्रह्मको जाननेवाला विद्वान (ब्रह्मवेत्ता) किसीसे नहीं डरता।

आनन्दं ब्रह्मेति व्याजानात् (तै॰ ३/६), आनन्द ब्रह्म है, यह जानना।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः (श्रीमद्भा॰ ११/९/१८)

अर्थात् वे केवल अनुभव-स्वरूप और आनन्दघन मात्र हैं। किसी भी प्रकारकी उपाधिका उनसे सम्बन्ध नहीं है।

मल्लानामशनिः (श्रीमद्भा॰ १०/४३/१७) श्लोक भी इस सम्बन्धमें आलोच्य है। भागवतमें ही देवताओंका कथन है—

स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवान्। (श्रीमद्भा॰ ६/९/३३)

अर्थात् हे प्रभो! परमहंस परिव्राजक महात्माओंके हृदयमें आप आत्मानन्दके रूपमें बिना किसी आवरणके प्रकट हो जाते हैं और वे आपका अनुभव करके कृतार्थ हो जाते हैं।

जो लोग जीवको ब्रह्म समझकर आनन्दका आस्वादन करते हैं अर्थात् आत्मारामत्व प्राप्त करके जीवके स्वरूपानन्दमें विभोर रहकर सोचते हैं कि वे ब्रह्मानन्दका अनुभव कर रहे हैं, उन्हें श्रीप्रकाशानन्दके प्रति श्रीमन्महाप्रभुकी वाणीकी आलोचना करनी चाहिये, जिससे वे वास्तविक मर्म (तत्त्व) की उपलब्धि कर सकें—

कृष्णविषयक प्रेमा परम पुरुषार्थ।
यार आगे तृण तुल्य चारि पुरुषार्थ॥

पञ्चम पुरुषार्थ प्रेमानन्दामृतसिन्धु।
ब्रह्मादि आनन्द यार नहे एक बिन्दु॥

कृष्णनामे ये आनन्द सिन्धु आस्वादन।
ब्रह्मानन्द तार आगे खातोदक सम॥

(चै॰च॰आ॰ ७/८४, ८५, ९७)

अर्थात् श्रीकृष्ण विषयक प्रेमका उत्पन्न होना—यही परम पुरुषार्थ है। इसके समक्ष धर्म, अर्थ, काम एवं मुक्ति—ये चारों पुरुषार्थ तृणके समान हैं। पञ्चम-पुरुषार्थ जो प्रेम है, उससे उत्पन्न होनेवाला जो आनन्द है, वह अमृतके समुद्रके समान है और निर्विशेष ब्रह्मानन्द उस प्रेमानन्द अमृत समुद्रके सामने एक क्षुद्र गड्ढेके जलके समान है।

श्रीहरिभक्तिसुधोदय (१४/३६) में भी द्रष्टव्य है—

त्वत्साक्षात्करणाह्लाद विशुद्धाब्धिस्थितस्य मे।
सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्माण्यपि जगद्गुरो॥

अर्थात् श्रीप्रह्लाद हाथ जोड़कर श्रीनृसिंह भगवान्‌से कह रहे हैं—हे विश्वब्रह्माण्डके गुरु! आपके कृपापूर्ण साक्षात् दर्शनसे मैं जिस अप्राकृत विशुद्ध आनन्द-समुद्रका अनुभव कर रहा हूँ, उसके सामने निर्विशेष ब्रह्मानन्द मुझे गो-पदकी भाँति तुच्छ लगता है।

श्रील जीव गोस्वामीने सर्वसंवादिनी ग्रन्थमें भगवत्-सन्दर्भके विचारोंमें द्विधर्मता सिद्धान्त पक्षके स्थापनके प्रस्तावमें इस सूत्रका उल्लेख करके जो लिखा है, उसका सार यह है कि ब्रह्मसूत्रके रचयिताके अभिमतमें भी ब्रह्मका प्रकाश भेद एवं उदय भेद देखा जाता है। यथा—*आनन्दमयोऽभ्यासात्।* आनन्दमयाख्य पुरुष, प्रचुर प्रकाश रवि तुल्य, प्रचुर आनन्दरूप मैं श्रीभगवान् ही ब्रह्मकी प्रतिष्ठा अर्थात् ब्रह्मका भी आश्रय हूँ। ब्रह्ममें एवं मुझमें वस्तुतः *'एकमेवाद्वितीयम्'* (छा॰ ६/२/१) श्रुति द्वारा उक्त अद्वयतत्त्वरूपमें कुछ भी पार्थक्य नहीं है, तथापि आंशिकत्व और पूर्णत्वमें भेद है। अतः श्रीभगवत्-रूपमें उदित मुझमें ही प्रतिष्ठात्वकी पराकाष्ठा है। स्वरूपशक्तिका जहाँ प्रकाश है, वहीं स्वरूपशक्ति प्रकाशके द्वारा स्वरूपके प्रकाशाधिक्यकी योग्यताको

अवश्य स्वीकार करना चाहिये। इसीलिए निर्विशेष ब्रह्मके ऊपर भी श्रीभगवान्‌का प्रकाश शास्त्रमें बतलाया गया है।

तैत्तिरीयोपनिषद (२/५) में भी अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय सिर, पक्षादि रूपकके द्वारा क्रमानुसार निर्देश करते हुए आनन्दमयत्वका ही उपदेश दिया गया है। तात्पर्य यह है कि आनन्दमय आत्मा विज्ञानमयके अभ्यन्तर स्थित है, इसलिए वह उससे भिन्न है। प्रीति उसका सिर है इत्यादि कहकर आगे कहा—आनन्द आत्मा है और ब्रह्म उसकी पुच्छ-प्रतिष्ठा हैं। इस स्थलपर यदि यह संशय करते हो कि इस 'आनन्दमय' शब्दके द्वारा क्या परब्रह्मको जानना चाहिये अथवा अन्नमयादिके समान ब्रह्मका अर्थान्तर जानना चाहिये। इसके उत्तरमें द्रष्टव्य है कि *'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा'* इति। यहाँपर ब्रह्म शब्द-योगबलके द्वारा पुच्छ शब्द व्यपदिष्ट (छलसे प्रतिपादित) ब्रह्मत्वको ही प्राप्त है। *'आनन्दमयोऽभ्यासात्'* इस सूत्रमें ब्रह्म शब्दको ही अधिकार प्राप्त है, जीवको नहीं। इस प्रकार ब्रह्म आनन्दमय हैं, श्रुतिमें भी यही 'आनन्दमयः' शब्द है, इसमें प्रथमान्त है (अन्तमें प्रथमा विभक्ति है), सूत्रकारने भी इसमें प्रथमान्त पाठ ही रखा है। इस सूत्रके द्वारा यही वाच्य है कि ब्रह्म आनन्दमय हैं।

आचार्य शङ्करने इस 'आनन्दमय' शब्दकी गौण ब्रह्मके पक्षमें व्याख्या की है, जिसका प्रतिवाद करते हुए वैष्णवाचार्य भाष्यकार श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने कहा है कि मुख्य ब्रह्मको अधिकार करके ही इस सूत्रकी अवतारणा हुई है, गौण ब्रह्मको लक्ष्य करके नहीं। उन्होंने युक्तिपूर्वक प्रदर्शन किया है कि ब्रह्म आनन्दमय हैं, श्रुतियोंमें बार-बार वर्णन हुआ है। दूसरी बात यह है कि अभ्यास शब्दका अर्थ है 'अविशेष पुनः श्रुति' अर्थात् अविकल रूपसे पुनः-पुनः कथनका नाम अभ्यास है।

इस प्रसङ्गमें श्रीचैतन्यचरितामृतके आदिलीलाके सप्तम परिच्छेदमें व्याससूत्रके परिणामवाद-विचार प्रसङ्गमें श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर प्रभुपादने अपने अनुभाष्यमें जो लिखा है, वह भी आलोच्य है॥ १२॥

अवतरणिका भाष्य—विकारे मयट्स्मृतेर्जीवाशङ्का कस्यचित् स्यादतस्तां निराकर्तुमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—भाष्यकार तेरहवें सूत्रकी उत्थानिकाका बीज दिखा रहे हैं। व्याकरण शास्त्रमें देखा जाता है कि विकार अर्थमें मयट् प्रत्यय होता है। जिस प्रकार *'सुवर्णमयं कुण्डलं'* कहनेपर यह माना जाता है कि कुण्डल सुवर्णका विकारीभूत है, उसी प्रकार आनन्द शब्दके उत्तरमें विकार अर्थमें मयट् प्रत्यय लगाकर आनन्दमय शब्दकी निष्पत्ति हुई है, इससे आनन्दका विकार जीव है, यह मानना चाहिये, कोई-कोई इस प्रकारकी आशङ्का कर सकते हैं, इसीका निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

अवतरणिका भाष्यस्य टीका—विकारे इति। नित्यं वृद्धशरादिभ्य इति सूत्रेणानन्द-शब्दात् वृद्धत्वाद्विकारे मयट् स्यात् अत आनन्दस्य विकारः। आनन्दमयः स च जीवः स्यादित्याशङ्का स्यादित्यर्थः—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः'* (अष्टाध्यायी ४/३/१४४, वृद्ध संज्ञक शब्द और शर आदिमें नित्य मयट् प्रत्यय विकार अर्थमें होता है)। आनन्द शब्दका आदि स्वर वृद्धसंज्ञक (आ, ऐ, ओ स्वरूप) होनेसे इसमें विकार अर्थमें मयट् प्रत्यय हुआ है, अतः आनन्दमय शब्दका अर्थ जीव होना चाहिये, यह आशङ्का हो सकती है।

सूत्र—विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्॥ १३॥

सूत्रार्थ— *'विकारशब्दात् न'*—विकारवाचक मयट् प्रत्ययसे निष्पन्न आनन्दमय शब्दका अर्थ ब्रह्म नहीं हो सकता, जीव ही होगा, 'इति चेन्न'—पूर्वपक्षके कहनेसे ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि 'प्राचुर्यात्'—प्राचुर्य अर्थमें ही यहाँ मयट् प्रत्ययका विधान है, विकार अर्थमें नहीं॥ १३॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्मके लिए प्रयुक्त मयट् प्रत्यय विकारार्थक नहीं, अपितु प्राचुर्यार्थक है। अतः आनन्दमय शब्दका अर्थ जीव नहीं हो सकता॥ १३॥

गोविन्दभाष्य—न ह्यानन्दविकारत्वादानन्दमयः। कुतः? प्राचुर्यादानन्दस्य *तत्प्रकृतवचने मयभिति* (पा॰सू॰ ५/४/२१) प्राचुर्येऽर्थे मयड्विधानात्। न च विकारे मयडस्तु। द्व्यचश्छन्दसीति नियमाद्बहुस्वरादविकारार्थकस्य तस्याप्राप्तेः। न च दुःखात्यसद्भावः, *'एष सर्वभूतान्तरात्मापहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायण'* (सु॰उ॰ ७/१२) इति सुबाल श्रुतेः। *'परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेश'* (वि॰पु॰ ६/५/८६) इति स्मृतश्च। तस्मात् प्रकृत्यर्थप्रभूतत्वमेवात्र प्राचुर्यम्। प्रचुरप्रकाशो रविरिति स्वरूपे च युज्यते प्रचुरशब्दः। तस्मादानन्दमयो न जीवः॥ १३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आनन्दका विकार होनेके कारण ब्रह्म आनन्दमय नहीं हैं अर्थात् आनन्दका विकार इस अर्थमें मयट् प्रत्यय नहीं है, तब क्या है? इसका उत्तर यह है कि *'तत्प्रकृतवचने मयट्'* (पा॰सू॰ ५/४/२१) अर्थात् प्रकृतोपाधिक (प्रकृत अत्यन्त प्रस्तुत) अर्थमें वर्त्तमान प्रथमा समर्थ प्रातिपादिकसे स्वार्थमें मयट् प्रत्यय होता है। इस पाणिनीय सूत्रके अनुसार यहाँ मयट् प्रत्यय विकार अर्थमें नहीं, अपितु प्राचुर्यार्थमें व्यवहृत हुआ है। इस प्रकार आनन्दमयका अर्थ हुआ—'प्रचुर आनन्दमय' अथवा 'आनन्दपूर्ण ब्रह्म'। पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि विकारार्थमें ही यहाँ मयट् प्रत्यय है, अतः आनन्दका विकारी जीव आनन्दमय है। ऐसा प्रयोग किस प्रकार हो सकता है, क्योंकि यहाँ कोई ऐसा विनिगमन नियम, सूत्र अथवा प्रस्ताव तो नहीं है कि विकारार्थमें ही मयट् प्रत्यय होगा। पाणिनि कह रहे हैं—*'द्व्यचश्छन्दसि'* (४/३/१५०) (षष्ठी समर्थ द्वयच् प्रातिपादिकसे छन्दो विषयमें विकार और अवयव अर्थ होनेपर मयट् प्रत्यय होता है) अर्थात् दो अच् (स्वर) विशिष्ट शब्दके उत्तरमें विकार अर्थमें मयट् प्रत्यय होता है, यहाँ आनन्द शब्द तीन अर्थात् बहु-स्वर-विशिष्ट है। नियमानुसार यहाँ विकार अर्थमें मयट् नहीं हो सकता है। पुनः आपत्ति यह है कि सुबाल श्रुति (७/१२) कहती है कि ब्रह्ममें दुःखका असद् भाव है, ब्रह्ममें दुःख नहीं रहता है, वह समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा, पापोंका ध्वंस करनेवाला, दिव्य अर्थात् अलौकिक, एक एवं नारायण नामसे प्रसिद्ध है। विष्णुपुराण (६/५/८६) में कहा है कि वे समस्त कारणोंसे अतीत हैं, उनमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशरूप पाँच प्रकारके क्लेशोंकी गन्धमात्र भी नहीं है। वे

कार्य-कारणके नियन्ता हैं। इन सब वाक्योंसे 'प्राचुर्य' अर्थका बोध होता है। अतः प्रकृतीभूत आनन्द शब्दका अर्थ यहाँ 'प्रभूतत्व' अथवा 'प्राचुर्य' है, अथवा प्रचुर-प्रकाश रवि शब्दके समान यहाँ स्वरूप अर्थमें भी 'मयट्' प्रत्यय हो सकता है। इसलिए आनन्दमय शब्दका अर्थ जीव नहीं है॥ १३॥

सूक्ष्मा-टीका—नित्यं वृद्धेति सूत्रे मयड्वेतयोरिति सूत्राद्भायामिति नानुवर्त्तते। कथमन्यथा विकारशब्दान्नेति चेदिति पूर्वपक्षः। कथं वा द्व्यचश्छन्दसीतिनियमश्च संभवेत्। दीक्षितास्तु व्याचख्युः। अनुवृत्त्यापि वा भाषायां नित्यं। अन्यत्र तु कादाचित्कः इत्याश्रित्य मयट् सुसाधुरिति। ततश्च नित्यं वृद्धेत्यनेन मयटि सिद्धे द्व्यचश्छन्दसीत्यारभ्यते। तेनानन्दशब्दाद्बह्वचो विकारे न मयट् किन्तु तत्प्रकृतेति सूत्रेणैव स इत्यर्थः। एतदत्र बोध्यम्—अन्नरसमनोविज्ञानानन्दशब्देभ्यः प्राचुर्ये मयट्। प्राणशब्दात्तु विकारे सः। ननु प्राणशब्दादिव मनः शब्दादपि विकारे मयट् स्याद्द्व्यच्त्वादिति चेन्न। यजुरादीनामविकृताक्षरराशित्वेन मनोविकारत्वाभावात्। किन्तु मनोवृत्तावाविर्भावित्वेन तत्प्राचुर्यात्तत्र सः। यद्यपि विज्ञानं जीवचैतन्यमानवमिति तत् प्राचुर्यं न सम्भवेत्। तथापि धर्मभूतज्ञानद्वारास्य व्याप्तिरस्तीति। तेन प्राचुर्यमादाय तद्वाचकात् प्रत्यय इत्याहुः। एष इति। अपहतपाप्मा नित्यनिरस्तनिखिलदोषः। पर इति श्रीविष्णुपुराणे। किञ्च प्रचुरप्रकाशो रविरित्यत्र प्रचुरशब्दः स्वरूपपर्यवसायी दृष्टस्तत्र सति आनन्दमयः आनन्दस्वरूपः। एवं विज्ञानमयश्च बोध्यः। छन्दसि दृष्टानुविधिरिति तु वदस्ति॥ १३॥

सूक्ष्मा-सार—'*नित्यं वृद्धशरादिभ्यः*' इस सूत्रके अनुसार मयट् प्रत्ययका निर्देश रहनेपर भी पुनः '*द्व्यचश्छन्दसि*' सूत्रका विधान किया गया, तदनुसार वेद (छन्द) में दो स्वर विशिष्ट (दो स्वरोंसे युक्त) शब्दके ही उत्तरमें विकारार्थ मयट् प्रत्यय होगा। इसी विधानके कारण यहाँ बहु-स्वर-विशिष्ट आनन्दमय शब्दमें विकारार्थ मयट् प्रत्यय हो नहीं सकता। इतना ही नहीं, आनन्दमय शब्दका अर्थ जीव भी नहीं हो सकता, क्योंकि जीवका दुःखसे सम्पर्क है, ब्रह्मका इससे लेशमात्र भी सम्पर्क नहीं है और उनकी असत्ता भी नहीं है, वे नित्य हैं, सुबाल श्रुति एवं विष्णुपुराणमें जो कहा गया है, उसका निष्कर्ष यह है कि आनन्दमय शब्दकी प्रकृति आनन्द है, उसका प्राचुर्य जिसमें है, वही आनन्दमय है। प्रचुर शब्द स्वरूपार्थमें भी प्रयुक्त होता है, जिस प्रकार 'प्रचुरप्रकाशो रविः' प्रचुर-प्रकाश रवि कहनेसे प्रकाश-स्वरूप

रविको ही जाना जाता है। इसलिए आनन्दमय जीव नहीं, परमेश्वर है।

पूर्वपक्षियोंकी आशङ्का है कि *'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः'* सूत्रके अनुसार वृद्धसंज्ञक (*वृद्धिर्यस्याचायमादिस्तद् वृद्धम्,* पा॰सू॰ १/१/७३)—जिस शब्दके आदिमें वृद्धि वर्ण अर्थात् आ, ऐ, ओ हो तो वह वृद्धसंज्ञक होता है, शब्द एवं शर इत्यादि शब्दोंके उत्तरमें नित्य ही विकारार्थमें मयट् प्रत्यय होता है, इसलिए आनन्दका विकार आनन्दमय है। आनन्द शब्दका अर्थ है ब्रह्म। तब उसका विकार जीवसे भिन्न और कौन होगा? यह कहा जा सकता है कि *'मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः'* (षष्ठी समर्थ प्रकृतिमात्रसे भक्ष्य और आच्छादन अर्थको छोड़कर विकार और अवयव अर्थमें विकल्पसे लोकमें मयट् प्रत्यय होता है) सूत्रसे 'भाषायाम्' अर्थात् लौकिक प्रयोगमें इसकी अनुवृत्ति (सूत्रार्थ पूर्ण करने हेतु पूर्वशास्त्रसे पदोंका अनुकर्षण) द्वारा मयट् प्रत्यय होता है, परन्तु ऐसा नहीं है। यदि ऐसा होता, तो 'विकार शब्दान्नेति चेत्' (विकार वाचक मयट् प्रत्ययसे निष्पन्न आनन्दमय शब्दका अर्थ ब्रह्म नहीं है) यह पूर्वपक्ष सङ्गत नहीं होता। किस प्रकार? वही बतला रहे हैं—यदि वैदिक प्रयोगमें विकारार्थमें मयट् प्रत्यय नहीं होता, तब आशङ्का हो ही नहीं सकती थी। मात्र इतना ही नहीं, *'द्व्यचश्छन्दसि'* सूत्रसे वैदिक प्रयोगमें दो स्वर विशिष्ट शब्दोंमें मयट् होगा, अन्यमें नहीं, इस नियमकी भी सङ्गति किस प्रकार होगी? भट्टोजी दीक्षित् (पाणिनीय सूत्रोंके टीकाकार) व्याख्या करते हैं—'भाषायाम्', इसकी अनुवृत्ति करके भी लौकिक प्रयोगमें मयट् प्रत्यय नित्य होता है। वैदिक प्रयोगमें कदाचित् मयट् प्रयोग देखा जाता है। इस मतको लेकर पूर्वपक्षियोंके मतमें आनन्दमय शब्दमें विकारार्थमें मयट् प्रत्यय निर्दोष प्रयोग है। जो भी हो, *'नित्यं वृद्ध'* इत्यादि सूत्रके द्वारा मयट् प्रत्ययके सिद्ध रहनेपर भी 'द्व्यचश्छन्दसि' यह भिन्न नियम किया गया है। इस प्रकार तीन स्वरोंसे युक्त आनन्द शब्दके उत्तरमें विकारार्थ मयट् प्रत्यय हो ही नहीं सकता, तब *'तत्प्रकृतेवचन मयट्'* सूत्रसे यहाँ प्रचुरार्थमें ही मयट् प्रत्यय है। इस स्थलपर यह भी जान लेना चाहिये

कि अन्न, रस, मनस, विज्ञान एवं आनन्द शब्दोंके उत्तरमें मयट् प्रत्यय प्राचुर्य अर्थमें ही है, जब कि प्राण शब्दके उत्तरमें यह विकार अर्थमें है।

यदि कहो कि प्राण शब्दके समान मनस् शब्द भी तो दो स्वरविशिष्ट है, अतः इसके भी उत्तरमें मयट् प्रत्यय होगा, नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि वेदमें मनस् को यजुः कहा गया है। यथा 'मनोयजुः प्रपद्ये'। यजुः इत्यादि अविकृत अक्षर हैं (इनका विकार नहीं है)। इसलिए मन विकार पदार्थ नहीं है, तब क्या है? अन्तःकरण-वृत्तिमें मनका प्रायशः आविर्भाव है, इसलिए यहाँ मयट् प्रत्यय प्राचुर्य अर्थमें ही है। वादी पुनः आशङ्का करते हैं कि यदि विज्ञान शब्दमें मयट् प्रत्यय है, तो यह असाधु है, क्योंकि स्मृति कहती है *'विज्ञानं जीवचैतन्यमानवम्'* अर्थात् विज्ञान शब्दका अर्थ है अणुसे उत्पन्न जीव-चैतन्य। तब अणुमें प्राचुर्य किस प्रकारसे सम्भव है? ऐसा होनेपर भी उसके (विज्ञानके) धर्म ज्ञानको द्वार बनाकर वही (विज्ञान ही) सर्वत्र है, इसी कारण प्राचुर्य अर्थमें विज्ञान शब्दके उत्तरमें मयट् प्रत्यय है। ऐसी बात कही जाती है। 'अपहतपाप्मा' इत्यादि प्रमाण इस बातके परिचायक है कि वह आनन्दमय ब्रह्म (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) समस्त प्रकारके सम्पर्कसे रहित हैं। जैसा कि विष्णुपुराणमें कहा है—*'परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेश।'* और एक बात है—प्रचुर-प्रकाश-रवि कहनेपर जिस प्रकार प्रचुर शब्दके स्वरूपको जानकर प्रकाश-स्वभाव रविको समझा जाता है, उसी प्रकार आनन्दमय शब्द भी आनन्दस्वरूपका बोधक है। इसी प्रकार विज्ञानके सम्बन्धमें भी जानना चाहिये। ऐसा कहते हैं कि वेदमें प्रयोगके अनुसार कल्पना रहती है॥ १३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई-कोई आपत्ति कर सकते हैं कि आनन्दमय शब्द मयट् प्रत्ययके योगसे निष्पन्न हुआ है और मयट् प्रत्यय विकार अर्थमें होता है, अतः जो आनन्दका विकार है, उसीको आनन्दमय कहा गया है। इस प्रकार यहाँ आनन्दमय कहनेसे ब्रह्मका निदर्शन न करके जीवका ही निदर्शन है—इस प्रकार पूर्वपक्षका निराकरण

करनेके लिए सूत्रकारने स्पष्ट रूपसे सूचित कर दिया है कि आनन्दमय शब्द विकारार्थमें नहीं है, अपितु प्राचुर्यार्थमें है। भाष्यकार श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने भी अपने भाष्य और टीकामें पाणिनिजीके विभिन्न सूत्रोंका सम्यक् रूपसे विचार करके सूत्रकारका अभिप्राय भलीभाँति अभिव्यक्त कर दिया है, जिसे वहीं देखा जाना चाहिये। तब भी यदि कोई यह सन्देह प्रकाशित करता है कि ब्रह्ममें प्रचुर आनन्द रहनेपर भी किञ्चित् दुःखका सम्पर्क रह सकता है, इस सन्देहको भी श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने विभिन्न श्रुति, स्मृति एवं पुराण-वाक्योंके द्वारा प्रमाणित कर दिया है कि ब्रह्ममें दुःखका लेशमात्र भी नहीं रह सकता। वह सर्वदा सम्पूर्ण आनन्दमय है। अपनी टीकामें उन्होंने उदाहरणपूर्वक और भी स्पष्ट कर दिया है कि प्रचुर-प्रकाश रवि कहनेपर जिस प्रकार प्रचुर शब्द रविके स्वरूपमें ही पर्यवसित दिखायी देता है, उसी प्रकार यहाँ भी ब्रह्म आनन्दमय स्वरूप है, यह जानना चाहिये।

श्रीमन्बलदेव विद्याभूषण प्रभुने अपने भाष्यमें पाणिनिके *'तत् प्रकृतवचनेमयडिति'* इस सूत्रको उद्धृत किया है, यह विषय प्रणिधान (ध्यान देने) के योग्य है। इस सूत्रका अर्थ है *'प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतं तस्य वचनं प्रतिपादनम्। भावे अधिकरणे वा ल्युट्।'* अर्थात् प्रचुरतासे जो वचन प्रस्तुत किया जाय, उसे प्रकृत वचन कहते हैं अर्थात् प्राचुर्य प्रतिपादक अर्थमें मयट् होता है। इस सूत्रमें तत् पद प्रथमान्त है, बहुल रूपमें जो उपस्थित होता है (जो बहुल रूपमें उपस्थितिका प्रतिपादन करते हैं), वही प्रकृत वचन है। अतः यहाँ मयट् प्रत्यय है।

श्रील जीवगोस्वामी इस सूत्रकी व्याख्यामें और भी एक पूर्वपक्षका निराकरण कर रहे हैं—

"ननु विकारार्थक मयट् प्रवाहान्तः पतितत्वादकस्मात् 'अर्द्धजरतीवत्' प्राचुर्यार्थो न युज्यते—मैवं—पूर्वोदाहृताभ्यासबलात् युज्यत एव। प्रवाहप्रवेशे तु ब्रह्मपुच्छमित्यत्र पुच्छ शब्दोऽपि दूष्येदित्यवोचाम—किंवा अन्नमयादिष्वपि न सर्वत्र विकारार्थताधिगम्यते। तन्मतेऽपि प्राणमय एव त्यक्तत्वात्। तत्र हि प्राणापानादिषु प्राणवृत्तेः प्राचुर्यादेव मयट्।" (सर्वसंवादिनी, भगवत्-सन्दर्भ)

विकारार्थक मयट्-प्रवाह अन्तःपतित (पठित) होनेसे अकस्मात् यह प्रत्यय अद्धजरती न्याय (आधी बूढ़ी और आधी तरुणी स्त्रीका निर्माण जिस प्रकार असङ्गत है, वैसे ही एक ही प्रभामें पठित कुछ मयट् प्रत्ययोंको विकारार्थक और कुछको प्राचुर्यार्थक मानना असङ्गत है) के समान प्राचुर्यार्थमें युक्त नहीं हो सकता? ऐसा नहीं है। पूर्वमें उदाहृत-अभ्यासके बलसे यही युक्त है। प्रवाह-प्रवेशमें तो ब्रह्म पुच्छ है—यहाँ पुच्छ शब्द भी इषित है, ऐसा कहा, अथवा अन्नमयादियोंमें भी सर्वत्र विकारार्थता प्राप्त नहीं होती। उस मतमें भी प्राणमयको छोड़ देनेसे वहाँ भी प्राण, अपान आदि प्राणवृत्तियोंमें प्राचुर्यके कारण ही मयट्का प्रयोग है।

श्रीपाद रामानुजाचार्यने अपने श्रीभाष्यमें लिखा है—*'तत्प्रचुरत्वं हि तत्प्रभूतत्वम् तच्चेतरस्य सतां नावगमयति। अपितु तस्याल्पत्वं निवर्तयति।'* अर्थात् आनन्दकी प्रचुरता प्रभूतत्वका बोध कराती है, उसके अतिरिक्त उसमें दूसरेकी दुःखमय सत्ताकी प्रतीति नहीं होती, अपितु उसकी अल्पताका भी निराकरण करती है।

श्रुति भी कह रही है कि वे रसस्वरूप हैं। उन रसस्वरूपको प्राप्त होनेपर जीव आनन्दयुक्त हो जाता है। यदि वह आनन्दमय न रहे, तो क्या कोई जीवित रह सकता था अथवा प्राणन-क्रिया कर सकता था? यह आनन्द ही सबको आनन्द प्रदान करता है। 'यह आनन्द ही आनन्दकी मीमांसा है', इत्यादि बहुत-सी श्रुतियोंमें आनन्दमय शब्द एक ही अर्थमें पुनः-पुनः कहा गया है।

ब्रह्मसंहिता (५/१) में द्रष्टव्य है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।

अर्थात् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण परम ईश्वर हैं। वे सत्-चित्-आनन्द विग्रह हैं।

श्रीमद्भागवत (१०/१४/२१) में ब्रह्म-स्तवमें ब्रह्माजीके वाक्य भी उल्लेखनीय हैं—

क्व वा कथं वा कति वा कदेति।
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥

अर्थात् जिस समय आप अपनी योगमायाका विस्तार करके लीला गान करने लगते हैं, उस समय त्रिलोकीमें ऐसा कौन है, जो यह जान सके कि आपकी लीला कहाँ, किसलिए, कब और कितनी होती है।

श्रीभगवान्‌का स्वरूप जो नित्य सुखमय है, वह भी ब्रह्माजी वर्णन कर रहे हैं—*'त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते'* (श्रीमद्भा॰ १०/१४/२२) अर्थात् आप परमानन्द, परम ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त हैं। यह मायासे उत्पन्न एवं विलीन होनेपर भी आपमें आपकी सत्तासे सत्यके समान प्रतीत होता है।

श्रीमन्महाप्रभुके वचन हैं—*'आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनम्'* (शिक्षाष्टक) अर्थात् श्रीनामसङ्कीर्त्तन आनन्द-समुद्रको परिवर्धित करता है, इसके प्रत्येक पदमें पूर्ण अमृतके आस्वादनका लाभ होता है।

इस प्रकार भगवान् ही आनन्दस्वरूप हैं॥ १३॥

सूत्र—तद्धेतुव्यपदेशाच्च॥ १४॥

सूत्रार्थ—'तस्य'—उसका अर्थात् जीवके आनन्दका, 'हेतु'—आनन्दमय (ब्रह्म) कारण हैं, व्यपदेशात्—संज्ञा अथवा निर्देशके कारण भी समझना होगा कि आनन्दमय जीव नहीं है॥ १४॥

सूत्रानुवाद—आनन्ददाता परमात्मा आनन्दके कारण हैं, इसलिए जीवसे भिन्न रूपसे उनका निर्देश है॥ १४॥

गोविन्दभाष्य—*'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष एवानन्दयाति'* (तै॰ २/७) इति जीवस्यानन्दस्य हेतुवानन्दमय इति व्यपदेशाच्च जीवादानन्दयिता भिद्यते। इहानन्दशब्दनानन्दमयो दृश्यः॥ १४॥

गोविन्दभाष्य—यदि यह आकाश अर्थात् परमात्मा (ब्रह्म) आनन्द-स्वभाव न होते, तो कौन अपान-क्रिया करता और कौन प्राण धारण करता? ये परमात्मा ही समस्त जीवोंमें आनन्दका उद्भावन (उत्पन्न) करते हैं। अतएव जीवोंके आनन्दका हेतु होनेसे उन्हें आनन्दमय नामसे जाना जाता है। इस कारणसे आनन्ददाता ब्रह्म जीवसे भिन्न हैं। *'को ह्येवानात्'* (तै॰ २/७) इत्यादि श्रुतिमें जो आनन्द शब्द प्रयुक्त है, उसे आनन्दमय अर्थमें ग्रहण करना चाहिये॥ १४॥

सुक्ष्मा-टीका—को हीति। अन्यादपानचेष्टां कः कुर्यात्। प्राण्यात् प्राणचेष्टाञ्च कः कुर्यात्। यद्येष आकाशः। परमात्मानन्दस्वभावो न स्यात्। आनन्दमयत्वादेव फलनिरपेक्षो लोकयात्रां निर्वाहयतीति *'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'* इति वक्ष्यति। आनन्दयातीति। दैर्घ्यं छान्दसं। स्फुटमन्यत्। इहानन्दशब्देनेति। वसन्ते ज्योतिषा यजेतेत्यत्र ज्येतिःशब्देन ज्योतिष्टोम इव को हीत्यादावानन्दशब्देनानन्दमयो बोध्यः॥१४॥

सूक्ष्मा-सार— *'को ह्येव'* इत्यादि श्रुतिके अन्तर्गत 'अन्यात्' पद अन् धातुमें विधिलिङ्के 'यात्' प्रत्ययसे निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है 'तो कौन अपान-चेष्टा करता?' इसी प्रकार प्राण्यात्का अर्थ है—'तो कौन प्राण चेष्टा करता?' यदि ये आकाश अर्थात् सर्वव्यापी परमात्मा आनन्द-स्वभाव न होते। वे आनन्दमय होनेके कारण ही फल-प्राप्तिके प्रति निरपेक्ष रहकर लोकयात्राका निर्वाह करते हैं—इस तथ्यको *'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'* सूत्रमें स्पष्ट किया जायेगा। 'आनन्दयाति' यहाँ आनन्दयति न होकर वैदिक प्रयोगके अनुसार छान्दस् दीर्घका प्रयोग है।

श्रुति (तै॰ २/७) में निहित आनन्द शब्द आनन्दमय अर्थमें प्रयुक्त है। जिस प्रकार *'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषायजेत्'* (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १०/२/५) अर्थात् ज्योतिष्टोमका अभ्यास वसन्तरूप कालका विधान करनेके लिए है। इस श्रुतिमें ज्योतिः शब्दसे ज्योतिष्टोम जाना जाता है, (लोक व्यवहारमें सत्यभामाके लिये 'भामा' शब्दका प्रयोग होता है) उसी प्रकार 'को हि' इत्यादि श्रुतिके अन्तर्गत आनन्द शब्दको आनन्दमय अर्थमें जानना चाहिये॥१४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—आनन्दके हेतु परमात्मा हैं। श्रुतिमें आनन्दमय शब्दका प्रयोग ब्रह्मको लक्ष्य करके ही है, जीवको नहीं। यदि आकाशरूपी सर्वव्यापी परमात्मा आनन्दस्वभाव न होते, तो कौन जीवित रह सकता था? परमात्मा ही सबमें आनन्द उत्पन्न करते हैं, इसलिए वे आनन्दमय स्वरूप हैं।

श्रीलजीव गोस्वामीने भगवत्-सन्दर्भके विचारमें अपनी सर्वसंवादिनी टीकामें जो लिखा है, उसका सार यह है कि, यदि आनन्द शब्दके द्वारा शुद्ध ब्रह्म अभिमत होते हैं, तो उनका विकार सम्भव नहीं हो सकता। इसीसे विकारार्थता देखी नहीं जाती। इस सम्बन्धमें अन्य हेतु

प्रदर्शन करते हुए सूत्रकार वर्त्तमान सूत्रमें कह रहे हैं—'ब्रह्म ही आनन्दके मूल हैं' इस व्यपदेश अर्थात् निर्देशसे भी यह सुचारु रूपसे अभिव्यक्त है कि यहाँ प्राचुर्य अर्थमें मयट् प्रत्यय है, विकार अर्थमें नहीं। आनन्दके हेतुके सम्बन्धमें श्रुतिका उपदेश है—*'एष ह्येवानन्दयाति।'* दृष्टान्त इस प्रकार है कि जगत्में प्रचुर-प्रकाश सूर्य ही सबको प्रकाशित करता है, किन्तु तुच्छ प्रकाश तारे आदिका इसमें सामर्थ्य नहीं है। प्रकाश-विकार जलादिमें भी ऐसा सामर्थ्य नहीं है। प्रचुर आनन्द लक्षणविशिष्ट ब्रह्म ही सबको आनन्दित करते हैं। इस हेतुके व्यपदेशके द्वारा प्राचुर्यत्वका ही स्वरूपातिशयपरत्व प्रकाश पाता है।

श्रीमद्भागवत (११/२६/१) में द्रष्टव्य है—*'आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम्।'* अर्थात् अन्तःकरणमें स्थित मुझ आनन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

श्रीचैतन्यचरितामृत (आ॰ ४/६०) में भी वर्णन है—*ह्लादिनी द्वारा करे भक्तेर पोषण।* अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण ह्लादिनीशक्तिके द्वारा भक्तोंका पोषण करते हैं अर्थात् उनकी भक्तिकी पुष्टि करते हैं।

श्रीविष्णुपुराणमें (१/१२/६९)—*'ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।'* अर्थात् हे भगवन्! आपकी स्वरूपभूता ह्लादिनी, सन्धिनी तथा सम्वित्—ये तीनों शक्तियाँ सबके अधिष्ठानरूप आपमें ही रहती हैं (जीवोंमें नहीं)॥ १४॥

सूत्र—मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते॥ १५॥

सूत्रार्थ—मान्त्रवर्णिकम्—मन्त्र-वर्णों द्वारा प्राप्त ब्रह्म ही इस कारणसे आनन्दमयरूपमें, 'गीयते'—कथित (प्रतिपादित) होते हैं, अतएव वे जीव नहीं हैं॥ १५॥

सूत्रानुवाद—मन्त्राक्षरोंमें जिनका वर्णन है, उन ब्रह्मका ही यहाँ आनन्दमय रूपमें प्रतिपादन किया जाता है॥ १५॥

गोविन्दभाष्य—सत्यं ज्ञानमिति (तै॰ २/१) मन्त्रवर्णोक्तं ब्रह्मैव यस्मादानन्दमय इति गीयतेऽतो नासौ जीवः। अयं भावः। ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यु (तै॰ २/१) पासकस्य जीवस्य प्राप्य ब्रह्मोपक्रम्य तदेव सत्यमित्यादि (तै॰ २/१) मन्त्रेण विशेषितम्। तस्यैवेवहानन्दमयशब्देन ग्रहणमुचितम् (तै॰ २/१)। तस्माद्वा

एतस्मादित्यादिभिरुत्तरोत्तरवाक्यैस्तस्यैवोपक्रान्तस्य प्रपञ्चनात्। ततश्च प्राप्यं ब्रह्म प्राप्तजीवादन्यदेवेति नानन्दमयस्य जीवत्वम्॥ १५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* (तै॰ २/१) (अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त हैं।)—इस प्रकार इन मन्त्रवाक्योंमें वर्णित ब्रह्म ही हैं, इसीसे आनन्दमय रूपमें उनका बार-बार उल्लेख है। अतएव वे आनन्दमय जीव नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि श्रुतिमें कहा है—'जो ब्रह्मवित् है, वह परमात्माको प्राप्त होता है' (तै॰ २/१)। इस प्रकार ब्रह्मोपासक जीवका जो प्राप्य हैं, उन ब्रह्मको उपक्रम करके *'तदेव सत्यं ज्ञानं'* (तै॰ २/१) (वे सत्यस्वरूप और ज्ञानस्वरूप हैं) इत्यादि मन्त्र उन ब्रह्मको ही सत्यस्वरूप और ज्ञानस्वरूप इत्यादि रूपोंमें विशेष करके (विलक्षण रूपमें) निर्देश करते हैं। अतः आनन्दमय शब्द उन ब्रह्मके लिए ही ग्रहण करना उचित है। फिर *'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः सकाशादाकाशः सम्भूतः'* (तै॰ २/५) इत्यादि उत्तरोत्तर (एकके बाद एक) वाक्योंके द्वारा उन्हीं आनन्दमय ब्रह्मका विस्तारसे वर्णन किया गया है, इस कारण भी आनन्दमय शब्दको परमात्माका वाचक जानना चाहिये। ऐसा होनेसे मन्त्रवर्णोक्त प्राप्य ब्रह्म (परमात्मा) और प्राप्तकर्त्ता जीव एक नहीं हो सकते। अतः आनन्दमय जीव नहीं है॥ १५॥

सूक्ष्मा-टीका—तस्यैवोपक्रान्तस्य ब्रह्मणः॥ १५॥

सूक्ष्मा-सार—*'तस्यैवेहानन्दमयशब्देन'* इति तस्य अर्थात् उन ब्रह्मका, जिनका उपक्रम किया गया है॥ १५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—'आनन्दमय' कहनेसे जीवको नहीं समझना चाहिये, इसीका प्रतिपादन करनेके लिए सूत्रकारने प्रस्तुत सूत्रमें पुनः कहा है कि मन्त्रवाक्योंमें जिन ब्रह्मके सन्दर्भमें अभिहित हुआ है, यहाँ आनन्दमय वाक्यमें भी उन्हीं ब्रह्मका गान किया गया है। श्रुतिके विभिन्न मन्त्रोंमें भी यही प्रतिपादित हुआ है। ये ही ब्रह्म आनन्दमय रूपमें निर्दिष्ट हैं, जीव नहीं।

श्रील जीवगोस्वामीने भगवत्-सन्दर्भ विचारमें सर्वसंवादिनीमें जो कहा है—उसका सार यही है कि मन्त्रवचनोंमें उदित ब्रह्म ही

आनन्दमयादिरूपमें कथित हैं, उस अधिकारपतितत्वके कारण। श्रीलजीव गोस्वामीने परमात्मसन्दर्भमें अन्नमयके स्थानपर आनन्दमय और अधिकारपतिके स्थानपर अधिकार पतितत्व लिखा है। पुनः *'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'*—इस श्रुतिवाक्यमें जीवके प्राप्यरूपमें ब्रह्म निर्दिष्ट हैं। 'तदेषाभ्युक्ता' (तत् = ब्रह्मको अभिमुख करके, एषा = ऋक् मन्त्र + उक्ता = अध्येतागण (पाठकों) द्वारा कहा हुआ, अर्थात् इस ऋक् वाक्यमें भी उन ब्रह्मको लक्ष्य करके उन्हींको प्रतिपाद्य रूपमें ग्रहण करके अध्येताके द्वारा यह उक्त है। अन्य प्रकरणमें भी *'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूतः'* (तै॰ २/५) (अर्थात् इसी आत्मासे आकाश हुआ) इस श्रुतिवाक्यमें भी 'आत्म' शब्दके द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्मका 'आत्म-तात्पर्य' में अवसान आनन्दमय ब्रह्मको ही दिग्दर्शित कर रहा है। कारण भी स्पष्ट ही है कि अन्नमय, रसमय इत्यादि वर्णनके बाद आनन्दमय ही सबसे अन्तरतममें परिसमाप्त हुआ है। इस प्रकार यहाँ पर्यवसानके कारण आनन्द विशेष उपलब्धियुक्त आनन्दका परब्रह्मत्व इन मन्त्रोंके द्वारा सिद्ध होता है।

श्रीमद्भागवत (८/३/१८) में गजेन्द्र-स्तुतिमें द्रष्टव्य है—*'मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय।'* अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष अपने हृदयमें जिनका निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं। उन सर्वैश्वर्यपूर्ण ज्ञानस्वरूप भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ॥ १५॥

अवतरणिका भाष्य—ननु मान्त्रवर्णिकं ब्रह्म चेज्जीवादन्यत् स्यात्तदा तस्यैवानन्दमयत्वसमर्थनेन जीवाशङ्कापनयः स्यान्न चैवमस्ति जीवस्वरूपस्यैवाविद्यातत्कार्य-निर्मुक्तस्य मन्त्रवर्णेन परामर्शात् तस्मादनतिरिक्तो जीवादानन्दमय इति चेत्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—वादीगण आशङ्का करते हैं कि अच्छा! यदि मन्त्रवचनोंमें वर्णित ब्रह्म जीवसे स्वतन्त्र (भिन्न) हैं, तब उनके आनन्दमयत्व समर्थनके द्वारा जीवरूपमें आशङ्का दूर हो, परन्तु ऐसा तो नहीं है, क्योंकि बद्धावस्थामें जीव आनन्दमय नहीं हो सकता, मुक्तावस्थामें जब अविद्या एवं अविद्याके कार्य क्लेशादिसे निर्मुक्त हो जाय, तब उसे (शुद्धावस्थापन्न—निर्विशेष चिन्मात्र एकरस शुद्धस्वरूपको) मन्त्रोंका प्रतिपाद्य जानकर उसे आनन्दमयसे अभिन्न कहेंगे। अतः

जीवसे आनन्दमय पुरुष भिन्न नहीं हैं—इस आशङ्काके उत्तरमें कहते हैं—

सूत्र—नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—'न इतरः'—मुक्तावस्थामें भी जीव आनन्दमय नहीं है, किसलिए? अनुपपत्तेः—असङ्गतिके कारण॥ १६॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्मसे भिन्न जीव मान्त्रवर्णिक असङ्गतिके कारण आनन्दमय नहीं हो सकता॥ १६॥

गोविन्दभाष्य—इतरो मुक्तावस्थोऽपि जीवो न मान्त्रवर्णिकः। कुत? अनुपपत्तेः। *'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता'* (तै॰ २/१) इति सहभोगश्रवणासिद्धेः। विविधं पश्यति चिद्यस्यासौ तेन विपश्चिता। पृषोदरादित्वात् पश्यशब्दस्य पस्त्रभावः। विविधभोगचतुरेण तेन सह संयुक्तः, सर्वान् कामानश्नुते भुङ्क्ते। अश् भोजने इत्यस्मात् श्नाप्रत्ययपरस्मैपदयोर्व्यत्ययेन श्नुप्रत्ययात्मनेपदयोर्विधानम्। व्यत्ययो बहुलमिति छन्दसि तथा स्मृतेः। सहभावोक्त्या भोगे भगवतो प्राधान्यम्। भक्तस्य तु प्राधान्यमनभिमतम्। *'वशे कुर्वन्ति मां भक्ताः सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा'* (श्रीमद्भा॰ १/४/६६) इत्यादि तद्वाक्यात्॥ १६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—साधारण जीवसे भिन्न मुक्तावस्थामें स्थित जीव भी मान्त्रवर्णिक (मन्त्रवर्णोक्त) आनन्दमय नहीं हो जाता, क्योंकि इसमें अनुपपत्ति (असङ्गति) है। किस प्रकारकी असङ्गति है?—*'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति'* (तै॰ २/१)। अर्थात् 'जीव उन सर्वज्ञ ब्रह्मके सहित (संयुक्त होकर) समस्त अभिलषित पदार्थोंका भोग करता है'—इस श्रुतिके साथ सङ्गति नहीं होती। बात यह है कि यदि मुक्त जीव आनन्दमय ब्रह्म होगा, तब ब्रह्मके साथ उसका ऐक्य, सहभोग होगा। श्रुतिमें जो 'विपश्चित्' शब्द है—उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'वि' अर्थात् विविधं पश्यति—देखता है, चित्त=आत्मा अर्थात् विविधको देखनेवाली बुद्धि जिसकी है, वह विपश्चित् है। तात्पर्य यह है कि विविध तत्त्वोंकी युगपत् दर्शन शक्तिको ही विपश्चित् कहते हैं। 'पृषोदरादि' व्याकरणीय सूत्रसे पश्यत् पदके अवयव 'यत्' अंशका लोप करके पश्यके स्थानपर पश् होता है और तब विपश्चित्व शब्द बनता है। इस प्रकार अर्थ हुआ—वह ब्रह्मके साथ संयुक्त होकर विविध भोग

करता है। 'सर्वान्' अर्थात् समस्त काम्य भोग, 'अश्नुते' अर्थात् भोग करता है। 'उसमें स्वतन्त्र भोग करनेका सामर्थ्य नहीं है।' 'अश्नुते' शब्दकी व्युत्पत्ति दिखा रहे हैं—अश्—भोजनके लिए (भोग अर्थमें) यह धातु क्र्यादिगणीय परस्मैपदी है। इसके उत्तरमें लट्–तिप् करनेपर 'अश्नाति' बनता है, किन्तु वेदमें *'व्यत्ययो बहुलम्'* (पा॰सू॰ ३/१/८५) छन्द (वेद) के विषयमें विकरणों (विकरण अर्थात् गणसूचक वर्णस्वरूप प्रत्यय) की बहुलतासे व्यत्यय (विपर्यय) होता है अर्थात् बाहुल्यमें तिङ् का व्यतिक्रम और आगमका भी व्यतिक्रम होता है। इसलिए यहाँ आत्मनेपद है। 'श्ना' के स्थानपर 'श्नु' का आगम हुआ है। यहाँ इस श्रुतिमें *'सह ब्रह्मणा भोगान् अश्नुते'* द्वारा भोगमें सह–भाव कहा गया है, इसलिए प्रधान एवं गुणी भाव (गौण) सूचित होता है। इस स्थलपर भगवान्‌का प्राधान्य है, किन्तु जीवका—भक्तका प्राधान्य अभिमत (सम्मत) नहीं है। किसलिए? श्रीमद्भागवतमें प्रमाण है, यथा—*वशे कुर्वन्ति मां भक्ताः सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा* (श्रीमद्भा॰ ९/४/६६) अर्थात् जिस प्रकार साध्वी स्त्रियाँ सच्चरित्र पतिको अपने वशमें कर लेती हैं, उसी प्रकार भक्तगण अपनी भक्ति द्वारा मुझे वशीभूत कर लेते हैं। इस प्रकार अप्रधान ही प्रधानको वशमें करता है। अतः भक्तका अप्राधान्य ही है। और यदि *'सहयुक्तेऽप्रधाने'* (पा॰सू॰ २/३/१९, सहार्थसे युक्त अप्रधानमें तृतीया विभक्ति होती है)—इस पाणिनीय सूत्रसे अप्रधानमें तृतीया विभक्ति है, तथापि प्रधान, अप्रधान भावके विवक्षाधीन (कहे जानेकी इच्छाके अधीन) होनेसे यहाँ सहयुक्त अप्रधानमें एक अन्य सूत्र (सहार्थमें) है—इस प्रकारसे योग विभक्ति द्वारा उपपत्ति जानना चाहिये॥ १६॥

सूक्ष्मा–टीका—नेतर इति। बद्धजीवादितरो मुक्तो जीवो न मान्त्रवर्णिक इत्यर्थः। *'वशे'* इति श्रीभागवते॥ १६॥

सूक्ष्मा–सार—बद्ध जीवसे भिन्न मुक्त जीव मान्त्रवर्णिक नहीं है, यथा श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है॥ १६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्ष था कि जीव बद्धावस्थामें आनन्दमय न हो, पर मुक्तावस्थामें उसे तो आनन्दमय कहा जा सकता है। इस

पूर्वपक्षके निराकरणके लिए सूत्रकारने प्रस्तुत सूत्रमें दिग्दर्शन किया है कि यह सम्भव नहीं है। मुक्तावस्थामें भी जीवके आनन्दमयत्वकी उपपत्ति (सङ्गति) नहीं हो सकती, क्योंकि श्रुतिमें सर्वज्ञ ब्रह्मके साथ जीवके भोगकी बात कही गयी है। इसलिए मुक्तावस्थामें आनन्दमय होनेपर भी जीवका ब्रह्मके साथ जब ऐक्य नहीं है, तब ब्रह्मके साथ भोगकी बात किस प्रकार कही जा सकती है? मुक्तावस्थामें भी उसमें सर्वज्ञता नहीं हो सकती, इसलिए विपश्चित्त्व भी नहीं हो सकता, तदर्थ कोई प्रमाण भी नहीं है।

श्रीमद्भागवत (१०/८७/१४) में श्रुति-स्तवमें भी देखा जाता है—*जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां त्वमसि यदात्मना समवरुद्ध समस्त भगः।* अर्थात् आत्मशक्तिक्रम मायातीत श्रीभगवान्में स्वरूपतः समस्त ऐश्वर्य अवरुद्ध हैं॥ १६॥

सूत्र—भेदव्यपदेशाच्च॥ १७॥

सूत्रार्थ—'भेदव्यपदेशात्'—जीव एवं आनन्दमयका प्रभेदत्व (भिन्नत्व) कहा गया है, इस उक्तिके कारण 'च'—भी, आनन्दमय जीववाचक नहीं हैं॥ १७॥

सूत्रानुवाद—जीवसे ब्रह्मके भेदका उल्लेख होनेसे आनन्दमय निश्चय ही जीव नहीं है॥ १७॥

गोविन्दभाष्य— *'रसो वै स, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'* (तै॰ २/७) इति तस्यैव मान्त्रवर्णिकस्यानन्दमयस्य रसप्राप्तेः तस्य लभ्यस्य लब्धुर्जीवान्मुक्तावस्थादपि भेदोक्तेश्च मान्त्रवर्णिकोऽसावन्य एव। *'ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्नोति'* इत्यादिष्वपि (बृ॰आ॰ ४/४/६) न मुक्तस्य ब्रह्माभेदः। ब्रह्माप्ययस्य ब्रह्मभूयानन्तरभावित्वात्। किन्तु ब्रह्मसदृशः सन्नित्येवार्थः। *'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'* (मु॰ ३/१/३) इति श्रुतेः। *'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः'* (श्रीगी॰ १४/२) इत्यादि स्मृतेश्च। सादृश्येऽप्येव शब्दोऽस्ति। वेव यथा तथैवेवं साम्ये (अ॰को॰ ३/४/१०) इत्यनुशासनात्॥ १७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'रसो वै स रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवतीति'* (तै॰ २/७)—वे परमेश्वर श्रीहरि रसस्वरूप हैं। उपासक उन रसको प्राप्त होनेपर नित्य आनन्दमय रहता है। यह श्रुति उसी मान्त्रवर्णिक

आनन्दमयके रस-प्राप्तिके विषयमें कह रही है। यहाँ लभ्य—उन रसस्वरूप श्रीहरिसे लब्धा अर्थात् रसलाभकारी (रस प्राप्त करनेवाले) जीवका जो पार्थक्य है, वह स्वतःसिद्ध है। यद्यपि यह जीव मुक्तावस्थापन्न है, तथापि आनन्दमयसे भिन्न है। अतः मान्त्रवर्णिक ये परब्रह्म अन्य हैं। *'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्नोति'* (बृ॰आ॰ ४/४/६) 'ब्रह्म होकर तब ब्रह्मको प्राप्त होता है' इत्यादि श्रुतियोंमें भी मुक्त पुरुषका ब्रह्मके साथ अभेद प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ब्रह्मभाव प्राप्त होनेके बाद ब्रह्म-प्राप्ति ही श्रुतिका तात्पर्य है, यदि ऐसा नहीं है तो *'ब्रह्मैव सन्'* अर्थात् 'ब्रह्म होकर' यह क्यों कहा? समाधानके लिए कह रहे हैं *'ब्रह्मसदृशः सन्नित्येवार्थः'* अर्थात् ब्रह्मके समान होकर, परन्तु सदृश (समान) वस्तु कभी एक नहीं होती, अतः जीव एवं आनन्दमयका भेद सुस्पष्ट है। 'सदृश अर्थ कहाँसे आ गया?' इसके लिए कहते हैं, *'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीति'* (मु॰ ३/१/३) जो निरञ्जन (निर्लिप्त) पुरुष हैं, वे परम साम्य (सादृश्य) को प्राप्त होते हैं—यह श्रुति प्रमाण है। *'इदं ज्ञानमुपाश्रिता मम साधर्म्यमागताः'* (श्रीगी॰ १४/२)। 'इस प्रकार तत्त्वज्ञान प्राप्त करके वह मेरे सादृश्य अथवा साधर्म्यको प्राप्त होता है। इस प्रकार स्मृतिवाक्य भी उसका समर्थन करता है। 'ब्रह्मैवसन्' इस श्रुतिके अन्तर्गत 'एव' शब्द सादृश्य अर्थमें है। सादृश्य-बोधक शब्दोंमें 'एव' शब्दका भी प्रयोग किया जाता है। यथा—वेव, यथा इत्यादि अर्थात् अथवा इव यथा, तथा, एव—ये साम्यार्थबोधक शब्द हैं, यह शब्दानुशासन है। शब्दानुशासन रहनेके कारण यहाँ सङ्गति हुई है॥१७॥

सूक्ष्मा-टीका—ननु तस्यैव सार्द्धमहमागमममितिवत् कल्पितेन सहभावेन तदाभाव्यमिति चेत्तत्राह। भेदेति। रस इति। मान्त्रवर्णिको हरिः। वै प्रसिद्धौ। रसः। शृङ्गारादिरसमूर्त्तिर्भवति। यं रसं लब्ध्वायं तदुपासक आनन्दी प्रशस्तानन्दभाक् भवतीति मोक्षे जीवस्य धर्मित्वं सिद्धम्। साधर्म्यं साम्यम्। स्फुटमन्यत्॥१७॥

सूक्ष्मा-सार—'तस्यैव' इत्यादि—आपत्ति है कि जिस प्रकार 'तस्यैव सार्द्धमहमागतम्' इत्यादि वाक्यमें 'तेन' पद न रहनेपर भी 'उसके साथ मैं आया हूँ'—इस प्रकार सह-भावकी कल्पना करके क्रियाका अन्वय

होता है, उसी प्रकार 'ब्रह्मणा सह अश्नाति' वाक्यमें भी जीवका ब्रह्मके साथ भोग समझना होगा, इसके खण्डनके लिए सूत्रकार और एक हेतुका निदर्शन कर रहे हैं—'भेदव्ययदेशाच्च' अर्थात् आनन्दमय और जीवके भेदकी उक्ति कही गयी है, कहाँ? उत्तर है *'रसो वै सः, रसं लब्ध्वा…'* इत्यादि श्रुतिमें। मान्त्रवर्णिक श्रीहरिकी रसरूपमें उक्ति है। श्रुतिके अन्तर्गत 'वै' शब्द प्रसिद्ध अर्थमें है अर्थात् वे जो आनन्दस्वरूप हैं, यह सभी लोग जानते हैं। *'रसो वै'* यहाँ रस शब्दका अर्थ है शृङ्गारादि रसकी मूर्त्ति। 'यं' अर्थात् जिन रसस्वरूप श्रीहरिको 'लब्ध्वा'—प्राप्त करके अयं—उनका उपासक आनन्दी अर्थात् प्रशस्त अथवा दिव्यानन्दका भागी होता है। अतएव मोक्षावस्थामें भी जीवकी धर्मवत्ता जानी जाती है, किन्तु आनन्दमय ब्रह्मका धर्म-धर्मी भाव नहीं है, साम्य है॥ १७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस प्रकार उपनिषदोंमें बतलाया कि आनन्दमय जीव नहीं, अपितु ब्रह्म हैं। रसस्वरूप श्रीहरिको प्राप्त करके ही जीव आनन्दका अधिकारी होता है। श्रुति कहती है 'ब्रह्म होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है। यहाँ 'ब्रह्म होकर' का अर्थ है 'ब्रह्मके सदृश होकर'। सदृश वस्तु एक नहीं होती। सूत्रकारने *'आनन्दमयोऽभ्यासात्'* सूत्रसे *'नेतरोऽनुपपत्तेः'* इत्यादि तक सूत्रोंमें परब्रह्मका ही आनन्दमयत्व स्थापित किया है। आनन्दमयत्व जीवका नहीं हो सकता। जीव एवं ब्रह्मका भेद ही व्यपदिष्ट (उल्लिखित) है—यह सूत्रकारने सम्यक् रूपसे प्रमाणित कर दिया है।

आचार्य शङ्करने इस आनन्दमयाधिकरण प्रसङ्गमें जो समस्त व्याख्या की है, उससे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उन्होंने सूत्रके मुख्यार्थको न समझकर गौणार्थकी कल्पना कर ली है। श्रीमन्महाप्रभुने भी कहा है—

उपनिषद सहित सूत्र कहे येई तत्त्व।
मुख्यवृत्त्या सेइ अर्थ परम महत्त्व॥

गौण वृत्त्ये येवा भाष्य करिल आचार्य।
ताहार श्रवणे नाश जाय सर्व कार्य॥

ताँहार नाहिक दोष, ईश्वर आज्ञा पाञा।
गौणार्थ करिल मुख्य अर्थ आच्छादिया॥
(चै॰च॰आ॰ ७/१०८-११०)

अर्थात् वेदान्तसूत्र उपनिषदके प्रमाणोंके सहित जिस तत्त्वको कहते हैं, उसका मुख्यावृत्तिसे ही अर्थ परम श्रेष्ठ होता है। श्रीशङ्कराचार्यने वेदान्तसूत्रोंका जो भाष्य रचा है, उसमें उन्होंने गौणवृत्तिके ही अर्थ ग्रहण किये हैं, जिसके सुननेसे समस्त कार्य अर्थात् परम कर्त्तव्य—भक्तिका नाश हो जाता है। ऐसा करनेमें श्रीशङ्कराचार्यका कोई दोष नहीं है। उन्होंने श्रीभगवान्की आज्ञा पाकर ही वेदान्तसूत्रोंके मुख्य अर्थोंको छोड़कर गौण-अर्थपूर्वक भाष्यकी रचना की है।

और विशेष बात यह भी है कि अपने गुरु श्रीव्यासदेवके वचनोंके अर्थको समझनेमें असमर्थ होनेके कारण वे उन वचनोंको ही भ्रमित रूपमें प्रतिपादन करनेका प्रयास करने लगे और स्वयं ही भ्रममें पड़ गये। गौरपार्षद श्रील जीव गोस्वामी प्रभुने स्वरचित संवादिनीमें इस सन्दर्भमें विस्तारपूर्वक आलोचना की है।

श्रीमन्महाप्रभुके वचन द्रष्टव्य हैं—

प्रभु कहे, वेदान्तसूत्र—ईश्वर-वचन।
व्यासरूपे कैल ताहा श्रीनारायण॥

भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव।
ईश्वरेर वाक्ये नाहि दोष एइ सब॥
(चै॰च॰आ॰ १७/१०६-१०७)

अर्थात् वेदान्तसूत्र ईश्वरके वाक्य हैं, जो श्रीनारायणने व्यासदेवके प्रति कहे थे। भ्रम (भ्रान्ति), प्रमाद (अनवधानता), विप्रलिप्सा (वञ्चना करनेकी इच्छा) तथा करणापाटव (इन्द्रियोंकी असमर्थता)—ये दोष ईश्वरके वाक्योंमें नहीं होते।

इसी प्रकार—

व्यासेर सूत्रेते कहे परिणामवाद।
'व्यास भ्रान्त' बलि ताहाँ उठाइल विवाद॥

परिणामवादे ईश्वर हयेन विकारी।
एत कहि विवर्त्तवाद स्थापन ये करि॥
(चै॰च॰आ॰ ७/१२२-१२३)

अर्थात् श्रीव्यासदेवने वेदान्तसूत्रोंमें परिणामवादको कहा है, किन्तु श्रीशङ्कराचार्यने श्रीव्यासदेवको भ्रान्त मानकर उनके परिणामवादमें ही विवाद खड़ा कर दिया। वे कहते हैं—यदि जगत्को ब्रह्म अथवा ईश्वरकी परिणति माना जाय, तो इस सिद्धान्तमें (परिणामवादमें) ईश्वर विकारी हो जाता है। ऐसा मानकर वे विवर्त्तवादकी स्थापना करते हैं।

परमाराध्यतम श्रीश्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर प्रभुपादने अपने अनुभाष्यमें लिखा है—"ब्रह्मसूत्रकार श्रीवेदव्यासके *'आनन्दमयोऽभ्यासात्'* (ब्र॰सू॰ १/१/१२) इस सूत्रको उपलक्ष्य (आश्रय) करके *'अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति'* (ब्र॰सू॰ १/१/१९) तक इन सूत्रोंकी व्याख्यामें श्रीशङ्कराचार्यने जो लिखा है, उसका सारानुवाद इस प्रकार है—आनन्दमय वाक्यमें ब्रह्म शब्दका संयोग न रहनेसे उसे मुख्य ब्रह्म नहीं कहा जा सकता। आनन्दमयको ब्रह्म कहनेपर अवयव सम्बन्धके कारण सविशेष ब्रह्म ही कहा जाता है, किन्तु आनन्दमय वाक्यके अन्तमें निर्विशेष ब्रह्म ही अभिहित हैं। आनन्दमय शब्दमें आनन्द-प्रचुर अर्थात् प्राचुर्यार्थमें मयट् प्रत्यय (जो अर्थ चिद्विलासवादी भागवतगण प्रयोग करते हैं, वह) कथित होनेसे उसमें दुःखका भी अस्तित्व है, यह जाना जाता है, क्योंकि आधिक्य—अनुसारमें ही प्रचुर शब्दका प्रयोग होता है, अल्पता प्राचुर्यको लक्ष्य नहीं करती। आनन्दमय 'शुद्ध ब्रह्म' नहीं हैं, कहकर श्रुति 'आनन्दमय' की पुनः-पुनः उक्ति न करके 'आनन्दमात्र' का ही अभ्यास कर रही है। यदि आनन्दमय ब्रह्मत्वका निश्चय होता, तो हो न हो, आनन्दमात्रके अभ्यासकी आनन्दमयाभ्यास रूपमें कल्पना की जा सकती थी, किन्तु अवयव सम्बन्ध न रहनेसे आनन्दमयका अब्रह्मत्व ही निश्चित है। इन सब कारणोंसे तथा *'आनन्द ब्रह्म'* इत्यादि श्रुतिमें परब्रह्म विषयमें आनन्द शब्दका प्रयोग होनेसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि अन्यान्य श्रुतियोंमें भी आनन्दमात्र

ब्रह्म ही अभ्यस्त हैं, आनन्दमय नहीं। यद्यपि *आनन्दमयमात्मानम्* (आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है, तै॰ २/८) श्रुतिमें आनन्दमयका अभ्यास दिखायी देता है, तथापि अन्नमयादिके मध्य उसके पतित होनेसे आनन्दमयकी भी शुद्धब्रह्म-बोधकताका निवारण हुआ है। आनन्दमय वाक्यके समीप ही *'सोऽकामयत् बहुस्यां प्रजायेयेति'*—'उन्होंने कामना की', 'मैं बहुत हो जाऊँ' (तै॰ २/६)—इस प्रकारके वाक्य रहनेपर भी शुद्ध ब्रह्मके साथ आनन्दमयका निकट सम्बन्ध न होनेसे आनन्दमयकी शुद्ध ब्रह्मबोधकता नहीं है। इन श्रुतियोंके बाद जो रस (*रसो वै सः, रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति,* तै॰ २/७) इत्यादि वाक्य हैं, वे भी तत्सापेक्ष रूपमें (उसीकी अपेक्षा रखनेसे) आनन्द-बोधक नहीं हैं। *'तस्य प्रियमेव शिरः'* (तै॰ २/५) 'उसका प्रिय ही सिर है' इत्यादिमें अवयव-बोधक शब्द न रहनेसे निश्चय होता है कि आनन्द ही मुख्य ब्रह्म है, आनन्दमय नहीं। यदि कहो, सविशेष ब्रह्म ही तो उक्त श्रुतिका अभिप्रेत है, तो इसका उत्तर है—यह नहीं हो सकता। वह तो *'अवाङ्मनसगोचर'* अर्थयुक्त श्रुतिके द्वारा पहलेसे ही निरस्त है। अतएव आनन्दमय शब्दका मयट् प्रत्यय विकारबोधक है, प्राचुर्यबोधक नहीं।"

इस प्रकार श्रीपाद शङ्कराचार्यने सूत्रोंकी व्याख्याएँ मयट् प्रत्यय उठाकर अर्थात् उसकी व्यर्थता अथवा बहुलता दिखलानेके लिए एक ही वक्तव्य विषयको क्या बारहवेंसे उन्नीसवें सूत्र तक पुनः-पुनः कहनेका प्रयास नहीं किया है? इस सम्बन्धमें सर्वसंवादिनी ग्रन्थमें श्रीलजीव गोस्वामी प्रभुकी उक्ति है—*यदि च सूत्रकारस्य वेदान्तार्थानभिज्ञतां निगूढमभिप्रायता तत्प्रमाद-मार्जन—स्वचातुरी-व्यङ्ग-भङ्ग्या तदानन्दमय (ब्र॰सू॰ १/१/१२) सूत्रमेव व्याख्येयम्।*

'आनन्दमयः' इत्यत्र 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै॰ २/५) इति स्वप्रधानमेव (ब्र॰सू॰ १/१/१२) ब्रह्मोपदिश्यते इति तथा विकार-सूत्रे (ब्र॰सू॰ १/१/१३)। च विकार शब्देनावयवः 'प्राचुर्य' शब्देन 'सादृश्यं' व्याख्येयमिति, तदा सूत्रकारस्याशाब्दिकतैव च प्रसज्येततत्तच्छब्दादि-भिस्तत्तदर्थानभिधानात्। मयट्-प्रत्यय-विकार-प्राचुर्यशब्दानामनन्तर-निर्दिष्टानामन्यार्थत्वं न वा बालकस्यापि हृदयमारोहति।

अर्थात् श्रीशङ्करका भाष्य पाठ करके यह धारणा होती है कि सूत्रकार श्रीवेदव्यास मानो वेदान्तका अर्थ जाननेमें अनभिज्ञ थे, वही जैसे उनका निगूढ़ अभिप्राय है, इसलिए सूत्रकार-आचार्य श्रीवेदव्यासका प्रमाद मार्जन करनेके व्यपदेश (छल) से श्रीशङ्करने अपने चातुर्यका अवलम्बन करके भङ्गीक्रमसे 'आनन्दमय' सूत्रकी इस प्रकार व्याख्या की—आनन्दमय इत्यादि श्रुतिवाक्यके मध्य *'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'*—इस श्रुतिवाक्यमें मुख्य ब्रह्म ही उपदिष्ट हैं। सूत्र (१/१/१३) में 'विकार' शब्दमें अवयव एवं प्राचुर्य शब्दमें सादृश्य—इस प्रकार व्याख्या होगी। इस भावसे व्याख्या होनेपर सूत्रकार व्यासको जैसे शब्द-ज्ञान नहीं था, उसीकी प्रसक्ति (प्रयोजनीयता) होती है, जिस कारण उनके द्वारा व्यवहृत शब्दोंके द्वारा वेदान्तके उन-उन अर्थ नहीं होते। मयट् प्रत्ययसे उत्पन्न विकार, प्राचुर्य शब्दादिके बाद भी इन निर्दिष्ट शब्दोंके लिए क्या कोई और अर्थ हो सकता है? यह बात तो एक बालकके मनमें भी आ सकती है। अर्थात् मयट् प्रत्ययमें 'विकार' और 'प्राचुर्यार्थ' के अतिरिक्त इसमें अन्य अर्थ योजित करना नितान्त भ्रम है, यह सहज ही जाना जा सकता है।

जीव और ब्रह्मके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवत (११/११/६) में भी देखा जाता है—

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥

चेतनस्वरूप होनेके कारण परस्पर सादृश्ययुक्त, कभी भी नहीं बिछुड़नेवाले और ऐक्य मतके कारण परस्पर सखा भावसे अवस्थित जीव और ईश्वररूप दो पक्षी स्वेच्छापूर्वक देहरूपी पीपलके वृक्षपर हृदयरूपी घोसलेमें रहते हैं। उनमेंसे एक अर्थात् जीव पीपलरूपी देह-वृक्षका कर्मफल भोग करता है और दूसरा, अर्थात् ईश्वर, कर्मफलको भोग न कर अपनी ज्ञानशक्तिके प्रभावसे सुख-दुःखसे परे और जीवके साक्षीके रूपमें ही विराजमान रहते हैं। इस प्रकार वे ईश्वर भोक्ता जीवसे बढ़कर पृथक् हैं।

इसी प्रसङ्गमें वर्णन है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥
(श्वे॰ ४/६ एवं मु॰ ३/१/१)

अर्थात् क्षीरोदकशायी पुरुष और जीव इस अनित्य संसाररूप पीपलके वृक्षके ऊपर सखाकी भाँति वास करते हैं। उन दोनोंमेंसे एक अर्थात् जीव अपने कर्मके अनुसार उस वृक्षके फलोंको चख रहा है और दूसरा अर्थात् परमात्मा उन फलोंका उपभोग न कर साक्षी स्वरूपमें केवल देख रहे हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी वर्णन है—

'मायाधीश-मायावश' ईश्वरे जीवे भेद।
हेन जीव ईश्वर सह कह त अभेद॥
(चै॰च॰म॰ ६/१६२)

अर्थात् श्रीभगवान् मायाके अधीश्वर हैं और जीव मायाके अधीन है। अधीश और अधीनमें जो भेद है, वही भेद ईश्वर एवं जीवमें है।

इस प्रकार भगवान् और जीवमें नित्य भेद दिखाकर स्पष्ट किया कि अभेदवाद नास्तिकताके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

श्रीमद्भगवद्गीता (७/४-५) में भी निम्न श्लोक आलोच्य है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

अर्थात् मेरी बहिरङ्गा प्रकृति भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन आठ भागोंमें विभक्त है। किन्तु आठ भेदोंवाली यह जड़ा-प्रकृति निकृष्टा है। इससे उत्कृष्ट जीवस्वरूपा मेरी एक और प्रकृति जानो, जिसके द्वारा यह जगत् अपने कर्म द्वारा भोगनेके लिए गृहीत होता है॥ १७॥

अवतरणिका भाष्य—ननु सत्त्वस्यानन्दहेतोः प्रधाने सत्त्वात् तदेवानन्दमयं स्यादिति चेत्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब भाष्यकार परवर्ती सूत्रकी अवतरणिका दिखा रहे हैं—'ननु' इत्यादिके द्वारा। आक्षेप है कि आनन्दमय शब्दका अर्थ जीव न होकर प्रकृति अथवा प्रधान होना चाहिये, क्योंकि आनन्दका कारण है सत्त्वगुण और वह गुण प्रकृति (प्रधान) में है। अतएव प्रचुरानन्द प्रधान आनन्दमय शब्दका अर्थ यही प्रकृति हो सकती है, इस संशयके उत्तरमें सूत्रकार कह रहे हैं—

अवतरणिका भाष्यस्य टीका—नन्विति। प्रकाशात्मा सत्त्वं। सत्त्वं लघु-प्रकाशकमिति सांख्योक्तेः। तदेव ज्ञानसुखरूपेण परिणमते। अतः सत्त्वमानन्दहेतुः। तच्च प्रधानेऽस्तीति प्रचुरानन्दं प्रधानमानन्दमयशब्दितमस्तु। न तु ब्रह्मेति चेत्तत्राह—कामाच्चेति—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—सत्त्वगुण प्रकाशस्वरूप है, क्योंकि सांख्य-शास्त्रमें कहा गया है कि *'सत्त्वं लघु प्रकाशकम्'* अर्थात् 'सत्त्वगुण लघु और प्रकाशका कारण है।' इस सत्त्वगुणका परिणाम ज्ञान, सुख इत्यादि हैं। अतएव सत्त्वगुण आनन्दका कारण है। यह सत्त्वगुण प्रधान (प्रकृति) में है और वही आनन्दमय शब्दका वाच्य है, ब्रह्म नहीं—ऐसा यदि कहते हो, तो इसके उत्तरमें सूत्रकार कह रहे हैं—

सूत्र—कामाच्च नानुमानापेक्षा॥ १८॥

सूत्रार्थ—'कामात् च' और जब *सोऽकामयत्* (तै॰ २/६) इत्यादि श्रुतिमें कामनाकी बात है, तब 'न अनुमानापेक्षा' अर्थात् अनुमानगम्य प्रकृतिकी अपेक्षा नहीं है—इस आनन्दमय वाक्यमें उस अनुमान कल्पित ब्रह्मकी प्रसक्ति (प्रयोजनीयता) नहीं है॥ १८॥

सूत्रानुवाद—आनन्दमयत्वकी कामनाके कारण अनुमान कल्पित प्रकृतिकी अपेक्षा नहीं हो सकता॥ १८॥

गोविन्दभाष्य— *'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय'* (तै॰ २/६) इति सङ्कल्पादेव विश्वसर्गश्रुतेर्नानुमानस्य प्रधानस्यास्मिन्नानन्दमयवाक्ये भवत्यपेक्षा जड़स्य सङ्कल्पासम्भवात्॥ १८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सृष्टिके प्रारम्भमें उन परमेश्वरने इच्छा की—मैं बहुत हो जाऊँ, प्रकाश प्राप्त करूँ, इस श्रुतिमें ईश्वरके सङ्कल्पसे जगत्‌की सृष्टि ज्ञात हो रही है, किन्तु प्रकृतिसे सृष्टि हो रही है, ऐसा निरूपण करनेवाली तो कोई श्रुति उपलब्ध नहीं है, जिससे उसके (जड़मायाके) सम्बन्धमें अनुमान किया जाय। आनन्दमय श्रुतिवाक्यमें प्रकृतिका कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रकृति जड़ है, उसके द्वारा सङ्कल्प किया जाना असम्भव है। (कामना करना आनन्दमय चेतनका धर्म है, जड़-प्रकृति कैसे आनन्दमय हो सकती है?)॥ १८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सांख्यमतके अनुसार यदि कोई पूर्वपक्ष करता है कि सत्त्वगुण प्रकाशस्वरूप है एवं सत्त्वगुण आनन्दका कारण है, यही सत्त्वगुण प्रधान अथवा प्रकृतिमें अवस्थान करता है, इसलिए प्रधानको आनन्दमय कहा जा सकता है। इस वादका निराकरण करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि 'ब्रह्मकी कामना' की बात कही जा रही है, इसमें अनुमानकी अपेक्षा नहीं है अर्थात् प्रधानका आनन्दमय शब्दके वाच्य रूपमें अनुमान नहीं किया जा सकता। श्रुति कहती है कि सृष्टिके प्रारम्भमें 'उन्होंने कामना की, मैं बहुत हो जाऊँ।' जड़रूपा प्रकृतिके द्वारा इस प्रकारका सङ्कल्प सम्भव नहीं है।

श्रीमद्भागवत (४/९/७) में ध्रुवके वचनोंमें—

एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या
मायाख्ययोरुणया महदाद्यशेषम्।
सृष्ट्वानुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु
नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि॥

हे भगवन्! एकमात्र आप ही अपनी अनन्त गुणमयी मायाशक्तिके द्वारा इस महदादि सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि करके इसमें अन्तर्यामी रूपसे प्रवेश करते हैं। जिस प्रकार एक ही अग्नि बहुत प्रकारकी लकड़ियोंके आश्रयसे विविध रूपोंमें प्रतीत होती है, उसी प्रकार आप भी उन्मुख एवं विमुख जीवोंकी विभिन्न इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवताओंके रूपोंमें विभिन्न प्रकारसे प्रकाशित होते हैं।

स्वयं श्रीभगवान् कह रहे हैं—

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया॥

(श्रीमद्भा० ३/२६/४)

अर्थात् उन्हीं कारणार्णवशायी प्रथम पुरुषावतारकी शक्तिरूपिणी त्रिगुणमयी प्रकृति लीलाविलासके लिए उनके समीप आनेपर उन्होंने स्वेच्छासे उसे ग्रहण कर लिया अर्थात् दूरसे ही उसमें ईक्षण (जीवशक्तिरूप वीर्याधान) करके इस जगत्की सृष्टि की।

श्रीमद्भागवत (१/३/१) में भी वर्णन है,

जगृहे पौरुषंरूपं भगवान् महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥

अर्थात् श्रीसूतजी कहते हैं—सृष्टिके आदिमें भगवान् श्रीहरिने लोकोंकी सृष्टिकी इच्छा की। इच्छा होते ही सर्वप्रथम उन्होंने कारणार्णवशायीरूप प्रथम पुरुष अथवा विराट नामकरूप धारण किया। उनमें बुद्धि, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्राएँ, ग्यारह इन्द्रियाँ और पञ्चमहाभूत—ये सोलह पदार्थ अंशरूपमें विद्यमान थे।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें कथित है—

जगत कारण नहे प्रकृति जड़रूपा।
शक्ति सञ्चारिया तारे कृष्ण करे कृपा॥

कृष्ण शक्त्ये प्रकृति हय गौण कारण।
अग्नि शक्त्ये लौह यैछे करये जारण॥

अतएव कृष्ण मूल जगत् कारण।
प्रकृति कारण यैछे अजा-गल-स्तन॥

(चै०च०आ० ५/५९—६१)

अर्थात् कारणाब्धिके बाहर मायाशक्तिकी अवस्थिति है, भगवान् उसके प्रति दृष्टिपात करते हैं। माया कारणसमुद्रका स्पर्श नहीं कर सकती। भगवत्-ईक्षण मायाके मध्य प्रविष्ट होकर मायाको कार्यशील करता है। मायाकी दो प्रकारकी अवस्थिति है—जगत्के उपादान रूपमें प्रधान और जगत्के निमित्त रूपमें माया। प्रकृति वस्तुतः जड़रूपा है।

भगवत्-ईक्षण शक्तिके द्वारा सञ्चारित होनेपर प्रकृति उस शक्तिबलसे जगत् सृष्टिका गौण कारण उसी प्रकारसे होती है जिस प्रकार अग्निमें प्रवेश करनेसे लोहेमें जलानेकी शक्ति आ जाती है। अतएव कृष्ण ही जगत्के मूल कारण हैं। बकरीके गलेमें रहनेवाले स्तनके समान प्रकृतिका द्रव्यरूपमें कारणत्व, दिखावामात्र है।

श्रील स्वरूप दामोदरका कड़चा द्रष्टव्य है—*महाविष्णुर्जगत्कर्त्ता मायया यः सृजत्यदः* (चै॰च॰आ॰ १/१२) अर्थात् जगत्की सृष्टि करनेवाले महाविष्णु जो मायाके द्वारा इस ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता (९/१०) में वर्णन है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्,* अर्थात् हे कौन्तेय! मेरी अध्यक्षतामें बहिरङ्गा प्रकृति अथवा मायाशक्ति चर-अचर सहित सम्पूर्ण जगत्को प्रसव करती है।

श्वेताश्वेतर श्रुतिमें भी द्रष्टव्य है—

अस्मानमायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

(श्वे॰ ४/९-१०)

मायाको अपरा (बहिरङ्गा) शक्ति और मायाके आश्रयीभूत पुरुषको महेश्वर समझना चाहिये। उसीके अवयव भूतसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है।

निरीश्वरवादी सांख्यवादीगण पङ्गु एवं अन्ध तथा अयस्कान्त (चुम्बक) एवं लौह न्यायके द्वारा जिस सृष्टि तत्त्वकी मीमांसा करते हैं, वह युक्तियुक्त नहीं है। इस तथ्यको सूत्रकार *'पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि'* (ब्र॰सू॰ २/२/७) में स्पष्ट करेंगे॥ १८॥

सूत्र—अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति॥ १९॥

सूत्रार्थ—'अस्मिन्'—इस आनन्दमय पुरुषमें, अस्य—प्रतिष्ठित जीवके, 'तद्योगं'—अभय सम्बन्धके कारणका अर्थात् अभय-प्राप्तिका, शास्ति—श्रुति (शास्त्र) में उपदेश दिया गया है। प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होनेसे तो

अभय योग न कहकर भय योग ही कहा गया है। अतएव आनन्दमय प्रकृति भी नहीं है, जीव भी नहीं है, किन्तु श्रीहरि हैं॥ १९॥

सूत्रानुवाद—भगवती श्रुतिमें आनन्दके योगका शासन है, इस प्रमाणके आधारपर जीवको जिसके प्राप्त होनेपर आनन्दका योग होता है, उससे भिन्न वे परमात्मा ही आनन्दमय है॥ १९॥

गोविन्दभाष्य—अस्मिन्नानन्दमये पुंसि प्रतिष्ठितस्यास्य जीवस्याभययोगं कृतान्तरस्य तु भययोगं शास्ति श्रुतिः। यदा ह्येवेत्यादिना (तै॰ २/७)। न चेषा शिष्टिः प्रधानपक्षे सम्भवेत्। तत्र प्रकृतिवियुक्तस्याभयमभ्युपगम्यते, न तु तत्संसृष्टस्य। तस्मादानन्दमयो हरिरेव न जीवो नापि प्रकृतिरिति॥ १९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जिस समय यह जीव आनन्दमय पुरुषमें अधिष्ठित होता है अर्थात् उनका ऐकान्तिक भक्त होता है, तब उसे जन्म, मृत्यु इत्यादिसे किसी प्रकारका भय नहीं रहता, इसके विपरीत जब वह अन्तरित (व्यवधानमें) पृथक् रहता है, तब उसे संसार-भय रहता है—ऐसा श्रुतिमें कहा गया है, *'यदा ह्येवं इत्यादि'* (तै॰ २/७)। यदि आनन्दमय शब्द प्रधानको मान लिया जाय, तब तो यह उपदेश-वाणी सम्भव न हो सकेगी, क्योंकि जीवका जब प्रकृतिके साथ वियोग होता है, तब ही अभयता प्राप्त होती है—यह स्वीकार किया गया है, प्रकृतिके साथ संसर्ग रहनेसे उसका अभय स्वीकृत नहीं है। अतः आनन्दमय शब्दका वाच्य न तो जीव है, न प्रकृति, बल्कि श्रीहरि स्वयं हैं॥ १९॥

सूक्ष्मा-टीका—अस्मिन्निति। प्रतिष्ठितस्यैकान्तिकभक्तस्य शिष्टिरुपदेशः। तत्र प्रधानरूपे॥ १९॥

सूक्ष्मा-सार—'अस्मिन्' इस आनन्दमय पुरुषमें जो प्रतिष्ठित है अर्थात् जो उनका ऐकान्तिक भक्त है, उसके सम्बन्धमें उपदेश है। 'तत्र प्रकृति वियुक्तस्येति' अर्थात् उस प्रधान (प्रकृति) के साथ जो वियुक्त है, उसीको अभय प्राप्त है॥ १९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—श्रुतिका यही उपदेश है कि जीवके आनन्दमय पुरुषके साथ ऐकान्तिक भक्तियोगमें प्रतिष्ठित होनेपर उसे अभय एवं

आनन्द प्राप्त होता है। भगवत्-विमुख होनेपर तो वह अन्तरित (व्यवधानसे आवृत) हो पड़ता है और उसे भय अर्थात् अनन्त विपत्तियाँ भोगनी पड़ती है। यह उपदेश (वे रसस्वरूप हैं—यह जीव उस रसका आस्वादन करके आनन्दित होता है) जड़रूपा प्रकृतिके लिए सम्भव नहीं है अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृतिके साथ योग होनेपर जीव अभय हो जाता है। प्रकृतिके साथ संसर्गसे जीव विभिन्न दुःख-कष्ट उठाता है और इसके सङ्गसे रहित होनेपर अभय अथवा सुखकी प्राप्ति होती है।

श्रीमद्भागवत (११/२/३७) में नवयोगेन्द्रमें अन्यतम कविके वचन द्रष्टव्य हैं—

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्य्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत् तं,
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥

शरीरमें आत्मबुद्धि होनेसे ही भय उत्पन्न होता है। भगवत्-विमुख लोगोंको भगवत्-स्मरण नहीं होता। भगवान्‌की मायासे इस मरणशील देहमें 'मैं' और 'मेरे' की बुद्धि होती है। अतएव अपने गुरुको ही परमाराध्यतम परम प्रियतम मानकर अनन्यभक्तिके द्वारा भगवान्‌की भलीभाँति आराधना करनी चाहिये

श्रीमद्भगवद्गीता (७/१४) में भी कथित है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

अर्थात् यह जीव-विमोहिनी एवं त्रिगुणात्मिका मेरी बहिरङ्गाशक्ति निश्चय ही दुस्तरा है, परन्तु जो मेरा ही आश्रय ग्रहण करते हैं, वे इस मायाको पार कर जाते हैं।

अन्य शास्त्रमें भी वर्णन है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासङ्गी मुक्त्यैनिर्विषयं मनः॥

(अमृतबिन्दूपनिषद २)

अर्थात् मन ही मनुष्यके बन्धन एवं मोक्षका कारण है। विषयासक्तका बन्धन और निर्विषय अथवा विषयरहितकी मुक्ति है।

नारदपुराणमें वर्णित है—

गुणत्रयं विजानीयात् प्रकृतिं तद् बहिश्च यत्।
हरिरूपं परब्रह्म सर्वकारणकारणम्॥

श्रीमद्भागवत (३/७/१२) में और भी देखा जाता है—

स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया।
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह॥

अर्थात् विदुरजी! निष्काम भावसे धर्मोंका आचरण करनेपर भगवत्-कृपासे प्राप्त हुए भक्तियोगके द्वारा यह मिथ्या प्रतीति धीरे-धीरे अवश्य ही दूर हो जाती है।

और भी श्रीमद्भागवत (३/७/१४) में वर्णन है,

अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः।
कुतः पुनस्तच्चरणारविन्द-परागसेवारतिरात्मलब्धा॥

अर्थात् मुरारि श्रीकृष्णके गुणानुवादका श्रवण करनेसे अशेष दुःखराशि शान्त हो जाती हैं। फिर यदि हमारे हृदयमें उनके चरणकमलोंकी रजके सेवनका प्रेम जग पड़े, तब तो कहना ही क्या है?

आचार्य श्रीशङ्करने 'तद्योगं' शब्दमें जीवका ब्रह्मके साथ मिल जानेका जो उल्लेख किया है, उसे *'आनन्दमयोऽभ्यासात्'* सूत्रसे आरम्भ करके प्रस्तुत सूत्र तक आठ सूत्रोंमें व्याख्या करनेके लिए बड़ा कष्ट उठाया है, यहाँ तक कि अपने गुरु श्रीवेदव्यासकी भ्रान्तिकी भी कल्पना कर ली है। इसके विषयमें विशद विवरण सत्रहवें सूत्रमें कर दिया है, अतः और वर्णनसे कोई प्रयोजन नहीं है॥ १९॥

७—अन्तरधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—छान्दोग्ये। *'अथ य एषोऽन्तरादित्यो हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रनखात् सर्व एव सुवर्णस्तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो उदित उदेति ह वै*

सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद तस्य ऋक्साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता स एष ये चामुष्मात् पराञ्चो लोकास्तेषाञ्चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवत-मथाध्यात्मम्' (छा॰ १/६/६-८)। *'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैव ऋक् तत् साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म तस्यैतस्य तदेवरूपं यदमुष्यरूपम्। यावद्मुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम'* (छा॰ १/७/५) इति श्रूयते।

तत्र संशयः; किमयं पुण्यज्ञानातिशयवशात् प्राप्तोत्कर्षो जीवः कश्चित् सूर्येऽक्षिणि वोपदिश्यते, उत तदन्यः परमात्मेति। तत्र देहित्वादिप्रतीतेरुपचितपुण्यो जीव एवायं ज्ञानशक्त्याधिक्यञ्च पुण्यातिशयादत एव लोककामेशितृत्वादिफलार्पणादुपास्यत्वं चेत्येवं प्राप्तौ—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—छान्दोग्योपनिषदमें जो यह कहा गया है कि *'अथ य एषोऽन्तरादित्यो'* (१/६/६) इत्यादि, इसका अर्थ उपासना-प्रसङ्गमें कहा है कि सूर्यमण्डलके भीतर जो ज्योतिर्मय पुरुष दिखायी देते हैं, उनकी श्मश्रु (दाढ़ी) सुवर्णमय है, केश सुवर्णमय हैं, इतना ही नहीं, नखाग्रसे लेकर शिख तक समस्त ही उसी प्रकार सुवर्णमय है, जिस प्रकार 'कप्यास' अर्थात् प्रफुल्लित कमल। उनके वैसे ही दोनों नेत्र हैं और 'उत्' उनका नाम है। 'उत्' शब्दका अर्थ है 'उदित' अथवा 'निर्मुक्त' अर्थात् जो समस्त पापों (अविद्यादि) से उत्थित (अस्पृष्ट) हैं और जो उन्हें इस प्रकारसे जानता है, वह भी समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है। ऋक् एवं साम उनके गेष्ण अर्थात् दो पर्व (अवयव) हैं। इसीलिए वे उद्गीथ अर्थात् उच्च स्वरसे गीयमान हैं। उद्गाता नामक ऋत्विक उनका ही विरद गाते हैं, इसीलिए वे उद्गाता नामसे कथित हैं। समस्त भुवन अथवा लोक जो उस आदित्यमण्डलसे ऊर्ध्वगत हैं, वे उन सभीके नियन्ता हैं, इसके अतिरिक्त जो देवकाम हैं अर्थात् उन लोकोंके देवता जो कामना करते हैं, वे उन्हें अभीष्ट वस्तुएँ प्रदान करते हैं, इस प्रकार देवताओंको अधिकृत करके वे उनके द्वारा उपास्य हैं। इसके (अधिदैवत ध्यान कथनके) बाद अध्यात्म उपासना वर्णित होती है। अध्यात्म उपासना शब्दका अर्थ है देहको अधिकार करके उपासना। यह किस प्रकारसे है? इसका उत्तर है—ये जो अक्षि-मध्यगत (नेत्रमण्डलके भीतर) पुरुष दीखते हैं, वे ही ऋक्, वे ही सामगके

साम हैं, वे ही उक्थ (सामवेदीय स्तोत्रविशेष) हैं, वे ही यजुः हैं, वे ही ब्रह्म हैं। आदित्यपुरुषका जो रूप है, वे ही उन अक्षिपुरुषका रूप है, जैसे वे गेष्ण हैं, उसी प्रकार ये अक्षिपुरुष भी गेष्ण हैं (उनका जैसा गान करते हैं, इनका भी वैसा ही गान किया जाता है), उनका जो नाम अथवा वाचक शब्द है, इनका भी वही नाम अथवा वाचक शब्द है—इस प्रकारसे सुना जाता है। यहाँ संशय यह होता है कि जो सूर्यगत और अक्षिगत पुरुष कहे गये हैं, वे हैं कौन? पुण्य एवं ज्ञानातिशयके कारण उत्कर्षप्राप्त कोई जीव हैं अथवा जीवसे भिन्न परमात्मा हैं? इसपर पूर्वपक्षवादी कहते हैं—नहीं, परमात्मा नहीं, ये देहधारीरूपमें प्रतीत होते हैं, इन्हें पुण्योत्कर्षको प्रापत कोई जीव कहा जाता है। उसके पुण्योत्कर्षके कारण उसमें ज्ञानशक्तिका आधिक्य होता है, इसलिए वह लोकसमूहकी कामनाओंका नियन्ता और फलदाता होता है, इसलिए उपास्य कहा जाता है। इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार कह रहे हैं—नहीं, वे जीव नहीं हैं, क्योंकि—

अवतरणिका भाष्यस्य टीका—पूर्वं ब्रह्मशब्दाभ्यासादिकं आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे यथा हेतुस्तथा हिरण्यश्मश्रवादिकमादित्यमण्डलस्थपुरुषस्य जीवहेतुरस्त्वीति दृष्टान्तसङ्गत्यारभ्यते। छान्दोग्य इत्यादि। अथेति। उपासनाप्रस्तावादथशब्दः। य एष शास्त्र प्रसिद्धः। आदित्यमण्डलान्तर्वर्त्ती। हिरण्यमयो ज्योतिर्मयश्चिद्घन इत्यर्थः। हिरण्यसुवर्णशब्दाभ्यां चैतन्यलक्षणं ज्योतिर्ग्राह्यम्। कनकवाचिभ्यां ताभ्यां स्पृहणीय-सर्वाङ्गत्वं लक्ष्यमित्याहुः। श्मश्रुशब्देनातिसूक्ष्माणि रोमाण्येव ग्राह्याणि। वयःपरिणामकृतानां तेषां तत्राभावात्। दृष्टसादृश्येनोक्तिर्हृत्प्रवेशायेति केचित्। आप्रनखो नखाग्रम्। यथेति। यथा कप्यासं पुण्डरीकं पद्मं भवति। एवमस्य पुरुषस्याक्षिणी भवतः। अत्र पुण्डरीकशब्दः पद्मसामान्यमाह। तेनारुण्यांशसिद्धातिचारुतालाभः महोत्पलमित्यादि पठद्भिः पद्मसामान्यपर्यायतयासौ पठितः। कञ्जलं पिबतीति कपिः सूर्यस्तेनासो दीप्तिर्यस्य तद्रविकरविकसितमित्यर्थः। अथवा कपिरासो नासाग्रं यस्य तत्। गम्भीराम्भःसमुद्भूतमित्यर्थः। यद्वा कस्पत इति कपिः कुण्डिकस्पोर्नलोपश्चेति इप्रत्यये नलोपः। पुष्टपुण्डरीकधारित्वात् कपिः सकस्पः आसो नासाग्रं यस्य तदित्यर्थः। सर्वथा प्रसन्ननयनत्वमित्यर्थः। अनेन परिपूर्णत्वं अनुग्रहशीलत्वञ्च व्यज्यते तदन्येषां ब्रह्मरुद्रादीनां त्वपूर्णत्वात् कामक्रोधाद्याक्रान्तत्वाच्चाक्षिणी विरूपाणि भवन्ति। हरेस्तु तत्तदभावात्। प्रफुल्लारविन्दनेत्रत्वमुक्तम्। तद्भावश्च पूर्णमद इत्यादिश्रवणात्। अतएवारविन्दनेत्रादिशब्दः उद्धवादिभिः प्रयुक्तः। धनञ्जयादिभिराचार्यैश्च स्वरदण्डं

कोकनदं पुण्डरीकं असुरेषु यो रोषः स तेषां कल्याणहेतुत्वादनुग्रह एव। रोषः खलु स्वविषयानिष्टहत्प्रतीतिः। अरोषणो ह्यसौ देव इत्यादि स्मरणाच्च। तस्य पुरुषस्य नाम निर्दिशति उदिति। तन्निर्वक्ति एष इति। उदितः उद्गतः सर्वदोषास्पृष्टत्वादुन्नामेत्यर्थः। तन्नामज्ञानफलमाह। उदेति हेति। सोऽपि तद्वन्निर्दोषो भवतीत्यर्थः। ऋक्सामे तस्य गेष्णौ पर्वणी भवतः। उद्गीथ उच्चैर्गीयमानत्वात्। स एष आदित्यान्तःस्थः पुरुषः। अमुष्मात् आदित्यात्। पराञ्च उर्द्धगा लोकास्तेषामीष्ट ईशिता भवति। देवकामानां चेशिता तत्प्रदातेत्यर्थः। अधिदैवतं देवतामधिकृत्योपास्तिवाक्यमित्यर्थः। अधिदैवत-ध्यानोक्त्यनन्तरमध्यात्मं ध्यानमाहाथेति। आत्मानं देहमधिकृत्योपास्ति-वाक्यमित्यर्थः—

य एषोऽन्तरक्षिणीति। अक्षिमध्यगत इत्यर्थः। स एव ऋग्वेदात्मक इत्याह। सैव ऋगिति। उक्थं शास्त्रविशेषः तत्साहचर्यात् सामस्तोत्रं। एवञ्च सर्ववेदगीयमानत्व-मुक्तम्। आदित्यपुरुषे यद्रुपादिकं तदक्षिपुरुषेऽतिदिशति। तस्यैतस्येत्यादिना। ये चामुस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेति वाक्यशेषोऽस्ति। तस्यायमर्थः। एतस्मादक्ष्नो अर्वाक् गतानां लोकानामीशिताक्षिपुरुषः। मनुष्यभोगानां च प्रदातेति।—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इसके पूर्व कहा गया कि आनन्दमय शब्दका अर्थ ब्रह्म है, इसका कारण यह है कि श्रुतिमें 'ब्रह्म' शब्दका बार-बार पाठ है। इसी प्रकार छान्दोग्य श्रुतिमें वर्णित हिरण्य-श्मश्रु इत्यादि शब्द आदित्यमण्डलके मध्यस्थ पुरुष जो जीव हैं, उसीके हेतुके रूपमें उल्लिखित हैं। इसीको पूर्वपक्षी दृष्टान्त रूपमें दिखानेके लिए आरम्भ करते हैं।

छान्दोग्योपनिषदमें *'अथ य एषोऽनतरादित्यो'* इत्यादि श्रुतिमें जो वर्णित हो रहा है कि हिरण्य-श्मश्रु इत्यादि रहनेसे जीवरूपमें ही ब्रह्मकी प्रतीति होती है—इस दृष्टान्तको दिखाकर वादियोंने कहा है कि छान्दोग्योपनिषद आदिमें देखो। 'अथ' अर्थात् उपासना प्रकरणमें—यह जो शास्त्रप्रसिद्ध है—आदित्यमण्डलके मध्यवर्ती 'हिरण्यमयः'—ज्योतिर्मय चिद्घनस्वरूप। श्रुतिमें कथित हिरण्य एवं सुवर्ण शब्दोंके द्वारा इसी चैतन्यस्वरूप ज्योतिको जानना चाहिये। दोनों ही शब्द काञ्चनवाचक हैं। इससे यह लक्षित हुआ कि उनका सर्वाङ्ग ही स्पृहणीय अर्थात् दर्शनीय है। 'श्मश्रु' शब्दका अर्थ है अति सूक्ष्म रोम—इस स्थानपर यही बोद्धव्य है। वयसके परिणामस्वरूप जो श्मश्रु उत्पन्न होता है, वह यहाँ ग्रहणीय नहीं है, क्योंकि परमात्मामें वह प्रकाश नहीं पाता। कोई-कोई कहते हैं कि लौकिक पदार्थके साथ समानता बतानेसे वह

हृदयमें सहज ही प्रविष्ट हो जाता है। इसलिए कहा कि वे नख-शिख पर्यन्त सुवर्णमय हैं। 'यथेति कप्यास' अर्थात् जैसे पुण्डरीक (प्रफुल्लित पद्म) होता है—वैसे ही उनके दोनों नेत्र हैं। इस स्थलपर पुण्डरीक शब्द श्वेतपद्मवाचक नहीं, अपितु साधारण पद्मका बोधक है, इसलिए अंश-विशेषमें लौहित्य (लालिमा) द्वारा उसका अति चारुत्व जाना जाता है। कुछ लोग 'महोत्पलम्' यह पाठ करके पद्म-सामान्य ही वाचकत्वरूपमें पाठ हुआ है, ऐसा कहते हैं। इसके बाद 'कप्यास' शब्दका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ बता रहे हैं—'कं' अर्थात् जो जलका पान करता है—शोषण करता है (सुखाता है) अर्थात् सूर्य, उसके द्वारा आसः अर्थात् दीप्ति है जिसकी (पद्मकी)। इसलिए 'कप्यास' का अर्थ पुण्डरीक है—रविकी किरणोंके द्वारा विकसित। अन्य प्रकारसे भी व्युत्पत्ति है कपि जिसके नासाग्र अर्थात् गभीर जलसे उत्पन्न है, अथवा जो काँपता है उसका नाम कपि (कपि—कम्पते) है, 'कम्प' धातुके 'इ' प्रत्ययके योगमें *'कुण्ठककम्पयोर्नलोपश्च'* सूत्रमें नकार लोपसे सिद्ध है। ('कम्प्+इ, न लोपः) पुण्डरीकधारीरूपमें उनका नासाग्र कम्पित होता है, इसलिए वे कप्यास हैं। जो भी हो, समस्त प्रकारकी व्याख्याओंमें वे प्रसन्न-नयन हैं—यह अर्थ है। सभी वाक्योंका सार यह है कि वे परिपूर्ण एवं अनुग्रहप्रवण हैं।

दूसरे ब्रह्मा, रुद्र इत्यादि वैसे नहीं हैं, क्योंकि वे दोनों अपूर्ण हैं, साथ ही काम-क्रोधादिके भी वशीभूत हैं। इसीसे उनके अक्षि विरूप हैं, परन्तु श्रीहरि ऐसे नहीं हैं। वे तो प्रफुल्ल-अरविन्द नेत्र हैं, उनमें ब्रह्मादिके समान विरूपता नहीं है, यह *'पूर्णमदः पूर्णमिदं'* इत्यादि श्रुतिसे जाना जा सकता है। उद्धवादि भक्तगण भी इसी कारण उन्हें अरविन्द-नेत्र इत्यादि विशेषणोंसे अलंकृत करते हैं। धनञ्जय इत्यादि आचार्य कहते हैं कि स्वर जिसका दण्ड है, उसी प्रकार रक्तोत्पलका नाम पुण्डरीक है। असुरोंके ऊपर जो क्रोध है, वह भी भगवान्‌का उनके प्रति अनुग्रह ही है, क्योंकि इसी रोषके द्वारा असुरोंका पारमार्थिक कल्या)ण सिद्ध हो सकता है। रोष शब्दका अर्थ है—स्वयंके ऊपर अप्रवण हृदयताका ज्ञान (अप्रवण अर्थात् जहाँ कुटिलता नहीं है) अर्थात् स्वविषयानिष्टहृत्प्रतीति—इसलिए उनमें क्रोध

रह नहीं सकता। कहा भी गया है कि परमेश्वर रोषहीन हैं। अब सूर्यपुरुष एवं अक्षिपुरुषके नामोंका दिग्दर्शन करते हैं। उनका नाम 'उद्' है। 'उद्' ही क्यों कहा गया? इसका निर्वचन (व्युत्पत्तिपरक व्याख्या) करते हैं कि वे 'उदित' हैं अर्थात् 'उद्गत' हैं, सभी प्रकारके दोषोंसे अस्पृष्ट हैं, (छा॰ १/६/७) इसीलिए उन्नायक हैं। इस नाम-ज्ञानका फल यह है कि 'उदेतिह' इत्यादि जो नामके अर्थको जानते हैं, वे भी उन्हींके समान निर्दोष हो जाते हैं। ऋक् एवं साम उनके दो पर्व हैं। वे उद्गीथ हैं, इसीलिए सामविद्गण उच्च स्वरसे उनका गान करते हैं—वे ही सूर्यमण्डलके अन्दर अवस्थित रहनेवाले पुरुष हैं। इस आदित्यसे ऊर्ध्वगत जितने लोक हैं, वे उन सबके नियन्ता हैं।

देवताओंको अभीष्ट प्रदान करनेवाले हैं, अतः 'अधिदैवतम्' देवता सूर्यमण्डल-मध्यवर्ती पुरुषकी उपासना करते हैं, इसीलिए *'देवकामानञ्च ईशिता'* (छा॰ १/६/८) इत्यादि उपासना वाक्य प्रयुक्त हुए हैं—इसीसे उनका नाम अधिदैवत है। तत्पश्चात् अधिदैवत ध्यानोक्त पुरुषकी उपासनाके बाद अध्यात्म-ध्यान बता रहे हैं कि आत्मन् शब्दका अर्थ देह है, उसे अधिकृत करके जो उपासना है, उसका नाम अध्यात्म उपासना है—*'य एषोऽन्तरक्षिणि'* इत्यादि (छा॰ १/७/५)। ये जो अक्षि-मध्यगत पुरुष हैं, वे ऋग्वेदस्वरूप हैं। उक्थ एक प्रकारका उपदेश-वाक्य अथवा स्तोत्रविशेष है। इसके साथ पठित सामन् शब्दका अर्थ स्तोत्र है। ये सब कथन निरूपण करते हैं कि वे समस्त वेदोंमें गीयमान हैं। अतः आदित्यपुरुषमें जो रूपादि हैं, वही इन आनन्दमय पुरुषमें भी हैं—*'तस्यैतस्य तदेवरूपं यदमुष्यरूपम् यावदमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम'* (छा॰ १/७/५)—इन वाक्योंसे यह स्पष्टतः ज्ञात होता है।

इसी प्रकार *'ये चामुष्यात्'* इत्यादि—इस पुरुषके अधोवर्ती जितने भी लोक हैं, उनके भी वही नियन्ता हैं, मनुष्योंकी जो भी काम्य वस्तुएँ हैं, उनके भी वे ही प्रदाता हैं।

सूत्र—अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्॥ २०॥

सूत्रार्थ—'अन्तः'—अन्तर्वर्त्ती—सूर्यमण्डलके अन्तर्वर्त्ती और चक्षुमण्डलके मध्यवर्त्ती हिरण्यमय पुरुष परमात्मा हैं, जीव नहीं, कारण? 'तद्धर्मोपदेशात्'—इस प्रकरणमें उन पुरुषके जो-जो धर्म बतलाये गये हैं—अपहतपाप्मत्व अर्थात् कर्मवश्यताका अभाव और नित्य लोककामेशितृत्व—इस उल्लेखके कारण, ये गुण जीवमें नहीं होते, जीवका कर्माधीनत्व है और ईश्वरकी उपासनासे प्राप्त लोकाभीष्टदातृत्व-शक्ति जीवमें हो सकती है। पर जीव परमात्मा नहीं है॥ २०॥

सूत्रानुवाद—सूर्यमण्डल और नेत्रमें जो पुरुष दीखते हैं, वे जीवात्मासे भिन्न परमात्मा ही हैं। उनकी ही विशेषताओंका उपदेश वेदमें दिया गया है॥ २०॥

गोविन्दभाष्य—तयोरन्तर्वर्त्ती परमात्मैव न जीवः। कुतः? तदित्यादेः। इह प्रकरणेहपहतपाप्मत्वादीनां तद्धर्माणां निगदात्। अपहतपाप्मत्वमपहतकर्मत्वं कर्म-वस्यतागन्धराहित्यमिति यावत् न चैतत् कर्मवश्ये जीवे संभवेत्। न चौत्पत्तिकं लोककामेशितृत्वादि। नापि फलदातृत्वं तत्र मुख्यम्। न चोपास्यतायाः पारवश्यम्। यत्तु देहसम्वन्धात् जीवोहसावित्युक्तं तन्न पुरुषसूक्तादिषु *'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसःपरस्तात्'* (पु॰सू॰ १८/३/८) इत्यादिना तस्यात्मभूतदिव्यरूपश्रवणात्॥ २०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूर्यमण्डलके अन्तर्वर्त्ती और चक्षुमण्डलके मध्यवर्त्ती पुरुष परमात्मा हैं, जीव नहीं। इसका कारण है कि जीव कर्मके अधीन है, उसमें अपहतपाप्मत्व (कर्मवश्यताकी गन्धसे रहित होना) सम्भव नहीं है। लोगोंका कामनापूरकत्व अर्थात् देवताओंमें जो लोकेश्वरत्वादि देखा जाता है, वह उसमें स्वाभाविक नहीं है तथा फलदानके अधिकारमें भी उसका मुख्य कर्त्तृत्व नहीं है (ईश्वर-उपासनासे ही यह अधिकार उसमें लब्ध है)। परमात्मा जिस प्रकार समस्त लोगोंके उपास्य हैं, जीव उस प्रकारसे नहीं है। पुनः देह-सम्बन्ध-वश इन आनन्दमय पुरुषको जो जीव कहा गया है, वह भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि श्रुति उनके दिव्यरूपका वर्णन करते हुए कहती है कि वे अलौकिकरूपसम्पन्न हैं। यथा—*वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्* (पुरुषसूक्त १८/३/८) अर्थात् मैं जानता हूँ कि वे महान पुरुषोत्तम हैं, वे सूर्यके समान ज्योतिर्मय एवं अज्ञानरूप

अन्धकारसे अतीत हैं। जीव न तो महान है, न ही ज्योतिर्मय और न ही अविद्याके अविषयीभूत। पुरुषसूक्तमें और भी कहा है—*'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्, उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति'*—भूत-भविष्य-वर्त्तमान समग्र विश्वस्वरूप वे परमात्मा ही हैं। वे अमृतत्वके नियन्ता हैं, जो अमृतत्व अन्नके द्वारा वर्द्धमान है, उस जड़, अनित्य सत्तासे वे अतीत हैं। अतः वे पुरुष जीव नहीं हो सकते। इन सभी श्रुतियों द्वारा उन परम आत्माके दिव्य रूपसे अवगत हुआ जा सकता है॥ २०॥

सूक्ष्मा-टीका—अन्तस्तद्धर्मेति। पाप्मशब्देन कर्मग्राह्यमिति व्याचष्टे। अपहतेत्यादिना। न चेति। तत्कर्मवश्यता गन्धराहित्यलक्षणमपहतपाप्मत्वम्। न चौत्पत्तिकमिति। देवानां यल्लोककामेशितृत्वं तन्न स्वाभाविकं किन्त्वीशोपासनलब्धया तच्छक्त्योपजायत इत्यर्थः। स्फुटमन्यत्॥ २०॥

सूक्ष्मा-सार— *'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्'*—इस सूत्रमें कथित पदोंका तात्पर्य वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'अपहतपाप्मा' इस पदके अन्तर्गत 'पाप्मन्' शब्दका अर्थ है—कर्मबोद्धव्य। इसीकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि ब्रह्ममें कर्मवश्यताका लेशमात्र भी नहीं है। औत्पत्तिक शब्दका अर्थ है—देवताओंका जो लोक-कामनाओंका दातृत्व है, वह स्वाभाविक नहीं है, अपितु ईश्वरकी उपासना द्वारा प्राप्त शक्तिके बलपर उन्हें यह प्राप्त होता है॥ २०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—आदित्यमण्डलका मध्यवर्त्ती हिरण्यमय अर्थात् ज्योतिर्मय अथवा चैतन्यमय पुरुष जिनके केश, श्मश्रु, नख-शिख पर्यन्त सभी कुछ हिरण्यमय हैं, उनके दोनों नेत्र पुण्डरीकके समान हैं, वे ही ऋक्, वे ही साम, वे ही यजुः और वे ही ब्रह्म हैं। वे इस प्रकार सुवर्ण एवं हिरण्य—दो काञ्चनवाचक शब्दोंसे लक्षित हैं, अतः उनका सर्वाङ्ग ही स्पृहणीय है। कप्यास शब्दका अर्थ है पुण्डरीक-नयनसे युक्त। श्रील बलदेव प्रभु अपनी टीकामें उसकी इन रूपोंमें व्याख्या करते हैं—

अधिदैवत—सूर्यमण्डलके मध्य स्थित पुरुष ऊर्ध्व एवं अधः लोकोंके नियन्ता हैं और सभीके लिए अभीष्ट फलप्रदाता हैं—इस रूपमें वे ही अधिदैवत हैं।

अध्यात्म—नेत्रमण्डलगत पुरुष भी ऋग्वेदस्वरूप हैं। आदित्यपुरुषका जैसारूप, कान्ति अथवा आकृति होती है, वैसी ही आनन्दमय पुरुषकी भी है।

इस स्थलपर संशय होता है कि सूर्यमण्डल एवं अक्षिमण्डलमें जिन पुरुषका उल्लेख है, वे पुण्य और ज्ञानकी अतिशयताके कारण उत्कर्ष प्राप्त कोई जीव हैं अथवा उससे भिन्न परमात्मा? यहाँ यदि कोई पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब देहधारित्वकी प्रतीति होती है, उस समय कोई पुण्यवान जीव पुण्यातिशयके कारण ज्ञान एवं शक्तिके आधिक्यसे लोक-कामेशितृत्व और फलदातृत्वके कारण उपास्य हो जाता है, इस पूर्वपक्षको निरस्त करनेके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि नहीं, ऐसा नहीं है अर्थात् वह अन्तर्वर्त्ती पुरुष जीव नहीं, परमात्मा हैं। पुरुषसूक्तादिमें भी वे एक, आदित्यवत्, ज्योतिर्मय, अप्राकृत, दिव्यदेहधारी पुरुषके रूपमें वर्णित हैं। इस स्थलपर ब्रह्मकी देहका परिचय प्राप्त होनेसे उसका सविशेष (साकार) होना सिद्ध होता है।

नचिकेताने भी श्रीभगवान्का इसी प्रकार दर्शन किया था—

प्रसन्नमूर्त्तिं स्पृहणीयकान्तिं अन्तर्ददर्शाथ स नाचिकेताः।

और भी द्रष्टव्य है—

हरिं हृत्पद्ममध्यस्थं वन्देऽरविन्दलोचनम्।
स्पृहणीयतमं देवं कान्तरूपगुणैस्तथा॥

अर्थात् हृत्-पद्मके मध्यमें विराजमान अरविन्द-लोचन (कमलनयन) श्रीहरिकी वन्दना करता हूँ। वे अपने कान्तरूप एवं कमनीय गुणोंके द्वारा सर्वाधिक स्पृहणीय देव हैं।

श्रीमद्भागवत (५/७/१३) में भी देखा जाता है—

इत्थं धृतभगवद्व्रत एणेयाजिनवाससानुसवनाभिषेकार्द्रकपिश-कुलिजटाकलापेन च विरोचमानः सूर्यर्चा भगवन्तं हिरण्मयं पुरुषमुज्जिहाने सूर्यमण्डलेऽभ्युपतिष्ठन्नेतदुहोवाच।

अर्थात् इस प्रकार भगवत्-नियमोंका आश्रय लेकर महाराज भरत वस्त्रोंके रूपमें मृगचर्म पहनने लगे। त्रिसन्ध्या स्नान करनेके कारण

गीले रहनेसे उनके केश कपिल (भूरे) वर्णकी घुँघराली जटाओंमें बदल गये, जिससे वे और भी सुशोभित होने लगे। वे उदित होनेवाले सूर्यमण्डलमें उसके मध्यवर्ती (हिरण्यमय) पुरुष नारायणकी ऋग्वेदके मन्त्रोंसे आराधना करते और इस प्रकार कहा करते—ध्येयः सदा सवितृ-मण्डल-मध्यवर्त्ती—सूर्यके भीतर भगवान् नारायणका वास है, उनका रङ्ग सुनहरा है।

इसी प्रकार कूर्मपुराणमें भी कहा गया है—

आदित्योऽक्षिणि यो देवः सर्वकामस्य सम्भवः।
तं विभुं जगतां वन्दे हरिरूपिणमीश्वरम्॥

अर्थात् आदित्यमण्डल एवं अक्षिमण्डलमें जो सर्वकामप्रदाता (सभीकी मनोकामनाओंकी पूर्ति करनेवाला) विराजमान हैं, वे ही समस्त जगत्के नियन्ता हैं—ऐसे श्रीहरिरूपी ईश्वरको हम नमस्कार करते हैं॥ २०॥

सूत्र—भेदव्यपदेशाच्चान्यः॥ २१॥

सूत्रार्थ—'भेदव्यपदेशात् च'—आदित्याभिमानी जीवसे अन्तर्यामी परमात्माके भिन्नरूपमें निदर्शनके कारण भी, 'अन्यः'—जीवसे परमात्मा भिन्न हैं॥ २१॥

सूत्रानुवाद—भेदका निर्देश होनेसे हिरण्यमय पुरुष आदित्यदेहाभिमानी जीवसे भिन्न हैं॥ २१॥

गोविन्दभाष्य—आदित्यादिदेहाभिमानिनो जीवादन्योहन्तर्यामी परमात्मेत्यवश्यमङ्गी-कार्य्यम्—*'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत'* (बृ॰आ॰ ३/७/९) इति बृहदारण्यके तस्मद्भेदनिरूपणात् स एवेह भवितुमर्हति श्रुतिसामान्यात॥ २१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—यदि कहो कि आदित्यमण्डलका मध्यवर्ती जीव ही आनन्दमय पुरुष शब्दका वाच्य है, तो ऐसा नहीं है, क्योंकि आदित्यादि देहाभिमानी जीवसे अन्तर्यामी परमात्मा स्वतन्त्र हैं—यह सभीके लिए स्वीकार करने योग्य है। बृहदारण्यकोपनिषद (३/७/९)

में *'य आदित्ये तिष्ठन्न ... आत्मान्तर्याम्यमृतः'* इत्यादि श्रुतिमें कहा है कि जो आदित्यके मध्यवर्ती रहकर भी आदित्यसे अन्तर अर्थात् संस्पृष्ट नहीं है, जिन्हें आदित्य नहीं जानता है, आदित्य जिनका शरीर है, जो आदित्यके अन्तर्यामी होकर उसे उदय-अस्तादि कार्योंमें नियुक्त करते हैं, वे ही तुम्हारे अन्तर्यामी आत्मा अमृतस्वरूप हैं। इस श्रुतिमें आदित्याभिमानी जीवसे परमात्माका भेद कथन हुआ है, इस कारण वे ही अमृतस्वरूप आत्मा आनन्दमय पुरुष कहे जानेके योग्य हैं। एक श्रुति जिस प्रकार आदित्याभिमानी जीवके अन्तर्गत आत्माको परमात्मा कहती है, उसी प्रकार अन्य श्रुति भी (बृहदारण्यक श्रुतिमें ही विज्ञानात्मासे लेकर अन्तर्यामी परमात्माके भेदके निर्देशके कारण) उसे जीवसे भिन्न कह रही है। इस प्रकार श्रुतिकी समानताके कारण पूर्व श्रुतिमें सूर्य देहाभिमानी जीव नहीं है, उसके अन्तर्यामी ही आनन्दमय परम पुरुष हैं॥ २१॥

सूक्ष्मा-टीका—नन्वादित्यमण्डलस्थो जीवः सोऽस्त्विति चेत्तत्राह। भेदेति। य इति। तेऽन्तर्य्यामीत्यन्वयः। एवञ्चात्मशब्देनाभेदो न शङ्क्यः। तथा सतिष्ठ्यर्थस्योप-चारिकतापत्तिः। अमृत इति नित्यान्तयामित्वमुच्यते। आत्मेति विभुर्विज्ञानानन्द इत्यर्थः। स्मृतिश्चैवमाह। *'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती नारायणः सरसिजासन-सन्निविष्टः। केयूरवान् कनककुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशञ्चक्रः'* इति॥ २१॥

सूक्ष्मा-सार—प्रश्न है—क्या आदित्यमण्डलस्थ जीव उस आनन्दमय शब्दका वाच्य है? यदि ऐसा कहते हो, तो इस विषयमें सूत्रकार कहते हैं—*भेदव्यपदेशाच्चान्यः*—भिन्न रूपमें निरूपणके कारण उस जीवसे परमात्मा भिन्न हैं। श्रुति इसे *'य आदित्य'* इत्यादिके द्वारा प्रमाणित कर रही है। 'यद्' (जो) शब्दके साथ 'तद्' (वही) शब्दका नित्य सम्बन्ध रहता है—इस नियमसे 'ते' शब्दमें उस आत्माका अन्तर्यामीके साथ नित्य सम्बन्ध समझना चाहिये। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आत्माको परमात्मासे अभेद मान लिया जाय। अभेद मान लेनेसे तो 'ते' पदसे 'तुम्हारा आत्मा' यह बोध होने लगेगा, परन्तु यह बोध किया नहीं जा सकता, क्योंकि भेद-स्थलपर षष्ठी विभक्ति होती है।

अभेद अर्थ ग्रहण कर लेनेपर लक्षणाकी भी आपत्ति होती है। 'अमृत इति' श्रुतिमें उक्त अमृत शब्दका अर्थ 'नित्य अन्तर्यामी' कहा गया है। 'आत्मेति' इस श्रुतिमें उक्त आत्मन् शब्दका अर्थ है—जो विभु विश्वव्यापक विज्ञानानन्द हैं। श्रुतिके समान स्मृति भी कह रही है—*ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासन सन्निविष्टः। केयूरवान् कनककुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः॥*

अर्थात् जो सूर्यमण्डलके अन्तवर्ती ब्रह्माण्ड-पद्मासनपर विराजमान हैं, केयूर, मकराकृति कुण्डल, मनोहर हारधारी हैं, किरीटसे विभूषित हैं, हिरण्यमय अर्थात् ज्योतिर्मय मूर्त्ति हैं, हाथोंमें शङ्ख-चक्र इत्यादि हैं, ऐसे नारायण ही हमारे द्वारा सदा-सर्वदा ध्येय हैं। इनका ही ध्यान करें॥ २१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्व सूत्रमें कहा गया था कि आदित्यमण्डलका मध्यवर्ती पुरुष जीव नहीं है, इसीको प्रस्तुत सूत्रमें और भी स्पष्ट किया गया है। यदि किसीको 'आत्मन्' शब्दसे अभेदकी आशङ्का होती है, तो वह आशङ्का इस सूत्र द्वारा निरस्त हो जाती है। इस प्रकार परमात्मा सूर्याभिमानी देवतासे भिन्न हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—*आदित्यानामहं विष्णुः* (श्रीमद्भा॰ ११/१६/१३)।

इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता (१०/२१) में भी भगवान्ने यही कहा है—*आदित्यानामहं विष्णुः।*

इसकी टीका करते हुए श्रील चक्रवर्ती ठाकुर लिख रहे हैं—'*अथ निर्द्धारण-षष्ठ्या क्वचित् सम्बन्ध षष्ठ्या च विभूतिराह यावदध्यायसमाप्तिः। आदित्यानां द्वादशानां मध्ये विष्णुरहमिति—तन्नामा सूर्यो मद्विभूतिरित्यर्थः।*' अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण कहीं निर्धारण षष्ठीसे और कहीं सम्बन्ध षष्ठीसे अध्यायके अन्त तक विभूतियोंका वर्णन कर रहे हैं। द्वादश आदित्योंमेंसे मैं विष्णु ही विष्णु नामक सूर्य हूँ, जो कि मेरी विभूति है।

इसी प्रकार '*हिरण्मयं पुरुषमुज्जिहाने सूर्यमण्डले*' (श्रीमद्भा॰ ५/७/१३) की टीकामें श्रील चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि सूर्यमण्डलमें सप्तमीका निर्देश है, अतः सिद्ध है कि परमात्मा सूर्यसे भिन्न हैं॥ २१॥

८—आकाशाधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—तथैव छान्दोग्ये श्रूयते। *'अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते। आकाशं प्रत्यस्तं यान्त्याकाशः परायणमिति।'* इह सन्दिह्यते। आकाशशब्दबोध्यं वियद्ब्रह्म वेति। तत्राकाशशब्दस्य वियति रूढत्वादाकाशद्वायुरिति तस्यापि भूतहेतुत्वश्रवणाच्च वियदिति प्राप्तौ—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—बृहदारण्यकके समान छान्दोग्योपनिषद (१/९/१) में भी सुना जाता है कि शालावत नामक ऋषिने राजा जैवलिसे पूछा—इस विश्वजगत्का आधार क्या है? राजाने उत्तरमें कहा, 'आकाश', समस्त पृथ्वी आदि महाभूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं एवं आकाशमें ही लयको प्राप्त होते हैं। अतः आकाश ही परम आश्रय है। अब इस श्रुतिके विषयपर सन्देह होता है कि यहाँ आकाश शब्दका वाच्य वियत् अर्थात् भूताकाश है अथवा ब्रह्म। पूर्वपक्षकी युक्ति है कि आकाश शब्दकी प्रसिद्धि (रूढ़ि) वियदाकाश (भूताकाश) में है और *'आकाशाद्वायुर्वायोस्तेजः'* (तै॰ २/१) इत्यादि श्रुतिसे आकाश इत्यादिसे प्रसिद्ध वायु इत्यादि समस्त भूतोंकी उत्पत्ति सुनी जाती है। अतः वियत् अर्थात् भूताकाश ही समस्त भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिका भाष्यस्य टीका—पूर्वमपहतपाप्मत्वादिना ब्रह्मलिङ्गेन हिरण्य-श्मश्रुत्वादिकमन्यथा नीतम्। इह लिङ्गादाकाशशब्दश्रुतिरन्यथा नेतुं न शक्या लिङ्गापेक्ष्या श्रुतेः प्राबल्यादिति प्रत्युदाहरणसङ्गत्यारभ्यते। अस्य लोकस्येत्यस्यार्थः। शालावताऽभिधान ऋत्विर्जैवलिं नृपं पृच्छति। अस्येति। निखिलप्रपञ्चाधारः क इति प्रश्नार्थः। जैवलिराह। आकाश इति। कथं तदाधारस्तत्राह। सर्वाणीति। भूताकाशव्यावृत्तये हेत्वन्तरं। आकाशं प्रतीति। तत्रैव हेत्वन्तरं। आकाशः परायणमिति। अयमाकाशः परमात्मैवेति सिद्धान्तार्थः। इहेत्यादिग्रन्थः स्फुटार्थः।—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले अपहतपाप्मत्व इत्यादि ब्रह्मके लक्षणोंके द्वारा हिरण्यश्मश्रुत्व इत्यादि लक्षण अन्य प्रकारसे तुम्हारे ब्रह्ममें सङ्गत किये थे, किन्तु इस सूत्रमें तो लिङ्गसे आकाश

शब्दकी व्याख्या परमात्मामें नहीं की जा सकती, क्योंकि श्रुति लिङ्गकी अपेक्षा अधिक प्रबल होती है। इस प्रकार प्रत्युदाहरण—सङ्गति ग्रहण करके परवर्ती सूत्रका आरम्भ करते हैं। *'अस्य लोकस्य'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ यह है कि एक समय शालावत नामक ऋषिने जैवलि राजासे पूछा—इस परिदृश्यमान जगत्‌की गति अथवा आधार क्या है? अर्थात् जगत् किसके ऊपर स्थिति प्राप्त कर रहा है? इस प्रकार यह उनके प्रश्नका सार था। इसके उत्तरमें जैवलिने कहा 'आकाश' उसका आधार है। आकाश उसका आधार किस प्रकारसे हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं—*'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते'* अर्थात् आकाशसे ही पृथ्वी आदि समस्त महाभूत, स्थावर-जङ्गम प्राणी उत्पन्न होते हैं। यहाँ सन्देह यह होता है कि महाभूत तो वियदाकाशसे उत्पन्न हो गये, इस आशङ्कामें वियदाकाशको व्यावृत्त करने (आवृत्त करने अथवा लपेटनेके लिए) श्रुति और एक हेतुका निदर्शन कर रही है कि *'आकाशं प्रत्यस्तं यान्ति'*—उस आकाशमें ही समस्त प्राणी अस्तगमन करते हैं अर्थात् लीन हो जाते हैं। इसका प्रमाण क्या है? उत्तरमें कहते हैं—*'आकाशः परायणम्'* अर्थात् आकाश ही शेष (परम) गति है, परम आश्रय है। इस प्रकार श्रुतिमें कथित आकाश शब्दका अर्थ परमात्मा है—यह सिद्धान्त है।

सूत्र—आकाशस्तल्लिङ्गात्॥ २२॥

सूत्रार्थ—'आकाशः'—यहाँ आकाश शब्दका तात्पर्य ब्रह्म ही हैं, वियत् अर्थात् भूताकाश नहीं, क्योंकि 'तल्लिङ्गात्'—अर्थात् समस्त प्राणियोंके उपादानत्व लक्षणके कारण॥ २२॥

सूत्रानुवाद—आकाश पदवाच्य यहाँ परमात्मा ही हैं, क्योंकि उनका यहाँ लिङ्ग (प्रमाण) है॥ २२॥

गोविन्दभाष्य—ब्रह्मैव स न वियत्। कुतः? तल्लिङ्गात्। सर्वभूतोत्पादनत्वादि-लक्षणब्रह्मलिङ्गादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति। सर्वाणी (छा॰ १/९/१) त्यसङ्कुचितसर्व-शब्दाद्वियत्सहितसर्वभूतोत्पत्तिहेतुत्वमवगतम्। न च तद्वियत्पक्षे संभवेत् स्वस्य स्वहेतुत्वाभावात्। आकाशादेवेत्येवकारेण (छा॰ १/९/१) हेत्वन्तरञ्च निरस्तम्। एतदपि न तत्पक्षे। मृदादेर्घटादिहेतोदर्ज्जष्टत्वात्। ब्रह्मपक्षे तु सङ्गतिमत् तस्यैव

सर्वशक्तिमतः सर्वरूपत्वात्। यद्यप्याकाशशब्दस्तत्ररूढस्तथापि श्रौतरूढितो ब्रह्मणि प्रयुज्यते बलिष्ठत्वादिति॥ २२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आकाश शब्दसे यहाँ ब्रह्म ही हैं, वियदाकाश या भूताकाश नहीं। क्यों? तल्लिंगात्—ब्रह्मके लक्षणके कारण अर्थात् समस्त पञ्च महाभूतोंका उपादान कारण वियदाकाश नहीं है। इसलिए भूताकाश आनन्दमय ब्रह्मका स्वरूप नहीं है। बात यह है कि *'सर्वाणि ... समुपद्यते'* इत्यादि श्रुतिमें साधारण रूपसे आकाश, वायु, अग्नि, जल इत्यादि पञ्चञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति आकाशसे कही गयी है, यहाँ सर्व शब्दके अर्थसे आकाशको छोड़कर अन्य चार महाभूतोंकी उत्पत्ति उसीसे हुई है, इस प्रकार कल्पना नहीं की जा सकती। यदि वियदाकाशसे आकाश शब्दका अर्थ लेते हैं, तो पञ्चमहाभूतवाली बात सङ्गत नहीं होती, क्योंकि स्वयं, स्वयंकी उत्पत्तिका कारण नहीं हो सकता, इसीसे आकाश शब्दका अर्थ ब्रह्म अथवा परमेश्वर है। और एक बात, श्रुतिमें 'आकाशादेव' आकाशके साथ 'एव' का प्रयोग होनेसे यह भी जाना जा सकता है कि जगत्की उत्पत्तिका कारण परमात्मासे भिन्न और कोई नहीं है। इस बातको भी वियत् पक्षमें सङ्गत नहीं कहा जा सकता, किसे? अर्थात् यह कि वियदाकाशसे समस्त वस्तुओंकी उत्पत्ति होती है। यदि ऐसा ही है तो मृत्तिकासे घटकी उत्पत्ति जो देखी जाती है, उसका क्या होगा? ब्रह्म-पक्षमें यह सब असम्भव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म सर्वशक्तिमान हैं। शक्तिमान ब्रह्म ही मृत्तिकादि सर्वस्वरूप हैं। यद्यपि आकाश शब्दकी वियदाकाश अर्थमें प्रसिद्धि है, तो भी वेदमें आकाश शब्दकी ब्रह्ममें रूढ़ि (प्रसिद्धि) है, और वही ग्रहणीय है। लौकिक रूढ़िसे वैदिक रूढ़ि प्रबल होती है॥ २२॥

सूक्ष्मा-टीका—अत्र सर्वजगदुत्पत्तिप्रलयपालनहेतुत्वसर्वज्यायस्त्वानन्तत्वादीनि ब्रह्मलिङ्गानि प्रतीयन्ते। तेषां बहुनामनवकाशलिङ्गानामनुग्रहायैकस्या आकाशश्रुतेर्बाधो युक्तः। त्यजेदेकं कुलस्यार्थे इति न्यायात्। इदमत्र बोध्यम्। श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण-स्थानसमाख्यानां समवाये परदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षादितिजैमिनेः सूत्रम्। तत्र निरपेक्षरवश्रुतिः। श्रुतिसामर्थ्यं लिङ्गं संहत्यार्थं ध्रुवपदवृन्दं वाक्यं कथमित्याकाङ्क्षाप्रकरणम्। समानदोषाणामुदाहरणान्याकरग्रन्थाद्वीक्षणीयानि॥ २२॥

सूक्ष्मा-सार— *'सर्वाणि ह वा'* इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्मके कुछ लक्षण प्रतीत हो रहे हैं, यथा समस्त विश्व प्रपञ्चकी उत्पत्ति, लय एवं पालनके वे हेतु हैं, वे सबसे श्रेष्ठ हैं, वे अनन्त, नाशहीन हैं, ये लक्षण विपदाकाशमें घटित नहीं होते। अतएव इन सब लक्षणोंके सामञ्जस्य-रक्षणके लिए इस एक आकाश-श्रुतिको छोड़ देना ही उचित है। जिस प्रकार लौकिक न्यायमें देखा जाता है कि वंशकी रक्षा करनेके लिए वंशजात अपात्रका त्याग कर दिया जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। परन्तु, यहाँ विचारणीय यह है कि मीमांसा-दर्शनमें जैमिनि मुनि श्रुतिके सम्बन्धमें छह प्रमाण दिखा रहे हैं यथा श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान एवं समाख्या। इनमेंसे जिस स्थानपर अनेक प्रमाणोंका समवाय (मिलाप) घटित हो, वहाँ *'परदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्'*—पर-पर प्रमाण पूर्व-पूर्व प्रमाणसे दुर्बल मानना होगा, क्योंकि साक्षात् अर्थसे अनुमेय अर्थ दुर्बल होता है। जैसे श्रुति कहती है—यह एक कार्य है और लिङ्ग (ज्ञापक चिह्न) अथवा शब्द-सामर्थ्य कहता है—यह (अन्य) कार्य है। इस प्रकरणमें कर्त्तव्यमें सन्देह उपस्थित होनेपर श्रुति जो कहती है, वही ग्रहण करने योग्य है, क्योंकि 'निरपेक्षरवः श्रुतिः' जो अन्य (प्रकृति-प्रत्ययादि) की अपेक्षा नहीं रखती, उसका नाम श्रुति है। लिङ्ग इस प्रकारसे नहीं है, उसमें शब्द सामर्थ्य है, प्रकृति-प्रत्ययके योग होनेपर जो अर्थ प्रतीत होता है, वह लिङ्गार्थ है। अतएव श्रौत अर्थसे लिङ्गार्थ दुर्बल होता है। लिङ्ग श्रुतिका सामर्थ्य है। पदसमूह परस्पर मिलकर जब किसी एक विशेष अर्थको प्रकाशित करते हैं, उसका नाम वाक्य है। किस प्रकारसे कार्य किया जायेगा, इस आकांक्षाका नाम प्रकरण है। कहा भी गया है—*श्रुतिर्द्वितीया क्षमता च लिङ्गम्, वाक्यं पदान्येवतु संहतानि। सा प्रक्रिया या कथमित्यपेक्षा, स्थानं क्रमोयोगबलं समाख्या॥*

एक स्थानपर समान दोष उपस्थित होनेपर उसका उदाहरण मूल मीमांसा-ग्रन्थमें देखना चाहिये॥ २२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—छान्दोग्य श्रुतिमें कहा गया है कि आकाशमें ही सबका आश्रय है। समस्त प्राणी आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं। इस

स्थलपर संशय है कि आकाश भूताकाश है अथवा ब्रह्म। इस संशयके निराकरणके लिए प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि श्रुतिमें कथित आकाश भूताकाश नहीं हो सकता, क्योंकि समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति ब्रह्मसे ही सम्भव है, भूताकाशसे नहीं। निम्न और भी कारणोंसे यह स्पष्ट हो रहा है—

(१) भूताकाशसे समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति कहनेपर भूताकाशकी उत्पत्तिका कारण भी भूताकाश ही हो जाता है, जो कि सङ्गत नहीं है।

(२) एकको छोड़कर चार महाभूतोंकी उत्पत्ति ग्रहण करनेपर समस्त भूतोंकी उत्पत्ति नहीं हुई, किन्तु ब्रह्मसे समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति होना सङ्गत है।

(३) श्रुतिमें आकाशको ज्यायः (श्रेष्ठ), परायणम् (परम गति) और अनन्त इत्यादि शब्दोंसे वर्णित किया गया है। ये सभी शब्द ब्रह्ममें ही प्रयुक्त हो सकते हैं, भूताकाशमें नहीं।

श्रीमद् रामानुजाचार्यने भी कहा है—*'आकाशते आकाशयति च इति आकाशः।* आकाशते अर्थात् प्रकाशते, आकाशयति अर्थात् प्रकाशयति—इस प्रकार जो 'आसमन्तात्' चारों ओरसे सम्यक् प्रकारसे 'काशते'—'प्रकाशते' अर्थात् प्रकाश पाता है और दूसरेको प्रकाशित करता है, वह 'आकाश' होता है। अतः यह आकाश शब्द परब्रह्मका बोधक ही सिद्ध होता है।

श्रीमद्भागवत (१/६/२६) में द्रष्टव्य है—*'एतावदुक्त्वोपरराम तन्महद् भूतं नभोलिङ्गमलिङ्गशरीरम्।'* अर्थात् आकाशके समान अव्यक्त सर्वशक्तिमान महान परमात्मा इतना कहकर चुप ही रहे।

श्रीअक्रूरजीकी स्तुतिमें वर्णन है—

भूस्तोयमग्निः पवनः खमादिर्महानजादिर्मन इन्द्रियाणि।
सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे, ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/४०/२)

अर्थात् हे देव! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहङ्कार, महत्-तत्त्व, प्रकृति, पुरुष, मन, दस इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके विषय और

इनके अधिष्ठातृ देवता, जो जगत्के कारणस्वरूप हैं, वे सभी-के-सभी आपके ही श्रीअङ्गसे उत्पन्न हुए हैं।

श्रील जीव गोस्वामिपादने इस सूत्रकी सर्वसंवादिनी टीकामें लिखा है—*आ समन्तात् काश इत्याकाशः परमात्मैव, न प्रसिद्धाकाशः, कुतः तस्य परमात्मनोऽखिलकारणत्वादिति लिङ्गात्।* अर्थात् जो चारों ओरसे प्रकाशित होते हैं, वे परमात्मा ही हैं, यह प्रसिद्ध भूताकाश नहीं। क्योंकि परमात्मा ही सभीके कारणभूत हैं—इस ज्ञापक लिङ्ग-प्रमाणसे यह स्पष्ट है।

इसी प्रकार *'तस्माद्वा एतस्मादात्मन् आकाशः सम्भूतः'* अर्थात् आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ और *'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्'* और सृष्टिके पूर्व एक आत्मा ही था, यह श्रुतियाँ भी प्रमाणित करती हैं॥ २२॥

९—प्राणाधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—*'कतमा सा देवतेति। प्राण इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशस्ति प्राणमभ्युज्जिहते'* (छ॰ १/११/४-५)। इति तत्रैव श्रूयते तत्र प्राणो मुखान्तर्वर्त्ती वायुरुत सर्वेश्वर इति सन्देहे। रूढत्वाद्भूताभ्युदयाभिसंवेशयोः प्राणहेतुकत्वप्रसिद्धेश्च वायुरेवेति प्राप्तौ—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—छान्दोग्योपनिषदके उद्गीथ विद्या प्रकारणमें चाक्रायण नामक महर्षि प्रस्तोता (स्तोत्र-पाठक) से पूछते हैं—अहे प्रस्तोतेः! जो देवता सामगानके भजनमें ध्यानके लिए अनुसृत (समर्थित अथवा प्रस्तावित) हुए हैं, उन्हें न जानकर यदि तुम स्तुति (अर्थहीन स्तोत्र-पाठ) करोगे, तो तुम्हारा मस्तक गिर जायेगा। यह सुनकर प्रस्तोताने जिज्ञासा की 'वे देवता कौन हैं?' चाक्रायणने उत्तर दिया—वे देवता प्राण हैं, यह प्राण वह नहीं है, तो मुखस्थित वायु है, बल्कि यह वही हैं जो समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिके कारण हैं। श्रुति कहती है—*सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभि संविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते* (छा॰ १/११/४-५) अर्थात् यह समस्त दृश्यमान भूत-प्रपञ्च प्राणको ही उत्पादक रूपमें आश्रय करके रहता है और प्राणमें ही उसका लय होता है। इस प्राणके सम्बन्धमें संशय होता

है कि यह प्राण कौन है? मुखान्तर्वर्त्ती वायु अथवा सर्वेश्वर। पूर्वपक्षी कहते हैं कि प्राण शब्द मुखवायु अर्थमें ही जब रूढ़त्व (प्रसिद्ध है), तब इस श्रुतिमें उक्त प्राण शब्द अर्थ भी मुखवायु ही है, मात्र इतना ही नहीं, समस्त भूतोंकी उत्पत्ति एवं लय भी प्राणका आश्रय करके होते हैं। इसलिए प्राण शब्दका अर्थ मुखवायुमें है। इस पूर्वपक्षी मतके निराकरणके लिए सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिका भाष्यरूप टीका—पूर्वत्र ब्रह्मैकान्तलिङ्गबाहुल्यादाकाशश्रुतेरेकस्या बाधो युक्तः। इह तु भूतोत्पत्तिप्रलयलिङ्गस्य प्राणेऽपि संभवेहनैकान्तलिङ्गानन्त-लिङ्गसहचराभावात् प्राणश्रुतेर्बाधो न युक्तः कर्त्तुमिति। प्रत्युदाहरणसङ्गत्याह। कतमेति। अतिदेशत्वान्नात्र पृथक्सङ्गत्यपेक्षेत्येके। तत्रैवाकाशवाक्यानन्तरं श्रूयते। उद्गीथे प्रस्तोतुर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता ताञ्चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि मुर्द्धा ते विपतिष्यतीति। कतमा सा देवतेत्यादि। अस्यार्थः। उद्गीथाधिकारे प्रस्तावध्यानमिति बक्तुमुद्गीथ इत्युक्तम्। चाक्रायणो नामर्षिर्धनार्थं राज्ञो यागं गत्वा निजज्ञानवैभवं प्रकटयन् प्रस्तोतारमुवाच हे प्रस्तोतः या देवता प्रस्तावं सामभक्तिविशेषमन्वायत्तानुगता ध्यानार्थं तामविद्वानजानन् त्वं चेत् प्रस्तोष्यसि, तर्हि तव मुर्द्धा विपतिष्यतीति श्रुत्वा भीतः सन् प्रस्तोता चा चक्रायणं पप्रच्छ। कतमा सेति। तस्य प्रतिवचनं प्राण इति। मुख्यप्राणवायुव्यावृत्तये सर्वाणीति। अभिसंविशन्ति प्रलयकाले लीनानि भवन्तीत्यर्थः।—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अभी आकाश शब्दका अर्थ ब्रह्म कहा गया, क्योंकि आकाशादि पञ्च महाभूत एवं अन्यान्य समस्त प्राणियोंका उपादान कारण आकाश नहीं है, ब्रह्म ही उसका अव्यभिचरित (निरपवाद) कारण हैं। इसी प्रकार अन्यान्य लक्षण भी ब्रह्ममें ही अव्यभिचरित है। अतः एक आकाश श्रुतिको छोड़ देना युक्तियुक्त है, किन्तु प्राणवायुमें सर्वोत्पत्तित्व और प्रलयके हेतुत्वका अभाव है, साथ ही अनन्त-लिङ्ग (प्रमाण) के साहचर्यका भी अभाव है, तब प्राण-श्रुतिको छोड़ देना युक्तियुक्त नहीं है—यह प्रत्युदाहरण सङ्गतिके अनुसार भाष्यकारने कहा है—*कतमो मा* इत्यादि। कोई-कोई कहते हैं—'अतएव प्राणः' यह अतिदेश (एक धर्मका दूसरे धर्ममें आरोपण) श्रुति है, अर्थात् आकाश श्रुतिके निरासके समान प्राण श्रुतिका भी निरास है, अतएव इसमें पृथक् भावसे सङ्गति दिखानेका कोई प्रयोजन नहीं है। छान्दोग्योपनिषदमें इस आकाश श्रुतिको

दिखानेके बाद इस प्राणश्रुतिका वर्णन है। 'उद्गीथ इत्यादि'—उद्गीथ अर्थात् उच्च स्वरसे साम-गान कार्यमें चाक्रायणने प्रस्तोता (स्तवकारी) को सम्बोधन करके कहा—हे प्रस्तोता! तुम्हारे इस प्रस्तावमें (प्रकृष्ट स्तुतिमें) जो देवता अनुगत हैं, तुम यदि उनके स्वरूपको बिना जाने स्तुति करोगे, तो तुम्हारा मस्तक गिर पड़ेगा अर्थात् तुम मृत्युके मुखमें चले जाओगे। इस श्रुतिका अर्थ इस प्रकार है—उद्गीथ प्रकरणमें प्रस्तावका ध्यान बतानेके लिए 'उद्गीथ' कहा है। चाक्रायण नामक एक ऋषि धनकी कामनासे राजाके यज्ञमें जाकर अपनी ज्ञान-महिमा प्रकट करनेके लिए प्रस्तोतासे कहते हैं—"हे प्रस्तोता! ध्यानके लिए अर्थात् ध्येय रूपमें जो देवता तुम्हारे इस प्रस्तावमें अर्थात् साम-भक्ति-विशेषके विषय हुए हैं, उनसे अवगत न होकर यदि प्रस्ताव करते ही तो तुम्हारा मस्तक पतित हो जायेगा।" यह सुनकर प्रस्तोताने चाक्रायणसे पूछा कि 'कतमा सा इति' वे देवता कौन हैं? प्रत्युत्तरमें कहा गया 'प्राण इति', वे देवता प्राण हैं। इस प्रकार यहाँ उद्गीथ अधिकारमें प्रासङ्गिक प्रस्तावका ध्यान 'प्राण' कहा गया है। अतः यहाँ प्राण शब्द वाच्य परमात्मा ही हैं। प्राण शब्दका प्रसिद्ध अर्थ मुखान्तर्वत्तीवायु है, उसीके वाद-विवादके लिए श्रुति कहती हैं—'सर्वाणि'—जिससे समस्त उत्पन्न होते हैं, 'अभिविशन्ति' प्रलयकालमें प्राणमें लीन होते हैं—

सूत्र—अतएव प्राणः ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ—'अतएव'—इसलिए अर्थात् तुमने जिस कारणसे मुख-वायुको प्राण कहा है, वही कारण ही समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति एवं लयका हेतु भी कहा गया है, 'प्राणः'—यह प्राण सर्वेश्वर ही हैं, वायु विकार नहीं॥ २३ ॥

सूत्रानुवाद—इसलिए प्राण ही ब्रह्म हैं॥ २३ ॥

गोविन्दभाष्य—प्राणोऽयं सर्वेश्वर एव न वायुविकारः। कुतः? अतएव सर्वभूतोत्पत्तिप्रलयहेतुत्वरूपाद्ब्रह्मलिङ्गादेव॥ २३ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—प्रस्तोताने जिज्ञासा की कि स्तुतिका उपास्य देवता कौन है? चाक्रायणने कहा—"प्राण ही वे उपास्य देवता हैं,

क्योंकि श्रुतिमें कहा है कि ये परिदृश्यमान समस्त वस्तुएँ प्राणका आश्रय करके ही उदित होती हैं एवं प्राणमें ही लीन होती हैं।" इस श्रुति लभ्य प्राणके सम्बन्धमें संशय होता है कि जीवके मुखके मध्य जो वायु है, क्या वही प्राण शब्दका अर्थ है अथवा सर्वेश्वर परमात्मा? पूर्वपक्षी कहते हैं—'रूढत्वात्'—प्राण शब्द मुखान्तर्वर्ती वायु अर्थमें प्रसिद्ध है और समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति एवं लयके कारण भी वह सर्वजन-प्रसिद्ध है। अतः वायु ही प्राण शब्दका अर्थ है, सर्वेश्वर नहीं। इस पूर्वपक्षीय मतके निराकरणके लिए सूत्रकार कह रहे हैं—*'अतएव प्राणः'*, यह प्राण सर्वेश्वर है, वायु विकार नहीं। क्यों? इसलिए कि समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति एवं लयका जो कारण है, वह ब्रह्मका लक्षण है, मुख-वायुका नहीं॥ २३॥

सूक्ष्मा-टीका—सर्वभूतप्रलयोत्पत्तिरूपेणानवकाशलिङ्गेन प्राणश्रुतिर्बाध्येति न किञ्चिच्चोद्यं॥ २३॥

सूक्ष्मा-सार—समस्त महाभूतोंका प्रलय और उत्पत्तिरूप लक्षण (प्रमाण) जो अन्यत्र नहीं है, उसके द्वारा प्राण श्रुतिका भी बाध (त्याग) करना चाहिये। अतः अब कोई और प्रश्न रह नहीं जाता॥ २३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—महर्षि चाक्रायण और प्रस्तोतामें जो कथोपकथन हुआ, तदनुसार प्राण देवताका प्रसङ्ग आया। प्राण शब्दका अर्थ सर्वेश्वर ब्रह्म है, वायु विकार नहीं। सर्वेश्वर परब्रह्म ही समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति एवं लयके एकमात्र हेतु हैं। श्रीमद्भागवत (११/३/३५) में नवयोगेन्द्र सम्वादमें देखा जाता है—

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य
यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद्बहिश्च।
देहेन्द्रियासुहृदयानि तरन्ति येन
सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र॥

अर्थात् अब नवयोगेन्द्रोंमेंसे पाँचवे योगीश्वर पिप्पलायनजीने कहा—हे राजन्! जो इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयके मूलकारण हैं

और स्वयं जिनका कोई भी कारण नहीं हैं, उन्हें तत्त्ववस्तु नारायण समझिये। जो स्वप्न, जागरण और सुषुप्तिकी दशामें तथा समाधि आदि अवस्थाओंमें सर्वत्र साक्षी रूपमें वर्त्तमान रहता है, वही ब्रह्मस्वरूप परमतत्त्व है, ऐसा समझो। इसी प्रकार देह, इन्द्रिय, प्राण, हृदय और ये सब जिनके प्रभावसे सञ्जीवित होकर अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, उन्हींको परमात्मा नामक परम तत्त्व समझो।

वेदान्त-कौस्तुभ-प्रभाकार कहते हैं—

छान्दोग्योपनिषदमें ही उद्गीथ विद्यामें कहा है कि *'परोवरीयांसमुद्गीथमुपास्त'* अर्थात् उद्गीथकी उपासना करें। उद्गीथमें तीन शब्द हैं—उत्, गी, स्थ। उच्चत्वात् उत्, गीत्वात् गीः तथा सर्वस्थान स्थित होनेसे स्थ अर्थात् जो सबसे ऊँचा, सबके द्वारा मान्य होकर सभी स्थानोंमें स्थित होता है, उसे उद्गीथ कहते हैं—ऐसे उद्गीथ (सर्वोपरि) भगवान्‌की उपासना करें।

इस प्रकार प्राण शब्दसे यहाँ परमात्मा ही ग्राह्य हैं, क्योंकि 'प्राणयति सर्वजगत्'—जो सम्पूर्ण जगत्‌को जीवन प्रदान करते हैं अथवा *'प्राणिति स्थितिं लभते जगत् यस्मिन् स प्राणः'* अर्थात् सम्पूर्ण जगत् जिसमें स्थिति लाभ करता है—जिनके द्वारा रक्षित है—इस व्युत्पत्तिसे प्राण शब्द वाच्य यहाँ परमात्मा ही हैं॥ २३॥

१०—ज्योतिरधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—तत्रैव (छा० ३/१३/७) श्रूयते। *'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तेषूत्तमेषु लोकेषु इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः'* इति। तत्र संशयः। किमिह ज्योतिरादित्यादितेजः किं वा ब्रह्मेति। तत्रब्रह्मणः पूर्वमसन्निधानादादित्यादितेजस्तदिति प्राप्तौ—

अवतरणिका भाष्य—वहीं छान्दोग्योपनिषद (३/१३/७) में सुननेमें आता है कि 'अथेत्यादि'। अच्छा! प्राण-ब्रह्मको तो समझा दिया, किन्तु यह वक्ष्यमाण (जिस श्रुतिके विषयमें कहा जायेगा) श्रुति जो ज्योतिःका ही आनन्दमय ब्रह्म कह रही है—इस अभिप्रायसे कह रहे हैं यह है कि ज्योति स्वर्गलोकके ऊपर देशमें विराजमान है, समस्त प्राणि-वर्ग और लोकोंके ऊपर यह ज्योति अवस्थित है, उत्तम-

अधम-स्थावरसे ब्रह्मा तक यह सभी वस्तुओंमें व्यापक है, यही ज्योतिःस्वरूप ही जीवके अन्तर (हृदय) में ध्येय है। इस श्रुतिमें संशय है कि ज्योतिः शब्दमें क्या आदित्यतेज अभिप्रेत है अथवा ब्रह्म। पूर्वपक्षी कहते हैं कि ज्योति कहनेसे आदित्यतेजको ही जानना होगा, क्योंकि इस प्रकरणमें ब्रह्मका कहीं भी उल्लेख नहीं है। इसलिए यह ज्योति ब्रह्म नहीं है।

अवतरणिका भाष्यस्य टीका—पूर्वत्र प्राणवाक्ये ब्रह्मलिङ्गसत्वादन्तु ब्रह्मार्थता इह तदभावान्न सास्त्विति। प्रत्युदाहरणसङ्गत्याह। अथ यदत इत्यादि। प्रतिपादक-गायत्र्यात्मकब्रह्मोपासनानन्तरं प्रतिपाद्यतेजोमयब्रह्मोपासनकथनायाथ शब्दः। दिवो द्यूलोकात् परस्ताज्योतिर्दीप्यते तद्वै इदं। कुत्रतद्दीप्यते तत्राह। विश्वत इति। विश्वमात् प्राणिवर्गादुपरीत्यर्थः। विश्वशब्दस्य कतिपयार्थत्वं व्यावर्त्तयितुं सर्वत इति। सर्वस्माल्लोकादुपरीत्यर्थः। अनुत्तमेविति। आस्थावरब्रह्मान्तेष्वित्यर्थः। इदं शब्दार्थं स्फुटयति यदिदमस्मिन्निति। निखिललोकव्यापी चिद्रुपो हरिरेव स्वहृदि विद्यमानो ध्येय इति वाक्यार्थः।—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले प्राण-श्रुतिमें ब्रह्म-लिङ्ग रहनेसे प्राण शब्दका अर्थ ब्रह्म कह दिया गया हो, किन्तु इस ज्योतिः—श्रुतिमें तो ब्रह्मका कोई लिङ्ग (प्रत्यभिज्ञा चिह्न या प्रमाण) उल्लिखित नहीं है, अतः ज्योतिः शब्दका अर्थ प्रसिद्ध आदित्यतेज ज्योति है। यह ब्रह्म-बोधक नहीं है। इस आशङ्कारूप प्रत्युदाहरण सङ्गतिके अनुसार कहते हैं *'अथ यदेत'* इत्यादि। प्रतिपाद्य ब्रह्मके प्रतिपादक गायत्रीस्वरूप ब्रह्मकी उपासनाके बाद गायत्री-प्रतिपाद्य तेजोमय ब्रह्मका प्रतिपादन करनेके लिए श्रुतिमें 'अथ' शब्दका प्रयोग हुआ है, अर्थात् गायत्री-उपासनाके बाद तेजोमय ब्रह्मका प्रसङ्ग है। दिवः—स्वर्गलोकके उपरी भागमें जो ज्योति दीप्तिमान है, वही इस जीवके हृदयके बीच विराजमान ब्रह्म हैं। यह ज्योति कहाँ दीप्यमान है? उत्तर है—प्राणियोंके ऊपर। 'विश्वतः' पदका अर्थ कुछ प्राणियोंके ऊपर नहीं है—यह ज्ञात करानेके लिए श्रुतिने कहा—*'सर्वतः पृष्ठेषु'*—समस्त लोकोंके ऊपर। अधम—उत्तम लोकोंमें अर्थात् स्थावरसे लेकर ब्रह्मा तक समस्त लोकोंमें जो तेज विद्यमान् है, 'वे यही हैं'। 'यही' क्या है? यह वहीं हैं—इदम् शब्दका अर्थ श्रुति स्वयं स्पष्ट

रूपसे कह रही है—*'यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिरिति'* अर्थात् समस्त लोकोंमें व्याप्त चैतन्यरूपी श्रीहरि—वे ही सभीके हृदयके मध्य विद्यमान हैं। जीव उनका ही ध्यान करे। सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र—ज्योतिश्चरणाभिधानात्॥ २४॥

सूत्रार्थ—ज्योतिः—श्रुतिमें उक्त ज्योति कहनेसे ब्रह्मको ही जानना चाहिये। किसलिए? चरणाभिधानात्—समस्त भूत (विश्व) को उस ज्योतिका चरण कहा गया है। आदित्यादि ज्योतिके चरणकी बात तो कहीं नहीं है, अतएव आदित्यादिकी ज्योति यहाँ प्रासङ्गिक नहीं है॥ २४॥

सूत्रानुवाद—ज्योतिके चरणका उल्लेख होनेसे ज्योति ब्रह्मका वाचक है॥ २४॥

गोविन्दभाष्य—ज्योतिरत्र ब्रह्मैव ग्राह्यम्। कुतः? चरणेति। *'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पुरुषः। पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि'* इति पूर्वत्र द्यूसम्बन्धिनः सर्वभूतपादत्वोक्तेः। इदमत्र तत्त्वम्। पूर्वं हि पादोऽस्येति चतुष्पाद्ब्रह्म प्रकृतं तदेवेहयदिति यच्छब्देनानुवर्त्तितमित्यसन्निधिभङ्गादुभयत्र द्यूसम्बन्धश्रवणविशेषाच्च निखिलतेजस्वी हरिरेव ज्योतिर्नत्वादित्यादिरिति॥ २४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'ज्योतिरत्रेति'* इस श्रुतिमें जिस ज्योतिकी बात कही जा रही है, उससे ब्रह्म ही ग्राह्य हैं, आदित्यादि ज्योतिः नहीं। किस हेतुसे? श्रुति कहती है कि यह गायत्रीरूपके द्वारा कथित है। उनका ऐसा महिमा-प्रभाव है कि उनके एक पाद (चरण) से यह समस्त जगत् व्याप्त है तो स्वयं वे चतुष्पादस्वरूप कितने महान होंगे! वे समस्त भूतस्वरूप हैं—समस्त लोक उनका एक पाद है और उनकी तीन पाद विभूति प्रकाशमय परम व्योममें प्रकाशित हो रही है। पहले द्युलोकको सर्वभूतमय हरिका एक पाद कहा गया था। यहाँ यह रहस्य जान पड़ता है कि पहले श्रुतिमें *'पादोऽस्य'* कहकर चतुष्पाद ब्रह्म कहा गया था, यहाँ उसी चतुष्पाद ब्रह्मकी ही अनुवृत्ति 'यत्' शब्दके द्वारा की गयी है। इसलिए असन्निधि (अनुपस्थिति) नहीं है, आसत्ति (निकटता) का अभाव भी नहीं है तथा दोनों ही वाक्योंमें द्युलोकका सम्बन्ध सुननेसे निखिल तेजोंमें तेजस्वी श्रीहरि ही समस्त तेजोंके

आधार हैं, वे ही ज्योतिः शब्दके द्वारा बोध्य हैं, आदित्यादि तेज नहीं॥ २४॥

सूक्ष्मा-टीका—ज्योतिश्चरणेति। ब्रह्मैव ज्योतिः। कुतः—एतावानस्य महिमेति। ज्योतिषस्तस्य सर्वभूतचरणोक्तेः। तावानित्यस्यार्थः गायत्री वा इदं सर्वमिति। गायत्रीरूपं यद्ब्रह्म वर्णितं तस्यास्य एतावान् महिमा विभूतिः स्वयं पुरुषस्तु ततो ज्यायान्। तदेवाह पादोऽस्येति। सर्वाणि भूतान्यस्यैकः पादः। तस्य त्रिपाद्विभूतिस्तु दिवि द्योतनवति परमे व्योम्नि चकास्तीति चतुष्पाद विभूतिर्हरिरेव ज्योतिःशब्दितमित्यर्थः। कीदृशी सेत्याह। अमृतमितिपुमर्थः। इदमत्रेति इह ज्योतिर्वाक्ये। उभयत्रेति एतावानिति वाक्ये अथ यदिति वाक्ये चेत्यर्थः॥ २४॥

सूक्ष्मा-सार—ज्योतिः शब्दके प्रतिपाद्य ब्रह्म ही हैं। किस प्रकार? *'एतावानस्य महिमा'* अर्थात् श्रुति कहती है—यह ज्योति समस्त भूतस्वरूप है। 'एतावान्' इत्यादि सूक्तका अर्थ है कि पहले *'गायत्री वा इदं सर्वम्'* अर्थात् गायत्री ही यह चराचर विश्व है, इस प्रकार गायत्रीरूपमें जिस ब्रह्मका वर्णन किया गया है, 'तस्य'—उस ब्रह्मकी ऐसी महिमा, ऐसा माहात्म्य, ऐसी विभूति है, किन्तु स्वयं परमेश्वर, उससे भी बहुत श्रेष्ठ हैं, समस्त लोक जिनका एकपाद मात्र है और तीन पाद महिमा (विभूति) द्योतनमय अर्थात् प्रकाशमय (दिव्य) परम व्योममें प्रकाशित है। इस प्रकार चतुष्पाद विभूति श्रीहरि ही ज्योतिः संज्ञासे संज्ञित हैं। वह चतुष्पाद विभूति किस प्रकारकी है? वे अमृत-पुरुष हैं। 'इदमत्र'—अर्थात् यहाँ इस ज्योतिः शब्द युक्त वाक्यमें। उभयत्र अर्थात् *'एतावानस्य महिमा'* इत्यादि वाक्यमें, और 'अथ यद्' इत्यादि वाक्यमें भी परिलक्षित होता है कि श्रीहरि ही 'ज्योतिः' शब्दके द्वारा बोध्य हैं॥ २४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—*'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं'*—इस श्रुतिमन्त्रमें विश्व उनका एकपाद एवं परव्योम उनकी त्रिपाद-विभूति कहा गया है। इस पाद अथवा चरण शब्दके उल्लेखके कारण समस्त तेजोंके तेजस्वी श्रीहरिको ही 'ज्योतिः' शब्दसे जानना होगा। श्रीमद्भागवत (१०/८५/७) में द्रष्टव्य है—

कान्तिस्तेजः प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम्।
यत् स्थैर्यं भूभृतां भूमेवृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान्॥

अर्थात् चन्द्रकी कान्ति, अग्निका तेज, सूर्यकी प्रभा, विद्युत् एवं नक्षत्रोंकी स्फुरणरूप सत्ता, पर्वतोंका स्थिरत्व एवं भूमिकी आधारशक्ति तथा गन्ध-गुण—ये समस्त वस्तुतः आपका ही स्वरूप हैं अर्थात् आपकी शक्तिका परिचय हैं।

इस श्लोकको टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने लिखा है—*'तस्माद्वस्तुमात्राणां या याः शक्त्य स्तास्तवैवेति प्रदर्शयति'*, अर्थात् इसीसे वस्तुमात्रकी जो-जो शक्तियाँ हैं, उनमें आपकी ही शक्ति प्रदर्शित होती है।

श्रीरुद्रके वचनोंमें भी स्पष्ट रूपसे सूत्रकी व्याख्या है—

त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये।
यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/६३/३४)

श्रीरुद्रने कहा—हे देव! आप स्वयं परमज्योतिस्वरूप हैं। आप वेदमन्त्रोंमें गूढ़ रूपसे छिपे हुए परब्रह्म हैं। जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, वे भक्त ही निर्मल आकाशके समान शुद्धस्वरूप आपको साक्षात् रूपसे देख सकते हैं।

श्रुतियोंमें भी वर्णन है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

(मु॰ २/२/११, कठ॰ २/२/१५)

अर्थात् वहाँ (ब्रह्ममें) न सूर्य प्रकाशित होता है और न ही चन्द्रमा या तारे। वहाँ यह बिजली भी नहीं चमकती, फिर यह अग्नि किस गिनतीमें है? उसके प्रकाशित होनेसे ही सब प्रकाशित होता है और यह सब कुछ उसीके प्रकाशसे प्रकाशवान है।

स्मृतिमें भी यही निदर्शित है—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तजो विद्धि मामकम्॥

(श्रीगी॰ १५/१२)

अर्थात् सूर्य, चन्द्रमा और अग्निका जो तेज समस्त जगत्को प्रकाशित करता है, उस तेजको मेरा ही जानो।

ज्योतिका पर्यायवाची शब्द तेजस् भी है। चार पादोंमेंसे तेजस आत्माका द्वितीय पाद है। भागवतमें तेज इसी हेतु और इसी रूपमें रखा गया है॥ २४॥

अवतरणिका भाष्य—ब्रह्मणोऽसन्निधिमाशङ्क्य निरस्यति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपने जो आपत्ति की है कि ब्रह्मकी बात पहले नहीं कही गयी, अतः ज्योतिः शब्दके अर्थसे 'ब्रह्म' को ग्रहण नहीं किया जा सकता है। इसे भी निरस्त करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

सूत्र—छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पण-निगदात्तथा हि दर्शनम्॥ २५॥

सूत्रार्थ—'छन्दोऽभिधानात्'—'छन्दसः'—गायत्री नामक छन्दके, 'अभिधानात्'—'एतावानस्य महिमा'—इत्यादि श्रुतिमें कहा गया है, ब्रह्मकीतो कोई बात नहीं कही गयी है, अतएव 'न'—ब्रह्म प्रस्तावित नहीं है, 'इति चेत्'—पूर्वपक्षी यदि यह आपत्ति करते हैं तो 'न' यह सङ्गत नहीं होता, क्योंकि 'तथा'—गायत्री रूपमें अवतीर्ण ब्रह्ममें 'चेतोऽर्पणनिगदात्'—ध्यान करनेका उपदेश दिया गया है 'तथाहि'—क्योंकि ऐसा होनेपर 'दर्शनं'—'गायत्री वा इदं सर्वम्'—अर्थात् गायत्री ही यह चराचर विश्वात्मक है—यह दर्शन सङ्गत हो सकता है, अन्यथा ध्यान करनेवालेका केवल कष्ट (व्यर्थका श्रम) ही प्राप्त होगा॥ २५॥

सूत्रानुवाद—गायत्री शब्द केवल छन्दके अर्थमें ही प्रयुक्त हो, ऐसी बात नहीं है, गायत्रीसे ब्रह्म अर्थ अभिप्रेत है, उन्हींमें चित्त समर्पणका उपदेश दिया गया है॥ २५॥

गोविन्दभाष्य—ननु *'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्चित्'* (छा० ३/१२/१)। इत्युपक्रम्य *'तामेव भूतवाक्पृथिवीशरीरहृदयप्रभेदैः'* व्याख्याय *'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्युक्तम्'* (छा० ३/१२/५)। *'एतावानस्य महिमा'* इति तस्यामेव व्याख्यातरूपायामुदाहृतो मन्त्रः कथमकस्माच्चतुष्पाद्ब्रह्माभिदध्यात्। तस्माद्गायत्र्याख्यस्य छन्दसस्तत्राभिधानान्न ब्रह्म प्रकृतमिति चेन्न। कुतः? तथेति। तथा गायत्र्यात्मनावतीर्णे ब्रह्मणि चेतोऽर्पणस्य ध्यानस्य तत्र निगदादुपदेशादित्यर्थः। तथा सति हि गायत्री वा इदं सर्वमिति दर्शनं सङ्गतिमत् स्यादन्यथा पीड्यत इति गायत्र्या ब्रह्मत्वे प्रमाणं दर्शितं भवति॥ २५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्वपक्षी आपत्ति करते हैं कि गायत्री ही परिदृश्यमान चराचर विश्वस्वरूप है, जो कुछ है, वह सब तत्-स्वरूप अर्थात् गायत्रीस्वरूप है। इस प्रकार आरम्भ करके उस गायत्रीको ही श्रुतिभूत (महाभूत), वाक्-शक्ति, पृथ्वी, शरीर, हृदय एवं आत्मा—इन छह प्रकारके प्रभेदोंके द्वारा व्याख्या करते हुए कहते हैं कि श्रुतिमें उक्त जो चतुष्पाद गायत्री है, वही षड्विधा गायत्री है—इसीका *'एतावानस्य महिमा'* इत्यादि मन्त्रके द्वारा वर्णन हुआ है—इसलिए व्याख्यातस्वरूप (गायत्रीका जो स्वरूप बतलाया है) गायत्रीमें ही यह मन्त्र उल्लिखित है। तुम बिना किसी युक्ति-प्रमाणके यह किस प्रकार कह सकते हो कि यह श्रुति ब्रह्मकी अभिधायक (वाचक या परिचायक) है। गायत्री छन्दमात्र है, इसका श्रुतिमें वर्णन करनेसे ब्रह्म प्रस्तावित नहीं हो जाते, यह तो मात्र प्रशंसावाद है। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं—ओह! ऐसी बात है! यह तुम नहीं कह सकते हो। इसका कारण यह है कि गायत्री रूपमें अवतीर्ण ब्रह्ममें ध्यानका (चित्तके समर्पणका) उपदेश इस श्रुतिमें किया गया है—इस प्रकार श्रुतिका अभिप्राय स्वीकार करनेपर ही *'गायत्री वा इदं सर्वम्'*—गायत्री ही यह समस्त वस्तुस्वरूप है—इस प्रकार ध्यानकी सार्थकता होगी, अन्यथा गायत्रीमें ब्रह्म-ध्यानके अतिरिक्त अन्य चिन्तन करनेसे तो केवल पीड़ित ही होना पड़ेगा। इस प्रकार गायत्री जो ब्रह्मस्वरूप है, यह प्रमाणित हुआ॥ २५॥

सूक्ष्मा-टीका—छन्द इति। गायत्री वा इदं सर्वमिति सर्वात्मकं यद्गायत्रीच्छन्दो वर्णितं तस्यैव सर्वभूतादिचतुष्पाद्विभुस्तावानित्यनेन या वर्णिता, सा किल प्रशंसैव

न तु वास्तवी। अक्षरसंवेशमात्रस्य छन्दसस्तथात्वासम्भ्वादिति पूर्वपक्षेऽभिप्रायः। सिद्धान्ते तु ब्रह्मावतारवद्गायत्र्यपि तदवतार इति तथात्वं तस्याः पारमार्थिकमितिबोध्यम्। षड्विधा भूतवाक् पृथिवी शरीरहृदयैरात्मना चषट्प्रकारा गायत्री वर्णिता। सैषा चतुष्पदा मन्त्रोत्तरार्द्धगदितपादचतुष्टयेत्यर्थः॥ २५॥

सूक्ष्मा-सार—पहले *'गायत्री वा इदं सर्वम्'* अर्थात् जो कुछ भी है, वह गायत्रीस्वरूप है—इस प्रकार उपक्रम करके ऋक्-गायत्रीका सर्वात्मक रूपमें वर्णन किया गया था, उसीकी यह सर्वभूतादि चतुष्पाद विभूति है—यह *'एतावानस्य महिमा'* इत्यादि श्रुति द्वारा जो वर्णित है, वह प्रशंसावाद मात्र है, वास्तव नहीं अर्थात् गायत्रीकी प्रशंसाके लिए उसीको सर्वस्वरूप बतलाया गया—वह वास्तव नहीं है, क्योंकि गायत्री एक छन्द है। छन्दमें कितने ही अक्षरोंका संनिवेशन होता है, वह विश्व-प्रपञ्चात्मक नहीं हो सकता—पूर्वपक्षवादियोंका यह अभिप्राय है। सिद्धान्तवादीका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मके अन्यान्य अवतारके समान गायत्री भी उनका अवतार है—इसलिए ब्रह्मके समान अवतारस्वरूप गायत्रीका भी सर्वमयत्व वास्तव है—यह ज्ञानना चाहिये। भाष्यमें षड्विधा गायत्रीका वर्णन करते हुए कहा है—भूत, वाक्, पृथ्वी, शरीर, हृदय एवं आत्मा—गायत्री छह प्रकारकी है। ये गायत्री ही मन्त्रके शेषार्द्धमें वर्णित चतुष्टय-पाद-युक्ता है॥ २५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई पूर्वपक्षी कहता है कि 'ज्योतिः' शब्दका अर्थ ब्रह्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि छान्दोग्यमें गायत्री छन्दको ही *'परिदृश्यमान् चराचर विश्वस्वरूप'* इत्यादि कहकर वर्णन किया गया है, वहाँ ब्रह्मका प्रसङ्ग कहाँ है? तब श्रीगायत्रीमें जो मन्त्र उल्लिखित है, उसे किसलिए ब्रह्म कहें? इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—गायत्रीरूपमें ब्रह्म ही अवतीर्ण हैं। उनमें (गायत्रीमें) ही ध्यानका उपदेश है। उन्हें (गायत्रीको) ब्रह्मकी विभूतिके रूपमें जानना चाहिये। उन्हीं ब्रह्ममें चित्तके अर्पणकी विधिका उपदेश है। अतः गायत्रीको ब्रह्मसे अभिन्न रूपमें ध्यान करें अन्यथा कुछ और चिन्तन करनेसे केवल पीड़ा ही होगी।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं—*'पादोऽस्य सर्वाभूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि'* अर्थात् इनके एक चरणमें समस्त विश्व है तथा इनके तीन

चरण अमृत द्युलोकमें हैं। इस श्रुतिसे चतुष्पाद ब्रह्मसे चतुष्पदा गायत्रीका सादृश्य ज्ञान होता है। कहीं-कहीं चतुष्पदा गायत्री देखी भी जाती है, जैसे कि (१) *इन्द्रशचीपतिः*, (२) *बलेन पीडितः*, (३) *दुश्च्यवनो वृषा*, (४) *समित्सु सासहिः*। (ये सभी वैदिक मन्त्र हैं।)

श्रीमद्भागवतके *'जन्माद्यस्य'* श्लोकमें *'सत्यं परं धीमहि'* पदमें इसी गायत्रीके ध्यानका उल्लेख है। 'सत्यं' शब्दमें *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* इस श्रुति मन्त्रमें ब्रह्म ही लक्षित हैं। 'परं' शब्दमें *'कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्'* (श्रीकृष्ण ही परम देव हैं, उनका ही ध्यान करना चाहिये) (गोपालतापनी श्रुति)। 'धीमहि' शब्दकी टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं—

'ध्यायेम बहुवचनेन काल-देश-परम्परा-प्राप्तान्-सर्वानेव जीवान् स्वान्तरङ्गीकृत्य स्वशिक्षया तान् ध्यानमुपदिशन्नेव क्रोडी करोति, ध्यानस्यैव (ब्रह्म) जिज्ञासायाः फलत्वात्।'

अर्थात् 'धीमहि' पदमें बहुवचनके द्वारा समस्त काल एवं देश-परम्परासे प्राप्त समस्त जीवोंको अङ्गीकार करते हुए स्व-शिक्षाके द्वारा ध्यानका उपदेश ग्रहण किया गया है। इसीके द्वारा *'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'* इस ब्रह्मसूत्रका अर्थ भी फलस्वरूपमें (ध्यानकी जिज्ञासाके फलत्वरूपमें) विवृत हुआ है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी देखा जाता है—

अतएव भागवत सूत्रेर अर्थरूप।
निजकृत-सूत्रेर निज भाष्य स्वरूप॥
गायत्रीर अर्थे एइ ग्रन्थ आरम्भन।
सत्यं परं सम्बन्ध, 'धीमहि'-साधन-प्रयोजन॥

(चै०च०म० २५/१३६, १४०)

श्रीमन्महाप्रभु कह रहे हैं—सरस्वतिपाद! श्रीमद्भागवत ही वेदान्तसूत्रका प्रकृत अर्थ है। श्रीमद्भागवत ही श्रीवेदव्यास मुनि द्वारा रचित ब्रह्मसूत्रों या वेदान्तसूत्रोंका उनके द्वारा रचित निज भाष्यस्वरूप है। इस श्रीमद्भागवत ग्रन्थका आरम्भिक श्लोक गायत्रीका अर्थ है। परम सत्य ही 'सम्बन्ध' है, ध्यान-चेष्टा अथवा साधनभक्तिका अनुष्ठान ही

'अभिधेय' है और प्राप्त फल ध्यान अथवा प्रेमाभक्ति ही अभिधेयका प्राप्य—'प्रयोजन' फल है।

श्रीब्रह्मसंहिता (५/२७) में द्रष्टव्य है—

गायत्री गायतस्तस्मादधिगत्य सरोजजः।
संस्कृतश्चादिगुरुणा द्विजतामगमत्ततः॥

अर्थात् कामगायत्री गानकारी श्रीकृष्णसे श्रीब्रह्माने गायत्रीमन्त्र प्राप्त किया। इस प्रकार आदिगुरु भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा द्विज-संस्कार अर्थात् दीक्षा प्राप्त करनेसे श्रीब्रह्माने तब द्विजत्व प्राप्त किया।

अग्निपुराण (२/६/८) में भी कहा है—

एवं सन्ध्याविधिं कृत्वा गायत्रीञ्च जपेत् स्मरेत्।
गायत्र्युक्थानि शास्त्राणि भर्गं प्राणांस्तथैव च॥

अर्थात् विधिपूर्वक सन्ध्यादि कृत्य करनेके पश्चात् गायत्री जप और गायत्रीमन्त्रका स्मरण करे। 'उक्थ' का अर्थ है—उच्च रूपसे कीर्त्तित प्रणवात्मक मन्त्र, समस्त वेदादि शास्त्र, वक्ष्यमाण विष्णुरूप तेज, समस्त जीवके कारणरूप प्राण एवं विभूतियाँ जिनसे प्रकाशित होती है, उन्हें गायत्री कहते हैं।

भागवतमें ही *'छन्दसामहम्'* (११/१६/१२) स्वयं-भगवान् द्वारा कथित है॥ २५॥

अवतरणिका भाष्य—युक्तिमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस विषयमें सूत्रकार युक्ति दिखलाते हैं—

सूत्र—भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम्॥ २६॥

सूत्रार्थ—'एवम्' अर्थात् ब्रह्मको ही गायत्रीके रूपमें मानें। किस कारणसे? 'भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेःश्चैवम्' अर्थात् भूत आदिको उनका पाद अर्थात् चरण कहा गया है—इस उक्तिकी सङ्गति-रक्षाके लिए ब्रह्म ही गायत्री हैं॥ २६॥

सूत्रानुवाद—छन्दके पादोंके व्यपदेशसे ब्रह्मके ही भूतादि पादोंका निरूपण है॥ २६॥

गोविन्दभाष्य—एवं ब्रह्मैव गायत्रीति मन्तव्यम्। कुतः? भूतादीति। भूतादीनि निर्द्दिश्याह—*सैषा चतुष्पादिति* (छा॰ ३/१२/५)। तस्या ब्रह्मत्वाभावे तत्पादत्व–व्यपदेशासिद्धेरित्यर्थः। तस्मादस्ति पूर्वस्मिन् वाक्ये प्रकृतं ब्रह्म तदेवेह यदित्यनुवर्त्तमानाद्युसम्बन्धेन प्रत्यभिज्ञानाच्च परामृष्टमिति॥ २६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—'एवमिति'—इस प्रकार 'ब्रह्म ही गायत्री हैं'—यह मानना चाहिये, क्योंकि समस्त भूतादि (भूत, पृथ्वी, शरीर एवं हृदय) उनके चरण हैं। यह निर्देश करके कहते हैं *'सैषा चतुष्पाद'* (छा॰ ३/१२/५)—यह गायत्री चतुष्पादसे युक्त है। अतएव देखो! यदि यह गायत्री ब्रह्मस्वरूप नहीं होगी तो छन्दोमयी अक्षरात्मिका गायत्रीकी चरणोक्ति किस प्रकार सम्भव हो सकेगी? इसलिए इसके पूर्व वाक्यमें निश्चय ही ब्रह्मका प्रस्ताव है—'ये ब्रह्म ही हैं।' ये ब्रह्म ही उस *'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिः'* इत्यादि (छा॰ ३/१३/७, धृत ज्योतिरधिकरणम्) श्रुतिमें उक्त यद् (जो) शब्दके द्वारा अनुवर्त्तित (अनुसरित) हुए हैं और *'त्रिपादस्यामृतं दिवि'* (छा॰ ३/१२/६, धृत ज्योतिश्चरणाभिधानात्) इस श्रुतिमें वर्णित द्युलोकमें उनकी ही स्थिति रूपमें प्रत्यभिज्ञा होनेसे वे (ब्रह्म) ही ग्राह्य हैं, छन्द नहीं। आदित्यादि ज्योति भी नहीं। गायत्री छन्दके उक्त चतुष्टय पाद नहीं हो सकते॥ २६॥

सूक्ष्मा–टीका—भूतादिपादेति। तत्पादत्व भूतादिपादत्वं॥ २६॥

सूक्ष्मा–सार—भूतादि पाद आदि सूत्रस्थ पाद–शब्दमें तत्पादत्व भूतादिको उनका (ब्रह्मका) चरण कहा गया है॥ २६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—गायत्री जो ब्रह्म हैं (भूत, पृथ्वी, शरीर एवं हृदयरूप चतुष्पाद), उसीको पुनः युक्तिके द्वारा प्रस्तुत सूत्रमें ज्ञात करा रहे हैं कि भूतादिके उल्लेख एवं पाद शब्दके व्यपदेशके कारण यही युक्तियुक्त है कि गायत्री शब्दसे छन्द न समझा जाय। पूर्वोक्त वाक्यमें गायत्रीका ब्रह्मरूपमें ही प्रतिपादन है। भूत, पृथ्वी, शरीर एवं हृदय आदि ब्रह्मकी सृष्टिके अंश हैं। समस्त भूत उनके एक पादमें निहित हैं। पुरुषसूक्तमें *'एतावानस्य'* आदिमें भी इन पादोंको ब्रह्मपरक बतलाया है।

श्रीमद्भागवत (३/१२/४५) में ही, *'तस्योष्णिगासील्लोमभ्यो गायत्री च त्वचो विभोः'*, अर्थात् उनके रोमोंसे उष्णिक्, त्वचासे गायत्री प्रकट हुए इत्यादि।

इसी प्रकार—

शब्दब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ताव्यक्तात्मनः परः।
ब्रह्मावभाति विततो नानाशक्त्युपबृंहितः॥
(श्रीमद्भा॰ ३/१२/४७)

अर्थात् ब्रह्माजी शब्दब्रह्म-देवमय-तनु हैं। उनका व्यक्त स्वरूप बैखरी नामक वचन भाषा और अव्यक्तस्वरूप 'प्रणव' है। उस अव्यक्तस्वरूपसे ब्रह्माके हृदयमें उपास्यरूपमें परब्रह्म सम्यक् रूपसे स्फूर्त्ति प्राप्त करते हैं और व्यक्तस्वरूपसे वे परब्रह्म बहुत प्रकारकी शक्तियोंसे युक्त इन्द्रादि देवताके रूपमें बाहर भासते हैं।

श्रीमद्भागवतके *'जन्माद्यस्य'* श्लोकमें गायत्रीका जो अर्थ प्रकाशित हो रहा है, वह भी इस प्रसङ्गमें आलोच्य है॥ २६॥

अवतरणिका भाष्य—उभयत्र द्युसम्बन्धश्रवणाविशेषमाक्षिप्य समादधाति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पूर्वोक्त दोनों श्रुतियोंमें द्युलोकमें अवस्थान निर्विशेष रूपसे कहा गया है। इसलिए किसकी प्रत्यभिज्ञा (पहचान) होगी—इस आक्षेपके समाधानके लिए सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र—उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्॥ २७॥

सूत्रार्थ—यदि कहो, पूर्वोक्त दोनों श्रुतियोंमें 'उपदेशभेदात्'—विभिन्न रूपमें उपदेश होनेसे अर्थात् 'त्रिपास्यामृतन्दिवि' इस श्रुतिमें 'दिवि' कहकर द्युलोकका आधार कहा गया है और 'परोदिवः' इत्यादि श्रुतिमें द्युलोकके ऊपर ब्रह्मका अवस्थान कहा गया है, 'न, नेति' इस प्रकार ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा (पहचान) हो नहीं सकती—इति 'चेत' यदि ऐसा कहते हो, 'न'—तो यह नहीं है, क्योंकि 'उभयस्मित्नप्यविरोघात' पञ्चमी विभक्तिके अन्त और सप्तमी विभक्तिके अन्तका प्रयोग होनेसे द्युलोकमें अवस्थानका निर्देश होनेपर भी कोई विरोध अथवा

असामञ्जस्य नहीं है। इसलिए ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा (पहचान) सम्यक् प्रकारसे होती है॥ २७॥

सूत्रानुवाद—गायत्री ब्रह्मका ही वाचक है। उपदेश भेदसे दोनोंमें विरोध नहीं है। दोनों ही स्थलोंपर श्रुतिका उद्देश्य गायत्री शब्द वाच्य तथा ज्योतिः शब्द वाच्य ब्रह्मका प्रतिपादन करना है॥ २७॥

गोविन्दभाष्य—ननु त्रिपादस्यामृतन्दिवि इति (छा॰ ३/१२/६) सप्तम्या द्यौराधारत्वेनोपदिष्टा। इह पुनः परो दिव (छा॰ ३/१३/७) इति पञ्चम्या मर्यादात्वेन इत्येवमुपदेशभेदान्न तस्येह प्रत्यभिज्ञेति चेन्न। कुतः? उभयेति। उभयस्मिन्नपि सप्तम्यन्ते पञ्चम्यन्ते। चोपदेशे। सा न विरुध्यते। यथा लोके वृक्षाग्रस्थोऽपि शुक उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते वृक्षाग्रे शुको वृक्षाग्रात् परतः शुक इति। स चोपदेशभेदेऽप्यर्थैक्यान्न विरुध्यते तद्वत्॥ २७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि *'त्रिपादस्यामृतं दिवि'* (ब्रह्मसूत्र १/१/२४) के भाष्यमें उद्धृत श्रुति (दिव्य लोकमें उसका त्रिपाद अमृत ऐश्वर्य है), इस श्रुतिमें सप्तमी विभक्ति, अधिकरण कारक द्वारा द्युलोकको ब्रह्मका 'आधार' कहा गया है, (दिव् शब्दमें सप्तमी विभक्ति है) और *'परो दिवः'* (छा॰ ३/१३/७) (इस दिव्य लोकसे परे त्रिपाद ऐश्वर्य है) इत्यादि श्रुतिमें 'दिव्' शब्दमें पञ्चमी विभक्ति द्वारा मर्यादा (सीमा) अर्थात् ऊपरी भागमें स्थिति कही गयी है, इसलिए उसकी प्रत्यभिज्ञा (पहचान) किस प्रकार होगी? यह आशङ्का ठीक नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों वाक्योंमें अर्थात् सप्तम्यन्त 'दिव' शब्दके उपदेशमें और पञ्चम्यन्त रूपमें उपदेश होनेपर भी प्रत्यभिज्ञा (सम्यक् निदर्शन) की कोई असम्भावना नहीं है। दृष्टान्त द्वारा उसकी सङ्गति दिखा रहे हैं—जिस प्रकार लौकिक वाक्यमें वृक्षके अग्रभागमें स्थित शुकका दोनों ही रूपोंमें निदर्शन होता है, जैसे वृक्षाग्रे शुकः अर्थात् वृक्षके अग्रभागमें (फुनगी पर) शुक पक्षी है और वृक्षाग्रात परतः शुकः अर्थात् वृक्षके अग्रभागके ऊपर शुक पक्षी है। अतएव इस शुक पक्षीका वाक्य-भेदसे विभिन्न रूपमें उपदिष्ट होनेपर भी अर्थगत ऐक्यके कारण जिस प्रकार विरोध नहीं है, उसी प्रकार दोनों श्रुतियोंमें उक्त ब्रह्म एक ही हैं॥ २७॥

सूक्ष्मा-टीका—उपदेशेति। एवं सप्तम्यन्तत्वेन पञ्चम्यन्तत्वेन चेत्यर्थः। प्रत्यभिज्ञेति प्रधानप्रातिपादिकार्थेन प्रत्यभिज्ञया गुणभूतविभक्त्यर्थो न प्रतिबन्धीति भावः। पूर्वमथ यदत इति यच्छब्दस्य प्रसिद्धविमर्शिततया बलित्वात् तत्सहकृतं ब्रह्मलिङ्गं तेजोलिङ्गापेक्षया बलीत्युक्तम्। तथेह किञ्चिद्बलित्वसम्पादकं नास्तीति प्रत्युदाहरणसङ्गत्याह भाव्यम्। पूर्वत्र दिवि दिव इति प्रधानप्रकृत्यर्थानुरोधाद् गुणभूतप्रत्ययार्थो यथान्यथा नीतस्तथेहापीति स्वतन्त्रप्राणादिपदार्थभेदप्रतीतौ तत्सापेक्ष-ब्रह्मरूपवाक्यार्थप्रतीतेर्गुणभूताया अपलापो युक्तो भवितुमिति दृष्टास्तसङ्गत्या चेत्याह। पदार्थः प्रतीतः। स्वातन्त्र्ये जनकत्वेन वाक्यार्थप्रतीतेर्गौण्यं तज्जन्यत्वेनेति बोध्यम्॥ २७॥

सूक्ष्मा-सार—उपदेशभेदात् अर्थात् एक श्रुतिमें दिव् शब्दका सप्तम्यन्तमें और दूसरी श्रुतिमें दिव् शब्दका पञ्चम्यन्तमें उल्लेख है। प्रधानीभूत प्रतिपादिकार्थ लेकर (प्रधान रूपसे जिसका प्रतिपादन किया जा रहा है, उस अर्थको लेकर) प्रत्यभिज्ञा रक्षित होनेसे अप्रधानीभूत (गौण) विभक्तिका अर्थ यहाँ प्रतिबन्धक नहीं है—यह तात्पर्य है। यथा *'अथ यदतः परः'* (छा॰ ३/१३/७) (जो विश्वके अन्तर्गत समस्त लोकोंके ऊपरी भागमें स्थित हैं) इत्यादि श्रुतिमें कथित 'जो' शब्द प्रसिद्ध वस्तुको ज्ञात कराता है—इस रूपमें वह वाक्य प्रबल है, इसलिए उसका सहोच्चारित (साथमें कहा हुआ) ब्रह्मानुमापक शब्द तेजोनुमापक कारणसे प्रबल है, यह कहा गया है। ब्रह्मलिङ्ग (प्रमाण) तेजोलिङ्ग (प्रमाण) से प्रबल है, किन्तु यहाँ तो इस प्रकारसे प्रबलता-बोधक कुछ भी नहीं है—इस प्रकार प्रत्युदाहरण सङ्गति जाननी चाहिये। और एक कारण है, पहले *'दिवि दिवः'*—इन दो पदोंमें विभक्ति भेद रहनेपर भी प्रधानीभूत प्रकृत्यर्थके अनुरोधमें प्रत्ययार्थको अन्य भावसे लिया था। इसी प्रकार इस स्थानपर भी होगा अर्थात् प्राणादि श्रुतिमें प्राणादि पदार्थकी ब्रह्मसे प्रभेद-प्रतीतिकी बलवत्ता कहेंगे। अतः उसकी सापेक्ष ब्रह्मरूप वाक्यार्थ प्रतीति अप्रधानीभूत होगी, अतः उसका अपलाप (अस्वीकार) होना उचित है। इसी तथ्यको दृष्टान्त-सङ्गतिके द्वारा दिखा रहे हैं। प्रतीत पदार्थ स्वाधीन होता है अर्थात् निरपेक्ष भावमें अर्थ-बोधक है। वाक्य-पदार्थ सापेक्ष है। अतः वाक्यार्थ-प्रतीति पदार्थ-प्रतीतिसे गौण है, यह जानना चाहिये॥ २७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्व वाक्यमें *'त्रिपादस्यामृतं दिवि'* कहकर द्युलोकमें अर्थात् स्वर्गको ब्रह्मका आधार कहा गया, इसमें 'दिव्' शब्दमें सप्तमी विभक्तिका प्रयोग हुआ, दूसरी श्रुतिमें *'परो दिवः'* अर्थात् 'ब्रह्म स्वर्गसे अतीत हैं'—यह कहा गया। यहाँ 'दिव्' शब्दमें पञ्चमी विभक्ति है, अतः दोनों शब्द एक पदार्थको उद्दिष्ट नहीं करते। यदि कोई इस प्रकार आशङ्का करता है, तो उसके निराकरणके लिए प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि उपदेशका भेद दिखायी देनेपर भी कोई विरोध अथवा असामञ्जस्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्म स्वर्गमें रहकर भी स्वर्गसे अतीत हैं। इस प्रकार कहनेसे कोई दोष हो नहीं सकता। उपदेशका भेद होनेपर भी अर्थका ऐक्य है, इसलिए विरोध नहीं है। प्राकृत एवं अप्राकृत—दोनों ही धामोंके आश्रय एकमात्र परब्रह्म श्रीहरि हैं।

श्रीमद्भागवतमें भी देखा जाता है—

पादास्त्रयो बहिश्चासन्नप्रजाना य आश्रमाः।
अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधो बृहद्व्रतः॥
(श्रीमद्भा॰ २/६/२०)

अर्थात् ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं संन्यासी—इन तीन प्रकारके आश्रमियोंको प्राप्त होने योग्य जो जन, तप और सत्य आदि लोक हैं, वे उन पुरुषके त्रिपाद अंशमें और त्रिलोकीके बाहर स्थित हैं, किन्तु दीर्घकालीन ब्रह्मचर्य और भगवत्-व्रतसे रहित गृहस्थ एवं कर्मियोंका आश्रय त्रिलोकीके ही अन्दर स्थित है। वे भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोकमें ही वास करते हैं।

इस श्लोककी टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर लिखते हैं—*'पादोऽस्य सर्वा भूतानि'* इत्यादि इसके अर्थको विशिष्ट करके विवृति कर रहे हैं—बहिः अर्थात् त्रिमूर्द्धा शब्दमें कहे हुए भूः, भुवः एवं स्वर्गलोक प्रकृतिके आवरणसे ऊपर तीन पाद जन, तप एवं सत्य लोक परमव्योम शब्दसे अभिधीयमान (संज्ञित) है। 'चकार' से तात्पर्य है कहीं-कहीं प्रपञ्चके मध्यवर्ती मथुरा, अयोध्या आदि नामके पाद हैं। 'अप्रजानाम्' अर्थात् संसारसे मुक्त ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं यतियोंके आश्रमस्थान हैं। आश्रमियोंके आश्रमस्थानका भी नित्यत्व

बतलाया गया है। उनमें भी अमृत, क्षेम, अभय नित्य विधृत (ग्रहण किये हुए) हैं, जैसा कि पहले कहा गया है। स्मृतिमें भी, पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें लिखित है—श्रीभगवान्‌की त्रिपाद विभूतिके मध्यमें शुद्धसत्त्वमय, ब्रह्मानन्द सुखाख्य, नित्य निर्विकार, हेय राग वर्जित, हिरण्मय, शुद्ध, कोटि सूर्य समप्रभ, सर्ववेदमय, काम-क्रोधादि वर्जित धाम है तथा श्रीनारायणके पदाम्भोजमें जिनकी प्रगाढ़ भक्ति है, ऐसे एकमात्र भक्तिरस-सेवियोंके द्वारा व्याप्त निरन्तर सामादि भगवन्महिमा गानसे परिपूर्ण सुख-श्रित, वेद-दीप्त पञ्चोपनिषत्-स्वरूप असंख्य लोक (धाम) परिकीर्त्तित हैं। अतएव त्रिपाद विभूति शब्दसे प्रपञ्चातीत लोक ही अभिहित है एवं पाद विभूति शब्दसे प्रापञ्चिक विभूति अथवा पार्थिवादि जगत्‌का ऐश्वर्य जानना होगा। जिसना विवरण उक्त स्थलमें है, उनके त्रिपादकी व्याप्ति परम धाममें एवं एकपादकी व्याप्ति इस जगत्‌में जाननी होगी। उक्त भगवत्-सम्बन्धित त्रिपाद विभूति नित्य है, एकपाद विभूति अनित्य है। परमेश्वरका स्वरूप नित्य, शुभ, अच्युत, शास्त्रवत, दिव्य है, वे सर्वकालमें ही यौवनवत् शोभासम्पन्न हैं। वे परम धाममें अवस्थित हैं, उस धाममें नित्य संभोग्य श्री, भू इत्यादि ईश्वरीगणोंके द्वारा संवृत भगवान्‌का यह रूप नित्य सेवनीय है॥ २७॥

११—इन्द्र-प्राणाधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—कौषीतकीब्राह्मणे (३/१) प्रतर्द्दनो देवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन पौरुषेण चेत्युपक्रम्येन्द्र प्रतर्द्दनाख्यायिका श्रूयते। तत्र प्रतर्द्दनेन हिततमं वरं पृष्ट इन्द्रस्तमुपदिशति।

'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायूरमृतमुपास्स्व' (कौ॰ब्रा॰ ३/२) इति। इह संशयः। किमयमिन्द्रः प्राणशब्दनिर्द्दिष्टो जीवः किम्वा परमात्मेति। तत्रेन्द्रशब्दस्य जीवविशेषो प्रसिद्धेस्तदेकार्थस्य प्राणशब्दस्य तत्रैव वृत्तेश्चायं जीव एव तेन पृष्टः स्वोपासनं हिततममाहेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—कौषीतकीब्राह्मण (३/१) में एक इतिहाससे जाना जाता है कि दिवोदास राजाका पुत्र प्रतर्द्दन अपना युद्ध-कौशल एवं पराक्रम दिखानेके लिए इन्द्रके प्रिय धाम अर्थात् इन्द्रलोकमें पहुँचा। इस प्रकार उपक्रम (आरम्भ) करके इन्द्र-प्रतर्द्दन नामक एक

आख्यायिका सुनी जाती है। तदनुसार प्रतर्दन इन्द्रसे पूछता है—"मनुष्योंके लिए हिततम (परम कल्याणकारी) वर—काम्य वस्तु क्या है?" इन्द्रने उसे उपदेश दिया—"मैं प्राण हूँ (मुखान्तर्वर्त्ती वायु नहीं), मैं प्रज्ञात्मा (ज्ञानघन चैतन्यात्मक) प्राण हूँ। मुझे आयु-अमृत समझकर मेरी उपासना करो।" यहाँ संशय यह है कि इन्द्र जो स्वयंको प्राणका स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए उपासना करनेको कहते हैं—वे इन्द्र क्या जीव हैं अथवा परमात्मा परमेश्वर। पूर्वपक्षी कहते हैं कि इन्द्र शब्द जीवरूपमें प्रसिद्ध है, उसके साथ अभिन्न रूपमें उक्त प्राण शब्दसे भी उस जीवको ही जानना चाहिये। प्रतर्द्दन द्वारा जिज्ञासा होनेपर इन्द्रने अपनी उपासनाको ही मनुष्योंके लिए हिततम बतलाया है। इस पूर्वपक्षीय मतका प्रतिवाद करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिका भाष्यस्य टीका—कौषीतकीत्यादि। प्रतर्द्दनो नाम नृपः। दैवोदासिः दिवोदासस्य पुत्रः। प्रियं प्रेमास्पदं इन्द्रस्य धाम गृहमुपजगाम। तद्गमने हेतुर्युद्धेनेति। तत्कारणेन पुरुषकार-प्रदर्शनेन च अतिवली प्रतर्द्दनो निखिलान्नृपान् विजित्य स्वतुल्यं शक्रं विजेतुं तल्लोकं गतवानित्यर्थः। शरीर-वलेन तमजेयं मन्वान इन्द्रो ज्ञानबलेनः जेतुमनाः प्राह। प्रतर्द्दन वरं ते ददामीति। स होवाच प्रतर्द्दनः। हे इन्द्र त्वमेवं वरं वृणीष्व यत्त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यस इति।

तत इन्द्र उवाच प्रानोऽस्मीत्यादि। मुख्यं प्राणं व्यावर्त्तयति प्रज्ञात्मेति। ज्ञानघन इत्यर्थः। तं मामायुरमृतमिति। जीविकां दत्त्वायूरक्षकत्वादायुरित्युच्यते। ज्ञानदानेन मोक्षदत्वादमृतमित्युच्यत इत्यर्थः। जीवविशेषे शचीनाथत्वाभिमानिनि। तदेकार्थस्य इन्द्ररशब्दसमानाधिकरणस्य। तेन प्रतर्द्दनेन। स्वोपासनं निजभक्तिम्। एवं प्राप्ते प्राणस्तथेति—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—कौषीतकीब्राह्मणमें (उसी नामके वेद भागमें) एक उपाख्यान है—एक समयकी बात है कि दिवोदासका प्रतर्द्दन नामका पुत्र देवराज इन्द्रके परम प्रिय आवास इन्द्रभवनमें पहुँचा। वहाँपर उसके जानेका कारण बताते हुए कहते हैं कि 'युद्धेन' अर्थात् युद्ध एवं पौरुष दिखाकर अति बलवान प्रतर्द्दनने सभी राजाओंपर विजय प्राप्त कर ली थी। अन्तमें, अपने ही समान वीर इन्द्रपर विजय प्राप्त करनेके उद्देश्यसे वह उनके समीप गया था। इन्द्रने विचार किया कि शारीरिक बलमें तो यह प्रतर्द्दन अजेय है,

अतः ज्ञान-बलसे ही इसपर विजय प्राप्त करनी चाहिये। अतः इन्द्रने उससे कहा—"हे प्रतर्द्दन! मैं तुम्हें अभीष्ट वर देना चाहता हूँ।" प्रतर्द्दनने कहा—"मैं तुमसे इस प्रकारके वरकी प्रार्थना करता हूँ, जो मनुष्यलोकमें अतिशय 'हितकर' माना जाय।" परस्पर इस प्रकारके कथोपकथनके बाद अन्तमें इन्द्रने कहा—"मैं प्राण हूँ (किन्तु मुखान्तर्वर्त्ती वायु नहीं हूँ), मैं चिद्घन हूँ, मुझे आयु मानकर अमृत-बोधसे मेरी उपासना करो।" इन्द्रके द्वारा स्वयंको आयु बतानेका कारण यह है कि वे जीवको जीविका देकर आयुकी रक्षा करते हैं और अमृत बतानेका कारण है कि वे ज्ञान प्रदान करके जीवको मोक्ष दान करते हैं। जीव-विशेषमें इन्द्र शब्दकी प्रसिद्धि है—यह जीव वही है, जो स्वयंको शचीका स्वामी मानता है। इन्द्र शब्दके साथ उच्चारित अभिन्न रूपमें प्रतीयमान प्राण शब्दका यही अर्थ है। अर्थात् प्रतर्द्दन द्वारा जिज्ञासित होकर इन्द्रने अपना भजन ही हिततम वर बतलाया था। इस पूर्व पक्षके समाधानके लिए सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र—प्राणस्तथानुगमात्॥ २८॥

सूत्रार्थ—'प्राणः' यहाँ निर्दिष्ट प्राण शब्दमें निर्दिष्ट इन्द्र परमात्मा है, जीव नहीं, क्योंकि 'तथा अनुगमात्', ब्रह्मको ही इस प्रकार प्रज्ञात्मा इत्यादि विशेषणके द्वारा निर्दिष्ट किया गया है अर्थात् ब्रह्म ही प्रक्रान्त (पूर्वोक्त, विवादका प्रश्न) हैं, उसीका अनुसरण किया जा रहा है॥ २८॥

सूत्रानुवाद—पूर्वोक्त प्रसङ्गका अनुगमन होनेसे प्राण यहाँ ब्रह्मका वाचक है॥ २८॥

गोविन्दभाष्य—तन्निर्द्दिष्टः परमात्मैव न जीवः। कुतः? तथेति। तत्प्रकृतस्य तस्य स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजेरामृतः (कौ॰ब्रा॰ ३/९) इत्यानन्दादि-शब्दवाच्यत्वेनानुगमात्॥ २८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—तन्निर्दिष्टः इत्यादि—प्राण शब्दके द्वारा निर्दिष्ट परमेश्वर ही यहाँ ज्ञातव्य हैं, इन्द्र नहीं, जीव-विशेष नहीं, क्योंकि वह उसी रूपमें है, जैसा कि पहले भी निर्देश किया गया था। अतएव

स एव प्राण एष प्रज्ञात्मा (कौ०ब्रा० ३/९) इत्यादि श्रुति द्वारा पूर्वोक्त उन परमेश्वरका ही आनन्द इत्यादि शब्दोंके वाच्य रूपमें अनुसरण हो रहा है। श्रुतिका अर्थ है कि वे ही (परमात्मा ही) प्राण हैं, वे ही प्रज्ञास्वरूप हैं, वे ही आनन्द, अमृत और अजर हैं॥ २८॥

सूक्ष्मा-टीका—तन्निर्द्दिष्ट इन्द्रः प्राणशब्दनिर्द्दिष्टः। तत्प्रकृतस्य इन्द्रप्राणशब्द-प्रकृतस्य। अनुगमादवबोधात्। न ह्यानन्दादिरूपत्वं स्वाभाविकं इन्द्रेऽभ्युपगन्तुं शक्यम्। स हि दैत्यैरुपद्रुतोऽतिदुःखी स्वाधिकारान्ते विनष्टश्च प्रतीयत इति भावः॥ २८॥

सूक्ष्मा-सार—प्राण शब्दके द्वारा निर्दिष्ट जो इन्द्र हैं, वे परमात्मा हैं, क्योंकि वे इन्द्र प्राण शब्दके द्वारा पूर्वोक्त परमेश्वरकी प्रतीति हैं, आनन्द, अजर, अमृत इत्यादि परमेश्वरका जो स्वरूप है, वह शचीपति इन्द्रमें स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह तो दैत्योंके द्वारा उत्पीड़ित, अत्यधिक दुःखी और अपनी परमायुके अन्तमें विनष्ट रूपमें प्रतीत दीखता है॥ २८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रतर्द्दनने जब मनुष्योंके लिए हिततम काम्य वरकी प्रार्थना की, तब इन्द्रने जीवोंका सर्वश्रेष्ठ हित विचार करके 'प्राण' का उपदेश देकर अपना भजन करनेको कहा। यदि कोई यहाँ पूर्वपक्ष करे कि यह प्राण क्या है? प्राणवायु अथवा इन्द्ररूप जीव-विशेष? अथवा परमेश्वर? इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि प्राण शब्दसे यहाँ परमेश्वरका ही निर्देश जानना होगा, क्योंकि यह पूर्वोक्त विषयका ही अनुसरण कर रहा है। श्रुति कहती है—वे ही प्राण हैं, वे ही प्रज्ञात्मा हैं, वे ही आनन्दमय, अजर और अमृतस्वरूप हैं—ये सब विशेषण एकमात्र परब्रह्म, परमात्माका ही निर्देश करते हैं। दूसरी बात यह है कि जीवका सर्वात्मा हिततम उपदेश कहनेसे एकमात्र परब्रह्म श्रीहरिकी उपासना ही लक्षित होती है। श्वेताश्वतरोपनिषद (३/८) में कहा है—*'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'*, अर्थात् उस परमात्माको ही जानकर (उपासना करके) पुरुष अतिमृत्यु (मुक्ति) को प्राप्त करता है, उसकी उपासनाके अतिरिक्त परमपद प्राप्तिका कोई और मार्ग नहीं है।

श्रीचैतन्यचरितामृत (म॰ २०/१०२) में भी वर्णन है—

के आमि, केने आमाय जारे तापत्रय।
इहा नाहि जानि—केमने 'हित' हय॥

अर्थात् मैं कौन हूँ (जीवका क्या स्वरूप है?), मुझे तीन प्रकारके ताप क्यों जला रहे हैं? मैं यह नहीं जानता हूँ कि मेरा हित कैसे होगा?

श्रीलसनातन गोस्वामीके इन प्रश्नोंका श्रीमन्महाप्रभुने क्रमपूर्वक उत्तर दिया—

जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्यदास'।
कृष्णेर 'तटस्था-शक्ति', 'भेदाभेद-प्रकाश'॥

ताते कृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन।
मायाजाल छुटे, पाय कृष्णेर चरण॥

(चै॰च॰म॰ २०/१०८, २२/२५)

अर्थात् जीवका स्वरूप श्रीकृष्णका नित्यदास है। जीव श्रीकृष्णकी तटस्थाशक्ति है और उनका भेदाभेद-प्रकाश है। श्रीगुरुकी सेवा करते हुए श्रीकृष्णका भजन करे, तभी यह जीव मायाजालसे छुटकर श्रीकृष्णके चरणोंकी सेवाको प्राप्त कर सकता है।

श्रीमद्भागवत (२/१०/१६) में भी कहा है—*अनुप्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्वजन्तुषु,* अर्थात् सबके शरीरोंमें प्राणके प्रबल रहनेपर ही सारी इन्द्रियाँ प्रबल रहती हैं।

इस प्रकार यहाँ प्राणसे ब्रह्मका ही बोध होता है॥ २८॥

अवतरणिका भाष्य—ननु नोक्तं युज्यते वक्तृस्वरूपनिरूपणां। मामेव विजानीहि प्राणोऽस्मीति वक्ता खल्विन्द्रः तेन *'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखानषीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्'* इत्यादिना विज्ञातजीवभावस्य स्वस्यैवोपास्यत्वेनोपदेशात्। उपक्रमानुरोधेनानन्दादेरप्युपसंहारगतस्य जीवपरतया नेयत्वाच्च। प्राणोऽस्मीतीन्द्रदेवतैव तत्त्वेनोपासितुमुपदिश्यते वाचं धेनुमुपासीतेतिवत्। बलाधिष्ठातृत्वाच्च तस्य तथोपदेशः। *'प्राणो वै बलम्'* इति हि वदन्ति। तस्माज्जीवोऽयमित्याक्षिप्य परिहरति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब आपत्ति यह है कि 'इन्द्रप्राण' शब्दके द्वारा निर्दिष्ट परमात्मा हैं, शचीपति नहीं—यह कथन युक्तियुक्त

नहीं है, क्योंकि 'प्राणोऽस्मि' इत्यादि रूपमें इन्द्रने स्वयंका निर्देश करके कहा—मैं प्राण हूँ, मुझे वही जानो'—*मामेव विजानीहि* (कौ॰ब्रा॰ ३/१)। यहाँ वक्ता इन्द्र हैं, परमात्मा नहीं। अतएव *'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रम्'* (कौ॰ब्रा॰ ३/१) इत्यादि वाक्योंके द्वारा वे स्वयंको उपास्य रूपमें निर्दिष्ट करते हैं, यथा—मैंने त्रिशिरा, त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपका वध किया था और वेदान्तज्ञानसे रहित सभी ऋषियोंको मैंने कुत्तोंके मुखमें फेंक दिया था। इन वाक्योंसे वक्ताके जीव-भावसे अवगत हुआ जा सकता है। इन्द्रने ही स्वयंको उपास्य कहकर निर्देश किया है तथा उपक्रम एवं उपसंहारमें ऐक्यके कारण उपक्रमसे अवगत जीव-विशेष ही उपसंहारमें कथित आनन्दादि (*आनन्दोऽजरोऽमृतः*) शब्दोंका भी वाच्य होगा। अतएव *'प्राणोऽस्मि'* (कौ॰ब्रा॰ ३/२) इत्यादि वाक्यके द्वारा देवराज इन्द्र देवता ही प्राण रूपमें उपासना करनेके लिए उपदिष्ट हुए हैं। मात्र इतना ही नहीं, *वाचं धेनुमुपासीत्* (बृ॰आ॰ ५/८/१) वाक्यको कामधेनु मानकर उपासना करें, इस कथनमें जिस प्रकार वाक्यमें धेनु शब्दका आरोप किया गया है, उसी प्रकार इन्द्रमें प्राणत्वके कारण इन्द्र देवताकी ही उपासना बतायी गयी है। प्राण जिस प्रकार बलका कारण हैं, उसी प्रकार इन्द्र भी बलके अधिष्ठाता हैं। इसलिए भी इन्द्रका प्राण रूपमें उपदेश हो सकता है। *'प्राणो वै बलम्'*—प्राण बल है, ऐसा श्रुति भी कहती है। अतएव 'इन्द्रप्राण' शब्द जीवका बोधक है, परमात्माका नहीं। इस आक्षेपके समाधानके लिए सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिका भाष्यस्य टीका—ननु नोक्तमिति इन्द्रप्राणशब्दनिर्द्दिष्टः परमात्मेत्येतन्न युक्तमित्यर्थः। तत्र हेतुर्वक्तृति। तथाहि। स्वहृदि करं निधायेन्द्रो वक्ति मामेव विजानीहि इति। तेनेति। त्वाष्ट्रवधादिकमिन्द्रेणैव कृतं नतु परमात्मना। तथार्थत्वे पुराणेतिहासप्रसिद्धार्थविरोधापत्तिरितिभावः। त्रिशीर्षाणं त्रिशिरसं त्वाष्ट्रं विश्वरूपम्। रुत् वेदान्तवाक्यं तद्येषां मुखे नास्ति तेऽरुन्मुखास्तानब्रह्मज्ञानृषीन् शालावृकेभ्यो-ऽरण्यश्वभ्यः प्रायच्छं दत्तवानस्मीत्येतत् सर्वं रजोगुणिनि जीवे तस्मिन् संभवतीति। यस्येन्द्रस्य जीवभावो जीवधर्मो विज्ञातः स इन्द्रं प्रतर्द्दनं प्रति स्वमेवोपास्यमुपदिषति न तु परमेश्वरमित्यतो नोक्तं युज्यत इत्यर्थः। न न्वानन्दोऽजरोऽमृत इत्युपसंहारवाक्यस्य का गतिरिति चेत्तत्राहोपक्रमानुरोधेनेति। तत्त्वेनेति प्राणत्वेन। तस्य तथेति इन्द्रस्य प्राणत्वेनोपदेश इत्यर्थः। एवञ्चेदन्तेनाशङ्क्य निराकरोत्यध्यात्मेत्यादिना। तथाहीति—

अवतरणिका भाष्य— *'ननु नोक्तम्'* इत्यादि। आपत्ति है कि इन्द्रप्राण शब्दके द्वारा परमात्मा निर्दिष्ट हैं—यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। इस विषयमें हेतु कहते हैं—वक्ता इन्द्र स्वयंको निर्देश करके जब यह कहे रहे थे, तब वे शचीपति देवराज थे, परमात्मा नहीं। इन्द्रने स्वयं अपनी छातीपर हाथ रखकर कहा था—'मुझे ही प्राण रूपमें जानो।' किसलिए? इसलिए कि त्वष्टा प्रजापतिके पुत्र विश्वरूपका वधादि कार्य उन्होंने किया था, परमात्माने नहीं। यदि परमात्माने यह कहा होता, तो पुराण और इतिहासमें प्रसिद्ध कथाके साथ विरोध हो जाता। *'त्रिशिरा त्वाष्ट्र'*—विश्वरूपको, अरुन्मुखान्-रुत् शब्दका अर्थ है वेदान्तवाक्य, वे जिनके मुखमें नहीं हैं, उन अरुन्मुख अर्थात् अब्रह्मज्ञ ऋषियोंको शालावृकेभ्योः—आरण्य कुत्तोंके मुखोंमें दे दिया था—ऐसे कथन रजोगुणसम्पन्न जीव-विशेष इन्द्रके द्वारा ही कहे जा सकते हैं। अतः जिस इन्द्रके इस प्रकारके जीव-धर्मसे अवगत हुआ गया है, उसी इन्द्रने प्रतर्द्दन राजाके प्रति स्वयंकी उपासना करनेका उपदेश दिया है, परमेश्वरने नहीं। अतः तुमने जो कहा, वह तर्कसङ्गत नहीं है। यदि कहो, ऐसा है, तो उपसंहार वाक्यमें 'वे आनन्द, अजर स्वरूप हैं'—इस वाक्यकी सङ्गति किस प्रकार होगी? इसके उत्तरमें कहते हैं—उपक्रमके अनुरोधसे उपसंहारमें भी इन्द्रका प्राण रूपमें उपदेश कहेंगे। प्राणरूप इन्द्रका प्राणत्व रूपमें उपदेश है—इस प्रकारसे प्राणको अथवा इन्द्रको परमात्मा नहीं कहा जा सकता। इन्द्र स्वयं अपनी उपासना करनेको कह रहे हैं, अतएव यहाँ देवराज इन्द्र ही प्रतिपाद्य हैं। पूर्वपक्षकी आशङ्काका *'अध्यात्म-सम्बन्ध'* इत्यादि वाक्य (*अध्यात्म-सम्बन्ध भूमाह्यस्मिन् आत्मनि यः सम्बन्धः सो अध्यात्म-सम्बन्धः*) द्वारा परिहार करते हुए कहते हैं अर्थात् इस प्रकरणमें बहुत रूपोंसे परमात्माका धर्म-सम्बन्ध ऐकान्तिक रूपसे उपदिष्ट होनेके कारण ब्रह्मका उपदेश है, शचीपति इन्द्रका नहीं। आख्यायिकाके वर्णनसे यही प्रतीत होता है।

सूत्र—न वक्तुरात्मोपदेशादितिचेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्॥ २९॥

सूत्रार्थ—'न'—इन्द्र शब्दसे जीव-विशेष नहीं है, क्योंकि 'वक्तुरात्मोपदेशात्', क्योंकि वक्ता इन्द्रने स्वयंका ही उपास्य रूपमें (अपनेको ही प्राण कहकर) निर्देश किया है, इति—तो यह कहना, न—सङ्गत नहीं है, 'हि'—क्योंकि, 'अस्मिन्'—इस प्रकरणमें 'अध्यात्म-सम्बन्ध भूमा'-परमात्माका धर्मके साथ एकान्त रूपसे प्रचुर सम्बन्ध देखा जाता है। अतएव परमात्म-सम्बन्धसे परमात्मा ही प्राण, इन्द्र शब्दोंके वाच्य हैं॥ २९॥

सूत्रानुवाद—वक्ताके ही आत्माका उपदेश होनेसे एवं परमात्माके धर्मकी बहुलतासे कथन होनेसे परमात्मा ही उपास्य हैं, प्राकृत इन्द्र, प्राणादि नहीं॥ २९॥

गोविन्दभाष्य—अध्यात्मसम्बन्धः परमात्मैकान्तधर्मसम्बन्धस्तस्य भूमा बहुत्वमस्मिन् प्रकरणे हि यस्माद् दृश्यतेऽतः परमात्मैव स बोध्यः। तथाहि हिततमः वरः किल मोक्षाप्त्युपायः। तत्कर्मत्वं मामुपास्स्वेति (कौ॰ब्रा॰ ३/१) प्राणशब्दितस्य प्रतीयते। *'एषा एव साधु कर्म कारयति'* (कौ॰ब्रा॰ ३/८) इत्यादिना सर्वकर्मकारयितृत्वम्। *'तद्यथा—रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः। प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः'* (कौ॰ब्रा॰ ३/८)। इति जडचेतनात्मकसमस्ताधारत्वञ्च। एवं *'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः ... एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वरः'* (कौ॰ब्रा॰ ३/८)। इत्यानन्दात्मकत्वादि च। तदेतद्धर्मजातं परमात्मन्येव संभवति नान्यत्रेति॥ २९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस प्रकरणमें अध्यात्म-सम्बन्ध अर्थात् परमात्माका ऐकान्तिक धर्म-सम्बन्ध बहु-परिमाणमें देखा जा रहा है, इसलिए प्राण शब्दसे परमात्माको ही जानना होगा। प्रतर्द्दनके द्वारा प्रार्थित हिततम वर (काम्य वस्तु) शब्दमें मोक्ष-प्राप्तिका उपाय है। वह कार्य कौन कराता है? उसमें 'मेरी उपासना करो' कहकर जिस उपास्य प्राणका निर्देश किया गया है, वे परमात्मा ही उस व्यक्तिसे साधु-कर्म कराते हैं—यह प्रतीत होता है। श्रुति कहती है—*'एष एव साधु कर्म कारयति'* (कौ॰ब्रा॰ ३/८) अर्थात् 'वे परमात्मा ही जीवसे उत्तम कर्म कराते हैं' इत्यादि द्वारा समस्त कर्मोंका कारयितृत्व एवं प्रवर्त्तकत्व परमात्माका ही धर्म है। दृष्टान्तस्वरूप कहा जा रहा है—जिस प्रकार नेमि (चक्रधारा) रथके अर-काष्ठके मध्यमें छह शलाकाएँ (अराएँ) अर्पित रहती हैं और अराएँ चक्रनाभिमें अर्पित रहती हैं अर्थात् सम्बन्धित

रहती हैं, उसी प्रकार आकाशादि पञ्च महाभूत और शब्द इत्यादि तन्मात्राएँ प्रज्ञामात्रा (प्रज्ञात्मा) में अर्थात् चित्-शक्तिमें आबद्ध रहती हैं। पुनः चिन्मात्राएँ प्राण अर्थात् परमात्माके साथ सम्बन्धित रहती हैं। इस प्रकार जड़-विषयादि और चेतनस्वरूप जो भी हैं, सभीका आधार परमात्मा हैं। श्रुति यही कहती है—*एष प्राण एव प्रज्ञात्मा आनन्दोऽजरोमृतः। एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वरः।* (कौ॰ब्रा॰ ३/८)—यह प्राण ही प्रज्ञात्मा चैतन्यस्वरूप है, यही आनन्दस्वरूप, अजर और अमृत है। यही समस्त लोकोंका अधिपति है, यही सर्वेश्वर है—इत्यादि द्वारा श्रुतिमें प्राणको आनन्दादि स्वरूप कहा गया है। अतः यह सब कर्म-प्रवर्त्तकत्व, आनन्दरूपत्व, अमृतत्व इत्यादि धर्म परमात्मामें ही सम्भव हैं, वायु अथवा देवराज इत्यादिमें कभी भी सम्भव नहीं हो सकते॥ २९॥

सूक्ष्मा-टीका—हिततमं वरं परमपुरुषार्थलाभोपायं प्रतर्द्दनः पप्रच्छ। तल्लाभकामस्य तस्येन्द्रः प्राणोपासनमुपादिदेश। स तु प्राणः परमात्मैव न वायुविकारः। *'तमेव विदित्वा'* इत्यादिश्रुतिभ्यः। तथा स यो ह मां वेद न ह वै तस्य केनचित् कर्मणा लोकोऽनुमीयते। न स्तेयेन भ्रूणहत्ययेत्यादिकं परमात्मपरिग्रहे घटेत नेन्द्रपरिग्रहे घटेत। तदर्थस्तु योऽधिकारी मां मद्वत्त्येकहेतुं मद्व्यापकं वा परमात्मानं वेद अनुभवति तस्य ब्रह्मज्ञस्य लोको मोक्षः केनचित् कर्मणानुमीयते न हिंस्यते। दैवात् पतितानां पापानां विद्यया भस्मीभावात्। वह्निज्वालयैवेषीकतुलानामिति। एषएव साधुकर्मेत्यादिना निखिलप्राणिप्रवर्त्तकत्वं परमात्मधर्म एव। एवं न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यादिति। वक्तारमुपक्रम्य तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पितेत्यादिना जडचेतन-समस्ताधारत्वं दर्शितम्। तच्च वक्तुस्तस्य परमात्मत्वे सत्सेव सङ्गच्छेत नान्यथेत्यर्थः। श्रुत्यर्थस्तु यथा लोके प्रसिद्धस्य रथस्यारेषु मध्यवर्त्तिशलाकासु षट्सु चक्रोपान्ता नेमिरर्पिता। नाभौ चक्रपिण्डिकायामरा अर्पिताः तथा भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः। भूतानि खादीनि मात्राः शब्दादयो विषयोश्चेत्यर्थः। जीवरूपासु प्रज्ञामात्रासु चित्स्वित्यर्थः। ताश्च प्राणे परमात्मन्यर्पिता इति। स एष इत्यादिकं स्फुटं परमात्मपरं। आनन्दात्मकत्वादि चेति। आदिनाजरत्वामृतत्वलोकनाथत्वसर्वेश्वर्याणि गृह्याणि। तस्मादध्यात्मसम्बन्धबाहुल्याद् ब्रह्मोपदेश एवायं नेन्द्रात्मकजीवविशेषोपदेश इति सिद्धम्॥ २९॥

सूक्ष्मा-सार—प्रतर्द्दनने जिज्ञासा की कि हिततम-वर अर्थात् परमपुरुषार्थकी प्राप्तिका उपाय क्या है? इस परमपुरुषार्थ-प्रार्थी प्रतर्द्दनको इन्द्रने प्राणोपासनाका उपदेश दिया। यह उपास्य प्राण

परमात्मा ही हैं, वायु-विकार नहीं। 'उन परमात्माको स्वरूपतः जान लेनेपर मृत्यु अर्थात् संसारको अतिक्रमण (पार) किया जा सकता है'—यह श्रुति परमात्माकी उपासनाको ही मुक्तिलाभका उपाय बता रही है। और भी, श्रुति इस प्रकार कहती है—*'स यो ह मां वेद'* इत्यादि—इन्द्र शब्दसे परमात्मा ग्रहण करना ही सङ्गत है। देवराज इन्द्रको ग्रहण करनेसे तो असङ्गति हो जायेगी। इस श्रुतिका अर्थ यह है कि 'जो अधिकारी मुझे अर्थात् मद्-वृत्ति-प्राप्तिके एकमात्र कारण अथवा मद्-व्यापक उस परमात्माकी अपरोक्ष अनुभूति करता है, उस ब्रह्मज्ञ व्यक्तिका मोक्ष किसी भी कर्म द्वारा विघ्नित अथवा नाशित नहीं होता, यहाँ तक कि चोरी अथवा भ्रूणहत्या भी आकस्मिक रूपसे घटित हो जाय, तो ये महापातक भी ब्रह्मविद्या द्वारा उसी प्रकार भस्मीभूत हो जाते हैं, जिस प्रकार अग्नि-शिखासे तृण-राशि शीघ्र ही दग्ध हो जाती है।'

'एष एव साधुकर्म कारयति'—यह परमेश्वर ही जीवको उत्तम कार्य कराते हैं—इत्यादि द्वारा बोध होता है कि समस्त प्राणियोंका प्रवर्त्तकत्व परमात्माका धर्म है, जीवका नहीं। इसी प्रकार श्रुतिमें और भी कहा है—*'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्'* (कौ०ब्रा० ३/८) अर्थात् वाक् ब्रह्मके रूपमें नहीं, वक्ताको वक्ताके रूपमें जानना होगा। इस प्रकार वक्ताका उपक्रम करके रथ-नेमि-अर-अर्पणका दृष्टान्त प्रस्तुत करके जड़ एवं चेतनात्मक समस्त विश्वके आधार इत्यादि रूपमें परमेश्वरका सर्वाश्रयत्व बतलाया है।

वक्ताके कहनेपर यदि परमात्मा ही वक्तव्यके तात्पर्यके विषयीभूत हैं, तब तो सङ्गति है, जीव कहनेसे हो नहीं सकती। भाष्योक्त श्रुति *'तद्यथा रथस्यारेषु'* (कौ०ब्रा० ३/८) का तात्पर्य है कि जिस प्रकार लौकिक व्यवहारमें प्रसिद्ध रथके मध्यवर्ती छह दण्डके ऊपर चक्र-प्रान्त अर्पित रहता है और चक्र-पिण्डके ऊपर अर-दण्ड अर्पित रहते हैं, उसी प्रकार पञ्च महाभूत आकाशादि एवं मात्रा अर्थात् शब्दादि विषय जीवस्वरूप प्रज्ञा-चैतन्यमें अर्पित हैं और वे प्रज्ञामात्रा प्राणात्मक परमात्मामें अर्पित हैं। पुनः *'स एव प्राणः'* इत्यादि श्रुति

स्पष्ट रूपसे परमात्माको ही ज्ञापित कर रही है। इस प्रकार यहाँ ब्रह्मोपदेश ही निश्चित हो रहा है।

आनन्दात्मकत्व इत्यादि धर्म भी परमात्माके हैं। आदि—इत्यादि कहनेसे अजरत्व, अमृतत्व, लोकनाथत्व, सर्वेश्वरत्व जानना चाहिये। अतएव अन्तर्यामीका धर्म-सम्बन्ध प्रचुर रूपसे कथित होनेके कारण प्राणोपदेश कथनसे ब्रह्मोपदेश ही ग्रहण करना चाहिये, इन्द्र नामक जीवोपदेश नहीं, यह प्रमाणित हुआ॥ २९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यद्यपि वक्ता इन्द्रको यहाँपर आत्मोपदेश करते हुए देखा जाता है, तथापि इस प्रकरणमें अध्यात्म सम्बन्धके द्वारा प्रचुर परिमाणमें परमात्माके धर्मके साथ ही सम्बन्ध है, अतः इन्द्रने इस स्थलपर 'प्राण' शब्दसे परमात्माको ही लक्षित किया है। इसका कारण यह भी है कि परमात्माकी उपासनाके बिना इन्द्रकी उपासना द्वारा मोक्ष प्राप्त नहीं होता और मोक्ष-प्राप्तिके बिना जीवका हिततम अर्थात् श्रेष्ठतम कल्याण साधित नहीं हो सकता।

परमात्मा ही समस्त कर्मोंके प्रवर्त्तक एवं फलदाता हैं। उनके बिना कोई भी मोक्ष प्रदान नहीं कर सकता। शिवजीने घण्टाकर्णसे कहा था—*मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः,* अर्थात् इसमें कोई संशय नहीं कि विष्णु ही सबको मुक्ति प्रदान करनेवाले हैं।

यहाँ भाष्यमें उल्लिखित रथका दृष्टान्त भी प्रणिधान (ध्यान) के योग्य है। *'स एष प्राणः'* श्रुतिमें वर्णित इस विचारमें परमात्मामें ही प्राण शब्दका निर्देश होता है। जीव-विशेष प्राण शब्दका वाच्य हो नहीं सकता। यह युक्तियुक्त सिद्धान्त हुआ। श्रीमद्भागवत (२/१०/१२) में द्रष्टव्य है—

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥

अर्थात् नारायण भगवान्की कृपासे ही द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव एवं जीव आदिकी सत्ता है। उनकी उपेक्षा कर देनेपर किसीका अस्तित्व नहीं रहता।

श्रीजीवगोस्वामिपादके परमात्मसन्दर्भ (५३) में भी देखा जाता है—

कालो दैवं कर्म जीवः।
स्वभावो द्रव्यक्षेत्रं प्राणमात्मा विकारः॥

अर्थात् काल, दैव (अदृष्ट) कर्म, जीव, स्वभाव, सूक्ष्मभूत, शरीर, प्राण, आत्मा (अहङ्कार) विकार (ग्यारह इन्द्रियाँ एवं पाँच महाभूत)—इन सोलह पदार्थोंका संघात लिङ्गशरीर आपकी माया है।

श्रीमद्भागवत (२/५/१४) में ही—*वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः*, अर्थात् हे ब्रह्मन्! वासुदेवसे श्रेष्ठ अन्य अर्थ यथार्थतः नहीं है॥ २९॥

अवतरणिका भाष्य—नम्बेवेञ्चद्वक्तुरात्मोपदेशः कथं संगच्छेत तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि यदि यह ब्रह्मोपदेश है, तो वक्ताका आत्मोपदेश किस प्रकार सङ्गत होगा? इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नम्बेवमिति। एवं निखिलस्य वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वे सति। मामेव विजानीहि इति वक्तुरिन्द्रस्य स्वोपदेशः कथं संभवेदित्यर्थः—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आशङ्का है कि यदि सम्पूर्ण वेदान्तवाक्य ब्रह्ममें ही समन्वित हैं, तो इन्द्रका 'मुझे ही ब्रह्मरूपमें जानो'—यह आत्मोपदेश किस प्रकार सम्भव होगा? इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र—शास्त्रदृष्ट्या तुपदेशो वामदेववत्॥ ३०॥

सूत्रार्थ—'तु' पद इस सन्देहकी निवृत्तिके लिए कहा जा रहा है, 'शास्त्रदृष्ट्या'—शास्त्रके उपदेशानुसार, 'उपदेशः'—इन्द्रका स्वयंके उपास्यत्व रूपमें कथन सम्भव है, अन्य किसी प्रकारसे नहीं, 'वामदेववत्'—वामदेव नामक मुनिके समान अर्थात् उन्होंने जिस प्रकार स्वयंको ब्रह्मरूपमें जानकर मन-ही-मनमें निश्चय किया था—'मैं मनु हुआ था, मैं सूर्य हुआ था', इस प्रकार उन्होंने स्वयंकी वृत्तिके हेतुभूत ब्रह्मको निर्देश करके 'अहं' शब्दार्थके साथ अभिन्न रूपमें मनु इत्यादिका निर्देश किया

था, इसी प्रकार इन्द्रने भी ब्रह्मसे अभिन्न रूपमें स्वयंको उपास्य कहा है॥ ३०॥

सूत्रानुवाद—इन्द्रका अपने उपास्यरूपमें कथन वामदेवकी भाँति शास्त्रदृष्टिसे है॥ ३०॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दः सन्देहहानौ। विज्ञातजीवभावेनापीन्द्रेण मामेव विजानीहि (कौ॰ब्रा॰ ३/१) मामुपास्स्वेत्युपास्यब्रह्मरूपतया योऽयं स्वोपदेशः कृतः स शास्त्रदृष्ट्यैव सम्भवति नेतरथा। शास्त्रं खलु यद्वृत्तिर्यदायत्ता तं ताद्रूप्येण उपदिशति। *'न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते प्राण इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवन्ति'* (छा॰ ५/१/५) इति छान्दोग्यश्रुतिः। प्राणायत्तवृत्तिकत्वादिन्द्रियाणि प्राणरूपतया निर्द्दिशति। तथा चैवं विदुषोवक्तुः स्वप्रज्ञां स्वविनेये सञ्चिचारयिपोर्मामेव विजानीहीत्याद्युपदेशोऽन्यथा स्वं ब्रह्मायत्तवृत्तिकमसौ न विद्यादिति। दृष्टान्तमाह। वामेति। यथा बृहदारण्यक (१/४/१) *'तद्वैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च'* इत्यत्राहमिति स्ववृत्तिहेतुं ब्रह्म निर्द्दिश्य तदेकार्थेन मन्वादीन् वामदेवो व्यपदिशति तथेन्द्रोऽपि स्वमिति। स्मृतिश्च—तद्व्याप्यस्य ताद्रुप्यमभिधत्ते। *'योऽयं तवागतो देव! समीपं देवतागणः। सत्यमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान्'* (वि॰पु॰ १/९/७०) इति। *'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वं'* (श्रीगी॰ ११/४०) इति च। लोकेऽपि स्थानमत्यैक्यादैक्यं वदन्ति। *'गावः सायमेकतां यान्ति'* इति। *'विवदमाना नृपा एकतां यातारः'* इति च॥ ३०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—'तु' शब्दका प्रयोग पूर्वोक्त सन्देहके निराकरणके लिए हुआ है। *'मामेव विजानीह, मामुपास्स्व'*—'मेरे ब्रह्म रूपसे अवगत होओ, मेरी उपासना करो', इस प्रकारसे विज्ञात (ज्ञान-विशिष्ट) रूप जीव इन्द्रके द्वारा उपास्य ब्रह्मरूपमें अपनेको जो उपदेश कर रहे हैं, वह शास्त्रदृष्टिके अनुसार सम्भव है, प्रकारान्तरसे नहीं। जो वृत्ति अथवा अवस्था जिसके अधीन है, शास्त्र उसे उसी रूपमें उपदेश करता है। जिस प्रकार वाक् इत्यादिकी वृत्ति जो प्राणके अधीन है, उसका प्राणरूपमें वर्णन किया है, इसी प्रकार इन्द्रकी यह वृत्ति ब्रह्मके अधीन है, इसी कारण इन्द्र ब्रह्मस्वरूपमें भावित होकर अपनी उपासनाका उपदेश दे रहे हैं। छान्दोग्योपनिषदमें वाक् इत्यादिके सम्वादमें एक उपाख्यान है, जिसमें प्रजापति, वाक् इत्यादिसे कहते हैं—"वाक्-शक्ति कुछ बोल नहीं सकती, आँख देख नहीं सकते, कान

सुन नहीं सकते और मन भी मनन नहीं कर सकता, प्राण ही समस्त कार्य करता है, प्राणके बिना किसीकी भी कार्य करनेकी शक्ति नहीं है।" अतएव इन्द्रियोंको प्राणाधीन वृत्ति कहकर श्रुति इन्द्रियोंका प्राणके स्वरूपमें निदर्शन करती है। इस प्रकार ज्ञान-विशिष्ट (विज्ञात) वक्ता स्वयंकी प्रज्ञाको दूसरेमें सञ्चारित करनेके अभिप्रायसे उपदेश करता है—'मुझे ब्रह्म जानो।' यदि इन्द्रका अपने ऊपर ब्रह्मात्म-बोध न उत्पन्न हुआ होता, तो प्रतर्द्दन अपनेको ब्रह्माधीन वृत्तिके रूपमें जान नहीं सकता था। इस विषयमें बृहदारण्यकोपनिषदमें (१/४/१) एक दृष्टान्त है—*वामदेववत्...* इत्यादि। महर्षि वामदेव (अपनी आत्मामें) ब्रह्मस्वरूपका दर्शन करके मन-ही-मन विचार करने लगे—"मैं मनु हुआ था, मैं ही सूर्य था।" इस प्रकार अपनी चित्तवृत्तिके हेतुभूत ब्रह्मका निर्देश करके उन्होंने मनु इत्यादि स्वरूपमें आत्माका जिस प्रकार निर्देश किया है, उसी प्रकार इन्द्र भी अपना आत्मारूपमें निर्देश कर रहे हैं। इसी विषयमें स्मृतिवाक्य भी है—"जो जिसका व्याप्य है, वह तत्स्वरूप होता है।" श्रीविष्णुपुराण (१/९/७०) में देवताओंकी श्रीविष्णुके प्रति उक्ति है—"हे देव! जो समस्त देवता आपके समीप आये हैं, ये सब सत्य ही जगत्के स्रष्टा हैं, क्योंकि जगत्-सृष्टिकारी आप सबमें व्यापक (विराजमान) हैं।" यहाँ व्यापक विष्णु हैं, व्याप्य देवगण हैं, इसलिए देवताओंकी विष्णुरूपता है। श्रीगीतामें भी अर्जुनने भगवान्से यही कहा है—*'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वम्'* (श्रीगी॰ ११/४०), जिस कारण आप समस्त वस्तुओंको व्याप्त किये हुए हैं, इसलिए घट-पटादि स्वरूप सब आप ही हैं। जीवात्मा समस्त देहोंका आश्रय करके वर्त्तमान है, इसीलिए देहका आत्मरूपमें व्यवहार किया जाता है। लौकिक व्यवहारमें भी देखा जाता है कि एक स्थानपर लाये गये सब एकत्वको प्राप्त होते हैं और मतिका ऐक्य भी कोई 'एक' नाम प्राप्त करता है। स्थानकी एकता—जिस प्रकार सायंकालमें समस्त गायें एक स्थानपर इकट्ठी हो जानेपर 'एकत्व' को प्राप्त होती हैं और मतिकी एकता—जिस प्रकार राजागण परस्पर विवाद करनेपर भी पालनकारिताके हिसाबसे एक होते हैं॥ ३०॥

सूक्ष्मा-टीका—सङ्गतिमाह शास्त्रेति। विज्ञातेति। विज्ञात जीवधर्मेणेत्यर्थः। स्वोपदेशो निजोपदेषः। *'न वै वाच'* इति। प्राणायत्तवृत्तिकत्वाद्वागादीनां प्राणरूपता प्राणाभिधानञ्च तथा तद्ब्रह्मायत्तवृत्तिकत्वादिन्द्रादिजीवानां ब्रह्मरूपत्वादीत्यर्थः। प्राणसंवादे कथास्ति—"वागादयः सर्वे प्रत्येकमात्मनः श्रैष्ठ्यं मन्यमानाः तन्निश्चयाय प्रजापतिमुपजग्मुः। स च तानुवाच। यस्मिन्नुत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव भवति स युष्माकं श्रेष्ठ इति। प्रजापतावेवमुक्तवति वागादियु क्रमेणोत्क्रान्तेष्वपि मूकादिभावेन शरीरं स्वस्थमस्थात्। मुख्यप्राणस्योचिक्रमिषायां तु वागादयो व्याकुलतामापुः। तां वीक्ष्य स तानुवाच मा मोहमापद्यथ। यतोऽहमेवैतं पञ्चधात्मानं प्रविडज्यैतद्वानमवष्टभ्य विधारयामि इति।" इह वागादीनां प्राणैकायत्तवृत्तित्वं विस्फुटम्। पञ्चधा प्राणापानादिरूपेण। वानं शरीरम्। वनति गच्छतीति व्युत्पत्तेः। तथाचैवमिति। एवं विदूष ईदृशज्ञानविशिष्टस्य ब्रह्मायत्तवृत्तिकोऽहमिति जानत इति यावत्। स्वप्रज्ञां स्वीयं तज्ज्ञानम्। स्वविनेये स्वविशिष्टे प्रतर्द्दने राज्ञि। सञ्चिचाारयिषोः सञ्चारयितुमिच्छोरिन्द्रस्य मामेव विजानीहीति इत्याद्युपदेशस्तं प्रति वभूवेत्यर्थः। अन्यथा ईदृशोपदेशाभावे ईश्वरः कश्चिदस्तीत्येव-मुपदेशे सतीति यावत्। असौ प्रतर्द्दनः स्वमात्मानं ब्रह्मायत्तवृत्तिकं न जानीयादित्यर्थः। वामदेववदिति। तदेकार्थेन अहंशब्दसामानाधिकरण्येन आत्मानं व्यपदिशतीत्यर्थः। सङ्गत्यन्तरमाह—स्मृतिश्चेति। *'योऽयम्'* इति श्रीविष्णुपुराणे। विष्णुं प्रति देवानां वाक्यं तद्व्याप्यत्वात् देवास्तदभिन्ना इत्यर्थः सर्वमिति श्रीगीतासु अर्जुनवाक्यम्। सर्वव्यापकत्वात् त्वत्तः सर्वं न भिन्नपित्यर्थः। अपरां सङ्गतिमाह। *'लोकेऽपि'* इति। *'स्थानैक्ये गाव'* इति। *'मत्यैक्ये विवदमाना'* इति। तामेकताम्॥ ३०॥

सूक्ष्मा-सार—शास्त्रेत्यादि वाक्यके द्वारा सङ्गति दिखा रहे हैं—'विज्ञात-जीव-भावेन' अर्थात् जिसे जीव-भाव ज्ञात हो गया है, उसके द्वारा अपना उपदेश किस प्रकारसे सम्भव है? *'न वै वाच'* इत्यादि श्रुतिका तात्पर्य है कि प्राणाधीन वृत्ति (कार्य-कारिता) के कारण जिस प्रकार वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मनकी प्राण-स्वरूपता है तथा उनका नाम प्राण है, उसी प्रकार इन्द्रादि जीवकी भी ब्रह्माधीन क्रिया है, इसलिए ब्रह्मरूपता है एवं ब्रह्म नामसे अभिधान है। छान्दोग्योपनिषदमें प्राण-सम्वादमें एक आख्यायिका है—वाक् इत्यादि इन्द्रियाँ सभी अपने-अपनेको श्रेष्ठ मानकर विवाद करने लगीं। बादमें निश्चयार्थ जाननेके लिए वे प्रजापतिके समीप उपस्थित हुईं। प्रजापतिने उनसे कहा—"तुममेंसे जिसके द्वारा शरीरसे बाहर निकलनेपर शरीर मलिन हो जाय, वही श्रेष्ठ है।" प्रजापतिके इस कथनके बाद वाक् इत्यादि

इन्द्रियाँ एक-एक करके निकल गयीं, तब शरीर मूक, बधिर और अन्धादि रूपमें अवस्थित होकर भी अस्वस्थ नहीं हुआ, किन्तु जैसे ही मुखान्तर्वर्त्ती प्राण-वायुने बाहर निकलना चाहा, वैसे ही वाक् इत्यादि इन्द्रियाँ अत्यन्त व्याकुल अथवा कार्य-अक्षम हो गयीं। इन्द्रियोंकी इस व्याकुलताको देखकर प्राणने उनसे कहा—तुमलोग मोहको प्राप्त मत होओ। मैंने अपनेको पाँच भागोंमें बाँटकर शरीरको आश्रय करके उसे जीवित रखा है। अतः इस आख्यायिकासे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वाक् इत्यादि इन्द्रियोंकी प्राणाधीन वृत्ति है। प्राणके पाँच प्रकार है—प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान। भाष्य स्थित 'वान' शब्दका अर्थ है 'शरीर', उसकी व्युत्पत्ति है—'जो जा रहा है' अर्थात् नाशकी ओर अग्रसर हो रहा है। 'तथा चैवम्'—और इस प्रकार ज्ञान-विशिष्ट अर्थात् मैं (जीव) ब्रह्माधीन-वृत्ति-विशिष्ट हूँ—इस प्रकार जो जानता था, उस विज्ञात व्यक्ति (इन्द्र) ने अपने उस ज्ञानको अपने उद्देश्यके विषयीभूत राजा प्रतर्द्दनमें सञ्चारित करनेकी इच्छा की और 'मुझे ही विशेष रूपसे जानो'—इस प्रकारका उपदेश दिया। देवराज इन्द्रने यदि इस प्रकारका उपदेश न किया होता और साधारण रूपसे कह दिया होता कि 'एक ईश्वर है, उसकी उपासना करो', तब यह प्रतर्द्दन अपनी आत्माको ब्रह्माधीन वृत्तिके रूपमें कभी जान ही नहीं पाता, इसी प्रकार वामदेव मुनिने मनु इत्यादिको 'अहं' शब्दके वाच्य अर्थमें आत्माका अभिन्न रूपमें निर्देश किया था।

इसके बाद सूत्रकी एक और सङ्गति दिखला रहे हैं—पुराणादि शास्त्रोंमें भी इसी प्रकारसे कहा गया है कि देवतागण विष्णुके व्याप्य हैं, इसलिए वे विष्णुसे अभिन्न हैं—स्वतन्त्र नहीं। श्रीमद्गीतामें भी अर्जुनने श्रीकृष्णके प्रति जो कहा *'सर्वं समाप्नोषि'*, इसका तात्पर्य है कि 'तुम सर्वव्यापक हो, इसलिए समस्त वस्तुएँ तुमसे अभिन्न हैं, भिन्न नहीं।'

परवर्ती सूत्रके उत्थापनके बीज रूपमें और भी एक सङ्गति कर रहे हैं—जिस प्रकार लौकिक प्रयोगमें स्थानका ऐक्य एवं गतिके

ऐक्यके कारण विभिन्न वस्तुएँ एकत्वको प्राप्त होती हैं। स्थानका ऐक्य—जैसे भिन्न-भिन्न स्थानपर रहनेपर भी सायंकालमें सभी गौएँ एक स्थानपर एकत्रित हो जाती हैं और मतिके ऐक्यमें जिस प्रकार राजागण परस्पर विवादकारी होनेपर भी प्रजाकी रक्षाके कार्यमें एकत्व (साम्य) को प्राप्त होते हैं। भाष्योक्त 'ताम्' शब्दका अर्थ 'एकत्व' है॥ ३०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्राण शब्दसे यदि परब्रह्म परमात्मा निर्दिष्ट होते, तो इन्द्र अपना प्रज्ञात्मा इत्यादि शब्दसे किस प्रकार उपदेश देते? इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि शास्त्रदृष्टिके अनुसार यह उपदेश दिया गया है। यह जानना होगा, ऐसे ही, जैसे कि वामदेवने दिया था। भाष्य एवं टीकामें इस विषयपर विस्तारपूर्वक आलोचना की गयी है। जो वृत्ति अथवा अवस्था जिसके अधीन है, शास्त्र तदधीनताके कारण उसे उसी रूपमें वर्णन करते हैं। व्यापक विष्णुके अधीन व्याप्य देवताओंको विष्णुके अभिन्न रूपमें ग्रहण किया गया है—उपनिषद, विष्णुपुराण, गीता इत्यादि शास्त्रोंमें यही उल्लेख है। ब्रह्म-उपासनामें सिद्ध पुरुषोंका अपनेमें ब्रह्मत्व-बोध हो ही जाता है। इसका दृष्टान्त बृहदारण्यकमें कथित वामदेव-प्रसङ्गमें देखना चाहिये।

लोकमें जिस प्रकार राजपुरुषोंको भी राजाके रूपमें अभिहित करते हैं, ब्रह्मायत्तवृत्तिकतावश (ब्रह्माधीनता वृत्तिके कारण) इन्द्रादि जीवकी भी ब्रह्मरूपता उसी रूपमें सिद्ध होती है अथवा ब्रह्म नामसे कथित होती है। छान्दोग्य श्रुतिमें जिस प्रकार प्राण-सम्वाद वागादि इन्द्रियोंकी प्राणायत्तवृत्तिकत्वको जाना जाता है, उसी प्रकार इन्द्रने भी यहाँ ब्रह्मायत्तवृत्तिको प्राप्त करते हुए अपनेको ब्रह्मसे अभिन्न जानकर ही इस प्रकार उपदेश दिया है। यदि ऐसा न किया गया होता, तो प्रतर्दन राजा अपनेको ब्रह्माधीन रूपमें कभी न जान पाता।

श्रीप्रह्लादके वचनोंमें यही देखा जाता है—

अहमात्मा तदाकारस्तत्स्वरूपो निरञ्जनः।
तस्मात् सर्वात्मना देवं मामेव शरणं व्रज॥

अर्थात् मैं आत्मा हूँ, तदाकार, तत्स्वरूप और निरञ्जन हूँ। इसीसे सब प्रकारसे मुझ देवकी शरणमें आ जाओ।

श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा है—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१३/२४)

अर्थात् मन, वाक्य, दृष्टि एवं अन्यान्य इन्द्रियोंके द्वारा जो सब विषय ग्रहण किये जाते हैं, वह सब मैं ही हूँ अर्थात् मेरे ही अभिन्नस्वरूप हैं, मुझसे भिन्न नहीं। तत्त्वविचारके द्वारा तुम इससे अवगत हो सकोगे।

श्रील परीक्षित् महाराजने भी कहा है—*अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्* (श्रीमद्भा॰ १२/५/११), अर्थात् मैं ही ब्रह्म नामक परम धाम हूँ और परम पद ब्रह्म भी मैं ही हूँ।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने इस श्लोककी टीकामें लिखा है—

अर्थात् मैं जो हूँ, मैं ब्रह्म ही हूँ, मैं संसारी नहीं हूँ, इस भावनासे शोकादि चले जाते हैं। 'ब्रह्म मैं हूँ', 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस भावना द्वारा ब्रह्मकी परोक्ष निवृत्ति होती है—यहाँ व्यतिहार समास (अन्तःपरिवर्तन—अदल-बदल) दिखाया है। निष्कल (कला-शून्य) निरुपाधि आत्मामें अर्थात् ब्रह्ममें। दूसरे पक्षमें, मैं धाम हूँ, सूर्यके समान परमेश्वरका चित्कण ही हूँ। अमरकोषमें कहा है—*गृहदेहत्विट्प्रभाव धामानि*। किस प्रकारसे ब्रह्मपरायण है, *'नारायणपरो विप्रः'* (जिस प्रकारसे विप्र नारायणपर था), इस प्रकारसे ब्रह्मका उपासक हूँ, यह अर्थ है। इसलिए 'ब्रह्माहं'—'ब्रह्म मैं हूँ', इसका अर्थ हुआ—मैं परमेश्वरका ही हूँ। यहाँ षष्ठी तत्पुरुष समास है।

श्रील स्वामिपादने भी इस श्लोककी टीकामें लिखा है—

योऽहं स ब्रह्मैव यद् ब्रह्म तदहमेवेति समीक्ष्य।
तत्र अहं ब्रह्मेति भावनया जीवस्य शोकादि निवृत्तिः॥

अर्थात् जो मैं हूँ, वही ब्रह्म है, जो ब्रह्म है, वही मैं हूँ—इस प्रकारकी समीक्षा करके 'अहं ब्रह्म'—मैं ब्रह्म हूँ—इस भावनासे जीवके शोकादि निवृत्त हो जाते हैं॥ ३०॥

अवतरणिका भाष्य—नन्बस्तु ब्रह्मैकान्तधर्मसम्बन्धभूमा तथाप्येतद्वाक्यं ब्रह्मपरमिति न शक्यं नियन्तुम्। *'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्'* (कौ॰ब्रा॰ ३/८) *'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम्'* (कौ॰ब्रा॰३/१) इत्यादिजीवलिङ्गात्। *'यावदस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुरथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मा इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति'* (कौ॰ब्रा॰ ३/३) इति मुख्यप्राणलिङ्गाच्च। एवं *'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या प्रज्ञा स प्राणः। सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः। सहोत्क्रामत'* (कौ॰ब्रा॰ ३/४) इत्यपि जीवाद्युक्तौ न बाधकम्। प्रवृत्तिनिवृत्तिसाहित्येन द्वयोरैक्यापचारात्। तस्मात् त्रयमुपास्यमिति। तदेतन्निराकर्त्तुमाह—

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे
श्रीबलदेवकृतमवतरणिका-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आशङ्का—अच्छा! प्राणमें ब्रह्मका अव्यभिचरित धर्म सम्बन्ध प्रचुर रूपमें रहता है, तो रहे, तथापि यह इन्द्र वाक्य ब्रह्म-तात्पर्यमें प्रयुक्त है, यह नियम नहीं किया जा सकता। कारण—*'वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्'* (वाक्यको नहीं जानना चाहिये, प्राणरूप वक्ताको जानें)—यह श्रुति प्राणके वक्तृत्वका प्रतिपादन कर रही है और वही वक्तृत्व प्राणके जीवत्वमें अनुमापक साधन है। यहाँ इन्द्र वक्ता हैं, जिन्होंने त्वष्टा-पुत्र त्रिशिरा विश्वरूपकी हत्या की थी—यह जीव-धर्म है, परमात्म-धर्म नहीं। "मैंने त्वष्टाके पुत्र त्रिशिरा विश्वरूपकी हत्या की थी," इन्द्रका यह कथन ही उसके जीवत्वका प्रमाण है। पुनः मुखान्तर्वर्त्ती वायुके प्राणत्व-सम्बन्धमें भी प्रमाण है—जब तक इस शरीरमें प्राण अवस्थान करता है, तब तक ही मनुष्यकी आयु अर्थात् जीवन है। अतएव मुख्य प्राण ही जीव-चैतन्य (प्रज्ञान) है, यह प्राण ही जीव शरीरको परिग्रह (धारण) करके (अथवा आश्रय करके) उसकी परिचालना (कर्ममें प्रवृत्ति) कराता है। यह भी मुख्य प्राणवायुका जीवत्वमें प्रमाण है। इस प्रकार जो प्राण है, वह प्रज्ञा अर्थात् जीव-चैतन्य है। जो प्रज्ञा है, वही प्राण है। ये प्राण और प्रज्ञा—दोनों ही सहयोगपूर्वक इस शरीरमें वास करते हैं

और जब यह शरीरसे बाहर होता है, तब भी सहयोगपूर्वक ऊपर उठता है—यह उक्ति भी जीवादिकी स्वरूपता कहनेमें बाधक नहीं है। परन्तु सहवृत्तिसे दोनोंकी प्रवृत्ति एवं निवृत्तिके कारण प्रज्ञा और प्राणका लाक्षणिक ऐक्य कहा जाता है। अतः जीव, प्राण और प्रज्ञा—तीनों ही उपास्य हैं—इस पूर्वपक्षको निरस्त करनेके लिए सूत्रकार कहते हैं—

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके प्रथम पादके
श्रीबलदेवकृत गोविन्दभाष्यकी अवतरणिकाका अनुवाद समाप्त॥

अवतरणिकाभाष्य टीका—अर्द्धमङ्गीकृत्य आशङ्क्यते। नन्विति। प्राणस्य जीवत्वे वक्तृत्वं लिङ्गमाह न वाचमिति। वक्ता खलु इन्द्राख्यो जीवः येन त्रिर्शीषा विश्वरूपो निजघ्न इति जीवलिङ्गं विस्फुटम्। यावदिति प्राणस्य शरीरधारणं तदुत्थापनञ्च। प्राणवायुत्वे लिङ्गमिति। मुख्यप्राणलिङ्गं विस्फुटम्। एवं यो वै इति। प्राणः प्राणवायुः। प्रज्ञा जीवचैतन्यमिति पूर्वपक्षार्थः। जीवाद्युक्ताविति जीवमुख्यप्राणभिधान इत्यर्थः। यः प्राणः सा प्रज्ञेत्यभेदे युक्तिमाह। प्रवृत्तीति। परमात्मलिङ्गन्तु *'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरामृत'* इत्यादिना विस्फुटमिति। तस्मात् त्रयमिति। उपक्रमोपसंहारपर्यालोचनया ब्रह्मरूपैकवाक्यार्थप्रतीतावपि तस्या जीवमुख्यप्राण-रूपपदार्थप्रतीतिजन्यत्वेन गौणत्वात् पदार्थप्रतीतेश्चतज्जनकत्वेन प्राधान्यादेकवाक्यार्थ-प्रतीतिमपोह्य वाक्यभेद एव न्याय इति जीवादीनां त्रयाणामुपास्यानां प्रत्येकं स्वातन्त्र्यण वाक्यार्थत्वमस्त्विति—

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे
श्रीबलदेवकृत-अवतरणिका-भाष्यस्य सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्वपक्षी ननु इत्यादि वाक्यके द्वारा आधेको ही स्वीकार करके आशङ्का करते हैं। यद्यपि ब्रह्मधर्म अव्यभिचरित रूपसे प्रचुर रूपमें आलोचित हुआ है, तथापि 'मामुपास्स्व'—इन्द्रके इस वाक्यमें ब्रह्मका निर्धारण नहीं किया जा सकता, बल्कि प्राणके जीवत्वके सम्बन्धमें वक्तृत्वरूप प्रमाण है। यथा—'वाक्यको नहीं, वक्ताको जानना होगा'—इस वाक्यमें इन्द्र नामक वक्ता जीव है, जिसने त्रिशिरा विश्वरूपका वध किया है, यह हत्या-साधन-कर्म जीवके पक्षमें ही स्पष्ट है। पुनः प्राणवायु जो मुख्य प्राण है, इस विषयमें भी सुस्पष्ट प्रमाण है—*'यावदस्मिन्'* इत्यादि श्रुति (कौ॰ब्रा॰

३/३)। (जब तक शरीरमें प्राण है, तब तक जीवन है, प्रज्ञानात्मा प्राण ही इस शरीरमें आश्रयकर उसे कर्ममें प्रवृत्त कराता है।) इसी प्रकार *'एवं यो वै प्राणः सा'* इत्यादि (कौ॰ब्रा॰ ३/४) श्रुति भी जीव-चैतन्य एवं मुख्य प्राणके तात्पर्यमें प्रवृत्त है। इस प्रकार जीवके मुख्यप्राणपरताबोधनमें कुछ भी प्रतिबन्धक नहीं है। *'एवं यो वै प्राणः'* इत्यादि श्रुतिमें उक्त प्राण अर्थात् प्राणवायु-प्रज्ञा अर्थात् जीव-चैतन्य कुछ भी ब्रह्मपरायण नहीं है—यह पूर्वपक्षके वादका सार है। जो प्राण है, वही प्रज्ञा है अर्थात् जीवचैतन्य एक है, इसमें युक्ति दिखा रहे हैं—प्रवृत्ति-निवृत्ति-साहित्येनेत्यादि। इसपर भी परमेश्वरपरताके विषयमें प्रमाण है—*'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः'* (कौ॰ब्रा॰ ३/९)—इस प्रकार वे ही परमेश्वर प्राण हैं, वे ही चैतन्यमय जीव हैं, वे ही आनन्दस्वरूप, अजर, अमर हैं—इत्यादि वाक्योंसे पूर्णतः स्पष्ट है। इस प्रकारकी अवस्थामें तीनोंकी ही उपास्यता प्राप्त हो रही है। बात यह है कि उपक्रम-वाक्य एवं उपसंहार-वाक्यकी पर्यालोचना करनेपर 'ब्रह्म' ही एकवाक्यार्थ प्रतीत होता है (ब्रह्मकी उपासनाकी एक ही बात प्रतीत होती है), तो भी यह ब्रह्मरूप एकवाक्यार्थ प्रतीति जीव एवं मुख्य प्राणरूप पदार्थ-प्रतीति सापेक्ष है (अपेक्षा रखती है), इसलिए ब्रह्म-रूप एक-वाक्यार्थ प्रतीति गौण है। वाक्यार्थ-प्रतीति पदार्थ-प्रतीतिके लिए होती है, अतएव पदार्थ-प्रतीति प्रधान है। अतः एक वाक्यार्थ प्रतीति-पक्षको छोड़कर स्वतन्त्र रूपसे वाक्य-भेद करना ही सङ्गत है अर्थात् जीव, मुख्य प्राण और ब्रह्म तीनों ही उपास्य हैं एवं प्रत्येकका ही स्वतन्त्ररूपसे वाक्यार्थ है—इस पूर्वपक्षीय मतका सूत्रकार 'जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति' सूत्र द्वारा खण्डन कर रहे हैं।

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके प्रथम पादके श्रीबलदेवकृत अवतरणिका भाष्यकी टीकाका अनुवाद समाप्त॥

सूत्र—जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपास्यत्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद् योगात्॥ ३१॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे सूत्रं समाप्तम्॥

सूत्रार्थ— 'जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्'—यदि कहो कि जीव-धर्म और प्राण-धर्म होनेसे वे भी (जीव एवं मुख्य प्राण भी) ब्रह्मके समान उपास्य हैं, केवल ब्रह्म ही नहीं, 'इति न'—तो यह कथन सङ्गत नहीं है, क्योंकि 'उपास्यत्रैविध्यात्'—उनकी भी उपास्यता कहनेसे तीन उपास्य हो जाते हैं। और भी एक कारण है—'आश्रितत्वात्'—अन्य स्थलपर भी जीव-प्राण-प्रज्ञादि शब्दोंके ब्रह्मपरत्वका आश्रय करना होगा। 'इह तद्योगात्'—हिततम उपासनाके विषयत्वरूप प्रसङ्गमें ब्रह्मपरत्व ही आश्रयणीय है—अतः प्राण शब्द ब्रह्मका ही वाचक है॥ ३१॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके प्रथम पादके सूत्रार्थ समाप्त॥

सूत्रानुवाद—जीवात्मा तथा मुख्य प्राणके लक्षण कहनेसे प्राणको ब्रह्मका वाचक कहना सङ्गत नहीं है, क्योंकि त्रिविध उपासनाका प्रसङ्ग आयेगा। सब लक्षण ब्रह्मके ही आश्रित हैं, इसलिए प्राण शब्द यहाँ ब्रह्मका ही वाचक है॥ ३१॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके प्रथम पादके सूत्रानुवाद समाप्त॥

गोविन्दभाष्य—जीवप्राणयोर्लिङ्गात् तावप्युपास्याविति यदुक्तं तन्न, कुतः? तथा सति उपास्यत्रैविध्यात्। न चैकस्मिन् वाक्ये तदङ्गीकर्त्तुं शक्यं वाक्यभेदप्रसङ्गात्। अयमाशयः—किं जीवादिलिङ्गाद्ब्रह्मधर्माणां जीवादिपरत्वं, किं वा त्रयाणां स्वातन्त्र्यं, आहोस्वित् जीवादिलिङ्गानां ब्रह्मपरत्वमिति। तत्राद्यः प्रागेव निरस्तः। द्वितीयस्तूपास्य-त्रैविध्यप्रसङ्गेनदूषितः। तृतीये युक्तिमाहाश्रितत्वादिति। अन्यत्रापि जीवप्राणादिशब्दानां ब्रह्मार्थत्वश्रयणादिऽपि तथा। ननु तत्र लिङ्गसत्त्वात् तदर्थत्वमाश्रितमिति चेदिहापि हिततमोपासनकर्मत्वादिलिङ्गयोगात् तदर्थत्वमाश्रयितुं युक्तमित्याह। इह तद्योगादिति। ननु सहवासोत्क्रान्त्योर्ब्रह्मपक्षे कथं सङ्गतिरिति चेन्न ब्रह्मक्रियाज्ञानशक्त्योर्देहे सहावस्थानं सह चोत्क्रमणमित्यर्थसत्त्वात्। ननु प्राणदिशब्दाभ्यां धर्मीप्रतिपादनात् कथं धर्मपरत्वं, मैवं धर्मप्रतिपादनेऽपि धर्मिणः प्रतिपत्तेरुभयोरैक्यरूप्यात्। प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मेति (कौ॰ब्रा॰ ३/२) शक्तिद्वयधर्मकतया निर्द्दिष्टस्य पुनर्धर्मरूपस्य प्रशंसा। *'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा'* (कौ॰ब्रा॰ ३/३) इति। तस्माद्ब्रह्मैवात्र इन्द्रप्राणप्रज्ञादिशब्दैरवगन्तव्य-मिति। नन्वनारभ्यमेवैतत् प्राक् प्राणचिन्तया गतार्थत्वात्। मैवम्। पूर्वत्र शब्दमात्रे संशयः। इह तु आनन्दादिके कथञ्चिदन्यपरतया नीते साधकस्य ब्रह्मैकान्तधर्मस्य

अभावात् बाधकस्य जीवादिलिङ्गस्य तु सत्त्वादर्थेऽपि स इति तदाधिक्यात् पृथगारम्भः॥ ३१॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे
श्रीबलदेवकृतं मूल-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'जीवप्राणयोर्लिङ्गात्'* इत्यादि इन्द्रकी उक्ति जीव-विषयमें प्रमाण है, प्राण-विषयमें *'स एष प्राणः'* इत्यादि वाक्यमें प्रमाण है और ब्रह्म-विषयमें प्रमाण तो आनन्दामृतत्वादि पूर्वोक्त हैं ही, तो इसीके समान जीव एवं मुख्य प्राणकी उपास्यता हो—यह बात तो युक्तिसङ्गत नहीं है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो उपास्यवस्तु त्रिविध हो जायेगी। इसमें और भी एक दोष आ जायेगा कि वाच्य भेद होनेसे वाक्यका भी भेद करना पड़ेगा। अभिप्राय यह है कि ब्रह्म-सम्बन्धमें प्रमाणस्वरूप जो भी लक्षण बताये हैं, वे सब क्या जीव-तात्पर्यमें प्रयुक्त हो सकते हैं? अथवा जीव, प्राणवायु और परमात्मा तीनोंमेंसे प्रत्येकका ही स्वातन्त्र्य है अथवा जीवादिके प्रमाणस्वरूप धर्मों (लक्षणों) का भी ब्रह्म-तात्पर्यकत्व है? इन तीन आशङ्काओंमें प्रथम पक्ष अर्थात् ब्रह्मधर्म जीवादिपरक है, यह तो अनुगमवश पहलेसे ही निरस्त है। दूसरा पक्ष अर्थात् प्रत्येकका स्वातन्त्र्य कहनेपर तीन उपास्य हो जायेंगे—इस कारण दूषित है। तीसरा पक्ष अर्थात् जीवधर्मोंका ब्रह्म-तात्पर्य कहनेपर युक्तिकी अपेक्षा है और यह युक्ति सूत्रकार बतला रहे हैं—*'आश्रित्वात्'* अर्थात् जीवधर्म ब्रह्मको आश्रय करता है, इसलिए उसका ब्रह्मपरत्व युक्तियुक्त है।

अन्य स्थलपर भी अर्थात् *'कतमो सा देवता'* इत्यादि प्रकरणमें भी जीव एवं प्राणादि शब्द ब्रह्मपर हैं, इसलिए इस स्थलपर भी ब्रह्मपर होना उचित है। (सर्वत्र ही ये जीवादि लिङ्गसमूह ब्रह्मपर रूपसे निर्दिष्ट होते हैं)। यदि कहो कि वहाँ ब्रह्मपरत्व विषयमें प्रमाण है, इसलिए ब्रह्मपरत्वका आश्रय किया है। इसके उत्तरमें कहा जाता है कि इस स्थलपर भी हिततम उपासनाका विषयत्वरूप प्रमाण (कर्मत्वादि लिङ्ग योग) रहता है। इस कारण ब्रह्मपरत्व आश्रय करना ही युक्तियुक्त है—यह भी सूत्रकार कह रहे हैं—*तद् योगात्।* पुनः

आपत्ति है कि वहाँ प्राण और प्रज्ञाका सहवास और सह-उत्क्रमण सम्भव है? यदि है, तो वह ब्रह्म-पक्षमें किस प्रकार सम्भव होगा? इसका उत्तर है—नहीं, ब्रह्मनिष्ठ जो क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति है, उन दोनोंका देहावच्छेदमें (देह-खण्डमें) सहावस्थान और सहोत्क्रमण है—यह तात्पर्य है।

पुनः आपत्ति है कि प्राण एवं प्रज्ञा—इन दो शब्दों द्वारा तो धर्मीको जाना जाता है, फिर इनका धर्मपरत्व किस प्रकार सम्भव हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं—ऐसा मत कहो—यह आपत्ति हो नहीं सकती, क्योंकि जब धर्मका प्रतिपादन होता है, तब धर्मीका ज्ञान तो रहता ही है—धर्म और धर्मी अभिन्न हैं। *'प्राणोऽस्मि'*—मैं प्राण हूँ—यह कहकर धर्मीके विषयमें कहा गया और 'प्रज्ञात्मा' कहकर प्रज्ञा धर्मका निर्देश हुआ। परमात्माको प्राणशक्ति और प्रज्ञाशक्तिरूप दो धर्मोंसे सम्बन्धवान कहनेके बाद उन प्राणशक्ति और प्रज्ञाशक्तिकी प्रशंसा की गयी है। यथा *'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा'* अर्थात् जो प्राण (धर्मी) है, वही प्रज्ञा (धर्म) है। अतः इस प्रकरणमें इन्द्र, प्राण और प्रज्ञादि शब्दोंके द्वारा ब्रह्मको ही जानना होगा। अब आशङ्का यह है कि इस प्रकरणमें प्राणोपासनाका पुनः वर्णन क्यों हुआ? पहले तो अर्थात् छान्दोग्योपनिषदमें *'अतएव प्राणः'* प्रकरणमें प्राण-विषयक चेष्टा द्वारा प्राणका ब्रह्मपरत्व कह ही दिया था। इस आशङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—ऐसा नहीं है, ऐसा विचार भी मत करो। पूर्व प्रकरणमें *'स वै प्राणः'* यह जो कहा, वह प्राण क्या है? मुखवायु अथवा और कुछ? इस प्रकार शब्दके ऊपर संशय था, किन्तु यहाँ इस प्रकरणमें तो प्राण शब्दके प्रतिपाद्य अर्थके ऊपर भी संशय है। बात यह है कि प्राण शब्दका अर्थ ब्रह्म कहनेपर साधक और बाधक दोनों प्रमाणोंकी आलोचना करनी चाहिये। इनमें प्राणके ब्रह्मपरत्वमें साधक प्रमाण ब्रह्मधर्म प्रचुर है, किन्तु आनन्दमय, अजर, अमर इत्यादि शब्दोंको यदि जीवात्मपर कहा जाय, तब इस ब्रह्म-धर्मरूप साधक प्रमाणका यहाँ अभाव है। पुनः ब्रह्मपरत्वमें बाधक प्रमाण है—जीव-धर्म त्वाष्ट्र-हनन वहाँ विद्यमान नहीं है। अतएव इन्द्र शब्दके अर्थ देवराज-विषयमें भी सन्देह है। इस सन्देहके प्रचुर रूपमें उत्पन्न होनेके

कारण ही प्राणादि उपासनाका प्रकरण पुनः आरम्भ किया गया है॥ ३१॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके प्रथम पादके श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यका अनुवाद समाप्त॥

सूक्ष्मा-टीका—एतत् परिहरति जीवेति। तावपि जीवप्राणावपि। न चैकस्मिन्निति। उपक्रमादिभ्यां ब्रह्मपरत्वे सम्भवति सति वाक्यभेदो न युक्तस्तस्य गौरवदेषापादकत्वाद-निष्टप्रसृङ्गत्वाच्चेत्यर्थः। न च पदार्थप्रतीतेर्मुख्यत्वं तस्या वाक्यार्थप्रतीतिशेषत्वात्। तस्मात् परैव मुख्येति। न हि जनकत्वमात्रेण मुख्यता युक्ता। सन्निपत्योपकारकाणामपि तदापत्तेः। अयमाशय इति। प्रागेव तथानुगमादित्यर्थः। अन्यत्रेति। तत्र *'कतमा सा'* इत्यादि प्रकरणे। इहापि प्रतर्द्दनोपाख्याने। तदर्थत्वं ब्रह्मपरत्वम्। ब्रह्मेति। ब्राह्मी ब्रह्मनिष्ठा या क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिश्च तयोरित्यर्थः। ननु विभ्वोस्तयोरुत्क्रमणं न सम्भवेदिति चेन्मैवम्। तयोरचिन्त्यत्वेन तत्सम्भवात्। तस्मात् कार्यनिवृत्तिरेव तदुत्क्रमणमिति व्याख्यातारः। उभयोरिति। सिद्धान्ते धर्मधर्मिणो रभेदादित्यर्थः। तस्मादिति। अत्र प्रकरणे जीवप्राणप्रसङ्गगन्धोऽपि नास्तीति भावः। नन्विति। प्राक् अतएव प्राण इत्यस्मिन्नधिकरणे। स संशयः॥ ३१॥

इति श्रीति। श्रीमदिति ब्रह्मविशेषणम्। ब्रह्मणोऽतिमनोज्ञसन्निवेशिविग्रहत्वेन स्वात्मकसार्वज्ञ्याद्यनन्तगुणवृन्दलक्ष्मीधामवैशिष्ट्येन च अत्र प्रतिपादनात्। सूत्रविशेषणं वा। विशदार्थप्रतिपदशालित्वात् अल्पाक्षरैः पदैर्महतामर्थानां प्रतिपादनाद्वा। भाष्यविशेषणं वा अल्पैर्वर्णैर्गभीराणामर्थानां निवेशनात्। प्रतिपादारम्भे प्रत्यध्यायान्ते च तत्तदर्थ-सूचकैरतिचारुभिः पद्यैरलङ्कृतत्वाच्चेतीति॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे मूल-श्रीगोविन्दभाष्यव्याख्याने श्रीबलदेवकृत-सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

सूक्ष्मा-सार—'एतत् परिहरति जीव'—इस प्रकार जीव, प्राण और ब्रह्म तीनों ही उपास्य होते हैं। इस पूर्व पक्षके निराकरणके लिए कहते हैं कि जीव एवं प्राणका धर्म प्रकाश प्राप्त करनेसे जीव और प्राण भी उपास्य हो सकते हैं—इस प्रकार जो कहा जाता है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मान लेनेसे तीन उपास्य हो जाते हैं। एक वाक्यके द्वारा तीन उपास्योंको स्वीकार नहीं किया जा सकता, इसमें वाक्यभेद आ जाता है। जब देखा जाता है कि उपक्रम और उपसंहारादि प्रमाणसे इन तीनोंका ही ब्रह्मपरत्व सम्भव है, तब

वाक्यभेद युक्तियुक्त नहीं है। इसीलिए मीमांसादर्शनमें कहा है—*'सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो न युज्यते'*—एकवाक्यता अर्थात् एक विशिष्टार्थपरता सम्भव होनेपर और वाक्यभेद युक्तियुक्त नहीं हैं, क्योंकि वाक्यभेदका स्वीकार होना गौरव दोषका आपादक (निर्वाहक) होता है और अनिष्टका प्रसङ्ग भी उसमें आ जाता है। पदार्थ-प्रतीति वाक्यार्थ-प्रतीतिसे प्रधान है—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि पदार्थ-प्रतीति वाक्यार्थ-प्रतीतिका अङ्ग है, जो बादमें होता है, वही मुख्य होता है।

यदि कहो, जनकता (परम्पराका जनक होने) के कारण पदार्थ-प्रतीति ही मुख्य है, वैसा भी नहीं है। केवल जनकता द्वारा मुख्यता नहीं होती, यदि ऐसा होता तो सन्निपत्योपकारक-हेतुगण अर्थात् जो परम्पराके जनक हैं, वे भी मुख्य कारण हो जाते। भाष्योक्त *'अयमाशयः'* में जो तीन पक्ष देखे जाते हैं, उसमें पहला पक्ष तो पहले ही ब्रह्मके अनुक्रम (परम्परा) के कारण निरस्त हो गया है। दूसरा पक्ष उपास्य-त्रय आपत्तिके दोषसे दूषित है और तीसरे पक्षमें ब्रह्माश्रितत्व युक्ति देखी जा रही है—जैसे कि अन्यत्र *'कतमो सा देवता'* इत्यादि प्रकरणमें जीव, प्राण एवं प्रज्ञादि शब्दोंका ब्रह्मपरत्व आश्रय किया गया है, इसी प्रकार इस प्रतर्दन-उपाख्यानमें भी ब्रह्मपरत्व जानना होगा। *'ब्रह्मक्रिया ज्ञानशक्त्योः'* अर्थात् ब्राह्मी—ब्रह्मनिष्ठ जो क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति है, उनका (सहावस्थान और सहोत्क्रमण सङ्गत है) इस ब्रह्म क्रिया-शक्तिके उत्क्रमण (ऊपर उठनेके) विषयमें आपत्ति है कि ब्रह्मनिष्ठ क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति—ये दोनों तो विभु—विश्वव्यापक हैं, तब उनका उत्क्रमण किस प्रकार सम्भव है?

तब ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि वे दोनों ही अचिन्तनीय प्रभावसे युक्त हैं, अतएव उनका उत्क्रमण सम्भव है। इसलिए व्याख्या करनेवाले कहते हैं—कार्य-निवृत्तिका नाम क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्तिका उत्क्रमण है। सिद्धान्त (उत्तर पक्ष) में धर्म-धर्मी दोनोंका एक रूपमें निर्देश हुआ है। इस प्रकरणमें ब्रह्म ही प्रतिपाद्य हैं, जीव अथवा प्राण—इनका तो प्रसङ्ग लेशमात्र भी नहीं है।

'श्रीत्ति'—समाप्ति अर्थमें। 'श्री' शब्दसे 'श्रीमद्' यह शब्द ब्रह्मांशमें, सूत्रांशमें एवं भाष्यांशमें भी विशेषण रूपसे लगाया जाता है। ब्रह्मांशमें

विशेषणके रूपमें प्रयुक्त श्रीमत् शब्दका अर्थ है—ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर श्रीकृष्ण। उनके श्रीविग्रहमें यथा स्थानपर जो दिव्यालङ्कार सुशोभित होते हैं, वे उनसे युक्त हैं तथा स्व-स्वरूप (धर्म-धर्मी अभिन्न हैं, इसलिए) सर्वज्ञता, सर्वैश्वर्य, अपार करुणामयत्व इत्यादि अनन्त गुणोंके समन्वयके कारण लक्ष्मीधाम विशिष्ट रूपमें प्रतिपादित होनेसे वे श्रीमान् हैं। जहाँ तक सूत्रोंके विशेषण पक्षकी बात है तो उनका प्रत्येक पद विशद अर्थसे युक्त है अथवा उनमें सारगर्भित अर्थोंका अल्प अक्षरोंमें प्रतिपादन है। अतः ये सूत्र भी 'श्रीमत्' हैं। भाष्यके विशेषणमें श्रीमत्के प्रयोगका अभिप्राय है, अल्प कथनमें गम्भीर अर्थोंका निवेशन (लेखबद्धता) तथा प्रत्येक पादके आरम्भ और अन्तमें उन-उन प्रतिपाद्य, अर्थसूचक, अतिमनोरम पदोंके द्वारा अलंकृत भाष्य श्रीमत् भाष्य है॥ ३१॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके प्रथम पादके
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यकी व्याख्यामें श्रीबलदेवकृत
सूक्ष्मा-टीकाका अनुवाद समाप्त॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई इस प्रकार पूर्वपक्ष करता है कि यद्यपि इस प्रकरणमें अध्यात्म-सम्बन्ध बहुलता-से उपदिष्ट हुआ है, तो भी इस वाक्यमें जो ब्रह्मपरता है, उसकी मीमांसा किस प्रकार की जाय? जब कि उपनिषदमें है कि 'वाक्य-विषयको नहीं जानना है, वक्ताको जानो।' यहाँ जब जीव ही वक्ता है, तब उसका ब्रह्मपरतासे किस प्रकार सामञ्जस्य हो सकता है? बल्कि यह तो जीव और मुख्य प्राणवायुको ही लक्ष्य करके कहा गया है। अतएव जीव, प्राण और ब्रह्म—इन तीनोंका उपास्यत्व ही युक्तिसङ्गत है। पूर्वपक्षकी इसी आशङ्काके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं—नहीं, पूर्वपक्षकी यह त्रिविध उपास्यताकी बात एक वाक्यमें तो कभी भी अङ्गीकार नहीं हो सकती—इसमें तो वाक्यभेद प्रसङ्ग आ जाता है।

श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने इस विषयपर विस्तारपूर्वक आलोचना की है कि जीवादिके लक्षणवश ब्रह्मधर्मोंका भी क्या जीवादिपरत्व है? अथवा तीनोंका ही स्वातन्त्र्य है? अथवा जीवादि लिङ्गोंका ब्रह्मपरत्व

है? इन तीनों आशङ्काओंमें प्रथम एवं द्वितीय तो निरस्त हैं ही, तृतीय अर्थात् जीवादि लिङ्ग 'समस्त ही ब्रह्मपर है'—यही विचार युक्तियुक्त है।

श्रीमद्भागवत (७/२/४५) में भी पाया जाता है—

न श्रोता नानुवक्तायं मुख्योऽप्यत्र महानसुः।
यस्त्विहेन्द्रियवानात्मा स चान्यः प्राणदेहयोः॥

अर्थात् इस देहमें अवस्थित इन्द्रियोंकी चेष्टाओंको सञ्चालित करनेवाला जो मुख्य प्राण है, वह श्रोता अथवा वक्ता नहीं है, क्योंकि वह जड़ है। देह एवं इन्द्रियोंके साथ सम्बन्धयुक्त आत्मा ही समस्त विषयोंका द्रष्टा है। चेतनस्वरूप होनेके कारण उसका प्राण एवं देह दोनोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस श्लोककी टीकामें श्रीमन्मध्वाचार्य कहते हैं—*'इन्द्रियवान् जीवः भजत्युपसृजति ह्यन्यः परमात्मा स एव श्रोतानुवक्ता च। नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता स योऽतो श्रुतः इत्यादे। मुख्य प्राणोऽपि स्वतो न श्रोता किमु जीव इति।'* अर्थात् इन्द्रियवान् अर्थात् जीव। जो स्वयं आश्रय लेता है, वह गौण (आश्रित) होता है। इससे अतिरिक्त जो परमात्मा हैं, वे ही श्रोता हैं, वे ही वक्ता हैं।

मुख्य प्राण स्वयं श्रोता नहीं है, फिर जीवकी बात ही क्या है।

स्कन्दपुराणमें भी देखा जाता है—

बन्धको भवपाशेन भवपाशास्त्रच मोक्षकः।
कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः॥

अर्थात् कैवल्य-प्रद परब्रह्म सनातन विष्णु ही जीवको संसार-पाशसे आबद्ध करते हैं और वे ही संसार-पाशसे मुक्ति प्रदान करते हैं।

श्रीचैतन्यभागवत (म॰ १/२१२) में भी देखा जाता है—*ये करये बन्दी प्रभु! छाड़ाय से-इ से।* (गर्भस्थ शिशु श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहता है—) हे प्रभो! जो बन्धन करता है, वही छुड़ाता भी है॥ ३१॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके प्रथम पादकी गोविन्दतोषणी नामक वृत्ति समाप्त॥



द्वितीयः पादः

मङ्गलाचरणम्

मनोमयादिभिः शब्दैः स्वरूपं यस्य कीर्त्त्यते।
हृदये स्फुरन्तु श्रीमान् ममासौ श्यामसुन्दरः॥

जिन भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप मनोमय इत्यादि शब्दोंके द्वारा कीर्त्तित होता है, वे अनन्त श्रीसम्पन्न ये 'श्यामसुन्दर' मेरे हृदयमें स्फुरित हों।

१—सर्वत्र प्रसिद्धाधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—प्रथमे पादे समस्तजगत्कारणभूतं पुरुषोत्तमाख्यं परं ब्रह्म जिज्ञास्यमित्युक्तम्। तत्रैवान्यत्र प्रतीतानां केषाञ्चिद्वाक्यानां ब्रह्मणि समन्वयः प्रदर्शितः। द्वितीय-तृतीययोस्तु अस्पष्टब्रह्मलिङ्गकानां केषाञ्चिद्वाक्यानां तस्मिन्नेव समन्वयः प्रदर्श्यते। छान्दोग्ये शाण्डिल्यविद्यायामिदमामनन्ति (३/१४/१-२)—*'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः। यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति। स क्रतुं कुर्वीत। मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तो अवाक्यानादरः॥'* इत्यादि। तत्र संशयः—मनोमयत्वादिगुणैरुपास्यो जीव उत परमात्मेति। तत्र मनःप्राणयोर्जीवोपकरणत्वात् *'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः'* (मु॰ २/१/२) इति परमात्मनस्तन्निषेधात् तद्वान् जीवोऽयं स्यात्। न च सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति पूर्वनिर्दिष्टं ब्रह्मात्र ग्रहीतुं शक्यं तस्य वाक्यस्योपास्त्युपकरण-शान्तिविधिपरत्वात्। शान्तिनिष्पत्तये सर्वस्य ब्रह्मात्मत्वोपदेशः। एवं जीवे निश्चिते अन्तिमो ब्रह्मशब्दोऽप्येतत्परः स्यादित्येवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इससे पूर्व प्रथम पादमें कहा गया था—जो समस्त जगत्के कारणस्वरूप हैं, वे ही पुरुषोत्तम नामक परब्रह्म जिज्ञास्य (ज्ञेय) हैं। प्रथम पादमें उल्लिखित कुछ वाक्योंका अर्थ जो प्राणादिमें प्रतीत हो रहा है, वे तत्परक (प्राणपरक) न होकर ब्रह्मपरत्वरूपमें ही योजित एवं प्रदर्शित हुए हैं। द्वितीय एवं तृतीय

पादमें देखा जाता है कि कुछ वाक्य ब्रह्मपरत्वरूपमें स्पष्टरूपसे प्रमाणित नहीं हैं, पर उनका अभिप्राय ब्रह्ममें ही है। छान्दोग्य उपनिषदमें शाण्डिल्य-विद्या-प्रकरणमें कहा गया है—*'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलान् इति शान्त उपासीत्'* (छा॰ ३/१४/१२) अर्थात् यह परिदृश्यमान समस्त विश्व-प्रपञ्च ही ब्रह्म है, क्योंकि 'तज्जलान्' अर्थात् 'तज्ज'—उन्हींसे इसका जन्म होता है, 'तल्ल' उन्हींमें यह लीन हो जाता है और 'तदन'—उन्हींके द्वारा स्थितिको प्राप्त होता है। इस प्रकार ब्रह्मायत्त-वृत्तिवश (ब्रह्माधीन वृत्तिके कारण) समस्त जगत् ब्रह्ममय है। अतएव शान्त होकर अर्थात् देहादिसे वैराग्य धारण करके उस ब्रह्मकी ही उपासना करे। इस उपासनाके फलमें श्रुति कह रही है—*'अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः, ...अवाक्यानादरः'* इत्यादि—पुरुष अर्थात् अधिकारी उपासक क्रतुमय—सङ्कल्प-प्रधान है। इसका कारण यह है कि इस लोकमें रहकर उसका जैसा उपासनात्मक सङ्कल्प होता है, उसी भावसे जब वह परलोक जाता है, तब वह वही गति प्राप्त कर लेता है। अतः उपासकको भगवान्की उपासना करनी चाहिये। क्या चिन्तन करते हुए उपासना की जाय, इसके उत्तरमें श्रुति निर्देश करती है—श्रीहरि मनोमयत्वादि गुणसम्पन्न हैं, प्राण उनका शरीर है, प्रकाश उनका स्वरूप है, वे सत्यसङ्कल्प हैं अर्थात् जो इच्छा करते हैं, वही सत्य होता है; वे आकाशात्मा—आकाशके समान सर्वव्यापी हैं, सर्वकर्मा—विचित्र-विविध लीलामय हैं, सर्वकाम—सम्पूर्ण भोग्यसम्पन्न हैं, सर्वगन्ध और सर्वरस अर्थात् अप्राकृत, असाधारण गन्धसम्पन्न और असाधारण रसमय हैं। मात्र इतना ही नहीं, वे असाधारण, अप्राकृत शब्द, स्पर्श और रूपसम्पन्न भी हैं। इन सभी गन्धादि भोग्यवस्तुओंको लेकर वे प्रकाशित हो रहे हैं। अवाक्य—वाक्यहीन हैं अर्थात् पूर्णकाम अथवा सिद्ध-समस्तार्थ हैं, इसलिए याञ्चावाक्यसे रहित हैं, वे अनादर अर्थात् ब्रह्मादि जगत्को तृणके समान तुच्छ जानकर सुखपूर्वक आसीन हैं अथवा भाषा अथवा शब्दसे अगोचर हैं, इसलिए अवाक्य हैं और किसीकी भी वे स्तुति-प्रशंसा नहीं करते, इसलिए अनादर हैं अथवा अपनेसे इतर विषयमें उनका आदर नहीं है।

यहाँ संशय यह है कि श्रुत्यर्थसे प्राप्त मनोमयत्वादि गुण द्वारा उपास्य कौन है? जीव अथवा परमेश्वर? पूर्वपक्षका वाद है कि श्रुति यहाँ जीवात्माको ही उपास्यरूपमें निर्दिष्ट कर रही है, क्योंकि मन और प्राण जीवकी स्थितिके उपकरण हैं, किन्तु *'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः'* (मु॰ २/१/२) परमात्माका न तो प्राण है और न ही मन, वे शुद्ध हैं। जीव दोनोंसे विशिष्ट है अर्थात् मनोमय और प्राणमय दोनों है, इसलिए वही श्रुतिका उपास्य देवता है। यदि कहो कि इस प्रकरणमें श्रुतिने पहले ही कह दिया है—*'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'* अतः ब्रह्मको ही यहाँ ग्रहण किया जाना चाहिये, तो इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं—नहीं, नहीं, *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'*—यह श्रुतिवाक्य तो उपासनाका उपकरण, जो शान्ति अर्थात् विषयोंसे वैराग्य है, उसका विधायक है, शान्ति-निष्पादनके लिए समस्त वस्तुओंका ब्रह्मरूपमें निर्देश करना आवश्यक है। अतएव क्रतुमयः पुरुषः (सङ्कल्पमय पुरुष) इत्यादि श्रुतिवाक्यमें उक्त पुरुष शब्दका अर्थ जीवात्मा जब निश्चित हो गया है, तब अन्तिम *'एतद्ब्रह्मैतमितः'* इत्यादि वाक्यमें उक्त ब्रह्मपद भी जीवपरक होगा। इस पूर्वपक्षीय उक्तिके समाधानके लिए सूत्रकार कह रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अस्मिन् पादे अस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि वाक्यानि ब्रह्मणि सङ्गमयितुं मङ्गलमाचरति मनोमयेति—

त्रयस्त्रिंशत्सूत्रकं सप्ताधिकरणकं द्वितीयं पादं व्याख्यातुमारभते। द्वितीयेत्यादिना। पूर्वं जीवादिलिङ्गबाधेन ब्रह्मपरत्वं ब्रह्मलिङ्गवशादभिहितम्। तथेह ब्रह्मलिङ्गं नास्ति किन्तु प्रकरणे ब्रह्मेति। तथाच प्रकरणात् लिङ्गं वलीति मनोमयत्वादिजीवलिङ्गात् जीवपरत्वमेवास्त्विति प्रत्युदाहरणसङ्गत्याह। पादान्तरत्वान्नात्रावान्तरसङ्गत्यपेक्षा इत्येके। छान्दोग्य इति। सर्वमिदं जगत् खलु प्रसिद्धौ ब्रह्मैव भवति। तत्र हेतुस्तज्जेति। तस्मात् जायते तज्जं तस्मिन् लीयते तल्लं तेनानिति जीवति तदनं तज्जञ्च तल्लञ्च तदनञ्च तज्जलान् लोपच्छान्दसः विशेषणानां कर्मधारयः। ब्रह्मायत्तवृत्तिकत्वात् सर्वं जगद्ब्रह्मैवेत्यर्थः। इतिशब्दो हेतौ। यस्मात् सर्वं वस्तु ब्रह्म अतो देहाद्ययोगात् शान्तः सन्नुपासीत। उपास्तेः फलमाह। अथेति। पुरुषोऽधिकारी उपासकः। क्रतुमयः सङ्कल्पप्रधानः। तत्र हेतुर्यथेति। अस्मिन् लोके स्थित्वा यथा यादृशः क्रतुरुपासनात्मकः सङ्कल्पो यस्य सः। येन दास्यादिना भावेन हरिं प्राप्स्यतीत्यर्थः। तथा तेन भावेन

विशिष्ट एव हेतो लोकात् प्रेत्य परलोकं गत्वा मोक्षी भवतीत्यर्थः। तस्मात् पुरुषः क्रतुमुपासनां कुर्वीत। किमुपासीतेत्याकाङ्क्षायामाह—मनोमय इत्यादि। विभक्तिविपरिणामेन मनोमयत्वादिगुणकं हरिमुपासीतेत्यर्थः। भारूपः प्रकाशस्वरूपः चैतन्यघन इति यावत्। सत्यसङ्कल्पः सफलमानसक्रियः। आकाशात्मा सर्वगतः। सर्वकर्मा विचित्रनानालीलः। सर्वकामो निखिलभोग्यसम्पन्नः। तदेवाह सर्वगन्धः सर्वरस इति। अशब्दमस्पर्शमित्यादिना प्राकृतगन्धादिप्रतिषेधादप्राकृतासाधारणगन्धादिसम्पन्न इति यावत्। शब्दस्पर्शरूपोपलक्षणार्थमाह—सर्वमिति। इदं गन्धादिभोग्यं सर्वमभ्यात्तोऽभितो गृह्णन् विभातीत्यर्थः। भावक्तान्तादर्शाद्यचि पदसिद्धिर्भुक्ता ब्राह्मणा इतिवत्। अवाक्यश्चा-सावनादरश्चेति विग्रहः। अवाक्यः सिद्धसर्वार्थत्वेन याच्ञावाक्शून्यः। अनादरः ब्रह्मादि जगत् तृणीकृत्य सुखमासीन इत्यर्थः। यद्वा अवाक्यः कात्स्न्येन वाचामगोचरः। अनादरः नास्त्यादरः स्वेतरेषु यस्य सः। सर्वेश्वरत्वात् सर्वेराद्रियमाणोऽसौ नास्य कश्चिदप्यादरणीय इत्यर्थः। श्रुत्यन्तरञ्च—*'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।'* इति। कृपाविषयन्तु सर्वो भवत्येव। अनादरः आत्मसम्भावनाशून्य इति वा। तत्र संशय इति मनोमयत्वादीनां प्रकृतब्रह्मसापेक्षत्वनिरपेक्षत्वाभ्यां सन्देहोत्पत्तिरित्यर्थः। तन्निषेधान्मनःप्राणनिषेधात्। पूर्वनिर्दिष्टं प्रकृतम्। अन्तिम इति। एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीत्यन्तिमवाक्यस्थ इत्यर्थः—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इस द्वितीय पादमें जो ब्रह्म-प्रतिपादक वाक्य स्पष्ट रूपसे प्रतीयमान नहीं हैं, उन प्राणादि बोधक वाक्योंकी ब्रह्ममें योजना करनेके लिए भाष्यकारने मनोरम इत्यादि श्लोकसे मङ्गलाचरण किया है।

इस द्वितीय पादके सात अधिकरणोंमें तैंतीस सूत्रोंकी व्याख्या करनेके लिए मनमें उपक्रम हो रहा है। प्रथम अध्यायमें जीव-धर्म बाधित होनेसे प्राणादिमें ब्रह्मपरता थी, क्योंकि ब्रह्म-साधक लिङ्ग उसमें है, यह कहा गया। अब यहाँ इस पादमें ब्रह्म-लिङ्ग (प्रमाण) तो नहीं है, किन्तु प्रकरणमें ब्रह्मका आरम्भ हुआ है। प्रकरणसे लिङ्ग प्रमाणका प्राधान्य अधिक होता है, इस नियमानुसार जीवका प्रतिपादन करनेवाले मनोमयत्वादि लिङ्गके अनुसार ब्रह्मपदका जीवपरत्व हो सकता है—यह प्रत्युदाहरण सङ्गतिवश कहा है। और भी, कोई-कोई कहते हैं कि यह अन्य पाद है, इसलिए इसमें अवास्तव सङ्गतिकी अपेक्षा नहीं है। छान्दोग्यमें शाण्डिल्य इत्यादिमें *'सर्वं खलु इदम्'*—इदम्—इस जगत्को, खलु-प्रसिद्ध अर्थमें, ब्रह्म ही जानो। इसका कारण है

'तज्जलान्' अर्थात् जगत् तज्ज, तल्ल, और तदन् अर्थात् उनसे (ब्रह्मसे) जगत् जन्मता है, इसलिए तज्ज है, उनमें लीन होता है, इसलिए तल्ल है और उनके द्वारा जीवित रहता है, इसलिए तदन् है। 'अन' शब्दके अकारान्तका लोप वैदिक प्रयोगके कारण है। तज्ज, तल्ल और तदन् समस्त विशेषणोंका कर्मधारय है। जब जगत्की वृत्ति ब्रह्मके अधीन है, तो समस्त जगत् ही ब्रह्म ही है, यह श्रुतिका तात्पर्य है। इति शब्द हेतु अर्थमें प्रयुक्त है। सम्पूर्ण श्रुतिका अर्थ है—जिन हेतुओंसे समस्त ही ब्रह्म है, अतः देहादिके योगके बिना शान्त भावका अवलम्बन करके उन ब्रह्मकी उपासना करे। उपासनाकी फलश्रुति *'अथ खलु क्रतुमयः'* इत्यादिके द्वारा बतलायी गयी है। पुरुष शब्दका अर्थ है—अधिकारी पुरुष। क्रतुमयः अर्थात् सङ्कल्प-प्रधान अर्थात् जिस प्रकारकी भगवत्-उपासनाका सङ्कल्प लिया है, उन दास्य इत्यादि भावोंसे वह ईश्वरको प्राप्त होगा—इन्हीं भावोंसे युक्त होकर ही इस लोकसे परलोक जाकर मुक्ति प्राप्त करेगा। अतः पुरुष उपासना ही करे।

किसकी उपासना करे? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—'मनोमय' इत्यादि। मनोमय प्राण-शरीर श्रीहरिकी उपासना करे। श्रुतिमें *'मनोमयः प्राणशरीरः'*—प्रथमा विभक्ति रहनेपर भी द्वितीय विभक्तिका योग करके पद-परिवर्त्तन करना होगा—*मनोमयं प्राणशरीरं* अर्थात् मनोमयत्वादि गुणसे विशिष्ट श्रीहरिकी उपासना करेंगे—यह तात्पर्य है। 'भारूपः' से तात्पर्य है—प्रकाशात्मक घन चैतन्यमय, 'सत्यसङ्कल्प'—जिनकी मानसी क्रियाएँ सफल होती हैं। 'आकाशात्मा' अर्थात् जो सर्वव्यापी हैं, सर्वकर्मा—वे विचित्र नानाविध लीलापरायण हैं। सर्वकामः—वे समस्त भोग्य वस्तुओंसे सम्पन्न हैं और सर्वगन्ध, सर्वरस हैं अर्थात् अप्राकृत, असाधारण, गन्ध, रस, शब्द रूपसे युक्त हैं। अप्राकृत क्यों कह रहे हैं? श्रुति कहती है—*अशब्दं अस्पर्शं* इत्यादि प्राकृत अर्थात् लौकिक शब्दादिका उनमें निषेध है, इसी कारण शब्द, स्पर्श एवं रूपादि उनमें असाधारण एवं अप्राकृत रूपसे विद्यमान हैं। गन्धादि विषय एवं सभी भोग्यवस्तुओंको 'अभ्यात्तः' अर्थात् सर्वतोभावसे प्राप्त करके वे शोभा पाते हैं। 'अभ्यात्तः' पदकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—भाववाच्य 'अभि'

और 'आ' उपसर्गपूर्वक 'दा' धातुमें 'क्त' प्रत्यय—जिसका अर्थ है सर्वतोभावसे आदान। यह आदान जिसमें है, उस अर्थमें 'अभ्यात्त' शब्दका उत्तर *'अर्श आदिभ्योऽच्'* सूत्रसे 'अच्' होकर इसी प्रकार सिद्ध हुआ है, जिस प्रकार 'भुक्ताः ब्राह्मणाः'—भोजनविशिष्ट ब्राह्मणगण—यह अर्थ भुज् धातुके भाववाच्यमें क्त और उत्तरमें अच् प्रत्ययके योगसे निष्पन्न हुआ है। 'अवाक्यानादर' इति अवाक्यश्च असौ अनादरश्च—इस वाक्यमें कर्मधारय समास है। अवाक्य शब्दका अर्थ है कि वे आप्तकाम होनेके कारण याच्ञा वाक्यसे रहित हैं और उन्हें जो अनादर कहा गया है, उसका तात्पर्य है कि वे ब्रह्मादिसे लेकर सम्पूर्ण जगत्को तुच्छ मानकर सुखपूर्वक अवस्थित हैं। अवाक्य शब्दका अर्थ है—जो सम्पूर्ण रूपसे वाक्यके अगोचर हैं और अनादर अर्थात् अपनेसे भिन्न किसी वस्तुमें उनका आदर नहीं है। सर्वेश्वरत्वके कारण वे सभीके द्वारा आदृत हैं, किन्तु उनका कोई आदरणीय नहीं है। एक और श्रुति है, तदनुसार *'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'* अर्थात् ये एक अद्वितीय परमात्मा वृक्षके समान स्तब्ध (निष्क्रिय) शून्यके ऊपर अवस्थित होकर विराजमान हैं। उन परमेश्वरसे यह समस्त विश्व व्याप्त है, समस्त ही उनकी कृपाका पात्र है। अथवा अनादर शब्दका अर्थ यह भी हो सकता है कि वे आत्माभिमानसे रहित हैं। अब इन श्रुतियोंमें उक्त पुरुषके विषयमें संशय है। संशयोत्पत्तिका कारण यह है कि मनोमयत्वादि धर्मोंके द्वारा प्रस्तावित ब्रह्म सापेक्ष हैं अथवा निरपेक्ष। परमात्मपक्षमें तो उनमें मन एवं प्राणका निषेध कहा है। पूर्वनिर्दिष्टका अर्थ है प्रकरणमें उक्त। 'अन्तिम' इति, अन्तमें कही हुई श्रुतिमें जीव निश्चय होनेपर *'एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मि'*—इस अन्तिम वाक्यके अन्तर्गत ब्रह्म पद भी जीवपर ही होगा। इस पूर्वपक्षके समाधानके लिए सूत्र है—

सूत्र—सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्॥ १॥

सूत्रार्थ—'सर्वत्र'—वेदान्तशास्त्रमें सभी स्थानोंपर, 'प्रसिद्धोपदेशात्'—जिस कारणसे जगत्की सृष्टि-स्थिति-लयके कर्त्तृत्वरूप ब्रह्ममात्रनिष्ठ-धर्मका

उल्लेख है और यहाँ भी 'तज्जलान्' कहनेसे उसी (ब्रह्ममात्रनिष्ठ) धर्मका उपदेश है, इसलिए मनोमय इत्यादिके द्वारा बोध्य परमात्मा ही हैं, जीव नहीं॥ १॥

सूत्रानुवाद—समस्त श्रुतियोंमें प्रसिद्ध परब्रह्म ही जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति एवं लयके कारण हैं, इसीलिए मनोमयत्वादि द्वारा वे ही जानने योग्य हैं॥ १॥

गोविन्दभाष्य—स खल्वयं परमात्मैव न जीवः। कुतः? सर्वत्र वेदान्ते प्रसिद्धस्य जगज्जन्मादिहेतुतारूपस्य तदेकान्तधर्मस्यात्रापि वाक्ये तज्जलानित्युपदेशात्। यद्यप्युपक्रमवाक्ये शान्तिविवक्षया न तु स्वविवक्षया ब्रह्म निर्द्दिष्टं तथाप्युपदिष्टे मनोमयत्वादिके तत् सन्निधास्यति। क्रतुरुपासना। मनोमयः शुद्धमनोग्राह्यः। *'मनसैवानुद्रष्टव्य'* (बृ॰आ॰ ४/४/१९) इति श्रुत्यन्तरात्। *'यतो वाच'* (तै॰ २/४) इत्यादिकृतप्रतिषेधस्तु पामरागोचरत्वात्। कार्त्स्न्यादगोचरत्वाच्चेति तत्त्वविदः। प्राणशरीरत्वं तन्नियन्तृत्वात् प्रेष्ठमूर्त्तित्वादित्येके। *'अप्राणो ह्यमना'* (मु॰ २/१/२) इति तु तदनधीनस्थितिज्ञानत्वात्। मनोवानित्यानीदवातमिति च श्रुत्यन्ततात्। अपरे तु *'मनोमयः प्राणशरीरनेता'* (मु॰ २/२/७) *'स एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयोऽमृतमयो हिरण्मयः'* (तै॰ १/६) *'हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति'* (श्वे॰ ४/१७)। *'प्राणस्य प्राणः'* (बृ॰आ॰ ४/४/१८) इत्यादिषु सर्वेषु वेदान्तेषु प्रसिद्धस्य मनोमयत्वादेरिहाप्युपदेशात् परमात्मैव मनोमय इति व्याचख्युः॥ १॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'न खल्वयं'* इत्यादि, यह मनोमयत्वादि धर्मसे विशिष्ट पुरुष परमात्मा ही हैं, जीव नहीं। कैसे? वेदान्तशास्त्रके सभी स्थानोंमें प्रसिद्ध जगत्‌के सृष्टि आदि कारणत्वरूपमें ब्रह्ममात्र-निष्ठ-धर्मका उपदेश है और इस श्रुतिमें भी 'तज्जलान्' रूपमें उसी हेतुसे उपदेश है। यद्यपि उपक्रम वाक्यमें ब्रह्मका उल्लेख है, किन्तु यदि कहो कि वह शान्ति अभिप्रायसे है, स्व-विवक्षा अर्थात् ब्रह्म-बोधनके लिए नहीं, तो भी इस श्रुतिमें उपदिष्ट मनोमयत्वादि धर्ममें प्रक्रान्त (विवादास्पद प्रकरण-विषय) ब्रह्मका ही अन्वय है, अप्रक्रान्त जीवका नहीं। क्रतु शब्दका अर्थ उपासना, प्रसिद्ध यज्ञ अर्थमें नहीं है। क्योंकि श्रुति कहती है—*'मनोमयः शुद्धमनोग्राह्यः'*, *'मनसैवानुद्रष्टव्यः'*—यहाँ मनके द्वारा मनोमयकी उपासना करें। (मनोमय शब्दका अर्थ है—विशुद्ध मनसे ग्रहण करना।) तब *'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य*

मनसा सह' (तै॰ २/४)—इस श्रुतिमें मनके द्वारा अगोचरत्व कहकर उपासनाका (ध्यानका) निषेध क्यों किया? तत्त्वविद्‌गण इसके उत्तरमें कहते हैं कि वे पामरोंके (विषय-वासनाओंसे मलिन) मनके लिए अगोचर हैं और दूसरी बात सम्पूर्ण रूपसे उनका गोचरत्व नहीं है—इन अभिप्रायोंसे प्रतिषेधकी बात कही गयी है। *'प्राणशरीरत्व'* अर्थात् 'उन ब्रह्मका शरीर प्राण है'—इस उक्तिका तात्पर्य है कि आत्मा जिस प्रकार शरीरका नियामक है, इसी प्रकार ईश्वर प्राणके नियामक हैं, इसलिए उन्हें प्राणशरीर कहा जाता है। कोई ऐसा भी कहते हैं कि उपासकोंके लिए उनका श्रीविग्रह प्राणके समान प्रिय है।

यदि कहो कि *'अमना अप्राणः'* इस श्रुतिमें उनमें मन एवं प्राणका अभाव कहा गया है, उसका क्या होगा? इसका समाधान यह है कि उनकी स्थिति प्राणके अधीन नहीं है और उनका ज्ञान मनरूपी इन्द्रियजनित नहीं है और न ही वे प्राणके अधीन हैं अथवा यह भी अर्थ है कि पामर व्यक्तिके अथवा साधारण प्राकृत जीवके समान उनके मन एवं प्राण नहीं हैं। यदि उनमें प्राण एवं मन यथायथ रूपमें न रहे, तब अन्य श्रुति वर्णन है *'मनोवानित्यानीदवातमिति'*, मनोवान् अनीत् अवातम्—अर्थात् वे मनोवान् हैं, उनमें वायुका विकाररूप प्राकृत प्राण नहीं है, किन्तु ऋक् आदि स्वरूप प्राण द्वारा वे श्वास-प्रश्वास क्रिया करते हैं—इस श्रुतिके साथ विरोध हो सकता है। दूसरे लोग इसका सामञ्जस्य इस प्रकार करते हैं—श्रुतियाँ कहती हैं—*'मनोमयः प्राणशरीरनेता'* (मु॰ २/२/७), *'स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयोऽमृतमयो हिरण्मय'* (तै॰ १/६), *'हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो'* (श्वे॰ ४/१७), *'स एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति'* अर्थात् मनोमय (परमात्मा) ही प्राण और शरीरके सञ्चालक हैं, जीवोंके हृदयमें जो अवकाश है, उसीसे मनोमय, अमृतमय और ज्योतिर्मय पुरुष अधिष्ठित हैं, हृत्-कमलमें विवेकके द्वारा निश्चय करके मनके द्वारा उनका चिन्तन अथवा ध्यान करें, जो इस तत्त्वको जानते हैं, वे अमृतत्वको प्राप्त करते हैं। वे प्राणोंके प्राण हैं अर्थात् चैतन्यके आधायक हैं—इत्यादि समस्त वेदान्तवाक्योंमें प्रसिद्ध उनके मनोमयत्वादि इत्यादि धर्म हैं, इस स्थलपर भी उसी मनोमयत्वादि

धर्मका उपदेश है। अतः परमात्मा ही मनोमय इत्यादि शब्दोंके द्वारा वाच्य हैं॥ १॥

सूक्ष्मा टीका—ननु मनोमयत्वादिकं जीवलिङ्गमस्तु प्रकृतलिङ्गसम्बन्धि मास्तु प्रकरणाल्लिङ्गस्य बलित्वादिति चेत् तत्राह—यद्यपीति। स्वविवक्षया ब्रह्मविवक्षया। तथापीति। मनोमयत्वादेर्विशेष्याकाज्क्षायां यत् सर्वं खल्विदमिति ब्रह्म प्रकृतं तदेवान्वेति नाप्रकृतो जीव इत्यर्थः। अन्यथा प्रकृतहानप्रसङ्गात्। यतो वाच इति। मनोग्राह्यत्वनिषेधो विषयवासनया मलिने मनसि ब्रह्मस्फूर्त्तिर्न भवेदित्यर्थः। कात्स्न्याविषयतात्पर्यवसायी वेत्यर्थः। प्राणशरीर इति। यथात्मा शरीरस्य नियामकस्तथेश्वरः प्राणानामित्यर्थः। अथवोपासकानां प्राणतुल्यं यस्य शरीरं श्रीविग्रहो भवति स परमात्मा प्राणशरीर इत्युच्यते। अप्राणो ह्यमना इति यः प्राणादिप्रतिषेधः स तु प्राणानधीनस्थितित्वात् मनोऽनधीनज्ञानत्वाच्चेति क्रमाद्बोध्यः। प्राकृतविषयो वेति। *'अप्राणो ह्यमना'* इति श्रुतिः प्राकृते प्राणमनसी तत्र निषेधति न तु स्वरूपानुबन्धिनी ते। इतरथा मनोवानित्यादिश्रुतिव्याकोपः स्यादित्यर्थः। मनोवानिति समना इत्यर्थः। कृत्स्ना श्रुतिस्तु—यदात्मको भगवान् तदात्मिका व्यक्तिः किमात्मको भगवान् ज्ञानात्मकः ऐश्वर्यात्मकः शक्त्यात्मकश्चेति बुद्धिमनोऽङ्गप्रत्यङ्गवत्तां भगवतो लक्षयामहे बुद्धिमान् मनोवान् अङ्गप्रत्यङ्गवानित्येषा। अनीदवातमिति। अवातं वायुविकारप्राणरहितं ब्रह्म अनीत् स्वरूपानुबन्धिना ऋगाद्यात्मकेन प्राणेन अश्वसीदित्यर्थः। कृत्स्ना श्रुतिस्तु—न मृत्युरासीदमृतं न ताह न रात्र्यह्न आसीत् प्रकेतः अनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्वान्यं न परं किञ्चन नासेति। अस्यार्थः—तर्हि महाप्रलये मृत्युर्नासीत् अमृतं सुधा च नासीत् रात्रेरह्नश्च प्रकेतश्चिह्नभूतश्चन्द्रो रविश्च अमृतभोक्ता नासीत्। स्वधया पितृभागेन सहेति योज्यम्। नन्वेवं शून्यवादापत्तिरिति चेत् तत्राह—तदेकमवातं ब्रह्मासीत् तस्मादन्यत् परं किञ्चन नास इति। हृदेति। हृत्पद्मे मनीषया निश्चित्य मनसा योऽभिकामाप्तो ध्यातो भवतीत्यर्थः॥ १॥

सूक्ष्मा-सार—यहाँ आपत्ति यह है कि मनोमयत्वादि धर्म जीवके साधक हो सकते हैं, परन्तु प्रक्रान्त ब्रह्मके लिङ्ग (धर्म) नहीं हो सकते, क्योंकि प्रकरणसे लिङ्गकी अधिक बलवत्ता है। इसके उत्तरमें कहते हैं—यद्यपि उपक्रम वाक्यमें ब्रह्मकी बात है, किन्तु वह ब्रह्म-विवक्षा (ब्रह्म-विषयमें कहनेके अभिप्राय) से नहीं है, शान्ति-तात्पर्यमें निर्दिष्ट है, यदि ऐसा मान भी लिया जाय, तो मनोमय इत्यादि विशेषण पदोंका विशेष्य क्या होगा? इस प्रश्नका उत्तर है—*'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'*—ये जो प्रक्रान्त ब्रह्म हैं, उन्हें ही विशेष्य रूपमें जानना

चाहिये। उन्हींके साथ यह मनोमयत्व अन्वित है, अप्रक्रान्त जीव विशेष्य नहीं है। यदि जीवको विशेष्य कहते हैं, तो प्रक्रान्तकी हानि हो सकती है। *'यतो वाच'* इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्मके मनोग्राह्यत्वका जो प्रतिषेध है, वह इसलिए है कि शब्दादि विषयभोगोंके संस्कारवश मलिन मनमें ब्रह्मकी स्फूर्ति नहीं हो सकती और ब्रह्म सर्वाङ्गीण रूपसे ज्ञानका अविषयीभूत है। प्राणशरीर—जिस प्रकार आत्मा शरीरका नियामक है, उसी प्रकार प्राणका नियामक परमेश्वर है अथवा उपासकोंके लिए उनका श्रीविग्रह प्राणतुल्य है। *'अप्राणः अमनाः'* कहकर उन ईश्वरका प्राणहीनत्व एवं मनोहीनत्व रूपमें प्राण-मनका प्रतिषेध किया है। प्राणकी अनधीनता 'स्थिति' अर्थमें है और मनकी अनधीनता 'ज्ञानवत्ता' अर्थमें है अथवा यह प्रतिषेध प्राकृत प्राण एवं मनको आश्रय करके है, अन्यथा स्वरूपानुबन्धी अप्राकृत प्राण एवं मनका आश्रय करके है। यदि वास्तव प्राण-मनका प्रतिषेध होता, तो 'मनोवान्' इत्यादि श्रुतिका विरोध होगा। मनोवान् शब्दका अर्थ है—'समनाः' मनसे विशिष्ट (युक्त)। सम्पूर्ण श्रुति इस प्रकार है—'यदात्मको भगवान्' अर्थात् भगवान्‌का जैसा स्वरूप है, जीवका भी वैसा ही है। भगवान्‌का स्वरूप कैसा है? उत्तर है—वे ज्ञानमय, ऐश्वर्यमय (सर्वनियन्ता) और शक्तिमान हैं, इसी प्रकार वे बुद्धिमान, मनोवान और अङ्ग-प्रत्यङ्गवान भी हैं—ये सब भगवान्‌के लक्षण हैं—ऐसा हम मानते हैं। अनीदवातम्—इसके अन्तर्गत अवातम् अर्थात् वायुका विकार जो प्राण है, परमेश्वर उससे रहित हैं। अनीत् शब्दका अर्थ है, तब वे उसके बिना जीवित किस प्रकार हैं? उत्तर है—स्वरूपानुसारी—ऋक् इत्यादि स्वरूप प्राण द्वारा वे श्वास-प्रश्वास क्रिया करते हैं।

'कृत्स्नो श्रुतिस्तु न मृत्यु रासीदमृतं न तर्हि .... किञ्चन नाम।' तर्हि—तब अर्थात् महाप्रलय-कालमें मृत्यु भी न था, सुधा (अमृत) भी न था, रात्रि एवं दिनके चिह्नसे युक्त चन्द्र एवं सूर्य भी न थे, पितृ-भावके साथ स्वधा-भोक्ता (अमृतभोजी) भी न थे, तब तो शून्यवाद आ गया। नहीं, यह नहीं है, तदेकं—एकमात्र वे ही 'अवातम्' ब्रह्म 'प्राणीत्'—जीवित अर्थात् वर्त्तमान थे। उनके अतिरिक्त कुछ भी

न था। 'हृत्-कमलमें विवेक द्वारा अवधारित (निश्चय) होकर वे ध्यात होते हैं'—जो इस तत्त्वको जानते हैं, वे अमृतत्वको प्राप्त होते हैं॥ १॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रथम अध्यायके द्वितीय पादके प्रारम्भमें भाष्यकार श्रीबलदेव प्रभुने मङ्गलाचरणमें हृदयमें भगवान् श्रीश्यामसुन्दरकी स्फूर्तिकी प्रार्थना की है। इसके द्वारा वे हमें यह ज्ञात करा रहे हैं कि श्रीभगवान् स्वयं कृपापूर्वक किसीके हृदयमें विराजमान होकर अपनी स्फूर्ति न करायें, तो कोई भी उनके तत्त्वको जान नहीं सकता।

श्रीचैतन्यचरितामृत (म॰ ६/८३) में द्रष्टव्य है—

ईश्वरेर कृपा लेश हयत याँहारे।
सेइ से ईश्वर तत्त्व जानिवारे पारे॥

अर्थात् जिनपर भगवान्की तनिक भी कृपा होती है, वही ईश्वरतत्त्वको जान सकता है।

श्रीमद्भागवत (१०/१४/२९) में श्रीब्रह्माजीने स्तुति करते हुए श्रीभगवान्से कहा—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय-
प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो,
न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥

अर्थात् हे स्वामिन्! आप भक्तोंके हृदयमें स्वयं ही स्फुरित होते हैं। आपके ज्ञानके स्वरूप और माहात्म्यके प्रभावसे अज्ञानकल्पित जगत्का नाश हो जाता है। हे देव! जो आपके चरणकमलोंकी तनिक भी कृपा प्राप्त कर लेता है, एक मात्र वही आपके यथार्थ सच्चिदानन्दमय माहात्म्यको जान सकता है। इसके अतिरिक्त दीर्घकालतक शास्त्राभ्यासके द्वारा अथवा योग-वैराग्यादि साधनरूप अपने प्रयत्नसे कोई भी आपकी महिमाको तत्त्वतः नहीं जान सकता।

प्रस्तुत पादमें जो वाक्य स्पष्ट रूपसे ब्रह्म-प्रतिपादक रूपमें तत्क्षण समझमें नहीं आते, उन्हें ब्रह्ममें सङ्गतिपूर्ण प्रतिपन्न करनेके लिए हृदयमें पहले श्रीश्यामसुन्दर भगवान्की कृपा प्रार्थना करें।

प्रथम पादमें जगत्की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके एकमात्र हेतु पुरुषोत्तम परब्रह्मको जिज्ञास्य अर्थात् आराध्य कहा गया। अन्यत्र प्रतीत वाक्योंका भी ब्रह्ममें समन्वय प्रदर्शन करते हुए इस प्रकरणका आरम्भ किया गया है। छान्दोग्योपनिषदमें शाण्डिल्य विद्यामें कहा है कि यह परिदृश्यमान समस्त जगत् ब्रह्म है। इसमें हेतु बतलाते हैं कि ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय हैं। अतः शान्त होकर उनकी उपासना करें। यहाँ प्रयुक्त क्रतु शब्द उपासनाके लिए है। उपासनाका फल है—जो उपासक इस जगत्में रहते हुए श्रीभगवान्के दास्यादि भावोंमेंसे किसी भी एक भावके साथ ऐकान्तिक रूपसे मन, प्राण समर्पण करते हुए श्रीहरिका भजन करते हैं, परलोक जानेपर वे उसी भावसे श्रीहरिको प्राप्त होते हैं। अतः मनोमयत्वादि गुणयुक्त श्रीहरिकी उपासना करनेका उपदेश है। कुछ लोग पूर्वपक्ष करके कहते हैं कि मनोमय प्राणमय कहनेसे जीवको ही जाना जाता है, परमेश्वरको किसलिए जानना है? अरे, परमात्माके मन एवं प्राण नहीं हैं, इसलिए श्रुति अमना, अप्राण कहकर उनका वर्णन करती है। इस स्थलपर मीमांसाका विषय यह है कि 'मनोमय' शब्दसे तात्पर्य है—श्रीभगवान् शुद्ध मनके द्वारा ग्रहणीय हैं और प्राणमय अर्थमें वे प्राणके नियन्ता हैं। भगवान् श्रीहरिको श्रुति मनोमय, प्राणमय, सत्यसङ्कल्प इत्यादि कहकर उनका निरुपण करती है। अशब्द, अस्पर्शादि शब्दोंसे उनके प्राकृत गन्धादिरूपका निषेध करके उन्हें अप्राकृत, असाधारण गन्धादिसे सम्पन्न कहा है। श्रीमन्हाप्रभुने कहा है—

निर्विशेष ताँरे कहे येइ श्रुतिगण।
'प्राकृत' निषेध करे 'अप्राकृत' स्थापन॥

(चै॰च॰म॰ ६/१४१)

अर्थात् जहाँ श्रुतियाँ भगवान्को निर्विशेष कहती हैं, वहाँ उनका तात्पर्य भगवान्में प्राकृत गुणोंका निषेध करना है। भगवान्के गुण प्राकृतिक नहीं हैं। उनका शरीर एवं गुण सब अप्राकृत अर्थात् दिव्य हैं—ये श्रुतियाँ यही स्थापना करती हैं।

और भी,

से काले नाहिक जन्मे प्राकृत मन नयन।
अतएव 'अप्राकृत' ब्रह्मेर नेत्र मन॥

अर्थात् उस समय ब्रह्मके अप्राकृत मन एवं नेत्र थे, जिनसे उन्होंने अनेक होनेकी इच्छा की तथा मायाकी ओर दृष्टिपात किया।

महाप्रलयमें भी भगवान्के अस्तित्वका अभाव नहीं रहता। जैसा कि श्रीमद्भागवत (२/९/३२) में कहा है—*'योऽवशिष्यते सोऽस्म्यहम्।'*

ब्रह्म मनोमय, अमृतमय, हिरण्यमय हैं। ये जीवोंके हृदयमें सर्वदा वास करते हैं। विद्वान अपनी मनीषा द्वारा निश्चय करके उनका ध्यान करें तो उनसे अवगत हो सकते हैं और अमृतत्वको प्राप्त कर सकते हैं। श्रीमद्भागवत (२/५/१४—१६) में कहा है—

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
वासुदेवात् परो ब्रह्मन् न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः॥

नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः।
नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः॥

नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः।
नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः॥

अर्थात् हे नारद! उपादानरूप महाभूतादि द्रव्य, जन्म प्राप्त करनेके निमित्त कर्म (कर्मफल), गुणोंका क्षोभक काल, इसके परिणामका हेतु स्वभाव और भोक्ता जीव इनमेंसे किसीकी भी श्रीवासुदेवसे भिन्न सत्ता नहीं है। श्रीनारायण ही वेदोंके तात्पर्य-विषय हैं। वेदोंमें उन्हें ही 'उपास्य' रूपमें माना गया है। दूसरे देवता उपास्य रूपमें कहलाये जाते हैं, पर वे भी श्रीनारायणके श्रीअङ्गसे उत्पन्न हुए हैं। श्रीनाराणके प्रभावसे ही उनका प्रभाव है। वे श्रीनारायणके अधीन हैं। स्वर्गादि सम्पूर्ण लोक आदि भी उनके आनन्दांशके आभास-रूप-मात्र ही हैं। यज्ञ भी श्रीनारायण-परायण हैं अर्थात् उनकी प्राप्तिके लिए यज्ञ साधन स्वरूप हैं। अष्टाङ्ग, सांख्य आदि सभी योग श्रीनारायण-परायण हैं, उनकी प्राप्तिके ही हेतु हैं। समस्त तपस्याओंके परम कारण नारायण हैं, सभी तपस्याएँ उनकी ओर ही ले जाती हैं। तपस्याओंका

साध्य ब्रह्मज्ञान उनके आंशिक स्वरूपको ही प्रकट कर पाता है। मोक्षके भी परम विषय श्रीनारायण हैं, श्रीनारायणका तत्त्वज्ञापक जो ज्ञान है, उसका फल है मोक्ष और वह भी श्रीनारायणके अधीन है॥ १॥

सूत्र—विवक्षितगुणोपपत्तेश्च॥ २॥

सूत्रार्थ—'विवक्षितगुण'—श्रुतिके अभिप्रेत (अभीष्ट) जो मनोमयत्वादि गुण हैं, 'उपपत्ते'—उनकी स्थिति परमेश्वरमें ही उपपन्न (सङ्गत) है, जीवात्माके लिए नहीं, 'च'—इसलिए वे ही उपास्य देव हैं॥ २॥

सूत्रानुवाद—श्रुति-द्वारा विवक्षित मनोमयत्वादि गुणोंकी सङ्गति उन परब्रह्ममें ही है॥ २॥

गोविन्दभाष्य—*'मनोमयः प्राणशरीरो भारूप'* (छा॰ ३/१४/२) इत्यादिना ये गुणा विवक्षितास्ते हि परस्मिन्नेवोपपद्यन्ते न तु जीवे॥ २॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—मनोमय, प्राण-शरीर, ज्योतिः स्वरूप इत्यादि द्वारा जो गुण श्रुतियोंके द्वारा कहे गये हैं, वे सब एकमात्र परमेश्वरमें ही सम्भव हैं, जीवमें नहीं॥ २॥

सूक्ष्मा-टीका—मनोमयेत्यादि स्पष्टम्॥ २॥

सूक्ष्मा-सार—मनोमय इत्यादि भाष्यकी उक्ति सुबोध्य है, अतएव उसकी टीका अनावश्यक है॥ २॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—मनोमय, प्राण-शरीर, चैतन्यघन, सत्यसङ्कल्प, आकाशके समान सर्वव्यापी, नानाविध लीलापरायण इत्यादि गुण विभिन्न श्रुतियोंमें विवक्षित हुए (कहे गये) हैं (वेदवाक्योंका जिस अर्थमें तात्पर्य होता है, उसे ही विवक्षित कहा जाता है), वे एकमात्र ब्रह्ममें ही उपपन्न हैं, किसी जीवमें सम्भव नहीं हैं।

श्रीलजीव गोस्वामी प्रभुने अपनी सर्वसंवादिनी टीकामें परमात्मसन्दर्भमें जीव-चैतन्यका ब्रह्मसे भिन्नत्व स्थापित करते हुए उस प्रकरणमें लिखा है कि श्वेताश्वेतर (६/९) में देखा जाता है—*'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।'*

अर्थात् वे सबके कारण हैं और इन्द्रियाधिष्ठाता जीवके स्वामी हैं। उनका न कोई उत्पत्तिकर्त्ता है और न कोई स्वामी है।

इस श्रुतिमें वर्णित ईश्वरके अतिरिक्त अन्य कोई सृष्टिका निमित्तीभूत ईक्षणकर्त्ता हो नहीं सकता। *'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'* (बृ॰आ॰ ३/७/२३) श्रुतिमें भी ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य कोई द्रष्टा नहीं है—कहकर अन्य (जीव) का निषेध हुआ है। अतः नित्य, स्वतन्त्र, चित्स्वरूप द्रष्टा ही उपनिषदवेद्य पुरुष हैं। *विवक्षितगुणोपपत्तेश्च* (ब्र॰सू॰ १/२/२) एवं *अनुपपत्तेस्तु न शारीरः* (ब्र॰सू॰ १/२/३)—इन दोनों सूत्रोंके अनुसार जीवसे अतिरिक्त, जीवसे अधिक, पारमार्थिक गुण जो परमेश्वरमें कहे गये हैं, वे उनमें ही सङ्गत हैं। और भी, मायावादीगण जो सिद्धान्त करते हैं—जीव अपने अज्ञानके द्वारा अपनी आत्मामें जगत्की कल्पना करता है, किन्तु जगत्की रचना ईश्वरके अतिरिक्त किसीके द्वारा सम्भव नहीं है। अनुपपत्तिवश (असङ्गतिवश) सत्यसङ्कल्पादि गुण भगवान्में ही स्वीकृत हैं। किसीके द्वारा कल्पना कर लेनेसे यह सङ्गत नहीं होता। यहाँ तक कि निर्गुण ब्रह्ममें भी इन सब गुणोंकी कल्पना करना युक्तिहीन है।

श्रीमद्भागवत (१०/८७/२८) में श्रुति-स्तवमें द्रष्टव्य है—*त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधरः।* अर्थात् हे प्रभो! आप प्राकृत-इन्द्रिय-सम्बन्धसे रहित स्वतन्त्र ईश्वर होकर भी समस्त प्राणियोंकी सम्पूर्ण इन्द्रिय शक्तिकी परिचालना करते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने इस श्लोकांशकी टीकामें लिखा है—*त्वमकरणः आहङ्कारिक मनोनेत्र-श्रोत्रादिरहितः तर्हीमानि मन्नेत्रश्रोत्रादीनि कुतस्तानि तत्राहुः—स्वराट्। स्वैः स्व-स्वरूपभूतैरेव नेत्रश्रोत्रादीन्द्रियै राजसे इति स्वराट्। अतएव अखिलकारक शक्तिधरः खिलानि तुच्छानि प्राकृतानीत्यर्थः, अखिलानि खिलभिन्नानि चिदानन्दमयत्वात् स्वरूपभूतानीन्द्रियाणि शक्तिः 'चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इति श्रुतेः।*

इसका अर्थ है कि आप इन्द्रियहीन अर्थात् अहङ्कारसे उत्पन्न प्राकृत मन, नयन एवं कर्ण आदिसे रहित हैं। यदि ऐसा है तो मन, नेत्र और कर्ण आदि कहाँसे आये? इसका उत्तर है—'स्वराट्', वे अपने स्वरूपभूत नयन, कर्ण आदि इन्द्रियोंके साथ विराजमान हैं।

स्वराट् अर्थात् अखिलकारक शक्तियोंको धारण करनेवाले। तुच्छ प्राकृत इन्द्रियोंसे भिन्न आपकी समस्त इन्द्रियाँ चिदानन्दमय हैं। शक्ति अर्थात् आप चक्षुओंके भी चक्षु एवं कर्णोंके भी कर्ण हैं—इस विषयमें समस्त शक्तियाँ प्रमाण हैं।

सूत्रस्थ 'च'-कारसे तात्पर्य है कि सत्सङ्कल्पादि गुणोंको बतलानेवाला वाक्य भी ब्रह्मस्वरूप बोधक वाक्यका ही पोषक है॥ २॥

सूत्र—अनुपपत्तेस्तु न शारीरः॥ ३॥

सूत्रार्थ—'तु'—अवधारण (निश्चय) अर्थमें, किन्तु, 'शारीरः'—मनोमय (पुरुष) शरीरधारी जीव नहीं हो सकता, क्यों? 'अनुपपत्तेः'—जीवात्मामें मनोमयत्वादि धर्म असम्भव हैं॥ ३॥

सूत्रानुवाद—जीवात्मामें श्रुतिवर्णित मनोमयत्वादि धर्मोंकी असङ्गति है, इसलिए वह उपास्य नहीं हो सकता॥ ३॥

गोविन्दभाष्य—मनोमयः शारीरो न भवति खद्योतकल्पे तस्मिंस्तेषामसम्भवात्॥ ३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—मनोमय पुरुष शरीराभिमानी जीवात्मा नहीं हो सकता, क्योंकि जीवात्मा खद्योत-तुल्य (जुगनूके समान क्षुद्र ज्योतिःस्वरूप) है। उसमें मनोमयत्वादि धर्मोंका होना असम्भव है॥ ३॥

सूक्ष्मा-टीका—अनुपपत्तेरिति। तुरवधारण॥ ३॥

सूक्ष्मा-सार—सूत्रोक्त 'तु' शब्दका अर्थ है—'अवधारण'। इतर-व्यवच्छेद अथवा दूसरेका खण्डन ही अवधारण है। यहाँपर 'तु' शब्दके द्वारा शारीर (जीव) आत्माके मनोमयत्वका खण्डन है॥ ३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इसके पहले सूत्रमें कहा गया कि सूत्रमें उल्लिखित गुण ब्रह्ममें ही युक्तियुक्त हैं—यह अन्वय रूपसे कहा गया था। अब प्रस्तुत सूत्रमें उसी बातको व्यतिरेक रूपसे कह रहे हैं। मनोमयत्वादि गुणोंका जीवमें प्रयोग करना युक्तियुक्त नहीं है। खद्योत-तुल्य जीवमें ये गुण कहाँसे रहेंगे?

श्रीपाद रामानुजने भी कहा है कि—*तमिमं गुणसागरं पर्यालोचतां खद्योतकल्पस्य शरीरसम्बन्धनिबन्धनापरिमितदुःखसम्बन्धयोग्यस्य बद्ध-*

मुक्तावस्थस्य जीवस्य प्रस्तुत गुणलेशसम्बन्धगन्धोऽपि नोपपद्यत, इति नास्मिन् प्रकरणे शारीरपरिग्रहशङ्का जायत इत्यर्थः।

अर्थात् जिन्होंने उन गुण-सागर परमात्माको शास्त्र-पर्यालोचनासे भलीभाँति जान लिया है, उनकी दृष्टिमें जुगनूके समान यदा-कदा टिमटिमानेवाले, शरीरसे सम्बन्ध होनेके कारण अपरिमित दुःख-भागी, बद्धमुक्त अवस्थावाले जीवात्माका उन गुणोंसे लेशमात्र सम्बन्ध हो सकता है, ऐसी तनिक भी सम्भावना नहीं रहती। इसलिए इस प्रसङ्गमें शारीरी जीवात्माका वर्णन है, ऐसी आशङ्का करना व्यर्थ है।

श्रीमद्भागवत (६/१६/४६-४७) में महाराज चित्रकेतुने कहा है—

विदितमनन्त समस्तं तव जगदात्मनो जनैरिहाचरितम्।
विज्ञाप्यं परमगुरोः कियदिव सवितुरिव खद्योतैः॥
नमस्तुभ्यं भगवते सकलजगत्स्थितिलयोदयेशाय।
दुरवसितात्मगतये कुयोगिनां भिदा परमहंसाय॥

अर्थात् हे अनन्त! संसारमें लोग जो कुछ करते हैं, उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जो अन्तर्यामीरूपी आप न जानते हों। जैसे सूर्यके सामने जुगनू किसी वस्तुको क्या प्रकाशित करेगा? उसी प्रकार सर्वप्रकाशक परमगुरु आपके समीप मेरे जैसा व्यक्ति क्या निवेदन कर सकता है। आप जगत्की स्थिति, लय एवं उत्पत्तिके कर्त्ता हैं। विषयोंमें फँसे हुए कुयोगीगण अपनी भेदबुद्धिके कारण आपके तत्त्वको नहीं जान सकते। आप परमहंस हैं, अति विशुद्ध हैं, षडैश्वर्यपूर्ण हैं, भगवान् हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

महाराज चित्रकेतुने यह भी कहा है—

तव विभवः खलु भगवन् जगदुदयस्थितिलयादीनि।
विश्वसृजस्तेंऽशांशा-स्तत्र मृषास्पर्द्धन्ते पृथगभिमत्या॥

(श्रीमद्भा॰ ६/१६/३५)

हे भगवन्! जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, लय जो कुछ भी है, वह वस्तुतः आपका ही लीला-विलास है। विश्व-निर्माता ब्रह्मादि देवगण आपके ही अंशके अंश हैं। सृष्टि आदि कार्योंके कारण जो अलग-अलग रूपसे स्वयंको ईश्वर मान बैठा है, उसका ऐसा अभिमान निरर्थक है।

ब्रह्म सत्यसङ्कल्प हैं। श्रीमद्भागवतमें उन्हें ही *'सत्यव्रतं, सत्यपरं, त्रिसत्यम्'* (१०/२/२६) कहा है, जीवात्माको नहीं॥ ३॥

सूत्र—कर्मकर्त्तृव्यपदेशाच्च॥ ४॥

सूत्रार्थ—कर्मरूपमें मनोमय श्रीहरिका एवं कर्त्तारूपमें शरीराभिमानी जीवका उल्लेख श्रुतिमें है, 'च'—इसलिए भी मनोमय पुरुष जीवसे भिन्न है॥ ४॥

सूत्रानुवाद—उपास्य परमात्माकी प्राप्ति कर्मरूपमें तथा उपासक जीवात्माकी प्राप्तिका कर्त्ताके रूपमें व्यपदेश है॥ ४॥

गोविन्दभाष्य— *'एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति'* (छा॰ ३/१४/४) श्रुतिरेतमिति प्रकृतं मनोमयं कर्मत्वेन व्यपदिशति शारीरं त्वभिसम्भवितास्मीति कर्त्तृत्वेनेति कर्त्तुः शारीराद्विलक्षणः कर्मभूतो मनोमयः परेशः। अभिसंभवतिर्मिलनार्थः सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगेत्यादिप्रयोगात्॥ ४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'एतमितः प्रेत्य अभिसम्भवितास्मि'* (छा॰ ३/१४/४) अर्थात् मैं (जीवात्मा) इतः—इस मनुष्यलोकसे, प्रेत्य—मृत्युके बाद, एतम्—इन मनोमय श्रीहरिके साथ, सम्भावितास्मि—मिलूँगा। यह श्रुति *'एतम्'* पदके द्वारा प्रक्रान्त मनोमय पुरुषका कर्मरूप (उपास्य) में निर्देश कर रही है, *'अभिसम्भावितास्मि'* पदमें शरीराभिमानी जीवात्माका कर्त्ता (उपासक) रूपमें उल्लेख कर रही है, इसलिए शारीर कर्त्तासे कर्मकारक परमात्मा भिन्न हैं, यह जाना गया। अभिसम्भवति= अभि+सम्+भू—इस प्रकार सम्भू धातुका अर्थ है 'मिलन'। महाकवि माघके शिशुपाल-वध महाकाव्यमें *'सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा'*—पार्वत्य नदी, महानदी—गङ्गा-यमुनादिके साथ मिलकर समुद्रकी ओर पहुँचती है। यहाँ सम्भूय पदका अर्थ है 'मिलित होकर' (मिलकर)॥ ४॥

सूक्ष्मा-टीका—एतमिति। इहलोकात् प्रेत्य एतं मनोमयं हरिमहमभिसंभवितास्मि मिलितास्मीति लुटः प्रयोगो गाढोत्कण्ठया॥ ४॥

सूक्ष्मा-सार— *'एतमिति'* श्रुतिका अर्थ है—'इस लोकसे परलोक जानेपर मैं मनोमय श्रीहरिसे मिलूँगा।' *अभिसम्भवितास्मि*—इस पदमें

'भू' धातुके उत्तर लुट्के उत्तम पुरुषके एकवचनमें 'तास्मि' विभक्ति है। यह जो भविष्य अर्थमें 'लुट्' विभक्तिका प्रयोग है, वह अत्यन्त अनुरागमें अर्थात् 'कब उनके साथ मिलूँगा'—इस उत्कण्ठावशतः है॥ ४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—मनोमयत्वादि गुणसम्पन्न ब्रह्म शरीराभिमानी जीव नहीं हैं—सूत्रकारने इस सूत्रमें यह स्पष्ट किया है। 'मैं मनुष्यलोकसे परलोक जाकर उनसे अर्थात् मनोमयत्वादि गुणयुक्त श्रीहरिके साथ मिलूँगा।' यहाँ श्रीहरिको कर्मरूपमें एवं जीवका कर्त्तारूपमें (उपासकरूपमें) निर्देश होनेसे यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि जीव ब्रह्मसे भिन्न है।

श्रीमद्भागवत (३/२७/२८-२९) में श्रीकपिलदेवके वचनोंमें देखा जा सकता है—

मद्भक्तः प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा।
निःश्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम्॥

प्राप्नोतीहाञ्जसा धीरः स्वदृशा च्छिन्नसंशयः।
यद्गत्वा न निवर्तेत योगी लिङ्गविनिर्गमे॥

अर्थात् वह धैर्यवान भक्त मेरे प्रति प्रीतिके साथ मेरे भक्तियोगसे, मेरी कृपासे आत्माका अनुभव कर लेता है, तब इसी जन्ममें ही अतिशीघ्र मेरे ही आश्रित अपने स्वरूपभूत, नित्यानन्द नामक ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त कर लेता है। इस स्थितिमें आत्मज्ञान होनेके कारण उसके समस्त संशय छिन्न हो जाते हैं और लिङ्गशरीरके नाश होनेपर उस मङ्गलमय स्थानको जाता है, जहाँसे कभी जीवका पुनरागमन नहीं होता॥ ४॥

सूत्र—शब्दविशेषात्॥ ५॥

सूत्रार्थ—'शब्दविशेषात्'—शब्दमें पार्थक्य रहनेसे मनोमय पुरुष और शरीराभिमानी पुरुष एक नहीं है॥ ५॥

सूत्रानुवाद—जीवात्मा एवं परमात्माका क्रमशः षष्ठ्यन्त एवं प्रथमान्तरूप शब्दका भेद होनेसे परमात्मा जीवसे भिन्न हैं॥ ५॥

गोविन्दभाष्य— *'एष मे आत्मान्तर्हृदये'* (छा॰ ३/१४/३) इति षष्ठ्यन्तेन शब्देन शारीर उपासको निर्द्दिश्यते मनोमयस्तुपास्यः प्रथमान्तेन। भिन्नविभक्तिकयोः शब्दयोरर्थभेदेन भाव्यम्। तथा च शारीरादुपासकादन्यो मनोमय उपास्य इति॥ ५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'एष मे आत्मान्तहृदये'* (छा॰ ३/१४/३)—ये मनोमय पुरुष मेरे हृदयके भीतर अन्तर्यामी आत्मारूपमें विराजित हैं। इस षष्ठीविभक्त्यन्त शब्दके द्वारा शरीराभिमानी उपासक जीवका निर्देश है और एषः—इस प्रथम्यन्त शब्दके द्वारा मनोमय उपास्य परमेश्वर बोधित हैं। भिन्न विभक्तियोंसे युक्त दो शब्दोंका अर्थभेद (व्यक्ति भेद) भी निश्चय ही है। अतएव शारीर उपासकसे मनोमय उपास्य भिन्न हैं, यह प्रतिपादित हुआ है॥ ५॥

सूक्ष्मा-टीका— भिन्नेति। षष्ठ्यन्त-प्रथमान्तयोरित्यर्थः॥ ५॥

सूक्ष्मा-सार— भिन्नविभक्तिकयोः अर्थात् एकमें षष्ठी विभक्ति और दूसरेमें प्रथमा विभक्ति—अतः दोनोंका प्रभेद सुस्पष्ट है॥ ५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति— ब्रह्मसे जीवके पार्थक्य सम्बन्धमें सूत्रकारने यह सूत्र भी प्रस्तुत किया है। श्रुतिमें वर्णित है—यह आत्मा मेरे अन्तर्हृदयमें विराजमान है। यहाँ उपासक जीवके सम्बन्धमें षष्ठी विभक्तिका प्रयोग है एवं उपास्य परमात्माके सम्बन्धमें प्रथमा विभक्तिका प्रयोग है। अतः दोनों ही शब्दोंके अर्थमें विशेषणके द्वारा यह स्पष्ट रूपसे निर्देश किया गया है कि उपासक और उपास्य भिन्न हैं।

आचार्य श्रीरामानुजपादने भी कहा है—'मे' शब्दके द्वारा जीवात्मा और 'आत्मा' शब्दके द्वारा परमात्माको ज्ञात कराया गया है, अतः परमात्मा जीवात्मासे भिन्न है। वे आगे उदाहरण देते हुए कहते हैं कि *'ब्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वा एवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्यमयो यथा ज्योतिरधूमम्।'* (शत॰ब्रा॰ १०/६/३/२)

अर्थात् 'सरसों, जव, श्यामका तण्डुल (साँवा चावल) से भी सूक्ष्म अन्तर्यामी पुरुष स्वर्णके समान उद्दीप्त निर्धूम ज्योतिस्वरूप हैं'—इस वाक्यमें 'अन्तरात्मन्' पद सप्तम्यन्त है, जिससे शरीरी जीवका तथा

'हिरण्यमय पुरुष' प्रथमान्त है, जिससे उपास्य परमात्माका निर्देश है। यहाँ भी सिद्ध होता है कि परमात्मा ही उपास्य हैं।

श्रीमद्भागवत (२/२/३५) में भी द्रष्टव्य है—

भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः।
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः॥

अर्थात् भगवान् सर्वसाक्षी हैं। समस्त प्राणियोंमें वे अन्तर्यामीरूपमें विराजित हैं। अपने चित्तमें बुद्धि आदि दृश्य पदार्थ उनका अनुमान करानेवाले लक्षण हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि मनोमय पुरुष एवं शरीराभिमानी पुरुष एक नहीं हो सकते॥ ५॥

सूत्र—स्मृतेश्च॥ ६॥

सूत्रार्थ—मात्र इतना ही नहीं, गीतादि स्मृति-शास्त्रोंसे भी जीव एवं परमात्माके प्रभेदसे अवगत हुआ जाता है॥ ६॥

सूत्रानुवाद—स्मृति भी जीव एवं ब्रह्ममें भेदका निरूपण करती है अर्थात् जीव नियम्य है और परमात्मा नियामक हैं॥ ६॥

गोविन्दभाष्य— *'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'* (श्रीगी॰ १८/६१) इति स्मणाच्च शारीरात् परस्य भेदः॥ ६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'ईश्वरः सर्वभूतानाम्'* (श्रीगी॰ १८/६१) अर्थात् श्रीभगवान् अर्जुनसे कहते हैं—'हे अर्जुन! ईश्वर समस्त प्राणियोंके हृदयमें विराजमान हैं।' वे वहाँ रहकर अपनी माया द्वारा समस्त प्राणियोंको उसी प्रकार चलाते हैं, जिस प्रकार यन्त्री यन्त्रारूढ़को घुमाता है। अतः श्रीभगवान्‌की इस उक्तिसे यह जाना जाता है कि शारीर-आत्मासे चालक परमात्मा भिन्न हैं॥ ६॥

सूक्ष्मा-टीका—ईश्वर इति। *'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'* इति चेह बोध्यम्। इह षष्ठ्यन्तार्थात् जीवात् प्रथमान्तार्थो हरिरन्य इति स्मृतितोऽपि लभ्यत इत्यर्थः॥ ६॥

सूक्ष्मा-सार— *'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो'* (श्रीगी॰ १५/१५) के इस कथनमें भी दोनोंकी पृथक्ता प्रमाणित हो रही है—मैं (श्रीभगवान्)

समस्त जीवोंके हृदयमें विद्यमान हूँ। इस वाक्यमें 'सर्वस्य' पद षष्ठी विभक्त्यन्त है, जिसका अर्थ है जीवात्माके और 'अहम्' पदमें प्रथमा विभक्ति है, जिसका अर्थ है श्रीहरि। अतः इस गीतास्मृतिसे भी दोनोंका पार्थक्य उपलब्ध हो रहा है॥ ६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—श्रीगीतादि विभिन्न स्मृति शास्त्रोंके प्रमाणानुसार परमात्मा जीवात्मासे भिन्न हैं, यह जाना जाता है। इसीका सूत्रकारने प्रस्तुत सूत्रमें प्रतिपादन किया है। श्वेताश्वेतरोपनिषद (६/११) में देखा जाता है—*एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।* अर्थात् एक देव समस्त प्राणियोंमें बसे हुए हैं, वे सर्वव्यापक एवं समस्त भूतोंकी अन्तरात्मा हैं।

अन्यत्र भी—*'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मामनन्तरो यमयति'* (जो सबकी आत्मामें विराजमान रहकर परिचालना करते हैं।

'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' (बृहदारण्यक ३/६/३)—वे पृथ्वीके अन्दर रहते हैं (और पृथ्वी उन्हें नहीं जानती है।) *अन्तर्बहिश्च तत्सर्वम्*—अन्दर या बाहर जो कुछ भी है, वे सबमें व्याप्त होकर अवस्थित हैं, इत्यादि श्रुतियाँ जीवसे परमात्माकी भिन्नताका प्रतिपादन कर रही हैं। इसके अतिरिक्त *'त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन'* इत्यादि वाक्य भी द्रष्टव्य हैं।

श्रीमद्भागवत (४/९/४) में वर्णन है—*सर्वस्य च हृद्यवस्थितः।* भगवान् श्रीहरि समस्त प्राणियोंके हृदयमें अवस्थित हैं।

और भी, *चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद् यथा* (श्रीमद्भा॰ ३/२६/७०), अर्थात् किन्तु जब चित्तके अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञने चित्तके सहित हृदयमें प्रवेश किया।

इस श्लोककी टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने कहा है—

'चैत्यो वासुदेवः स एव क्षेत्रज्ञोऽन्तर्यामी। क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत इति गीतोक्तः।'

अर्थात् जो चैत्य वासुदेव हैं, वे ही क्षेत्रज्ञ और अन्तर्यामी हैं। गीतामें श्रीभगवान्ने कहा है—हे भारत! समस्त क्षेत्रोंमें मुझे ही क्षेत्रज्ञ जानो।

श्रीचैतन्यभागवत (म॰ ५/१४२) में भी देखा जाता है—

सर्वभूते आछेन श्रीविष्णु, ना जानिया।
विष्णुपूजा करे अति प्राकृत हइया॥

अर्थात् श्रीविष्णु सर्वभूतमें निवास करते हैं, इसे न जानकर अति प्राकृत मूढ़ होकर जो विष्णुकी पूजा करते हैं (उनकी पूजा निष्फल हो जाती है और वे दुःख पाकर मरते हैं)।

स्मृतिशास्त्र गीता (१२/८) में और भी प्रमाण है—*निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्द्ध्वं न संशयः।* अर्थात् मुझमें मन और बुद्धिको अर्पित कर देनेसे देहका अन्त होनेपर मेरे समीप ही वास करोगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इसी प्रकार—

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(श्रीगी॰ ८/५)

अर्थात् जो अन्तिम कालमें भी मुझे ही स्मरण करते हुए अपने शरीरको त्यागकर प्रस्थान करते हैं, वे मेरे भावको प्राप्त होते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है॥ ६॥

अवतरणिका भाष्य—नन्वेष (छा॰ ३/१४/३) मे आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् ब्रीहेर्वा यवाद्वेत्यल्पस्थानत्वश्रुतेरणीयस्त्वोपदेशाच्च जीव एव मनोमयो नत्वीश इत्याशङ्कानिरासायाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब आशङ्का है कि *'ननु एष मे आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् ब्रीहेर्वा यवाद्वा'* (छा॰ ३/१४/३)—इस श्रुतिसे जाना जाता है कि जो आत्मा (परमेश्वर) जीवके हृदयमें विराजमान हैं, वे ब्रीहि (अङ्कुर) धान्य अथवा जौ-से भी अणु-सूक्ष्मतम हैं। पुनः *'अणोरणीयान् महतोमहीयान्'* (श्वे॰ ३/२०) श्रुतिमें उनके अणुतरत्वकी (अणु परिमाणत्व) की घोषणा की गयी है, किन्तु परमेश्वर तो विभु (सर्वव्यापक) हैं। अतएव हृदयान्तर्वर्त्ती जीव ही मनोमय पुरुषके रूपमें ग्रहणीय है, ईश्वर नहीं। इस आशङ्काके समाधानके लिए सूत्रकारने कहा है—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्वेष इति। मेऽन्तर्हृदये एष आत्मास्ति। कीदृशः? ब्रीहेर्यवाद्वा अणीयानतिसूक्ष्मः—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'नन्वेष इति मे'*—'मे' अर्थात् मेरे हृदयमें आत्मा है। वह आत्मा कैसी है? वह ब्रीहि अथवा यव-से भी अणुतर अर्थात् अति सूक्ष्म है।

सूत्र—अर्भकौकस्त्वात् तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च॥ ७॥

सूत्रार्थ—'अर्भक'—अल्प, 'ओकः'—स्थितिका स्थान कहनेसे (स्थानमें अधिष्ठित होनेसे), 'तद्व्यपदेशाच्च'—एवं अणोरणीयान् श्रुति द्वारा इसी प्रकारके अणुतरत्वका उल्लेख होनेसे, 'न'—वे परमेश्वर नहीं हो सकते, 'इति चेत्'—यदि ऐसा कहते हो तो, 'न'—ऐसा नहीं है, क्योंकि 'निचाय्यत्वात्'—मितत्व (अल्पयानत्व) रूपमें उक्ति हृदयमें उपास्यत्वकी उपासनाके लिए है, इसी प्रकार 'व्योमवच्च'—आकाशके समान सूक्ष्मतम होनेपर भी वे सर्वव्यापी हैं, अतः उनके परमेश्वरत्व पक्षमें कोई बाधा नहीं है॥ ७॥

सूत्रानुवाद—एकदेशीय अत्यन्त लघु बताये जानेके कारण उपास्य देव परब्रह्म नहीं हो सकते, अपितु अणु-परिमाणवाला जीव ही उपास्य है, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि परब्रह्म परमात्माकी हृदयमें स्थिति वहाँ अल्प-स्थानकी दृष्टिसे कही गयी है॥ ७॥

गोविन्दभाष्य—हेतुयुग्मान्मनोमयो नेश्वर इति न वाच्यं अत्रैव *'ज्यायान् पृथिवीतो ज्यायानन्तरीक्षात्'* (छा॰ ३/१४/३) इत्यादिना व्योमवदस्य विभुत्वाभिधानात्। कथं तर्हि तद्युग्मं सङ्गच्छतेतत्राह—निचाय्यत्वादेवमिति। एवं मितत्वेनोक्तिर्निचाय्यत्वात् हृद्युपास्यत्वात्। अयमत्र निष्कर्षः—विभोरपि परस्य यदणुत्वं प्रादेशमात्रत्वादि च तत् क्वचित् भाक्तं क्वचित् तु मुख्यम्। तत्राद्यं स्मृतिस्थानहृन्मानस्य स्मर्यमाणे स्थानानि तस्मिन्नुपचारात्। अन्त्यन्तु तादृशस्यापि तस्य भक्तानुग्राहिणोऽचिन्त्यशक्तियोगिनस्तथा तथाभिव्यक्तेः। एकमेव स्वरूपं भक्तेषु नानाविधं स्फुरति। *'एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति'* (गो॰ता॰ १/२१) इति श्रवणात्। विभुत्वे सत्यप्यणुत्वादिकमचिन्त्यशक्तियोगात्। वक्ष्यति चैवं वैश्वानराधिकरणे। (१/२/२५) अणोः प्रादेशमात्रादेश्च विभुत्वं तथैव युगपत् सर्वत्राविर्भावादिति॥ ७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्वोक्त दो कारण—यथा *'एष मे आत्मा'* इत्यादि श्रुतिके द्वारा ज्ञात ब्रीहि अथवा जौ-से भी सूक्ष्मत्व एवं *'अणोरणीयान्'* इस अणुतरत्व (अणु-परिमाणत्व) के निर्देशसे मनोमय पुरुष ईश्वर नहीं हैं, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसी श्रुतिमें ही *'ज्यायान् पृथिवीतो ज्यायान्तरीक्षात्'* (छा॰ ३/१४/३) उन्हें पृथ्वीसे बृहत्तर और अन्तरिक्षसे विपुलतर कहा गया है। इसी प्रकार जीवके अन्तर्वर्त्ती पुरुषका आकाशके समान विभुत्व है। तब ये दोनों सूक्ष्मत्व एवं अणुतरत्व किस प्रकार सङ्गत हो सकते हैं? सूत्रकार कहते हैं—*'निचायत्वात्'*—परिमितत्व रूपमें अर्थात् अल्पस्थानस्थितत्व रूपमें जो निर्देश है, वह हृदयमें उपास्यताके लिए है, हृद्-देशमें परमेश्वरकी उपासना करनी हो, तो वह विभु रूपमें नहीं की जा सकती, सूक्ष्म रूपमें ही हो सकती है। वास्तवमें परमात्मा विभु भी हैं और सूक्ष्मतम भी हैं। इस विषयमें सिद्धान्त यह है—व्यापक होनेपर भी उन परमेश्वरका जो अणुत्व और *'सभूमिं सर्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्'*—इस श्रुतिके द्वारा ज्ञात प्रादेश परिमितत्व (एक प्रदेशमें स्थिति) कहीं-कहीं गौण अर्थात् लाक्षणिक है और कहीं-कहीं मुख्य है। इनमें जो प्रथम गौण अणुत्व है, उसके लिए कह रहे हैं—चिन्तन अथवा ध्यानका स्थान जो हृदय है, उसका परिमाण अति क्षुद्र है, इसीसे स्मर्यमाण उन श्रीहरिमें आश्रय-मानानुसार क्षुद्रत्व (अणुत्व) की कल्पना की गयी है—यहाँ यह आश्रय-आश्रयीकी ऐक्य रूपमें लक्षणा है। अब जो द्वितीय पक्ष—मुख्य अणुत्व अथवा प्रादेशपरिमितत्व है, उसके लिए कहते हैं—श्रीहरि सर्वव्यापी होकर भी भक्तोंके प्रति अनुग्रहार्थ अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे सूक्ष्म, स्थूल आदिरूपोंमें अभिव्यक्त होते रहते हैं, अतः एक ही तत्त्व भक्तोंमें विभिन्न प्रकारसे प्रकाशित होता है। श्रुति-वाक्य है—*'एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति'* (गो॰ता॰ १/२१)—एक होकर भी वह बहुरूपोंमें प्रकाशित होते हैं। अतएव उनका वास्तव विभुत्व रहनेपर भी अचिन्त्यशक्तिके कारण अणुत्वादि भी सम्भव है। यह सब विचार सूत्रकार वैश्वानराधिकरणमें सुस्पष्ट रूपसे कहेंगे। जो अणुपरिमाण अथवा प्रादेशमात्र परिमाण

स्वरूप हैं, उनमें विभुत्व-उक्ति भी सङ्गत है। इसलिए वे एक ही समय सर्वत्र आविर्भूत हो रहे हैं। युक्ति यह है कि यदि वे विभु न होते, तो एक ही समय समस्त जीवोंके हृदयोंमें अणुरूपमें प्रकाश पाते भी कैसे? ॥ ७ ॥

सूक्ष्मा-टीका—अर्भकेति। अर्भकमल्पमोकः स्थानं यस्य तत्त्वादित्यर्थः। व्योमवदस्येति। अस्यान्तर्हृदयवर्त्तिब्रीह्याद्यतिसूक्ष्मस्यात्मन इत्यर्थः। तद्युग्मं हेतुद्वयम्। मितत्वेन परिच्छिन्नत्वेन। अयमत्रेति। भाक्तं गौणम्। तस्मिन् विभौ। तथा तथेति। अणुत्वेन प्रादेशमात्रत्वादिना चेत्यर्थः। तथैव युगपदिति। सर्वेषु लोकेषु मिथोऽतिदुराः संजातप्रेमाणो हरिभक्तास्तिष्ठन्ति। तैर्युगपद्ध्यायमानोऽण्वादिरूपो हरिरेकदैव तेषु सन्निहितः प्रत्यक्षीभवतीति प्रादेशमात्रादेश्च द्विभुजनराकारश्चतुर्भुजदेवाकारश्चेत्यादिपदात्। न च तत्र तत्र धावन् सन्निदधातीति शक्यं भणितुं यौगपद्यासम्भवात् तस्माद्विभुरेकः सोऽचिन्त्यशक्त्याणुत्वादिधर्मा सर्वत्र स्फुरतीति॥ ७॥

सूक्ष्मा-सार—अल्प ओकः—अल्प स्थान आश्रय है जिनका, इसलिए। व्योमवदस्य इत्यादि, यहाँ अस्य पदका अर्थ है—जो हृदयमें ब्रीहि-धान्य, अर्थात् जौ-से भी अति सूक्ष्म हैं, ऐसे उन परमेश्वरकी। *'कथं तर्हि तद्युग्मं संगच्छते'*—तब किस प्रकारसे श्रुतिमें जो दो-कारण कहे गये हैं कि 'ब्रीहिसे भी सूक्ष्मतरत्व और अणुतरत्व'—सङ्गति होगी? समाधान—*'मितत्वेनोक्तिर्निचायत्वात्'*—उन्हें मितत्वरूपमें अर्थात् परिच्छिन्नत्वरूपमें जो कहा गया है, वह हृदयमें उपास्यकी दृष्टिसे कहा गया है। निष्कर्ष यह है—कहीं भाक्त अर्थात् गौण अणुत्व कहा गया, उसका तात्पर्य यह है कि उन विभुत्वमें अणुत्व लाक्षणिक है। वह *'तथा तथा अभिव्यक्तेः'*—कहीं अणुत्वरूपमें अथवा कहीं प्रादेश परिमितरूपमें है। *'युगपत् सर्वत्राविर्भावात्'*—समस्त जगत्के मध्य प्रेमिक हरिभक्तगण परस्पर विच्छिन्न रूपसे कितनी दूर-दूर हैं, वे सब एक समय श्रीहरिका ध्यान करते हैं, इसलिए वे अणु इत्यादि परिमाणसम्पन्न श्रीहरि सबके बीचमें एक ही समय प्रत्यक्ष होते हैं। *प्रादेशमात्रादेश्च*—प्रादेश परिमितरूपमें आदि पदके द्वारा कहीं (श्रीरामके उपास्य होनेपर) द्विभुज नराकारमें, और श्रीविष्णुमूर्त्ति होनेपर चतुर्भुज देवाकारमें हैं—यह जानना चाहिये। किन्तु वहाँ-वहाँ वे द्रुतवेगसे जाकर उपस्थित होते

हैं—यह कहा नहीं जाता, क्योंकि उनमें यौगपद्य (समकालीनत्व) नहीं रहता। अतएव निष्कर्ष यह है कि एक ही परमेश्वर सर्वव्यापक हैं, वे अचिन्तनीय शक्तिके प्रभावसे अणुत्व, प्रादेशमात्रत्व इत्यादि स्वरूप ग्रहण करके सर्वत्र प्रकाश पाते हैं॥७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि पूर्वपक्ष करे कि जब श्रुतिमें वर्णन है कि जो आत्मा ब्रीहि-धान्य अर्थात् जौकी अपेक्षा भी सूक्ष्म रूपसे अन्तर्हृदयमें अवस्थित रहती है, तब उसे ब्रह्म नहीं कहा जा सकता। इस पूर्वपक्षके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं—श्रुतिमें जिस प्रकार परमात्माके अणुत्वके विषयमें कहा जाता है, उसी प्रकार विभुत्वके अर्थात् आकाशके समान सर्वव्यापित्वके विषयमें भी कहा जाता है। भक्तगण हृदयमें श्रीभगवान्‌की उपासना करते हैं—इस रूपमें वे भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे प्रादेशमात्र रूपमें हृदयमें आविर्भूत होते हैं। वास्तवमें तो वे विभु भी हैं और सूक्ष्मतम भी हैं। श्रुतिमें देखा जाता है—वे अणुसे भी अणुतम हैं और महान्‌से भी महान्तम हैं, वे एक होकर भी अनेक रूपोंमें प्रकाशित होते हैं। इसलिए वे अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे युगपत् अणुत्व एवं विभुत्वरूप प्रकाशित करते हैं।

श्रीमद्भागवत (९/१८/५०) में वर्णन है,

तमेव हृदि विन्यस्य वासुदेवं गुहाशयम्।
नारायणमणीयांसं निराशीरयजत् प्रभुः॥

अर्थात् भगवान् वासुदेव सभी प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे विराजमान हैं। वे सूक्ष्म एवं निर्लेप होनेके कारण दुर्विज्ञेय है। वे सभीके आश्रयस्वरूप है। उन्हीं सर्वशक्तिमान भगवान् वासुदेवको अपने हृदयमें धारण करके राजा ययाति समस्त भोग वासनाओंसे उपरत हो गये और इस प्रकार निष्काम भावसे उन्होंने भगवान्‌की आराधना की।

इस स्थलपर अणीयांसं पदके लिए श्रीधर स्वामी कहते हैं—*सूक्ष्मत्वात् निर्लेपत्वात् अविज्ञेयं न तु अणुपरिमाणम्।* अर्थात् सूक्ष्म होनेसे, निर्लेप होनेसे वे अविज्ञेय हैं, अणु-परिमाणसे नहीं।

श्रील चक्रवर्तीपादने 'वासुदेव' शब्दके लिए कहा है—*सर्वत्रैवासौ वसतीत्यतः प्रयासाभावः।* अर्थात् वे अनायास ही सर्वत्र व्याप्त हैं॥७॥

अवतरणिका भाष्य—ननु जीववत् परमात्मनोऽपि शरीरान्तर्वर्त्तित्वेन तत् सम्बन्धकृतः सुखदुःखोपभोगस्तेन सह समः स्यादिति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—यदि जीवके समान परमेश्वर भी हृदयके मध्य रहते हैं, तब शरीरके सम्बन्धके कारण उनका भी सुख-दुःख भोग होना चाहिये। इससे जीव एवं परमेश्वर समान ही हैं, यह यदि कहो तो सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र—सम्भोगप्राप्तिरितिचेन्न वैशेष्यात्॥८॥

सूत्रार्थ—'सम्'—सह अर्थात् जीवके साथ, भोगप्राप्तिः—सुख-दुःखकी अनुभूति परमेश्वरकी भी जाननी होगी, 'इति चेत्'—यदि यह आपत्ति करते हो, तो 'न' ऐसा नहीं है, यह सङ्गत नहीं है, कारण? 'वैशेष्यात्'—दोनों (जीव एवं परमेश्वर) का विशेषत्व है, अर्थात् जीव देहसम्बन्धी होनेसे कर्माधीन है, किन्तु ईश्वर देहके मध्य रहते हुए भी कर्माधीन नहीं हैं, इसलिए उनका भोग सम्भव नहीं है॥८॥

सूत्रानुवाद—यदि कहो कि जीवके साथ एक स्थान (हृदय) में स्थित परमात्माको भी जीवके समान सुख-दुःख आदिभोगकी प्राप्ति होगी, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जीवकी अपेक्षा परमात्मामें विशेषता है॥८॥

गोविन्दभाष्य—इह समिति सहार्थे वर्त्तते संवादशब्दवत्। सम्भोगः सह-भोगस्तत्प्राप्तिर्नेश्वरस्य। कुतः? वैशेष्यात्। अयमभिप्रायः। न हि देहसम्बन्धमात्रं तदुपभोगहेतुः किन्तु कर्मपारतन्त्र्यमेव। तच्च न तस्यास्ति *'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'* (श्वे॰ ४/६) इति श्रवणात्। *'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा'* (श्रीगी॰ ४/१४) इति स्मृतिश्चेति। कठवल्यां पठ्यते। *'यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र स'* इति॥८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रके अन्तर्गत जो 'सम' अव्यय है, उसका अर्थ है 'सहित', जिस प्रकार सम्वादका अर्थ है 'सह-कथन'। अतः सम्भोग शब्दका अर्थ है—'सह भोग'—वह ईश्वरके द्वारा नहीं हो सकता। किसलिए? इसका कारण है—'वैशेष्यात्'—जीव और परमेश्वरके

भोग्य विषयमें विशेषत्व है। बात यह है कि सुख-दुःखादिके उपभोगके कारण ही देह-धारण की जाती हो, ऐसा नहीं है, बल्कि इसका मूलभूत कारण है—कृत कर्मोंका अधीनत्व। जीव कर्मके अधीन है, इसलिए सुख-दुःख भोग करता है। ईश्वरका वैसा नहीं है, क्योंकि उनका कर्मके साथ सम्बन्ध नहीं है, कर्मफलकी स्पृहा भी नहीं है। ईश्वर सुख-दुःखका भोग नहीं करते। श्रुति कहती है—*'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्योऽभिचाकशीति॥'* (श्वे॰ ४/६) अर्थात् जीव एवं परमेश्वररूप दो पक्षी सह भावसे एक शरीररूप पीपलके वृक्षपर वास करते हैं, उनमें जीव उस स्वादु पीपल फलको खाता है, किन्तु परमेश्वर उसे न खाकर साक्षी रूपसे विराजमान रहते हैं। इस श्रुतिके समान स्मृति धर्मग्रन्थ गीता (४/१४) की भी उक्ति है—*'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा'*—मुझे कर्मफल लिप्त नहीं करते और न ही मेरी कर्मफलमें आकांक्षा है। कठोपनिषद (२/२५) में भी कहा गया है—ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दोनों जिनके (भोगरूप) अन्न हैं अर्थात् भोजन है और मृत्यु जिनका उपसेचन घी आदि व्यञ्जन है, वे परमात्मा कहाँ रहते हैं, कौन जान सकता है? ॥ ८ ॥

सूक्ष्मा-टीका—वैशेष्यादिति स्वार्थे ष्यण्। तदुपेति। तच्छब्दः सुखदुःखे परामृशति। तस्येश्वरस्य। पूर्वं जीवस्य यथा भोक्तृत्वमुक्तं नेश्वरस्य तथात्तृत्वमपि जीवस्यैवास्तु न त्वीश्वरस्य इति दृष्टान्तसङ्गत्याह यस्येति। अस्यार्थः—उभे जात्या प्रसिद्धे ब्रह्मक्षेत्रे यस्य ईश्वरस्य ओदनोऽन्नं भवतः सर्वमारको मृत्युर्यस्योपेसेचनमोदन-भोजनोपयोगि घृतव्यञ्जनादि भवति तं परेशं *'नाविरतो दुश्चरितात्'* इत्यादि श्रुत्युपदिष्टोपायवान् यथा वेद इत्थमन्यस्तुपायशून्यो न वेदेति काक्वार्थः॥ ८॥

सूक्ष्मा-सार—सूत्रोक्त वैशेष्य शब्द विशेष शब्दके उत्तरमें स्वार्थमें ष्यन् और पाणिनिके मतमें 'षञ्' प्रत्ययसे निष्पन्न है। अतएव वैशेष्य और विशेष एक ही अर्थ है। *'न हि देह सम्बन्धमात्रं तदुपभोग हेतुः'*—तत् शब्दका अर्थ है—सुख-दुःख। तच्च न तस्यास्ति तत्—कर्मपरतन्त्रता, तस्य—ईश्वरकी, नहीं है। अतः भाष्यमें कठोपनिषद (२/२५) से उद्धृत श्रुति *'यस्य ब्रह्म च .... वेद यत्र सः'*—इस श्रुतिके उत्थानमें प्रसङ्ग दिखा रहे हैं—पूर्वमें जिस प्रकार जीवके सुख-दुःखका

भोक्तृत्व कहा गया, ईश्वरका नहीं, उसी प्रकार अत्तृत्व अर्थात् भक्षकत्व भी जीवमात्रका ही है, ईश्वरका नहीं। इस श्रुतिमें यह दृष्टान्त है कि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय—दो प्रसिद्ध जातियाँ ईश्वरके अन्नरूपमें हैं और सबकी मृत्युके कारण यम उनके अन्न-भोजनके उपकरण घृत व्यञ्जनादि हैं, ऐसे उन परमेश्वरको *'नाविरतो दुश्चरितात्'*—अविरत दुश्चरित व्यक्ति नहीं जान सकते, इत्यादि श्रुतिमें उक्त उपाय विशिष्ट अर्थात् शास्त्रोपदिष्ट पथपर चलनेवाले व्यक्ति जान सकते हैं, उपायशून्य दूसरे व्यक्ति नहीं॥ ८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई पूर्वपक्ष करे कि परमात्मा जीवके समान शरीरके अन्तर्वर्त्ती हैं, अतः जीवके समान उनका भी तो शरीर-सम्बन्ध-जनित सुख-दुःखादि भोग हो सकते हैं? इसके लिए सूत्रकारने प्रस्तुत सूत्रमें कहा है—नहीं, यह नहीं हो सकता, क्योंकि जीवसे परमात्माका वैशिष्ट्य है। सुख-दुःखादि भोगका हेतु केवलमात्र शरीरसम्बन्ध नहीं है। कृत कर्मोंका अधीनत्व ही उसका मूलीभूत कारण है। यहाँ जीवकी कर्मवश्यताके कारण फलभोग है, किन्तु परमेश्वर कर्मातीत हैं। इसलिए उनके फलभोगका प्रश्न ही नहीं है।

श्रीमद्भागवत (१०/८७/३८) में श्रुतियोंने कहा है—

स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः॥

अर्थात् (संसारका मिथ्यात्व सिद्ध हो जानेपर जीव एवं ईश्वरका भेद प्रदर्शित करते हुए कहा जा रहा है) यह जीव मायासे मोहित होकर जब अविद्याको अपना लेता है, तब देह, इन्द्रियादि और गुणोंसे उत्पन्न वृत्तियोंको अपना मानकर उनमें फँस जाता है। उसके स्वाभाविक आनन्दादि गुण ढक जाते हैं और वह बार-बार जन्म-मृत्यु भोगता है। आप सदा-सर्वदा नित्य ऐश्वर्यसे सम्पन्न हैं। जिस प्रकार सर्प केंचुलीका त्याग करता है, आप भी उसी प्रकार अविद्याकी उपेक्षा करके अपरिमित ऐश्वर्यके अधिकारी रूपमें अणिमादि

आठ प्रकारकी विभूतियोंसे युक्त परम ऐश्वर्य पदपर विराजमान रहते हैं।

इस श्लोकको टीकामें श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर कहते हैं—

'स तु जीवः यत् यस्मादजया अविद्यया अजां मायां अनुशयीत आलिङ्गेत उपाधिलिप्तो भवेदित्यर्थः। अतएव गुणानां देहेन्द्रियादींश्च जुषन् सरूपतां तत्साधर्म्यं भजति। तदनु तदनन्तरं अपेतभगः पिहितानन्दादिगुणः सन् मृत्युं संसारं भजति प्राप्नोति। ननु, चिद्रूपत्वाविशेषादहमपि कथमविद्यया लिङ्गितो न भवेयमिति चेत् मैवं जीवः खलु चित्कणः त्वन्तु चिन्महापुञ्जः, ताम्र-पित्तल-स्वर्णादि-तेज एव तमसा आवृतं भवेन्न तु सूर्यतेजः।'

अर्थात् जीव अविद्याके द्वारा मायाका आलिङ्गन करके उपाधिके साथ लिप्त होता है। अतएव गुणोंकी अर्थात् देह-इन्द्रिय आदिकी सेवा करके उनके ही स्वरूपके समान धर्मको प्राप्त होता है, इसके बाद आनन्दादि गुणोंसे रहित होकर मृत्युके संसारको प्राप्त होता है। प्रश्न यह है कि जीव चिद्रूपता अविशेषके कारण लिप्त होता है अथवा अविद्या द्वारा? ऐसा कहा नहीं जा सकता, क्योंकि जीव निश्चय ही चित्कण है। हे भगवन्! आप महान चित्पुञ्ज हैं। ताम्र, पीतल, स्वर्णादिका तेज भी अन्धकारसे आवृत हो जाता है, किन्तु सूर्यका तेज अन्धकारसे आवृत नहीं होता।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत (७/७/४७-४८) में ही वर्णन है,

कर्माण्यारभते देही देहेनात्मानुवर्तिना।
कर्मभिस्तनुते देहमुभयं त्वविवेकतः॥

तस्मादर्थाश्च कामाश्च धर्माश्च यदपाश्रयाः।
भजतानीहयात्मानमनीहं हरिमीश्वरम्॥

अर्थात् कर्म समाप्त होनेपर भोगोंकी भी समाप्ति हो जाती है—ऐसी कोई सम्भावना नहीं है। इसका कारण यह है कि जीव सूक्ष्म शरीरको आत्मा मान लेता है। इसी अज्ञानके कारण कर्म करता है और कर्मोंके कारण फिर जन्म लेता है। इस प्रकार जन्म-मरणकी परम्परासे कभी मुक्ति नहीं मिलती। कर्मसे देह और देहसे कर्म—यही

चक्र चलता रहता है। अतः तुमलोग भक्तोंका अनुसरण करते हुए किसी भी प्रकारकी कामना मत करो। पूर्ण रूपसे निष्काम होकर सर्वेश्वर श्रीहरिकी उपासना करो, क्योंकि धर्म, अर्थ और काम उनके ही आश्रित हैं॥ ८॥

२—अत्ताधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—अत्र कश्चिदोदनोपसेचनशब्दसूचितोऽत्ता प्रतीयते। स किमग्निरुत जीवः परो वेति भवति इति संशयः। विशेषानिश्चयात् त्रयाणां प्रश्नोत्तरसत्त्वाच्च किं तावत् प्राप्तं अग्निरत्तेति *'अग्निरन्नाद'* (बृ॰आ॰ १/४/६) इति श्रुतेः प्रसिद्धेश्च। जीवो वा भवेत् अदनस्य कर्मनिमित्तत्वात् सकर्मणो जीवस्य तत् सम्भवति न तु कर्मशून्यस्य। एवमभिप्रेत्य श्रुतिरपि तयोरदनानदने दर्शयति *'तयोरन्यः पिप्पलम्'* (श्वे॰ ४/६) इत्यादिना। तस्मात् जीवोऽयमिति प्राप्तौ—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—*'यस्य ब्रह्म च क्षेत्रज्ञ'* इत्यादि स्थलपर अन्न एवं उपकरण शब्दके द्वारा कोई एक अन्न-भोक्ता सूचित हो रहा है, इसमें संशय यह है कि वह कौन है—अग्नि? अथवा जीव? अथवा परमेश्वर? यहाँ पूर्वपक्षी कहते हैं—जब विशेष निश्चयकी बात नहीं है और उक्त तीनों ही जब प्रश्नके उत्तरमें हो सकते हैं, तो अग्नि ही अत्ता अर्थात् भक्षक कही जायेगी, क्योंकि *'अग्निरन्नादः'* (बृ॰आ॰ १/४/६)—'अग्नि अन्न-भक्षक है'—श्रुति यह कह रही है और जो अग्नि अन्नका भोजन करती है, वह जठराग्निरूपमें प्रसिद्ध है। अथवा 'अत्ता' (भोक्ता) जीव भी हो सकता है, क्योंकि भोजन कर्मजनित होता है, अतएव कर्माधीन जीवके द्वारा ही यह भोजन सम्भव है, कर्मरहित परमात्माके द्वारा यह सम्भव नहीं है। इस अभिप्रायसे *'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'* श्रुति भी जीव एवं परमात्मामेंसे एकका अन्न-भोक्तृत्व और दूसरेके (ईश्वरके) भोक्तृत्वका अभाव व्यक्त कर रही है, अतएव इस श्रुतिमें उक्त अन्नका भोक्ता जीव ही है, इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र—अत्ता चराचरग्रहणात्॥ ९॥

सूत्रार्थ—'अत्ता'—अन्नभक्षक (भोक्ता) 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवतः ओदनः' इत्यादि श्रुतिके द्वारा ज्ञापित भक्षकका तात्पर्य न तो

अग्नि है और न ही जीव, किन्तु परमेश्वर हैं। कारण—'चराचरग्रहणात्'—वे समस्त चराचरको ग्रहण करते हैं। अर्थात् वे ब्रह्म और क्षत्र इत्यादि समग्र स्थावर-जङ्गमात्मक विश्वके भक्षक (संहर्त्ता) हैं। परमेश्वरके अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा हो नहीं सकता॥ ९॥

सूत्रानुवाद—यहाँ अत्ता परमात्मा ही हैं, क्योंकि उनके द्वारा अदनीय (भक्षणीय) रूपमें चराचरका ग्रहण है॥ ९॥

गोविन्दभाष्य—पर एवात्ता कुतः? चराचरेत्यादेः। ब्रह्मक्षत्रोपलक्षितं कृत्स्नं जगत् मृत्यूपसिक्तमन्नाद्यत्वेन गृहीतं न हि तादृशस्य तस्य अत्ता परस्मादन्यः सम्भवेत्। उपसेचनं खलु स्वयमद्यमानं सदितरादने निमित्तम्। मृत्यूपसिक्तनिखिलजगदत्तृत्वं नाम संहर्त्तृत्वमेव। तच्च परमात्मैकान्तमेव प्रसिद्धम्। न चानश्नन्निति (श्वे॰ ४/३) श्रुत्या तस्य प्रतिषेधः स्वाभाविकत्वात् किन्तु कर्मफलादनस्यैवनिषेधेति सुष्ठूक्तं परोऽत्तेति॥ ९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस श्रुतिके द्वारा बोधित अत्ता अर्थात् भक्षक परमेश्वर ही हैं। किसलिए? *चराचरग्रहणात्*—ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं समस्त विश्व जो मृत्युसे आक्रान्त है, वही उस परमेश्वरका अन्न (भोज्य) है और यही विश्व अन्न-भक्षण-उपकरणरूपमें गृहीत है, ऐसे विश्वका भक्षक अर्थात् संहर्त्ता परमेश्वरके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं हो सकता। उपसेचन पदार्थ स्वयंमें भुक्त (भोज्य) तो होता ही है, वह दूसरी वस्तुओं (भोज्य पदार्थों) के भोजनमें भी सहायता करता है। अतएव मृत्युरूपमें उपसेचन-वस्तुओंके साथ-साथ सम्पूर्ण जगत्का ग्रास-कर्त्तृत्व ही संहार-कर्त्तृत्वरूपमें (अर्थात् समस्त वस्तुओंके भोक्ताको ही जगत्के संहार-कर्त्तारूपमें) जानना चाहिये। संहारकर्त्ता एकमात्र परमेश्वर श्रीहरिनिष्ठ हैं—यही प्रसिद्ध है। यदि कहो *'अनश्नन्'* इत्यादि श्रुतिके द्वारा उन परमेश्वरके भोक्तृत्वका निषेध किया गया है, क्योंकि ईश्वरके भोक्तृत्वका अभाव स्वभावसिद्ध है तो यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जब परमेश्वरके भोक्तृत्वके अभावकी बात कही जाती है, तब उसका तात्पर्य होता है कि उनमें कर्म-फल-भोक्तृत्वका अभाव है। अतएव ठीक ही कहा गया है कि परमेश्वर अत्ता (भोक्ता) हैं॥ ९॥

सूक्ष्मा-टीका—अत्र कश्चिदिति। अत्ता भक्षकः। सदितरेति। उपसेचनेतरस्यान्नादेरदने गलाधःकरणे निमित्तं हेतुरित्यर्थः। परमात्मैकान्तं तन्मात्रवर्त्ति। तस्य निखिलजगत्संहर्त्तृत्वरूपस्यादनस्य॥ ९॥

सूक्ष्मा-सार—*'अत्र कश्चित्'* इत्यादि—यह श्रुतिबोधित अत्ता भक्षक अर्थमें है। सदितरेति—उपसेचन घृतादि उपकरण अन्न इत्यादिके भक्षणके अर्थात् गलेसे नीचे उतारनेके हेतु हैं। *'परमात्मैकान्तं'*—एकमात्र परमेश्वर 'तस्य' इस सम्पूर्ण जगत्के संहारकर्त्तारूपमें भक्षणके प्रतिपाद्य विषय हैं॥ ९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कठवल्लीमें देखा जाता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय जातियाँ जिनका ओदन हैं अर्थात् अन्न इत्यादि श्रुतिमन्त्रमें जिन एक अन्न-भोक्ताके विषयमें सूचित होता है, वे कौन हैं, अग्नि? अथवा जीव? अथवा परमेश्वर? यहाँ पूर्वपक्षवादी यदि कहें—अग्नि, तब इसका कारण कोई विशेष रूपसे निश्चित नहीं है। जठराग्निके द्वारा अन्नभोजनकी बात प्रसिद्ध ही है। अथवा कर्मफल-भोक्ता जीवके द्वारा भी भोजन सम्भव है, किन्तु परमेश्वर अभोक्ता हैं। कारण यह है कि श्रुति 'अनश्नन्' द्वारा श्रीभगवान्के अभोजनके विषयमें ही ज्ञापित कर रही है। इस पूर्वपक्षके निराकरणके लिए सूत्रकार वर्त्तमान सूत्रमें बतला रहे हैं—अत्ता अर्थात् भक्षकरूपमें अग्नि अथवा जीव नहीं, एकमात्र ब्रह्म ही भोक्ता हैं। समस्त चराचर विश्वके ग्रहण अर्थात् संहार करनेके कारण वे अत्ता हैं। परमेश्वरके अतिरिक्त अन्य कोई विश्वका संहारकर्त्ता नहीं हो सकता।

श्रीमद्भागवत (६/९/३३) में देवताओंकी उक्तिमें द्रष्टव्य है—*'दुरवबोध इव तवायं विहारयोगो यदशरणोऽशरीर इदमनवेक्षितास्मत्समवाय आत्मनैवाविक्रियमाणेन सगुणमगुणः सृजसि पासि हरसि।'*

अर्थात् आप किसी भी आश्रय अथवा प्रकृत शरीरसे रहित हैं। आपको हमारी किसी भी प्रकारकी सहायताकी अपेक्षा नहीं है। आप इस जगत्के उपादान कारण होकर भी निर्विकार एवं आत्मस्वरूप हैं तथा स्वयं निर्गुण होनेपर भी इस मायागुणमय विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार करते हैं। आपकी लीलाका रहस्य समझना अत्यन्त कठिन है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने टीकाके प्रारम्भमें लिखा है—*'किन्तु स्वीय वैकुण्ठलोके सदा विहरन्नात्मारामो गुणातीतोऽपि प्रपञ्चलोके अस्मदादि दुर्ज्ञेयप्रकारैः सृष्ट्यादिभिर्विहरसीत्याहुः।'*

और भी, अपने वैकुण्ठलोकमें सदा विहार करते हुए भी आत्माराम और गुणातीत होनेपर भी आप इस प्रपञ्चलोकमें सृष्टि आदिके द्वारा विहार करते हैं, जो हमारे लिए दुर्ज्ञेय है।

श्रीमद्भागवतका *'जन्माद्यस्य'* श्लोक भी इस प्रसङ्गमें आलोच्य है।

अन्यत्र भी देवताओंने भगवत्-स्तवमें कहा है—

त्वं मायया त्रिगुणयात्मनि दुर्विभाव्यं
व्यक्तं सृजस्यवसि लुम्पसि तद्गुणस्थः।

(श्रीमद्भा॰ ११/६/८)

हे अजित! आप सात्त्विक आदि मायिक गुणोंके नियन्ताके रूपमें अवस्थित होकर अपनी त्रिगुणमयी मायाके द्वारा आधारभूत स्वस्वरूपमें ही महतत्त्व आदि अचिन्तनीय प्रपञ्चकी सृष्टि, पालन और संहार कर रहे हैं; अथच इन कर्मोंके द्वारा आप स्वयं लिप्त नहीं हैं।

ब्रह्मतर्कमें भी देखा जाता है—

अन्यस्मात् सृष्टिसंहारौ स्थितिश्च परमात्मनः।
निरूपिता न विद्वद्भिः प्रमाणाभावतो हरेः॥

अर्थात् सृष्टि, स्थिति एवं संहार परमात्मा श्रीहरिके द्वारा सम्भव हैं, अन्यके द्वारा इनकी सम्भावना नहीं, क्योंकि प्रमाणका अभाव है। विद्वानोंने यह निरूपण किया है।

श्रीचैतन्यचरितामृत (आ॰ ५/८०) में भी,

सेइ पुरुष सृष्टि-स्थिति-प्रलयेर कर्त्ता।
नाना अवतार करे, जगतेर भर्त्ता॥

अर्थात् वे ही श्रीमहाविष्णु प्रथम पुरुष जगत्की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय करनेवाले हैं, लीलावतार, युगावतार, मन्वन्तरादि अनेक अवतार धारण कर वे जगत्की रक्षा करते हैं।

इस प्रकार यहाँ भोजनका अर्थ संहारके अतिरिक्त कुछ और नहीं है एवं इस जगत्का उपसंहारात्मक भोक्तृत्व परमात्माका ही निश्चित है॥ ९॥

सूत्र—प्रकरणाच्च॥ १०॥

सूत्रार्थ—'प्रकरणात्'—प्रकरणवश परमेश्वर ही अत्ता हैं, 'च'—स्मृति शास्त्रोंके निर्देशानुसार भी परमेश्वरको अत्ता कहा जाता है॥ १०॥

सूत्रानुवाद—एक ही प्रकरणमें जिस प्रकरण (प्रसङ्ग) की प्रस्तावना की जाती है, उसका ही समर्थन किया जाता है। अतः स्मृतिशास्त्रके निर्देशसे परमेश्वर ही अत्ता हैं॥ १०॥

गोविन्दभाष्य— *'अणोरणीयान् महतो महीयान्'* (कठ॰ १/२/२०) इत्यादिभिर्हि पर एव प्रकृतः *'अत्तासि लोकस्य चराचरस्य'* इति स्मृतेरपि चेन समुच्चीयते॥ १०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'अणोरणीयान् महतो महीयान्'* (कठ॰ १/२/२०) अर्थात् 'वे परमाणुसे भी अणुतर-सूक्ष्मतर हैं और महत्से भी महत्तर हैं' इत्यादि श्रुतिके द्वारा परमेश्वर ही प्रक्रान्त (प्रतिपाद्य विषय) हैं और *'अत्तासि लोकस्य चराचरस्य'*—'तुम स्थावर-जङ्गमात्मक विश्वके संहारक हो'—इस स्मृति-वाक्यके द्वारा परमेश्वर ही अत्ता हैं। सूत्रस्थ 'च' अव्यय शब्दके द्वारा बोधित होता है कि यह स्मृतिवाक्य भी प्रकरणके साथ समुच्चित (वाक्योंका संयोग) हुआ है। इस प्रकार प्रकरणके आधारपर भी ब्रह्मका बोध होता है॥ १०॥

सूक्ष्मा-टीका—अणोरित्यादि सुगमम्॥ १०॥

सूक्ष्मा-सार—अणोरित्यादि भाष्य सुगम है॥ १०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त प्रतिपाद्य विषयको प्रतिपन्न (प्रमाणित) करनेके लिए सूत्रकारने यह सूत्र प्रस्तुत किया है। इस प्रकरणमें ब्रह्मका प्रसङ्ग ही है, क्योंकि अणोरणीयान् श्रुतिमें ब्रह्मका ही प्रसङ्ग उल्लिखित है। इसके अतिरिक्त स्मृतिमें भी *'अत्तासि लोकस्य चराचरस्य'* रूपमें कथित होनेसे परमेश्वरका ही जगत्-संहारकरूपमें निर्णय हुआ है।

श्रीगीता (११/३२) में श्रीभगवान्ने कहा है—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।

अर्थात् मैं लोकोंका नाश करनेवाला अत्युत्कट काल हूँ और लोकोंका संहार करनेके लिए ही अभी प्रवृत्त हुआ हूँ।

श्रीमद्भागवत (९/४/५३) में ब्रह्माजीके भी वचनोंमें है,

स्थानं मदीयं सहविश्वमेतत्
क्रीडावसाने द्विपरार्धसंज्ञे।
भ्रूभङ्गमात्रेण हि संदिधक्षोः
कालात्मनो यस्य तिरोभविष्यति॥

जब मेरी दो परार्द्धकी आयु समाप्त होगी और कालस्वरूप भगवान् अपनी यह सृष्टिलीला समेटने लगेंगे और इस जगत्को जलाना चाहेंगे, उस समय उनके भ्रू-भङ्गीमात्रसे यह सारा संसार और मेरा यह लोक भी लीन हो जायेगा॥ १०॥

३—गुह्याधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—तत्रैव। (कठ॰ १/३/१) *'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिनााचिकेताः'* इति श्रुतम्। तत्र कर्मफल-भोक्तृ जीवस्य सद्वितीयत्वमभिधीयते। द्वितीयश्च बुद्धिः प्राणो वा परमात्मेति विचिकित्सायां बुद्धादेर्जीवोपकरणत्वादृतपानरूपः कर्मफलभोगः कथञ्चित् सम्भवति, न तु परमात्मनः तस्य तन्निषेधात्। तस्मादसौ बुद्धिः प्राणो वेति प्राप्तौ—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसी कठोपनिषद (१/३/१) में यह भी उल्लिखित है कि *'ऋतं पिबन्तौ ... त्रिनाचिकेता'* इत्यादि। दो पुरुष (जीवात्मा और परमात्मा) सुकृति (पुण्य कर्म) स्वरूप देहरूप लोकमें प्रविष्ट होकर पुण्यवश अवश्य ही प्राप्त होनेवाले कर्मफलका भोग करते हैं और ईश्वरके योग्य श्रेष्ठ निवासस्थान हृदयमें स्थित गुहाके मध्य (अर्थात् विज्ञानमय और आनन्दमय कोष) में प्रविष्ट होकर छाया एवं रौद्र (धूप) के समान परस्पर विरुद्ध स्वभावका अवलम्बन किये हुए हैं—ब्रह्मविद्गण इस प्रकारसे कहते हैं। और जो पञ्चाग्निसाध्यतपपरायण अर्थात् कर्मी और त्रिनाचिकेत अग्निके उपासक (नाचिकेतवाक्य अध्यायमें अर्थज्ञानसे सम्पन्न और अनुष्ठाकारी) हैं, वे भी इसी प्रकारसे कहते हैं, इस प्रकार श्रुतिमें कहा गया है। श्रुतिमें यह भी उल्लेख है कि जीव जो कर्मफलका भोग करता है, वह द्वितीय (व्यक्ति) का सहचर है। अब यह संशय होता है कि यह

द्वितीय सहचर है कौन? बुद्धि है या प्राण है? अथवा परमेश्वर हैं? पूर्वपक्षीके इस संशयके समाधानके लिए कहते हैं—यह या तो बुद्धि है या प्राण है। पुण्यके परिणामरूप कर्मफल-भोगकी सम्भावना बुद्धि और प्राणकी तो सम्भव है, किन्तु परमात्मामें वह सम्भव नहीं है, क्योंकि श्रुति परमात्माके कर्मफल-भोगका प्रतिषेध कर रही है। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वं ब्रह्मक्षत्रपदस्य मृत्युपदसान्निध्यात् यथा प्रपञ्चपरत्वं तथेहापि छन्दस्यसन्निहितगुहाप्रवेशादिना बुद्धिप्राणपरत्वमस्त्विति दृष्टान्तसङ्गत्याह—तत्रैवेति। पूर्वपक्षे बुद्धिप्राणभिन्न जीवज्ञानं फलम्। सिद्धान्ते तु जीवभिन्नपरमात्मज्ञानमिति बोध्यम्। ऋतमित्यस्यार्थः। ऋतमावस्यकं कर्मफलं पिबन्तौ भुञ्जानौ जीवेशौ छत्रिणो गच्छन्तीतिवत् एकस्य जीवस्य पानकर्त्तृत्वेन ईशस्यापि तत्त्वेन व्यपदेशः। सुकृतस्य पुण्यस्य कार्ये देहरूपे लोके स्थितौ। पराद्ध्र्ये परस्येशस्यार्द्धं स्थानमर्हतीति तथा हृदीत्यर्थः। कीदृशे परमे श्रेष्ठे। या गुहा नभोलक्षणा तां प्रविष्टौ छायातपौ तद्वद्विरुद्धधर्माणौ तौ ब्रह्मविदो वदन्ति। पञ्चाग्नयः कर्मिणश्च त्रिणाचिकेताश्च वदन्तीत्यर्थः। त्रिनााचिकेतोर्नाग्नितो यैस्तेहपीत्यर्थः। कथञ्चिदिति। उपचारादितिभावः। असौ द्वितीयः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले *'यस्य ब्रह्म च क्षेत्रज्ञ'* इत्यादि श्रुतिमें *'ओदनः मृत्युर्यस्योपसेचनं'*—इस अंशमें मृत्यु पद रहनेसे जिस प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रिय प्रपञ्चके बोधक हैं, उसी प्रकार *'ऋतं पिबन्तौ'* इत्यादि श्रुतिमें सन्निहित गुहा-प्रवेशादि वाक्य ब्रह्म एवं जीवकी अन्वय सङ्गतिके लिए बुद्धि एवं प्राणके बोधक हैं। दृष्टान्त सङ्गतिके अनुसार कह रहे हैं 'तत्रैव' इत्यादि। पूर्वपक्षीय उक्तिका उद्देश्य है—जीव, बुद्धि और प्राण भिन्न हैं—इसका ज्ञान होना और सिद्धान्ती पक्षमें यह ज्ञातव्य है कि परमात्म ज्ञान फलभोगी जीवसे भिन्न है। *'ऋतं पिवन्तौ'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—ऋतं अर्थात् अवश्य भोक्तव्य कर्मफलका भोग करनेवाले जीव एवं ईश्वर। प्रश्न हो सकता है कि ईश्वर कर्मफलका भोग करनेवाले किस प्रकार हो सकते हैं? इसका समाधान है कि जिस प्रकार *'छत्रिणो गच्छन्ति'*—इस वाक्यमें 'क्षत्रियों' के साथ अक्षत्रियका गमन भी लक्षणा द्वारा सङ्गत होता है, उसी प्रकार जीव एवं ईश्वरमेंसे एकका अर्थात् जीवका पानकर्त्तृत्व

(कर्मफल-भोक्तृत्वका हेतु) होनेसे ईश्वरके भी पानकर्त्तृत्वका उल्लेख माना जाता है। 'सुकृतस्य'—पुण्यके कार्य देहरूप लोकमें वे दोनों स्थित हैं, उनमें परार्द्धों अर्थात् हृदयमें परमेश्वरके योग्य श्रेष्ठ स्थान है। यह स्थान किस प्रकारका है—परमोंमें श्रेष्ठ। *'गुहां प्रविष्टौ'*—हृदयमें जो आकाशस्वरूप (अवकाशात्मक) गुहा है, उसमें प्रविष्ट हैं, किन्तु वे छाया और धूपके समान परस्पर विरुद्ध स्वभावमय हैं—ब्रह्मविद्—अर्थात् पञ्चाग्नि कर्मीगण और त्रिनाचिकेता यह कहते हैं। त्रिनाचिकेताश्च अर्थात् त्रिनाचिकेत नामक अग्निकी जो प्रतिष्ठा करते हैं, वे भी कहते हैं। *'कर्मफलभोगः कथञ्चिदिति'*—लक्षणाके द्वारा यही तात्पर्य है। तस्मादसौ—इति-असौ—द्वितीय अर्थात् जीव।

सूत्र—गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्॥ ११॥

सूत्रार्थ—'गुहां'—नभ-स्वरूप हृदय-गुफामें, 'प्रविष्टावात्मानौ'—प्रविष्ट जिन दोनोंके विषयमें कहा जा रहा है, वे दोनों आत्मा हैं अर्थात् जीवात्मा और परमेश्वर, वे बुद्धि और जीवात्मा नहीं हैं, प्राण और जीव भी नहीं हैं, क्योंकि 'तद्दर्शनात्'—श्रुतिमें उनका गुहामें प्रवेश देखा जाता है, 'हि'—यह पुराण-प्रसिद्ध है॥ ११॥

सूत्रानुवाद—हृदय-गुहा (गुफा) में प्रविष्ट दोनों ही निश्चय रूपसे जीवात्मा और परमात्मा हैं, श्रुतियोंमें ऐसा वर्णन ही देखा जाता है॥ ११॥

गोविन्दभाष्य—गुहां गतावात्मानावेव जीवेशरूपौ न तु बुद्धिजीवौ प्राणजीवौ वा कुतः? तद्दर्शनात्। *'या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत'* (कठ॰ २/१/७) इति, *'तं दुर्द्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्म योगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति'* (कठ॰ १/२/१२) इति च क्रमेण तयोर्गुहाप्रवेशवीक्षणात्। हि शब्देन पुराण प्रसिद्धिः सूच्यते। पिबन्ताविति (कठ॰ १/३/१) छत्रिन्यायेन प्रयोज्यप्रयोजकभावेन वा द्वयोः पाने कर्त्तृत्वम्। छायातपाविति (कठ॰ १/३/१) च ज्ञानतारतम्येन संसारित्वासंसारित्वेन वा सङ्गमनीयम्॥ ११॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जीवके अन्तरमें विराजित दोनों आत्मा जीवात्मा एवं परमेश्वर स्वरूप हैं, किन्तु बुद्धि और जीव अथवा प्राण और

जीवस्वरूप नहीं हैं। इसका कारण यह है कि श्रुतिमें गुहा-प्रवेश विषयमें जीवात्मा और परमात्मा दोनोंको कहा है। यथा—*'या प्राणेन सम्भवत्यादि'* अर्थात् देवतामयी अदिति प्राणके साथ मिलकर गुहामें प्रवेश करके अवस्थित रहता है और वह विभिन्न विभूतियोंके साथ प्रादुर्भूत होता है—यह श्रुति जीवात्माके गुहा-प्रवेशका वर्णन कर रही है तथा *'तं दुर्द्दर्शं ... हर्षशोकौ जहाति'* (कठ॰ १/२/१२) अर्थात् ज्ञानी व्यक्ति गुहा-प्रविष्ट, दुर्ज्ञेय, गुप्त रूपसे अवस्थित, हृत्-पुण्डरीकके मध्य वर्त्तमान, अनेक प्रकारके सङ्कटमय देहमें अधिष्ठित उन ज्योतिर्मय आदिपुरुषको अध्यात्म योगविद्याके बलपर जानकर हर्ष एवं शोकसे विनिर्मुक्त हो जाते हैं। इससे भी परमेश्वरकी गुहा-प्रवेशकी उपलब्धि हो रही है। इस प्रकार *'या प्राणेन'* इत्यादि श्रुति और *'तं दुर्द्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम्'* इत्यादि श्रुतिमें यथाक्रमसे जीवात्मा और परमात्माका गुहा-प्रवेश देखा जा रहा है। सूत्रोक्त 'हि' शब्दसे पुराणमें प्रसिद्धि सूचित होती है। तब जो *'ऋतं पिबन्तौ'* (कठ॰ १/३/१) श्रुतिमें दोनोंका पानकर्त्तृत्व अर्थात् कर्मफलभोक्तृत्व वर्णित है, वह प्रयोज्य-प्रयोजक रूपसे अथवा छत्रिन्यायसे है, इसमें कुछ विरोध नहीं है। जिस प्रकार *'छत्रिणो गच्छन्ति'* (कठ॰ १/३/१) (छाता लगाकर जा रहे हैं) कहनेसे उनमें अछत्रवान्को भी जाना जाता है, उसी प्रकार परमेश्वर कर्मफल-भोक्ता न होनेपर भी पानकर्त्ता (कर्मफलभोक्ता) है, यह लक्षणाके द्वारा बोध होता है अथवा ईश्वर प्रयोजक हैं और जीव प्रयोज्य है, इस प्रकार भी कर्मफलभोक्ताकी सङ्गति हो सकती है। *'छायातपौ'*—इस दृष्टान्तके द्वारा जो जीवात्मा और परमात्माका पारस्परिक विरुद्ध धर्म कहा गया है, इसका सामञ्जस्य ज्ञानके तारतम्यानुसार है अर्थात् जीवात्माका अल्पज्ञत्व है और परमात्माका सर्वज्ञत्व है अथवा एकका संसारित्व अर्थात् जन्ममृत्युभागित्व है और दूसरेमें उसका अभाव है—इस प्रकार सङ्गति करनी होगी॥ ११॥

सूक्ष्मा-टीका—या प्राणेनेति। प्राणेन सम्भवतीति भूतेभिर्व्यजायतेति चोक्तेर्जीवोऽयं प्रतीयते। तं दुर्द्दर्शमिति। देवं द्योतमानं यं मत्वा धीरो हर्षशोकौ संसारधर्मौ जहातीत्युक्तेरीश्वरोऽयं प्रतीयत इत्याशयः। तत्र दुर्द्दर्शं दुर्ज्ञानं अतएव गूढमनुप्रविष्टं गुप्ततया स्थितम्। *'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृत'* इत्युक्तेः। क्वेत्याह।

गुहेति। हृत्पुण्डरीकस्थमित्यर्थः। गह्वरेष्ठं गह्वरे अनेकविधार्थसङ्कटे देहे स्थितम्। पुराणं चिरन्तनम् अध्यात्मेति। ध्यानलाभेनेत्यर्थः॥ ११॥

सूक्ष्मा-सार— *'प्राणेनेत्यादि'* श्रुतिमें देवमाता अदिति प्राणके साथ मिलकर पृथ्वी आदि पञ्चभूतोंके साथ उत्पन्न होता है, इस वर्णनसे यह जीवात्मा है—प्रतीत होता है और *'तं दुर्द्दर्शं'* इत्यादि श्रुति-वर्णित देव अर्थात् ज्योतिर्मय जिन्हें जानकर ज्ञानी व्यक्ति हर्ष और शोक अर्थात् संसारधर्मका परित्याग कर देते हैं। यहाँ जिन देवका वर्णन है, वे ईश्वर हैं, यह प्रतीत होता है—यह श्रुतिका अभिप्राय है। श्रुतिके अन्तर्गत दुर्द्दर्श पदका अर्थ है दुर्ज्ञेय। वे ज्ञानसे अतीत हैं, इसलिए गूढ़ और अनुप्रविष्ट अर्थात् गुप्त रूपसे स्थित हैं। इस विषयमें *'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः'* अर्थात् मेरा स्वरूप योगमायाके कारण समावृत है, मैं सबके निकट प्रकट नहीं होता—यह गीतावाक्य प्रमाण है। वे कहाँ प्रविष्ट हैं, इसके उत्तरमें कहते हैं—*'गुहास्थितम्'*, गुहामें निहित हैं अर्थात् हृत्-पुण्डरीकके मध्य स्थित हैं। गह्वरेष्ठं—गह्वरके मध्य अर्थात् अनेक प्रकारके अनर्थोंसे भरी देहमें विद्यमान पुराण सनातन पुरुषको *'अध्यात्मयोगाधिगमने'*—अध्यात्म योगके द्वारा जानकर धीर व्यक्ति हर्ष एवं शोकका परित्याग कर देते हैं॥ ११॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कठोपनिषदमें वर्णित है कि हृदय-गुहामें प्रविष्ट होकर दोनों आत्मा पुण्योंके द्वारा लभ्य फल भोग करते हैं। ब्रह्मविद्गण इन्हींको छाया एवं धूपके समान परस्पर विरुद्ध धर्मसे युक्त बतलाते हैं। इस स्थलपर दो वस्तुओंका उल्लेख प्राप्त है, तब वह द्वितीय सहचर कौन है? बुद्धि अथवा प्राण अथवा परमेश्वर? पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि वह बुद्धि अथवा प्राण हैं, क्योंकि जीवके भोगके उपकरणमें बुद्धि अथवा प्राणका निर्देश किया जा सकता है, किन्तु परमात्माका कर्मफलभोगका विषय श्रुतिमें निषिद्ध कहे जानेसे उन्हें द्वितीय सहचर नहीं कहा जा सकता। इस पूर्वपक्षके निराकरणके लिए सूत्रकारने प्रस्तुत सूत्रमें उत्थापना की है कि गुहामें प्रविष्ट दो आत्मा—जीवात्मा और परमात्मा हैं। जीवात्माका द्वितीय सहचर बुद्धि अथवा प्राण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हृदय-गुहामें परमेश्वरके ही प्रवेशकी बात श्रुतिमें कही जाती है और यही पुराणमें प्रसिद्ध है।

यहाँ पूर्वपक्ष यदि होता है कि जीवका कर्मफल-भोक्तृत्व प्रसिद्ध है, किन्तु परमात्मा भी कर्मफल भोग करते हैं—यह नहीं कहा जा सकता। क्यों? इसके उत्तरमें भाष्यकार कहते हैं—यह प्रयोज्य एवं प्रयोजक रूपमें है और छत्रीन्यायके विचारसे कथित हुआ है। जीवात्मा और परमात्माके परस्पर भेद-विचारमें छाया और धूपका दृष्टान्त पाया जाता है। जीव अल्पज्ञ और संसार-वासनासे बद्ध छायास्वरूप है और परमात्मा सर्वज्ञ और संसारमुक्त धूपस्वरूप हैं। और भी भेद है, जीव कर्मफल भोग करता है और परमात्मा भोग कराते हैं। वे प्रयोजक कर्त्ता, साक्षीस्वरूप हैं। विशेष रूपसे प्रविष्टौ और पिवन्तौ शब्दसे दो आत्माओंके ही गुहा-प्रवेशका उल्लेख है।

'द्वा सुपर्णा' श्लोक भी इस स्थलपर आलोच्य है। श्रीमद्भागवत (११/१२/२२) में द्रष्टव्य है—

द्वे अस्य बीजो शतमूलस्त्रिनालः
पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीड-
स्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः॥

अनादि प्रवाहशील यह संसाररूप वृक्ष भोग और मोक्षरूप पुष्प-फलको प्रसव करता है। इस संसार वृक्षके पुण्य और पाप—ये दो बीज है, अपरिमित वासनाएँ इसकी जड़ है, सत्त्व आदि तीनों गुण इसके तने हैं, पञ्चभूत इसकी मोटी-मोटी प्रधान शाखाएँ हैं, शब्द आदि पाँचों विषय इसका रस है। ग्यारह इन्द्रियाँ इसकी शाखाएँ हैं, वात, पित्त और कफ इसके तीन बल्कल हैं, सुख-दुःख इसके फल हैं, जीव और परमात्मारूप दो पक्षी इसमें घोंसला बनाकर विराजमान हैं।

'द्विसुपर्णनीडः' वाक्यकी टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरने कहा है—*'द्वयोः सुपर्णयोर्जीव-परमात्मनोनीडम् वासो यस्मिन्'* अर्थात् जीव और परमात्मा—दो पक्षी इस वृक्षपर वास करते हैं।

इस प्रसङ्गमें श्रीमद्भागवत (११/११/६) का यह श्लोक भी आलोच्य है—

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।

अर्थात् चेतनस्वरूप होनेके कारण परस्पर सादृश्ययुक्त, कभी भी नहीं बिछुड़नेवाले और एक मतके कारण परस्पर सखा भावसे अवस्थित जीव और ईश्वररूप दो पक्षी स्वेच्छापूर्वक देहरूपी पीपलके वृक्षपर हृदयरूपी घोंसलेमें रहते हैं।

'भगवान् सर्वभूतानामाध्यक्षोऽवस्थितौ गुहाम्' (श्रीमद्भा० २/९/२५) अर्थात् 'हे भगवन्! आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें साक्षीरूपसे विराजमान रहते हैं।' इस श्लोकसे भी इस सूत्रकी पुष्टि होती है। कर्मफल भोगनेसे जीवको अदिति कहा गया है, जो प्राणके साथ होता है, जो देवतामयी है, इन्द्रियोंके अधीन जिसका भोग है, जो पृथ्वी आदि भूतोंके साथ देवता आदिरूपोंमें विविध प्रकारसे उत्पन्न होता है॥ ११॥

सूत्र—विशेषणाच्च॥ १२॥

सूत्रार्थ—'विशेषणात्'—श्रुतियोंमें उक्त जीवका मन्तृत्व अर्थात् उपासकत्व और परमेश्वरका मन्तव्यत्व अर्थात् उपास्यत्व इन विभिन्न विशेषणोंके योगसे, 'च' जीव एवं ईश्वरका भेद प्रतीत हो रहा है, इसलिए भी जीव एवं ईश्वरकी विभिन्नता है॥ १२॥

सूत्रानुवाद—इस प्रकरणमें जीव एवं परमात्माका ही उपासकत्व एवं उपास्यत्व, प्राप्तृत्व एवं प्राप्यत्व तथा मन्तृत्व एवं मन्तव्यत्व इत्यादि विशेषणोंसे प्रतिपादन किया गया है॥ १२॥

गोविन्दभाष्य—अस्यां प्रक्रियायां जीवेशावेव मन्तृत्वमन्तव्यत्वादिभावेन विशेषितौ विज्ञायेते। तं दुर्दर्शमिति (कठ० १/२/१२) पूर्वस्मिन् ग्रन्थे मन्तृत्वमन्तव्यत्वाभ्यामेतावेव विशेषितौ। इहापि वाक्ये छायातपावित्यज्ञत्वविज्ञत्वाभ्यां *'विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः। सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्'* (कठ० १/३/१) इति। प्राप्तत्वप्राप्यत्वाभ्यां परत्र च॥ १२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'अस्यां प्रक्रियायां'*—इस प्रक्रिया (प्रकरण) में मननकर्त्ता विशेषण जीवके लिए प्रयुक्त है और मननके विषयरूप विशेषणका प्रयोग परमेश्वरके लिए हुआ है—यह अवगत होता है।

इसी प्रकार *'तं दुर्द्दर्शम्'* इत्यादि पूर्वोक्त ग्रन्थमें उद्धृत श्रुति *'तं मत्वा धीरो हर्ष शोकौ जहातीति'* (कठ॰ १/२/१२) में भी दो विशेषण हैं—मनन-कर्त्तृत्व जीवके लिए और मनन-विषयत्व उन दुर्ज्ञेय पुरुषके लिए (यहाँ प्राण जीव अथवा बुद्धि जीव अभिप्रेत नहीं है)। और भी, *'ऋतं पिवन्तौ सुकृतस्य'* इत्यादि श्रुतिवाक्यमें भी *'छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति'* (कठ॰ १/३/१) में भी दो विशेषण प्रयुक्त हैं, एकको छायासे युक्त किया है और दूसरेको धूपसे। छाया (जीव) का अविज्ञत्व और दूसरेका विज्ञत्व (सर्वज्ञत्व) भी विशेषण रूपमें हैं। इसके बाद स्मृतिवाक्यमें भी *'विज्ञान सारथिर्य'* (कठ॰ १/३/९) इत्यादि अर्थात् जिस व्यक्तिने विज्ञान अर्थात् बुद्धिको सारथि बना रखा है, स्वमनको रथकी लगाम बना रखा है, वह योगी व्यक्ति ही संसार-पथके उस पारमें अवस्थित विष्णुके शाश्वत पदको प्राप्त होता है। यहाँ पुनः दो विशेषण हैं—जीवको पद-प्राप्ता और ईश्वरको प्राप्य कहा गया है, इसी प्रकार अन्य स्थनोंपर भी जानना चाहिये॥ १२॥

सूक्ष्मा-टीका—विज्ञानेति। विज्ञानं बुद्धिः॥ १२॥

सूक्ष्मा-सार—विज्ञान—बुद्धि अर्थमें है॥ १२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्व सूत्रमें वर्णित विषयको ही प्रस्तुत सूत्रमें विशेषण-योगके आधारपर और स्पष्ट कर रहे हैं। इस प्रकरणमें जीव और ब्रह्म परस्पर भिन्न हैं, इसी भिन्नताको ज्ञापित करते हुए कितने ही विशेषणोंको उद्धृत किया है। यथा—जीव अविज्ञ (अनभिज्ञ) है, ब्रह्म विज्ञ (सर्वज्ञ) हैं, जीव मननकर्त्ता और ब्रह्म मन्तव्य हैं, जीव उपासक और ब्रह्म उपास्य हैं, जीव प्राप्ता है और ब्रह्म प्राप्य हैं। पहले भी भेद बतानेके लिए छाया और आतप (धूप) रूप विशेषण शब्दोंके प्रयोगके द्वारा जीव और ईश्वरके भेदका निर्देश किया था। मुक्त अवस्थामें भी जीव और ब्रह्ममें उपासक और उपास्यका भेद रहता है। नचिकेताकी जिज्ञासा यह है कि मुक्तिके बाद जीव रहता है या नहीं।

श्रीमद्भागवत (८/५/३०) में द्रष्टव्य है—

न यस्य कश्चातितितर्ति मायां
यया जनो मुह्यति वेद नार्थम्।
तं निर्जितात्मात्मगुणं परेशं
नमाम भूतेषु समं चरन्तम्॥

अर्थात् जिस मायासे मोहित होकर जीव आत्मस्वरूपको जान नहीं पाते, वह उन्हींकी माया है। इस मायासे पार पानेमें कोई भी समर्थ नहीं है। जो प्रभु अपनी माया एवं मायाके गुणोंको वशीभूत करके समस्त प्राणियोंके हृदयमें समभावसे विराजमान रहते हैं, हम उन्हें प्रणाम करते हैं।

और भी, श्रीमद्भागवत (८/५/५०) में—

नमस्तुभ्यमनन्ताय दुर्वितर्क्यात्मकर्मणे।
निर्गुणाय गुणेशाय सत्त्वस्थाय च साम्प्रतम्॥

अर्थात् जो अनन्त अर्थात् तीनों कालोंसे परे हैं, जिनके स्वभाव एवं लीलाएँ तर्क-वितर्कसे अतीत हैं, जो सत्त्वादि गुणोंके नियन्ता हैं और जो इस समय सत्त्वगुणमें अधिष्ठित हैं, ऐसे भगवान्‌को हम बार-बार नमस्कार करते हैं॥ १२॥

४—अन्तराधिकरणम्

अवतरणिकाभाष्य—छान्दोग्ये (४/१५/१) *'य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते स एष आत्मेति होवाच। एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म, तद् तद् यद्यप्यस्मिन सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति एतं सम्पद्धाम इत्याचक्षते एतं हि सर्वाणि कामान्यभिसंयन्ति'* इत्यादि श्रूयते। तत्र संशयः—किमयं पुरुषः प्रतिबिम्बः किंवा देवतात्मा आहोस्वित जीव उताहो परमात्मेति? आद्यः स्यात्। अक्ष्याधारत्वदृश्यत्वयोस्तत्र सत्त्वात्। द्वितीयो वा रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठित इति बृहदारण्यकात् (५/५/२)। किंवा तृतीयः स्यात्। स हि चक्षुषारूपं पश्यंस्तत्र सन्निहितो भवति। तस्मादेषामन्यतमोहयमित्यस्यां प्राप्तौ—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—तेरहवें सूत्रकी अवतरणिकामें जिस श्रुतिके ऊपर विषय-संशयादि अधिकरणके अङ्ग हैं, उनकी ही विवृति कर रहे हैं—छान्दोग्योपनिषदमें *'य एषोऽक्षिणी पुरुषो दृश्यते … अभिसंयन्ति'* (४/१५/१) अर्थात् 'इस अक्षिके (नेत्रके) बीच जो पुरुष

देखे जाते हैं, वे आत्मा हैं, अमृत हैं, अभयप्रद हैं और ब्रह्म हैं। यदि उनके उद्देश्यसे हवि अथवा जल प्रदान किया जाय, तो प्रदानकारी गन्तव्य मार्ग प्राप्तकर ब्रह्मपद प्राप्त करता है।' अक्षिके मध्य जो पुरुष देखे जाते हैं अर्थात् शास्त्रानुसार प्रतीत होते हैं, वे ही परमेश्वर श्रीहरि हैं—आचार्य उपकौशलने प्रत्युत्तरमें यही कहा है। वे चित्-प्रतिबिम्ब जीव नहीं हैं, क्योंकि वे अमृतस्वरूप एवं अभयप्रद हैं। वे ब्रह्म हैं, विभु-व्यापक हैं, क्योंकि इसी स्थानपर जो घी अथवा जलका सिंचन करता है, वह गन्तव्य पथपर पहुँचता है। मनीषीगण कहते हैं—ब्रह्म सम्पद्के आलय हैं, इसमें युक्ति यह है कि समस्त काम्य वस्तुएँ उनका आश्रय किये हुए हैं। अब संशय यह है कि अक्षिमें स्थित ये पुरुष हैं कौन? क्या यह पुरुषका छायारूप प्रतिबिम्ब है? अथवा चक्षु इन्द्रियका अधिष्ठाता सूर्यदेव है? अथवा जीवात्मा है? अथवा परमात्मा हैं? इस संशयके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं—*'आद्यः स्यात्'*, प्रथम वह पुरुष प्रतिबिम्ब हो सकता है, क्योंकि वह अक्षि (चक्षु) में स्थित पुरुष अक्षिको आधार करके स्थित है और दृश्य (दर्शनयोग्य) है अथवा दूसरा अर्थात् चक्षुका अधिष्ठाता सूर्य भी हो सकता है, क्योंकि बृहदारण्यक (५/५/२) में *'द्वितीयो वा रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः'* में 'एषः' शब्दका अर्थ है—ये सूर्य हैं, *'अस्मिन्'*—ये चक्षुओंमें रश्मियों (किरणों) के द्वारा प्रतिष्ठित हैं। अथवा तीसरा जीवात्मा भी कहा जा सकता है, क्योंकि यह जीवात्मा चक्षु-इन्द्रिय योगसे वस्तुकारूप दर्शन करता हुआ वहाँ सन्निहित रहता है। अतएव ये तीनों ही अक्षिमें स्थित अन्यतम पुरुष हैं। इस पूर्वपक्षीके सिद्धान्तका प्रतिवाद करनेके लिए सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र—अन्तर उपपत्तेः॥ १३॥

सूत्रार्थ—'अन्तरः'—चक्षुके अभ्यन्तरवर्त्ती पुरुष परमात्मा ही हैं, उन तीनोंमेंसे और कोई नहीं है। कारण? 'उपपत्तेः'—आत्मत्व, अमृतत्व, ब्रह्मत्व, निर्लेपत्व, सम्पदाश्रयत्व इत्यादि धर्मोंकी सत्ता उन परमेश्वरमें ही सम्भव है, अन्यत्र नहीं॥ १३॥

सूत्रानुवाद—चक्षु आधारित पुरुष यहाँ परमात्मा ही हैं, क्योंकि आत्मत्व आदि गुणोंकी उपपत्ति परमेश्वरमें ही सम्भव है॥ १३॥

गोविन्दभाष्य—अक्ष्यन्तरः परमात्मैव। कुतः? उपपत्तेः। आत्मत्वामृतत्वब्रह्मत्वनिर्लेपत्वसम्पद्धामत्वादीनां धर्माणां तत्रैव सिद्धेः॥ १३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अक्षि मध्य स्थित पुरुष परमात्मा ही हैं, क्योंकि आत्मत्व, अमृतत्व, ब्रह्मत्व, निर्लेपत्व, सम्पद्-धामत्व इत्यादि धर्मोंका सम्बन्ध परमात्मामें ही हो सकता है॥ १३॥

सूक्ष्मा-टीका—पूर्वत्र पिबन्ताविति प्राथमिकद्विवचनाशून्यात्मत्वेन समानजीवेश्वरयोः दृष्ट्यनुसाराचरमश्रुत्या गुहाप्रवेशादयो नीतास्तथात्र दृश्यते इति प्राथमिक प्रत्यक्षत्वोक्त्याक्षि-प्रतिबिम्बप्रतीत्यनुरोधाचरमश्रुत्या अमृतत्वाद् षः कथञ्चित् स्तुत्यर्थत्वेन नेया इति दृष्टान्तसङ्गत्याह—छान्दोग्य इत्यादि। पूर्वपक्षे प्रतीकस्योपासनं फलं सिद्धान्ते तु ईश्वरस्येति बोध्यम्। तत्रोपकोशलविद्यास्ति यत्र सो अक्षिणीत्यादि। अस्यार्थः—अक्षिणि षः पुरुषो दृश्यते शास्त्रतः प्रतीयते स एव आत्मा हरिरित्याचार्य उपकोशलं प्रत्युवाच प्रतिबिम्बं व्यावर्त्तयितुं आह एतदिति। अक्षिरूपस्य स्थानस्य ब्रह्मसारूप्यमाह तदिति। अस्मिन्नक्षिणि। वर्त्मनी।

पक्ष्मस्थाने इति द्वितीया द्विवचनान्तत्वं तयोर्निर्लेपत्वात् सारूप्यं ब्रह्मणः। विभूतिमाह एतमिति। तस्य निरुक्तिरेतं हीति। सर्वाणि कामानि मनोज्ञानि वस्तूनि एतमक्षिस्थं पुरुषमभिसंयन्त्याभिमुख्येन सामस्त्येनाप्नुवन्ति सर्वसम्पन्निषेवितोसावित्यर्थः। आद्यः इति। पुरुषच्छायारूपः प्रतिबिम्बः स्यादित्यर्थः। द्वितीयो वेति चक्षुरधिष्ठाता सूर्यो द्वितीय उच्यते। एष सूर्यः। अस्मिंश्चक्षुषि। किञ्चेति तृतीयो जीवः॥ १३॥

सूक्ष्मा-सार—पहले *'ऋतं पिबन्तौ'* इत्यादि श्रुतिमें 'पिबन्तौ' पदमें प्रथमा विभक्तिके द्विवचन द्वारा 'सहचरित' स्वरूपमें जीव और परमात्माका ज्ञान होनेके बाद श्रुति बोधित गुहा-प्रवेशादि धर्मको लौकिक व्यवहारानुसार जीव एवं ईश्वरको जिस प्रकार अभिन्न अन्वित किया गया है, उसी प्रकार इस श्रुति *'अक्षिणि दृश्यते'* में 'दृश्यते' पदके द्वारा प्रत्यक्ष विषयत्व कथित होनेसे और प्रत्यक्ष प्रमाणकी प्रबलतासे अक्षिमें प्रतिबिम्बकी प्रतीतिवश इसी श्रुतिके शेषभागमें श्रुत अमृतत्व इत्यादि धर्मोंकी लक्षणाके द्वारा अर्थवादरूपमें सङ्गति की जा सकती है। इस प्रकार दृष्टान्त सङ्गतिके अनुसार कह रहे हैं—छान्दोग्य इत्यादि ग्रन्थ—पूर्वपक्षमें प्रतिबिम्बकी उपासना ही

उद्देश्य है एवं सिद्धान्तमें ईश्वरकी उपासना उद्दिष्ट है—यह जानना चाहिये। छान्दोग्योपनिषदमें उपकौशल विद्या वर्णित है, जिसके मध्य *'य एषोऽक्षिणि'* श्रुति उद्धृत है। इस श्रुतिका अर्थ इस प्रकार है—जीवके चक्षुमें जो पुरुष देखे जाते हैं अर्थात् शास्त्रानुसार प्रतीत होते हैं, वे परमात्मा श्रीहरि हैं। आचार्य उपकौशलने राजाको प्रत्युत्तर दिया—वह प्रतिबिम्ब नहीं है। उसीको स्पष्ट अर्थात् इसी प्रतिबिम्बत्वका निरास करनेके लिए कह रहे हैं—'एतत् ब्रह्म'—ये परमात्मा हैं अथवा परमेश्वर हैं। अक्षिस्वरूप स्थान ही ब्रह्मके स्वरूपके समान है—यह प्रतिपादित हुआ है। 'अक्षिणि' अर्थात् अक्षिरूप पथमें। श्रुतिके अन्तर्गत 'पक्ष्मस्थाने' पद द्वितीया विभक्तिके द्विवचनसे निष्पन्न है। वे दोनों (अक्षि और पक्ष्म) निर्लेप रूपमें ब्रह्मके स्वरूप हैं। 'एतम्' इत्यादि ग्रन्थ परमेश्वरकी विभूतियोंका वर्णन करते हैं—उसका ही निर्वचन है—*'एतं हि सर्वाणि'* इत्यादि। इसका अर्थ है—समस्त मनोज्ञ (मनोहारी) वस्तुएँ अक्षिमें स्थित परमपुरुषका समग्र रूपसे आश्रय करती हैं अर्थात् वे परमेश्वर समस्त सम्पद्के आश्रय हैं। तीन संशयोंमें प्रथम अर्थात् वह पुरुष छायारूप प्रतिबिम्ब हो सकता है, द्वितीय संशयका विषय चक्षुके अधिष्ठाता सूर्यको कहा जा सकता है। एषः—ये सूर्य हैं, 'अस्मिन्'—ये चक्षुमें प्रतिष्ठित हैं, अतएव ये भी अक्षिस्थ पुरुष वाच्य हो सकते हैं अथवा भाष्योक्त तृतीय पुरुष पद वाच्य जीवको भी कहा जा सकता है॥ १३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—छान्दोग्य (४/१५/१) में वर्णित है कि अक्षिके मध्य शास्त्रानुसार प्रतीत पुरुष ही आत्मा श्रीहरि हैं, वे ही अमृतमय ब्रह्म हैं, यह आचार्य उपकौशलने कहा। किन्तु यहाँ संशय है—क्या ये पुरुष प्रतिबिम्ब हैं? अथवा चक्षुके देवता सूर्य हैं? अथवा जीव हैं? अथवा परमात्मा हैं? यहाँ यदि पूर्वपक्षवादी उन पुरुषको प्रतिबिम्ब, सूर्य अथवा जीव—इनमेंसे अन्यतम (इनमेंसे कोई एक) कहनेका प्रयास करते हैं, तो उसीके खण्डनके लिए सूत्रकारने प्रस्तुत सूत्रमें इन आन्तर पुरुषको ही परमात्मा कहा है, क्योंकि आत्मत्व, अमृतत्व इत्यादि धर्म परमात्मामें ही उपपन्न (सङ्गत) होते हैं।

श्रीमद्भागवत (५/७/१३) में द्रष्टव्य है—

इत्थं धृतभगवद्व्रत एणेयाजिनवाससानुसवनाभिषेकार्द्रकपिश-कुलिजटाकलापेन च विरोचमानः सूर्यर्चा भगवन्तं हिरण्मयं पुरुषमुज्जिहाने सूर्यमण्डलेऽभ्युपतिष्ठन्नेतदु होवाच—॥

अर्थात् इस प्रकार भगवत्-नियमोंका आश्रय लेकर महाराज भरत वस्त्रोंके रूपमें मृगचर्म पहनने लगे। त्रिसन्ध्या स्नान करनेके कारण गीले रहनेसे उनके केश कूपल (भूरे) वर्णकी घुँघराली जटाओंमें बदल गये, जिससे वे और भी सुशोभित होने लगे। वे उदित होनेवाले सूर्यमण्डलमें उसके मध्यवर्ती (हिरण्यमय) पुरुष नारायणकी ऋग्वेदके मन्त्रोंसे आराधना करते और इस प्रकार कहा करते—ध्येयः सदा सवितृ-मण्डल-मध्यवर्त्ती—सूर्यके भीतर भगवान् नारायणका वास है, उनका रङ्ग सुनहरा है।

और भी,

चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि।
मां तत्र मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति दूरतः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१५/२०)

अर्थात् जो योगी नेत्रोंको सूर्यमें और सूर्यको नेत्रोंमें संयुक्त कर देता है और दोनोंके संयोगसे मेरा ध्यान करता है, वह दूरसे ही समस्त विश्वको देख सकता है, ऐसी सिद्धिका नाम 'दूरदर्शन' है।

इस स्थलपर *'ध्येयः सदा सवितृ मण्डल मध्यवर्ती नारायणः सरसिजासन सन्निविष्टः'* अर्थात् सूर्यमण्डलके मध्यमें कमल पुष्पके आसनपर विराजमान नारायणका स्वरूप ध्येय है।

अग्निपुराणमें भी,

ध्यायेन पुरुषोऽयञ्च द्रष्टव्यः सूर्यमण्डले।
सत्यं सदाशिवं ब्रह्म तद्विष्णोः परमं पदम्॥

अर्थात् सूर्यमण्डलवर्ती पुरुष नारायणमें ध्यानसे मनोनिवेश करें, क्योंकि वे सत्य हैं, सदाशिव, ब्रह्म विष्णु हैं, विष्णुके महावैकुण्ठ नामक स्थानका नाम परमपद है।

जो अक्षि और पक्षको निर्लेप रूपसे ब्रह्मका स्वरूप बतलाया, तो इसका तात्पर्य है कि जो यह आँखोंमें पुरुष दीखता है, उसमें ही आत्मत्व इत्यादि है। यदि आँखमें घी या पानी आदि जो भी वस्तु डाली जाय, वह पलकोंपर ही रहती है। इनमें रहनेवाला पुरुष इन दोनोंके दोषोंसे निर्लेप रहता है।

इसी प्रकार अक्षिस्वरूप स्थान ही ब्रह्मके समान है। इसका अभिप्राय यह है कि सर्वत्र ब्रह्म-दर्शनका उत्कृष्टतम स्थान नेत्र ही है। इसलिए उसमें भगवान्‌की स्थिति बतलायी है। अतः अक्षिमध्यस्थ पुरुष परमात्मा ही हैं, छायादि नहीं हैं॥ १३॥

सूत्र—स्थानादिव्यपदेशाच्च॥ १४॥

सूत्रार्थ—'स्थानादिव्यपदेशाच्च'—क्योंकि स्थान इत्यादिका वर्णन परमात्माको आश्रय करके किया जाता है, इसलिए अक्षिस्थ पुरुष परमात्मा ही हैं, यह बृहदारण्यक श्रुतिमें कहा गया है॥ १४॥

सूत्रानुवाद—इसलिए कि श्रुतियोंमें परमात्माके अनेक स्थानादिका निर्देश भी है॥ १४॥

गोविन्दभाष्य—यश्चक्षुषि तिष्ठन्नित्यादिना (बृ॰आ॰ ३/७/१८) चक्षुषि स्थितिनियमनादिकं परमात्मन एवोक्तं बृहदारण्यके॥ १४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—बृहदारण्यकोपनिषदमें उद्धृत श्रुति यथा—*'यश्चक्षुषि तिष्ठन्'* (बृ॰आ॰ ३/७/१८) (विशेष करके जो चक्षुके बीच अवस्थित हैं,) 'जो चक्षुमें रहकर', 'चक्षुके अन्तर' इत्यादि रूपोंमें वहाँ परमात्माकी ही स्थिति एवं नियमनका वर्णन करती है॥ १४॥

सूक्ष्मा-टीका—अन्तर इति। अक्षिमध्यस्थ इत्यर्थः। सम्पद्धामत्वादीनामित्यादिपदात् भामनीत्वादीनां ग्रहणम्। तथाहि वाक्यशेषः। एष उ एव भामनीरेष हि सर्वाणि भामानि नयति। एष एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु हि भातीति। भामान्तिनयति स्वोपासकान् प्रापयतीति निखिलाभीष्टदातृत्वं भातीति निखिलप्रकाशकत्वं। चोक्तम्॥ १४॥

सूक्ष्मा-सार—*'अन्तर इति'* सूत्रके अन्तर्गत अन्तर पदका अर्थ है—अक्षि मध्यस्थ पुरुष। भाष्य वर्णित *'संपद्धामत्वादीना'* के अन्तर्गत आदि पदसे भामनीत्वादि इत्यादि ग्रहणीय हैं। किस प्रकार? इसका

उत्तर है कि इस श्रुति वाक्यका अवशिष्ट अंश यथा—*'एष उ एव भामनीरेष हि सर्वाणि भामानि नयन्ति।'* इसका अर्थ है—ये अक्षि मध्यस्थ पुरुष ही 'भामनी' हैं, क्योंकि समस्त लोकोंमें प्रकाशकरूपमें वे ही प्रकाशित होते हैं, इसलिए उन्हें 'भाम' कहा जाता है। 'नयति'—'प्राप्त करा देते हैं'—अपने उपासकोंको सम्पूर्ण काम्य वस्तुएँ दान करते हैं, इसलिए 'नी' अर्थात् इस पदके द्वारा उनका सर्वाभीष्ट दान-कर्त्तृत्व एवं 'भाति' पदके द्वारा सम्पूर्ण प्रकाशकत्व वर्णित हुआ है॥ १४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—स्थानादिके निर्देशवशतः पूर्वोक्त सिद्धान्तका ही समर्थन किया गया है—इसी तथ्यको प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं। बृहदारण्यकमें पाया जाता है—ये पुरुष चक्षुके मध्य अवस्थान करते हुए वहीं स्थिति एवं नियमन करते हैं।

श्रीमद्भागवत (२/१०/९) में द्रष्टव्य है—

एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥

अर्थात् जिस समय तक हम आध्यात्मिकादि त्रितयका अर्थात् इन्द्रिय, इन्द्रियाधिष्ठाता और दृश्य-देहादिमेंसे एकका अभाव होनेपर दूसरी दो वस्तुओंके अस्तित्वकी उपलब्धि नहीं कर सकते, तब तक हम जो इन तीनोंके ही साक्षीरूपमें द्रष्टा हैं, वे परमात्मा स्वयं ही स्वयंका आश्रय हैं और जीवका भी आश्रय हैं—यह जान नहीं सकते॥ १४॥

सूत्र—सुखविशिष्टाभिधानादेव च॥ १५॥

सूत्रार्थ—'च'—तथा, 'सुखविशिष्ट अभिधानात्'—'प्राण ब्रह्म', 'वैषयिक सुख ब्रह्म', 'भूताकाश ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ असीम सुखविशिष्ट ब्रह्मको ही जिस हेतुसे कह रही हैं, वे ब्रह्म ही प्रक्रान्त (प्रकरणका विषय) हैं, अतएव 'य एषोऽक्षिणि' इत्यादि श्रुतिमें वर्णित पुरुष पदमें जब उनका ही कथन है, तब यह सिद्ध हो ही जाता है कि 'एव'—वे ब्रह्म ही हैं, जीव अथवा प्रतिबिम्ब नहीं॥ १५॥

सूत्रानुवाद—नेत्रमें अवस्थित पुरुषको सुख-विशिष्ट कहा गया है, अतः वे पुरुष प्रक्रान्त ब्रह्म ही हैं॥ १५॥

गोविन्दभाष्य—प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं (छा॰ ४/१०/४) ब्रह्मेत्यपरिच्छिन्नसुखविशिष्टं यद्ब्रह्म प्रक्रान्तं तस्यैव पुनरत्राप्यक्षिस्थवाक्ये निगदाच्च प्रकृतग्रहणं हि न्यायम्। आन्तरालिक्यग्निविद्या तु ब्रह्मविद्याङ्गं भवेत्। इह वैशिष्ट्योक्त्या ज्ञानादिशब्दानां धर्मिपरत्वञ्च व्याख्यातम्॥ १५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—उपकोशल द्वारा उपासित होकर अग्निगणोंने उनसे कहा—*'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म'* (छा॰ ४/१०/४) अर्थात् 'प्राण ही ब्रह्म है, 'क' अर्थात् अपरिच्छिन्न (असीम) सुख ही ब्रह्म है, 'ख' अर्थात् भूताकाश ब्रह्म है', इस प्रकार अपरिच्छिन्न सुखविशिष्ट जिन ब्रह्मका पहले उल्लेख किया गया, उसका ही पुनः इसी श्रुतिके अन्तर्गत अक्षिस्थ वाक्यमें वर्णन है, इस कारण अक्षिस्थ पुरुष पदके द्वारा परमात्मा ही ग्रहणीय हैं। इसलिए प्रकृत अर्थात् प्रक्रान्त पदार्थ (प्रकरण-प्रतिपाद्य) का ग्रहण ही युक्तियुक्त है। ब्रह्म-विद्याके बीचमें जो अग्नि-विद्या कही गयी, वह ब्रह्म-विद्याका अङ्ग कही जा सकती है। प्रस्तुत सूत्रमें जब सुखविशिष्ट ब्रह्मकी बात हो रही है, तब *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* इस श्रुतिमें उक्त ज्ञानादि शब्द धर्मपरक नहीं हैं, सुख-विशिष्ट वे ज्ञानादि शब्द धर्मीपरक हैं—यह भी व्याख्या हुई है॥ १५॥

सूक्ष्मा-टीका—सुखेति। आचार्याज्ञया तद्गृहे चिरं स्थितं गार्हपत्यादीनग्नीन् परिचरन्तमुपकोशलं प्रति प्रसन्नास्तेऽग्नयः प्रोचुः प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति। तत्र कं-शब्दो वैषयिके सुखे रूढः। खं-शब्दस्तु भूताकाशे इति। मिथो भेदप्राप्तौ पुनराह—यदेव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कं इति। इत्थञ्च मिथो वैशिष्ट्यप्रतिपादनेन यत् सुखविशिष्टं ब्रह्म प्रक्रान्तं तस्य पुनरस्मिन्नक्षिस्थवाक्येऽभिधानाच्च स परमात्मेत्यर्थः। आन्तरालिकी मध्यस्था। ब्रह्मेति हृच्छोधकतयेत्यर्थः। *'काषायपंक्तिः कर्माणि ज्ञानन्तु परमा गतिः। कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्त्तते'* इत्यादि स्मृतिभ्यः। इह वैशिष्ट्येति। श्रुतौ यन्मिथो वैशिष्ट्यमुक्तमस्ति इह सूत्रे स्फुटं तस्योक्त्या सत्यं ज्ञानमनन्तमित्याद्युक्तानां ज्ञानादिशब्दानां च धर्मिपरत्वमुक्तं नतु जडव्यावृत्तं ज्ञानं परिच्छिन्नव्यावृत्तं अनन्तमिति बाह्यलक्षणं विधेयमिति भावः॥ १५॥

सूक्ष्मा-सार—कमलके उपकोशल नामक राजपुत्र आचार्य सत्यकाम जाबालिकी आज्ञानुसार आचार्यगृहमें बहुत दिनों तक रहकर गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि—इन तीनों अग्नियोंकी परिचर्या करने लगे। परिचर्यासे प्रसन्न होकर अग्नियोंने उनसे कहा—'प्राण' ब्रह्म, 'क' ब्रह्म, 'ख' ब्रह्म। इसके अन्तर्गत 'क' शब्दमें शब्दादि विषय ज्ञानके लिए सुख अर्थ प्रसिद्ध है। 'ख' शब्दका अर्थ है—भूताकाश। जब क और ख—इनका अर्थगत भेद प्रकाशित हो ही रहा है, तब 'क' और 'ख' दोनों ब्रह्मरूप किस प्रकार हो सकते हैं? इसका उत्तर है कि जो 'क' हैं, वही 'ख' हैं और जो 'ख' हैं, वही 'क' हैं। इनका अभेद भी परस्पर वैशिष्ट्य प्रतिपादन द्वारा वर्णित भी हुआ है कि जो सुखविशिष्ट ब्रह्म प्रक्रान्त हैं, वे ही अक्षिमें अवस्थित पुरुष हैं। प्रस्तुत श्रुतिमें जब उन्हीं सुखविशिष्ट ब्रह्मका अभिधान है, तब वे ही पुरुष परमात्माके रूपमें भी ग्राह्य हैं। *'आन्तरालिकी'*—ब्रह्मविद्याके मध्य स्थित अग्निविद्या स्मृतिवाक्य भी यही प्रतिपादन कर रहे हैं कि जिस प्रकार नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके द्वारा चित्तकी शुद्धि होती है, उसी प्रकार अग्निविद्याके माध्यमसे ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होती है। अतः अग्निविद्या ब्रह्मविद्याका अङ्ग है। ये अर्थ कषाय द्रव्य (मलशोधक द्रव्य) स्वरूप हैं और ज्ञान चरम फल है। कर्मोंके द्वारा रागद्वेषादि कषाय जब परिपक्व हो जाते हैं, तब ज्ञान उत्पन्न होता है। श्रुतिमें ब्रह्मके वैशिष्ट्यकी जो उक्ति है, वह सूत्रमें स्पष्ट रूपसे वर्त्तमान है। *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* इत्यादि श्रुतिके अन्तर्गत ज्ञानादि शब्दोंका धर्मीपरत्व कहा गया है। ये ज्ञानादि शब्द विशिष्टके बोधक हैं। ये ज्ञानादि शब्द जड़में वर्त्तमान ज्ञानपरक नहीं हैं। 'अनन्त' पद परिच्छिन्नसे भिन्न अपरिच्छिन्न धर्मका बोधक है। इसका तात्पर्य है कि बाह्यज्ञानसे व्यावृत्त (अलग किया हुआ) ज्ञान ही अर्जनीय है॥ १५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—उपनिषदमें सुखविशिष्ट ब्रह्मका उल्लेख रहनेसे यहाँ ब्रह्मको ही ग्रहण करना होगा। ब्रह्म ही प्राण हैं, वे ही 'क' हैं, वे ही 'ख' हैं। यहाँ 'क' शब्दका अर्थ विषयसुख है और 'ख' शब्दका अर्थ आकाश है। यहाँ पूर्वपक्ष हो सकता है कि जब 'क' और 'ख'

शब्दोंमें परस्पर अर्थगत भेद देखा जाता है, तब दोनों ही किस प्रकार ब्रह्म हो सकते हैं? उत्तरमें बताया—जो 'क' हैं, वे ही 'ख' हैं। इस प्रकार दोनोंके अभेद वैशिष्ट्य प्रतिपादनके द्वारा जो सुखविशिष्ट ब्रह्म प्रक्रान्त हैं, पुनः अक्षिस्थ वाक्यमें उनका ही अभिधान है, अतः वे ही परमात्मा हैं, जीव अथवा प्रतिबिम्ब नहीं। इस प्रकार उपनिषद तत्त्वको सुस्पष्ट किया गया है। श्रीमद्भागवत (११/१४/१२) में कथित है—

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयात्मना सुखं यत् तत् कुतः स्याद्विषयात्मनाम्॥

अर्थात् हे सभ्य! मुझमें समर्पित-चित्त विषय-वासनाशून्य व्यक्तिके हृदयमें मेरे परमानन्दस्वरूपकी स्फूर्ति होनेसे जिस सुखका उदय होता है, विषयासक्त पुरुषको उस प्रकार सुख किस प्रकारसे सम्भव है? किसी भी प्रकारसे सम्भव नहीं।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत (१०/१४/२३) में ब्रह्माजी स्तुति करते हुए कहते हैं—*'नित्योक्षरोऽजससुखो निरञ्जनः'*, अर्थात् आप अविनाशी होनेके कारण नित्य हैं। आपका आनन्द अखण्डित है। आपमें न तो किसी प्रकारका मल है और न अभाव॥ १५॥

सूत्र—श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च॥ १६॥

सूत्रार्थ—'श्रुतोपनिषत्क'—जो उपनिषद्-वाक्य श्रवण करता है और उसके रहस्य अर्थात् तत्त्वार्थको जानता है, उसकी जो 'गति' अर्थात् देवयान नामक गति है, 'अभिधानात्'—उसका ही उल्लेख अथवा उपदेश इस अक्षिपुरुषतत्त्वविद् राजा कोशलके प्रति है, 'च'—इसलिए भी वह अक्षिपुरुष जीव अथवा प्रतिबिम्ब नहीं है, वे परमात्मा हैं॥ १६॥

सूत्रानुवाद—श्रुतिके द्वारा नेत्रवर्ती पुरुषको सुननेवालेके प्राप्तव्य रूपमें कथन होनेसे नेत्रवर्ती पुरुष परमात्मा ही हैं॥ १६॥

गोविन्दभाष्य—उपनिषदं श्रुतवतोऽधिगतरहस्यस्य श्रुत्यन्तरे या देवयानाख्यगतिरुक्ता सैवहाक्षिपुरुषविद उपकोशलस्योच्यते *'अर्चिषमभिसंभवन्ति'* (छा॰ ४/१५/५) इत्यादिना। तस्माच्च तथा॥ १६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—उपनिषद्-वचनोंको श्रवण करनेवाले और उसके तत्त्वको जाननेवाले व्यक्तिके सम्बन्धमें दूसरी श्रुतिमें मृत्युके बाद जो देवयान नामक गति कही गयी है, उसी गतिका अक्षिपुरुषविद्गण द्वारा उपकोशल राजाको *'अर्च्चिषमभिसम्भवति'* (छा॰ ४/१५/५) (वे अर्चि अभिमानी देवताको ही प्राप्त होते हैं) उपदेश दिया गया है। इसी श्रुतिमें यह भी कहा गया है—*'अथ यदु वै चैवास्मिन् शव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्च्चिष'*—'यदि इस पुरुषके ज्ञाताका औद्ध्र्वदैहिक संस्कार किया जाय या न किया जाय, वह अर्चिरादि गति ही प्राप्त करता है' से प्रारम्भ करके *'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते इत्यन्त'*—'इससे जानेवाले मानव, मानव-मण्डलमें कदापि नहीं लौटते'—यहाँ तक वर्णन है। इनका अर्थ और श्रुत्यान्तरार्थ सूक्ष्मा-टीकामें भी देखना चाहिये। अतएव ये अक्षिपुरुष ब्रह्म हैं, जीव नहीं॥ १६॥

सूक्ष्मा-टीका—श्रुतोपनिषत्केति। श्रुत्यन्तरे। *'अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजपन्त, एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृत-मेतदभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तते।'* इत्यस्मिन् या देवयानाख्यगतिरुक्तेत्यर्थः। अस्यार्थः। अथ देहपातानन्तुरं ब्रह्मचर्यादितपसा हेतुनात्मानमीश्वरमनुसन्धाय तद्ध्यानरूपया विद्ययोत्तरमार्गमर्चिरादिकं प्राप्यते नादित्यादि-द्वारा तमीश्वरं प्राप्नोति तस्य विशेषणानि एतद्वै प्राणानामित्यादीनि सैव गतिरिहोपकोशलस्याक्षिपुरुषविदः कथ्यते। *'अथ यदुचैवास्मिन् शव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्च्चिषमेवाभिसंभवति'* इत्यादिना एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्त इत्यन्तेन। अस्यार्थः। अस्मिन् उपासकगणे मृते सति यदि पुत्रादयः शव्यं शवसम्बन्धिसंस्कारादिकर्म कुर्वन्ति यदि वा न कुर्वन्ति उभयथाप्यक्षतोपास्तिफलास्ते उपासका अर्च्चिरादिदेवान् प्राप्नुवन्ति। ते च मानवपुरुषान्तांस्तान् ब्रह्म गमयन्तीतिविशेषस्त्वर्च्चिरादिना वक्ष्यन्ते बहुवचनेन मोक्षे जीवबहुत्वं सिद्धम्॥ १६॥

सूक्ष्मा-सार—श्रुतोपनिषत्क इत्यादि भाष्योक्त श्रुत्यन्तर (अन्य श्रुति) है—*अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण तपसा ब्रह्मचर्येण .... एतस्मान् पुनरावर्तन्ते।* (प्रश्नोपनिषद १/१०)। इसका अर्थ है—'अथ' देहपातके बाद अक्षिपुरुषविद् व्यक्ति ब्रह्मचर्य, तपस्या, श्रद्धाके कारण आत्मस्वरूप ईश्वरके ध्यानरूप विद्याकी सहायतासे अर्चिरादि उत्तरमार्गको प्राप्त होते हैं, आदित्यादि पथसे वे ईश्वरको प्राप्त नहीं होते। उन ईश्वरके

विशेषण हैं—ये ब्रह्म ही प्राणादि वायुसमूहके आयतन (आश्रय) है, ये ही अमृत है, ये ही अभय हैं, ये ही परम गति हैं। इस स्थानको प्राप्त होनेपर पुनः संसारमें आना नहीं पड़ता। इस श्रुतिमें जो देवयान नामक गति कही गयी है, अर्चि श्रुतिमें उसी गतिका यहाँ अक्षिपुरुषविद् राजा उपकोशलको उपदेश दिया गया है। अर्चिश्रुति इस प्रकार है—*'अथ यदु चैवास्मिन् .... नावर्त्तन्ते इत्यन्त।'* इसका अर्थ है—उपासकोंके मृत होनेपर उनके पुत्र-पौत्रादि आत्मीय वर्ग यदि उनके शवका संस्कारादि कार्य करें अथवा न करें, दोनों ही प्रकारसे वे ब्रह्मोपासकगण अक्षत उपासनाके फलस्वरूप अर्चि इत्यादिके अधिष्ठातृ देवताको प्राप्त होते हैं। वे अमानव पुरुष उन उपासकोंको ब्रह्मलोक तक पहुँचा देते हैं। यह विशेष फल अर्चिरादि वाक्योंके द्वारा बादमें कहा जायेगा। अमानव पुरुषगण—यहाँ बहुवचनका प्रयोग है, जिससे सूचित होता है कि मुक्तिमें जीवका बहुत्व सिद्ध है॥ १६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—जो उपनिषद तत्त्वको श्रवण करता है और तत्त्वार्थको अधिगत कर सकता है, उस ब्रह्मविद् व्यक्तिका उल्लेख रहनेसे यहाँ ब्रह्मका प्रसङ्ग ही कथित हुआ है, उसीको सूत्रकार सूत्रमें प्रकाशित कर रहे हैं। इसलिए अक्षि-स्थित पुरुष जीव अथवा प्रतिबिम्ब नहीं हैं, वे परमात्मा हैं। यहाँ 'अमानव पुरुषगण' ऐसा जो कहा गया है, यह विषय विशेष रूपसे ध्यान दिये जाने योग्य है कि बहुवचनके प्रयोगके द्वारा मुक्तिमें भी जीवका बहुत्व सिद्ध है।

श्रीमद्भागवत (२/६/२१) में द्रष्टव्य है—

सृती विचक्रमे विष्वङ् साशनानशने उभे।
यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः॥

विश्व-परिभ्रमणकारी जीव अविद्या एवं विद्यावश भोग एवं अपवर्गकी प्राप्तिके साधनस्वरूप एकपाद एवं त्रिपाद-विभूति प्राप्तिके दोनों मार्ग—दक्षिण एवं उत्तरमें भ्रमण करता है। दक्षिण पथ कर्म (भोग) का है और उत्तर पथ ज्ञानका (मोक्षका) है। परमेश्वर विद्या एवं अविद्या दोनोंके आश्रय हैं। अविद्या-दशामें जीव एकपाद विभूति और विद्या-दशामें त्रिपाद विभूतिको प्राप्त करता है। दोनों प्रकारकी

माया ही परमेश्वरके अधीन है, परमेश्वर ही मायाधीश हैं। (ज्ञातव्य—त्रिपाद विभूति भगवान्की अन्तरङ्गा चित्–शक्तिका विलास है। इस चिन्मयी शक्तिमें ही भगवान् आसक्त हैं, किन्तु एकपाद विभूति बहिरङ्गा मायाशक्तिका विलास है। परमेश्वर इस मायामयी शक्तिमें अनासक्त रहकर केवल इसकी सहायता करते हैं।)

श्रीमद्भगवद्गीता (८/२६–२७) में भी वर्णन है,

शुक्लकृष्ण गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः॥

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥

अर्थात् दो गति हैं—शुक्ल एवं कृष्ण। इनमें शुक्ल अर्थात् अर्चिरादि मार्गसे मोक्ष प्राप्त होता है। कृष्ण अर्थात् धूम्रादि मार्गसे संसारमें पुनर्जन्म होता है। दोनों मार्गोंके तत्त्वपूर्ण पार्थक्य–ज्ञानसे विवेक उत्पन्न होनेपर दोनों ही मार्ग क्लेशमय जान पड़ते हैं। इन दोनोंसे परे शुद्ध भक्तिमार्गको सर्वश्रेष्ठ और सुखसाध्य जानकर और उसका आश्रय लेकर भक्तियोगमें समाहित योगी फिर मोहको प्राप्त नहीं होता।

वराहपुराणमें भी द्रष्टव्य है—

नमामि परमं स्थानमर्चिरादि गतिं विना।
गरुडस्कन्धमारोप्य यथेच्छमनिवारितः॥

इस सम्बन्धमें *'विशेषं च दर्शयति'* (ब्र॰सू॰ ४/३/१६) का गोविन्दभाष्य भी द्रष्टव्य है॥ १६॥

अवतरणिकाभाष्य—प्रतिबिम्बादीनां त्रयाणां ग्रहणं त्विह न सम्भवतीत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रतिबिम्बादिनामित्यादि—जो अक्षिस्थ पुरुष हैं, वे प्रतिबिम्ब, सूर्य अथवा जीव नहीं हैं। सूत्रकार इसीको युक्ति द्वारा प्रतिपादन कर रहे हैं।

सूत्र—अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः॥ १७॥

सूत्रार्थ—'अनवस्थितेः'—प्रतिबिम्ब (छाया) चक्षुमें नियमित (नित्य) रूपसे नहीं रहता, इसलिए वह प्रतिबिम्ब नहीं है, 'असम्भवात् च'—अमृतत्व इत्यादि निरुपाधिक ब्रह्मधर्मोंका प्रतिबिम्ब, सूर्य और जीवमें रहना असम्भव है, 'नेतरः'—इसलिए वे अक्षिस्थ पुरुष प्रतिबिम्बादि तीनोंमें कोई नहीं है, बल्कि परमेश्वर हैं॥ १७॥

सूत्रानुवाद—यहाँ इतर कोई प्रतिबिम्बात्मादि ग्रहणीय नहीं हो सकते, क्योंकि उनका नेत्रमें अवस्थान नहीं है, उनमें अमृतत्वादि गुण भी सम्भव नहीं हैं॥ १७॥

गोविन्दभाष्य—तेषां चक्षुषि नियमेन स्थितेरभावादमृतत्वादेर्निरुपाधिकस्य तेष्व-सम्भवाच्च नेतरस्तेषामन्यतमः कोऽप्यक्षिस्थः किन्तु परमात्मैव स इति॥ १७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'तेषामित्यादि'*—उनकी अर्थात् प्रतिबिम्ब सूर्य एवं जीवकी चक्षुमें नियमित रूपसे अर्थात् सब समय स्थिति नहीं रहती तथा अमृतत्व, अभयत्व, परायणत्व इत्यादि निरुपाधिक ब्रह्मधर्मोंका भी प्रतिबिम्बादिमें रहना असम्भव है, इसलिए भी दूसरा कोई नहीं है अर्थात् अक्षिस्थपुरुषके रूपमें प्रतिबिम्ब, सूर्य और जीव—इनमेंसे कोई नहीं है, बल्कि परमेश्वर ही हैं॥ १७॥

सूक्ष्मा-टीका—त्रयाणामिति। प्रतिबिम्बस्य तावत् पुरुषास्तरसान्निध्यायत्तत्वाच्चक्षुषि नियमेनावस्थितिर्न सम्भवेत्। सूर्यस्य च रश्मिद्वारेण चक्षुषि स्थितिवचनाद्देशन्तरस्थस्यापि तस्य करणप्रवर्त्तकत्वोपपत्तेर्न तत्रावस्थानम्। जीवस्य च निखिलकरणानुकुल्याय निखिलतदाश्रयभूते स्थानविशेषे हृद्यवस्थितिरिति न तत्र तदिति एयाणां तदसम्भवः॥ १७॥

सूक्ष्मा-सार—प्रतिबिम्ब, सूर्य और जीव—इन तीनोंमेंसे किसीको भी नेत्रस्थ पुरुषरूपमें ग्रहण करना सम्भव नहीं है। इसका कारण है—जो प्रतिबिम्ब है, वह बिम्ब-सापेक्ष है। अतएव वह अन्य एक पुरुषकी सन्निधिके अधीन है। (सामने किसी व्यक्तिके हुए बिना छाया पड़ नहीं सकती) इसलिए प्रतिबिम्ब (छाया-पुरुष) की नियमित रूपसे चक्षुमें अवस्थिति सम्भव नहीं है। और जो यह कहा गया कि सूर्य भी चक्षुमें अवस्थान करते हैं, वह भी सौर-रश्मियोंके माध्यमसे है, (चाक्षुष देवता किरणोंसे चक्षुमें अवस्थान करते हैं) अतएव जब सूर्य

देशान्तरमें रहते हैं, तो वे चक्षु इन्द्रियके प्रवर्त्तक हैं, चक्षुमें उनका अवस्थान नहीं है। रही जीवात्माकी बात, वह समस्त इन्द्रियोंकी चेतनताको सम्पादित करनेके लिए इन्द्रियोंके आश्रयभूत जीव-देहके हृदयमें रहता है, अतएव चक्षुमें जीवात्माके स्थानका प्रश्न ही नहीं उठता। अतः अक्षिस्थ पुरुष इन तीनोंमेंसे कोई भी नहीं हो सकता॥ १७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त कथनको ही युक्तिके द्वारा ज्ञात करानेके लिए सूत्रकारने प्रस्तुत सूत्रमें कहा है कि असम्भव रूपमें एवं अवस्थितिके अभाववश अक्षिस्थ पुरुष ब्रह्मके अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकते। भाष्यकार श्रील बलदेव प्रभुने अपनी टीकामें स्पष्ट कर दिया है कि प्रतिबिम्ब, सूर्य और जीव—इन तीनोंमेंसे किसीको भी अक्षिस्थ पुरुषरूपमें ग्रहण करना सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि किसीकी भी सन्निधिके बिना प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है। पुनः, सूर्यके देशान्तरमें रहनेके कारण अपनी रश्मियोंके द्वारा ही वे चक्षुके प्रवर्त्तक हैं, चक्षुओंमें उनकी अवस्थिति नहीं है। और जीव समस्त इन्द्रियोंके आनुकूल्यके लिए इन्द्रियोंके आश्रयभूत स्थान-विशेष हृदयके मध्य अवस्थान करता है, चक्षुओंमें उसकी भी अवस्थिति नहीं है। इसके अतिरिक्त अमृतत्वादि जो सब निरुपाधिक-धर्म ब्रह्ममें हैं, उनका इनमेंसे किसीमें भी रहना सम्भव नहीं है। अतः अक्षिस्थ पुरुष परब्रह्म परमात्मा ही हैं।

श्रीमद्भागवत (११/२८/६) में द्रष्टव्य है—

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः।
तस्मान्न ह्यात्मनोऽन्यस्मादन्यो भावो निरूपितः॥

ईश्वर प्रभु विश्वरूपी परमात्मा ही इस विश्वकी सृष्टि करते हैं, पालन करते हैं और विनाश करते हैं। इन सृष्टकी हुई वस्तुओंकी कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं है अर्थात् सृष्ट-पदार्थ परमेश्वरके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिए वस्तुतत्त्वका इस प्रकारसे निरूपण होनेपर आत्माकी आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन त्रिविध

प्रतीतियोंको भी मिथ्या समझना चाहिये, क्योंकि आध्यात्मिक आदि गुणमय त्रिविध भाव मायाके द्वारा ही कल्पित हुआ करते हैं अर्थात् उन्हें त्रिगुणमयी मायाका विलासमात्र ही समझना चाहिये।

भागवत (१२/४/३२) में भी देखा जाता है,

यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो,
ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः।
एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो,
ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धनः॥

जिस प्रकार बादल सूर्यसे उत्पन्न होता है और सूर्यसे ही प्रकाशित होता है, फिर भी वह सूर्यके ही अंश नेत्रोंके लिए सूर्यका दर्शन करनेमें बाधक बन बैठता है। इसी प्रकार अहङ्कार भी ब्रह्मसे ही उत्पन्न होता है, ब्रह्मसे ही प्रकाशित होता है और ब्रह्मके अंश जीवके लिए ब्रह्मस्वरूपके साक्षात्कारमें बाधक बन बैठता है॥ १७॥

५—अन्तर्याम्यधिकरणम्

अवतरणिकाभाष्य—बृहदारण्यके (३/७/३) श्रूयते। *'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत'* इति। अत्र पृथिव्याद्यन्तःस्थो यमयिता प्रतीतः, स किं प्रधानं जीवः परो वेति संशये प्रधानमिति तावत् प्राप्तं, तदन्तःस्थत्वादेस्तत्र सम्भ्वात्। कारणं हि कार्येऽनुस्यूतं तस्य नियन्तृ च भवति। प्रीतिप्रदत्वादात्मत्वं तत्रोपचरितं व्याप्तियोगाद्वा नित्यत्वादमृतञ्च तदिति। जीवो वा कश्चिद् योगी स स्यात्। सर्वान्तःप्रवेशनान्तर्द्धानशक्तिभ्यां नियन्तृत्वादृष्टत्वादेस्तत्र योगादात्मत्वामृतत्वे च तस्य मुख्ये तस्मात् प्रधानजीवयोरेकतरः स इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—बृहदारण्यकोपनिषद (३/७/३) में सुननेमें आता है कि *'यः पृथिव्यां तिष्ठन् ..... आत्मान्तर्याम्यमृतः'* अर्थात् 'जो पृथ्वीके ऊपर और पृथ्वीके अन्दर वर्त्तमान हैं। पृथ्वी जिनका शरीर है और पृथ्वी जिन्हें जानती नहीं है, जो पृथ्वीके मध्य रहकर पृथ्वीको नियममें रखते हैं, वे ही तुम्हारी आत्मा परमेश्वर हैं, वे ही अन्तर्यामी श्रीहरि अमृतस्वरूप हैं।' इस श्रुतिमें जो पृथ्वी आदिके अन्तःस्थित परिचालक अथवा नियामक पुरुष प्रतीयमान हो रहे हैं, वे क्या प्रधान

अथवा प्रकृति हैं, अथवा जीवात्मा हैं अथवा परमेश्वर हैं? इस संशयके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं—वे पुरुष प्रधान हैं, क्योंकि पृथ्वीके अन्तःस्थ पृथ्वीका नियामक प्रधान ही हो सकता है। इसमें युक्ति यह है कि कार्यमें कारण प्रविष्ट रहता है, पृथ्वी प्रकृतिका कार्य है, अतः उसमें प्रकृतिका प्रवेश और उसकी नियमन शक्ति रहेगी ही। यदि कहो कि पृथ्वीकी आत्मा प्रकृति किस प्रकार हो सकती है? तो उत्तरमें कहेंगे—लक्षणावृत्तिके अनुसार अर्थात् प्रीतिप्रदत्वरूप जीवधर्म प्रकृतिमें भी है। पुनः वह विभु एवं अमृत भी हो सकती है, क्योंकि वह सर्वगत है, इसलिए विभु है और नित्य है, इसलिए अमृत है। अथवा यह आन्तर पुरुष जीव भी हो सकता हे, किन्तु वह जीव एक योग-सिद्ध पुरुषरूपमें ग्राह्य है। योगीमें पृथ्वीमें प्रवेश करनेकी और अन्तर्द्धान होनेकी दोनों शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। साथ ही पृथ्वीका नियमन करना और अदृश्य हो जाना—इस प्रकार नियामकत्व और अदृश्यत्व—ये दोनों भी जीव-योगीमें योग-बलके आधारपर सम्भव हैं। और भी, आत्मत्व एवं अमृतत्व ये दोनों जीवके मुख्य धर्म हैं। अतः प्रधान अथवा जीव इन दोनोंमेंसे किसी एकको आन्तर पुरुष कहा जायेगा। पूर्वपक्षवादियोंके इस मतका खण्डन करनेके लिए सूत्रकार कह रहे हैं—

सूत्र—अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्॥ १८॥

सूत्रार्थ—'अन्तर्यामी'—यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो इत्यादि श्रुति द्वारा ज्ञापित पृथ्वीके अन्तर्यामी पुरुष, 'अधिदैवादिषु'—जो पृथ्वी आदि अधिष्ठात्री देवता प्रतिपादक वाक्योंमें प्रतिपादित हैं, वे पुरुष परमात्मा हैं, किस कारणसे? उत्तर—तद्धर्मव्यपदेशात्—परमेश्वरके धर्मोंका यथा पृथ्वी आदिका अन्तःस्थत्व, नियामकत्व और उसका अवेद्यत्व, इसके बाद विभुत्व, विज्ञानमयत्व, आनन्दरूपत्व, अमृतत्व आदि उन पुरुषके लिए ही कथित हुए हैं॥ १८॥

सूत्रानुवाद—पृथ्वी आदि अधिष्ठात्री देवताओं (अधिदेवों) में अन्तर्यामी रूपसे जिनका उल्लेख है, वे परब्रह्म हैं, उनमें ही ब्रह्मके धर्मोंका निर्देश है॥ १८॥

गोविन्दभाष्य—योऽयमधिदैवादिषु वाक्येषु अन्तर्यामी श्रुतः स परेशएव। कुतः तदिति। पृथिव्यादिसर्वान्तःस्थत्वतदवेद्यत्वतन्नियन्तृत्वविभुविज्ञानानन्दत्वामृतत्वादीनां तद्धर्माणामिहोक्तः॥ १८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अधिदैव, अधिलोक, अधिवेद, अधियज्ञ, अध्यात्म और अधिभूत प्रतिपादक वाक्योंमें जिन अन्तर्यामी परमात्माकी चर्चा सुनायी पड़ती है, वे परमेश्वर श्रीहरि हैं। कारण—उनके धर्म हैं, जैसे कि पृथ्वीमें रहकर भी पृथ्वीका अन्तःस्थ होना, इसी प्रकार अन्यान्य भूतोंका भी अन्तःस्थ होना, इसलिए वे पृथ्वी आदि समस्त भूतोंके अन्तरस्थ हैं और उन सबके द्वारा अज्ञेय हैं, वे उसके (पृथ्वीके) नियामक अर्थात् नियमानुसार परिचालक हैं, वे सर्वव्यापी हैं, ज्ञानघन, आनन्दमय अमृत, नित्य हैं, ये सभी निर्दिष्ट धर्म परमेश्वरमें ही सम्भव हैं॥ १८॥

सूक्ष्मा-टीका—पूर्वत्र स्थानादिति सूत्रे यश्चक्षुषि तिष्ठन्नित्यन्तर्यामिब्राह्मणस्थ-वाक्यमन्तर्यामिनः परमात्मत्वं सिद्धवत् कृत्वोक्तम्। तदाक्षिप्य समाधानादाक्षेपोऽत्र सङ्गतिः। यः पृथिव्यामित्यादि। प्रधानयोगिजीवान्यतरोपास्तिः पूर्वपक्षे फलं सिद्धान्ते तु परमात्मोपास्तिः। यः पृथिव्यां तिष्ठन्नन्तर्यामीत्युक्ते स्थावरादिः स इति शङ्का स्यात् तद्वारणाय पृथिव्या अन्तर इति। पृथिवीदेवतां वारयितुं यं पृथिवी न वेदेति। तस्या नियामकोऽसावित्याह। यस्य पृथिवीत्यादि। एष आत्मा विभुर्विज्ञानानन्दः श्रीहरिरन्तर्यामी अमृतः नित्यः स इत्यर्थः। एवं यः पृथिव्यामित्याद्यधिदेवतानन्तरं यः सर्वेषु लोकेष्वित्यधिलोकं यः सर्वेषु वेदेष्वित्यध्विदं यः सर्वेषु यज्ञेष्वित्यधियज्ञं यः सर्वेषु भूतेष्वित्यधिभूतं यः प्राणेष्वित्यादि यः आत्मनीत्यन्तमध्यात्मञ्च कश्चिदन्तःस्थो यमयिता श्रूयते। स तत्र तत्र स्थितः प्रधानं योगिजीवो हरिर्वेति संशये प्रधानपक्षं व्युत्पादयति तदन्तःस्थत्वादेरिति। योगिजीवपक्षं व्युत्पादयति जीवो वेति। सर्वान्तःप्रवेशनं योगजधर्मवलेन बोध्यम्। तदुक्तं नारदं प्रति। *'त्वं पर्यटन्नर्क इव त्रिलोकीमन्तश्चरो वायुरिवात्मसाक्षी'* विभुर्विज्ञानानन्दत्वादिनात्मशब्दोर्थो बोध्यः। तद्धर्माणामिति। न चैते इतोऽन्यत्रमुख्यतया संभवेयुरित्याशयः॥ १८॥

सूक्ष्मा-सार—पूर्वमें *'स्थानादिव्यपदेशात्'* इस सूत्रमें कहा गया है कि जो चक्षुके मध्य रहकर चक्षुको नियमित करते हैं, उसी प्रकार अन्तर्यामी प्रतिपादक वेदोक्त (यजुर्वेदीय काण्वशाखा और माध्यन्दिन वाजसनेयी शाखा) ब्राह्मणवाक्योंमें जो कहा गया है, वह सब

अन्तर्यामी पुरुषको परमेश्वर सिद्ध करता है। इसपर आपत्ति करके समाधान भी किया गया है, इसलिए परवर्ती ग्रन्थोत्थानमें आक्षेप संगति है। *'यः पृथिव्यां इत्यादि'* श्रुति कहनेका फल अथवा उद्देश्य पूर्वपक्षवादियोंके मतमें प्रधान अथवा योगी जीवमेंसे किसी एककी उपासना है। सिद्धान्तवादियोंके मतमें श्रुतिका लक्ष्य परमेश्वरकी उपासना है। *'यः पृथिव्यां तिष्ठन्नन्तर्यामी'*—जो पृथ्वीमें रहकर पृथ्वीके अन्तर्यामी हैं—यह कहनेसे तो स्थावरादि समस्त ही वे हैं, यह धारणा हो सकती है, इसके निवारणके लिए कह रहे हैं—पृथिव्या अन्तरः अर्थात् वे पृथ्वीके अन्तर्वर्त्ती अथवा अन्तर्यामी हैं। तब क्या वे पृथ्वीके अधिष्ठात्री देवता हैं? ऐसा भी नहीं है, *'यं पृथिवी न वेद'*, जिन्हें पृथ्वी नहीं जानती, पृथ्वीके लिए उनका ज्ञान होना सम्भव भी नहीं है, वे पृथ्वीके नियामक हैं। यही कह रहे हैं—*'यः पृथिवीमन्तरो यमयति'*—'वे पृथ्वीमें रहकर पृथ्वीको नियमित करते हैं।' वे कौन हैं? उत्तर—वे आत्मा, विभु, विश्वव्यापक, विज्ञानघन, आनन्दमय श्रीहरि, अन्तर्यामी, नित्य हैं। इसी प्रकार पृथ्वीके आन्तर अथवा अधिदैव रूपमें उन्हें अन्यान्य वस्तुओंका भी अधिदेवता कह रहे हैं—*यः सर्वेषु लोकेषु*—जो समस्त लोकोंके अधिष्ठातृ देवता हैं, इसलिए वे अधिलोक हैं। इसी प्रकार *'यः सर्वेषु वेदेषु'*—जो समस्त वेदोंके लक्ष्य देवता हैं, इसलिए अधिवेद हैं, *'यः सर्वेषु यज्ञेषु'*—जो समस्त यज्ञोंके यष्टव्य देवता हैं, इस कारणसे अधियज्ञ हैं, *'यः सर्वेषु भूतेषु'*—जो समस्त क्षिति आदि भूतोंमें वर्त्तमान हैं, इस कारण अधिभूत हैं, *'यः प्राणेषु'*—जो समस्त प्राणवायुके मध्य विराजमान हैं इत्यादिसे लेकर *'य आत्मनि'* जो शरीरके मध्य विराजमान हैं, यहाँ तक ग्रन्थके द्वारा अन्तःस्थित किसी एक नियामककी बात सुनायी पड़ती है, तब उन-उन पृथ्वी आदिका अन्तर्यामी कौन है? प्रकृति? अथवा योगी जीव? अथवा श्रीहरि? इस संशयपर पूर्वपक्षवादियोंने *'तदन्तःस्थत्वादेः'* द्वारा प्रकृति पक्षकी स्थापना की है। इसके बाद *'जीवो वा'* इत्यादिके द्वारा योगी जीवकी स्थापना कर रहे हैं। इस सन्दर्भमें उनकी युक्ति है—योगज-धर्मके प्रभावसे ही सबमें प्रवेश जानना चाहिये। योगज-धर्मके प्रभावसे जिन योगी-पुरुषोंका सबमें प्रवेश होता है, वह श्रीमद्भागवतमें

नारदजीके प्रति कहे हुए वेदव्यासके वचनोंमें देखा जाता है—*'त्वं पर्यटन्नर्क इव'* इत्यादि (श्रीमद्भा॰ १/५/७)। अर्थात् 'हे देवर्षे! आप सूर्यके समान तीनों भुवनोंमें भ्रमण करते हुए वायुके समान समस्त प्राणियोंके हृदयमें रहकर आत्म-दर्शन करते हैं।' *'तस्य मुख्यो'* इत्यादि। 'तस्य' यह अर्थ योगी जीवके पक्षमें है। इस पूर्वपक्षके ऊपर *'अन्तर्याम्यधिदैवादिषु'* इत्यादि सूत्रको सिद्धान्त रूपमें बतला रहे हैं—विभु, विज्ञानघन, आनन्दमयत्व इत्यादिके द्वारा आत्मशब्द पुरुष अर्थमें बोध्य है। *'तद्धर्माणाम्'*—ये विभुत्वादि धर्म परमेश्वरसे अतिरिक्त अन्य किसीमें सम्भव नहीं हैं॥ १८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—बृहादरण्यकमें वर्णित जो अन्तर्यामी अथवा अधिदैव इत्यादिका उल्लेख देखा जाता है, वे क्या प्रधान है? अथवा जीव है? या फिर परमेश्वर हैं? इस विषयमें पूर्वपक्षवादियोंने जिन युक्तियोंका आश्रय लेकर प्रधान अथवा योगी जीवको पृथ्वीका अन्तर्यामी अथवा अधिदैव रूपमें स्थापन करनेका प्रयास किया है, उसीका खण्डन करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि अधिदैवादिमें जिनका अन्तर्यामीरूपमें निर्देश है, वे परमेश्वर हैं। क्योंकि वहाँ ब्रह्मके धर्मोंका व्यपदेश अर्थात् उल्लेख हुआ है। भाष्यकार श्रीलबलदेव प्रभुने अपनी टीकामें पूर्वपक्षकी समस्त युक्तियोंका खण्डन करते हुए विशेष रूपसे यह स्थापित किया है कि परमात्मा ही अन्तर्यामी हैं और अधिदैवादि शब्दोंके द्वारा वे ही लक्षणीय हैं।

श्रीमद्भागवत (२/४/१२) में श्रीशुकदेवजीके वचनोंमें द्रष्टव्य है—

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे सदुद्भवस्थान-निरोधलीलया।
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिना-मन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने॥

अर्थात् श्रीशुकदेवजी कहते हैं—पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें बार-बार नमस्कार है। उन्होंने अपने पुरुषादि अवतारोंके द्वारा अपने अनन्त ऐश्वर्यको इस प्रकार प्रकाशित किया है कि उसकी महिमाके परिणामको बताया नहीं जा सकता। प्रथम पुरुषावतार लीलाके रूपमें वे विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं लयके कारणस्वरूप हैं।

जब वे ब्रह्मादिरूपको स्वीकार करते हैं, तब सत्त्व, रज एवं तम इन तीन शक्तियोंको ग्रहण करते हैं। जब उनकी द्वितीय और तृतीय पुरुषावतार लीला होती है, तब वे समष्टि ब्रह्मादिके और व्यष्टि जीवोंके अन्तरमें अन्तर्यामी रूपसे विराजित रहते हैं। उनके स्वरूप एवं अलौकिक गतिको बुद्धिसे नहीं समझा जा सकता। उनकी महिमा अनन्त है। भक्तियोग ही उन्हें जाननेका एकमात्र मार्ग है, जो योगियोंके लिए भी परम दुर्लभ है।

और भी,

भूतैर्महद्भिर्य इमाः प्ररो विभु-
र्निर्माय शेते यदमूषु पूरुषः।
भुङ्क्ते गुणान् षोडश षोडशात्मकः
सोऽलङ्कृषीष्टाखिलविद्वचांसि मे॥

(श्रीमद्भा॰ २/४/२३)

अर्थात् जो विभु पुरुष देव, मनुष्य, तिर्यकादि शरीरोंकी रचना करके उनमें अन्तर्यामी रूपसे स्वयं वास करके सम्पूर्ण शरीरको सफल एवं सार्थक करते हैं, जो महत्-तत्त्व आदिके द्वारा विभिन्न शरीरोंकी सृष्टिरूपी पुरमें वास करनेके कारण 'पुरुष' नामसे प्रसिद्ध हैं, जो ग्यारह इन्द्रियों और पञ्चमहाभूतरूप सोलह गुणोंके चैतन्यको प्रकाशित करनेवाले आत्माके रूपमें विराजित रहते हैं, जो साक्षीस्वरूप होकर अनासक्त भावसे इन सोलह गुणोंके सोलह विषयोंका भोग करते हैं, वे सर्वभूतमय भगवान् मेरी वाणीको अलंकृत करें।

श्रीविदुरजी कह रहे हैं—*'भगवानेक एवैष सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः।'* (श्रीमद्भा॰ ३/७/६) अर्थात् एकमात्र ये भगवान् ही समस्त क्षेत्रोंमें उनके साक्षीरूपमें स्थित हैं।

श्रीमद्भावगत (२/२/८) में ही श्रीशुकदेवजीने और भी कहा है—

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।

अर्थात् कोई-कोई साधक अपने शरीरके भीतर हृदयाकाशमें विराजमान भगवान्के प्रादेशमात्र स्वरूपकी धारणा करते हैं।

श्रीब्रह्माजी भी कह रहे हैं—

अहं भवो दक्षभृगुप्रधानाः प्रजेशभूतेशसुरेशमुख्याः।
सर्वे वयं यन्नियमं प्रपन्ना मूर्ध्न्यर्पितं लोकहितं वहामः॥
(श्रीमद्भा० ९/४/५४)

अर्थात् ब्रह्माजीने कहा—मैं, शङ्करजी, दक्ष आदि प्रजापति, भृगु आदि ऋषि, भूतनाथ, श्रेष्ठ देवगण—हम सभी उनके ही अधीन हैं। उनके आदेशका पालन करते हुए ही हम सब इस संसारका हित करते हैं। उनके भक्तसे द्रोह करनेवालेको बचानेमें हम समर्थ नहीं हैं।

इस प्रसङ्गमें श्रीमद्भगवद्गीताके *'पुरुषचाधिदैवतम्'* और *अधियज्ञोऽहमेवात्र* (८/४) श्लोक भी आलोच्य हैं॥ १८॥

सूत्र—न च स्मार्त्तमतद्धर्माभिलापात्॥ १९॥

सूत्रार्थ—'स्मार्त्तम् न च'—वेदसे भिन्न अन्यान्य पुराणादि अथवा सांख्यादि स्मृतियोंमें वर्णित प्रकृति अथवा प्रधान अन्तर्यामी पद वाच्य नहीं हैं। क्यों? 'अतद्धर्माभिलापात्'—क्योंकि प्रकृतिमें जो धर्म नहीं है, उनका उल्लेख इन अन्तर्यामी पुरुषमें हुआ है॥ १९॥

गोविन्दभाष्य—उक्त हेतुभ्यः स्मार्त्तं प्रधानमन्तर्यामीति न वाच्यम्। कुतः? अतदिति। *'अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतो श्रोता अमतो मन्ता अविज्ञातो विज्ञाता नान्यतोऽस्ति द्रष्टा नान्यतोऽस्ति श्रोता नान्यतोऽस्ति मन्ता नान्यतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृत इतोऽन्यत् स्मार्त्तमिति'* (बृ॰आ॰ ३/७/२३) वाक्यशेषाणां द्रष्टृत्वादीनां तस्मिन्न सम्भवात्॥ १९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्व प्रकाशित कारणोंसे धर्मशास्त्रोक्त प्रधान ही अन्तर्यामी है, यह कहा नहीं जा सकता। क्यों? इसलिए कि जो प्रकृतिके धर्म नहीं है, उनका उल्लेख अन्तर्यामी पुरुषमें सुनायी पड़ता है। यथा उन्हें कोई प्रत्यक्ष कर नहीं सकता, वे सबको प्रत्यक्ष करते हैं, उन्हें कोई सुन नहीं सकता, वे सबकी बात सुन सकते हैं, उनका कोई अनुमान कर नहीं सकता, वे सबका मनन कर सकते हैं, वे सबके विज्ञाता हैं, किन्तु स्वयं किसीके द्वारा विज्ञात नहीं हैं, उनसे भिन्न दूसरा कोई साक्षी पुरुष (द्रष्टा) नहीं है, उनसे भिन्न न ही कोई श्रोता है, न ही मननकर्त्ता और न ही विज्ञाता। वे तुम्हारे आत्मा

हैं, अन्तर्यामी, अमृत और नित्य पुरुष हैं। अतएव श्रुतिके वाक्य-शेषमें (उक्त वाक्यके अन्तमें) प्राप्त द्रष्टृत्व, श्रोतृत्व, विज्ञातृत्व, मन्तृत्व इत्यादि धर्म अन्तर्यामी परमेश्वरमें ही सम्भव हैं॥ १९॥

सूक्ष्मा-टीका—न चेति। उक्तहेतुनां द्रष्टृत्वादयः प्रतिपक्षा इति तेषां हेत्वाभासता बोध्या। नान्यतोऽस्ति द्रष्टेति। अदृष्टत्वे सति द्रष्टा अतोऽन्तर्यामिनोहन्यो नास्तीत्यर्थ इत्थञ्च योगिजीवोऽपि निवारितः तस्य परमात्मनोऽप्रस्तुतत्वात्॥ १९॥

सूक्ष्मा-सार—प्रकृति एवं योगी-जीवके पक्षमें जो सब हेतु दिखाये गये हैं, उनके विरुद्धमें द्रष्टृत्व इत्यादि हेतु हैं, अतः वे सभी हेतु हेत्वाभास दोषसे दूषित हैं। बात यह है कि जो मध्यस्थ होता है, वह वादी-प्रतिवादीके विचारमें दोनोंको अपना-अपना विचार रखनेके लिए कहता है। वादी हेतु रूपमें जिसका उल्लेख करता है, यदि प्रतिवादी उसमें दोष दिखा सकता है, तो इस दूषित हेतुसे अनुमान नहीं होगा और वह ग्रहणीय भी नहीं रहेगा। इस हेतु-दोषका नाम हेत्वाभास है, यह साधारणतः पाँच प्रकारका होता है, यथा—अनैकान्तिक, विरोध, असिद्धि, सत्प्रतिपक्ष और बाध। इनमें जो अनुमानमें हेतुका प्रतिपक्ष हेतु है, वह सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास है। यहाँ वादीने कहा—प्रकृति अन्तर्यामी पदवाच्य है। किस हेतुसे? *'पृथिव्यादेः अन्तःस्थत्वात् पृथिव्यादेर्नियन्तृत्वाच्च'*—पृथ्वी आदिके अन्तःस्थ होनेसे तथा पृथ्वी आदिका नियन्ता होनेसे। प्रतिवादीने इसके विपक्षमें कहा—*'अन्तर्यामी न प्रकृतिः, हेतु अदृष्टत्व सति द्रष्टृत्वात्'* अर्थात् प्रकृति अन्तर्यामी नहीं है, क्योंकि जो अन्तर्यामी होंगे, वे अदृष्ट होनेपर भी द्रष्टा होंगे। अदृष्टत्वके साथ दृष्टत्व प्रकृतिमें सम्भव नहीं, परमेश्वरमें ही है। अतः प्रकृतिको अन्तर्यामी नहीं कह सकते। और प्रकृति ही क्या, यह धर्म परमेश्वरके अतिरिक्त किसीमें भी सम्भव नहीं है। इस प्रमाणसे योगी-जीवका भी निरास हो गया, क्योंकि योगी-जीवका परमात्मरूपमें प्रस्ताव नहीं है॥ १९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्व सूत्रमें अन्तर्यामी पुरुषके जो धर्म उल्लिखित हुए हैं, उस कारणसे स्मृति-शास्त्र अथवा सांख्यशास्त्रमें वर्णित प्रधान अथवा प्रकृति अन्तर्यामी नहीं हो सकते। अन्तर्यामीको जिस प्रकार

द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, नियन्ता, अमृतमय, नित्यपुरुष कहकर उन-उन धर्मोंके उपदेशका उल्लेख है, उनकी सम्भावना प्रकृतिमें नहीं है। इसीलिए सूत्रकारने प्रस्तुत सूत्रमें प्रकृतिके पृथ्वीके अन्तर्यामित्व स्थापनकी युक्तिकी निरर्थकताका प्रतिपादन किया है।

श्रीमद्भागवत (१/८/१४) में द्रष्टव्य है—

अन्तःस्थः सर्वभूतानामात्मा योगेश्वरो हरिः।
स्वमाययावृणोद्गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे॥

अर्थात् भगवान् श्रीहरि षडैश्वर्यपूर्ण और सभी प्राणियोंके आत्मा परमात्मा हैं। वे समस्त प्राणियोंके हृदयमें विराजमान हैं। उन्होंने कुरुवंशोत्पन्न पाण्डवोंके वंशकी रक्षाके लिए विराटनन्दिनी उत्तराके गर्भमें श्रीकृष्णरूपसे प्रवेश किया और अपनी योगमायाके कवचसे उसके गर्भको ढक दिया।

और भी,

अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः।
समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२६/१८)

अर्थात् जो अपनी योगमाया शक्तिके प्रभावसे सम्पूर्ण जीवोंमें अन्तर्यामीरूपमें और बाहर कालरूपमें वर्त्तमान हैं, वे ही पच्चीस तत्त्वोंके अधीश्वर भगवान् हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी देखा जाता है—

अन्तर्यामी ईश्वरेर एइ रीति हय।
बाहिरे ना कहे वस्तु प्रकाशे हृदय॥

अर्थात् अन्तर्यामी ईश्वरकी भी यही रीति है कि वे भी बाहर साक्षात् रूपसे जीवको शिक्षा नहीं देते, किन्तु प्रत्येक वस्तुका ज्ञान जीवके हृदयमें प्रकाशित करते हैं॥ १९॥

सूत्र—शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते॥ २०॥

सूत्रार्थ—'शारीरश्च'—शरीराभिमानी योगी जीव अन्तर्यामी है—यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'उभये अपि'—यजुर्वेदकी काण्वशाखीय

और माध्यन्दिन शाखीय दोनों वैदिकोंने एनम्-ऐसे—योगी-पुरुषको 'भेदेन'—अन्तर्यामी परमात्मासे भिन्न रूपमें 'अधीयते'—निरूपित किया है॥ २०॥

सूत्रानुवाद—शरीरमें रहनेवाला योगी जीवात्मा भी अन्तर्यामी नहीं है। माध्यन्दिनी और कण्व शाखा—दोनों ही ऐसे जीवात्मा और अन्तर्यामीके भेदका निरूपण करते हैं॥ २०॥

गोविन्दभाष्य—नेत्यनुवर्त्तते। उक्तहेतुभ्यः शारीरो योगिजीवोऽन्तर्यामीति न वाच्यम्। कुतः? हि यस्मात् उभये काण्वमाध्यन्दिनाश्चैनमन्तर्यामितो भेदेनाधीयते। *'यो विज्ञानमन्तरो यमयतीति यः आत्मानमन्तरो यमयति'* (बृ॰आ॰ ३/७/२२) इति च नियम्यनियन्तृत्व भावेन भेदं तयोः पठन्तीत्यर्थः तस्मात् स श्रीहरिरेव। सुबालोपनिषदि तु पृथिव्यादीनामव्यक्ताक्षरामृतान्तानां श्रीनारायणोऽन्तर्यामीति कठैः पठितम्। *'अन्तःशरीरे निहितो गुहायां' 'अज एको नित्यो' 'यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यः पृथिवी न वेद'* (सू॰उ॰ ७/१) इत्यादिना ब्राह्मणेन॥ २०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'न च स्मार्त्तम्'* इत्यादि पूर्व सूत्रसे 'न' की इस सूत्रमें अनुवृत्ति है। योगी पुरुषके पक्षमें प्रदर्शित हेतुओंके द्वारा अन्तर्यामी पुरुषके रूपमें किसीको भी योगीपुरुष नहीं कहा जा सकता। बात यह है कि दोनों ही काण्वशाखीय और माध्यन्दिन शाखीय वैदिक अध्येता इस योगीपुरुषका परमेश्वरसे पृथक् रूपमें अध्ययन करते हैं। (काण्व और माध्यन्दिन श्रुतिमें जीव एवं ब्रह्मका स्पष्ट रूपसे भेद कहा गया है।) *'यो विज्ञानमन्तरो यमयति'* (बृ॰आ॰ ३/७/२२) जो विज्ञानके अन्तरमें रहकर विज्ञानको नियमाधीन करते हैं और जो *'आत्मानमन्तरो यमयति'* आत्माके अन्तरमें रहकर जीवात्माको संयत करते हैं। इस प्रकार परमेश्वरका नियामकत्व एवं जीवात्मा और विज्ञान दोनोंके नियम्यत्व रूपमें प्रभेदकी बातें श्रुतिमें पढ़ी जाती हैं। अतएव आन्तर पुरुष श्रीहरि हैं। सुबालोपनिषदमें काठकगण (यजुर्वेदकी कठ शाखामें निष्णात ब्राह्मण) पृथ्वीसे आरम्भ करके 'वे अव्यक्त (अवाङ्मनसो गोचर), अक्षर एवं अमृत' पर्यन्त पढ़कर अन्तमें श्रीनारायण ही अन्तर्यामी हैं—यह पाठ पढ़ते हैं। कठ-ब्राह्मणके द्वारा व्यक्त है—*'अन्तः शरीरे निहितो ... यं पृथिवी न*

वेद' (सु०उ० ७/१) वे अन्तर्यामी पुरुष जीव-शरीरके मध्य स्थित हैं। वे हृदयके अति सूक्ष्म स्थानमें विराजमान हैं, वे अज, एक (अद्वितीय), नित्य पुरुष हैं, पृथ्वी उनका शरीर है, वे पृथ्वीपर विचरण करते हैं, परन्तु पृथ्वी उन्हें जानती नहीं है—यहाँ तकके ब्राह्मणवाक्य जीवात्मासे परमेश्वरके पार्थक्यका बोध करानेवाले हैं॥ २०॥

सूक्ष्मा-टीका—शारीरश्चेति। उभाभ्यां भेदेन पाठादुक्तहेतवः सत्प्रतिपक्षा इत्यर्थः। एवं युक्त्यान्तर्यामिनः परमात्मत्वं निर्णीय सुबालोपनिषत्कठोक्त्या चेत्तस्य तत्त्वं निर्णेतुमाह सुबालेति। तत्र ह्यव्यक्ताक्षरयोः प्रधानजीवयोरन्तर्यामी श्रीनारायण इति स्फुटमुच्यते तस्मादन्तर्यामी श्रीहरिरेवेति॥ २०॥

सूक्ष्मा-सार—प्रकृति और योगी पुरुष उन दोनोंसे परमेश्वरके पार्थक्यका बोध करानेवाली श्रुतिको पढ़े जानेसे प्रकृति और योगीपुरुषके पक्षमें प्रदर्शित साधकहेतु सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास दोषसे दूषित हैं। इस प्रकार युक्तिके द्वारा अन्तर्यामीरूपमें वे परमात्मा ही बोधित हैं, यह सिद्धान्त निश्चित करके सुबालोपनिषदमें उद्धृत कठके कथनके द्वारा उनका स्वरूप निर्णय करनेके लिए सुबालोपनिषदका प्रसङ्ग उठाया गया है। तदनुसार अव्यक्त अर्थात् प्रकृति और योगीजीवके अन्तर्यामी श्रीनारायण हैं, यह स्पष्टतः कहा गया है। अतः अन्तर्यामी शब्दवाच्य श्रीहरि ही हैं, अन्य कोई नहीं॥ २०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकारने पूर्ववर्णित हेतुमूलमें यही प्रमाणित किया है कि योगीजीव भी अन्तर्यामी नहीं हो सकता। इस विषयमें काण्व और माध्यन्दिन दोनों वैदिक सम्प्रदाय जीव एवं ईश्वरके भेदका वर्णन करते हैं, क्योंकि ईश्वर नियन्ता हैं और जीव नियम्य है। इसलिए श्रीहरिके अतिरिक्त अन्तर्यामी पदवाच्य और कोई नहीं हो सकता। भाष्यकारने इस विषयमें सुबालोपनिषदकी कठोक्तिका उद्धार किया है।

श्रीमद्भागवत (६/१२/१०-११) में द्रष्टव्य है—

यथा दारुमयी नारी यथा यन्त्रमयो मृगः।
एवन्भूतानि मघवन्नीशतन्त्राणि विद्धि भोः॥

पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमात्मा भूतेन्द्रियाशयाः।
शक्नुवन्त्यस्य सर्गादौ न विना यदनुग्रहात्॥

अर्थात् हे मघवन् (इन्द्र)! काठकी पुतली और लकड़ीका बना हुआ हिरण जिस प्रकार स्वेच्छासे नृत्य नहीं कर सकते, अपितु नचानेवालेकी इच्छासे ही नृत्य करते हैं, उसी प्रकार समस्त वस्तुएँ भगवान्‌के अधीन हैं। इस जगत्‌में कोई भी स्वतन्त्र नहीं है। पुरुष (महत्-तत्त्वके स्रष्टा), प्रकृति महत्-तत्त्व, अहङ्कार और आकाशादि पञ्चमहाभूत, चक्षु आदि इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं चित्त—ये सभी भगवान्‌के अनुग्रहके बिना इस विश्वकी सृष्टि आदि कार्य नहीं कर सकते।

इसी प्रकार और भी,

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥

(श्रीमद्भा॰ ४/९/६)

अर्थात् श्रीध्रुवने कहा—जो पुरुष चक्षु आदि सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति आदि धारण करते हैं, जो मेरे अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर मेरी सुप्त वाणीको सञ्जीवित करते हैं तथा मेरे हाथ-पैर-नाक-कान-त्वचा आदि अन्यान्य इन्द्रियोंको चेतनता प्रदान करते हैं, आप वही सर्वान्तर्यामी पुरुष हैं। आपको नमस्कार है॥ २०॥

६—अदृश्यत्वाधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—*'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत् तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः'* (मु॰ १/१/५-६) इति। उत्तरत्र *'दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो अक्षरात् परतः परः'* (मु॰ २/१/२) इति च। किमत्र वाक्यद्वये प्रकृतिपुरुषौ क्रमेण प्रतिपाद्यौ किंवा परमात्मैवेति सन्देहे द्रष्टृत्वादिचेतनधर्माश्रवणात् योनिशब्दस्योपादानवाचित्वाच्च प्रधान-

मेवाक्षरं स्यात् परतोऽक्षरात् परस्तु पुरुषो भवेत् सर्वविकारभूतादक्षरात् परत्वस्य क्षेत्रज्ञेऽपि युक्तेः। तस्मात् तावेवात्र वेद्याविति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पूर्वोक्त ऋग्वेदादिरूप अपराविद्याके बाद पराविद्या कही गयी है, इस विद्याके द्वारा ही उस अक्षर पुरुषको जाना जाता है। वे पुरुष अदृश्य अर्थात् दर्शनसे अतीत हैं। वे अग्राह्य हैं अर्थात् कर्मेन्द्रियके द्वारा उन्हें ग्रहण नहीं किया जा सकता। अगोत्र—उनका किसी गोत्रादिसे परिचय नहीं है। वे अवर्ण अर्थात् ब्राह्मणादि वर्णोंसे रहित हैं। वे चक्षु-श्रोत्रसे रहित हैं, मात्र आँख, कान ही नहीं, किसी भी ज्ञानेन्द्रियके द्वारा वे ज्ञेय नहीं हैं। अपाणिपादम्—हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियाँ भी उनकी नहीं हैं। वे नित्य अर्थात् सदा एकरस हैं, विभु—निग्रह-अनुग्रहमें समर्थ हैं, सर्वगत—वे सर्वव्यापक, दुर्ज्ञेय हैं, वे अव्यय, अविकारी, अविनाशी और समस्त भूतोंके कारण हैं। धीरगण उन अक्षर आत्माको पराविद्याकी सहायतासे जानते हैं। यह एक वाक्य है, दूसरा और एक वाक्य श्रुत होता है—यथा—*दिव्यो ह्यमूर्त्तः ... शुभ्रोऽक्षरात्परः* (मु॰ २/१/२), वे दिव्य अर्थात् सर्वदा प्रकाशवान, शरीरके संयोग सम्बन्धसे रहित, पुरुषाकार, बाहर और भीतरमें रहनेवाले, जन्मरहित, प्राणहीन (वायु-विकारसे रहित), मनोरहित—मनसे अतीत निर्मल महत्-तत्त्वसे अतीत जो प्रकृति है, वे उससे भी अतीत हैं—इन दोनों वाक्योंमें क्या प्रकृति और पुरुषका क्रमसे प्रतिपादन है अथवा दोनों वाक्योंके प्रतिपाद्य परमात्मा हैं? इस प्रकारका सन्देह होनेपर पूर्वपक्षी कहते हैं—जब इस वाक्यमें द्रष्टा, मन्ता, श्रोता इत्यादि चेतन धर्मोंका उल्लेख ही नहीं है और भूतयोनि शब्दके प्रयोग द्वारा समस्त भूतोंका उपादान कारण कहा गया है, तब यही कहना चाहिये कि पूर्ववाक्य प्रकृतिका निर्वचन कर रहा है और दूसरे वाक्यमें जब *'परतो अक्षरात् परः'* अर्थात् महत्-तत्त्वसे अतीत जो प्रधान है, वे उससे भी 'पर' (श्रेष्ठ) कहे गये हैं, तब उन्हें जीवात्मा (क्षेत्रज्ञ) ही मानना चाहिये। समस्त प्रकारके विकारोंकी कारण प्रकृतिसे अतीतत्व जीवात्मामें ही हो सकता है। अतएव प्रकृति और जीव—ये दोनों ही श्रुतिमें वेद्य कहे गये हैं—इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र—अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः॥ २१॥

सूत्रार्थ—'अदृश्यत्वादिगुणकः'—अदृश्यत्व इत्यादि धर्मविशिष्ट परमात्मा ही इन दोनों श्रुतियोंमें वेद्य हैं, जीव और प्रकृति नहीं। कारण? 'धर्मोक्तेः'—सर्वज्ञत्व इत्यादि धर्मोंका परमात्मामें विशेषणरूपमें उल्लेख है॥ २१॥

सूत्रानुवाद—अदृश्यत्वादि गुणयुक्त तत्त्व ब्रह्म ही हैं, क्योंकि श्रुति (मुण्डकोपनिषद) में उनके सर्वज्ञतादि गुणोंका वर्णन है॥ २१॥

गोविन्दभाष्य—अदृश्यत्वादिधर्मा परमात्मैव उभयत्र वेद्यः। कुतः? धर्मोक्तेः—*'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नञ्च जायते* (मु॰ १/१/६)॥' *'दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुष'* (मु॰ २/१/२) इत्यादिना सर्वज्ञत्वादितद्धर्मकथनात् परविद्याविषयत्वाच्च॥ २१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अदृश्यत्वादि धर्मोंसे युक्त परमात्मा ही दोनों श्रुतियों द्वारा वेद्य हैं। किस प्रकार? *'यः सर्वज्ञः .... अन्नं च जायते'* (मु॰ १/१/९) जो सर्वज्ञ अर्थात् साधारण रूपसे समस्त विषयको जाननेवाले हैं, सर्वविद्—जो समस्त विषयको विशेष रूपसे जाननेवाले हैं, जिनकी तपस्या ज्ञानस्वरूप है अर्थात् जो तपःशक्तिसे सम्पन्न हैं, जिनसे त्रिगुण और त्रिविध अवस्थामय प्रधान उत्पन्न होता है, नामरूप व्याकृत (विकृत) होते हैं तथा भोग्य द्रव्योंका जन्म होता है। वे परमेश्वर दिव्य ज्योतिर्मय हैं, उनकी प्राकृत मूर्त्ति नहीं है—इत्यादि दोनों वाक्योंके द्वारा परमेश्वर श्रीहरिके सर्वज्ञत्व इत्यादि धर्म कहे गये हैं। पूर्वोक्त पराविद्याका विषय उन्हें ही कहा गया है, जब कि जीवमें न तो सर्वज्ञत्वादि गुण हैं, न ही वह अदृश्य है और न ही वह चैतन्य-ज्योतिर्मय है॥ २१॥

सूक्ष्मा-टीका—पुर्वत्र प्रधान-विरोधिद्रष्टृत्वादिचेतनधर्मवशात् प्रधानं नान्तर्यामीत्युक्तं तर्हि तद्विरोधिधर्माश्रवणादिहादृश्यत्वादिगुणकं प्रधानं भूतयोनिरस्त्वितिप्रत्युदाहरण-सङ्गत्याह—अथेत्यादि। अस्यार्थः—पूर्वं ऋग्वेदादिरूपापरा विद्योपदिष्टा। तदानन्तर्यमथ-शब्दार्थः। *'यया तदक्षरमधिगम्यते सा परा'* उत्कृष्टफलेत्यर्थः। वर्णसमुदायं निरस्यति। यत्तदिति। अद्रेश्यमदृश्यम् ज्ञानेन्द्रियैरलभ्यमित्यर्थः। अग्राह्यं कर्मेन्द्रियैः। अगोत्रं वंशशून्यं अवर्णं जातिहीनम्। अचक्षुःश्रोत्रं चक्षुःश्रोत्ररहितं ज्ञानेन्द्रियोपलक्षणमेतत्।

अपाणिपादं पाणिपाद-रहितं कर्मेन्द्रियोपलक्षणमेतत्। संयोगसम्बन्धेन करणप्रतिषेधोऽयं अतः स्मर्यते। पाणिपादाद्यसंयुतमिति स्वरूपानुबन्धिकरणवत्त्वं त्वस्तीति वक्ष्यति। समान एवञ्च भेदात् इति। नित्यं सदैकरसं विभुं प्रभुं सर्वगतं व्यापकं सुसूक्ष्मं दुर्ज्ञेयम्। अव्ययमविनाशि यद्यथोक्तमक्षरं भूतयोनिं धीरा यया परिपश्यन्ति सा परा विद्येति। उत्तरत्रेति। दिव्यो द्योतमानः अमूर्त्तः संयोगसम्बन्धेन मूर्त्तिरहितः पुरुषः पुरुषाकारः स बाह्याभ्यन्तरो विभुः। अप्राण इत्याद्युक्तार्थम्। प्रकृतेः परादक्षराजीवात् पर इति। परतो अक्षरादिति। परतः महतः परादक्षरात् प्रधानादित्यर्थः। एतदेव व्याचष्टे सर्वेति। अदृश्यत्वेति अदृश्यत्वादयो गुणा यस्य स तथा। उभयत्र वाक्यद्वये। सर्वज्ञः सामान्येन सर्वविषयकज्ञानवान्। सर्वविद्विशेषेण तादृशः। तस्मादिति तस्मात्तपःशक्तिकात् सर्वज्ञात् ज्ञानतपस्कात् पुरुषाद् ब्रह्म त्रिगुणावस्थं प्रधानं जायते। तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तमेति श्रवणात्॥ २१॥

सूक्ष्मा-सार—इससे पहले कहा गया था कि द्रष्टृत्व इत्यादि चेतनके धर्म अचेतन जड़-प्रकृतिमें नहीं रहते, अतएव प्रकृतिको अन्तर्यामी पदवाच्य नहीं कहा जा सकता। यदि किसी भी श्रुतिमें प्रकृति-विरोधी धर्म नहीं सुना होता, तब अदृश्यत्वादि गुणोंसे युक्त प्रधानको भूतयोनि अन्तर्यामी कह सकोगे? इसके उत्तरमें उदाहरण प्रदर्शनरूप सङ्गति दिखाते हुए कह रहे हैं—*'अथ परा यया'* (मु॰ १/१/५-६)। भाष्यमें उद्धृत इस श्रुतिका अर्थ है कि पहले श्रुतिमें ऋग्वेदादिरूप अपराविद्याका उपदेश किया गया था, यहाँ 'अथ' शब्दका अर्थ है—उस अपराविद्याके उपदेशके बाद। जिस विद्या-बलसे उन अक्षरपुरुषको जाना जाता है, उसका नाम है 'परा'। 'परा' का अर्थ है—उत्कृष्ट फल प्रदायिनी। अक्षरसे तात्पर्य अकारादि वर्णमाला नहीं है, इसीको यत् तदित्यादि वाक्यके द्वारा कह रहे हैं—वे अद्रेश्य अर्थात् अदृश्य हैं, ज्ञानेन्द्रिय द्वारा अज्ञेय हैं, अग्राह्य—कर्मेन्द्रियके द्वारा ग्रहणके अयोग्य हैं, अगोत्र—गोत्रहीन अर्थात् वंशहीन हैं, वे अवर्ण हैं अर्थात् उनमें ब्राह्मणादि चारों वर्णोंका अभाव कहा गया है, वे नेत्र एवं कर्णसे रहित हैं, केवल यही नहीं, अन्यान्य ज्ञानेन्द्रियोंसे भी अग्राह्य हैं। अपाणिपाद—हाथ, पैर आदिसे शून्य अर्थात् कर्मेन्द्रियमात्रसे रहित हैं। यह जो कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियसे रहित कहा गया, इसका तात्पर्य है—संयोग-सम्बन्धमें हाथ, पैर एवं चक्षु आदि इन्द्रियोंसे रहित, किन्तु स्वरूपानुबन्धी (स्वभावगत) इन्द्रियाँ उनमें हैं, यह बादमें

प्रतिपादित होगा। यहाँ तकके अंशमें प्रकृति, पुरुष और परमात्मा समान रूपसे बोधित हो रहे हैं। इनके भेदक धर्म भी हैं, यथा—नित्य अर्थात् सर्वदा एक आनन्दमय हैं, विभु अर्थात् निग्रह-अनुग्रह करनेमें समर्थ हैं, सर्वगत—विश्वव्यापक हैं, सुसूक्ष्म—अतीव दुर्ज्ञेय हैं, अव्यय-अविनाशी हैं, ये धर्म जिनके विषयमें वर्णित हुए हैं, वे ही अक्षरपुरुष—भूत-स्रष्टा हैं। विद्वान व्यक्ति जिस विद्याको प्राप्त करनेपर इस तत्त्वका दर्शन करते हैं, वह पराविद्या है। इसके बाद वर्णन है—वे दिव्य अर्थात् अलौकिक द्योतमान हैं, संयोग-सम्बन्धमें देहहीन, पुरुषाकारसम्पन्न, बाह्य एवं आन्तरसे समन्वित अर्थात् विभु और अप्राण—प्राणहीन हैं। वे प्रकृतिसे अतीत, जीवसे भी अतीत हैं। *'परतोऽक्षरात्'*—वे महत्तत्त्व कारणसे अतीत—अर्थात् प्रधानसे अतीत हैं। इसकी भाष्यकारने स्वयं व्याख्या की है कि सर्वज्ञत्वादि धर्मोंके उल्लेखके कारण अन्तर्यामी पुरुष प्रकृति और योगीजीव नहीं हैं। *अदृश्यत्वादिगुणकः*—अदृश्यत्व इत्यादि गुण जिनके हैं, वे। उभयत्र—दोनों वाक्योंमें ही। सर्वज्ञः—अर्थात् साधारण रूपसे सर्वविषयक ज्ञानवान, सर्वविद्—विशेष रूपसे समस्तके ज्ञानवान। तस्मात् इति—तपोशक्तिमय सर्वज्ञ ज्ञानतपोमय पुरुषसे सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंसे सम्पन्न और जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओंसे युक्त प्रकृति उत्पन्न होती है। विष्णुपुराणमें भी यही कहा है—*'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम'*—हे ब्राह्मणोत्तम! उन अन्तर्यामी पुरुषसे त्रिगुणात्मक प्रकृति उत्पन्न होती है॥ २१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—जिन अक्षर वस्तुको ज्ञानेन्द्रिय अथवा कर्मेन्द्रियके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र इत्यादि नामोंसे संज्ञित होनेपर भी नित्य, विभु, सर्वव्यापी, सूक्ष्म, अव्यय एवं समस्त भूतोंके योनि हैं, उन पुरुषको धीरगण पराविद्याके द्वारा परिदर्शन करते हैं।

मुण्डक श्रुति (१/१/४-५) में देखा जाता है—*'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदाऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।*

अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओंने कहा है कि दो विद्याएँ जानने योग्य हैं—एक परा और दूसरी अपरा। उनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—यह अपरा है तथा जिससे उन अक्षर परमात्माका ज्ञान होता है, वह परा है।

श्रुतिके एक वाक्यमें कहा है—वे पुरुष अव्यय, समस्त भूतोंके योनि अर्थात् उत्पत्ति-स्थल हैं, धीरगण पराविद्याकी सहायतासे उनका दर्शन करते हैं। अन्यत्र भी कहा है—वे अमूर्त्त, अप्राण, अमना और अक्षरसे भी श्रेष्ठ वस्तु हैं। इन दोनों वाक्योंमें कौन लक्षितव्य हैं? इस संशयपर पूर्वपक्षवादी यदि कहते हैं कि प्रथम वाक्य प्रकृतिको एवं परवर्त्ती वाक्य जीवको लक्षित कर रहा है, तो इस पूर्वपक्षके संशयका निराकरण करके सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि अदृश्यत्वादि धर्मसे युक्त परमात्मा ही दोनों श्रुतियोंमें वेद्य हैं, जीव अथवा प्रकृति नहीं, क्योंकि सर्वज्ञत्व इत्यादि धर्मका उल्लेख परमेश्वरमें है। ये धर्म प्रकृति अथवा जीवमें असम्भव हैं, श्रीमद्भागवत (६/१६/२०-२१, २३-२४) में देखा जाता है—

आत्मानान्दानुभूत्यैव न्यस्तशक्त्यूर्मये नमः।
हृषीकेशाय महते नमस्तेऽनन्तमूर्तये॥

वचस्युपरतेऽप्राप्य य एको मनसा सह।
अनामरूपश्चिन्मात्रः सोऽव्यान्नः सदसत्परः॥

यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः।
अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत्तन्नतोऽस्म्यहम्॥

देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी
यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्मसु।
नैवान्यदा लोहमिवाप्रतप्तं
स्थानेषु तद्द्रष्ट्रपदेशमेति॥

अर्थात् आप स्वरूपभूत आनन्दकी अनुभूतिके द्वारा मायाजनित राग-द्वेषादिरूप तरङ्गोंको तिरोहित कर देते हैं, अतः आपको नमस्कार है। आप हृषीकेश अर्थात् समस्त इन्द्रियोंके अधिष्ठाता हैं। आप अनन्त मर्त्ति और परम महान हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

मनके सहित वाणी जिन्हें प्राप्त करके संसारसे उपरत हो जाती है। जो नाम-रूपसे रहित, चिन्मात्र केवल ज्ञानमय, स्थूल-सूक्ष्मसे अतीत एवं अद्वितीय हैं अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप हैं, वे हमारी रक्षा करें। जो ब्रह्म आकाशके समान निर्लिप्त भावसे सम्पूर्ण वस्तुओंके बाहर-भीतर व्याप्त हैं, मन, बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियाँ जिन्हें अपनी ज्ञानशक्तिसे जान नहीं सकती तथा प्राणशक्ति जिनका स्पर्श नहीं कर सकतीं, मैं ऐसे आपको नमस्कार करता हूँ। लोहा जिस प्रकार अग्नि शक्तिके द्वारा सामर्थ्य प्राप्त करता है, उसी प्रकार देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि—ये सभी दृश्य पदार्थ आपके चैतन्यांशके द्वारा आविष्ट होकर अपने-अपने कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। अग्निके बिना लोहा किसी भी वस्तुको जला नहीं सकता, उसी प्रकार देहादि जड़ेन्द्रियाँ भी सुषुप्ति एवं मूर्च्छामें अपना-कार्य नहीं कर सकतीं। कार्य करनेकी शक्ति आपके चैतन्यांशसे ही प्राप्त होती है। इस प्रकार सभी अवस्थाओंमें ब्रह्म ही एकमात्र 'द्रष्टा' संज्ञा प्राप्त करते हैं।

इस प्रसङ्गमें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरकी टीका और श्रील जीव गोस्वामीका भगवत्-सन्दर्भ—१९ (अन्तरङ्गाशक्तिसमूहकी प्रवृत्तिका कारण)।

'अदृश्यः सर्वभूतानाम्' (श्रीमद्भा० १७/१०/३१) श्लोकमें परमात्माको अदृश्यत्वादि गुणविशिष्ट कहा है॥ २१॥

सूत्र—विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याञ्च नेतरौ॥ २२॥

सूत्रार्थ—'इतरौ'—दूसरे दोनों अर्थात् प्रकृति और जीवात्मा, 'न' उक्त दोनों श्रुतिवाक्योंसे बोधनीय नहीं हैं, कारण? 'विशेषणभेद-व्यपदेशाभ्याञ्च'—यः सर्वज्ञ इत्यादि परमेश्वरके विशेषणके कारण और भेदव्यपदेश अर्थात् दिव्यः ह्यमूर्त्तः इत्यादि स्मृतिके द्वारा प्रतिपादित जीवसे पार्थक्यके कारण सर्वकारणभूत पुरुषोत्तम ही इन दोनों श्रुतियोंके द्वारा बोध्य हैं॥ २२॥

सूत्रानुवाद—परमेश्वर-सूचक विशेषण एवं भेद (प्रकृति और जीवात्मासे पृथक्) दिखाये जानेके कारण भी श्रुतिवाक्योंमें ब्रह्मका कथन है, प्रकृति और जीवात्माका नहीं॥ २२॥

गोविन्दभाष्य—इतरौ प्रकृतिपुरुषौ ताभ्यां न बोध्यौ। कुतः? विशेषणेति। *'यः सर्वज्ञ'* (मु॰ १/१/६) इत्यादिना अक्षरस्य विशेषणात्। *'दिव्य'* (मु॰ २/१/२) इत्यादिना स्मार्त्तात् पुरुषात् भेदोक्तेश्च। तस्मादुभयत्रापि सर्वकारणभूतः पूरुषोत्तम एव बोध्य इति॥ २२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'सर्वज्ञः सर्वविद्'* इत्यादि और *'दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः'* इत्यादि दोनों वाक्योंसे प्रकृति एवं जीवात्मा बोध्य नहीं हैं। क्यों? उत्तर—विशेषण और भेदोक्तिके कारण। *'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'* इत्यादि वाक्योंसे अक्षर परमेश्वरके सर्वज्ञत्वादि विशेषण वर्णित हैं और *'दिव्यो ह्यमूर्त्तः'* इत्यादि स्मृतिवाक्यसे बोधित जीवात्मासे परमेश्वरका पार्थक्य स्पष्ट सूचित हो रहा है। अतएव इन दोनों वाक्योंसे ही सर्वकारणस्वरूप पुरुषोत्तम श्रीहरि ही बोध्य हैं॥ २२॥

सूक्ष्मा–टीका—नन्वेते वाक्ये प्रकृतिपुरुषयोः प्रतिपादके कुतो न स्यातामिति चेत्तत्राह। विशेषणेति। ताभ्यां वाक्याभ्याम्। उभयत्रापि उभयोरपि वाक्ययोः॥ २२॥

सूक्ष्मा–सार—आपत्ति है कि *'यः सर्वज्ञः'* इत्यादि वाक्य और *'दिव्यो ह्यमूर्त्तः'* इत्यादि वाक्य प्रकृति और जीवके प्रतिपादक क्यों नहीं हो सकते? इसके उत्तरमें कहते हैं—विशेषण—सर्वज्ञत्वादि और प्रकृति एवं जीवसे भेदबोधक उक्त दोनों वाक्य प्रकृति और पुरुष अन्तर्यामी पदके लिए बोध्य नहीं हैं। दोनों वाक्योंमें अन्तर्यामी कहनेसे पुरुषोत्तम श्रीहरि ही वेद्य हैं॥ २२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—श्रीमद्भागवत (३/३१/१३) में देखा जाता है—

यस्त्वत्र बद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा
भूतेन्द्रियाशयमयीमवलम्ब्य मायाम्।
आस्ते विशुद्धमविकारमखण्डबोध-
मातप्यमानहृदयेऽवसितं नमामि॥

अर्थात् जीव एवं भगवान्में वैशिष्ट्य है। जीव सेवक और भगवान् सेव्य हैं, जीव शरणागत और भगवान् शरण्य हैं। जो मैं (जीव) जननी-जठरमें देहाकारमें परिणत मायाको आश्रय करता हुआ कर्मके द्वारा आवृतस्वरूप होकर बद्धके समान अवस्थित हूँ, भगवान्

इस स्थानपर अन्तर्यामीरूपमें मेरे साथ वास करते हैं। उनमें और मुझमें विशेष भेद है। वे स्थूल एवं लिङ्ग उपाधिसे रहित हैं अर्थात् उनके देह और देहीमें भेद नहीं है, वे अखण्ड ज्ञानस्वरूप हैं। मेरे सन्तप्त हृदयमें वे इसी प्रकार प्रतीत हो रहे हैं। वे मेरे शरण्य हैं, उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ।

वह भाग्यवान जीव उनकी स्तुतिमें और भी कहता है कि *तेनाविकुण्ठमहिमानमृषिं तमेनं वन्दे परं प्रकृतिपुरुषयोः पुमांसम्॥* (श्रीमद्भा॰ ३/३१/१४)

अर्थात् श्रीभगवान्‌की महिमा इस शरीर-योगमें कुण्ठित नहीं होती। वे व्यष्टि जीवके हृदयमें अन्तर्यामीरूपमें निवास करते हैं। उनके अप्राकृत स्वरूपमें कोई विकार अथवा मायाका संस्पर्श प्राप्त नहीं होता। मायिक जीवके समान उनके देह-देहीमें भेद नहीं है, वे वैकुण्ठ वस्तु हैं। वे प्रकृति एवं पुरुषके नियन्ता तथा सर्वत्र हैं। मैं उन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णको नमस्कार करता हूँ।

इस प्रसङ्गमें मुण्डकोपनिषदका *'द्वा सुपर्णा'* (३/१/१२) श्लोक भी आलोच्य है॥ २२॥

सूत्र—रूपोपन्यासाच्च॥ २३॥

सूत्रार्थ—'रूपोपन्यासाच्च'—दूसरा कारण, 'रूपोन्यासात्'—परमेश्वरके स्वरूपका उल्लेख, जो श्रुतिमें है, इस कारणसे भी 'च' जीव एवं प्रकृति उक्त दोनों वाक्योंके बोध्य नहीं हो सकते॥ २३॥

सूत्रानुवाद—श्रुतिमें भूतयोनि अक्षर परमात्माको अन्तर्यामीरूपमें चिदचिदात्मक प्रपञ्च विराट्‌रूप कहा गया है, इसलिए भी जीव एवं प्रकृति दोनों उन वाक्योंके बोध्य नहीं हैं॥ २३॥

गोविन्दभाष्य—*'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।'* (मु॰ ३/१/३) इत्यक्षरस्य भूतयोनेरूपनिरूपणाच्च तथा। इदं खलु परमात्मनोरूपं न तु प्रकृतेर्न वा जीवस्य॥ २३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'यदा पश्यः पश्यते .... साम्यमुपैति'* (मु॰ ३/१/३)। विद्वान व्यक्ति जब उन सर्वकर्त्ता, सर्वनियन्ता, प्रकृतिके

कारणभूत, सुवर्णवत् ज्योतिर्मय परमेश्वरका दर्शन करता है, तब वह ब्रह्मवित् पुण्य-पापको त्याग करके निरञ्जन (निरुपाधिक) हो जाता है और परम साम्यको प्राप्त होता है। इस श्रुति द्वारा भूतसृष्टिकर्त्ता परमेश्वरके जगत्-कर्त्तृत्व, सर्वनियन्तृत्व, प्रकृतिकारणत्व विशेषण वर्णित हुए हैं, अतएव परमात्मा ही उक्त दोनों श्रुतियोंके बोध्य हैं। जगत्-स्रष्टृत्वादि विशेषण परमात्मामें ही सम्भव हैं, प्रकृतिमें नहीं, जीवमें भी नहीं॥ २३॥

सूक्ष्मा-टीका—परमात्मनोरूपमिति। रूपं विशेषणं तच्च रुक्मवत् स्पृहणीयवर्णत्वं जगत्कर्त्तृत्वं सर्वैश्वर्यञ्चेत्यादि। न चेदं प्रकृतौ जीवे वा संभवेत्। किन्तु परमात्मन्येव। तस्मात् स एवादृश्यादिधर्मेति॥ २३॥

सूक्ष्मा-सार—परमात्माके रूप अर्थमें विशेषण है। वह रूप सुवर्णके समान स्पृहणीय कान्ति, तथा उसमें जगत्-कर्त्तृत्व, सर्वेश्वरत्व, प्रकृति कारणत्व इत्यादि विद्यमान हैं। ये विशेषण प्रकृति अथवा जीवात्मामें सम्भव नहीं हैं। एकमात्र परमात्मामें ही सम्भव हैं। अतएव अदृश्यत्वादि गुणसम्पन्न अन्तर्यामी वे परमात्मा ही हैं॥ २३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस प्रसङ्गमें निम्न श्रुति द्रष्टव्य है—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यो
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥

(मुण्डक २/१/४)

अर्थात् अग्नि जिनका मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ कर्ण हैं, प्रसिद्ध वेद वाणी हैं, वायु प्राण है, सारा विश्व जिनका हृदय है तथा जिनके चरणोंसे पृथ्वी प्रकट हुई है, वे देव सम्पूर्ण भूतोंके अन्तरात्मा हैं।

श्रीमद्भागवत (८/३/२-३) में श्रीगजेन्द्रके स्तवमें भी वर्णन है—

ॐ नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम्।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि॥

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम्।
योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम्॥

अर्थात् गजेन्द्रने कहा—मैं उन भगवान् वासुदेवको नमस्कार करता हूँ, जिनकी कृपासे इस जगतमें चेतनताका विस्तार होता है। जो इसके आदि बीजस्वरूप तथा ब्रह्मादिके भी ईश्वर हैं और जो देहरूपी पुरमें कारण रूपसे विद्यमान हैं, मैं उन परमपुरुषका ध्यान करता हूँ। ये चित्-अचित् जगत् जिनमें स्थित हैं और जिनसे उत्पन्न हुए हैं, जो इस जगत्की सृष्टि एवं पालन करते हैं, जो स्वयं विश्वस्वरूप और सम्पूर्ण जगतके कारण हैं, जो कार्य (जगत्) और कारण (प्रकृति) से सर्वथा भिन्न हैं, मैं उन स्वतःसिद्ध भगवान्का आश्रय ग्रहण करता हूँ।

इसी प्रकार—

तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
अरूपायोरुरूपाय नम आश्चर्यकर्मणे॥

(श्रीमद्भा॰ ८/३/९)

अर्थात् जो अनन्त शक्तिमान और परमैश्वर्यशाली हैं, जो प्राकृतरूपरहित होते हुए भी (राम, कृष्णदि) बहुत-से रूपोंमें विराजमान हैं तथा जिनके कर्म अति आश्चर्यमय हैं, मैं उन भगवान्को नमस्कार करता हूँ।

इस श्लोककी टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरने लिखा है—अरूपाय अर्थात् प्राकृतरूपरहिताय, उरुरूपाय—अप्राकृत चिद्घन रामकृष्णादि बहुरूपाय। जो प्राकृत रूपसे रहित हैं तथा अप्राकृत चिद्घन रामकृष्णदि बहुतसे रूप धारण करनेवाले हैं, उनको मेरा नमस्कार है॥ २३॥

अवतरणिकाभाष्य—नन्वेषरूपोपन्यासस्तस्यैवेति कुतो ज्ञायते तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न है कि यह जो जगत्कर्त्तृत्व, नियन्तृत्व, रुक्मवर्णत्व आदि विशेषण वर्णित हुए हैं, ये सब परमात्माके ही विशेषण है, यह कहाँसे जाना? इस प्रश्नके उत्तरमें सूत्रकार कह रहे हैं—

सूत्र—प्रकरणाच्च ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ—'प्रकरणात् च'—प्रकरणसे भी यह अवगत हुआ जाता है ॥ २४ ॥

गोविन्दभाष्य—इदं स्पष्टम् ॥ २४ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस सूत्रका अर्थ स्पष्ट ही है, अतः व्याख्या करनेका कोई प्रयोजन नहीं है ॥ २४ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई पूर्वपक्ष करता है कि पूर्वोक्तरूपोन्यासमें जिन परमात्माके सम्बन्धमें कहा गया है, 'उनका रूप ऐसा है', यह जाना जा सकता है। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि प्रकरणसे भी जाना जा सकता है।

श्रीमद्भागवत (१०/१४/२३) में ब्रह्माजीकी स्तुतिमें द्रष्टव्य है—

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः,
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः,
पूर्णोद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥

आप ही एकमात्र सत्य हैं, क्योंकि आप ही सबके आत्मा—परमात्मा हैं। आप इस परिदृश्यमान जगत्से भिन्न हैं। आप जगत्के जन्मादिके मूल कारण, पुराणपुरुष एवं सनातन हैं। आप पूर्ण, नित्यानन्दमय, कूटस्थ, विनाशरहित होनेके कारण अमृतस्वरूप, निरञ्जन अर्थात् मायिक गुणरहित, विशुद्ध, अनन्त और अद्वय हैं।

इसी प्रकार स्मृतिमें भी वर्णन है—*प्रकृतेः परस्तान्महतो महीयान्. .....परात्परस्त्वम् वरणीयरूपः ॥* (श्रीविष्णुपुराण) ॥ २४ ॥

७—वैश्वानराधिकरणम्

अवतरणिकाभाष्य—स्मृतिरप्येतद्विष्णुपरं व्याचष्टे। *'द्वेविद्ये वेदितव्ये'* इति चाथर्वणी श्रुतिः। *'परया त्वक्षरप्राप्तिः ऋग्वेदादिमया परा। यत्तदव्यक्तमजरम-चिन्त्यमजमव्ययम्। अनिर्द्देश्यमरूपञ्च पाणिपादाद्यसंयुतम्। विभुं सर्वगतं नित्यं भूतयोनिमकारणम्। व्याप्याव्याप्यं यतः सर्वं तद्वै पश्यन्ति सूरयः। तद्ब्रह्म परमं धाम तद्ध्येयं मोक्षकाङ्क्षिणाम्। श्रुतिवाक्योदितं सूक्ष्मं तद्विष्णोः परमं पदम्। तदेव*

भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः। वाचको भगवच्छब्दस्तस्याद्यस्याक्षरात्मनः। एवं निगदितार्थस्य सतत्त्वं तस्य तत्त्वतः। ज्ञायते येन तज्ज्ञानं परमन्यत्। त्रयीमयम्' (वि॰पु॰ ६/५/६५-७०) इति।

छान्दोग्ये (५/११/१) *'को न आत्मा किं ब्रह्मेति'*। *'आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषितमेव नो ब्रूहीत्युपक्रम्य'* (५/११/६) *'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेषु आत्मासु अन्नमत्ति'* (५/१८/१)। *'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धेव सुतेजाश्वक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मा संदेहो बहुलो वस्तिरेव वयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि वर्हि हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीय'* (५/१८/२) इत्यादि श्रूयते। तत्र संशयः। किमयं वैश्वानरो जठराग्निः किं वा देवताग्निरुत भूताग्निराहोस्वित विष्णुरिति। तत्र चतुर्ष्वपि वैश्वानरशब्दस्य साधारण्यदर्शनाद-निर्णयोऽस्त्विति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—विष्णुपुराणमें *'यः सर्वज्ञः सर्वविद्'* (मुण्डकोपनिषद १/१/९) इत्यादि वाक्योंकी श्रीविष्णुके अर्थमें व्याख्या की है। अथर्व वेदोक्त आर्थवर्णिक श्रुति भी यही कह रही है, यथा *'द्वे विद्ये वेदितव्यो'*—परा एवं अपरा दो प्रकारकी विद्याओंको जानना चाहिये। ऋग्वेदादिमयी विद्या ही अपराविद्या है। अक्षर ब्रह्म कौन हैं? जो अनिर्वाच्य, अजर, अचिन्त्य, जन्मरहित, नाश-विहीन (अव्यय), अनिर्देश्य, रूपहीन (अरूप), संयोग सम्बन्धमें पाणि-पादादि अङ्गोंसे रहित, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, शाश्वत, सर्वजगत्-स्रष्टा, कारणरहित परन्तु जो सबके कारण हैं, सबमें व्यापक हैं, परन्तु वे किसीके द्वारा व्याप्य नहीं हैं, जिनसे चराचर जगत्की उत्पत्ति होती है, सूरीगण जिनका दर्शन करते हैं, वे ही परब्रह्म हैं, वे ही परम ज्योतिःस्वरूप हैं। वे ही मुक्तिकामियोंके ध्येयरूप परम धाम हैं। श्रुति वाक्योंमें वर्णित वह दुर्ज्ञेय विष्णुतत्त्व ही परमपद है। वे ही भगवान् शब्दवाच्य हैं अर्थात् भगवान् कहनेसे उन्हें ही जानना चाहिये, वे ही परमेश्वर स्वरूप हैं। भगवत् शब्द सबके आदिपुरुष परमेश्वरका वाचक है। इस प्रकार श्रुति-निर्वाचित परमात्माका यथार्थ स्वरूप जिस ज्ञानके द्वारा जाना जाता है, उसका नाम पराविद्या है। इससे भिन्न त्रिगुणमय ज्ञान अपरा विद्या है। (श्रीविष्णुपुराण ६/५/६५—७०)

छान्दोग्योपनिषद (५/११/१) में वर्णन है—हम सबका आत्मा कौन है? ब्रह्म कौन है? उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल, पुलुषका पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लविके पुत्रका पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्षका पुत्र जन और अश्वतराश्वका पुत्र बुडिल—ये महागृहस्थ और परम श्रोत्रिय एकत्रित होकर परस्पर मीमांसा (विचार) करने लगे। इसके बाद वे उद्दालकके साथ 'वैश्वानर अग्नि ही आत्मा है' यह सिद्धान्त स्थिर करनेके लिए अश्वपति नामक केकयराजके पास पहुँचे और कहा—आप तो वैश्वानर अग्निको ही आत्मा (ब्रह्म) जानकर ध्यान करते हैं अथवा वैश्वानरतत्त्वको अच्छी प्रकारसे जानते हैं, उसका हमारे निकट वर्णन कीजिये। केकयराजने देखा कि ये पाँच ऋषि द्युलोक, सूर्य, वायु, आकाश, जल और पृथ्वीमेंसे एक-एकको एक-एक जन वैश्वानर मानकर मेरे निकट मीमांसाके लिए आये हैं। यह विचार करके उनकी विपरीत बुद्धिको दूर करके यथार्थ वैश्वानरज्ञान उत्पन्न करानेके लिए वे उनसे पूछने लगे—आप किसे वैश्वानर आत्मा जानते हैं?

यह पूछे जानेपर ऋषियोंमेंसे किसीने द्युलोकको वैश्वानर बताया, तो किसीने सूर्यको, किसीने वायुको, किसीने आकाशको, किसीने जलको और किसीने पृथ्वीको वैश्वानर बताया।

यह सुनकर राजाने उनकी अभिज्ञतामें दोष दिखलाकर द्युलोकादि वैश्वानर पुरुषके मस्तकादि अङ्गोंके वर्णनके अन्तमें समग्र वैश्वानरका उपदेश किया और उपासनाका फल बतलाया—जो व्यक्ति इन प्रादेश (अँगूठे और तर्जनीके बीचका स्थान) परिमाण मात्र, विभु, चैतन्यानन्द वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है, वह समस्त लोकोंमें, समस्त प्राणियोंके शरीरोंमें और समस्त आत्माओंमें भोग्य वस्तुओंका भोग करता है। उन-उन वैश्वानर आत्माका सुतेजत्व गुणमय द्युलोक ही मस्तक है, शुक्ल-कृष्णादि विविधरूप गुणयुक्त सूर्य ही चक्षु है, पृथग्वर्त्मा (नाना पथगामी) वायु उनका प्राण है, बहुल गुणवान आकाश उनके शरीरका मध्य भाग है, रयि अर्थात् धन-रूप गुणसम्पन्न जल उनकी बस्ति (नाभिका अधःस्थान) है, पृथ्वी ही दोनों चरण हैं, हवनकी आधार वेदी उनका वक्षःस्थल है, कुश लोमपुञ्ज है, गार्हपत्याग्नि हृदय है, मन अन्वाहार्य नामक पचन क्रिया है और

आहवनीय अग्नि उनका मुख है—इत्यादि श्रुतिमें कहा गया है। इसमें संशय यह है कि ये वैश्वानर अग्नि कौन हैं? क्या यह जठराग्नि है अथवा देवताग्नि है? अथवा पञ्चभूतान्तर्गत अग्नि है? अथवा विष्णु हैं? उक्त वैश्वानर शब्दका प्रयोग चारों ही पदार्थोंका समान रूपसे बोध कराता है, अतः कुछ निश्चय नहीं हो पाता। इस पूर्वपक्षके समाधानके लिए सूत्रकार कह रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—स्मृतिरपीति श्रीवैष्णवं बोध्यम्। आथर्वणी श्रुतिमुण्डकम्। व्यापि स्वेतरेषाम्, अव्याप्यं स्वेतरैः भगवत्षड्भगविशिष्टम्। वाच्यम् भगवच्छब्देन नतु तेन लक्ष्यम्। परमात्मनः स्वरूपमिति चैतन्यं ब्रह्मणः स्वरूपमितिवत्। सतत्त्वं याथार्थ्यम्। तज्ज्ञानं परा विद्येति। पूर्वत्रवाक्यारम्भे तादृशत्वादिसाधारणधर्मस्य वाक्यशेषस्थसार्वज्ञ्याद्यभिधानेन परमात्मविषयत्वं दर्शितं तथाप्यत्राप्यारम्भस्थसाधारण-शब्दस्य वा वाक्यशेषस्थहोमाधारत्वाभिधानेन प्रसिद्धानुगृहीतेन जाठराग्निविषयत्वमस्त्विति दृष्टान्तसङ्गत्याह को न आत्मेति नः अस्माकं आत्मा। व्यापकः कः ब्रह्म बृहद्गुणकं वस्तु यदवदन्ति तत्किमित्यर्थः। उभयोभेद उताभेद इत्यभिप्रायः प्राचीनशालसत्ययज्ञेन्द्रद्युम्नजनकवुडिलाः पञ्च समेत्येत्थं मीमंसां चक्रुः। को न इति। तदुत्तरमुद्दालकेन सार्द्धं वैश्वानरोऽसाविति निर्द्धारणायाश्वपतिकेकयराजमागता उचुरात्मानमेवेत्यादि। संप्रत्यध्येषि सर्वदा ध्यायसि अधिकं जानासीति वा। स च राजा द्युलोकसूर्यवाय्वाकाशाप्पृथिवीनामेकैको वैश्वानर इति विवदमाना एते षड्ऋषयो मत्सान्निध्यमागता इत्यवगम्य तादृग्विपरीतबुद्धिं निराकृत्य सम्यग्वैश्वानरबुद्धिं ग्राहयितुं तान् पप्रच्छ। कं त्वमात्मानमित्यादिना। पृष्टानां तेषां एक ऋषिर्द्युलोक एव वैश्वानर इत्याह। अन्यस्तु सूर्यः स इत्येवं क्रमेण पृथिव्यन्तानां द्युलोकादीनामेकैकस्य वैश्वानरत्वं श्रुत्वा तेषां द्युसूर्यादीनां क्रमात् सुतेजस्त्व-विश्वरूपत्व-पृथग्धर्मत्व-बहुलत्व-रयित्व-पादत्वगुणयोगं विधाय प्रत्येकवैश्वानरत्वपक्षं। मूर्द्धपातान्धत्व-प्राणोत्क्रमदेहशीर्णतावस्तिभेदशोषणैर्दोषैर्विनिन्द्य तेषामेव द्युलोकादीनां वैश्वानरपुरुषं प्रति मूर्द्धादिभावमभिधाय कृत्स्नां वैश्वानरोपासनामुपदिशति। यस्त्वेनमित्यादिना। अभिविमानं निर्गर्वं सर्वज्ञं वेत्यर्थः। प्रादेशमात्रं तत्परिमितम्। आत्मानं विभुचैतन्यानन्दम्। अचिन्त्यैश्वर्यशक्तियोगेन विभोरपि प्रादेशमात्रत्वम्। प्रादेशमात्रस्य च विभुत्वमित्युपदिशति। इति। इहापि वक्ष्यते सम्पत्तेरित्यादिना। ईदृशं वैश्वानरं य उपास्ते तस्य सर्वलोकोचाश्रयं फलं भवतीत्यर्थः। तदेवाह स इत्यादि। लोका भोगभूमयः। भूतादितदुपाधयः। आत्मानो भोक्तारस्तत्तत्सम्बन्धिफलमन्नशब्दार्थः। उपासनफलमु (क्त्वा?) उपास्यमाह—तस्येति। सुतेजस्त्वगुणा द्यौस्तस्य वैश्वानरस्य मुर्द्धा भवति विश्वरूपत्वगुणकः सूर्यस्तस्य चक्षुः विश्वरूपत्वं विविधरूपत्वं एष शुक्ल एष नील

इति श्रुतेः। नानावर्त्मगमनात पृथग्वर्त्मा वायुः। स नानागतित्वगुणकस्तस्य प्राणः। बहुलगुणक आकाशस्तस्य सन्देहो मध्यकायः। रयिर्धनं तद्गुणिका आपस्तस्य वस्तिः नाभेरधःस्थानं। पृथिवी तस्य पादौ भवतः। तस्य होम्यधारत्वसिद्धये उर एव वेदिरित्यादि। बर्हिः कुशः। तत्र संशय इति। अयं वर्णितविशेषणविशिष्टः। चतुर्ष्वपीति। अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुष इति जाठराग्नौ वैश्वानरशब्दः। पुरुषे देहे इत्यर्थः। वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीरिति देवताग्नौ। अस्यार्थः—वैश्वानरस्य अग्न्यधिष्ठातुर्देवस्य सुमतौ शोभनायां बुद्धौ स्याम वयं भवेम। तस्य अस्मद्विषया सुमतिरस्त्वित्यर्थः। तत्र हेतुः—राजा हीति। हि यतो भुवनानां राजा स भवति। कं सुखहेतुः सुखरूपो वा। अभिमुखा श्रीरस्येति अभिश्रीः। विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्निति भूताग्नौ च स शब्दः। विश्वस्मै भुवनाय वैश्वानरमग्निमह्नां केतुं चिह्नं सूर्यमकृण्वन् कृतवन्तो देवास्तदुदये दिनव्यवहारादित्यर्थः। को न आत्मेत्यादौ परमात्मा च स शब्द इति चतुर्षु स तुल्य इत्यर्थः—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—विष्णुपुराणकी उक्ति *'दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः'* इस श्रुतिको विष्णु तात्पर्यमें प्रयुक्त बताया है। *'द्वे विद्ये वेदितव्यो'* मुण्डकोपनिषदमें उद्धृत यह श्रुति भी विष्णु-अर्थ परक है। व्याप्याव्याप्य—वे व्यापी हैं अर्थात् अपनेसे भिन्न वस्तुओंको व्याप्त किये हुए हैं और अव्याप्य अर्थात् उन्हें कोई व्याप्त नहीं कर सकता। वे भगवत् शब्द वाच्य हैं। भगवत् शब्दका अर्थ है—सर्वैश्वर्य, सर्वशक्तिमत्त्व, सर्वविषयक यशस्वित्व, सर्वश्रीमत्त्व, सर्वज्ञत्व और सर्ववैराग्य—इन छह गुणोंसे जो युक्त हैं। भगवत् शब्दकी अभिधाशक्तिके द्वारा वे बोध्य हैं, लक्षणाके द्वारा लक्षणीय नहीं हैं। परमेश्वर अथवा ब्रह्मका स्वरूप चैतन्य है। सतत्त्व शब्दका अर्थ है यथार्थता। ब्रह्मज्ञान ही पराविद्या है। पहले जिस प्रकार वाक्यके आरम्भमें तादृशत्वादि साधारण धर्म बताये गये हैं और अन्तमें सर्वज्ञादि कथनसे परमात्म-विषयता दिखायी गयी, इसी प्रकार यहाँ भी वाक्यके आरम्भमें प्राप्त साधारण धर्म वाक्यके अन्तमें कथित होमाधारत्व-धर्म, प्रसिद्धिके अनुसार जठराग्निपरक हों, इस दृष्टान्त-सङ्गतिके द्वारा पूर्वपक्षी कहते हैं—*'को न आत्मा किं ब्रह्म?'* (आत्मा क्या है, ब्रह्म क्या है?) 'नः'—हमारे द्वारा ज्ञेय आत्मा अर्थात् व्यापक-वस्तु कौन हैं और वे ब्रह्म—बृहत्वगुणविशिष्ट वस्तु कौन हैं? क्या ये दोनों एक हैं? अथवा भिन्न

हैं? यहाँ प्रश्नकर्त्ताका अभिप्राय जो आख्यायिका टीकामें वर्णित है, उसका अर्थ अवतरणिका भाष्यके अनुवादमें देखना चाहिये। जब केकयराजने इन पाँचों ऋषियोंके मुखसे द्युलोकादिसे लेकर पृथ्वी पर्यन्त प्रत्येकका ही वैश्वानरत्व सुना, तब उनका मतिभ्रम दूर करनेके लिए उन्होंने कहा—द्युलोक वैश्वानर नहीं है, क्योंकि वह तो सुतेजस्त्व गुणसे युक्त है, सूर्य वैश्वानर नहीं हैं, क्योंकि वह विश्वरूप हैं, वायु भी नहीं है, क्योंकि उसमें पृथग्वर्त्मत्व है, आकाश भी नहीं है, क्योंकि उसमें बहुलत्व (पूर्णत्व) है, जल भी नहीं है, क्योंकि उसमें बस्तित्व (नाभिका अधःस्थानत्व अर्थात् मूत्र-संग्रहका स्थान) है, पृथ्वी भी नहीं है, क्योंकि उसमें प्रतिष्ठा है—पृथ्वीमें उन विराट् पुरुषका पादत्व गुण-योग है, (अर्थात् पृथ्वी वैश्वानर आत्माकी प्रतिष्ठा अर्थात् चरण है) इस प्रकार द्युलोकादिकी वैश्वानर बुद्धिसे उपासना करनेपर उपासकोंकी यथाक्रमसे मस्तकपात, अन्धता, प्राण-निर्गम, देह-शीर्णता, बस्तिभेद और शरीर-शुष्कता आदि दोषोंके द्वारा निन्दा करते हुए अन्तमें द्युलोकादि वैश्वानर पुरुषके मस्तकादि स्वरूपका वर्णन किया है। इस प्रकार *'यस्त्वेतमेवं'* (छा॰ ५/१८/१) इत्यादि वाक्यके द्वारा समग्र वैश्वानर उपासनाकी विधि बतलायी। इस वाक्यके अन्तर्गत अभिमान शब्दका अर्थ है—वे गर्वहीन अथवा सर्वज्ञ हैं। प्रादेशमात्रका अर्थ है—प्रादेश परिमित। आत्मा—विभुचैतन्यानन्दस्वरूप। विभु होनेपर भी अचिन्त्य ऐश्वर्य शक्तिके कारण उनका प्रादेश-परिमित होना सम्भव है और प्रादेश परिमित होनेपर भी उसी अचिन्त्य ऐश्वर्यके कारण विभुत्व है—यह वर्णन किया गया। *'सम्पत्तेः'* इत्यादि वाक्यका अर्थ है कि उनकी अचिन्त्य ईश्वरीय शक्तिके कारण सब कुछ सम्भव है। इस प्रकार विराट् वैश्वानरका जो ध्यान करता है, वह समस्त लोकोंके ऊपर आश्रय प्राप्त करता है, यह *'स सर्वेषु लोकेषु'* (छा॰ ५/१८/१) द्वारा प्रतिपादित हुआ है। 'लोक' शब्दका अर्थ है—भोग-भूमि। भूत इत्यादि उस लोककी उपाधि है। 'आत्मानः' शब्दसे तात्पर्य है—भोक्ता पुरुषगण, 'अन्न' शब्दका अर्थ है—उन-उन भोक्ता पुरुषोंकी भोग्य-वस्तु। इस प्रकार उपासनाका फल बताकर *'तस्य वा एतस्य'* इत्यादि वाक्यके द्वारा उपास्य देवताके विषयमें बतला

रहे हैं। सुतेजस्त्व गुणवान द्युलोक उन वैश्वानर देवताका मस्तक है, विश्वरूपगुणविशिष्ट सूर्य उनका चक्षु है, विश्वरूपत्व अर्थात् विविधरूप-योगके लिए यथा यह सूर्य शुक्ल है, ये नील हैं इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं। नाना पथमें गतिके कारण वायुको पृथग्वर्त्मा कहा जाता है, इस नानागतिकत्व गुणके कारण वायु उनका प्राणस्वरूप है। बहुल गुणविशिष्ट आकाश उनका मध्य-शरीर है। रयिका अर्थ है धन, धनगुणक जल उनकी बस्ति—नाभिका अधःस्थान है। पृथ्वी उनके दोनों चरण हैं। वे होमाधार हैं, यह प्रमाणित करनेके लिए वक्षःस्थलको वेदी बताया गया। 'बर्हिः' का अर्थ है 'कुश'। इस वैश्वानरविद्यामें संशय यह है कि इन कथित गुणोंसे युक्त वैश्वानरपदार्थ क्या है? तो कहते हैं जठराग्नि, देवताग्नि, भूताग्नि और विष्णु—इन चारोंमें ही वैश्वानरत्व है। यथा—*'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते'* इस प्रमाणके आधारपर जठराग्नि ही वैश्वानर है, जो जीवके शरीरमें प्रविष्ट है, देवताग्निमें भी वैश्वानर शब्दका प्रयोग पाया जाता है, यथा—*'वैश्वानरस्य सुमतोस्याम् राजाहिकं भुवनानामपि श्री'*, इसका अर्थ है—वैश्वानरस्य—अग्निके अधिष्ठात्री देवताकी, सुमतो—शोभन बुद्धिमें, स्याम्—हम रहें अर्थात् उस अग्निकी हमारे ऊपर सुमति हो। इस सुमति प्रदान करनेका कारण बता रहे हैं—राजा हि इत्यादि—क्योंकि वे त्रिभुवनके राजा हैं। वे सुखस्वरूप अथवा सुखदाता हैं। जो अभिश्रीः हैं अर्थात् जिनकी श्री दानोन्मुखी है। भूताग्निमें—सूर्यमें भी वैश्वानर शब्द पाया जाता है, यथा श्रुति है—*'विश्वस्या अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्।'* इसका अर्थ है—सारे देवताओंने समस्त भुवनके मङ्गलके लिए वैश्वानर अग्निको दिनके चिह्नस्वरूप सूर्यरूपमें सृष्टि की, क्योंकि सूर्यके उदय होनेपर दिन कहा जाता है। 'को न आत्मा' इत्यादि ब्राह्मणवाक्यमें भी परमात्माको वैश्वानररूपमें जाना जाता है। अतएव उक्त चारों ही पदार्थोंमें वैश्वानर समान रूपसे प्रयुक्त है, पूर्वपक्षीके इस संशयके निराकरणके लिए सूत्रकार कह रहे हैं—

सूत्र—वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्॥ २५॥

सूत्रार्थ—'वैश्वानरः'—यद्यपि वैश्वानर शब्द द्युलोकादिमें प्रयोगके कारण साधारण है, तो भी यहाँ उसका अर्थ विष्णु ही मानना चाहिये, क्योंकि 'साधारणशब्दविशेषात्'—मात्र विष्णुमें ही वर्त्तमान द्युलोक मस्तकत्व शब्दके द्वारा साधारण शब्द वैश्वानर विशेषित होकर स्वयंका विष्णु अर्थ ही सूचित कर रहा है। इसी प्रकार आत्मन् और ब्रह्मन्—ये विशेष शब्द अभिधारूप मुख्यवृत्तिके द्वारा श्रीहरिके ही बोधक हैं, उन आत्मन् और ब्रह्मन् शब्दोंके द्वारा आरम्भ करके यह वैश्वानरविद्या कही गयी है। इसके उपासकोंकी फलविशेष श्रुति है। जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्निमें सींकका अग्रभाग अथवा रुई फेंकनेपर वे दोनों तत्काल ही भस्मीभूत हो जाते हैं, उसी प्रकार वैश्वानर-ब्रह्म-उपासकोंके समस्त पाप तत्क्षण ही दग्ध हो जाते हैं—इत्यादि जो कुछ भी विष्णु अर्थमें प्रयुक्त है, वह सब भी श्रीहरिके वैश्वानरत्वका एक सूचक है॥ २५॥

सूत्रानुवाद—छान्दोग्य श्रुतिमें कहा हुआ वैश्वानर विशेषण शब्द विष्णुका बोधक है, क्योंकि जठराग्नि इत्यादि साधारण शब्दोंकी अपेक्षा द्युलोक मूर्द्धा इत्यादि विशेषण विष्णुमें ही सम्भव हैं॥ २५॥

गोविन्दभाष्य—वैश्वानरो विष्णुरेव। कुतः? साधारणेत्यादेः। अयं भावः—यद्यपि स शब्दस्तत्र तत्र साधारणस्तथापि विष्णुसाधारणैर्द्युमूर्द्धादिशब्दैर्विशेष्यमाणः सन् स्वस्य विष्णवर्थं गमयति तथात्मब्रह्मशब्दाभ्यां उपक्रमस्तद्विदः फलविशेषश्रुतिः तद्यथेषीकातूलमित्यादिका (छा॰ ५/२४/३) तस्य विष्णुत्वे लिङ्गम्। सोऽपि योगेन तत्रैव वर्त्तेत विश्वे नरा अस्येति। तस्माद्विष्णुरेव सः॥ २५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—वैश्वानर विष्णु ही हैं, क्योंकि वैश्वानर शब्द साधारण होनेपर भी विशेष शब्दके द्वारा विशेषित हुआ है। भावार्थ यह है कि यद्यपि यह वैश्वानर शब्द द्युलोकादिमें समान अर्थमें प्रयुक्त है, तो भी विष्णुमें विद्यमान द्युलोक उनका मूर्द्धा है—इत्यादि विशेषणोंके द्वारा विशेषित होकर यह शब्द अपना विष्णुपरक अर्थ ही सूचित कर रहा है। इसके अतिरिक्त 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' शब्दोंके द्वारा वैश्वानर-उपासनाका उपक्रम है और उस विद्योपासकके फल-विशेष श्रवणमें (जैसे अग्नि सींकके अग्रभाग और रुईको जला डालती है,

उसी प्रकार यह विद्या उपासकोंकी पाप-राशिको भस्म कर देती है इत्यादि) वैश्वानर शब्दका अर्थ विष्णुका ही ज्ञापक है। पुनः विग्रह-वाक्य-रूप योगबलसे भी विष्णु सूचित होते हैं। यथा—विश्वे—समस्त, नराः—प्राणी जिनके आश्रित हैं, अतएव श्रीविष्णु ही वैश्वानर शब्दके द्वारा ज्ञातव्य हैं॥ २५॥

सूक्ष्मा-टीका—वैश्वानरेत्यादि। विशेषो विशेषणं स शब्दो वैश्वानरशब्दः। स्वस्येति आत्मनो वैश्वानरशब्दस्येत्यर्थः। विष्णवर्थं विष्णुपरत्वं। तथेति। आत्मब्रह्मशब्दौ हरौ मुख्यवृत्ताविति प्रागवोचाम। तद्यथेषीकातुलमग्नौ प्रोतं भस्मीभवति तथौवेहास्य सर्वे पाप्मानो विनश्यन्तीति वैश्वानरोपासकस्य निखिलपापविनाशः फलं श्रुतमतश्च स सर्वेश्वर इत्यर्थः। सोऽपि वैश्वानरशब्दोऽपि॥ २५॥

सूक्ष्मा-सार—वैश्वानर शब्द विष्णुका ही बोधक है, क्योंकि जठराग्नि इत्यादि शब्द साधारण होनेपर भी द्युलोक मूर्द्धा इत्यादि विशेषणमात्र विष्णुमें ही सम्भव हैं। *'स्वस्य विष्णवर्थं गमयति'*, 'स्वस्य'—स्वयंका अर्थात् वैश्वानर शब्दका 'विष्णवर्थं'—विष्णु-बोधकत्व सूचित हो रहा है। आत्मन् एवं ब्रह्मन् शब्द मुख्यवृत्ति अभिधाके द्वारा विष्णुके ही बोधक हैं—यह बात पहले भी कही गयी है। इस विषयका दृष्टान्त श्रुतिके द्वारा दिखाया जा रहा है—जिस प्रकार सींकका अग्रभाग, तृण-गुच्छ, रुई इत्यादि अग्निमें फेंक देनेसे भस्मीभूत होते हैं, उसी प्रकार वैश्वानरोपासकके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार वैश्वानरोपासकका पाप-विनाश-फल श्रुतिमें वर्णित है, अतएव वैश्वानर ही सर्वेश्वर हैं, यह तात्पर्य है। यह शब्द व्युत्पत्ति विशेषसे भी परमेश्वरका बोधक है॥ २५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—जब प्राचीनशालादि पाँचों जन उद्दालकके साथ केकयपुत्र राजा अश्वपतिके पास पहुँचे, तब राजाने उनकी यथोचित अभ्यर्थना की और उन्हें प्रचुर धन देना चाहा, तब उन्होंने कहा कि हम आपसे वैश्वानर आत्मविद्या प्राप्त करनेके लिए आये हैं। राजाने दूसरे दिन उनका उपनयन न करके उपदेश देना आरम्भ कर दिया। इस प्रसङ्गको विस्तृत रूपसे अवतरणिका भाष्यानुवाद एवं टीकानुवादमें देखना चाहिये।

इस श्रुतिकथित विषयके आधारपर यदि संशय है कि वैश्वानर आत्मा कौन हैं? क्या वे जाठराग्नि हैं? या अग्नि देवता हैं? अथवा भूताग्नि? अथवा विष्णु हैं? विभिन्न श्रुतियोंके प्रमाणपर इन चारोंमें ही वैश्वानर शब्दका प्रयोग है, अतः वैश्वानर शब्दका साधारण प्रयोग देखकर वास्तविक तत्त्व निर्णय करना कठिन है। इस पूर्वपक्षके समाधानके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें उल्लेख कर रहे हैं—

वैश्वानर शब्दका साधारणार्थमें प्रयोग देखे जानेपर भी छान्दोग्योक्तानुसार स्वर्ग उनका मस्तक है, सूर्य उनके नेत्र हैं इत्यादि शब्दोंके द्वारा उन्हें जान लेनेपर समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। इन विशेषताओंसे स्पष्ट ही जान सकते हैं कि वैश्वानर आत्मा कहनेसे परमात्मा ही लक्षित होते हैं, जो विष्णुके अतिरिक्त और कोई नहीं हैं।

श्रीरामानुजाचार्य भी कहते हैं कि जब 'ब्रह्म कौन हैं', यह जाननेके लिए भी अश्वपतिके पास गये और उन्होंने भी वैश्वानर आत्माका उपदेश दिया, जिससे यह सूचित हुआ कि जो ब्रह्म हैं, वे ही वैश्वानर आत्मा हैं।

श्रील शुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भागवतके द्वितीय स्कन्धके द्वितीय अध्यायमें स्थूल धारणासे मनजित् अवस्था प्राप्त होनेपर वह मन सर्वसाक्षी सर्वेश्वरेश्वर श्रीविष्णुमें धारणाका विषय वर्णन करने जाकर भक्तिमिश्र योगियोंके देहत्यागका प्रकार, सद्योमुक्ति एवं क्रममुक्ति और ब्रह्मलोक प्राप्त योगीकी त्रिविधगतिका वर्णन करते हुए भक्तियोगको ही परम साध्य वस्तु बतलानेके अभिप्रायसे पहले सद्यो मुक्तिके विषयमें बतलाया और उसके बाद क्रम-मुक्तिके प्रसङ्गमें कहा—

योगेश्वराणां गतिमाहुरन्त-
र्बहिस्त्रिलोक्याः पवनान्तरात्मनाम्।
न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति
विद्यातपोयोग-समाधिभाजाम् ॥

(श्रीमद्भा॰ २/२/२३)

भोग-विषयमें भी कर्मियोंके साथ योगियोंकी समानता नहीं है। योगी भगवत्-उपासना (विद्या), भगवत्-धर्म (तप), अष्टाङ्गयोग

(योग), समाधिज्ञान (ज्ञान) का सेवन करते हैं। वे वायुको अपने शरीरके भीतर स्थित लिङ्गशरीरमें रखते हैं, अतः वे स्वच्छन्द रूपसे मर्त्यलोक आदि त्रिलोकीके अन्दर एवं बाहर सर्वत्र आ-जा सकते हैं। इन योगेश्वरोंको जो गति प्राप्त होती है, वह कर्मियोंको कर्मोंके द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती।

इस श्लोककी टीकामें श्रीमन्मध्वाचार्यने ब्रह्मतर्कसे उद्धृत करते हुए लिखा है—

पवनस्याप्यन्तरात्मा यस्तं पवनश्चान्तरात्मा चेति वा।
ईयुस्त्रीन् कर्मणा लोकान् ज्ञानेनैव तदुत्तरान्।
तत्र मुख्या हरिं यान्ति तदन्ये वायुमेव तु।
अपक्वा येन ते यान्ति वायुं वा हरिमेव वा।
स्थानमात्राश्रितास्ते तु पुनर्जनिविवर्जिताः॥

श्रीशुकदेव गोस्वामीने भी कहा है—

वैश्वानरं याति विहायसा गतः
सुषुम्नया ब्रह्मपथेन शोचिषा।
विधूतकल्कोऽथ हरेरुदस्तात्
प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम्॥

(श्रीमद्भा॰ २/२/२४)

अर्थात् कर्मीजन देहकी समाप्तिपर आकाशमार्गसे जब ब्रह्मलोककी ओर जाते हैं, तब उस ज्योतिर्मयी सुषुम्ना नाड़ी योगसे वे पहले अग्निलोकमें अग्नि नामक देवताके पास जाते हैं। उस स्थानपर उनके समस्त कल्मष भी दूर हो जाते हैं। इसके बाद वे ऊपर स्थित शिशुमाराकार नामक ज्योतिर्मय चक्रमें स्थित आदित्यादि ध्रुवान्त पदकी ओर जाते हैं।

इस श्लोककी टीकामें श्रीमन्मध्वाचार्यने ब्रह्माण्डपुराणसे निम्न श्लोकको उद्धृत किया है—

वैश्वानरे द्युनद्यां वा सूर्ये वा देह एव वा।
विधूय सर्वपापानि यान्ति किन्तुघ्नकेशवम्॥

श्रीमद्भगवद्गीता (१५/१४) में भी श्रीकृष्णने कहा है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।

इस श्लोककी टीकामें श्रीलबलदेव प्रभुने वेदान्तसूत्रके प्रथम अध्यायके द्वितीय पादके २१वें सूत्रका उल्लेख किया है, वह बादमें *'शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाञ्च'* (वे॰सू॰ १/२/२७) में कहा जायेगा॥ २५॥

अवतरणिका भाष्य—इतोहपीत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—निम्नलिखित कारणसे भी वैश्वानर पद वाच्य श्रीविष्णु हैं—यही सूत्रकार कह रहे हैं—

सूत्र—स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति॥ २६॥

सूत्रार्थ—'स्मर्यमाणम्'—स्मृति श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रुयमाण वैश्वानर विष्णु-तत्त्व, 'अनुमानम्'—यह पराविद्या विष्णुपरता विषयमें अनुमापक साधन है अर्थात् वैश्वानरको विष्णुपर निश्चय करानेवाला है, 'इति स्यात्'—इसलिए प्रकरणमें वैश्वानर परमात्मा ही हैं॥ २६॥

सूत्रानुवाद—'अग्निर्मूर्धा' इत्यादि श्रुति तथा 'यस्याग्नि' इत्यादि स्मृतियोंमें परमात्मरूपमें प्रसिद्ध तत्त्व वही वैश्वानर हैं। इस प्रकारसे स्मरण ही वैश्वानरके परमात्मत्वका अनुमापक लिङ्ग है॥ २६॥

गोविन्दभाष्य—इति शब्दो हेत्वर्थः। *'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः'* (श्रीगी॰ १५/१४) इति विष्णोस्तत्त्वं स्मर्यमाणमेतस्या विद्याया विष्णुपरत्वे अनुमानं लिङ्गं भवति इति हेतोः स विष्णुरेव॥ २६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रके अन्तर्गत इति शब्द हेतु अर्थमें है। किसलिए? *'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः'* अर्थात् 'मैं वैश्वानर अग्नि रूपसे प्राणियोंके शरीरका आश्रयकर उनमें प्रविष्ट हूँ'—श्रीमद्भगवद्गीतामें यह जो विष्णुतत्त्व स्मृत हुआ है, वह इस पराविद्याके उपास्य विष्णुतात्पर्यका अनुमापक लिङ्ग (प्रत्यभिज्ञाका विषय) है। इसलिए विष्णु ही वैश्वानर पदवाच्य हैं॥ २६॥

सूक्ष्मा-टीका—स्मर्यमाणमिति। अहमिति श्रीगीतासु। वैश्वानरो भूत्वेति। जाठराग्निरूपस्तदधिष्ठाता सन्नित्यर्थः। तत्त्वं वैश्वानरत्वम्। एतस्याश्छान्दोग्यस्थ-वैश्वानरविद्यायाः॥ २६॥

सूक्ष्मा-सार—स्मर्यमाणम् इत्यादि। *'अहं वैश्वानरो'* इत्यादि वाक्य श्रीमद्भगवद्गीतामें विद्यमान हैं। *'वैश्वानरो भूत्वा'* से तात्पर्य है—जाठराग्निरूप वैश्वानर अर्थात् उसका अधिष्ठाता अथवा परिचालक होकर। विष्णोतत्त्वमिति—तत्त्व शब्दका अर्थ वैश्वानरत्व है। *'एतस्या विद्यायाः'* अर्थात् छान्दोग्योपनिषदमें वर्णित वैश्वानर-विद्याका तात्पर्य परब्रह्म ही है॥ २६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—*स्मर्यमाणमीति स्मरणं हि मननं श्रुतस्य भवति। श्रुतिवाकेभ्य एव हि श्रवणम्* अर्थात् श्रुतिवाक्योंको श्रवण कहते हैं। श्रुत वस्तुके मननको स्मरण कहते हैं। श्रीमद् वेदव्यासजीने वैश्वानर शब्दमें जिन परमात्माका वर्णन किया है, उसे प्रमाणित करनेके लिए उन्होंने (सूत्रकारने) पूर्वपक्षीय युक्तियोंका खण्डन करते हुए स्थापन किया है कि विष्णु ही उस 'वैश्वानर' रूपके वाच्य हैं। 'मैं वैश्वानररूपमें' इत्यादि गीताके वाक्यमें विष्णु ही बोध्य हैं। अन्य स्मृतिमें भी भगवान्के उसी रूपका वर्णन है—

यस्याग्निवास्यं द्यौर्मूर्द्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः।
सूर्याश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः॥

(महाभारत, शान्तिपर्व, राजधर्म ४७/७०)

अर्थात् अग्नि जिनका मुख है, द्युलोक जिनका मूर्द्धा (मस्तक) है, आकाश जिनकी नाभि है, पृथ्वी जिनके चरण हैं, सूर्य जिनके नेत्र हैं और दिशाएँ जिनके कान हैं, उन लोकात्मक पुरुषको नमस्कार है।

अतः *अग्निर्मूर्धा* इत्यादि श्रुति और *यस्याग्नि* इत्यादि स्मृतिमें वर्णित वैश्वानर विष्णु ही हैं।

श्रीमद्भागवत (३/९/३२) में भी द्रष्टव्य है—

यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम्।
प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात् तर्ह्येव कश्मलम्॥

काष्ठमें स्थित अग्निके समान मैं समस्त प्राणियोंमें व्याप्त हूँ। जिस समय जीव मुझे इस भावसे देखता है, उसी समय वह अपने

अज्ञानरूप मोहको त्याग करनेमें समर्थ हो जाता है॥ २६॥

अवतरणिका भाष्य—अथ जाठरं निरस्यति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—ये वैश्वानर जाठराग्नि (उदराग्नि) नहीं हैं, इसीका खण्डन कर रहे हैं—

सूत्र—शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न, तथादृष्ट्युपदेशाद-सम्भवात् पुरुषविधमपि चैनमधीयते॥ २७॥

सूत्रार्थ—यहाँ पूर्वपक्षकी युक्ति यह है कि 'शब्दादिभ्यः'—वैश्वानर शब्द अग्निका पर्याय है, इन शब्दादि कारणोंसे तथा अन्यान्य कारणोंसे यथा—हृदयादिस्थानाश्रयी—वैश्वानरकी अग्नि-त्रयमें अन्यतम रूपमें कल्पना की गयी है और प्राणको उसका आधार बतलाया गया है, इसलिए 'अन्तःप्रतिष्ठानाच्च' जीवके शरीरमें प्रतिष्ठित वैश्वानरको जानो—इस कथनसे वैश्वानर शब्द जाठरानलका बोधक है, यह शब्द 'न' ब्रह्म अथवा विष्णुपरक नहीं है, 'नेति चेत्'—यदि ऐसा कहो, तो यह नहीं कह सकते क्योंकि 'तथादृष्ट्युपदेशात्' जाठराग्निरूपमें ध्यान विष्णुकी उपासनाका एक प्रकार है, यही इसका मर्म है। और एक कारण है 'असम्भवात्'—द्युलोक उनका मस्तक है, सूर्य उनके नेत्र हैं, यह सब पराविद्यामें वर्णित विश्वरूप धर्म जाठराग्निके पक्षमें असम्भव है। अन्य कारण यह है कि 'पुरुषविधमपि चैनमधीयते' वाजसनेयी याज्ञिक इस वैश्वानरका पुरुषाकृति रूपमें वर्णन करते हैं, इसलिए भी जाठराग्नि वैश्वानर नहीं है॥ २७॥

सूत्रानुवाद—वैश्वानरको शरीरके भीतर प्रतिष्ठित कहा है, अतः वह ब्रह्मका वाचक नहीं है, यह कथन युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त परब्रह्म वैश्वानरका सर्वात्मा होनेसे जाठराग्निमें तादात्म्यके कारण उपासनाका उपदेश है। जाठराग्निमें त्रिलोकीका आत्मत्व असम्भव है। वाजसनेयी इसका पुरुषाकारमें अध्ययन करते हैं॥ २७॥

गोविन्दभाष्य—ननु वैश्वानरो न विष्णुरयमग्निर्वैश्वानर (बृ॰आ॰ ५/९/१) इति वैश्वानरशब्दैकार्थाग्निशब्दात् हृदयं गार्हपत्य (छा॰ ५/१८/२) इत्यादिना हृदयादिस्थस्य तस्य अग्नित्रेताप्रकल्पनात् प्राणा (छा॰ ५/१९/२) इत्याधारत्वोक्तेः

पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेदेत्यन्तःप्रतिष्ठानाच्च। किन्तु जाठराग्निरेवायमिति चेन्न। कुतः? तथेति। तथा जाठररूपत्वेन दृष्टेर्विष्णूपासनस्योक्तेः। तन्मात्रपरिग्रहे द्युमूर्द्धत्वादेरसम्भवात्। किञ्च *'स यो ह्येतमेवाग्निः वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद'* (शत॰ब्रा॰ १०/६/१/११) इति पुरुषविधमप्येनमधीयते वाजसनेयिनः। जाठरे गृहीते तस्य पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठानंस्यान्न तु पुरुषविधत्वञ्च। विष्णोस्तूभयं सम्भवेत्॥ २७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्वपक्षी पूर्वोक्त सिद्धान्तके ऊपर आपत्ति करते हैं कि *'ननु वैश्वानरो न विष्णुरयमग्नि'* (बृ॰आ॰ ५/९/१) तुम जो वैश्वानर शब्दका अर्थ विष्णु कहते हो, वह हो नहीं सकता, क्योंकि *'अग्निवैश्वानरोवह्निर्वीतिहोत्रो धनञ्जयः'* इत्यादि वाक्यमें अग्निके समपर्यायरूपोंका वर्णन है। अमरकोष (१/१/५३) के अनुसार अग्नि, वैश्वानर, वह्निः, वीतिहोत्रः, धनञ्जयः इत्यादि अग्निके पर्यायवाची हैं। और भी एक कारण है, *'हृदयं गार्हपत्यः'* (छा॰ ५/१८/२) 'हृदय गार्हपत्याग्नि है'—इत्यादि वाक्यके द्वारा हृदयादि स्थानोंमें स्थित वैश्वानरकी तीन अग्नियोंके रूपमें कल्पना की गयी है (हृदय गार्हपत्याग्नि है, मन अन्वाहार्य पचन है तथा मुख आहवनीय है)। पुनः *'प्राणाः'* (छा॰ ५/१९/२) इत्यादि वाक्यके द्वारा प्राणको उसका आधार बताया गया है। विशेष रूपसे *'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितम्'* जीव शरीरके भीतर वैश्वानर प्रतिष्ठित है—यह कहे जानेसे वैश्वानर शब्दसे जाठराग्निको ही जानना होगा, पुरुषोत्तमको नहीं। पूर्वपक्षियोंकी इस उक्तिके प्रतिपक्षमें सिद्धान्ती कहते हैं *'इति चेत् न'*—यदि ऐसा कहते हो, तो यह हो नहीं सकता, क्योंकि जाठराग्निरूपमें ध्यान विष्णुकी उपासनाके लिए कहा गया है। यदि केवल जाठराग्निको वैश्वानर पदवाच्यरूपमें ग्रहण करते हो, तो पूर्वोक्त पराविद्यामें वर्णित *'द्युलोक मूर्द्धत्व'* इत्यादि विशेषण जाठराग्निके पक्षमें सम्भव नहीं हो सकेंगे। और भी एक बात है *'स यो ह्येतमेवाग्निः .... वेद'* (शतपथ ब्राह्मण १०/६/१/११) जो जीव-शरीरके अन्तर्वर्ती (प्रतिष्ठित) पुरुषाकृति वैश्वानर अग्निको जानता है, वह व्यक्ति मुक्ति प्राप्त करता है—इस ब्राह्मणवाक्यमें वैश्वानरकी केवल जीवकी अन्तःप्रतिष्ठाकी ही बात नहीं है, अपितु पुरुषाकारका भी वर्णन है। फिर वह जाठराग्नि किस प्रकारसे होगी? जब कि विष्णु पक्षमें दोनों ही सम्भव हैं, विष्णु सर्वस्वरूप हैं॥ २७॥

सूक्ष्मा–टीका—जाठराग्निमाशङ्क्य निराकरोति शब्दादिभ्य इति। आदिपदग्राह्यं दर्शयति हृदयमित्यादिना। तन्मात्रेति। जाठराग्नौ स्वीकृते तस्मिन द्युमृद्धंत्वादिकं न् सम्भवेदित्यर्थः। किञ्चेति। पुरुषविधं पुरुषाकारं जठरस्थमग्निं यो वेदेत्यर्थः। उभयमिति। जाठररूपं पुरुषाकारत्वञ्चेत्यर्थः॥ २७॥

सूक्ष्मा–सार—सूत्रकारने जाठराग्निकी वैश्वानर पदवाच्यमें शङ्का दिखाकर उसका *'शब्दादिभ्यः'* सूत्रके द्वारा निराकरण किया है। *'शब्दादिभ्यः'* में जो आदि पद है, उसका विषय *'हृदयं गार्हपत्यं'* इत्यादि द्वारा देखा जाता है। यदि वैश्वानर शब्दसे केवल जाठराग्निका ही सम्बोधन होता, तो द्युलोक उनका मस्तक है, इत्यादि विशेषण कभी सम्भव नहीं होते। विष्णु पक्षमें जाठरत्व और पुरुषाकारत्व दोनों ही सम्भव हैं॥ २७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकारने प्रस्तुत सूत्रमें स्पष्ट कर दिया है कि वैश्वानर जाठराग्नि नहीं है। जाठराग्निरूपमें विष्णुका ध्यान ही विहित है, यदि इस जाठराग्निको वैश्वानर आत्मा कहा जाय, तो पराविद्यामें वर्णित विशेषण असम्भव होते हैं। पुनः वैश्वानर आत्माको पुरुषाकार कहा गया है, जाठराग्निको पुरुषाकार नहीं कहा जा सकता। विष्णु सर्वमय और सर्वस्वरूप हैं, उनके लिए सबकुछ सम्भव है। श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

सूर्य्योऽग्निर्ब्राह्मणा गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम्।
भूतात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे॥
(श्रीमद्भा॰ ११/११/४२)

अर्थात् हे भद्र! सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गाय, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, भूमि, जीव और प्राणियोंको मेरी पूजाका अधिष्ठान समझना चाहिये।

अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाऽप्सु हृदि द्विजः।
द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्च्चेत् स्वगुरुं माममायया॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२७/९)

अर्थात् भक्तिपूर्वक निष्कपट भावसे मुझ परमात्माकी पूजाकी सामग्रियोंके द्वारा मूर्त्तिमें, वेदीमें, अग्निमें, सूर्यमें, जलमें अथवा हृदयमें—चाहे किसीमें भी आराधना करे।

अग्निर्मुखं तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणं,
सूर्यो नभो नाभिरथो दिशः श्रुतिः।
द्यौः कं सुरेन्द्रास्तव बाहवोऽर्णवाः,
कुक्षिर्मरुत् प्राणबलं प्रकल्पितम्॥
(श्रीमद्भा० १०/४०/१३)

हे भगवन्! उपासनाकी दृष्टिसे अग्नि आपका मुख, पृथ्वी आपके चरण, सूर्य आपके चक्षु और आकाश आपकी नाभि है। दिशाएँ आपके कर्ण, स्वर्ग (द्युलोक) आपका मस्तक, श्रेष्ठ देवगण आपकी बाहु, समुद्र आपकी कोख, वायु आपकी प्राणवायु एवं शारीरिक बलके रूपमें कल्पित हैं।

वाजसनेयी इसे पुरुष भी कहते हैं—*स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः।* आत्मा होनेके कारण परमात्मा ही यहाँ प्रसिद्ध है। परमात्मामें पुरुषत्व है—पुरुषमें अन्तःप्रतिष्ठितत्व जो *'सहस्रशीर्षा पुरुषः', 'पुरुष एवेदं', 'पुरुषान्न परं किञ्चित्'* इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें प्रसिद्ध है॥ २७॥

अवतरणिका भाष्य—अथ देवताग्निभूताग्नी निराकरोति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद वैश्वानरके देवताग्नि और पञ्चभूतान्तर्गत अग्निवादका खण्डन कर रहे हैं—

सूत्र—अतएव न देवता भूतञ्च॥ २८॥

सूत्रार्थ—'अतएव'—उक्त कारणोंसे, 'न देवता भूतञ्च'—देवताग्नि अथवा भूताग्नि वैश्वानर पदवाच्य नहीं हैं॥ २८॥

सूत्रानुवाद—उक्त हेतुसे ही देवता एवं महाभूत-अग्नि भी यहाँ वैश्वानर शब्दवाच्य नहीं हैं॥ २८॥

गोविन्दभाष्य—ननु देवताग्नेरैश्वर्यवशेन द्युलोकाद्यङ्गत्व सम्भवादेष निर्द्देशस्तथा भूताग्नेश्च। *'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी चान्तरीक्षम्'* (ऋ०सं० १०/८८/३) इत्यादिमन्त्रवर्णादिति चेन्न। कुतः? अतएव एभ्य उक्तेभ्य एव हेतुभ्यो देवताग्निर्भूताग्निश्च न स इत्यर्थः। मन्त्रवर्णस्तु प्रशंसावचनम्॥ २८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आपत्ति है कि देवतास्वरूप अग्निके ऐश्वर्यवश द्युलोक इत्यादि अङ्गोंकी सम्भावना हो सकती है, इसलिए देवताग्निको

वैश्वानर कहा गया है, वैश्वानरको विष्णु क्यों कहेंगे? इसी प्रकार भूताग्निके सम्बन्धमें भी द्युलोकादि अङ्गवत्ता सुनी जाती है। यथा—*'यो भानुना .... चान्तरीक्षम्'* (ऋ॰सं॰ १०/८८/३) जो भूताग्नि भानु (तेज) द्वारा स्वर्गलोक, मर्त्त्यलोक, आकाश और अन्तरिक्षको व्याप्त किये हुए हैं—इस मन्त्रवर्णके द्वारा भूताग्निको वैश्वानर कहा जा सकता है, तब विष्णुको वैश्वानर क्यों माना जाय? यदि ऐसा कहते हो, तो यह कहना सम्भव नहीं, क्योंकि उक्त विशेषणोंका प्रयोग देवताग्नि अथवा भूताग्निमें सम्भव नहीं हो सकता। तो फिर मन्त्रवर्णमें इस प्रकारसे क्यों कहा जा रहा है? इसका समाधान यह है कि किसी-किसी स्थलपर कहे गये ये विशेषण प्रशंसावाद मात्र हैं॥ २८॥

सूक्ष्मा-टीका—यो भानुनेति। यो भूताग्निर्देवः पृथिवीं द्याञ्चेमां द्यावापृथिव्यो रोदसी अन्तरीक्षं तयोर्मध्यञ्च भानुनारूपेणाततान व्याप्तवान् स द्युलोकाद्यवयवो भूताग्निर्ध्येय इत्यर्थः। सिद्धान्ते तु स्तुतिपरमेतत्। स तु न वैश्वानरः॥ २८॥

सूक्ष्मा-सार—जिन भूताग्निदेवने इन पृथ्वी, स्वर्ग, द्यावापृथ्वी अर्थात् अन्तरिक्षको भानुके द्वारा अर्थात् स्वरूपके द्वारा व्याप्त कर रखा है, उन द्युलोकादि अवयवसम्पन्न भूताग्निका ध्यान करें—यह मन्त्रका अर्थ है। ऐसा पूर्वपक्षीका मत है और सिद्धान्तीके मतमें यह अर्थवाद अथवा प्रशंसामात्र है। भूताग्नि अथवा देवताग्नि वैश्वानर नहीं हैं॥ २८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें देवताग्नि एवं भूताग्निके वैश्वानरत्वका खण्डन किया गया है। इसका कारण वे ही हैं, जो पहले कहे गये हैं और उन्हीं पूर्वोक्त कारणोंसे विष्णुको वैश्वानर कहकर निश्चित किया गया है। तब यदि कोई पूर्वपक्ष करे कि मन्त्रमें किसी-किसी स्थलपर जो विशेषण देखे जाते हैं, वे क्या हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें वक्तव्य है कि वे स्तुतिमात्र हैं, वास्तव नहीं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

सूर्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम्।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोष्वङ्ग यवसादिना॥

वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरःसरैः॥
स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/११/४३—४५)

अर्थात् हे प्रिय उद्धव! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदके मन्त्रोंके द्वारा सूर्यमें मेरी पूजा करनी चाहिये। घृताहुति अर्थात् हवनके द्वारा अग्निमें, आतिथ्य सत्कारके द्वारा श्रेष्ठ ब्राह्मणमें, हरी-हरी घास आदिके द्वारा गायोंमें, बन्धु-बान्धवके समान सत्कारके द्वारा वैष्णवोंमें, निरन्तर ध्यान निष्ठाके द्वारा हृदय-आकाशमें, मुख्य प्राण समझनेसे वायुमें, पुष्पके साथ जल आदि द्रव्योंके द्वारा जलमें, बीज-मन्त्रोंके द्वारा न्यास करके मिट्टीकी वेदीमें, शास्त्रविहित भोगोंके द्वारा आत्मामें एवं समदृष्टिके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंमें अन्तर्यामीस्वरूप मेरी आराधना करनी चाहिये।

तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम्।
विष्णोर्धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मनः॥
(श्रीमद्भा॰ ३/११/४२)

अर्थात् उस समय भगवान् हरि प्रलय-पयोधि जलमें अनन्त-शय्यापर योगनिद्रामें नेत्र मूँदकर शयन करते हैं और जनलोकवासी एवं महर्लोकसे आये हुए भृगु आदि महर्षि उनकी स्तुति करते हैं॥ २८॥

अवतरणिका भाष्य—वैश्वानरशब्दवदग्निशब्दस्यापि साक्षात् तत्परत्वमिति जैमिनिमतेन दर्श्यते—

अवतरणिका भाष्य—वैश्वानर शब्दके समान अग्नि शब्दका भी साक्षात् रूपसे विष्णुबोधकत्वमें ही अभिप्राय है—पूर्व मीमांसक जैमिनिके मतमें यह प्रदर्शित हुआ है।

सूत्र—साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः॥ २९॥

सूत्रार्थ—'जैमिनिः अपि'—पूर्वमीमांसाकार महर्षि जैमिनिने भी कहा है कि 'साक्षात्' बिना किसी कल्पनाके 'अविरोधम्' वैश्वानर शब्दमें

जो अग्नि शब्द है, वह विष्णुके लिए अभिहित है तथा इसमें विरोधका अर्थात् असमाञ्जस्यका अभाव है॥ २९॥

सूत्रानुवाद—महर्षि जैमिनिका मत है कि वैश्वानर शब्दको साक्षात् परब्रह्मका वाचक माननेमें कोई विरोध नहीं है॥ २९॥

गोविन्दभाष्य—विश्वनेतृत्वेन गुणेन विश्वे नरा अस्येति सर्वकारणत्वादिना वा यथा वैश्वानरशब्दस्तथात्र नयनादिगुणयोगेनाग्नि-शब्दश्च साक्षादेव विष्णुवाचक इत्यविरोधमत्र जैमिनिर्मन्यते गुणविशेषस्योपजीव्यत्वात्॥ २९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—विश्वके अर्थात् समस्त प्राणियोंके नर अर्थात् नेता, अर्थात् प्रवर्त्तक। अथवा समस्त नर जिनसे उत्पन्न होते हैं, इस व्युत्पत्तिसे प्राप्त वैश्वानर शब्दको साक्षात् रूपसे विष्णु ही माना जाता है। इस विश्वके चालकत्व गुणके कारण अथवा विश्वमें समस्त मनुष्य उनके कार्य हैं, इस प्रकार सर्वकारणत्व गुणसे जिस प्रकार वैश्वानर शब्द व्युत्पन्न हुआ है, उसी प्रकार अग्नि शब्द भी 'अगति गच्छति'—'नयति' जो उपासकको उत्तमलोकमें ले जाता है—इस अर्थमें अग् धातुमें नि प्रत्ययके योगसे अग्नि शब्दकी व्युत्पत्ति हुई है, अतएव प्रापणादि (पहुँचाना, ले जाना) गुणोंके कारण अग्नि शब्द भी साक्षात् सम्बन्धसे विष्णुका वाचक है, इसलिए भौत अग्नि, देवता अग्नि, जाठर अग्नि इत्यादिके साथ वैश्वानर शब्दका अर्थ लेनेमें कोई असामञ्जस्य अथवा विरोध नहीं है—यह जैमिनिका विचार है। विश्व-नेतृत्व गुण वैश्वानर शब्दका 'विष्णु' अर्थ बोध कराता है और नयनादि गुण अग्नि शब्दके विष्णु अर्थमें उपजीव्य अर्थात् प्रयोजक हैं॥ २९॥

सूक्ष्मा-टीका—पूर्वमग्न्यादिशब्दानां जाठराग्निरूपे जाठराग्न्यधिष्ठातरि वा हरौ वृत्तिर्दर्शिता इदानीं तदर्थकल्पनां विनैव साक्षादेव तेषां तस्मिन् हरौ वृत्तिरिति जैमिनिमतेनापि दर्श्यते। साक्षादपीति। विश्वेषां निखिलानां प्राणिनां नरो नेता प्रवर्त्तकः सर्वश इति यावत्। अथवा विश्वे सर्वे नरा यस्मात् स विश्वानरः। विश्वश्चासौ नरश्चेति वा। नरे संज्ञायामिति सूत्रात् दीर्घः। स एव वैश्वानरः। अगिगतावित्यतोऽगेर्निर्नलोपश्चेति निप्रत्ययेऽग्निरितिरूपम्। तन्निरुक्तिश्च अङ्गयतीत्य-ग्निर्ज्जन्म प्रापयतीति निखिलजन्मप्रद इत्यर्थः। स च स च शब्दः साक्षात्

परेशवाचक इति न कापि क्षतिरिति जैमिनिराह। स कस्मादेवं व्याचष्टे। तत्राह गुणेति द्युमूर्द्धत्वभक्तदोषनिर्दाहकत्वादितदेकान्तगुणानाश्रित्य तथा व्याचख्यावित्यर्थः। अन्यथा तच्छ्रवणं वा व्याकुप्येत्॥ २९॥

सूक्ष्मा-सार—प्रथमतः अग्नि, वैश्वानर इत्यादि शब्दोंकी जाठराग्नि अथवा उसके अधिष्ठाता श्रीहरिमें अभिधाशक्ति दिखलायी गयी थी, किन्तु अब उस अर्थकी कल्पनाके बिना महर्षि जैमिनिके मतानुसार योगशक्ति बलसे साक्षात् रूपसे उन शब्दोंकी श्रीहरिमें वृत्ति (बोधकता) प्रदर्शित हो रही है। *'साक्षादपीत्यादि'*—इस प्रकार समास करनेपर वैश्वानर शब्दसे सीधे रूपसे श्रीहरिको ही समझा जाता है। यथा विश्वेषाम्—समस्त प्राणियोंके, नरः अर्थात् प्रवर्त्तक हैं, इसलिए सर्वेश्वर हैं अथवा विश्वे नरा यस्मात्—जिनसे समस्त मनुष्य उत्पन्न हुए हैं, वे विश्वानर हैं अथवा कर्मधारय समास होनेपर भी 'विश्वके समान नर' अर्थात् जो समस्त नरस्वरूप हैं। विश्वानर पदमें आकार होनेके लिए *'नरे संज्ञायाम्'* नर शब्द परे रहनेपर संज्ञा होनेके कारण पूर्व पदका दीर्घ हुआ है। इसके बाद *'स एव वैश्वानर'* स्वार्थमें 'अण्' प्रत्ययसे आदि स्वरकी वृद्धि द्वारा विश्वानरसे वैश्वानर शब्दकी निष्पत्ति हुई है। इसके बाद अग्नि शब्दकी व्युत्पत्तिके अनुसार विष्णु अर्थ 'अगि गतौ' गति अर्थमें अगि धातुके उत्तरमें 'नि' प्रत्यय है। यास्क मुनि इसका निर्वचन करते हुए कहते हैं—अगि धातुका इकार 'इत्' (वाद) है, इसलिए नुम् का आगम है। अतः अण्+न्+नि प्राप्त होनेपर प्रथम नकारका लोप है। अङ्गयति इस अर्थमें अग्नि अर्थात् जन्म प्राप्त करा देते हैं, अतः वे समस्त वस्तुओंके जन्मप्रद हैं। अतएव वैश्वानर शब्द और अग्नि-शब्द साक्षात् रूपसे परमेश्वर श्रीहरिके वाचक हैं। अतः कहीं भी, कोई भी असङ्गति नहीं है, इस प्रकार महर्षि जैमिनिने स्पष्ट किया है। क्या वे किसी युक्ति अथवा प्रमाणसे यह बता रहे हैं? इसके उत्तरमें भाष्यकार कहते हैं—*'गुणविशेषस्योपजीव्यत्वात्'* द्युलोकमूर्द्धत्व, भक्तका पापदाहकत्व इत्यादि ऐकान्तिक (अव्यभिचरित) गुणोंके कारण वे 'श्रीहरि' में इसकी व्याख्या करते हैं। यदि ऐसा न हो, तो द्युलोकमूर्द्धत्व, पापदाहकत्व उक्तियोंका विरोध हो पड़ेगा॥ २९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वमीमांसा शास्त्र-प्रणेता जैमिनिका मत है कि वैश्वानर शब्दका अर्थ जिस प्रकार विष्णु है, उसी प्रकार अग्नि शब्दका अर्थ भी विष्णु है। इसी मतकी वर्त्तमान सूत्रमें अवतारणा की गयी है। वैश्वानर शब्दका अर्थ है—विश्वके अर्थात् समस्त प्राणियोंके जो नर अर्थात् नेता अथवा प्रवर्त्तक हैं अथवा समस्त नर जिनसे उत्पन्न हुए हैं, उन्हें वैश्वानर कहा जाता है, वे विष्णु ही हैं। इसी प्रकार अग्निके सम्बन्धमें भी भाष्यमें विस्तारपूर्वक वर्णन है।

श्रीमद्भागवत (११/१७/३२) में द्रष्टव्य है—

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम्।
अपृथग्धीरुपासीत ब्रह्मवर्चस्वकल्मषः॥

अर्थात् ऐसा ब्रह्मचारी ब्रह्मतेजसे सम्पन्न हो जाता है और उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। उसे अग्नि, गुरु, अपने शरीर और समस्त प्राणियोंमें ही मेरी उपासना करना चाहिये और यह भाव रखे कि मेरे और सबके हृदयमें एक ही परमात्मा विराजमान हैं॥ २९॥

अवतरणिका भाष्य—ननु कथमत्र प्रादेशमात्रोक्तिरपरिच्छिन्नस्य तत्राह—

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे
श्रीबलदेवकृतमवतरणिका-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

अवतरणिका भाष्यानुवाद—यदि कहो कि तब *'प्रादेशमात्रं तमेतम्'* इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतिमें वर्णित प्रादेश परिमाण अपरिच्छिन्न विष्णुमें किस प्रकारसे सम्भव हो सकता है? इसके उत्तरमें सूत्रकार कह रहे हैं—

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके द्वितीय पादके
श्रीबलदेवकृत गोविन्दभाष्यकी अवतरणिकाका अनुवाद समाप्त॥

सूत्र—अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः॥ ३०॥

सूत्रार्थ—'अभिव्यक्तेः'—अभिव्यक्तिके कारण प्रादेश परिमित रूपमें (स्थान-विशेषमें) स्फुरित होते हैं। इस प्रकार प्रादेश परिमित विष्णुको ही कहा गया है 'इति'—ऐसा, 'आश्मरथ्यः'—आचार्य आश्मरथका मत है॥ ३०॥

सूत्रानुवाद—भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए ब्रह्मका प्राकट्य देश-विशेषमें होता है—यह आश्मरथ्य आचार्यका मत है॥ ३०॥

गोविन्दभाष्य—तद्दृष्टिविशिष्टानामुपासकानां तथाभिव्यक्तो विभातो भवति विष्णुरित्याश्मरथ्यो मन्यते॥ ३०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आश्मरथ्य ऋषि कहते हैं कि प्रादेश परिमित रूपमें ध्यान करनेवाले उपासकोंके सम्बन्धमें प्रादेश परिमाण होकर विष्णु प्रकाश पाते हैं॥ ३०॥

सूक्ष्मा-टीका—तद्दृष्टीति। प्रादेशमात्रत्वेन ध्यायतामित्यर्थः अभिव्यक्तः स्फुरितः। स्मृतिश्च—*'केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्'* इत्यादि॥ ३०॥

सूक्ष्मा-सार—तद्दृष्टीत्यादि—उस दृष्टिमें अर्थात् प्रादेश परिमाणस्वरूपमें ध्यानकारियोंके हृदयमें स्फुरित होते हैं अर्थात् प्रकाश पाते हैं। इस विषयमें स्मृति वाक्य भी है। यथा कोई-कोई उपासक अपनी देहके हृदयाभ्यन्तरमें विराजमान रहनेवाले प्रादेश परिमाण उन परमेश्वरका दर्शन करते हैं॥ ३०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई कहे कि अपरिच्छिन्न ब्रह्मको प्रादेश परिमित किस प्रकार कहा जा सकता है? इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि उपासकोंकी अभिव्यक्तिके सामर्थ्यके अनुसार परमात्माका प्रादेशमात्ररूप स्फुरित होता है, यह आश्मरथ्यका भी मत है।

श्रीमद्भागवत (२/२/८) में द्रष्टव्य है—*केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।*

कोई-कोई योगी पुरुष (व्यष्टि अन्तर्यामी चतुर्भुजकी धारणासे युक्त) अपनी देहके भीतर हृदयके गह्वर (आकाश) में विराजित प्रादेशमात्र पुरुष (अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे पन्द्रह वर्षीय किशोर श्रीहरि) की धारणा द्वारा स्मरण करते हैं कि वे चतुर्भुज हैं और अपनी चारों भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए हैं॥ ३०॥

सूत्र—अनुस्मृतेरिति बादरिः॥ ३१॥

सूत्रार्थ—'बादरिः'—आचार्य बादरि, वैश्वानर पदवाच्य श्रीहरि प्रादेश परिमाण वाचक हैं, 'इति'—ऐसा मन्यते—मानते हैं। इसका कारण है 'अनुस्मरतेः'—इसी रूपमें उनका निरन्तर स्मरण किया जाता है॥ ३१॥

सूत्रानुवाद—बादरि मुनिका मानना है कि विराट् परमेश्वरको निरन्तर स्मरण करनेके लिए उनका देश विशेष (हृदय) से सम्बन्ध होना अनुचित नहीं॥ ३१॥

गोविन्दभाष्य—प्रादेशमात्रहृत्पद्मप्रतिष्ठितेन मनसायमनुस्मर्य्यते अतः प्रादेशमात्र उच्यते इति बादरिर्मन्यते॥ ३१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—प्रादेश परिमित हृदय-कमलमें प्रतिष्ठित उनका (परमात्माका) योगी मन-ही-मन स्मरण करते हैं, इसलिए वे वैश्वानर पदवाच्य विष्णु प्रादेश परिमाण कहे जाते हैं, यह बादरि मुनिका विचार है॥ ३१॥

सूक्ष्मा-टीका—अनुस्मृतेरिति। स्मृतिस्थानहृन्मानस्य स्मर्यमाणे स्थानिनि हरावुपचर्यत इति बादरिमतम्। तथाच विभौ तस्मिंस्तन्मात्रत्वं भाक्तमिति॥ ३१॥

सूक्ष्मा-सार—उपास्य देवताका स्मृति स्थान हृदय है। उस हृदयके ही परिमाणकी दृष्टिसे ध्येय स्थान अधिकारी श्रीहरिमें यह उक्ति कि वे प्रादेश परिमाण हैं, लाक्षणिक है—यह बादरिका मत है। अतएव उन विभु परमेश्वरका प्रादेश परिमाणत्व गौण है॥ ३१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि महर्षि बादरिके मतमें भी प्रादेश परिमित हृत्-पद्ममें परमात्मा श्रीविष्णुका स्मरण किया जाता है, इसलिए वे प्रादेश परिमित हैं।

श्रीमद्भागवतके *'केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे पुरुषं वसन्तं'* (२/२/८) की टीकामें श्रीधर स्वामी कहते हैं—*'प्रादेशमात्रं प्रादेशस्तर्ज्जन्यङ्गुष्ठयोर्विस्तारः स एव मात्रा प्रमाणं यस्येति हृदयपरिमाणं।'*

श्रीजीवपाद कहते हैं—*'व्यष्ट्यन्तर्यामिनो धारणेयम्।'*

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*प्रादेश प्रमाण हृदये ध्येयत्वात् पुरुषं तावन्मात्रप्रदेशेऽप्यचिन्त्यशक्त्या पञ्चदशवर्षीय पुरुषाकार प्रमाणं 'सन्त वयसि कैशोरे' इत्युक्तेः।*

अर्थात् इस प्रादेश प्रमाण हृदयमें ध्येयत्व रूपमें यह कहा गया है, पुरुष अर्थात् उतने ही मात्र प्रदेशको अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे पन्द्रह वर्षीय पुरुषाकार परिमित जानना चाहिये। 'कहा भी गया है कि भगवान् नित्य ही कैशोर वयसमें अवस्थान करते हैं।'

कठोपनिषद (२/१/१२) में कहा गया है—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सतो एतद्वैतत्॥

अर्थात् जो अङ्गुष्ठ-परिमाण पुरुष शरीरके मध्यमें स्थित हैं, उन्हें भूत, भविष्यत (और वर्त्तमान) का शासक जानकर वह उस (आत्माके ज्ञान) के कारण अपने शरीरकी रक्षा करना नहीं चाहता, निश्चय यही वह (ब्रह्मतत्त्व) है।

श्वेताश्वतरोपनिषद (३/१३) में भी वर्णन है—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।

अर्थात् यह अङ्गुष्ठमात्र पुरुष अन्तरात्मा सर्वदा जीवोंके हृदयमें स्थित ज्ञानाधिपति एवं हृदयस्थित मनके द्वारा सुरक्षित हैं॥ ३१॥

सूत्र—सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति॥ ३२॥

सूत्रार्थ—'सम्पत्तेः'—भगवान्की अचिन्तनीय-शक्तिरूप ऐश्वर्यके कारण उन विभुको प्रादेश परिमाण कहा है, इति जैमिनिः—महर्षि जैमिनिका यह विचार है, इसका कारण? 'हि'—क्योंकि, 'तथा'—श्रुति ऐसा ही, 'दर्शयति'—उपदेश कर रही है॥ ३२॥

सूत्रानुवाद—(परमात्माका व्यापक और प्रादेशमात्र—इन दो रूपोंमें स्पष्ट विरोध है) इसपर महर्षि जैमिनिका कथन है कि श्रुति उक्त विरोधके निराकरणके लिए सर्वत्र प्रादेशत्व संपत्ति (अचिन्त्यशक्तिरूप ऐश्वर्य) का प्रदर्शन करती है॥ ३२॥

गोविन्दभाष्य—विभोरपि तस्य यत् प्रादेशमात्रत्वं तत् किल सम्पत्तेरविचिन्त्यशक्ति-रूपादैश्वर्यादेव न त्वौपाधिकमिति जैमिनिर्मन्यत एव। कुतस्तत्राह—तथेति। हि *'यतस्तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्'*। (गो॰ता॰ १/३५) *'एकोऽपि सन् बहुधा*

यो विभाति' (गो॰ता॰ १/२१) इत्याद्या श्रुतिस्तथाविचिन्त्यशक्तिकत्वेनेशे विरुद्धधर्मसमावेशं बोधयतीत्यर्थः। ते च धर्मा ज्ञानत्वेऽपि मूर्त्तत्वमेकत्वेऽपि बहुत्वमित्यादयः। उपरि चैतद्बहुली भविष्यति। विभुत्वे सत्येव मध्यमत्वमिति न किञ्चिदवद्यम॥ ३२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—विभु, विश्वव्यापक, असीम होनेपर भी उनके जो प्रादेश परिमाणकी बात पहले ही श्रुतिमें कही गयी थी, उसे केवल सम्पत्तिवश अर्थात् उनके अचिन्त्यशक्तिरूप ऐश्वर्यका ही प्रभाव समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त वह शक्ति औपाधिक अथवा देहके परिणामाधीन नहीं है, जैमिनि ऋषि यह कहते हैं। किस कारणसे? श्रुति कहती है—*'यतस्तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं'* (गो॰ता॰ १/३५) अर्थात् सच्चिदानन्द विग्रह एकमात्र गोविन्दका है तथा *'एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति'* (गो॰ता॰ १/२१) अर्थात् एक होकर भी वे बहुत-से रूपोंमें प्रकाशित होते हैं, इत्यादि श्रुतियाँ परमेश्वरमें अचिन्तनीय ईश्वरीय शक्तिके कारण विरुद्ध धर्मोंका समावेश ज्ञापित कर रही हैं, यथा—वे एक होकर भी अनेक हैं, विभु होकर भी प्रादेशमात्र हैं, ज्ञानस्वरूप होनेपर भी मूर्त्तिमान हैं। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन बादमें किया जायेगा। विभुत्व रहनेपर भी उनकी मध्यम परिमाणवत्ता उनकी अचिन्तनीय ऐश्वर्य शक्तिके कारण है, अतः इस उक्तिमें कोई दोष नहीं है॥ ३२॥

सूक्ष्मा-टीका—आश्मरथ्याभिमतामचिन्त्यशक्तिसम्पत्तिं जैमिनिमतेन स्फुटयन् तन्मात्रत्वं वास्तवं स्थापयति सम्पत्तेरिति। अचिन्त्यशक्तिकत्वं तर्कागोचरत्वं दुर्घटघटनापटीयस्त्वं चेत्याहुः। उपरीति श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् सर्वोपेता च तद्दर्शनात् इत्यनयोर्व्याख्याने। ननु मध्यमत्वमनित्यत्वव्याप्यं ततः कथमस्य ब्रह्मधर्मत्वमिति चेत् तत्राह विभुत्वे सत्येवेति॥ ३२॥

सूक्ष्मा-सार—आश्मरथ्य मुनिके ही अभिमत—अचिन्तनीय ऐश्वर्य शक्तिको ही जैमिनिमतके द्वारा परिस्फुट करनेके अभिप्रायसे भाष्यकार कह रहे हैं कि उनका प्रादेश परिमाण काल्पनिक नहीं, वास्तव प्रादेश परिमाण है। श्रीपरमेश्वर अचिन्त्यशक्तिमान, तर्कके अगोचर एवं अघटन-घटन-पटीयान् हैं। यह जैमिनि ऋषि कहते हैं। *'उपरिचैतद्'* इत्यादि—उपरिसे तात्पर्य है ऊपरके भागमें। कहा गया है *'शास्त्रे वृक्षवद् व्यवहारः'*—शास्त्रमें वृक्षके समान व्यवहार होता है। जिस

प्रकार वृक्षके ऊपरी भागमें बादमें उत्पन्न होनेवाला अंश रहता है, उसी प्रकार शास्त्रके ऊपरी अंशका अर्थ है—परवर्त्ती भाग। जैसे कि यहाँ कहा गया—*'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्'* (वे॰सू॰ २/१/२७), *'सर्वोपेत्ता च तद्दर्शनात्'* (वे॰सू॰ २/१/३०)—इन दोनों सूत्रोंकी व्याख्यामें यह विस्तारपूर्वक कहा जायेगा। अब आपत्ति यह है कि ईश्वरका परिमाण यदि प्रादेश है, तब तो यह अनित्य हो सकता है, क्योंकि *'यद् यद् मध्यम परिमाणं तदनित्यम्'*—जो-जो मध्यम परिमाण है, वह अनित्य है, इस व्याप्ति (सार्वजनिक नियम) द्वारा मध्यम परिमाणमात्रकी ही अनित्यता स्थापित होती है, तब किस प्रकारसे ब्रह्म जो नित्य हैं, उनका परिमाण अनित्य होगा? इस आपत्तिके समाधानके लिए कहते हैं—*'विभुत्व सत्यवे'*—विभुत्व रहनेपर भी प्रादेश-परिमितता अचिन्त्य-शक्तिमत्ताके कारण अविरुद्ध ही है, कोई विरोध नहीं है॥ ३२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कह रहे हैं कि महर्षि जैमिनिने वैश्वानर विष्णुके अचिन्त्यशक्तिरूप ऐश्वर्यके द्वारा प्रादेश-परिमितस्वरूपका वास्तवत्व स्थापित किया है। श्रुतिने भी वही प्रदर्शित किया है। श्रुतिमें ब्रह्मके अचिन्त्यशक्तिके बलके आधारपर विरुद्ध धर्मोंका समावेश अभिव्यक्त हुआ है।

ईशोपनिषदमें देखा जाता है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

अर्थात् वह (परमात्मतत्त्व) चलता है और नहीं भी चलता। वह दूर है और समीप भी है। वह सबके अन्तर्गत है और वही इन सबके बाहर भी है।

श्रीमद्भागवत (८/३/१८) में भी द्रष्टव्य है—

आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तै-
र्दुष्प्रापणाय गुणसङ्गविवर्जिताय।
मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय
ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय॥

अर्थात् जो लोग शरीर, पुत्र, घर, धन एवं स्वजनोंमें आसक्त हैं, वे आपको प्राप्त नहीं कर सकते; क्योंकि आप शब्दादि गुणोंकी आसक्तिसे रहित हैं। आप स्वयं ज्ञानस्वरूप और परम नियन्ता हैं। जीवन्मुक्त महापुरुष अपने हृदयोंमें निरन्तर आपका ध्यान करते रहते हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

इसी प्रकार—

तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
अरूपायोरुरूपाय नम आश्चर्यकर्मणे॥

(श्रीमद्भा॰ ८/३/९)

अर्थात् जो अनन्त शक्तिमान और परमैश्वर्यशाली हैं, जो प्राकृतरूपरहित होते हुए भी (राम, कृष्णादि) बहुत-से रूपोंमें विराजमान हैं तथा जिनके कर्म अति आश्चर्यमय हैं, मैं उन भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ॥ ३२॥

सूत्र—आमनन्ति चैनमस्मिन्॥ ३३॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे सूत्रं समाप्तम्॥

सूत्रार्थ—'एनम्'—यह अचिन्तनीय शक्तियोगरूप धर्म, 'अस्मिन्'—इनमें—परमात्मामें 'आमनन्ति च'—आथर्वणिक (अथर्व-वेदाध्यायी) बतलाते हैं॥ ३३॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके द्वितीय पादके सूत्रार्थ समाप्त॥

सूत्रानुवाद—आथर्वणिक श्रुतियाँ परमात्माके इस प्रकारके अचिन्त्यशक्ति योगका वर्णन करती हैं॥ ३३॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके द्वितीय पादके सूत्रानुवाद समाप्त॥

गोविन्दभाष्य—एनमचिन्त्यशक्तियोगं धर्ममाथर्वणिका अस्मिन् परमात्मनि आमनन्ति। अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिरिति (कै॰ २१)। आत्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिरिति (श्रीमद्भा॰

३/३३/३) स्मृतिश्च शब्दात्। न चात्र मिथो मतानां विरोधः। व्यासचित्तस्थिताकाशाद-विच्छिन्नानि कानिचित्। अन्ये व्यवहरन्त्येतदुरीकृत्य गृहादिवेत्यादिस्मृतेः॥ ३३॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे
श्रीबलदेवकृतं मूल-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अथर्ववेदविद्गण इस कथित अचिन्त्यशक्तिमत्तारूप धर्म (विशेषण) को परमात्मा विषयमें वर्णन करते हैं, यथा—मैं हस्तहीन, पदहीन और अतर्क्य शक्तिका आधार हूँ (कैवल्योपनिषद २१)। स्मृति (श्रीमद्भा॰ ३/३३/३) में कहा है—वे विष्णु ही आत्मा हैं, वे ही ईश्वर हैं, उनकी सहस्र-सहस्र शक्तियाँ अगोचर, अचिन्त्य हैं—इस प्रकार इन श्रुतियोंमें विरोध नहीं है। यदि कहो कि इस विषयमें वादीगणोंमें मतभेद हो सकता है, तो ऐसा नहीं है। स्कन्दपुराणमें इसका भी समाधान कहा गया है—श्रीव्यासदेवके हृदयाकाशसे जो अखण्ड अविच्छिन्न कितनी ही उक्तियोंका निर्गमन हुआ है, दूसरे-दूसरे वादीगण अपने घरके समान ही उनसे कुछ-कुछ ग्रहण करके विभिन्न मतोंका प्रचार करते हैं। इस प्रकार स्मृतिसे भी मीमांसा करनी चाहिये॥ ३३॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके द्वितीय पादके
श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यका अनुवाद समाप्त॥

सूक्ष्मा-टीका—अपाणीति। कैवल्योपनिषदि दृष्टम्। आत्मेश्वर इति श्रीभागवते। न चेति। न च समुद्रैकदेशेन सह समुद्रो विरोधीति भावः। व्यासचित्तेति स्कान्दे॥ ३३॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यव्याख्याने श्रीबलदेवकृत-सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

सूक्ष्मा-सार—कैवल्योपनिषद (२१) में देखा जाता है *'अपाणि-पादोऽयमचिन्त्यशक्ति'*—'मैं अपाणिपाद हूँ, मेरे हाथ-पैर नहीं हैं, फिर भी ग्रहण करता हूँ, चलता हूँ—यह मेरी अचिन्त्यशक्तिसे होता है।' श्रीमद्भागवतमें भी द्रष्टव्य है—*'आत्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः'* परमात्मा तर्क-बुद्धिसे रहित अचिन्त्यशक्तिविशिष्ट हैं। यहाँ जिस प्रकार मतोंका परस्पर कोई भी विरोध नहीं है, उसी प्रकार श्रीवेदव्यासकी उक्तियोंके

साथ विविध मतवादियोंका कोई भी विवाद नहीं है। व्यासजी समुद्रस्वरूप हैं, अन्य मतवादी उनके अंश हैं। स्कन्दपुराणसे इस तथ्यकी पुष्टि होती है॥ ३३॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके द्वितीय पादके
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यकी व्याख्यामें श्रीबलदेवकृत
सूक्ष्मा-टीकाका अनुवाद समाप्त॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अथर्ववेदके उपासकगण भी उन विष्णुके अचिन्त्यशक्तियोगका वर्णन करते हैं, उसीका प्रस्तुत सूत्रमें भी उल्लेख किया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषदमें श्रीभगवान्की अचिन्त्यशक्तिमत्ताका परिचय प्राप्त होता है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

(श्वे॰ ३/१९)

अर्थात् वे हाथ-पाँवसे रहित होकर भी वेगवान और ग्रहण करनेवाले हैं, नेत्रहीन होकर भी देखते हैं और कर्णरहित होकर भी सुनते हैं। वे सम्पूर्ण वेद्यवर्गको जानते हैं, किन्तु उन्हें जाननेवाला कोई भी नहीं है। ऋषियोंने उन्हें सबका आदि, पूर्ण एवं महान कहा है।

और भी,

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।

(श्वे॰ ३/२०)

वे अणुसे भी अणु और महानसे महान आत्मा इस जीवके अन्तःकरणमें स्थित हैं।

श्रीमद्भागवत (३/३३/३) में श्रीदेवहूतिजी कह रही हैं—

स एव विश्वस्य भवान् विधत्ते
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः।

सर्गाद्यनीहोऽवितथाभिसन्धि-
रात्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः ॥

अर्थात् आप स्वयं निष्क्रिय रहकर भी गुण-प्रवाहरूपमें अपनी शक्तिका विभाग करके इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और विनाश-साधन रूपमें तीनों कार्योंका सम्पादन करते हैं—आप जीवोंके ईश्वर (भोक्ता) हैं। आपकी अनन्तशक्ति तर्कके अगम्य है।

श्रीमद्भागवत (६/४/३१) में प्रजापति दक्षने भी कहा है—

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै
विवादसंवादभुवो भवन्ति।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने॥

जिनकी मायाविद्या आदि शक्तियाँ जड़ीय द्वैतवाद, अद्वैतवाद एवं स्वभाववाद इत्यादिके आश्रयमें वादी-प्रतिवादी पण्डितोंके विवाद एवं सम्वादकी (मतभेद एवं मतैक्य) एकमात्र कारण हैं तथा जिनकी शक्तिके प्रभावसे स्वयंको पण्डित माननेवाले व्यक्तियोंमें आत्ममोह उत्पन्न होता है, उन अनन्त सच्चिदानन्द गुणशाली सर्वव्यापी श्रीभगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ।

भगवान् श्रीकृष्ण भी उद्धवजीसे (श्रीमद्भा॰ ११/२२/४) कह रहे हैं—

युक्तञ्च सन्ति सर्व्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा।
मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम्॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! वेदज्ञ ब्राह्मणोंने इस विषयमें जो कुछ कहा है, वह सब कुछ ठीक है, क्योंकि सभी तत्त्व सबमें अन्तर्भूत हैं। मेरी मायाको स्वीकार करके क्या कहना असम्भव है? उन्होंने मेरी मायाशक्तिका आश्रयकर जो तत्त्वोंकी संख्या बतलायी है, उन्होंने जो कुछ कहा है, वह सभी कुछ ठीक है॥ ३३॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके द्वितीय पादकी गोविन्दतोषणी नामक वृत्ति समाप्त॥



तृतीयः पादः

मङ्गलाचरणम्

विश्वं विभर्त्ति निःस्वं यः कारुण्यादेव देवराट्।
ममासौ परमानन्दो गोविन्दस्तनुतां रतिम्॥

जो देवेश्वर करुणावश इस निःस्व (दरिद्र) विश्वका भरण-पोषण करते हैं, वे परमानन्दमय श्रीगोविन्द अपने प्रति मेरे प्रेमका विस्तार करें।

१—द्युभ्वाद्यधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—अथ तृतीये पादे विस्पष्टजीवादिलिङ्गकानां केषाञ्चिद्वाक्यानां तस्मिन् ब्रह्मणि समन्वयश्चिन्त्यते। मुण्डके श्रूयते (२/२/५)—*'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरीक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैव सेतुः॥'* इति। तत्र संशयः—किमिह द्युभ्वाद्यायतनं प्रधानं किं वा जीव उत ब्रह्मेति। तत्र प्रधानमिति तावत् प्राप्तं सर्वविकारकारणत्वेन तदायतनत्वोपपत्तेः। अमृतसेतुश्च तदेव वत्सविवृद्धये क्षीरमिव पुंविमुक्तये प्रधानं प्रवर्त्तते इत्यङ्गीकारात्। आत्मशब्दस्तु प्रीतिप्रदे तस्मिन्नुपचरितः विभुत्वयोगाद्वा। जीवो वा स्यात् भोक्तृत्वेन भोग्यप्रपञ्चायतनत्वयोगात् मनःप्राणवत्त्वादेस्तत्र प्रसिद्धेश्चेति प्राप्तौ पठति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस तृतीय पादमें स्पष्ट रूपसे जीव इत्यादिके ही प्रतिपादक कुछ वाक्योंका परमेश्वरमें तात्पर्य विचारित हुआ है। मुण्डकोपनिषदमें श्रुति है—*'यस्मिन् द्यौः .... अमृतस्यैष सेतुः'* (मु॰ २/२/५) अर्थात् जिनमें स्वर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और सम्पूर्ण प्राणोंके सहित मन ओतप्रोत भावसे प्रतिष्ठित है, उस एक आत्माको ही जानो अर्थात् उसका ध्यान करो और सब बातोंको छोड़ दो, वही अमृत (मोक्षप्राप्ति) का सेतु (साधन) है। यहाँ संशय यह है कि जिन द्युलोक, भूलोक इत्यादिके प्रतिष्ठान (आश्रय) का वर्णन हो रहा है,

वह क्या प्रधान है अर्थात् प्रकृति है? अथवा जीवात्मा है? अथवा परमेश्वर है? पूर्वपक्षी कहते हैं, वह प्रधान है, क्योंकि इस प्रधानको ही समस्त द्युलोकादि (स्वर्गादि) विकार वस्तुओंका कारण कहा गया है। इन वस्तुओंका प्रतिष्ठान कोई और हो नहीं सकता, इन विकार वस्तुओंका अधिष्ठान एकमात्र प्रधानमें ही सङ्गत है। वह अमृतका सेतु है, यह उक्ति भी समीचीन है, क्योंकि सांख्याचार्योंके मतमें यह स्वीकृत है। जिस प्रकार गोवत्स (बछड़े) की पुष्टिके लिए साधनरूप दुग्धकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जीवकी मुक्तिके लिए प्रकृतिकी भी प्रवृत्ति (चेष्टा) होती है। तब जो *'तमात्मानम्'* वाक्यमें उसे आत्मा कहा गया, वह भी असङ्गत नहीं है, क्योंकि प्रकृति सभीका आनन्द विधान करनेवाली है अथवा उसमें विभुत्व है, इस गुणके कारण प्रकृतिको आत्मा कहना लाक्षणिक है। पुनः द्युलोकादिका अधिष्ठाता जीव भी हो सकता है, क्योंकि जीवके सम्बन्धमें भी उक्त विशेषण घटित होते हैं, यथा जीव समस्त भोग्य वस्तुओंका भोक्ता है और इसीलिए वह द्युलोकादिका अधिष्ठान है, मन और प्राणका भी अधिष्ठान है, यह प्रसिद्ध है। इस पूर्वपक्षका प्रतिवाद करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथ विस्पष्टजीवादिलिङ्गकानि वाक्यानि श्रीविष्णौ सङ्गमयितुं मङ्गलमाचरति विश्वमिति। यः कारुण्यादेव हेतोर्निःस्वं निर्द्धनं कृपणमिति यावत् विश्वं तद्वर्त्तिजीववृन्दं विभर्त्ति धारयति पालयति चेत्यर्थः। कर्मणा तोषयतः स्वर्गानन्दं दत्त्वा विभर्ति। ननु देवाः फलदा इति श्रुतमिति चेन्मैवं यदसौ देवराट् सुरेश्वरः तदनुकम्पितास्ते फलं यच्छन्तीति स एव तथेति भावः। उपासनया तोषयतस्तु स्वरूपानन्दं दत्त्वा विभर्त्तीत्यभिप्रेत्याह परमानन्द इति। असौ गोविन्दो मम रतिं तनुतामित्यनुषङ्गः। ननु सति साधने कारुण्यादिति कथमिति चेन्न। नह्यमूल्यस्य मणेर्मौल्याय कपर्दिका पर्याप्नोतीति कारुण्यादेव तत्तद्दानमिति।

त्रिचत्वारिंशत्सूत्रकं एकादशाधिकरणकं तृतीयं पादं व्याख्यातुमारभते अथेत्यादिना। आदिना प्रधानादिग्रहणम्। पूर्वत्रोपक्रमस्थितसाधारणशब्दस्य वाक्यशेषस्थितेन द्युमूर्द्धत्वादिलिङ्गेन परमात्मपरत्वं निर्णीतं तद्वदिहोपक्रमस्थितसाधारणायतनत्वस्य वाक्यशेषस्थितसेतुश्रुत्या परिच्छिन्ने सेतुशब्दार्हे प्रधानादौ व्यवस्थापनमस्त्विति दृष्टान्तसङ्गत्यारम्भः। पूर्वपक्षे प्रधानादेरुपासनं फलं सिद्धान्ते तु श्रीविष्णोरिति

बोध्यम्। मातेव हितकारिणी श्रुतिर्मुमुक्षून्नुपदिशति यस्मिन्निति। द्युवादिप्राणन्तं यस्मिन्नोतं तमात्मानं विभुं विज्ञानानन्दं हरिं विजानथ ज्ञात्वोपाध्वं यूयमित्यनुषङ्गः। द्यौरन्तरीक्षम्। पृथिवीति चतुर्दशभुवनानि। चकारात् तन्मात्राहङ्कारमहदव्यक्तानि चाभिमतानि। प्राणैः सहेति। प्राणेन्द्रियवन्तो जीवा बोध्यन्ते। कीदृशमात्मानं एकं सर्वेश्वरं विशुद्धं वा। एके मुख्यान्यकेवला इत्यमरः। एवकारव्यावृत्तमाहान्या इति। अन्या वाचो हरीतरविषयाः कर्मकाण्डपर्यन्ता इत्यर्थः। विमुञ्चथ त्यजत। ननु किमर्थं तदुपादनं तत्राहामृतस्येति। मुक्तिदत्वादसावुपास्य इत्यर्थः। तत्र संशय इति। इह द्युवादीनामोतत्वश्रुतिः सन्देहबीजं द्युभ्वाद्यायतनं तत्। किमिति। तदायतनत्वेति। विकाराः खलु स्वस्वकार्ये प्रकृतेः पूर्वमपेक्ष्यन्ते ते अन्यथा कात्स्न्र्येन तत्राक्षमाः स्युरिति तेषामायतनं प्रधानमुपपन्नमित्यर्थः। तदेव प्रधानमेव। अङ्गीकारादिति। वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य पुरुषस्यविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्येति सांख्याचार्यैरभ्युपगमादित्यर्थः। तस्मिन् प्रधाने। तद्धि सत्त्वद्वारा पुरुषं प्रीणयति प्रियो हि ममायमात्मेति प्रयुज्यते। भोक्तृत्वेनेति। अन्नपानादीनि भोग्यानि भोक्तारं पुरुषमाश्रित्य तिष्ठन्तीति प्रसिद्धिः—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अब स्पष्ट रूपसे जीवादि सूचक वाक्योंका श्रीहरिमें संयोजन करनेके लिए भाष्यकार सबसे पहले मङ्गलाचरण कर रहे हैं—*'विश्वमिति'*—जो कारुण्यवश निःस्व अर्थात् निःसम्बल (दयाके पात्र) विश्व स्थित जीवोंको धारण करते हैं, उनका पालन-पोषण करते हैं तथा याग-यज्ञादि कर्मानुष्ठानके द्वारा मनुष्योंको तृप्त करनेवाले स्वर्गका आनन्द प्रदान करते हैं। यदि कहो कि श्रुतिमें तो कहा गया है कि देवता फल-प्रदाता हैं, विष्णु किस प्रकार हो गये? इसके उत्तरमें कहते हैं कि ऐसा नहीं है, विष्णु तो देवताओंके भी अधिपति, सुरेश्वर हैं। उनकी दया प्राप्त करके सभी देवता यज्ञ-फल प्रदान करते हैं। अतः मूल रूपसे विष्णु ही यज्ञके फल-प्रदाता कहे गये हैं। जो अपनी उपासनासे विष्णुको सन्तुष्ट करता है, उसे ही वे स्वरूपानन्द प्रदान करके धारण अर्थात् पालन करते हैं—मङ्गलाचरणमें इसी अभिप्रायसे कहा गया है 'परमानन्द'। इन्हीं परमानन्दमय गोविन्दमें मेरा प्रेम अभिवर्द्धित हो—वे ही अपनेमें मेरा प्रेम बढ़ाएँ। संशय यह है कि जीवको कर्मादि साधनसे स्वर्गादि फलकी प्राप्ति हो जायेगी, तब ईश्वरकी करुणाकी आवश्यकता क्या है? हाँ, ऐसा तो है, किन्तु उनकी करुणाके निकट साधन अकिञ्चित्कर ही है। सामान्य कौड़ीका मूल्य कभी भी अमूल्य

मणिके मूल्यके तुल्य नहीं होता। इसीलिए कहते हैं कि वे कारुण्यवश ही समस्त दान करते हैं।

इस तृतीय पादमें तैंतालीस सूत्र और ग्यारह अधिकरण हैं। अथ इत्यादि वाक्योंसे इन्हें ही विवृत (स्पष्ट) करना आरम्भ कर रहे हैं। *जीवादिलिंङ्कानां*—जीवादि पदमें स्थित आदि पदके द्वारा प्रधान जीव इत्यादि ग्रहणीय हैं। पूर्व अध्यायके अन्तमें उक्त श्रुतिमें वर्णित *'यः पृथिव्यां तिष्ठन् .... पृथिवीमन्तरो'* (अन्तर्याम्यधिकरण) इत्यादि धर्म उपक्रममें प्रकृति आदि साधारण रूपसे वर्णित होकर उपसंहार वाक्यमें वर्णित द्युलोक-मूर्द्धत्व (वैश्वानराधिकरण) इत्यादिके द्वारा जिस प्रकार केवल परमेश्वरमें संक्रमित हुए हैं, उसी प्रकार यहाँ भी उपक्रममें वर्णित आयतनत्वरूप साधारण धर्मका उपसंहार वाक्यके अन्तमें वर्णित अमृतसेतुत्व रूपमें संक्रमण है। यह सुननेसे वे ससीम हैं, इस सङ्गतिके द्वारा आरम्भ है। सेतु शब्दार्थके साथ अन्वय योग प्रधान इत्यादिमें वह आयतनत्वरूप साधारण धर्म अमृतसेतुत्वमें संक्रमित हुआ है। इस सङ्गतिसे आरम्भ है। पूर्वपक्षीके मतमें प्रधानादिकी उपासना अभिप्रेत है, सिद्धान्तीके मतमें श्रीविष्णुकी उपासनाका उपदेश जानना होगा। माताके समान हितकारिणी श्रुति *'यस्मिन् द्यौः'* इत्यादि द्वारा मुक्तिकामियोंको उपदेश दे रही है कि द्युलोक (प्रकृतिके विकार स्वर्गादि) से लेकर प्राण पर्यन्त जिनमें ओतप्रोत भावसे प्रतिष्ठित हैं, उन विभु विश्वव्यापक विज्ञानानन्द श्रीहरिको तुमलोग जानो और जानकर उनकी उपासना करो—यह अन्वय है। द्यौः अर्थात् स्वर्ग, अन्तरिक्ष—आकाश, पृथिवी अर्थात् नीचेके सात भुवन (अतल, वितल, सुतल, महातल, रसातल, तलातल और पाताल) और ऊपरके सात भुवन (भूः, भुवः, स्वः, महः, जन, तपः, सत्य) इस प्रकार चौदह भुवन। 'च' कारसे अभिप्राय है—पाँच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध), अहङ्कार, महत्तत्त्व और अव्यक्त (प्रधान) ये सब भी श्रुतिके अभिप्रेत हैं। प्राणैः सहेति—इससे प्राण और इन्द्रियवान जीववर्ग बोधित हो रहे हैं। कैसी आत्माको जानना चाहिये? इसका उत्तर है—जो एक (अद्वितीय—सजातीय, विजातीय और स्वगत—इन तीन प्रकारके भेदोंसे रहित) अर्थात् सर्वेश्वर अथवा

विशुद्ध (रागद्वेषादिसे अमिश्रित) हैं। 'एक' शब्दका अर्थ है सर्वेश्वर, विशुद्ध होनेका कारण है—*'एके मुखान्यकेवलाः'* अर्थात् एक शब्दके मुख्य (प्रधान), दूसरा, केवल विशुद्ध इत्यादि अर्थ अमरकोष (३/३/१६) में कहे गये हैं। श्रुतिस्थ 'तमेव' के 'एव' शब्दका अर्थ है—अन्ययोग—व्यवच्छेद अर्थात् दूसरा नहीं, यह *'अन्या वाचो विमुञ्चथ'* वाक्यसे भी स्पष्ट होता है। 'अन्य वाक्य' से अर्थ है श्रीहरि भिन्न विषयक कर्मकाण्ड तकके वाक्य। विमुञ्चथ—उनका त्याग करो। यदि कहो कि श्रीहरिकी उपासना किसलिए? इसके उत्तरमें कहा—*'अमृतस्यैव सेतुः'*—क्योंकि श्रीहरि ही अमृतके सेतु हैं। मुक्तिदातारूपमें वे ही उपास्य हैं। तत्र संशयम् इत्यादि—'इह' अर्थात् श्रुतिमें 'दिव्' इत्यादिका जो ओतप्रोतत्व है, वह सन्देहका मूल है, क्योंकि वह द्युलोक, भूलोक इत्यादिका आयतन है। तब क्या वह प्रकृति है? क्योंकि *'तदायतनत्वोपपत्तेः'* विकारोंका आयतन उस प्रकृतिको कहा गया है। बात यह है कि प्रकृतिके पूर्व महदादि विकारोंकी अपना-अपना कार्य उत्पन्न करानेमें अपेक्षा रहती है। ऐसा न होनेपर वे समग्र रूपसे कार्य उत्पन्न करानेमें अक्षम होंगे। अतएव उसका (प्रकृतिका) आश्रय प्रधान है, यह युक्तियुक्त है। *'अमृतसेतुश्च तदेव'*—मुक्तिका सोपान भी यह प्रकृति है। बछड़ेके पुष्टि-साधनके लिए जिस प्रकार दूधकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अज्ञ पुरुषकी मुक्तिके लिए प्रकृतिकी भी कार्यकारिता है—इस बातको सांख्याचार्योंने स्वीकार किया है। *'आत्मशब्दस्तु तस्मिन् उपचरितः'*—तस्मिन्—उस प्रधानमें आत्मन् शब्द लाक्षणिक है, क्योंकि जो प्रीतिपद हैं, वे ही आत्मा हैं, प्रकृति सत्त्वगुणके द्वारा उन पुरुष (आत्मा) को प्रसन्न करती है। 'मुझे यह आत्मा प्रिय है'—ऐसा लोक-व्यवहारमें भी प्रयुक्त होता है। अतः आत्मा अर्थात् प्रिय। *'जीवो वा स्यात् भोक्तृत्वेन'* अर्थात् जीवात्मा भी इस श्रुतिका लक्ष्य हो सकता है, क्योंकि जीव भोक्ता है, भोगोपयुक्त अन्न-पानादि द्रव्य भोक्ता पुरुषका आश्रय करते हैं—यह सर्वप्रसिद्ध है।

सूत्र—द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्॥ १ ॥

सूत्रार्थ—'द्युभ्वाद्यायतनं'—ब्रह्म ही द्युलोक, भूलोक और अन्तरिक्षका आयतन—अधिष्ठान है। कारण? 'स्वशब्दात्'—वहाँ उनके विशेषण रूपमें और एक बात देखी जाती है, यथा—'अमृतस्य सेतु'—वे मुक्तिके सेतु हैं॥ १॥

सूत्रानुवाद—'द्यु' (दिव), भू आदिके आयतन (आश्रय) परमात्मा ही हैं, क्योंकि उक्त प्रसङ्गमें परब्रह्मके उद्‌बोधक 'अमृतस्य सेतु' आदि असाधारण विशेषणोंका प्रयोग है॥ १॥

गोविन्दभाष्य—ब्रह्मैव किल तदायतनम्। कुतः? स्वशब्दात् अमृतस्यैष सेतुरिति (मु॰ २/२/५) तदसाधारणशब्दसत्त्वादित्यर्थः। सिनोतेर्वर्द्धनार्थत्वात् सेतुरमृतस्य प्रापकः। सेतुरिव सेतुरिति वा। स यथा नद्यादिषु कूलस्योपलम्भकस्तथायं संसारपारभूतस्य मोक्षस्येति तस्यैवायं शब्दः। श्रुतिश्चैवमाह (श्वे॰ ३/८)—*'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'* इत्याद्या॥ १॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—परमेश्वर श्रीहरि ही द्युलोक, भूलोक इत्यादिके अधिष्ठान हैं। किस प्रकार? उत्तर है—*स्वशब्दात्*—वे अमृतके अर्थात् मुक्तिके सेतु अर्थात् प्रापक हैं। 'सिञ्' धातुका अर्थ 'वृद्धि करना' होता है, इसके उत्तरमें कर्त्तृवाच्य 'तु' प्रत्ययके कारण यहाँ अर्थ हुआ 'अमृतके वर्द्धक'—अमृतको प्राप्त करानेवाला अथवा सेतुके समान कहकर उन्हें सेतु ही कहा गया है। 'सेतुके साथ समानता' से तात्पर्य है—सेतु जिस प्रकार नदी, ह्रद, जलाशय, तालाब इत्यादिको पार करनेके इच्छुक व्यक्तिको उसपार ले जाता है, उसी प्रकार संसारसमुद्रके उसपार-स्वरूप मुक्तिको प्राप्त करानेवाले श्रीहरि हैं। अतः यह विशेषण परमेश्वरमें ही सङ्गत है, जीव अथवा प्रकृतिमें यह विशेषण सङ्गत नहीं होता। अन्य श्रुति भी यही कह रही है—*'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'* (श्वे॰ ३/८)—उन्हें (श्रीहरिको) जान लेनेपर (तत्त्वतः ज्ञान कर लेनेपर) मृत्यु—संसारको पार कर लिया जाता है, इसके अतिरिक्त और कोई पथ नहीं है॥ १॥

सूक्ष्मा-टीका—एवं प्राप्ते ब्रवीति द्युभ्वादीति। द्यौश्च भूश्च ते आदी यस्य प्राणान्तस्य तत् द्युभ्वादि। तस्य आयतनमाश्रयो ब्रह्मैवेह ग्राह्यम्। कुतः? स्वशब्दात्। अमृतस्यैष सेतुरिति। संसारनिवृत्तिकरणार्थकाद्वाक्यात् ब्रह्मासाधारण्यादित्यर्थः। तदन्यस्य

मोक्षदत्वं नैवेत्यत्र श्रुतिमाह—*'तमेवेति'*। *'वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः। एक एवेश्वेरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः।'* इति श्रीदशमे मुचुकुन्दं प्रति इन्द्रादिदेवोक्तेश्च। *'बहुनात्र किमुक्तेन यावद्विष्णुं न गच्छति। योगी तावन्न मुक्तः स्यादेष शास्त्रस्य निर्णयः'* इत्यादित्यपुराणवचनाच्च। मुक्तिं प्रार्थयमानं मां पुनराह त्रिलोचनः। *'मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः'* इति श्रीहरिवंशे कैलास-यात्रायां स्वपूजकं घण्टाकर्णं प्रति श्रीशिववाक्याच्च॥ १ ॥

सूक्ष्मा-सार—पूर्व पक्षके समाधानके लिए द्युभ्वाद्यादि सूत्र प्रस्तुत किया गया है। द्युभ्वादिकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—*'द्यौश्च भूश्च'*, इतरेतर द्वन्द्व समास और इसके बाद *'ते आदी यस्य'*—बहुब्रीहि समास—इस प्रकार द्युभ्वादि शब्दका अर्थ हुआ द्युलोक, भूलोक आदिसे लेकर प्राण पर्यन्तका आयतन—आश्रय ब्रह्म ही हैं। इसका कारण है असाधारण विशेषण कि वे अमृतके सेतु हैं—ये संसारसे निवृत्तिके कारणरूप अर्थबोधक वाक्य ब्रह्ममात्रमें ही सम्भव हैं, किसी और में नहीं। ब्रह्म (परमेश्वर श्रीहरि) से भिन्न किसी दूसरेमें मुक्तिदान-कारित्व नहीं है, इस विषयमें *'तमेव विदित्वा'* श्रुति प्रमाण है। श्रीमद्भागवतमें राजा मुचुकुन्दके प्रति इन्द्रादि देवताओंकी उक्ति भी प्रमाण है, यथा—*वरं वृणीष्व* (श्रीमद्भा॰ १०/५१/२०)—हे महाराज! आपका मङ्गल हो, आप कैवल्यको छोड़कर अन्य कोई भी वरदान हमसे माँग सकते हैं। एकमात्र अविनाशी भगवान् विष्णु ही कैवल्य प्रदान करनेमें समर्थ हैं। आदिपुराणमें भी कहा है—इस विषयमें और अधिक क्या कहें कि योगीपुरुष जब तक श्रीविष्णुका आश्रय नहीं करते, तब तक उनकी मुक्ति नहीं होती—यह शास्त्रका सिद्धान्त है। हरिवंशपुराणमें भी सुना जाता है—कैलाश-यात्राके अवसरपर अपने उपासक घण्टाकर्णके द्वारा मुक्तिकी प्रार्थना करनेपर महादेवजीने उससे कहा था—विष्णु ही सबके मुक्ति-प्रदाता हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है॥ १ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस तृतीय पादमें स्पष्ट रूपसे जीव इत्यादिके प्रतिपादक कितने ही वाक्योंका ब्रह्ममें समन्वय है, यह विचारित हुआ है। भाष्यकारने सबसे पहले मङ्गलाचरणमें कहा है कि जो परमानन्दमय गोविन्द इस निःस्व विश्वका धारण एवं पालन करते हैं,

वे अपने प्रति मेरी रति बढ़ाएँ। इससे जगत् जो निःस्व है अर्थात् जगत्का वास्तविक निजस्व कुछ भी नहीं है, सृष्टि, स्थिति और प्रलयके मूल श्रीभगवान् ही इस जगत्के एकमात्र आधार हैं और इसके अन्तर्वर्त्ती जीव श्रीभगवान्की करुणासे पालित एवं रक्षित हैं। उन जगन्नाथ श्रीहरिकी प्रीति-प्राप्ति ही हमारा एकमात्र प्रार्थनीय है, यह भी श्रीहरिकी कृपासे ही सम्भव है। मुण्डकोपनिषदमें कहा गया—*यस्मिन् द्यौ .... सेतुः।* इस स्थलपर पूर्वपक्षवादियोंका संशय है कि उक्त श्रुतिके द्वारा प्रतिपादित द्युलोकादिका आधारतत्त्व क्या ब्रह्मसे भिन्न प्रकृति अथवा जीवमेंसे कोई है या ब्रह्म ही है। प्रकृति अथवा जीव तो पृथ्वी आदिका आधार हो नहीं सकते, परब्रह्म श्रीहरि ही इनके एकमात्र आधार हैं, इसीको प्रमाणित करनेके लिए सूत्रकारने प्रस्तुत सूत्रकी अवतारणा करके ज्ञापित किया कि ब्रह्म ही द्युलोकादिके अधिष्ठान हैं, क्योंकि वे अमृतके सेतु हैं। और भी *'तमेवैकं जानथ आत्मानम्'*, इस स्थलपर 'आत्म' शब्दके प्रयोगके द्वारा अन्य अर्थ हो नहीं सकता। आत्मादि सभी शब्द ब्रह्मके स्वकीय शब्द हैं। जीव अथवा प्रकृति मुक्तिदाता नहीं हो सकते।

श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान्को पृथ्वी आदिका अधिष्ठान कहा गया है—

भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः॥

ग्रीवायां जनलोकश्च तपोलोकः स्तनद्वयात्।
मूर्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः॥

(श्रीमद्भा॰ २/५/३८-३९)

अर्थात् उन महापुरुषके दोनों पैरोंसे कमर तक सातों पातालकी तथा भूलोककी, नाभिमें भुवर्लोककी, हृदयमें स्वर्लोककी तथा उनके वक्षःस्थलमें महर्लोककी कल्पना की जाती है।

उन पुरुषके गलेमें जनलोक, दोनों स्तनोंमें तपोलोक एवं मस्तकमें सत्यलोककी कल्पना की गयी है। इसके ऊपर वैकुण्ठ नामका भगवान्का जो लोक है, वह नित्य है। वह सृष्ट-प्रपञ्चके अन्तर्गत

नहीं आता। वह वैकुण्ठधाम विराट् पुरुषके अङ्गरूपमें ध्येय नहीं है, वह सनातन है। अण्डमें स्थित होनेपर भी भगवान् जिस प्रकार नित्य हैं, उनका वह धाम भी उसी प्रकार नित्य हैं।

श्रीहरि ही एकमात्र मुक्तिदाता हैं, इस विषयमें श्रीमुचुकुन्दके प्रति देवतागण कहते हैं:—

वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः।
एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/५/२०)

अर्थात् हे राजन्! आपका मङ्गल हो। आज आप मुक्तिके अतिरिक्त हमसे कोई और वरदान माँग लो, क्योंकि एकमात्र अव्यय भगवान् विष्णु ही मुक्तिको प्रदान करनेमें समर्थ हैं।

मत्स्यपुराणमें भी द्रष्टव्य है—*'हरेरवयवैर्लोकाः स्रष्टा इति विकल्पनम्॥'*

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजीके वचनोंमें भी—

न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते॥
(श्रीमद्भा॰ १०/२९/१६)

अर्थात् हे राजन्! तुम महायोगेश्वर षडैश्वर्यशाली अज भगवान् श्रीकृष्णके इन कर्मोंके विषयमें आश्चर्य मत करना। देखो, मनुष्य तो बहुत दूरकी बात है, वे स्थावरादि पदार्थोंको भी मुक्ति प्रदान करते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी वर्णन है,

मुक्ति-हेतु तारक ब्रह्म हय 'राम नाम'।
'कृष्णनाम' पारक हञा करे प्रेमदान॥
(चै॰च॰अ॰ ३/२५५)

अर्थात् श्रीरामनाम तारकमन्त्र है एवं मुक्तिका हेतु है अर्थात् श्रीरामनाम संसारसे त्राण—रक्षा करनेवाला है और श्रीकृष्णनाम पारक मन्त्र है जो संसारसे उद्धार कर जीवोंको प्रेम भी प्रदान करता है।

तथा—

नामाभासे 'मुक्ति' हय सर्वशास्त्रे देखि।
श्रीभागवते ताते अजामिल-साक्षी॥
(चै॰च॰अ॰ ३/६४)

सर्वशास्त्र कहते हैं कि नामाभाससे मुक्ति होती है, श्रीमद्भागवतमें अजामिल इस बातका साक्षी है।

श्रीकृष्णने कहा है, *'मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते'* (श्रीमद्भा॰ १०/८२/४४)। अर्थात् मेरे प्रति की हुई प्रेमभक्ति प्राणियोंको अमृतत्व (परमानन्द धाम) प्रदान करनेवाली है।

श्रीऋषभदेवके वचनोंमें देखा जाता है—*प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्* (श्रीमद्भा॰ ५/५/६)। अर्थात् जब तक मनुष्यकी मुझ वासुदेवमें प्रीति नहीं होती, तब तक वह देह-बन्धनसे छूट नहीं सकता।

श्रीचैतन्यभागवत (मध्यखण्ड १/२१२) में भी देखा जाता है—*ये करये बन्दी, प्रभु! छाड़ाय से-इ से।* हे प्रभो! जो बन्दी बनाता है, वही छुड़ाता भी है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते* (श्रीगी॰ ७/१४)। अर्थात् जो मेरा ही आश्रय ग्रहण करते हैं, वे इस मायाको पार कर जाते हैं॥ १॥

अवतरणिका भाष्य—इतोऽपीत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—और भी कारण कह रहे हैं—

सूत्र—मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्॥ २॥

सूत्रार्थ—'मुक्तोपसृप्य'—मुक्त पुरुषके उपसर्पणीयत्वकी, 'व्यपदेशात्'—उक्तिके कारण इस श्रुतिमें प्रकृति ग्राह्य नहीं है॥ २॥

सूत्रानुवाद—संसार-बन्धनसे मुक्त जीवोंके प्राप्तव्य रूपमें व्यपदेश होनेसे भी परमात्मा ही द्युभ्वाद्यायतन हैं, प्रकृति अथवा जीव नहीं॥ २॥

गोविन्दभाष्य—*'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्'* इत्यादौ *'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'* (मु॰ ३/१/३) इति मुक्तप्राप्यत्वेनोक्तेश्च ब्रह्मैवतत्॥ २॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जिस समय आत्मद्रष्टा योगी सुवर्णके समान ज्योतिर्मय, स्पृहणीय वर्ण, सर्वेश्वर, सर्वकर्त्ता, प्रकृतिके कारण उन ईश्वरको देखता है, उस समय वह योगी उपाधिमुक्त होकर विष्णुकी समताको प्राप्त कर लेता है, इस प्रकार मुक्तप्राप्यत्व रूपमें पुरुषकी उक्ति देखी जाती है। (मु॰ ३/१/३) अतएव इन दर्शनीय रुक्मवर्ण पुरुषको परमेश्वर कहना होगा॥ २ ॥

सूक्ष्मा-टीका—मुक्तेति। यदेत्यादौ द्युभाद्यायतनस्य मुक्तोपसृप्यत्वं व्यपदिष्टमतस्तद् ब्रह्मैव भावप्रधानो निर्देशः॥ २ ॥

सूक्ष्मा-सार—*'यदा पश्यः पश्यते'* इत्यादि श्रुतिमें द्युलोकादिके आश्रय पुरुषको मुक्तपुरुषका गन्तव्य स्थान कहा जाता है। अतः द्यु इत्यादिके आयतन ब्रह्म ही हैं। इस सूत्रमें जो मुक्तोपसृप्य कहा गया है, उसे मुक्तोपसृप्यत्व (मुक्त पुरुषोंके द्वारा प्राप्य) इस प्रकार धर्मपरक निर्देश जानें॥ २ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—मुण्डकोपनिषदमें *'यदा पश्यः पश्यते'* में स्पष्टरूपेण कहा गया है कि जब जीव रुक्मवर्ण, कर्त्ता, ईश्वर और ब्रह्माकी भी योनि अर्थात् उत्पत्तिस्थानरूप परमेश्वरको देखता है, तब पाप एवं पुण्य दोनोंको त्यागकर निरञ्जन अर्थात् उपाधिसे निर्मुक्त हो जाता है एवं परम साम्य अर्थात् सारूप्य प्राप्त करता है। अतः मुक्तका प्राप्य ब्रह्म है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्रमें मुक्त पुरुषके उपसृप्य अर्थात् प्राप्यरूपमें परमेश्वरका ही निर्देश है।

अतः द्युलोकादिका आयतन अथवा आश्रय पुरुष जिस प्रकार मुक्तपुरुषोंका प्राप्य है, तब वह ब्रह्म, जीव अथवा प्रकृति नहीं हो सकता।

श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्ण कह रहे हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२०/३०)

अर्थात् समस्त भूतोंके अन्तर्यामी परमात्मास्वरूप मेरा दर्शन

करनेवाले व्यक्तिका अहङ्कार, हृदयकी गाँठ और उसके समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और कर्म-वासनाएँ सर्वथा क्षीण हो जाती हैं।

श्रीमद्भागवतके श्रुति-स्तव (१०/८७/२१) के *'दुरवगमात्मतत्त्व-निगमाय तवात्ततनोः'* श्लोकमें श्रीधरस्वामीके द्वारा उद्धृत किया गया है कि सर्वज्ञ भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यने लिखा है—*मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते॥* (नृसिंहतापनी २/५/१६, शाङ्करभाष्य)

मुक्त जीव अर्थात् ब्रह्मसायुज्य प्राप्त मुक्त जीव भी (पूर्वानुष्ठित) भक्तिकी कृपासे (भजनोपयोगी पार्षद) देह प्राप्त करके भगवान्‌का भजन करते हैं।

इस स्थलपर मध्वाचार्यके द्वारा धृत अन्यान्य श्रुतियाँ भी हैं—*'मुक्ता ह्येतमुपासते', 'मुक्तानामपि भक्तिर्हि परमानन्दरूपिणी', 'अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानञ्चरणं लोके सुधितां दधातु ॐ तत् सत्'* इत्यादि।

अर्थात् 'मुक्त जन ही उनकी उपासना करते हैं', 'भक्ति मुक्तजनोंको भी परम आनन्द प्रदान करनेवाली है', 'अमृतकी धारा बहुत रूपोंमें प्रवाहित होकर इस जगत्‌में भक्तजनोंको सुख प्रदान करती है।'

भावार्थदीपिकामें कहा है—*'पार्षदतनूनामकर्मारब्धत्वं नित्यत्वं शुद्धत्वञ्च।'*

इस प्रसङ्गमें श्रीमद्भागवतका निम्न श्लोक भी आलोच्य है—

आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकी भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
(श्रीमद्भा॰ १/७/१०)

अर्थात् श्रीहरिमें ऐसे चित्ताकर्षक गुण हैं कि अविद्या-ग्रन्थी रहित आत्माराम मुनिगण तक भी उन उरुक्रम श्रीहरिकी अहैतुकी भक्ति करते हैं।

इस श्लोककी व्याख्यामें श्रीसार्वभौमने भी श्रीमन्महाप्रभुसे कहा था—

एवम्विध मुक्त सब करे कृष्णभक्ति।
हेन कृष्णगुणेर स्वभाव महा-शक्ति॥
(चै॰भा॰अ॰ ३/९१)

अर्थात् इस प्रकारके सब मुक्तपुरुष कृष्णभक्तिका अनुष्ठान करते हैं। महान शक्तिशाली श्रीकृष्णके गुणोंका ऐसा ही स्वभाव है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीमन्महाप्रभुके वचन हैं—

आत्माराम पर्यन्त करे ईश्वर भजन।
ऐछे अचिन्त्य भगवानेर गुणगण॥

(चै॰च॰म॰ ६/१८५)

अर्थात् श्रीभगवान्‌के गुण इतने अलौकिक हैं कि संसारसे मुक्त हुए आत्माराम मुनि भी उनकी भक्ति करते हैं॥ २॥

सूत्र—नानुमानमतच्छब्दात्॥ ३॥

सूत्रार्थ—'न अनुमानम्'—अनुमान-कल्पित प्रधान इस श्रुति द्वारा ग्राह्य नहीं है, क्यों? 'अतच्छब्दात्'—अचेतन प्रकृति वाचक किसी भी शब्दका उल्लेख इसमें नहीं है॥ ३॥

सूत्रानुवाद—प्रधान (प्रकृति) द्यु, भू आदिके आधार रूपमें ग्राह्य नहीं हो सकती, क्योंकि प्रधान प्रतिपादक यहाँ कोई शब्द नहीं है॥ ३॥

गोविन्दभाष्य—स्मार्त्तं प्रधानं इह न ग्राह्यम्। कतिः? अतच्छब्दात् अचेतन-प्रधानवाचकशब्दाभावात्॥ ३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—स्मार्त्त (सांख्य शास्त्रोक्त) प्रधान यहाँ ग्रहणीय नहीं है, क्योंकि यहाँ अचेतन प्रधान-वाचक शब्दका उल्लेख नहीं है॥ ३॥

सूक्ष्मा-टीका—अतच्छब्दादिति। प्रत्युत तद्विरोधी शब्दोऽस्ति यः सर्वज्ञ इति॥ ३॥

सूक्ष्मा-सार—यहाँ अचेतन प्रकृतिवाचक शब्द तो है नहीं, बल्कि उसके विरोधी शब्द यथा *'स सर्वज्ञः सर्वविद्'* (मु॰ २/२/७) इत्यादि शब्द प्रयुक्त हो रहे हैं॥ ३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें बता रहे हैं कि सांख्यशास्त्रोक्त आनुमानिक प्रधान अथवा प्रकृति यहाँ उद्दिष्ट नहीं है, क्योंकि

अचेतन प्रकृतिवाचक किसी शब्दका यहाँ उल्लेख नहीं है, बल्कि उसके विरोधी शब्दोंका ही यहाँ निर्देश है। अतः सांख्यमतमें उक्त अचेतन प्रकृतिको द्युलोकादिका आधार नहीं कहा जा सकता।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्॥

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२६/३-४)

अर्थात् यह सारा विश्व जिनसे प्रकाशित होता है, वे परमात्मा ही पुरुष हैं, वे नित्य, अनादि, प्राकृत गुणोंसे अतीत, इन्द्रियोंसे अतीत एवं स्वयं-प्रकाश हैं। उन्हीं कारणार्णवशायी प्रथम पुरुषावतारकी शक्तिरूपिणी त्रिगुणमयी प्रकृतिके लीलाविलासके लिए उनके समीप आनेपर उन्होंने स्वेच्छासे उसे ग्रहण कर लिया अर्थात् दूरसे ही उसमें ईक्षण (जीवशक्तिरूप वीर्याधान) करके इस जगत्की सृष्टि की॥ ३॥

सूत्र—प्राणभृच्च॥ ४॥

सूत्रार्थ—'प्राणभृत् च'—प्राणधारी जीव भी, 'न'—आत्मन् शब्द द्वारा बोधनीय नहीं है, 'अतच्छब्दात्'—क्योंकि जीववाचक शब्दका उल्लेख नहीं है॥ ४॥

सूत्रानुवाद—प्राणधारी जीव भी द्यु, भू, आदि लोकोंका आयतन नहीं हो सकता, कारण जीव प्रतिपादक शब्द यहाँ भी नहीं है। आत्म शब्द तो सर्वव्यापक परमात्मामें ही मुख्य है॥ ४॥

गोविन्दभाष्य—नेत्यनुवर्त्तते हेतुश्च। नाप्यात्मशब्दात् प्राणभृद्ग्रहणाशात्र सम्भवति अततीतिव्युत्पत्तेः सर्वव्यापके ब्रह्मण्येव मुख्यत्वात। (मु॰ १/१/९) यः सवर्ज्ञ सर्वविदित्यादिरुपरितनस्तु तत्रैव वर्त्तते, अतो जीववाचकशब्दाभावात् न तस्याप्यत्र ग्रहणं योग्यमिति॥ ४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—प्रस्तुत सूत्रमें पूर्वसूत्रस्थ 'न' और हेतुबोधक 'अतच्छब्दात्' पद अनुवृत्त (फिरसे कहे) हुए हैं। अतएव आत्मन्

शब्दसे प्राणधारी जीवके ग्रहणकी आशा यहाँ सम्भव नहीं है, कारण इस श्रुतिमें जीव-बोधक कोई शब्द नहीं है। आत्मन् शब्द *'अतति सातत्येन गच्छति'*, इस अर्थमें 'अत्' धातुमें 'मन्' प्रत्ययके योगसे निष्पन्न हुआ है, इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म अर्थ ही मुख्य है। *'य सर्ववित्'* इत्यादि पूर्ववर्त्ती 'आत्मन्' शब्द भी वही ब्रह्मपरक है। अतएव जीववाचक शब्दके अभावमें जीवको ग्रहण करना उचित नहीं है। पुनः जीवकी ऐसी योग्यता भी नहीं है॥ ४॥

सूक्ष्मा-टीका—हेतुश्चेति। स चातच्छब्दादित्येषः॥ ४॥

सूक्ष्मा-सार—'हेतुश्च' अर्थात् जिस प्रकार 'न' इस पदकी प्रस्तुत सूत्रमें अनुवृत्ति है, उसी प्रकार हेतु अर्थात् 'अतच्छब्दात्' इसकी भी इस सूत्रमें अनुवृत्ति जाननी चाहिये॥ ४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें कहा कि प्राणधारी जीवका भी यहाँ निर्देश नहीं हो सकता, क्योंकि उस प्रकारके शब्दोंका यहाँ उल्लेख नहीं है। द्वितीयतः 'आत्मन्' शब्दसे मुख्यार्थमें सर्वव्यापक ब्रह्मको ही जाना जाता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्।
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२६/१९)

जीवोंके अदृष्टवश क्षोभधर्मको प्राप्त सम्पूर्ण जीवोंके उत्पत्ति-स्थान प्रकृतिमें जब परमपुरुष परमात्माने चिद्रूप जीवशक्तिका आधान किया, उससे ही प्रकाश बहुल तेजोमय महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ।

और भी,

कालवृत्त्यात्ममायायां गुणमय्यामधोक्षजः।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/५/२६)

चिच्छक्तियुक्त अतीन्द्रियपुरुष भगवान्ने कालशक्ति द्वारा क्षोभित अपनी बहिरङ्गाशक्ति मायामें अपने अंश पुरुषरूपसे उसमें चिदाभासरूप बीज स्थापित किया।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी वर्णन है,

सेइ पुरुष माया-पाने करे अवधान।
प्रकृति क्षोभित करि करे वीर्येर आधान॥

साङ्ग विशेषाभासरूपे प्रकृति-स्पर्शन।
जीव-रूप बीज ताते कैल समर्पण॥

(चै॰च॰म॰ २०/२१२-२१३)

अर्थात् जब वे (कारणसमुद्रशायी) पुरुष मायाकी ओर दृष्टि डालते हैं, तो माया क्षोभित हो जाती है। तब उसमें पुरुष सृष्टिके मूल बीज (वीर्य या मूल-उपादान) का आधान करते हैं। कारणसमुद्रशायी पुरुष अपने अङ्ग-विशेष नेत्रोंके आभास या ज्योति द्वारा प्रकृतिको स्पर्श करते हैं अर्थात् प्रकृतिका साक्षात् रूपसे स्पर्श नहीं करते। उस क्षोभिता प्रकृतिमें जीवरूप मूल उपादानको समर्पित करते हैं।

इस सन्दर्भमें श्रीगीताका *'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'* (श्रीगी॰ ९/१०) श्लोक भी आलोच्य है।

श्रीमद्भागवतमें वर्णन है,

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२/४५)

अब नवयोगीन्द्रोंमेंसे दूसरे श्रीहविजीने उत्तर दिया—राजन्! जो व्यक्ति निखिल प्राणियोंमें अपनी और अपने आराध्य भगवान्की सत्ता तथा अपने आराध्यदेवमें समस्त प्राणियोंकी सत्ताको दर्शन करता है, वह उत्तम कोटिका महाभागवत है।

श्रीमद्भागवतके इस श्लोकपर श्रीधरस्वामिपादने अपनी टीका भावार्थदीपिकामें तन्त्र-वचन उद्धृत किया है—

आततत्वाच्च मातृत्वादात्मा हि परमो हरिः।

अर्थात् स्वरूपमें अत-बृहत्त्व होनेसे एवं जगत्का कारण होनेसे श्रीकृष्ण ही परमात्मा कहे गये हैं।

इसी प्रकार श्रीविष्णुपुराणमें भी,

बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च तद् ब्रह्म परमं विदुः

(वि॰पु॰ १/१२/५७)

अर्थात् सर्वापेक्षा बृहत् एवं सर्वव्यापक होनेसे उस तत्त्ववस्तुको ब्रह्म कहा गया है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी देखा जाता है—

आत्मा शब्द कहे कृष्ण बृहत्-स्वरूप।
सर्वव्यापक सर्वसाक्षी, परम स्वरूप॥

(चै॰च॰म॰ २४/७३)

अर्थात् आत्मा शब्दका अभिप्राय बृहत्तम स्वरूप श्रीकृष्णसे है, कारण वे ही सर्वव्यापक, सर्वसाक्षी और परम स्वरूप हैं।

ब्रह्म शब्देर अर्थ—तत्त्व सर्व बृहत्तम।
स्वरूप ऐश्वर्य करि नाहि यार सम॥

(चै॰च॰म॰ २४/६६)

अर्थात् 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ है—'सर्वापेक्षा बृहत्तम-तत्त्व' अर्थात् जो समस्त विषयोंमें सर्वापेक्षा बड़ा है एवं औरोंको बड़ा कर सकता है, ऐसा तत्त्व ब्रह्म कहलाता है। जिसके स्वरूप एवं ऐश्वर्यके समान किसीका स्वरूप एवं ऐश्वर्य नहीं है, वह ब्रह्म है।

सेइ ब्रह्म शब्दे कहे स्वयं भगवान्।
अद्वितीय ज्ञान, याँहा बिना नाहि आन॥

(चै॰च॰म॰ २४/६९)

उस ब्रह्म शब्दका तात्पर्य स्वयं-भगवान् हैं। उन स्वयं-भगवान्के बिना भूत, भविष्य एवं वर्त्तमान कालमें अन्य कोई भी वस्तु नहीं रह सकती—वे अद्वयज्ञान तत्त्व हैं।

सेइ अद्वय तत्त्व कृष्ण—स्वयं भगवान्।
तिन काले सत्य तिंहो शास्त्र प्रमाण॥

(चै॰च॰म॰ २४/७१)

अर्थात् वह अद्वयतत्त्व स्वयं-भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही हैं, वे तीनों कालोंमें सत्य वस्तु हैं, उन्हें शास्त्र ऐसा प्रमाणित करते हैं।

अवतरणिका भाष्य—इतोऽप्यत्र प्राणभृद्ग्रहणं नेत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अग्रिम कहे जानेवाले कारणसे भी आत्मा शब्दसे प्राणधारी (जीवात्मा) ग्रहण नहीं हो सकता।

सूत्र—भेदव्यपदेशाच्च ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ—'भेदव्यपदेशाच्च'—प्राणभृत् (जीवात्मा) और परमेश्वरके परस्पर भेदके उल्लेखके कारण श्रुतिस्थ आत्मन् शब्द प्राणभृद् बोधक नहीं है॥ ५॥

सूत्रानुवाद—परमात्मासे जीवके भेद कथनसे भी यहाँ जीवात्माका ग्रहण नहीं किया जा सकता॥ ५॥

गोविन्दभाष्य—तमेवैकं जानथेत्यादिना (मु॰ २/२/५) तस्मात् तस्य भेदोक्तेश्च॥ ५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'तमेवैकं जानथ'* इत्यादि श्रुति वाक्योंके द्वारा जीव एवं परमेश्वरका पार्थक्य कहा गया है, इसलिए भी परमेश्वर एवं जीव एक नहीं हैं॥ ५॥

सूक्ष्मा-टीका—तमेवैकमिति। ज्ञेयात् तस्मात् ज्ञातृणां जीवानां भेदो विहितोहतश्च प्राग्वत् आदिशब्दादोमित्येवं ध्यायथ आत्मानमिति परवाक्ये च ग्राह्यम्॥ ५॥

सूक्ष्मा-सार—परमेश्वर ज्ञेय हैं, जीव ज्ञाता है, परमेश्वर एक हैं, जीव अनेक हैं। अतएव दोनोंमें भेद है। इसलिए *'द्युभ्वाद्यायतनम्'*, इस (द्यु, भू) आदि शब्दके पहलेके समान यहाँ भी ग्राह्यताके कारण *'ओम् इत्येवं ध्यायथ आत्मानम्'*—इस आत्माको प्रणव वाक्य मानकर ध्यान करो। यह अर्थ परवर्त्ती वाक्यमें 'आत्मानं' पदकी योजनामें ग्रहणीय है॥ ५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—जीव एवं परमेश्वरमें भेदके उल्लेखका कारण रहनेसे द्युलोकादिके आधारमें अथवा आत्मन् शब्दमें जीवको नहीं जाना जा सकता। सब बातें छोड़कर एकमात्र आत्माको ही जानो, वे ही अमृतके सेतु हैं, इस श्रुतिमें वर्णित आत्मा श्रीहरि ही हैं। कारण यहाँ ज्ञातारूपमें जीवको एवं ज्ञेयरूपमें आत्मा श्रीहरिको ही जाना जाता है और उनके मध्य परस्पर भेद भी सुस्पष्ट ही है। अतः 'आत्मन्' शब्दसे परब्रह्म ही उद्दिष्ट हैं, प्राणधारी जीव नहीं। परस्पर

भेदका प्रमाण श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—देवताओंके गर्भ-स्तोत्रके *'एकायनोऽसौ'* (१०/२/२७) श्लोकमें वर्णित 'द्विखगौ' की टीकामें श्रीधरस्वामिपादने कहा है—*'द्वौ जीवपरमात्मनौ खगौ पक्षिरूपिणौ यस्मिन् सः'*, दो—जीव एवं परमेश्वर, खग—पक्षीरूपमें इस संसार-वृक्षपर विराजमान हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरकी टीकामें भी है—*द्वौ जीवेश्वरौ खगौ यस्मिन् सः।*

श्रीमद्भागवतमें और भी देखा जाता है—*'द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः'* (११/१२/२२-२३) श्लोकके *'द्विसुपर्णनीडः'* की टीकामें श्रीधरस्वामिपाद कहते हैं—*'द्वयोः सुपर्णयोर्जीव-परमात्मनोर्नीडं यस्मिन् सः।'*

श्रीमन्महाप्रभुने भी कहा है—

मायाधीश, मायावश—ईश्वरे जीवे भेद।
हेन जीवे ईश्वर सह कह त अभेद॥
(चै॰च॰म॰ ६/१६२)

अर्थात् श्रीभगवान् मायाके अधीश्वर हैं और जीव मायाके अधीन है, अधीश और अधीनमें जो भेद है, वही भेद ईश्वर एवं जीवमें है।

इस प्रसङ्गमें *'द्वा सुपर्णा सयुजा'* (मुण्डक ३/१/१, श्वेताश्वेतर ४/६) श्लोक द्रष्टव्य हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें *'इदं शरीरं कौन्तेय'* (१३/२) श्लोक भी यहाँ आलोच्य है॥ ५॥

सूत्र—प्रकरणात्॥ ६॥

सूत्रार्थ—'प्रकरणात्'—यहाँ ब्रह्म ही प्रक्रान्त हैं, इसलिए प्रकरणानुसार 'तमेवैकमात्मानम्'—इस श्रुतिमें स्थित आत्मन् शब्दसे ब्रह्म परमेश्वर ही ज्ञातव्य हैं॥ ६॥

सूत्रानुवाद—यह जीवका प्रकरण नहीं है, इसलिए द्यु, भू आदिका आयतन जीवमें सम्भव नहीं है॥ ६॥

गोविन्दभाष्य—कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति (मु॰ १/१/३) ब्रह्मणः प्रकृतत्वाच्च तथा॥ ६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—'किसे जाननेसे समस्त जान लिया जाता है' (मु॰ १/१/३) इत्यादि रूपमें ब्रह्मको ही प्रक्रम कहा गया है, इसलिए आत्मन् शब्दसे परब्रह्म परमेश्वरको जानना चाहिये॥ ६॥

सूक्ष्मा-टीका—प्रकरणेति। एकस्य विज्ञानेन सर्वविज्ञानमुपक्रम्य द्युभ्वाद्याय-तनस्योपन्यासात् प्राग्वत्। न हि ब्रह्मण्यस्मिन् विज्ञाते तत् सम्भवेदिति तस्यैव तत् प्रकरणम्॥ ६॥

सूक्ष्मा-सार—किसी एकको जाननेसे सब कुछ जान लिया जाता है, इस प्रकार प्रारम्भ करके जो द्यु, भू इत्यादिके आयतन हैं, उन्हें जाननेसे सब कुछ जान लिया जाता है, यह उपन्यास (विचार) जिस हेतुसे है, अतः पहलेके समान यहाँ भी आत्मन् शब्दका अर्थ परमेश्वर ग्राह्य हैं। यदि आत्मन् शब्दसे जीवात्मा अर्थ लिया जाय, तब तो यह उक्ति सङ्गत नहीं होगी। जीव-ब्रह्मको जान लेनेपर सब कुछ जान लेना सम्भव नहीं है, अतएव यहाँ परमेश्वर ही प्रक्रान्त (क्रम) हैं॥ ६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्व श्रुतिवाक्यसे अवगत हुआ जाता है कि किसे जाननेसे सब कुछ जान लिया जाता है, इस प्रश्नके उत्तरमें स्पष्ट हुआ कि ब्रह्मको जाननेपर सब कुछ जान लिया जाता है। जीवको जान लेनेसे सब कुछ जानना नहीं होता, क्योंकि सब कुछ जीवात्मक नहीं है। इस प्रकरणके आधारपर भी यहाँ परमेश्वर ही उद्दिष्ट हैं। श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

'सर्व पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो न वेद सर्वज्ञमनन्तनीडे।'

(श्रीमद्भा॰ ६/४/२५)

अर्थात् दक्ष प्रजापति कहते हैं—जीव सत्त्वादि गुणोंको तो जान सकता है, किन्तु दृश्य अथवा ज्ञेय रूपसे आपको नहीं जान सकता, क्योंकि आप ही सबके ज्ञाता और अनन्त हैं॥ ६॥

सूत्र—स्थित्यदनाभ्याञ्च॥ ७॥

सूत्रार्थ—'स्थित्यदनाभ्यां'—एककी (परमात्माकी) संसाररूप वृक्षमें साक्षी रूपसे स्थिति है और दूसरेकी स्थिति कर्मफल-भोगरूप

पीपल–फल भोजनके कारण है, 'च' इसलिए भी परमात्मा और जीवात्माका भेद सिद्ध होता है तथा इसके अवशिष्ट वाक्यसे भी दोनोंका भेद जाना जाता है॥७॥

सूत्रानुवाद—परमात्माकी केवल साक्षी रूपसे स्थिति तथा जीवात्माका फलभोग दिखलाया गया है। इस प्रकार स्थिति एवं भोगसे परमात्मा एवं जीवका भेद दिखलाया है॥७॥

गोविन्दभाष्य—द्युभ्वाद्यायतनं प्रकृत्य *'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'* (मु॰ ३/१/१, श्वे॰ ४/६) इति पठ्यते। तयोर्दीप्यमानस्याब्रह्मत्वं तदा स्याद् यदि द्युभ्वाद्यायतनस्य पूर्वं न तत् प्रतिपादयेत्। इतरथा आकस्मिकी तदुक्तिरश्लिष्टा स्यात्। जीवोक्तिस्तु न तथा लोकप्रसिद्धस्य तस्यात्रानुवादात्। तस्माद्ब्रह्मैव तदिति॥७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस प्रकरणमें श्रुतिस्थ द्युलोक, भूलोक इत्यादिका आयतन ब्रह्म है, इस प्रकार आरम्भ करके *'द्वा सुपर्णा सयुजा ... अभिचाकशीति'* (मु॰ ३/१/१, श्वे॰ ४/६) इस श्रुतिका उल्लेख किया है। इसका अर्थ है—दो पक्षी (जीव एवं ईश्वर) एक साथ देहरूप वृक्षका आश्रय करके सख्य भावसे अवस्थान करते हैं। उनमें एक (जीवात्मा) पीपल अथवा देहकृत कर्मफलका मधुर भावसे आस्वादन करता है और दूसरा उस फलको न खाकर भी प्रदीप्त (देदीप्यमान) रहता है। इन दोनोंमें जो दीप्यमान है, उनका अब्रह्मत्व रूपसे (ईश्वरत्वसे भिन्न जीवत्व) कथन सम्भवपर तब होता, यदि पहले द्यु, भू (स्वर्गादि) इत्यादिके आयतन (आश्रय) का ब्रह्मरूपमें प्रतिपादन न किया होता। पूर्वमें द्युलोकादिके आयतनत्वकी उक्ति न करनेपर उसकी (आकस्मिक) ब्रह्मोक्ति असङ्गत होती, किन्तु उसे जीव कहनेपर वह असङ्गति नहीं रहती, क्योंकि जीव कर्मफलभोक्ता है, यह प्रसिद्ध है, वह द्युलोकादिका आयतन नहीं हो सकता। उस जीवका इस श्रुतिमें पुनः कथन मात्र है। अतएव द्युलोकादिका आश्रय ब्रह्म ही हैं, जीव नहीं॥७॥

सूक्ष्मा–टीका—स्थितीति पञ्चमीद्विवचनम्। द्वा सुपर्णेति छान्दसम्। द्वौ सुपर्णौ पक्षिणौ सयुजौ सहयोगवन्तौ सखायौ मित्रे भवतः समानमेकं देहलक्षणं वृक्षं

परिष्वज्य तिष्ठतः। तयोरन्य एकः सुपर्णो जीवः पिप्पलं देह पिप्पलनिष्पन्नकर्मफलम्। स्वादु मधुरं यथा स्यात् तथात्ति भुङ्क्ते। अन्य सुपर्णः परमात्मा तु तत् फलमनश्नन्नभुञ्जानोऽप्यभिचाकशीति प्रदीप्यत इत्यर्थः। तदिति ब्रह्मत्वम्। तदुक्ति– र्ब्रह्मोक्तिरश्लिष्टाऽसङ्गतेत्यर्थः। न तथा नासङ्गता। तस्य जीवस्य। सूत्रस्थश्चशब्दो जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमिति वाक्यशेषस्थं तद्भेदवचनमाह॥७॥

सूक्ष्मा–सार—स्थिति एवं अदन शब्दोंके उत्तरमें पञ्चमीका द्विवचन हेतु अर्थमें है। *'द्वा सुपर्णा'*—इन दो पदोंमें 'द्वौ सुपर्णौ' न होकर 'द्वा सुपर्णा' होनेका कारण है—वैदिक प्रयोग। वेदमें *'सुपांसुलुक्'* इत्यादि (पाणिनि अष्टाध्यायी ७/१/३९) के अनुसार 'औ' विभक्तिके स्थानपर 'अच्' के आदेशसे *'द्वा सुपर्णा'* निष्पन्न हुआ है, अतएव यह वैदिक प्रयोग है। द्वौ सुपर्णा—दो पक्षी 'सयुजा'—सयुजौ—सहयोगसे युक्त, 'सखाया'—'सखायौ'—परस्पर मित्र, वे एक देहरूप वृक्षमें संलग्न होकर वास करते हैं। इनमें एक पक्षी अर्थात् जीव पीपल अथवा देह अर्थात् देह निष्पन्न कर्मफलका मधुर भावसे आस्वादन करता है और एक पक्षी (परमेश्वर) उस फलका भोग न करके देदीप्यमान रहता है। *'पूर्वम् न तत् प्रतिपादयेत्'*, 'तत्' अर्थात् पहले ब्रह्मत्व प्रतिपादन न किया होता। *'स्थित्यदनाभ्याञ्च'*, इस सूत्रमें स्थित 'च' शब्दसे तात्पर्य है—*'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशं'* अर्थात् योगी जब एकको कर्मफलभोक्ता और दूसरेको परमेश्वररूपमें देखता है। इस अवशिष्ट वाक्यमें स्थित परमेश्वरको जीवसे भिन्न कहा गया है॥७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस प्रकार यहाँ एक पक्षीकी स्थिति एवं दूसरेका अदन अर्थात् भोजनका उल्लेख है, जिससे जीव और ब्रह्मका भेद स्पष्ट हो जाता है। दूसरी बात यह है कि यहाँ श्रुति वर्णित ब्रह्मतत्त्वका ही विचार हो रहा है, जीवका नहीं। अतः पूर्वोक्त श्रुतिवर्णित तत्त्व ब्रह्म ही है। श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीड़ौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न–
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/११/६)

चेतनस्वरूप होनेके कारण परस्पर सादृश्ययुक्त, कभी भी नहीं बिछुड़नेवाले और ऐक्यमतके कारण परस्पर सखा भावसे अवस्थित जीव और ईश्वररूप दो पक्षी स्वेच्छापूर्वक देहरूपी पीपलके वृक्षपर हृदयरूपी घोसलेमें रहते हैं। उनमेंसे एक अर्थात् जीव पीपलरूपी देहवृक्षका कर्मफल भोग करता है और दूसरा, अर्थात् ईश्वर, कर्मफलको भोग न कर अपनी ज्ञानशक्तिके प्रभावसे सुख-दुःखसे परे और जीवके साक्षीके रूपमें ही विराजमान रहते हैं। इस प्रकार वे ईश्वर भोक्ता जीवसे श्रेष्ठ और पृथक् हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो कर्मफलका भोग करता है, वह कभी भी सर्वज्ञ और अमृतका सेतु हो नहीं सकता, परन्तु जो साक्षी रूपसे अवस्थान करते हैं, वे ही अमृतके सेतु एवं द्युलोक और भूलोकके आधार हैं। *'अदृश्यत्वादि को धर्मोक्तेः'*—इस सूत्रसे यद्यपि परमात्मत्त्व सिद्ध था, परन्तु मध्य वाक्यमें प्रधान आदिकी शङ्काके निवारणार्थ यह अधिकरण है॥ ७॥

२—भूमाधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—छान्दोग्ये श्रीनारदेन पृष्टः श्रीसनत्कमिारस्तं प्रति नामादीन्युपदिश्याह—*'भूमात्वेव विजिज्ञासित्व्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास'* (छा॰ ७/२३/१) इति। *'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा। अथ यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्'* इति (छा॰ ७/२४/१)। इह भूमशब्देन बहुत्वसंख्या नाभिधीयते किन्तु वैपुल्यरूपा व्याप्तिरेव। यत्रान्यत् पश्यति तदल्पम् इति (छा॰ ७/२४/१) त्यल्पत्वप्रतिद्वन्द्विकत्वोक्तेः। अल्पशब्दनिगदितधर्म्मि-प्रतिद्वन्द्विप्रतिपत्तेरेव भूमगुणवान् धर्मी स इति निर्णीयते। अत्र विचिकित्सा—भूमा प्राणो विष्णुर्वेति। तत्र *'प्राणो वा आशाया भूयान्'* (छा॰ ७/१५/१) इति सन्निधानात् पुनः प्रश्नोत्तरयोरभावाच्च प्राणो भूमा। प्राणशब्दो हि प्राणसचिवं जीवमभिधत्ते न वायुविकारमात्रम्। *'तरति शोकमात्मवित्'* (छा॰ ७/१/३) इत्युपक्रमात् *'आत्मन एवेदं सर्व्'* (छा॰ ७/२६/१) इत्युपसंहाराच्च। तेनान्तरालिको भूमापि स एव भवितुमर्हति। यत्र नान्यत् पश्यतीत्यादि (छा॰ ७/२४/१) कमप्यस्मिन् पक्षे सङ्गच्छेत। सुषुप्तौ प्राणग्रस्तेषु इन्द्रियेषु तत्र दर्शनादिविनिवृत्तेः। *'यो वै भूमा तत् सुखम्'* (छा॰ ७/२३/१) इत्यप्यविरुद्धम्। तस्यां सुखमहमस्वाप्समिति सुखश्रवणात्। एवं जीवात्मनि निर्णीते वाक्यशेषोऽपितदनुकलितयैव नेय इत्येवं प्राप्ते ब्रवीति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—छान्दोग्योपनिषद (७/२३/१) में वर्णन है कि श्रीनारदके द्वारा पूछे जानेपर श्रीसनत्कुमारने उन्हें पहले तो नामादि क्रमसे वाक्, मन और प्राण पर्यन्त पदार्थोंका ब्रह्मरूपमें उपदेश किया और बादमें कहा—"भूमापुरुष श्रीहरि ही ज्ञातव्य हैं।" यह सुनकर श्रीनारदने पुनः पूछा—"भगवन्! वे भूमापुरुष कौन हैं, विचार करके बतायें।" श्रीसनत्कुमारने कहा—"जिन्हें जान लेनेपर और कुछ द्रष्टव्य रहता नहीं, दूसरा कोई श्रोतव्य सुना नहीं जाता और अन्य कोई विज्ञातव्य नहीं रहता, वे ही भूमापुरुष हैं। जिनके अनुभूत होनेपर पुनः जीव जब अन्य दर्शन करता है, अन्य श्रवण करता है और अन्य अनुभव करता है, वह अल्प परिच्छिन्न, अल्प, अव्यापक और अभूमा है।" (छा॰ ७/२४/१) इस श्रुतिमें प्रयुक्त 'भूमन्' शब्दका अर्थ संख्याका बहुत्व नहीं है, अपितु वैपुल्य अथवा व्याप्ति है, क्योंकि *'यत्रान्यत्पश्यति तदल्पं'* में अल्पत्वके प्रतिपक्षी अर्थात् विपरीत-धर्म-विशिष्टको ही भूमा कहा है। इस स्थलपर संशय है कि यह भूमा क्या प्राण है? अथवा विष्णु हैं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि भूमा प्राण ही हो सकता है, क्योंकि *'आशाया भूयान्'* (छा॰ ७/१५/१) आकांक्षासे भूयत्वविशिष्ट (उत्तरोत्तर श्रेष्ठ) प्राण हैं। इस प्रकार भूमा शब्दके साथ सम्पर्कयुक्त होनेके कारण, नारद-सनत्कुमार सम्वादमें और प्रश्नोत्तर न होनेके कारण प्राण तक कहकर ही निवृत्ति होनेके कारण प्राणको ही भूमा कहा जायेगा।

यदि कहो कि प्राणका भूमत्व किस प्रकार सङ्गत है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि यहाँ प्राण शब्द प्राणके सहकर्मी (साथी) जीवात्माका अभिधायक (बोधक) है, वायु-विकार-विशेषका नहीं। उपक्रम (प्रारम्भ) में कहा, *'तरति शोकमात्मविदि'* (छा॰ ७/१/३) आत्माके स्वरूपको जाननेवाला व्यक्ति शोकसे उत्तीर्ण हो जाता है और उपसंहारमें कहा *'आत्मन एवेदं सर्वम्'* (छा॰ ७/२६/१) यह दृश्यमान समस्त वस्तु ही आत्माका भोग्य है, (आत्मासे ही सब कुछ होता है) अतएव इस आत्माके उपक्रम-उपसंहारके मध्य पठित भूमा शब्दसे आत्माका ही बोध होना उचित है। ऐसा होनेपर *'यत्र नान्यत् पश्यति'* (छा॰ ७/२४/१) जिन्हें जाननेपर और कुछ जानने योग्य नहीं

रहता, इत्यादि वाक्य भी तो प्राण-पक्षमें सङ्गत होते हैं। इसका कारण है कि सुषुप्तिकालमें जिस समय समस्त इन्द्रियाँ प्राणमें लीन हो जाती हैं, उस समय उनकी दर्शनादि क्रियाएँ भी नहीं रहती हैं। *'यो वै भूमा तत्सुखम्'* (छा॰ ७/२३/१) 'जो भूमा है, वही सुख है' इत्यादि कथनकी भी कोई असङ्गति नहीं है, यह कथन भी प्राणमें सङ्गत हो जाता है। कारण उस समय अर्थात् सुषुप्ति कालमें 'मैं बहुत सुखपूर्वक सोया' इस प्रकार सुखानुभूतिकी बात सुनी जाती है। इस प्रकार भूमाका अर्थ प्राणसचिव जीवात्मा ही निर्णीत हुआ, अतः वाक्यका शेषांश भी तदनुकूल भावसे ग्रहण किया जायेगा। *'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति'*—प्रसङ्गवश प्राणविद्को अतिवादी कहकर 'जो सत्यवादी है, वही अतिवादी (सब मतोंका खण्डनकर स्वपक्ष स्थापित करनेवाला) है' इत्यादिमें अतिवादीका ही सत्यवादीरूपमें पुनरुल्लेख है। अर्थात् अतिवादीको ही सत्यवादी कहा गया है। (अपने उपास्य देवताका साक्षात्कार ही अतिवादित्वका हेतु है)। जो सत्यस्वरूप परमेश्वरको जानकर नामसे लेकर प्राण तक पन्द्रह पदार्थोंका अतिक्रमण करके सत्य-नामसे संज्ञित श्रीहरिको सर्वश्रेष्ठ कहता है, वह यथार्थवादी है, श्रीहरि ही भूमा हैं, और वे ही भूमापुरुषके रूपमें ज्ञातव्य हैं। पूर्वपक्षी कहते हैं कि यह वाक्य भी जीव-विषयमें तात्पर्य-विशिष्ट कहा जायेगा। इस प्रकार भूमा सम्बन्धमें प्राणवादरूप पूर्वपक्षके दृढ़ होनेपर इसके समाधानके लिए सूत्रकार कह रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वममृतत्वेन लिङ्गेनात्मशब्दस्य विष्णुपरत्वं यथोक्तं तथेह तादृशलिङ्गं नास्तीति प्राणो भूमा स्यादिति प्रत्युदाहरणसङ्गत्याह छान्दोग्य इत्यादि। श्रुतं ह्येव भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मां भगवान् शोकस्य पारं तारयत्विति श्रीनारदेन पृष्टः श्रीसनत्कुमारो नामवाङ्मनःसङ्कल्पचित्तध्यानविज्ञानबलान्नाप्तेज-आकाशस्मराशाप्राणान् पञ्चदशार्थान् पूर्वपूर्वस्मात् परपरस्य भूयस्त्वेनोपदिष्टवान्। तत्रादौ नाम ब्रह्मेत्युपदिदेश। पुनरस्ति भगवो नाम्नो भूय इति तेन पृष्टो वाग्वाव नाम्नो भूयसीति प्रत्युवाच। पुनरस्ति भगवो वाचो भूय इति पृष्टो मनो वाव वाचो भूय इति प्रत्युवाचेत्येवं क्रमेण प्राणवधिकं प्रश्ने दृष्टे प्राणोपदेशानन्तरं तु प्रश्नेन विनैवेदं श्रूयते। एष तु वा

अतिवदति यः सत्येनातिवदतीति भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इत्यादि। अस्यार्थः। अल्पे परिच्छिन्ने सुखं नास्तीति भूमैव व्याप्तिगुणकः श्रीहरिरेव सुखमित्यनन्तसुखमिच्छता स एव विजिज्ञास्य इत्यर्थः। तस्य लक्षणं यत्रेति। यस्मिन् भूमन्यनुभूते नान्यत् किञ्चित् स्फुरति किन्तु स एव सर्वत्रेत्यर्थः। आत्मवित् स्वस्वरूपज्ञः। आत्मनो जीवात्मनः। इदं सर्वं जगददृष्ट-द्वाराजायत इत्यर्थः। आन्तरालिको मध्ये पठितो भूमप्यवे जीव एवेत्यर्थः। अस्मिन् जीवपक्षे। तत्र भूम्नि जीवे। तस्यां सुषुप्तौ। तदनुकलितया जीवविषयतया—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले अमृतस्वरूप जिस कारण द्वारा आत्माको विष्णुपरक कहा गया था, वैसा कारण तो यहाँ नहीं है, अतः प्राणको ही भूमा कहा जा सकता है। इस प्रकार प्रत्युदाहरण-सङ्गतिके द्वारा कह रहे हैं कि छान्दोग्योपनिषदमें वर्णन है—श्रीनारदने श्रीसनत्कुमारसे जिज्ञासा की—"भगवन्! मैंने आप जैसे भगवत्-द्रष्टाओंके मुखसे सुना है कि आत्मविद् व्यक्ति शोकसे उत्तीर्ण हो जाता है। हे भगवन्! मैं शोकग्रस्त हो रहा हूँ, आप मुझे शोकसे उतीर्ण कर दीजिये। आत्मतत्त्व क्या है, यह मुझे बतला दीजिये।" श्रीनारदके द्वारा इस प्रकार पूछे जानेपर श्रीसनत्कुमारने प्रत्युत्तरमें क्रमसे नाम, वाक्, मन, सङ्कल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, अग्नि, आकाश, स्मरण, आशा और प्राण—इन पन्द्रह पदार्थोंका उल्लेख करके पूर्वसे उत्तरोत्तर वर्णित पदार्थोंका श्रेष्ठत्व निरूपित किया। किस प्रकार? पहले उन्होंने नामको ब्रह्म कहकर उपदेश दिया। यह सुनकर नारदजीने पुनः श्रीसनत्कुमारसे पूछा—"नामसे भी श्रेष्ठ कुछ है?" इसके उत्तरमें उन्होंने कहा—"वाक् नामसे श्रेष्ठ है।" नारदने पुनः जिज्ञासा की कि 'वाक्से भी कुछ श्रेष्ठ है', श्रीसनत्कुमारने कहा, "वाक्से मन श्रेष्ठ है।" इस प्रकार क्रमपूर्वक प्राण पर्यन्त प्रश्नोत्तर होनेपर प्राणोपदेशके बाद बिना प्रश्न किये ही श्रीसनत्कुमारने कहा, *'एष तु वा अतिवदति .... विजिज्ञास इति'* (छा० ७/१६/१)—जो सत्यके कारण अतिवदन करता है, वही निश्चय अतिवदन करता है। सत्यकी ही विशेष रूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये। इसके बाद कहा गया कि जो भूमा नहीं है, वह अल्प, परिच्छिन्न है, उसमें सुख नहीं है एवं जो भूमा विश्व-व्याप्ति गुणसे युक्त हैं, वे श्रीहरि भूमा-विश्व

ही परमानन्द हैं। अतः अनन्त सुखकामी व्यक्ति उन श्रीहरिका ही ध्यान करें। भूमा पदार्थका लक्षण वर्णन करते हैं—*'यत्र नान्यत् पश्यति'* इत्यादि (छा॰ ७/२३/१) अर्थात् जिस भूमाको प्रत्यक्ष करनेपर दूसरा कुछ भी स्फुरित नहीं होता, सर्वत्र केवल वही प्रकाश पाता है, वही भूमा है। *'तरति शोकमात्मवित्'* (छा॰ ७/१/३) आत्मवित् अर्थात् स्वयंके (आत्माके) स्वरूपको जाननेवाला व्यक्ति। *'आत्मन् एवेदं ....'* (छा॰ ७/२६/१), आत्मनः—जीवात्माके अदृष्टके द्वारा यह समस्त परिदृश्यमान जगत् उत्पन्न हुआ है। आन्तरालिकः अर्थात् अन्तरालमें अथवा मध्यमें सुना हुआ भूमा शब्द। भूमापि—भूमा जीवका ही बोध कराता है। *'अस्मिन् पक्षे'*—भूमाका अर्थ जीव कहनेपर वह जीवमें ही सङ्गत होता है। *तत्र दर्शनादि विनिवृत्तेः*—तत्र अर्थात् उस भूमात्मक जीवमें दर्शनादिक क्रियाएँ निवृत्त हो जाती हैं। तस्यां—उस सुषुप्ति दशामें। *शेषोऽपि तदनुकूल तयैव ...* वाक्यकी समाप्ति भी जीव-विषयक रूपमें ग्रहण की जायेगी।

सूत्र—भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्॥ ८॥

सूत्रार्थः—'भूमा'—श्रीविष्णु प्राणसचिव जीव नहीं हैं, कारणः 'सम्प्रसादात्'—भूमाको सर्वाधिक सुखस्वरूप कहा गया है और 'अधि'—भूमावादीका सबके ऊपर स्थान 'उपदेशात्'—बताया गया है, इसलिए भूमा जीव नहीं हैं, कारण जीव सर्वातिशायी नहीं हैं, श्रीहरि ही सर्वातिशायी हैं, वे ही भूमा हैं॥ ८॥

सूत्रानुवाद—भूमा शब्द निर्दिष्ट परमात्मा ही हैं, न कि प्राण सहचरित जीव, क्योंकि उन्हें प्राण शब्द वाच्य जीवात्मासे ऊपरकी श्रेणीका बतलाया गया है॥ ८॥

गोविन्दभाष्य—श्रीविष्णुरेवायं भूमा न प्राणसचिवो जीवः। कुतः? समिति। यो वै भूमा तत् सुखमिति (छा॰ ७/२३/१) विपुलसुखरूपत्वश्रवणात् सर्वेषामुपर्युपदेशाच्च। *'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय'* (छा॰ ८/३/४) इति श्रौतप्रसिद्धेः सम्प्रसादः प्राणसचिवो जीवस्तस्मादधिकतया भूमगुणवैशिष्ट्येनाभिधानदिति वा। अयमर्थः—पूर्वं नामादिकमुपदिश्य *'स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति'* (छा॰ ७/१५/४) इति प्राणविदोऽतिवादित्वमुक्त्वा *'एष तु वा अतिवदति यः*

सत्येनातिवदति' (छा॰ ७/१६/१) इति भिन्नोपक्रमार्थकेन तु शब्देनादिवादित्वहेतुं प्रकृतां प्राणोपास्तिं व्यावर्त्त्य मुख्यातिवादित्वहेतोर्विष्णोः सत्यशब्देन पृथगुपक्रमात् प्राणादर्थान्तरमधिकश्च भूमेति निश्चीयते। प्राणस्यैव भूमत्वे तस्मादूद्ध्वं तदुपदेशो न सम्भवेत्। नामादेराप्राणादूद्ध्वंभुपदिष्टं वागादि तस्मादर्थान्तरं वीक्ष्यते। एवं प्राणादूद्ध्वंभुपदिष्टो भूमापि तथा। सत्यशब्दः खलु परब्रह्मणि श्रीविष्णौ प्रसिद्धः। *'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'* इत्यादौ (तै॰ २/१), *'सत्यं परं धीमहि'* इत्यादौ (श्रीमद्भा॰ १/१/१) च। सत्येनेति (छा॰ ७/१६/१) हेतौ तृतीया। सत्येन परब्रह्मणा निमित्तेन योऽतिवदतीति भावः। प्राणस्य नामाद्याशावसानोपास्यापेक्षया उत्कर्षः अतद्विदोऽतिवादित्वम्। श्रीविष्णोस्तु तस्मादप्युत्कर्षात् तद्विदस्तन्मुन्मुख्यमिति प्राणातिवादिनः सत्यातिवादी श्रेयानिति विस्फुटम्। अतएव *'सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानि'* (छा॰ ७/१६/१) इति शिष्योऽभ्यर्थयते। गुरुरप्याह—*'सत्यन्त्वेव विजिज्ञासितव्यम्'* (छा॰ ७/१६/१) इति। न च पुनः प्रश्नोत्तराभावात् प्राणविषयमतिवादित्वं परत्रानुकर्षणीयमिति वाच्यं अनवबोधात्। तथाहि प्राणादूर्द्धमपृच्छतोऽयमाशयः, नामाद्याशावसानेष्वचेतनेषुपास्येषु पूर्वपूर्वस्मादुत्तरोत्तरं भूयस्त्वेनोपदिश्य तत्तद्विदोऽतिवादित्वं गुरुणा नोक्तं प्राणशब्दित-जीवात्मयाथात्म्यविदस्तु तदुक्तमित्यत्रैवोपदेशस्य पराकाष्ठा इति। अतः पुनः प्रश्नाभावः। गुरुस्तत्र तामनङ्गीकुर्वस्तदभ्यधिकश्रीविष्णुस्वरूपयाथात्म्यावगमे सत्येव सेति (छा॰ ७/१६/१) स्वयमेवैष त्वित्यादिभिरुपदिशति। शिष्यश्च सर्वोत्कृष्टे श्रीविष्णौ तस्मिन्नुपदिष्टे तदुपासनतदुपायतत्स्वरूपयाथात्म्यप्रतिपित्सया *'सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानि'* (छा॰ ७/१६/१) इत्यादिकमभ्यर्थयते। न चोपक्रमादिदृष्ट-आत्मशब्दः प्राणसचिवं जीवमाहेति शक्यं वदितुं तस्य परस्मिन्नेव मुख्ये व्युत्पन्नत्वात् *'आत्मतः प्राण'* (छा॰ ७/२६/१) इत्यग्रिमवाक्यविरोधाच्च। एवं सति यत्र नान्यदित्यादि (छा॰ ७/२४/१) वाक्यसङ्गतिर्दर्शितापि निरस्ता। यत्र भूमन्यनुभूयमाने सत्यनुभवितुस्तदाविष्टस्यान्य-दर्शनादिकं निषिध्यते। सौषुप्तिकं सुखं स्वल्पमिति सुषुप्तस्य प्राणिनः भूमरूपत्वं वदन्नुपहासास्पदम्। तस्मात् श्रीविष्णुरेव भूमा॥ ८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—श्रीविष्णु ही भूमा हैं, प्राण-परिचालक जीवात्माको भूमारूपमें ग्रहण नहीं किया जा सकता। कारण? सम्प्रसादात्—सम्यक् रूपसे आनन्दस्वरूप होनेके कारण जो भूमा है, वही आनन्द है। (छा॰ ७/२३/१) इस प्रकार सर्वाधिक निरवच्छिन्न आनन्दस्वरूप भूमा ही सुना जाता है, इसलिए। तद्भिन्न अध्युपदेशात्—प्राणसचिव जीवसे श्रेष्ठत्व वर्णनके कारण। श्रौतीगणों (वेदज्ञों) में प्रसिद्धि है कि सम्प्रसाद (छा॰ ८/३/४) अर्थात् भगवदनुग्रह-पात्र मुक्तजीव इस मर्त्त्यदेहसे उत्क्रमण करता है। उस सम्प्रसादस्वरूप प्राणसचिव जीवसे

आधिक्य (श्रेष्ठत्व) के कारण अथवा भूमगुण-विशिष्टताके कारण ही उन्हें भूमापुरुष कहा गया है। बात यह है कि पहले सनत्कुमारने नारदजीको नाम इत्यादि पन्द्रह पदार्थोंका उपदेश किया और बादमें कहा—जो व्यक्ति इस प्रकार प्राणपुरुषका दर्शन करता है, इस प्रकार मनन करता है और इस प्रकार विज्ञान (चिन्तन) करता है, वह अतिवादी होता है (छा॰ ७/१५/४)। इस प्रकार प्राणविद्को अतिवादी कहकर बादमें भिन्न उपक्रम करते हुए कहा—जो सत्यस्वरूप परमेश्वरके आश्रयमें सबका (पन्द्रह पदार्थोंका) अतिक्रमण करता है, वह यथार्थ अतिवादी है। *'एष तु वा अतिवदति'* (छा॰ ७/१६/१), इस श्रुतिके अन्तर्गत 'तु' शब्दका अर्थ भिन्न उपक्रम है, इसके द्वारा प्रक्रान्त अतिवादीत्वके हेतुभूत प्राणोपासनाको व्यावृत्त (अलग) करके मुख्य अतिवादीत्वके हेतुभूत विष्णु-उपासनाका निर्देश किया गया है। 'सत्य' शब्द द्वारा उपक्रममें विष्णुका पृथक् रूपसे उल्लेख करके भूमा जो प्राणसे पृथक् और श्रेष्ठ हैं, यह निर्णय हुआ। यदि प्राणको भूमा कहा गया होता, तो प्राणसे श्रेष्ठत्व रूपमें भूमाका कथन सम्भव ही न होता। नामसे आरम्भ करके प्राण पर्यन्त क्रमान्वयसे वाक् इत्यादिका उत्कर्ष वर्णन करनेमें जिस प्रकार वाक् इत्यादिको पूर्व-पूर्वसे पृथक् पदार्थ रूपमें अवगत किया जाता है, उसी प्रकार प्राणसे भी उत्कृष्ट रूपमें उपदिष्ट भूमा प्राणसे भिन्न है, यह निश्चित होता है। *'यः सत्येनाभिवदति'*—इस श्रुतिके अन्तर्गत 'सत्य' शब्द परब्रह्म श्रीविष्णुपरक है, यह प्रसिद्ध है। यथा *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* (तै॰ २/१), ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अविनश्वर हैं। इस प्रकार श्रुतिमें ब्रह्मको सत्य कहा गया, इसी प्रकार श्रीमद्भागवतके भी प्रथम श्लोक *'सत्यं परं धीमहि'* इस वाक्यमें परमेश्वरका सत्यके रूपमें वर्णन किया गया है। 'सत्येन' इस पदमें तृतीया हेतु अर्थमें है (छा॰ ७/१६/१)। अर्थात् हेतुभूत सत्य परब्रह्मके लिए जो अतिवाद करते हैं, वे ही यथार्थ अतिवादी हैं। यही इस श्रुतिका अभिप्राय है।

नामसे आरम्भ करके आशा पर्यन्त उपास्यकी अपेक्षा प्राणका उत्कर्ष प्राणोपासकके अतिवादीत्वका हेतु है, किन्तु श्रीहरिका उस प्राणोपासकसे भी उत्कर्षवश अपने उपासकका मुख्य अतिवादीत्व है,

इस कारण प्राणातिवादीसे सत्यवादी श्रेष्ठ है, यह स्पष्ट प्रतीयमान होता है। इसलिए शिष्य गुरुसे प्रार्थना करता है कि "भगवन्! मैं किस प्रकार सत्यके आश्रयमें अतिवादी होऊँगा?" (छा॰ ७/१६/१) गुरु उत्तर देते हैं—"वत्स! सत्यकी उपासना करनी होगी।"

यहाँ आपत्ति यह है कि पुनः जिस कारणसे गुरु-शिष्यका आगे प्रश्न-उत्तर नहीं है, इसीसे प्राणको सर्वातिशायी कहा गया है। इसके बाद अनुवृत्ति (पूर्व पदोंका अनुकर्षण) करना उचित है, यह नहीं कहा जा सकता, कारण उसके मर्मकी अज्ञताके कारण ही तुम ऐसा कह रहे हो। आशय यह है कि शिष्यने 'प्राणके ऊपर क्या है?' यह जिज्ञासा नहीं की। इसका अभिप्राय यह है कि नाम इत्यादिसे आरम्भ करके दिक् पर्यन्त अचेतन उपास्य समुदायके मध्य पूर्व-पूर्वसे उत्तरोत्तरका प्रचुर (प्राधान्य) रूपसे उपदेश करनेके बाद गुरुने उन-उन विषयोंके अभिज्ञ (वेत्ता) को अतिवादी नहीं कहा, किन्तु प्राण शब्द वाच्य जीवात्माके स्वरूपको जाननेवाले ज्ञानीको अतिवादी कहा है। इस स्थानपर उपदेशकी चरम सीमा है, अतएव पुनः प्रश्नका अवकाश नहीं है। गुरु उसे पराकाष्ठा न मानकर उससे और भी श्रेष्ठ श्रीविष्णुस्वरूपके यथायथ तत्त्वज्ञान होनेको पराकाष्ठा रूपमें अङ्गीकार करते हैं। इस बातका प्रश्नके बिना स्वयं ही *'एष तु'* इत्यादि वाक्य द्वारा उपदेश दिया गया है (छा॰ ७/१६/१)। शिष्य भी श्रीहरिके सर्वोत्कृष्ट उपदेशके बाद उनकी उपासनाके प्रकार, उपासनाके उपाय और उनके यथायथ स्वरूप जाननेके लिए जिज्ञासा करता है—*'सोऽहं भगवः'* (छा॰ ७/१६/१)—हे गुरुदेव! मैं तो सत्यस्वरूप विषयक ज्ञानके लिए अभ्यर्थना करता हूँ।

उपक्रम और उपसंहारमें प्रयुक्त 'आत्मन्' शब्द प्राणसचिव प्राणके साथी) जीवात्माकी ही उपासनाका निर्देश करता है—इस प्रकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह आत्मन् शब्द परमात्मामें ही मुख्यवृत्ति रूपमें वर्त्तमान है और बादमें कहे जानेवाले (परवर्ती) वाक्य *'आत्मनः प्राणः'* (छा॰ ७/२६/१)—'आत्माका प्राण'—आत्मासे प्राण उत्पन्न होता है, इत्यादि रूपमें आत्माको सबका कारण कहा गया है। यह जीवके लिए नहीं कहा जा सकता। यह तो असङ्गति है ही, पुनः 'आत्मन्'

शब्दका अर्थ परमेश्वर है। यह यदि सिद्धान्त होता है तो *'यत्र नान्यत् पश्यति'*—'जहाँ कुछ और नहीं दीखता' (छा० ७/२६/१) इत्यादि वाक्यकी प्राणसचिव जीवात्मामें जो योजना दिखायी है, वह भी खण्डित हो गयी। इस वाक्यका तात्पर्य है कि भूमाको साक्षात् रूपसे अनुभव करनेवाला प्रत्यक्षकारी उस भावमें ऐसा विभोर हो जाता है कि उसे कुछ और दिखता नहीं है, इस प्रकारसे तदाविष्ट-चित्तका अन्य दर्शन प्रतिषिद्ध किया गया है। और जो सुषुप्तिकालमें जीवात्माकी सुखानुभूति दिखाकर 'भूमन्' शब्दका अर्थ जीवात्मा कहा गया, वह भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि तत्कालीन सुख अल्प है, तब सुषुप्त जीवको भूमा कहना उपहासास्पद होता है। इसलिए श्रीविष्णु ही भूमा सिद्ध होते हैं॥ ८॥

सूक्ष्मा-टीका—भूमेति। संप्रसाद इति। श्रीभगवदनुग्रहपात्रत्वादत्र मुक्तो जीवः संप्रसाद इत्युच्यते। एष त्विति। यः सत्येन परमात्मना प्राणपर्यन्तान् पञ्चदश अतीत्य वदति सत्यशब्दितः श्रीहरिः सर्वश्रेष्ठ इति वदति स एषोऽतिवदतीत्यर्थः। स्वोपास्यपारम्यवादित्वमतिवादित्वम्। ननु मुक्तजीवस्य प्राणसचिवोक्तिरिह कथमिति चेन्मैवं तस्याप्यष्टमावरणभेदपर्यन्तं प्राणसाहित्यात्। तस्मादूर्द्ध्वमिति प्राणादूर्द्ध्वं भूमोपदेशो न युक्त इत्यर्थः। प्राणस्येति। अतद्विदः प्राणोपासकस्य। श्रीविष्णोस्त्विति। तस्मात। प्राणादपि। तद्विदः श्रीविष्णुपासकस्य। तदतिवादित्वम्। मुख्यमतिशयि परत्रभूमवाक्ये। तथाहीति। अपृच्छतः श्रीनारदस्य। नामेति। नामाद्याशावसानेषु चतुर्द्दशष्वित्यर्थः। तत्तद्विदो नामादिचतुर्द्दशोपासकस्य। तदुक्तमिति। तदतिवादित्वम्। अत्रैव जीवे। तत्रेति। तत्र जीवे। तां पराकाष्ठाम्। सा पराकाष्ठा। प्रतिपित्सयेति लिप्सयेत्यर्थः। अग्रिमवाक्येति। तत्र हि तस्य आत्मनश्चैतत्सर्वकारणत्वमुच्यते न चैतत् प्राणसचिवे जीवे शक्यं वक्तुम्। तदाविष्टस्येति। तदनुरक्तस्येत्यर्थः। एवं स्मर्यते। *'आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त इव पुष्पफलाढ्या'* इत्यादिना॥ ८॥

सूक्ष्मा-सार—'भूमेति' सूत्रस्थ सम्प्रसाद शब्दका अर्थ यहाँ मुक्त जीव है, क्योंकि वह भगवान्का प्रसाद—अनुग्रह प्राप्त है। *'एष तु वा अतिवदति'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—जो सत्यस्वरूप परमात्माके ध्यानके कारण नामादि प्राण पर्यन्त पन्द्रह पदार्थोंको अति अर्थात् अतिक्रम करके (छोड़कर), वदति—सत्य शब्दसे अभिहित श्रीहरि ही सर्वश्रेष्ठ हैं, यह कहता है, वह पुरुष अतिवादी (उत्कर्षवादी) है।

अतिवादीत्वका अर्थ है स्वयंके उपास्य देवताका परमत्व अर्थात् श्रेष्ठत्व अथवा उत्कर्षवादीत्वका वर्णन। अब आपत्ति यह है कि मुक्त जीवको यहाँ प्राण-सचिव क्यों कहा गया है? ऐसा तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उस जीवकी भी अष्टम आवरण-भेद तक प्राण-सचिवता है, उसके बाद नहीं। यहाँ उसका अतिवादीत्व कहना किस प्रकारसे सङ्गत है? जिस हेतुसे मुख्य सर्वातिशायी विष्णुका उत्कर्षवादी है, इसलिए अतिवादी है। *'न च पुनः'* इत्यादि दूसरी ओर अर्थात् भूमबोधक वाक्य हैं। अप्रश्नकारी श्रीनारदके समीपमें नामसे आशा पर्यन्त चौदह अचेतन उपास्योंका उत्तरोत्तर श्रेयस्व बतलाया। नामादि चौदह उपासकोंका अतिवादीत्व गुरुने नहीं कहा। प्राण शब्दवाच्य जीवात्माके स्वरूपविद व्यक्तिका अतिवादीत्व कहा है। इस जीवात्मामें अतिवादीत्वकी चरम सीमा है। 'प्रतिपिप्सया' का अर्थ है—इस चरम सीमा (पराकाष्ठा) को प्राप्त करनेकी इच्छासे। परवर्त्ती वाक्यमें आत्माको इस प्रपञ्चका कारण बताया गया है। अतः यह उक्ति प्राण-सहचर जीवात्माके पक्षमें नहीं कही जा सकती। भूमापुरुषके अनुभव होनेपर तदाविष्ट-चित्त व्यक्तिके लिए जो कहा गया है, वह स्मृतिशास्त्र श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—*'आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३५/९) अर्थात् वनके वृक्ष और लताएँ फल एवं फूलोंसे सुशोभित होकर अपने भीतर विष्णुकी अभिव्यक्तिको सूचित करती हुई प्रेमसे फूल उठती हैं॥ ८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रकी अवतरणिकामें श्रीलबलदेव विद्याभूषण प्रभुने अपने भाष्यमें छान्दोग्योपनिषदमें वर्णित नारद और सनत्कुमारके प्रसङ्गको उठाया है। उपनिषदमें यह आख्यायिका सातवें अध्यायके प्रथम खण्डसे आरम्भ करके छब्बीसवें खण्डमें समाप्त हुई है। इसे वहीं पढ़ा जाना चाहिये। यहाँ उसका कुछ सारांश बताया जा रहा है—किसी एक समय देवर्षि श्रीनारद श्रीसनत्कुमारके समीप पहुँचे और कुछ उपदेश देनेकी प्रार्थना की। श्रीसनत्कुमारको जब यह पता चला कि श्रीनारद चतुर्वेद, इतिहास, पुराण, तर्क, गणित, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्वदेवजनविद्या इत्यादि

सब विद्याएँ जानते हैं, अर्थात् मन्त्रविद होकर भी वे अनात्मविदका अभिनय कर रहे हैं। तब साधारण जीव जिसे जानकर आत्मविद होकर शोकसे अतीत हो सकता है, इस समय नारदजी उनसे उसी आत्मविद्याको जाननेकी प्रार्थना कर रहे हैं। तब श्रीसनत्कुमारने कहा कि नारद जो भी विद्याएँ जानते हैं, वे सब 'नाम' के ही अन्तर्गत हैं। श्रीनारदके प्रश्न-क्रमानुसार श्रीसनत्कुमारने नामसे लेकर प्राण तक पन्द्रह पदार्थोंको उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बताया। प्राणको सर्वव्यापी जाननेपर मनुष्य अतिवादी होता है, पर सत्यस्वरूप जान लेनेपर वह वास्तविक अतिवादी हो जाता है। विज्ञान ही सत्यका स्वरूप है, मननके बिना विज्ञान प्राप्त नहीं होता। पुनः श्रद्धाके बिना मनन नहीं होता। निष्ठाके बिना श्रद्धा नहीं होती और कर्मके बिना निष्ठा नहीं होती। जब मनुष्यको सुख मिलता है, तभी वह कर्म करता है। जो भूमा है, वही सुखस्वरूप है। श्रीसनत्कुमारने आगे कहा—जिनसे अन्य कुछ और नहीं दीखता, कुछ और नहीं सुना जाता तथा कुछ और नहीं जाना जाता, वह भूमा है, किन्तु जिसमें कुछ और दीखता है, कुछ और सुना जाता है एवं कुछ और जाना जाता है, वह अल्प है। जो भूमा है, वही अमृत है और जो अल्प है, वही मरणशील है। वे भूमापुरुष अपनी महिमामें प्रतिष्ठित हैं, वे आत्मक्रीड़, आत्ममिथुन और आत्मानन्द हैं, वे स्वराट् पुरुषोत्तम हैं।

प्रस्तुत सूत्रमें इसी बातपर विचार हो रहा है कि वे भूमा क्या प्राण हैं अथवा परमात्मा। पूर्वपक्षवादीने भूमाको प्राण अथवा जीव कहकर निर्देश किया है, उसीके निराकरणके लिए सूत्रकारने प्रस्तुत सूत्रमें कहा है कि भूमा श्रीविष्णु ही हैं, प्राणसचिव जीव भूमा नहीं हो सकता। सम्प्रसाद शब्दका अर्थ है सुखस्वरूप अर्थात् सबकी अपेक्षा सर्वश्रेष्ठ। सुखस्वरूपरूपमें भूमा ही लक्षणीय (उद्दिष्ट) हैं। दूसरी बात है कि भूमाको सर्वोपरि बताया गया है, अतः भूमाको प्राण नहीं कहा जा सकता। भूमा अमृतस्वरूप है, जिसे जान लेनेपर संसारसे उत्तीर्ण हुआ जा सकता है, तो उसे जीव कैसे कहा जा सकता है?

इस प्रसङ्गमें विस्तृत विवेचना भाष्य और टीकामें देखनी चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है एक समय द्वारकामें एक ब्राह्मणपत्नीका पुत्र भूमिष्ठ होते ही मृत्युके मुखमें गिर पड़ा। ब्राह्मण उस मृत शिशुको लेकर राजद्वारपर पहुँचा और कहा कि राजाके ही कुकर्मसे उसके पुत्रकी मृत्यु हुई है। दूसरे एवं तीसरे पुत्रके मरनेपर भी वह राजद्वारपर गया और इसी प्रकार निन्दा करने लगा। नवम पुत्रकी मृत्युके अवसरपर जब वह पहुँचा, उस समय अर्जुनके समीप श्रीकृष्ण भी उपस्थित थे। अर्जुनने ब्राह्मणकी सन्तानकी रक्षाके विषयमें स्वयं प्रतिज्ञा की और कहा कि यदि वे प्रतिज्ञा पूरी करनेमें असमर्थ रहेंगे, तब अग्निमें प्रवेश कर जायेंगे। अर्जुनके द्वारा अनेक चेष्टा करनेपर भी ब्राह्मण-पत्नीका अन्तिम पुत्र जीवित नहीं बच सका। अर्जुनने उसे विभिन्न स्थानोंपर ढूँढ़ा, पर ब्राह्मणके पुत्रको न ला सके। वे जैसे ही अग्निमें प्रवेश करनेके लिए उद्यत हुए, तब श्रीकृष्णने उन्हें रोक दिया और दिव्य रथपर उन्हें बैठाकर चल दिये। उन्होंने महाकालपुरीमें सहस्र फणोंसे युक्त अनन्तदेवके शरीरपर अवस्थित भूमा पुरुषको देखा। वे भूमा पुरुष श्रीकृष्ण एवं अर्जुनके दर्शनकी इच्छासे ब्राह्मण-कुमारको वहाँ ले आये थे। तब श्रीकृष्ण और अर्जुन वहाँसे ब्राह्मण-कुमारको ले आये और ब्राह्मणको प्रदान कर दिया। इस विषयमें निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं—

तस्मिन् महाभोगमनन्तमद्भुतं,
सहस्रमूर्द्धन्यफणामणिद्युभिः ।
विभ्राजमानं द्विगुणक्षणोल्वणां,
सिताचलाभं शितिकण्ठजिह्वम्॥

ददर्श तद्भोगसुखासनं विभुं,
महानुभावं पुरुषोत्तमोत्तमम्।
सान्द्राम्बुदाभं सुपिशङ्गवाससं,
प्रसन्नवक्त्रं रुचिरायतेक्षणम्॥

महामणिव्रातकिरीटकुण्डल-
प्रभापरिक्षिप्तसहस्रकुन्तलम् ।

प्रलम्बचार्व्वष्टभुजं सकौस्तुभं,
श्रीवत्सलक्ष्मं वनमालयावृतम्॥

सुनन्द-नन्दप्रमुखैः स्वपार्षदै-
श्चक्रादिभिर्मूर्त्तिधरैर्निजायुधैः ।
पुष्ट्या श्रिया कीर्त्त्यजयाखिलर्द्धिभि-
र्निषेव्यमाणं परमेष्ठिनां पतिम्॥

ववन्द आत्मानमनन्तमच्युतो,
जिष्णुश्च तद्दर्शनजातसाध्वसः।
तावाह भूमा परमेष्ठिनां प्रभु-
र्बद्धाञ्जली सस्मितमूर्ज्जया गिरा॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८९/५३-५७)

अर्थात् उस महलमें अनन्तदेव विराजमान थे। वे बड़े ही अद्भुत दिखायी दे रहे थे। उनका शरीर स्फटिक गिरिके समान श्वेत, विशाल और चमकदार था। उनके सहस्र सिर थे और प्रत्येक फणपर मणियाँ चमचमा रही थीं । प्रत्येक सिरमें दो नेत्र होनेके कारण वे दो सहस्र नयनोंसे युक्त थे। वे नेत्र बड़े भयानक थे। उनका कण्ठ तथा जीभ नीले वर्णकी थी। परीक्षित्! अर्जुनने देखा कि अनन्तदेवकी सुखमयी शय्यापर महाप्रभावशाली, लोकपालोंके अधीश्वर पुरुषोत्तम भगवान् विराजमान हैं। उनके श्रीविग्रहकी कान्ति वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल है, उन्होंने पीले सुरम्य परिधानको धारण कर रखा है, उनके नेत्र बड़े ही सुन्दर एवं विशाल हैं, मुखमण्डलपर मुसकान बड़ी मनोहर है, अलकावलियाँ इधर-उधर झूम रही हैं, महामणियोंसे जड़ित मुकुट एवं कुण्डलोंकी कान्तिसे सर्वत्र प्रकाश हो रहा था, लम्बी-लम्बी सुन्दर आठ भुजाएँ हैं, गलेमें कौस्तुभमणि, वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न और घुटनों तक वनमाला लटक रही है। सुनन्द-नन्दादि उनके निजी पार्षद, मूर्त्तिमान चक्रादि आयुध, पुष्टि, श्री, कीर्त्ति और अजा—ये चारों शक्तियाँ, अणिमादि समस्त विभूतियाँ उनकी आराधना कर रही हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही स्वरूप भगवान् अनन्तदेवको (मनुष्यलीलाका अनुकरणकर) प्रणाम किया।

अर्जुन जो उन्हें देखकर हड़बड़ा रहे थे, उन्होंने भी उन अनन्तदेवको प्रणाम किया और हाथ जोड़कर खड़े रहे। लोकपालोंके अधिपति वे विराट् भूमापुरुष मुसकराये एवं मधुर तथा गम्भीर वाणीमें कहने लगे।

श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरकी टीका भी द्रष्टव्य है—*आत्मानं ववन्द इति गोवर्द्धनपूजायां 'तस्मै नमो व्रजजनैः सह चक्रेऽत्मनात्मने' इतिवल्लीलाकौतुकमात्रार्थमेव अनन्तमित्यात्मनोऽसंख्यास्वरूपेनान्ततत्वात् सोऽप्यष्टभुज एक आत्मेत्यर्थः।*

अर्थात् श्रीकृष्णने स्वयं अपनी वन्दना की। गोवर्धनपूजामें श्रीगोवर्धननाथको व्रजवासियोंके साथ श्रीकृष्णने स्वयंको स्वयंके द्वारा प्रणाम किया था। लीलाकौतुक मात्रके लिए भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही स्वरूप श्रीअनन्तकी वन्दना की। भगवान्के असंख्य स्वरूप हैं। अनन्त होनेके कारण वे भी अष्टभुज, एक आत्मा हैं।

इसी प्रकार *'तावाह भूमा परमेष्ठिनां प्रभु'* (१०/८९/३७) भूमा शब्दवाच्य परमात्मा हैं॥ ८॥

सूत्र—धर्मोपपत्तेश्च॥ ९॥

सूत्रार्थ—'धर्मोपपत्तेः'—श्रुतिमें भूमाके जो विशेष धर्म बताये गये हैं, वे परब्रह्म श्रीविष्णुके सम्बन्धमें ही सम्भव हैं, जीवमें नहीं, 'च'—इस कारण भी जीवको भूमा नहीं कहा जा सकता॥ ९॥

सूत्रानुवाद—इन भूमामें जिन धर्मोंका श्रवण है, वे परमात्मामें ही सम्भव होते हैं॥ ९॥

गोविन्दभाष्य—अस्मिन् भूम्नि ये धर्माः पठ्यन्ते ते परब्रह्मणि श्रीविष्णावेवोपपद्यन्ते नान्यत्र। *'यो वै भूमा तदमृतम्'* (छा॰ ७/२४/१) इति स्वाभाविकममृतत्वम्। *'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि'* (छा॰ ७/२४/१) इत्यनन्याधारत्वम्। स एवाधस्तादित्यादिना (छा॰ ७/२५/१) सर्वाश्रयत्वम्। आत्मनः प्राण (छा॰ ७/२५/१) इत्यादिना सर्वकारणत्वञ्चेत्यादयः॥ ९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—श्रुतिमें भूमाके जिन समस्त धर्मोंका वर्णन है, परब्रह्म श्रीविष्णुमें ही सङ्गत हैं, अन्यत्र नहीं। यथा—*'जो वै भूमा तदमृतम्'* (छा॰ ७/२४/१)—'जो भूमा है, वही अमृत है।' इस श्रुतिमें

भूमापुरुषका जो अमृतत्व कहा गया, वह उनका स्वभाव सिद्ध है, साधनाके द्वारा प्राप्त नहीं। *'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि'* (छा॰ ७/२४/१), वे भूमा कहाँ प्रतिष्ठित हैं, उनका आधार क्या है? नारदजीके इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीसनत्कुमारकी उक्ति है—वे अपनी महिमामें प्रतिष्ठित हैं। अतः यह बोध होता है कि उनका कोई आधार नहीं है। *'स एवाधस्तात्स'* इत्यादि (छा॰ ७/२५/१) 'वे ही नीचे हैं, वे ही ऊपर हैं', इत्यादि। श्रुति भूमापुरुषके सर्वाश्रयत्वका भी प्रतिपादन करती है। *'आत्मनः प्राणः'* (छा॰ ७/२५/१), 'वे ही आत्माके प्राण हैं' इत्यादि वाक्य भी उनका ही सर्वकारणत्व कह रहे हैं। अतएव भूमाके ये सब धर्म श्रीविष्णुमें ही सम्भव हैं, अन्यत्र नहीं॥ ९॥

सूक्ष्मा–टीका—नान्यत्रेति। अन्यत्र प्राणिनि जीवे॥ ९॥

सूक्ष्मा–सार—टीकामें कथित नान्यत्रसे तात्पर्य है—वे धर्म प्राणधारी जीवमें सम्भव नहीं है॥ ९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—छान्दोग्योपनिषदके सप्तम अध्यायके तेइसवें अध्यायके छब्बीसवें खण्ड तक भूमापुरुषके सम्बन्धमें वर्णन किया गया है। इन खण्डोंमें भूमापुरुषके जिन धर्मोंका उल्लेख है, उनकी सम्भावना एक मात्र विष्णुमें ही है, प्राणधारी जीवमें नहीं।

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजीने कहा है—

नमो नमस्तेऽस्त्वृभाय सात्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः॥

(श्रीमद्भा॰ २/४/१४)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णको पुनः-पुनः नमस्कार है। वे श्रीराम-श्रीकृष्णादि अवतारोंके रूपमें अपने भक्तोंके दुःखोंको मिटाते हैं। जो भक्ति नहीं करते, ऐसे राक्षसों और असुरोंका वध करके उनका भी संसार-दुःख विनाशकर उन्हें पुनर्जन्मसे मुक्ति दिलाते हैं। वे अप्राकृत

शुद्धसत्त्व वस्तु हैं, शुद्धसत्त्व ही उनका श्रीतनु है। परमहंस आश्रममें स्थित भक्ति-मिश्रित ज्ञानियोंको ब्रह्मानन्द और अपने शुद्धभक्तोंके लिए तो वे परम प्रेमानन्दका दान करते हैं।

स एष आत्मात्मवतामधीश्वर-
स्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः।
गतव्यलीकैरज-शङ्करादिभि-
र्वितर्क्यलिङ्गो भगवान् प्रसीदताम्॥

(श्रीमद्भा॰ २/४/१९)

अर्थात् वे भगवान् ही सबके अधीश्वरके रूपमें प्रसिद्ध हैं। वे कर्मकाण्डियोंके लिए वेदत्रयीरूप देवमय हैं, धार्मिकोंके लिए धर्ममय एवं तपस्वियोंके लिए तपोमय हैं, वे ही आत्म-निष्ठ-धीर ज्ञानी एवं योगी पुरुषोंके लिए आत्मतत्त्वरूपमें उपास्य हैं। कैतवयुक्त (मुक्तिकी कामनावाले कपट-धर्मयुक्त) ज्ञानी एवं योगी पुरुषोंकी बात तो दूर रहे, शुद्ध हृदयवाले निष्कपट ब्रह्मा और शङ्कर आदि भी जिनके स्वरूपका चिन्तन करते रहते हैं, पर उनके निश्चित स्वरूपको जान नहीं पाते और आश्चर्यचकित होकर देखते रहते हैं, वे भगवान् परमेश्वर मुझपर प्रसन्न हों।

श्रीमद्भागवतमें ही देवतागण कहते हैं—

नमाम ते देव पदारविन्दं
प्रपन्नतापोपशमातपत्रम् ।
यत्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरु
संसारदुःखं बहिरुत्क्षिपन्ति॥

(श्रीमद्भा॰ ३/५/३९)

देवताओंने कहा—हे परमदेव! शरणापन्न व्यक्तियोंके ताप-निवारक छत्रस्वरूप आपके चरणकमलोंमें हम प्रणत हैं। इन चरणकमलोंके आश्रय लेनेवाले यतिजन संसार-दुःखको दूरसे ही फेंक देते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी द्रष्टव्य है—

परम ईश्वर कृष्ण स्वयं भगवान्।
ताते बड़ ताँर सम, केहो नाहि आन॥

ब्रह्मा विष्णु हर एइ सृष्ट्यादि ईश्वर।
तिने आज्ञाकारी कृष्णेर, कृष्ण अधीश्वर॥

(चै॰च॰म॰ २१/३४,३६)

अर्थात् श्रीकृष्ण परम ईश्वर एवं स्वयं-भगवान् हैं, उनसे बड़ा तथा उनके समान भी कोई नहीं है।

श्रीब्रह्मा, श्रीविष्णु और श्रीमहादेव—ये तीनों सृष्टिके ईश्वर हैं, किन्तु ये तीनों श्रीकृष्णके आज्ञाकारी हैं। श्रीकृष्ण सबके अधीश्वर हैं।

भागवतमें ही—

नैवेशितुं प्रभुर्भूम्न ईश्वरो धाममानिनाम्।

(श्रीमद्भा॰ ३/११/३९)

अर्थात् जो स्वयंको सत्यलोकादिका अधिकारी समझकर अभिमान करते हैं, उनपर भी काल अपने प्रभावका विस्तार कर सकता है, किन्तु भूमास्वरूप परमेश्वरपर उसका कोई वश नहीं है॥ ९॥

३-अक्षराधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—बृहदारण्यके पठ्यते—(३/८/७-८) *'कस्मिन् नु खलु आकाश ओतश्च प्रोतश्चेति। स होवाच। एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायम्'* इत्यादि। तत्र संशयः। किमक्षरं प्रधानं किं वा जीव उत ब्रह्मेति। तत्र त्रिष्वप्यक्षरशब्दप्रयोगादनिर्णयः स्यादिति प्राप्तौ—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—बृहदारण्यकोपनिषदमें ऐसा पाठ आता है कि *'कस्मिन् न खलु आकाश ओतश्च प्रोतश्चेति'* (३/८/७) इत्यादि। गार्गीने याज्ञवल्क्यसे पूछा—महर्षे! आकाश किसमें ओत-प्रोत रूपसे स्थित है? याज्ञवल्क्यने उत्तरमें कहा—*'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ... .अच्छायमित्यादि।'* 'गार्गी! ये जो अक्षर ब्रह्म हैं, जो सर्वदा ही एक आनन्द भावसे स्थित हैं, इनमें आकाश ओत-प्रोत है। ब्रह्मविद्गण उनका ही अतिवाद (सर्वोत्कर्ष रूपसे स्थापन) करते हैं। वे घट-पटादिके समान स्थूल भी नहीं हैं, परमाणुके समान अति सूक्ष्म भी नहीं हैं, उनका ह्रस्व परिमाण भी नहीं है, दीर्घाकार भी नहीं हैं, लोहित वर्ण नहीं हैं, वे स्नेहमय नहीं हैं। कान्तिमान् नहीं

हैं इत्यादि। यहाँ संशय यह है कि इस अक्षर शब्दसे अभिप्रेत कौन है—प्रकृति अथवा जीव। या फिर ब्रह्म? पूर्वपक्षी कहते हैं कि इसमें कुछ भी निश्चय नहीं होता है, क्योंकि उक्त धर्म प्रकृति, जीव और ब्रह्म तीनोंमें ही प्रयुक्त है। इसके समाधानके लिए सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्र भूम्नो ब्रह्मत्वे यथा सत्यशब्दो निर्णेता तथा अक्षरस्य तत्त्वे निर्णेता शब्दो नास्तीति प्रत्युदाहरणसङ्गत्याह बृहदारण्यक इति। प्रधानादेरुपास्तिः पूर्वपक्षे फलं सिद्धान्ते तु श्रीहरेरेवेति बोध्यम्। कस्मिन्निति। अस्यार्थः। यदूर्द्ध्वं दिवो यदधस्तात् पृथिव्या ये च उभे द्यावापृथिव्यौ यदन्तरीक्षं यद्भुविष्यच्चैतत् सर्वं कस्मिन्नोतं प्रोतञ्चेति गार्ग्या पृष्टे याज्ञ्यवल्क्येन आकाशे तत् सर्वमोतं प्रोतञ्चेति प्रत्युत्तरिते गार्गी पुनरपृच्छत् कस्मिन्निति। आकाश ओतप्रोतत्वेन कुत्रास्तीत्यर्थः—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले तो भूमामें ब्रह्मस्वरूपका निश्चय करानेवाला सत्य शब्द था, किन्तु अक्षर शब्दमें ब्रह्मका निश्चय हो, इसके लिए तो कोई प्रमाण नहीं है, इस प्रतिपक्षको उत्थापन (प्रत्युदाहरण) रूप सङ्गतिके द्वारा कहते हैं कि बृहदारण्यकोपनिषदमें ऐसा पढ़ा जाता है। पूर्वपक्षमें प्रकृति इत्यादिकी उपासना—फल है और सिद्धान्तपक्षमें श्रीहरिकी उपासनाको फल जानना चाहिये। *'कस्मिन्नु खलु'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—यह जो द्युलोकका ऊपरी भाग है, पृथ्वीका अधोभाग है, द्यावा (द्युलोक) और पृथ्वीके बीच जो अन्तराल अन्तरिक्ष है, जो अतीत है, जो भविष्य है, वे सब किसमें ओत-प्रोत हैं? गार्गीके यह सब पूछने पर महर्षि याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—ये सब आकाशमें ही ओत-प्रोत हैं। गार्गीने इसके बाद पुनः प्रश्न किया—यह आकाश किसमें ओत-प्रोत है?

सूत्र—अक्षरमम्बरान्तधृतेः॥ १०॥

सुत्रार्थ—'अक्षरम्'—अक्षर शब्दका अर्थ है—ब्रह्म। किस कारणसे? 'अम्बरान्तधृतेः' क्योंकि उसे आकाश पर्यन्त समस्त वस्तुओंको धारण करनेवाला कहा गया है॥ १०॥

सूत्रानुवाद—अक्षर पदवाच्य परब्रह्म परमात्मा ही हैं, क्योंकि वे आकाश पर्यन्त समस्त वस्तुओंके आधार हैं॥ १०॥

गोविन्दभाष्य—अक्षरं ब्रह्मैव। कुतः? अन्वरेति। *'एतस्मिन् खलु अक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च'* (बृ॰आ॰ ३/८/११) इत्याकाशपर्यन्तस्य सर्वस्य धारणात्॥ १०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अक्षर शब्दवाच्य ब्रह्म ही हैं, प्रकृति अथवा जीव नहीं। कारण क्या है? श्रुति कहती है—इन अक्षर ब्रह्म में ही आकाश ओत-प्रोत रहता है। जब देखा जाता है कि आकाशमें ही समस्त ओत-प्रोत रूपसे वर्त्तमान है और वह आकाश भी परमेश्वर श्रीहरिमें ओत-प्रोत है, तब समस्त जगत्‌का आधार ब्रह्मके अतिरिक्त और कौन हो सकता है?॥ १०॥

सूक्ष्मा-टीका—अक्षरमिति। अक्षरं सदैकरसं ब्रह्मैव नान्यदिति॥ १०॥

सूक्ष्मा-सार—जो सर्वदा एकरस हैं, वे ब्रह्म ही अक्षर पदवाच्य हैं, अन्य कुछ नहीं है॥ १०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—जब गार्गीने पूछा कि यह आकाश किसका आश्रय करके अवस्थित है? गार्गीके इस द्वितीय प्रश्नके उत्तरमें महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा कि आकाश अक्षरमें प्रतिष्ठित है। ये अक्षरपुरुष सबका नियमन करते हैं, वे अतीन्द्रिय हैं। जो इन अक्षरपुरुषको जान लेता है, वह 'ब्राह्मण' है, और इन्हें बिना जाने ही जो इस संसारसे चला जाता है, उसे 'कृपण' कहा जाता है।

बृहदारण्यक (३/८/८) में इन अक्षरतत्त्वका परिचय अस्थूल, अनणु इत्यादि रूपमें दिया है।

पूर्वपक्षी यदि कहें कि अति सूक्ष्म गुणके द्वारा जिसे जाना जाता है, वह प्रकृति है, अथवा जीव है, अथवा ब्रह्म हैं। इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—वह अक्षर वस्तु ब्रह्म है। कारण वे सर्वाधार एवं सर्वाश्रयी हैं। प्रकृति अथवा जीव सर्वाश्रयी नहीं हो सकते, ब्रह्म ही जीव, प्रकृति और समस्त

तत्त्वोंके आश्रय हैं। भूमा शब्दसे जिस प्रकार एकमात्र परब्रह्मको जाना जाता है, उसी प्रकार अक्षरतत्त्व भी ब्रह्म हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः,
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः,
पूर्णोद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१४/२३)

अर्थात् आप एकमात्र सत्य हैं, क्योंकि आप परमात्मा हैं और इस परिदृश्यमान जगत्से भिन्न हैं। आप जगत्-जन्मादिके मूल कारण, पुराणपुरुष और सनातन हैं। आप पूर्ण नित्यानन्दमय, अक्षर, अमृतस्वरूप और उपाधिसे विनिर्मुक्त, निरञ्जन अर्थात् मायिक गुणोंसे शून्य, विशुद्ध, अनन्त, अपरिच्छिन्न और अद्वितीय तत्त्व हैं। श्रीमद्भगवद्गीता (८/३) में भी कहा गया है—*अक्षरं परमं ब्रह्म*—अर्थात् नित्य, विनाशसे रहित, परमतत्त्व ही ब्रह्म है। इस श्लोकको टीकामें श्रील चक्रवर्त्तिपादकी अभिव्यक्ति बड़ी मार्मिक है—जिसका क्षय नहीं हैं अर्थात् जो अक्षर है तथा जो नित्य परम है वह ब्रह्म है। हे गार्गी! ब्राह्मणगण इसे अक्षर कहते हैं। (बृ॰आ॰ ३/८/८)

श्रीब्रह्मसंहितामें—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि,
कोटिष्वशेषवसुधादि विभूतिभिन्नम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि।

(ब्रह्मसंहिता ४०)

श्रीब्रह्माजीने श्रीगोविन्दकी स्तुति करते हुए कहा—कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंमें, पृथ्वी आदि समस्त विभूतियोंसे भिन्न अखण्ड अन्नत एवं निखिलस्वरूप जो ब्रह्म हैं, वह ब्रह्म भी अनेक अवतार लेनेवाले परमप्रभावशाली जिन गोविन्दकी प्रभारूपमें कहे जाते हैं, मैं उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका भजन करता हूँ।

पद्यावली (१२६) में श्रीरघुपति उपाध्यायके वचनको उद्धृत किया गया है—*अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म।* अर्थात् मैं तो उन श्रीनन्दरायजीकी वन्दना करता हूँ कि जिनके आङ्गनमें परब्रह्म बालक बनकर खेल रहे हैं।

श्रीमद्भागवत (१०/१४/३२) में ब्रह्माजीकी स्तुतिमें भी प्रतिपादित है—*यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्।* अर्थात् परमानन्दस्वरूप, सनातन एवं पूर्णब्रह्म श्रीकृष्ण जिनके मित्र हैं॥ १०॥

अवतरणिका भाष्य—ननु सा प्रधानेऽपि स्यात् सर्वविकारकारणत्वात्। जीवे च भोग्यभूतसर्वाचिद्वस्त्वाश्रयत्वादिति चेत्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—यहाँ आपत्ति यह है कि प्रकृति द्वारा इस आकाश तकको धारण करना सम्भव है, क्योंकि वह समस्त विकार वस्तुका कारण है। अतएव प्रकृतिको ही अक्षर कहा जाना चाहिये और जीवात्माको भी अक्षर कहा जा सकता है, क्योंकि जीवात्मा भोग्यस्वरूप समस्त जड़-पदार्थोंका आश्रय है। इस संशयपर सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र—सा च प्रशासनात्॥ ११॥

सूत्रार्थ—'सा च'—उस आकाश इत्यादिको धारण करनेकी प्रक्रिया ब्रह्ममें ही सङ्गत है, किसलिए? 'प्रशासनात्'—श्रुति द्वारा बोधित है कि प्रशासन (आज्ञा) अक्षर (ब्रह्म) में ही सम्भव है॥ ११॥

सूत्रानुवाद—अक्षरको द्यू-भू-सूर्यादि सभीपर भलीभाँति शासन करते हुए आकाश तक सबको धारण करनेवाला कहा गया है॥ ११॥

गोविन्दभाष्य—साम्बरान्तधृतिर्ब्रह्मण्येव। कुतः? प्रेति। *'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत'* (बृ॰आ॰ ३/८/९) इत्यादिविदितस्य प्रशासनस्य तत्रैव सम्भवादित्यर्थः। न चेदं स्वप्रशासनाधीनं सर्वधारणं जडे प्रधाने बद्धमुक्तोभयावस्थे जीवे च समस्ति॥ ११॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—'अम्बरान्तधृति' आकाश तक समस्त पदार्थोंकी धृति (धारण करना) एकमात्र ब्रह्ममें ही सम्भव है। इसका कारण है

प्रशासन। श्रुति बोध कराती है—*'एतस्य वा अक्षरस्य ...तिष्ठतः'* (बृ०आ० ३/८/९) अर्थात् अरे गार्गि! इन अक्षर परमेश्वरके प्रशासन (आज्ञा) द्वारा द्यावापृथ्वी, स्वर्लोक, भूलोक, विधृत—यथास्थान धारण किये हुए हैं। सूर्य एवं चन्द्र इन अक्षरकी आज्ञाके अधीन होकर नियमपथपर रहते हैं, इत्यादि वचनों द्वारा जो प्रशासनकी बातसे अवगत हुआ जाता है, वह ब्रह्ममें ही सम्भव है। बद्ध अथवा मुक्त दोनों ही अवस्थाओंसे युक्त जीवमें अथवा जड़-प्रकृतिमें समस्त वस्तुओंको नियमित रूपसे अपनी आज्ञाके अधीन धारण करना सम्भव नहीं है॥ ११॥

सूक्ष्मा-टीका—साचेति। प्रशासनमाज्ञा॥ ११॥

सूक्ष्मा-सार—*'सा च'* का तात्पर्य है—वह धृति—उसे धारण करनेकी प्रक्रिया। प्रशासन अर्थात् आज्ञा जड़-प्रकृतिमें सम्भव नहीं है॥ ११॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई पूर्वपक्ष करता है कि आकाश तकको धारण करना यदि प्रकृति अथवा जीव द्वारा है, तो इसके उत्तरमें सूत्रकार कह रहे हैं—नहीं, यह नहीं हो सकता। कारण अक्षर वस्तुके प्रशासन अर्थात् आज्ञामें ही आकाश तक समस्त वस्तुओंका धारण अथवा नियमन होता है। जड़-प्रकृति (प्रधान) तथा बद्ध अथवा मुक्तावस्थासे युक्त जीवकी आज्ञा समस्त पदार्थोंको नियमित कर सके—यह असम्भव है।

आचार्य श्रीशङ्करने भी कहा है—इस अक्षर तत्त्वसे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं। इसलिए भी शारीर (जीव) में अक्षरात्मकता नहीं, क्योंकि अभिमत अक्षर तत्त्व 'अचक्षुष्कम्' (चक्षुरादि उपाधियोंसे रहित) है, किन्तु जीव चक्षुरादि उपाधियोंसे युक्त है। अतः वह (जीव) आकाशादि जगत्का विधारक कदापि नहीं हो सकता। फलतः वर्ण (शब्द), प्रधान, अव्याकृत (मूल प्रकृति) और जीवमें अक्षर-रूपता सम्भव न होनेके कारण परमात्मा ही अभीष्ट अक्षरतत्त्व सिद्ध होते हैं।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं—अक्षर शब्दसे जीवको नहीं जाना जा सकता।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२५/४२)

मेरे ही भयसे वायु चलती है, मेरे ही भयसे सूर्य तपता है, इन्द्र मेरे ही भयसे जल वर्षण करता है, अग्नि मेरे ही भयसे दहन करता है और मृत्यु मेरे ही भयसे अपने कार्यमें प्रवृत्त होती है।

श्रुतिमें भी,

भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥
(तै॰ २/८)

अर्थात् इन्हींकी भीति अर्थात् भयसे वायु चलता है, इन्हींकी भीतिसे सूर्य उदित होता है और इनके भयसे ही अग्नि, इन्द्र तथा पाँचवाँ मृत्यु (पूर्वोक्त वायु आदिके क्रमसे गणना किये जानेपर पाँचवाँ होनेके कारण मृत्युको पाँचवाँ कहा है) धावित होति है।

इसी प्रकार कठोपनिषदमें भी द्रष्टव्य है—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥
(कठ॰ २/३/३)

अर्थात् इन (परमेश्वर) के भयसे अग्नि तपता है, इन्हींके भयसे सूर्य तपता है तथा इन्हींके भयसे इन्द्र, वायु और पाँचवी मृत्यु धावित होति है॥ ११॥

सूत्र—अन्यभावव्यावृत्तेश्च॥ १२॥

सूत्रार्थ—'अन्यभावव्यावृत्तेः'—केवल उक्त कारणसे ही नहीं, वे अदृश्य होकर भी द्रष्टा हैं, इत्यादि अन्तिम वाक्य द्वारा अक्षरका

ब्रह्मसे भिन्नत्वका प्रतिषेध हुआ है। 'च' इसलिए भी अक्षरको ब्रह्म कहा गया है॥ १२॥

सूत्रानुवाद—प्रस्तुत प्रकरणके अन्तिम वाक्यमें परमपुरुष और अक्षर पुरुषकी भिन्नताका प्रतिषेध किया गया है, इसलिए अक्षर ही ब्रह्म हैं॥ १२॥

गोविन्दभाष्य—*'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ'* (बृ॰आ॰ ३/८/११) इत्यादिना वाक्यशेषेणास्याक्षरस्य ब्रह्मान्यत्वव्यावर्त्तनाच्च ब्रह्मैव तत्। अत्र द्रष्टृत्वादिना जडात्मकप्रधानभावो व्यावर्त्त्यते। सर्वैरदृष्टस्य तस्य सर्वद्रष्टृत्वाद्युपदेशात् जीवभावश्चेति॥ १२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—श्रुतिमें वर्णन है—हे गार्गि! ये जो अक्षर हैं, वे दृष्ट नहीं हैं (अदृश्य है) परन्तु द्रष्टा भी हैं, श्रवण योग्य नहीं हैं (अश्रुत है), किन्तु श्रोता हैं, इत्यादि। अन्तिम वाक्य द्वारा वह अक्षर ब्रह्मसे भिन्न कोई और हो नहीं सकते, इस प्रकार किसी दूसरेका प्रतिषेध किया गया है। अतएव अदृष्ट द्रष्टा हैं, अश्रव्य श्रोता हैं, जो अक्षर हैं, वही ब्रह्म हैं। यहाँ दृष्टत्व (देखना) इत्यादि शब्दोंके (धर्म) द्वारा अक्षरका जड़-स्वरूप-प्रकृतित्व निरस्त हो रहा है एवं सबके द्वारा अदृष्ट (अदृश्य) उन पुरुषके सर्वद्रष्टृत्वादि वर्णनसे जीवत्व भी खण्डित हो रहा है॥ १२॥

सूक्ष्मा-टीका—अन्येति। अन्यभावो ब्रह्मान्यत्वं तस्य व्यावृत्तेर्निरासादित्यर्थः॥ १२॥

सूक्ष्मा-सार—सूत्रोक्त अन्यभाव शब्दका अर्थ है 'ब्रह्मान्यत्व'—ब्रह्मसे पार्थक्य, ब्रह्मसे भिन्न प्रधानादिकी व्यावृत्ति अर्थात् निष्कृति (निराकरण) के लिए प्रस्तुत सूत्र है। ब्रह्म ही अक्षर पदार्थ हैं॥ १२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अक्षर शब्दसे एकमात्र ब्रह्म ही लक्षणीय हैं, जीव अथवा प्रकृति नहीं। महर्षि याज्ञवल्क्यने सबसे अन्तमें गार्गीसे कहा—*तद्वा एतदक्षरं गार्गि, अदृष्टं दृष्ट्रश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ* इत्यादि (बृहदारण्यक ३/८/११)।

यहाँ कहा गया है कि अक्षर किसीके द्वारा दृष्ट नहीं, अपितु देखता है, श्रव्य नहीं किन्तु श्रोता है, मननका विषय नहीं अपितु

मन्ता है, ज्ञेय नहीं अपितु ज्ञाता है। यह दर्शन करने, श्रवण करनेकी क्षमता अचेतन, गुणविहीन प्रकृतिमें सम्भव नहीं है। दूसरी बात, श्रुति कह रही है कि अक्षरके अतिरिक्त कोई द्रष्टा अथवा श्रोता नहीं है, इससे जीवका प्रतिषेध हुआ है अर्थात् जीववाद खण्डित हुआ है।

श्रीकुन्तीदेवी अपनी स्तुतिमें कहती हैं—

नमस्ये पुरुषन्त्वाद्यमीश्चरं प्रकृतेः परम्।
अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम्॥

(श्रीमद्भा॰ १/८/१८)

अर्थात् कुन्तीने कहा—आप मेरे भतीजे होते हुए भी आदिपुरुष हैं। आप मायातीत तत्त्व हैं—मायाके नियन्ता हैं। आप समस्त प्राणियोंके अन्तर एवं बाहरमें पूर्ण रूपसे अवस्थित हैं। आपको इन्द्रियों एवं वृत्तियोंके द्वारा नहीं जाना जा सकता। मैं आपको नमस्कार करती हूँ।

श्रीमद्भागवतमें और भी द्रष्टव्य है,

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥

तस्मान्न ह्यात्मनोऽन्यस्मादन्यो भावो निरूपितः।
निरूपितेयं त्रिविधा निर्म्मूला भातिरात्मनि।
इदं गुणमयं विद्धि त्रिविधं मायया कृतम्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२८/६-७)

अर्थात् ईश्वर प्रभु विश्वरूपी परमात्मा ही इस विश्वकी सृष्टि करते हैं, पालन करते हैं और विनाश करते हैं। इन सृष्टकी हुई वस्तुओंकी कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं है अर्थात् सृष्ट-पदार्थ परमेश्वरके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिए वस्तुतत्त्व इस प्रकारसे निरूपित होनेपर आत्माकी जो आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—ये तीन प्रकारकी प्रतीतियाँ हैं, इन्हें भी मिथ्या समझना चाहिये, क्योंकि आध्यात्मिक आदि गुणमय त्रिविध भाव माया द्वारा ही कल्पित हुआ करते हैं अर्थात् उन्हें त्रिगुणमयी मायाका विलासमात्र खेल ही समझना चाहिये।

श्रीशुकदेवजीके वचन हैं—

भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः।
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः॥

(श्रीमद्भा॰ २/२/३५)

अर्थात् भगवान् सर्वसाक्षी हैं। समस्त प्राणियोंमें वे अन्तर्यामीरूपमें विराजित हैं। अपने चित्तमें बुद्धि आदि दृश्य पदार्थ उनका अनुमान करानेवाले लक्षण हैं॥१२॥

४—ईक्षतिकर्माधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—प्रश्नोपनिषदि (५/२/५) *'एतद्वै सत्यकाम परञ्चापरञ्च ब्रह्म योऽयमोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति'* इति प्रकृत्य *'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेणपरं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नो यथा पादोदरस्त्वचा विनिमुर्च्यते एवं है वै स पाप्मभिर्विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्मात् जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषं वीक्षते'* इति पठ्यते।

तत्र संशयः। ध्यानेक्षयोर्विषयः पुरुषश्चतुर्मुखः पुरुषोत्तमो वेति। तत्रैकमात्रं प्रणवमुपासीनस्य मनुष्यलोकं द्विमात्रमुपासीनस्यान्तरीक्षलोकं फलं प्रोच्य त्रिमात्रमुपासीनस्य ब्रह्मलोकमाह। स च लोकक्रमाच्चतुर्मुखलोकः प्रत्येतव्यस्तद्गतेन वीक्ष्यमाणस्तु स एवेति युक्तेश्चतुर्मुखः स इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषदमें है *'एतद्वै सत्यकाम ..... पुरुषं ईक्षते'* (५/२/४५) अर्थात् सत्यकाम नामक किसी शिष्यने आचार्य पिप्पलादसे पूछा कि "परब्रह्म और अपरब्रह्म कौन हैं?" आचार्यने उत्तर दिया—हे सत्यकाम! ॐकार ही श्रीनारायण नामक परब्रह्म हैं और चतुर्मुख ब्रह्माका स्वरूप अपर ब्रह्म है। यह जो परब्रह्म और अपर ब्रह्मात्मक ॐकार हैं—इस ब्रह्मस्वरूप वस्तुको जान लेनेपर ध्याता पुरुष ध्यात प्रणव द्वारा ध्यानके अनुसार परब्रह्म अथवा अपरब्रह्म किसी एकको प्राप्त होता है। अर्थात् ॐकारकी परब्रह्मरूपमें उपासना करनेपर परब्रह्मको प्राप्त होता है और अपरब्रह्मरूपमें उपासना करनेपर उन्हींको प्राप्त होता है, इत्यादि उपक्रम करके आगे कहा कि जो योगी त्रिमात्रा विशिष्ट ॐकारको परमेश्वर जानकर ध्यान करता है, वह मृत्युके बाद तेजोमय सूर्यको

प्राप्त होता है। सर्प जिस प्रकार केंचुली छोड़ देता है, उसी प्रकार वह भी पापोंसे मुक्त होकर सामवेदकी सहायतासे ब्रह्मलोकमें जाता है। उन परमपुरुषका ध्यान करनेवाला व्यक्ति सर्वजीवात्माभिमानी चतुर्मुख ब्रह्मासे श्रेष्ठ परमाकाशरूप पुर (परव्योमधाम) में विराजमान परमेश्वर श्रीनारायणका दर्शन करता है अर्थात् उन्हें प्राप्त करता है।

यहाँ संशय होता है कि इस ध्यान अथवा दर्शन–क्रियाका कर्म अर्थात् जिनका ध्यान किया जा रहा है, जिनका दर्शन किया जा रहा है, उस ध्यान–दर्शनका विषयीभूत कौन है? चतुर्मुख ब्रह्मा अथवा पुरुषोत्तम नारायण? पूर्वपक्षी कहते हैं कि यहाँ पुरुष शब्दवाच्य चतुर्मुख ब्रह्मा ही कहे जायेंगे, क्योंकि श्रुतिमें कहा है—एकमात्रासम्पन्न प्रणवकी उपासना करनेपर मनुष्यलोक और द्विमात्र प्रणवकी उपासना करनेपर अन्तरिक्ष लोककी प्राप्ति होती है। इस प्रकार फल कहकर अन्तमें त्रिमात्र प्रणवके उपासकको ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है, ऐसा कहा गया है। इस प्रकार यह लोक उस लोकक्रमके हिसाबसे चतुर्मुख ब्रह्माका लोक माना जायेगा। युक्ति यह है कि जिस स्थानपर रहकर जिसका दर्शन करता है, उपासक उसे ही प्राप्त होता है। अतः ब्रह्मलोक जानेसे ध्यानकारीका ध्येय चतुर्मुख ब्रह्मा ही हैं।

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वं प्रधानादौ प्रयुक्तस्याप्यक्षरशब्दस्य सर्वप्रशास्त्रि–त्यादिना लिङ्गेन न क्षरतीति व्युत्पत्त्या कूटिस्थत्वाद्व्यापित्वाद्वा ब्रह्मणि योगवृत्तिराश्रिता तथेहापि देशपरिच्छिन्नफलश्रवणेन लिङ्गेन परशब्दस्यापेक्षिकपरत्वविशिष्टे चतुर्मुखे वृत्तिरस्त्विति दृष्टान्तसङ्गत्याह प्रश्नोपनिषदीत्यादि। पूर्वपक्षे विधेः सिद्धान्ते श्रीहरेरुपासनं फलम्। एतद्वै इत्यादेरर्थः। पिप्पलादो नामाचार्यः सत्यकामेन पृष्टो व्याचष्टे—हे सत्यकाम! परं श्रीनारायणख्यमपरं चतुर्मुखाख्यं च ब्रह्म तदेतदेव। योऽयमोङ्कार इति। ओङ्कारस्य परब्रह्मत्वं मत्स्यकूर्मादिवत् तदवतारत्वात्। अपरब्रह्मत्वञ्च तज्जनकत्वात् तज्जनकत्वं परब्रह्माभेदात्। तस्मात् प्रणवं ब्रह्मात्मकं विद्वान् जानन् जन एतेन प्रणवेन ध्यानायतनेन ध्यातेनेति यावत् परापरयोरेकमन्वेति यथा ध्यानम्। त्रिमात्रेणेति। तृतीयेयं द्वितीयात्वेन नेया। ब्रह्माङ्कारयोरभेदोपक्रमात् तादृशमक्षरं सूर्यान्तःस्थं परं ध्यायीतेति। ध्यात्वा सूर्यं प्राप्तः सामभिर्ब्रह्मलोकं नीयते। पादोदरःसर्पः। स इति परमपुरुषध्याता। स एतस्मात् जीवघनात् सर्वजीवाभिमानिनश्चतुर्मुखात् परं पुरिशयं परमे व्योम्नि पुरि स्थितं श्रीनारायणं श्रीपतिमीक्षते लभत इत्यर्थः।

क्रममुक्तिरिह प्रकाशिता सनिष्ठानां बोध्या। तद्गतेनेति। चतुर्मुखलोकगतेन जनेन वीक्ष्यमाणः स चतुर्मुख एवेति युक्तमित्यर्थः। तदेवमिति। ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इति कर्मधारयोऽत्र समासः। निषादस्थपतिं याजयेदित्यत्र निषादश्चासौ स्थपतिश्चेति तथा सः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्व श्रुतिमें अक्षर शब्दका प्रकृति अथवा जीवमें प्रयोग होनेपर भी सबका आज्ञाकारित्व (प्रशासनत्व) इत्यादि धर्मसे एवं *'न क्षरति'*—जो स्वभावसे च्युत नहीं होता, इस व्युत्पत्तिके द्वारा उनका कूटस्थत्व अर्थात् निर्विकारत्व और विभुत्व अथवा व्याप्तित्वके कारण परब्रह्ममें ही उसकी (अक्षरकी) योगवृत्ति (व्युत्पत्ति) जिस प्रकार ग्रहण की जाती है, उसी प्रकार इस श्रुतिमें 'पर' शब्दकी पूर्वापेक्षा परत्व-विशिष्ट-चतुर्मुख (विधाता) अर्थमें तात्पर्य होना चाहिये, जिस कारण देश-विशेष परिच्छिन्न लोककी प्राप्ति उनकी उपासनामें सुनी जाती है, उसी दृष्टान्त-सङ्गतिके अनुसार कह रहे हैं। प्रश्नोपनिषदमें यहाँ पूर्वपक्षमें विधाताकी उपासना कर्त्तव्यरूपमें अभिप्रेत है और सिद्धान्तपक्षमें श्रीहरिकी उपासना अभिप्रेत है। *'एतद्वै सत्यकाम'* इत्यादि श्रुतिका यह अर्थ है। सत्यकाम नामक शिष्यके द्वारा पूछे जानेपर पिप्पलाद नामक आचार्यने स्पष्ट किया—हे सत्यकाम! यह जो ॐकार है, वह श्रीनारायण नामक परब्रह्म हैं और चतुर्मुख नामक अपर ब्रह्म भी हैं। ॐकारका परब्रह्मत्व मत्स्य, कूर्मादि जैसे अवतारत्वके कारण है और अपरब्रह्मत्व चतुर्मुखके जनकत्व (*यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं*—जिन्होंने प्रथम ब्रह्माको उत्पन्न किया) का भी कारण है। ॐकारका चतुर्मुख जनकत्व परब्रह्मके साथ अभेदवश है, यह जानना चाहिये। इस प्रकार प्रणव (ॐकार) को परापर ब्रह्मरूपमें जान लेनेपर वह उपासक ध्यानके विषयीभूत अर्थात् ध्यान-प्रणवके द्वारा पर एवं अपर-ब्रह्मके बीच किसी एकको ध्यानानुसार प्राप्त होता है। *'त्रिमात्रेण'* इस पदमें जो तृतीया विभक्ति है, अर्थ सङ्गतिके लिए उसे द्वितीया विभक्तिमें लेना होगा। उपक्रममें ब्रह्म एवं ॐकारको अभिन्न कहकर वर्णन किया गया है, उन अक्षरको सूर्यमण्डल मध्यवर्त्ती परमेश्वर नारायण मानकर ध्यान करेंगे। ध्यानके फलसे सूर्य प्राप्त होनेपर सामगण ध्याताको

ब्रह्मलोक ले जायेंगे। दृष्टान्त है कि जिस प्रकार पादोदर (उदर जिसका पाद है अर्थात् सर्प) त्वक्-मुक्त होता है (अपना केंचुल छोड़ता है), उसी प्रकार उन परमपुरुषका ध्यान करनेवाला (साधक) उन जीवघन (ब्रह्माको भी जीवघन बतलाया गया है, कर्मोंके फलस्वरूप देहप्राप्ति ही जीव-घनत्व है) अर्थात् समस्त जीवात्माभिमानी चतुर्मुख (बह्मा) से भी श्रेष्ठ है, पुरिशय—परम व्योमरूप पुरमें अवस्थित श्रीपति श्रीनारायणका दर्शन करता है अर्थात् उन्हें प्राप्त करता है। यहाँ इस उपासनाके फलमें निष्ठावान व्यक्तिकी क्रम-मुक्ति देखी जाती है। *'तद्‌गतेन वीक्षमाणस्तु'* इत्यादिमें 'तद्गत' शब्दका अर्थ है चतुर्मुख लोकगत ध्याताके द्वारा दृश्यमान यह चतुर्मुख होना युक्तियुक्त है—इसीके निराकरणके लिए निम्नलिखित सूत्रकी अवतारणा की गयी है—

सूत्र—ईक्षति कर्मव्यपदेशात् सः॥ १३॥

सूत्रार्थ—'ईक्षति कर्म'—दर्शनका विषय, 'सः'—वे पुरुषोत्तम श्रीनारायण ही हैं, कारण? 'व्यपदेशात्'—श्रुतिमें 'ईक्षति कर्म' अर्थात् दर्शनके विषयमें परब्रह्म श्रीपुरुषोत्तमका ही उपदेश है॥ १३॥

सूत्रानुवाद—दर्शनकी क्रियाके कर्मरूपमें उल्लेख होनेसे श्रुतिमें परब्रह्म श्रीपुरुषोत्तमका ही उपदेश है॥ १३॥

गोविन्दभाष्य—स पुरुषोत्तम एव ईक्षतिकर्म दर्शनविषयः। कुतः? व्यपदेशात्। *'तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत् तच्छान्तमजरममृतमभयं परं परायणं च'* (प्र० ५/७) इति ब्रह्मधर्मनिर्द्देशात्। तदेवं निर्णीते ब्रह्मलोकशब्दोऽपि निषादस्थपत्यधिकरणन्यायेन श्रीविष्णुलोकस्य वाचकः सिद्ध्यति॥ १३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पुरुषोत्तम ही दर्शन-विषय—'ईक्षण' के कर्म हैं। कारण यह है कि श्रुतिमें परमेश्वरके प्रणव-धर्मका उल्लेख प्राप्त होता है—ॐकाररूप सर्वायतन (सर्वालम्बन) सर्वाश्रयके कारण विद्वान व्यक्ति उनकी उपासना करके उन परमेश्वरको प्राप्त होते हैं। जो शान्त, जरारहित, अमृत, अभय और चरम आश्रय हैं—ये सब शान्तत्वादि ब्रह्मके ही धर्म हैं। इस प्रकार निर्णय हो जानेपर परमेश्वरमें जो ब्रह्मलोक शब्द प्रयुक्त हो रहा है, वह निषादस्थपति-

अधिकरण–न्यायसे कर्मसमासके द्वारा श्रीविष्णुलोकका वाचक है। जिस प्रकार *'निषादस्थपतिं याजयेत्'* कहनेपर *'निषादश्चासौ स्थपतिश्चेति'* निषाद ही स्थपति—शिल्पी है, इसी प्रकार यहाँ कर्मधारय समासके द्वारा सङ्गति है, तत्पुरुष समास 'निषादानां स्थपतिः' यहाँ प्रयोज्य नहीं है॥ १३॥

सूक्ष्मा–टीका—तदेवमिति। ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इति कर्मधारयोऽत्र समासः। निषादस्थपतिं याजयेदित्यत्र निषादश्चासौ स्थपतिश्चेति तथा सः॥ १३॥

सूक्ष्मा–सार—इस प्रकार सिद्धान्तमें ब्रह्मलोक शब्द 'ब्रह्म एव लोकः' इस प्रकार कर्मधारय समासके द्वारा निष्पन्न हुआ है। जिस प्रकार *'निषादस्थपतिं याजयेत्'*—इसके अन्तर्गत निषाद–स्थपति पद *'निषाद एव स्थपतिः'* निषाद ही स्थपति है, यह पद चण्डालरूप शिल्पी अर्थमें कर्मधारय समाससे निष्पन्न हुआ है, उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिये॥ १३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रश्नोपनिषदके पाँचवें प्रश्नमें शैव्य (शिविपुत्र) सत्यकामने पिप्पलादसे पूछा कि मनुष्योंमें जो मृत्युकाल पर्यन्त ॐकारका ध्यान करता है, वह किस लोकको प्राप्त होता है। इसके उत्तरमें पिप्पलादने कहा कि ॐकार ही पर और अपर ब्रह्म है। ॐकार ध्यानरूप साधनाके द्वारा एकतर (उनमेंसे किसी एक) को प्राप्त होता है। बादमें कहा कि जो त्रिमात्रायुक्त ॐकारका परमेश्वरके प्रतिनिधिरूपमें ध्यान करता है, वह मायामुक्त होकर परव्योम चला जाता है। विद्वान मनुष्य ॐकारका आश्रय करके शान्त, अजर, अमृत, अभय परब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

यहाँ कोई यदि इस प्रकार पूर्वपक्ष करे कि जिनका ध्यान और दर्शन करनेके लिए कहा गया, वे क्या चतुर्मुख ब्रह्मा हैं, अथवा पुरुषोत्तम परब्रह्म? कारण इस श्रुतिमें देखा जाता है कि एकमात्रा प्रणवकी उपासनासे मनुष्यलोक, द्विमात्राकी उपासनासे अन्तरिक्ष लोक और त्रिमात्राकी उपासनासे ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। इस प्रकार लोकक्रम विचार करनेपर उक्त ब्रह्मलोकको जब ब्रह्माका लोक माना जाता है, तब उक्त ध्यान और दर्शनके विषय ब्रह्मा ही प्रतिपन्न होते

हैं, पुरुषोत्तम परब्रह्म नहीं, इस सन्देहके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि ईक्षति-कर्म अर्थात् दर्शनके विषय श्रीपुरुषोत्तम नारायण हैं। कारण ब्रह्मधर्मका उपदेश श्रीपुरुषोत्तममें ही है। पुरुषोत्तम श्रीनारायण ही ध्यानके विषय हैं। श्रुतिमें देखा जाता है कि विद्वान व्यक्ति ॐकारकी उपासनासे परब्रह्मको ही प्राप्त होता है।

श्रीमद्भागवतमें देवर्षि नारदने मन्त्र प्रदान करते हुए कहा—

जप्यश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज।
यं सप्तरात्रं प्रपठन् पुमान् पश्यति खेचरान्॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
मन्त्रेणानेन देवस्य कुर्याद्द्रव्यमयीं बुधः।
सपर्यां विविधैर्द्रव्यैर्देशकालविभागवित्॥

(श्रीमद्भा॰ ४/८/५३-५४)

अर्थात् हे राजकुमार! तुम्हें परम गुह्य मन्त्र भी बतला रहा हूँ, सुनो। इस मन्त्रका सात रात्रियों तक प्रकृष्ट रूपसे जप करनेपर पुरुष आकाशमें विचरण करनेवाले भगवत्-पार्षदोंका दर्शन प्राप्त कर सकता है। '*ॐ नमो भगवते वासुदेवाय*'—यही वह मन्त्र है। देश काल विभागके अनुसार उपयोगी वस्तुओंके द्वारा बुद्धिमान पुरुष इस मन्त्रके द्वारा अनेक प्रकारकी सामग्रियोंसे भगवान्की द्रव्यमयी पूजा करे।

श्रीनारदने शरणागत जितेन्द्रिय भक्त चित्रकेतुको जिस महाविद्याका उपदेश दिया था, उसमें भी देखा जाता है—

ॐ नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय धीमहि।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च॥

नमो विज्ञानमात्राय परमानन्दमूर्तये।
आत्मारामाय शान्ताय निवृत्तद्वैतदृष्टये॥

(श्रीमद्भा॰ ६/१६/१८-१९)

अर्थात् (श्रीनारद द्वारा उपदिष्ट विद्या इस प्रकार है) हे प्रणवात्मक भगवान्! आपको नमस्कार है। हे वासुदेव! मैं आपकी प्रसन्नताके लिए आपका अपने हृदयमें ध्यान करता हूँ। हे प्रद्युम्न, हे अनिरुद्ध! हे सङ्कर्षण! आपको नमस्कार है। हे चित्-शक्तिमन!

आपको नमस्कार करता हूँ। हे परमानन्दमूर्त्ते! हे आत्माराम! हे शान्त! हे द्वैत अर्थात् ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन प्रकारके तत्त्वमें भेद-ज्ञानको दूर करनेवाले अद्वयज्ञानस्वरूप! आपको मैं नमस्कार करता हूँ। जीव मायिक प्रपञ्चमें ही आसक्त रहता है और वह आपका स्पर्श भी नहीं कर सकता।

इस महाविद्याके प्रभावसे चित्रकेतुने सात दिनोंके बाद सनत्कुमारादि सिद्धेश्वरोंसे घिरे हुए नीलाम्बर धारण किये हुए तथा समुज्ज्वल किरीट, केयूर, कङ्कणादि अलङ्कारोंसे युक्त प्रसन्नवदन श्रीभगवान्‌का दर्शन प्राप्त किया था।

श्रीमद्भागवतमें और भी कहा गया है—

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम्।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मवीजमविस्मरन्॥

(श्रीमद्भा० २/१/१७)

अर्थात् अकार, उकार, मकार—इन तीन अक्षरोंसे ग्रथित शुद्ध ब्रह्माक्षर प्रणवका मन-ही-मन अभ्यास करें।

श्रीमद्भगवद्गीतामें वर्णन है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

(श्रीगी० ८/१३)

अर्थात् जो ॐ—इस एकाक्षर ब्रह्मवाचक शब्दका उच्चारण करते-करते तथा मुझे ध्यान करते-करते देहत्यागपूर्वक प्रणाम करता हैं, वह परम गतिको प्राप्त होता है।

श्रीमन्महाप्रभुजी भी यही कहते हैं—

प्रणव जे महावाक्य—ईश्वरेर मूर्त्ति।
प्रणव हइते सर्ववेद, जगत् उत्पत्ति॥

(चै०च०म० ६/१७४)

प्रणव से महावाक्य वेदेर निदान।
ईश्वर-स्वरूप प्रणव—सर्वविश्वधाम॥

(चै०च०आ० ७/१२८)

अर्थात् प्रणव समस्त वेदोंका सार महावाक्य है। दूसरे सभी मन्त्र प्रादेशिक वाक्य हैं। ये ईश्वरकी मूर्त्तिस्वरूप है। प्रणवसे ही समस्त वेद और जगत्‌की उत्पत्ति होती है। प्रणवरूप महावाक्य ही वेदका सार है, यह भगवत्-स्वरूप तथा समस्त विश्वका आधार है।

ॐ अथवा प्रणव ही वेदका निदानस्वरूप महावाक्य है। प्रत्येक वैदिक मन्त्रके आदि और अन्तमें प्रणव निहित है। प्रणव ईश्वरस्वरूप है। 'अकार' से सर्वलोकोंके नायक श्रीकृष्ण कहे जाते हैं। 'उकार' से श्रीराधाको कहा जाता है और 'मकार' जीववाचक है।

श्रुतौ–ॐमित्येतद् ब्रह्मणो नेदिष्ठं नाम यस्मादुच्चार्यमाण एव संसार भयात्तारयति तस्मादुच्यते तार इति। (भक्तिसन्दर्भ)

अर्थात् प्रणवके उद्देश्यसे श्रुतिकी उक्ति है—'ॐ' शब्द ब्रह्मके अति निकटताका विधायक है। इसके उच्चारणमात्रसे ही संसारभय नष्ट हो जाता है। इसीलिए यह 'तार' नामसे अभिहित होता है।

इसी प्रकार भगवत्-सन्दर्भमें भी वर्णन है—

अवतारन्तरवत् परमेश्वरस्यैव वर्णरूपेणावतारोऽयमिति तस्मात् नामनामिनोरभेद एव।

अर्थात् श्रीभगवान्‌की विभिन्न मूर्त्तिके समान यह ॐकार भी वर्णरूप श्रीभगवदवतार है। इससे नाम-नामीकी सर्वथा अभिन्नता प्रतिपादित हुई है।

छान्दोग्योपनिषदमें कहा है—*ॐकार एवेदं सर्वम्* (छा॰ २/२३/३) यह सब ॐकार ही है।

माण्डूक्योपनिषदमें कहा है—*ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं* अर्थात् ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है (आगम प्रकरण १)। *सर्वव्यापिनमोङ्कार मत्वा धीरो न शोचति* (आगम प्रकरण २८)। अर्थात् सर्वव्यापी ॐकारको जानकर बुद्धिमान पुरुष शोक नहीं करता। *ॐकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः* (आगम प्रकरण २९)। अर्थात् जिसने मङ्गलमय ॐकारको जाना है, वही मुनि है, और कोई पुरुष नहीं। (दूसरा पुरुष शास्त्रज्ञ होनेपर भी मुनि नहीं है)।

इसी प्रकार अन्य भी,

सर्व महागुणगण वैष्णवशरीरे।
कृष्णभक्ते कृष्णेर गुण सकलि सञ्चारे॥
(च॰च॰म॰ २२/७२)

अर्थात् वैष्णवोंके शरीरमें समस्त सद्गुण ही वर्त्तमान रहते हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण भक्तोंमें अपने गुणोंका सञ्चार करते है॥ १३॥

५—दहराधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—छान्दोग्य श्रूयते। (छा॰ ८/१/१) *'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोहस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्विजिज्ञासितस्यम्'* इति।

तत्र सन्देहः। किमयं हृदयपुण्डरीकस्थो दहराकाशो भूताकाशः किं वा जीव उत श्रीविष्णुरिति। तत्र प्रसिद्धेर्भूताकाशः स्यात्। पुरस्वामित्वादल्पत्वप्रत्ययत्वाच्च जीवो वेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—छान्दोग्योपनिषदमें सुना जाता है—*'अथ यदिदमस्मिन् .... जिज्ञासितव्यम्'* (८/१/१) इस ब्रह्मपुरमें ब्रह्मके (आवासभूत) स्थानमें दहर—पद्मरूप गृह है, जिसमें दहर नामक अन्तराकाश (सूक्ष्म आकाश) विद्यमान है, उसके भीतर जो ब्रह्म है, उसका अन्वेषण करना चाहिये और उसीका ध्यान करना चाहिये। इस वाक्यार्थमें सन्देह है कि हृद्पद्मस्थित दहर आकाश क्या पञ्चभूतान्तपाती आकाश (भूताकाश) है? अथवा जीव है? अथवा श्रीविष्णु हैं? यहाँ पूर्वपक्षी कहते हैं कि दहराकाश शब्दके द्वारा प्रसिद्धिके कारण भूताकाशको जानना चाहिये अथवा इससे जीवात्माका भी बोध होता है, क्योंकि जीव शरीररूपी पुरका स्वामी है और अल्प परिमाण है। इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती कह रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्र परमपुरुषशब्दस्य श्रीनारायणे रूढत्वात् तस्यैवोपास्यता निर्णीता तद्वदत्राकाशशब्दस्य भूताकाशे रूढत्वात् तस्यैवोपास्यता स्त्विति दृष्टान्तसङ्गत्याह छान्दोग्येत्यादि। अथ यदिति। भूमविद्यानन्तर्यमथशब्दार्थः। अन्वेष्टव्यं ध्येयमित्यर्थः।

तत्र सन्देह इति। प्रसिद्धिर्मितत्वञ्च तद्बीजं बोध्यम्—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले जिस प्रकार परमपुरुष शब्दकी श्रीनारायणमें प्रसिद्धिके कारण उनकी उपास्यता निर्णीत हुई थी, उसी प्रकार इस श्रुतिमें भी आकाश शब्दकी पञ्चभूतान्तर्गत भूताकाशमें रूढ़ि (प्रसिद्धि) के कारण उसकी उपास्यता होनी चाहिये। इस प्रकार दृष्टान्त सङ्गतिके अनुसार कह रहे हैं कि छान्दोग्यादि उपनिषदमें सुना जाता है। श्रुतिमें उक्त 'अथ' शब्दका अर्थ है भूम-विद्याका आनन्तर्य। अन्वेष्टव्यम् से तात्पर्य है 'ध्येय'। सन्देह यह है कि प्रसिद्धि और मध्यम परिमाण ही भूताकाशकी उपास्यताका कारण होगा अथवा नहीं?

सूत्र—दहर उत्तरेभ्यः॥ १४॥

सूत्रार्थः—'दहरः' दहर अभिधेय आकाश, श्रीविष्णु ही हैं, कारण 'उत्तरेभ्यः' वाक्यमें कहे गये कारणोंसे यही सिद्ध होता है॥ १४॥

सूत्रानुवाद—दहराकाश परब्रह्म श्रीविष्णु ही हैं, क्योंकि उत्तरवर्त्ती वाक्य ऐसा ही कहते हैं॥ १४॥

गोविन्दभाष्य—श्रीविष्णुरेव दहरः। कुतः? उत्तरेभ्यः वाक्यशेषगतेभ्यो हेतुभ्य इत्यर्थः। ते च वियदुपमत्वसर्वाधारत्वापहतपाप्मत्वादयो भूताकाशे जीवे च न सम्भवेयुः। श्रुतौ ब्रह्मपुरमुपासकस्य शरीरं तदवयवभूतं हृदयपुण्डरीकं ब्रह्मणो वेश्म तत्र ध्येयं दहराकाशशब्दं परं ब्रह्म तस्मिन्नन्वेष्टव्यमपहतपाप्मत्वादिगुणजातमिति व्याख्येयम्॥ १४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—हृत्पुण्डरीक स्थित श्रीविष्णु ही दहर आकाश हैं। किस कारणसे! वाक्यके शेषमें लिखे गये हेतुओंसे। ये हेतु हैं—भूताकाशके साथ उनकी उपमा, समस्त वस्तुओंका आधारत्व और अपहतपाप्मत्व (उन्हें जान लेनेपर समस्त पापोंका नाश हो जाता है)। ये सब कारण भूताकाश और जीवमें सम्भव नहीं हैं। श्रुति कहती है—उपासकका शरीर ब्रह्मपुर है और उस शरीरका अवयवभूत हृद-पद्म है—यही ब्रह्मका गृह है, उसमें ही दहराकाश शब्दसे अभिधेय परब्रह्मका ध्यान करना चाहिये। उनमें ही अपहतपाप्मत्व अर्थात् पापनाशकत्व आदि गुणोंका अनुसन्धान करना चाहिये। इस प्रकार श्रुतिकी व्याख्या करनी चाहिये॥ १४॥

सूक्ष्मा-टीका—दहरेति। ते चेति। विजिज्ञास्यत्वेनोक्तस्य दहराकाशस्य तञ्चेद्ब्रूयुरित्युपक्रम्य किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वा विजिज्ञासितव्यमित्याक्षेपपूर्वकं समाधानवाक्यम्। स ब्रूयात् यावान् वा अयमाकाशस्ता वानेषोऽस्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावामृथिवी अस्तरेव समाहिते इत्यादि। एतत् सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिता एष आत्मापहत्पाप्ना विजरो विमृत्युरित्यादि च। अत्राकाशोपमानत्वं द्यावापृथिव्याश्रयत्वं कामाद्याधारत्वञ्च दहरस्योक्तम्। श्रुत्यर्थस्तु तं गुरुं शिष्या ब्रूयुः किं तदिति। हृत्पुण्डरीकं तावदल्पं तत्र स्थित आकाशस्ततोऽप्यल्पः स्यादिति अल्पे हृत्पुण्डरीके किमस्ति। यत् श्रुतियुक्तिभ्यां विचार्य ध्येयमित्यल्पत्वदोषेण दहरस्य ध्येयत्वे शिष्टैराक्षिप्ते तत्र समाधानं स ब्रूयादिति। स गुरुर्ब्रूयात्। किं ब्रूयादित्याह यावानिति। तथा चाकाशोपमत्वेनाल्पत्वदोषनिराकरणादचिन्त्यशक्त्या विभुत्वमजहदेव मध्यमतया विभातीति स श्रीहरिरेव तादृशो ध्येय इत्यर्थः। आकाशशब्दवाच्याश्चाष्टौ गुणास्तत्रान्वेष्टव्याः कथिताः। यः खलु य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामानित्युपसंहृताः। इह तद्गुणगणस्य मुमुक्षुमृग्यत्वश्रवणादानुवादित्वादिकं तस्य निरस्तम्॥ १४॥

सूक्ष्मा-सार— *'दहर उत्तरेभ्यः'* सूत्रके भाष्यमें वर्णित *'ते च वियदुमत्वादि'* जिज्ञास्य अथवा ध्येयरूपमें वर्णित दहराकाशके सम्बन्धमें प्रश्न हो सकते हैं। यथा—यदि उस हृदयाकाशको दहर ब्रह्म कहो—इस प्रकार उपक्रम करके और भी प्रश्न किये जा सकते हैं—इस हृदयाकाशमें क्या वस्तु है, जिसका अन्वेषण अथवा ध्यान करना चाहिये। इन संशयोंके समाधानके लिए इसके आगे एक वाक्य सुना जाता है—*स ब्रूयात् यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते* इत्यादि (छा॰ ८/१/३) अर्थात् इस प्रकार पूछनेवाले शिष्यके प्रति ऐसा कहे—यह प्रसिद्ध भूताकाश जितने परिमाणवाला है, इस हृदयपद्मके अन्तर्गत आकाशका भी उतना ही परिमाण है। द्युलोक और पृथ्वी—ये दोनों लोक सम्यक् प्रकारसे इसी आकाशके अन्दर समाहित हैं। यह कहनेके बाद श्रुति कहती है—*'एतत् सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्यरित्यादि च'*—अर्थात् यह ब्रह्मपुर सत्यस्वरूप है, इसमें सम्पूर्ण कामनाएँ समाहित अर्थात् सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं। पापहीन, जरामृत्युहीन आत्मा भी इसमें समाहित है। इसीसे सिद्ध होता है कि इस वाक्यमें दहराकाशके सम्बन्धमें प्रसिद्ध भूताकाशकी उपमानता (समानता) है। साथ ही

द्युलोक-भूलोकका आधारत्व, काम्य वस्तु इत्यादिका आश्रयत्व वर्णित हुआ है। *'तं चेद्ब्रूयुः'* (छा॰ ८/१/२) इत्यादि श्रुतिका अर्थ है कि यदि उस गुरुसे शिष्यगण कहे *'किम् तदत्र विद्यते'* (छा॰ ८/१/२) इस हृदयाकाशमें क्या है? हृत्-पुण्डरीक तो अति क्षुद्र परिसर (स्थान) है, इसके मध्यवर्ती आकाश उससे भी क्षुद्रतर (सूक्ष्मतर) होगा, अतएव इस हृद्-पद्ममें क्या है कि यह श्रुति एवं युक्तिद्वारा विचार करके ध्यान करना होगा? शिष्यगण अल्पपरिमाण दोषवश दहरके ध्येयत्व विषयमें प्रतिवाद करेंगे, तब गुरु समाधान करेंगे। क्या कहेंगे? श्रुति वही बता रही है—यावानित्यादि। इस प्रकार यहाँ आकाशकी उपमा दिखलाकर हृदयपद्मस्थ आकाशकी अल्प परिणामरूप आपत्तिका निराकरण हो गया और परमेश्वरका अचिन्त्यशक्तिवश विभुत्व न छोड़नेपर मध्यम परिमाणत्व सङ्गत हुआ। अतएव निष्कर्ष यही है कि दहराकाशका श्रीहरिरूपमें ध्यान करें। आकाश कहनेसे आठ गुणोंको जाना जाता है (यह आकाशाख्य ब्रह्म धर्माधर्मसे शून्य, जराहीन, मृत्युहीन, शोकरहित, भोजनेच्छारहित, पिपासाशून्य, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प हैं) इन आठ गुणोंको इस हृदयाकाशमें अनुसन्धान करें, यही कहा गया है। बादमें उपसंहारमें कहा गया *'ये खलु'* इत्यादि—इन गुणोंकी बात उपसंहारमें कही गयी है, यथा जो इस आत्माकी उपासना करके परलोकमें जाता है, वह इस सत्य (अविनश्वर) काम्यवस्तुको प्राप्त होता है। अतएव इस वाक्यमें इस दहराकाशके गुण मुमुक्षु व्यक्तिके अन्वेषणीय कहे जानेसे यह जो आनुवादिक (अणुत्व-विशिष्ट परिमित आकाश) है, यह भी निरस्त हो गया॥ १४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई पूर्वपक्ष करे कि हृद्पद्मस्थित दहराकाश शब्दसे क्या भूताकाश है? अथवा जीव है? अथवा श्रीविष्णुको ही जानना चाहिये? प्रसिद्धार्थसे तो भूताकाश ही जाना जाता है और पुरके स्वामित्व एवं अल्पत्व प्रत्ययके कारण जीवको भी कहा जा सकता है। उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें बता रहे हैं कि श्रीविष्णु ही दहर शब्दवाच्य हैं। कारण अन्तिम वाक्यमें सर्वाधारत्व और अपहतपाप्मत्व इत्यादि गुणों अथवा धर्मोंका उल्लेख है, अतः ब्रह्मसे अतिरिक्त अन्य कोई भी दहर नहीं हो सकता। जो यह नहीं जानते,

कि गुप्त धन कहाँ है, वे पृथ्वीके ऊपर बार-बार यातायात करनेपर भी पृथ्वीके गर्भमें निहित हिरण्यादि (सुवर्णादि) गुप्त धनको प्राप्त नहीं कर सकते। इसी प्रकार सांसारिक प्रवाहमें बहता हुआ जीव अज्ञानावृत होनेके कारण निज हृदयमें स्थित ब्रह्मवस्तुको जान नहीं सकता। जो सत्यस्वरूप ब्रह्मको जान सकते हैं, वे ही उन्हें प्राप्त करके कृत्कृत्य हो सकते हैं, जो आत्माको अजर, अमर, सत्यसङ्कल्प इत्यादि अष्ट गुणोंको जानकर इस लोकका त्याग करते हैं, वे मृत्युके बाद स्वाधीनता प्राप्त करते हैं और सत्यसङ्कल्प जीव दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधरमें से किसी भी भावको प्राप्त करनेका सङ्कल्प करते हैं, उसीको प्राप्त कर लेते हैं।

छान्दोग्यमें भूम-विद्याके पश्चात् इस दहर विद्याका उल्लेख है। इससे स्पष्ट होता है कि जो ब्रह्म भूमा हैं, वह ब्रह्म ही दहर अर्थात् सूक्ष्म हैं। जो सर्वव्यापी हैं, वही हृत्-पुण्डरीकस्थ हैं, जो महान हैं वही अणु हैं, इस मानसे उपनिषदमें ब्रह्मतत्त्वका वर्णन प्राप्त होता है।

इस सन्दर्भमें श्रीपाद रामानुजाचार्यकी व्याख्या इस प्रकार है—*यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्मेत्यनुद्य तस्मिन् दहरे पुण्डरीकवेश्मनि यो दहराकाशो यच्च तदन्तर्वर्त्तिगुणजातम् तदुभयमन्वेष्टव्यम् विजिज्ञासितव्यञ्चेति विधीयते इत्यर्थः। 'अस्मिन् कामा समाहिताः' (छा॰ ८/१/६) इति ही कामत्वात् कामाः कल्याणास्तदस्तः स्था उच्यन्ते। 'ते च गुणा अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेवं समाहिते' इत्यादिभिर्विभुत्वादयः 'अयमात्माऽपहतपाप्मा इत्याभिरपहत पाप्मात्वादयश्च तत्र बहव एव व्याख्याताः सन्तीति।'*

अर्थात् इस ब्रह्मपुर पुण्डरीक गृहमें जो दहराकाश है और उसमें जो समस्त गुण हैं, उनका ही अन्वेषण एवं जिज्ञासा करनी चाहिये। श्रुतिका यही विधान है। छान्दोग्यमें अन्यत्र कहा है कि इसमें कामनाएँ समाहित हैं। इस श्रुतिके अर्थसे भी यह जाना जाता है कि कामत्वके कारण कामसमूह अर्थात् कल्याणसमूह उस दहर-ब्रह्मके अन्तर्गत हैं। *'ते च गुणाः'*—इस श्रुतिके अर्थमें उनकी विभूतियाँ हैं। *'अयमात्मा'* इत्यादि वाक्यके द्वारा विजर, विशोक, सत्यसङ्कल्प इत्यादि बहुत-से गुणोंकी व्याख्या हुई है।

यहाँ ब्रह्मपुर शब्दसे उपासकका शरीर और हृत्-पुण्डरीक शब्दसे उस शरीरके मध्यवर्त्ती उसीके अवयव कमलके आकारवाले सूक्ष्म हृदयको परब्रह्मकी अवस्थितिका स्थान कहा गया है। इनमें ध्यानका विषय दहराकाश परब्रह्म हैं, उनके ही सब गुणोंका वर्णन हैं। उनका ही अन्वेषण करना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८७/१८)

हे अनन्त! ऋषि-मुनियोंने बहुत-से मार्ग बतलाये हैं। उनमें जो स्थूल दृष्टिवाले हैं, वे मणिपुर चक्रमें ब्रह्म (अग्नि-वैश्वानर) की उपासना करते हैं, आरुणि सम्प्रदायवाले सम्पूर्ण (१०१) नाड़ियोंके मार्गस्वरूप हृदयमें स्थित (ज्ञानशक्तिदायक) परम सूक्ष्म वस्तु—दहर ब्रह्मकी उपासना करते हैं। इस हृदयमें आपकी उपलब्धिका स्थान सुषुम्ना नाड़ी है, जो ब्रह्मरन्ध्र तक गयी है। इस स्थानको प्राप्त कर लेनेपर मनुष्योंको जन्म-मरणके चक्करमें जाना नहीं पड़ता।

इस श्लोकके टीकामें श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरने लिखा है कि गीतामें कथित *'अहं वैश्वानरो भूत्वा'* (श्रीगी॰ १५/१४) श्लोकमें वर्णित क्रियाशक्तिदायक उदरस्थ अन्तर्यामीकी जो उपासना करता है, वह ऋषियोंके मार्गमें 'कूर्पदृश' अर्थात् कूर्प अर्थात् शर्करा अथवा धूल है आँखोंमें जिसकी, अर्थात् वह धूलिसे आच्छादित दृष्टिवाला है। अर्थात् स्थूलदृष्टिसम्पन्न है। इसका कारण है कि हृदयकी अपेक्षा उदरको स्थूल कहा गया है। आरुणि सम्प्रदायके व्यक्ति बुद्धि आदिके प्रवर्त्तनके द्वारा ज्ञानशक्तिदायक हृदयस्थित जीवान्तर्यामीकी उपासना करते हैं। दहर अर्थात् दुर्ज्ञेयत्वके कारण सूक्ष्म, हृदय ही उनका प्रसरण (दूर तक फैला हुआ) स्थान है। और भी इस स्थानपर 'उदर' ब्रह्मसे तात्पर्य है शाकराक्ष इसकी उपासना करते हैं और हृदयमें

ब्रह्मकी उपासना आरुणिगण करते हैं। इनका कहना है—श्वेताश्वतर श्रुतिमें कहा गया है कि—

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिव्ययः॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा, सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो, स एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
(श्वे॰ ३/१२-१३)

अर्थात् यह महान, परम समर्थ, शरीररूप पुरमें शयन करनेवाला, इस (स्वरूपस्थितिरूप) निर्मल प्राप्तिके उद्देश्यसे अन्तःकरणको प्रेरित करनेवाला, सबका शासक, प्रकाशस्वरूप और अविनाशी है। यह अङ्गुष्ठमात्र, पुरुष, अन्तरात्मा, सर्वदा जीवोंके हृदयमें स्थित, ज्ञानाधिपति एवं हृदयस्थित मनके द्वारा सुरक्षित है। जो इसे जानता है, वह अमर हो जाता है॥ १४॥

अवतरणिका भाष्य—इतोहपि दहरः श्रीविष्णुरेवेत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस कारणसे भी दहर श्रीविष्णु हैं—सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र—गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गञ्च॥ १५॥

सूत्रार्थ—'गतिशब्दाभ्यां'—दहरको निर्देश करके वहाँ लोकको गति और ब्रह्मलोक शब्दके द्वारा यह दहर ही गन्तव्य है—'अतः' दहर श्रीविष्णु ही हैं, 'तथा'—उसी प्रकार, 'दृष्टम्'—श्रुतिमें सुषुप्तिकालमें प्राणका जो दहरमें गमन देखा जाता है, वह 'लिङ्गञ्च'—ब्रह्मलोक शब्द श्रीविष्णु-तात्पर्यका ज्ञापक है॥ १५॥

सूत्रानुवाद—प्रकृत दहरका निर्देश करके उसमें प्रतिदिन समस्त क्षेत्रज्ञोंकी गति एवं गन्तव्य दहराकाशका ब्रह्मलोक शब्दसे निर्देश होनेसे भी दहराकाश ब्रह्म है, ऐसा जाना जाता है॥ १५॥

गोविन्दभाष्य—*'यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपरि सञ्चरन्तोऽपि न विदुस्तथेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एनं ब्रह्मलोकं न विदन्त्यनृतेन हि*

प्रत्यूढा' (छा॰ ८/३/२) इत्यत्रैनमिति प्रकृतं दहरं निर्दिश्य तत्र प्रजानां गतिरुउक्त्वा गन्तव्यस्य तस्य ब्रह्मलोकशब्दश्चोक्तस्ताभ्यां दहरः श्रीविष्णुरेवेति निश्चितम्। तथाहि *'सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति'* (छा॰ ६/८/१) इति तत्रैवान्यत्र प्राणानां परस्मिन् गमनं दृष्टं तदेव ब्रह्मलोकशब्दस्य श्रीविष्णुपरत्वे लिङ्गं गमकम्। सत्यलोकपरतवे तु तत्र प्रत्यहं तासां सा न सम्भवेत्॥ १५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जिस प्रकार भूमिमें सुवर्ण-आकर (सोनेकी खान) निहित रहनेपर भी कोई उसे जान नहीं पाता, उसके ऊपर सञ्चरण करते हैं (चलते-फिरते हैं), फिर भी उस स्वर्ण-निधिका पता नहीं होता, उसी प्रकार समस्त प्राणी प्रतिदिन ब्रह्मलोक शब्द वाच्य दहरमें गमन करते हैं, फिर भी उसे जान नहीं पाते, कारण वे अज्ञान अथवा अविद्यासे ग्रस्त हैं। यही बात, यथा *'हिरण्यनिधिं ... हि प्रत्यूढा'* (छा॰ ८/३/२) में कही गयी है। श्रुतिमें कथित 'एनं' शब्द द्वारा प्रक्रान्त दहरको निर्देश करके उसमें लोकादिकी गति कही गयी है और गन्तव्य स्थान दहरसे ब्रह्मलोक शब्दका उल्लेख किया है। इसलिए श्रुति भी कहती है—*'सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति'* (छा॰ ६/८/१) हे सौम्य श्वेतकेतो! सुषुप्तिकालमें जीव ब्रह्ममें लीन होते हैं। इसी श्रुतिमें अन्य एक स्थलपर सुषुप्तिकालमें प्राणोंका जो परब्रह्ममें गमन कहा गया है, उसमें भी ब्रह्मलोक शब्दसे श्रीविष्णुपरत्व सूचित होता है। दहर शब्द सत्यलोकका ज्ञापक नहीं है, क्योंकि प्रतिदिन जीवोंका सुषुप्तिकालमें वहाँ (सत्यलोकमें) जाना सम्भव नहीं है। अतएव दहर शब्दका अर्थ श्रीविष्णु ही जानना चाहिये॥ १५॥

सूक्ष्मा-टीका—यथा हिरण्येति। न विदन्त्यत्र हेतुरनृतेनेति। हि यस्मादनृतेन प्रजाः प्रत्युढा ग्रस्ता इत्यर्थः। सतेति। हे सौम्य श्वेतकेतो तदा सुषुप्तिकाले जीवः सता ब्रह्मणा सह सम्पन्नो भवति तत्र लीयत इत्यर्थः। तत्र प्रत्यहमिति। तत्र सत्यलोके। प्रतिदिनं तासां प्रजानां सा गतिर्न सम्भवेदित्यर्थः॥ १५॥

सूक्ष्मा-सार—*'हिरण्यनिधि'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—जैसे स्वर्णकी खानको जान नहीं सकते, इसका कारण अनृत अथवा अज्ञान अथवा अविद्या है। उसी प्रकार जीव भी अज्ञानग्रस्त है। *'सता सौम्य'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—हे सौम्य श्वेतकेतो! उस समय अर्थात् सुषुप्तिकालमें जीव ब्रह्मके साथ मिलित होता है अर्थात् उनमें लीन होता है। 'तत्र'

से तात्पर्य है—'उस स्थलपर प्रतिदिन' *'सत्यलोकपरत्वे तु तत्र प्रत्यहं तासाम्'* यहाँ 'तत्र' शब्दका अर्थ है सत्यलोक—वहाँ प्रतिदिन लोगोंकी गति सम्भव नहीं हो सकती॥ १५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें अन्य कारण उठाते हुए कह रहे हैं कि इस कारणसे भी दहर श्रीविष्णु ही हैं। लोकको गति और ब्रह्मलोक शब्द द्वारा गन्तव्य-निर्णयके कारण श्रीविष्णु ही दहर-शब्दवाच्य कहे जायेंगे। जीव सुषुप्तिके समय प्रतिदिन दहर-ब्रह्ममें ही लीन होता है—इत्यादि वाक्यमें दहर-ब्रह्ममें ही गति और गन्तव्य स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित हुए हैं। इसलिए दहर शब्दसे श्रीविष्णुके अतिरिक्त कोई भी लक्षणीय (उद्दिष्ट) नहीं है। ब्रह्मलोक शब्द भी विष्णुलोकका परिचायक है। कारण जीवके लिए ब्रह्माके लोक अर्थात् सत्यलोकमें प्रतिदिन गमन करना सम्भव नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेव गोस्वामीके वचन हैं—

एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्ध आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः।
तं निर्वृतः नियतार्थो भजेत संसारहेतूपरमश्च यत्र॥

(श्रीमद्भा० २/२/६)

अर्थात् इस प्रकार विरक्त हो जानेपर अपने अन्तःकरणमें स्वतःसिद्ध, आत्मस्वरूपकी ही सेवा करना चाहिये। श्रीवासुदेव चित्तके अधिष्ठाता हैं, अतः आत्मस्वरूपमें वे ही भजनीय भगवान् हैं, उनके आवाहनके लिए परिश्रम करनेकी भी आवश्यकता नहीं है। वे स्वभावतः परमप्रियतम, परमसत्य और अनन्त हैं। वे परम गुरुरूप भगवान् हैं, जो सौन्दर्यादि गुणोंके द्वारा दृश्य हैं। सर्वव्यापक होनेसे समस्त स्थानोंपर स्थित हैं। इस प्रकार भजनान्दमें मग्न होकर बड़ी निष्ठा और प्रेमके साथ श्रीहरिकी सेवा करे। इससे आनुषङ्गिक (गौण) फलके रूपमें जन्म-मृत्युरूप संसारकी हेतुभूत अविद्याका भी नाश हो जाता है।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत (२/२/८) में और भी कहा है—

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ति॥

अर्थात् योगियोंकी पूर्वोक्त धारणासे भी अतिश्रेष्ठ अन्तर्यामी चिद्घनस्वरूप श्रीभगवान्‌की धारणा श्रेष्ठ है। जैसे कि कोई-कोई योगी पुरुष (व्यष्टि अन्तर्यामी चतुर्भुजकी धारणासे युक्त) अपनी देहके भीतर हृदयके गह्वर (आकाश) में विराजित प्रादेशमात्र पुरुष (अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे पन्द्रह वर्षीय किशोर श्रीहरि) की धारणा द्वारा स्मरण करते हैं कि वे चतुर्भुज हैं और अपनी चारों भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए हैं।

श्रीमद्भागवतमें ही वर्णन है—

तेनात्मनात्मानमुपैति शान्त-
मानन्दमानन्दमयोऽवसाने ।
एतां गतिं भागवतीं गतो यः
स वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्ग॥

(श्रीमद्भा॰ २/२/३१)

अर्थात् इसके बाद वह प्रधान स्वरूपमें ही अर्थात् प्रकृतिके साथ अपने-अपने रूपमें अर्थात् प्रकृति स्वरूपमें आनन्दित होने लगता है। प्रकृतिके आवरणके बाद कारणार्णवशायी महापुरुष विराजते हैं। सम्पूर्ण उपाधियोंकी समाप्ति होनेपर वह योगी अपने निरावरण रूपसे अविकृत, आनन्दस्वरूप, शान्त परमात्माको प्राप्त होता है। जो पुरुष इस प्रकारसे भागवती गति प्राप्त करते हैं, उन्हें पुनः इस संसारमें आना नहीं पड़ता॥ १५॥

सूत्र—धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः॥ १६॥

सूत्रार्थ—'अस्य' 'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानाम् सम्भेदाय' जो आत्मा हैं, वे इन समस्त लोकोंके साङ्कर्य (संभेद अथवा पारस्परिक संघर्ष) के निवारणके लिए धारण करनेवाले सेतु हैं, सेतुके समान कार्य करते हैं अर्थात् वर्णाश्रमधर्मके साङ्कर्यकी निवृत्ति करते हैं—इस श्रुतिके द्वारा, 'धृतेश्च'—दहरके द्वारा विश्व-विधारणरूप निर्दिष्ट हुआ है। 'महिम्नः'—(उनकी) महिमाकी, 'अस्मिन्'—इस दहरमें, 'उपलब्धेः'—अवगति (ज्ञान-प्राप्ति) है, इसलिए भी दहर अर्थमें परमेश्वरको जानना चाहिये॥ १६॥

सूत्रानुवाद—यह जो आत्मा हैं, वे ही इन सब लोकोंको धारण करनेवाले सेतु हैं। दहरको जगत्का धारक कहनेसे भी दहराकाश ब्रह्म ही हैं। धृतिका अर्थ है जगत्का धारण करना परमात्माकी ही महिमा है। इस महिमाकी उपलब्धिका वर्णन दहराकाशमें है। इसलिए दहराकाश परमात्मा ही हैं॥ १६॥

गोविन्दभाष्य— *'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश'* (छा॰ ८/१/१) इति प्रकृत्य वियदुपमापूर्वकं तत्र सर्वसमानत्वमुक्त्वात्मशब्दञ्च प्रयुज्योपदिश्य चापहतपाप्नत्वादि तमेवानतिवृत्तप्रकरणं निर्द्दिशति। *'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय'* (छा॰ ८/४/१) इति। तस्मादस्य विश्वधृतिरूपस्य महिम्नोऽस्मिन् दहरे प्राप्तेरयं श्रीविष्णुरेव। *'एष सेतुर्विधारण एषां लोकानामसम्भेदाय'* (बृ॰आ॰ ४/४/२२) इत्यन्यत्राप्येष महिमा तत्रैव दृष्टः॥ १६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पहले उपक्रममें कहा गया कि दहर इस हृत्पुण्डरीकमें आकाशरूपमें वर्त्तमान है, उसके बाद उस आकाशकी भूताकाशके साथ तुलना की गयी और उस तुलनाके द्वारा आकाशके समस्त धर्म जो दहरमें हैं, यह भी कहा गया। इसके बाद उस दहरमें आत्म शब्दका प्रयोग एवं अपहतपाप्मत्व इत्यादि आत्मधर्मकी सत्ताका निर्देश हुआ। अतएव दहरका ही प्रकरण चल रहा है। इस प्रकरणमें श्रुति कह रही है—*'अथ य आत्मा .... असंभेदाय।'* (छा॰ ८/४/१) अतःपर जो आत्मा हैं, वे समस्त लोकोंके वर्णाश्रमधर्मके साङ्कर्य (विरोध) निवृत्तिके सेतु हैं अर्थात् विशेष रूपसे धारण करनेवाले हैं, अतएव इस विश्वधृतिरूप महिमाके उल्लेखसे इस दहरसे अवगत हुआ जा सकता है। इस कारण श्रीविष्णु ही दहर शब्दसे बोध्य हैं। इस दहरकी महिमाका उल्लेख अन्यत्र भी देखा जाता है। यथा *'एष सेतुरित्यादि'* (बृ॰आ॰ ४/४/२२) यह वर्णाश्रमधर्म विश्रृङ्खलित न हो अर्थात् इस वर्णाश्रम धर्मकी मर्यादा भङ्ग न हो, इसलिए यह आत्मा समस्त लोकोंको धारण करनेवाला सेतु है॥ १६॥

सूक्ष्मा-टीका—दहरेति। तमेव दहरमेव अनतिक्रान्तप्रकरणमित्यर्थः। स सेतुरिति। सेतुर्वर्णाश्रमाद्यसङ्करताहेतुः। विधृतिर्विशिष्टा धृतिर्येन सः। अञ्जसा असाङ्कर्येण च निखिलधारक इत्यर्थः। असंभेदाय असाङ्कर्याय॥ १६॥

सूक्ष्मा-सार—टीकामें वर्णित तमेवेत्यादिसे तात्पर्य है—उस दहरको, जिसके प्रकरणका छेदत्व (व्यवधान) नहीं हो रहा है। *'स सेतुरिति'* सेतु—वर्णाश्रमधर्मका असम्भेद अर्थात् भङ्गके अभावका हेतु। 'विधृति' शब्दका व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—वि—विशिष्ट भावसे, धृति—जिनके द्वारा धारण किया गया है, वे विधृति-धारक हैं अर्थात् यथार्थ रूपसे भी असाङ्कर्यको (अविरोधको) बनाये रखकर जो विश्वके धारक हैं। असंभेद शब्दका अर्थ है असाङ्कर्य॥ १६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—दहराधिकरणमें ही प्रस्तुत सूत्रका वर्णन किया जा रहा है—दहरमें जो विश्वकी धारणरूप महिमाका उल्लेख है, उस महिमाके द्वारा दहर शब्दके वाच्य श्रीविष्णु ही हैं, यह स्पष्ट जाना जाता है।

बृहदारण्यक (३/८/९) में द्रष्टव्य है—*एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।* अर्थात् हे गार्गि! इस अक्षरके ही प्रशासनमें सूर्य और चन्द्रमा विशेष रूपसे धारण किये हुए स्थित रहते हैं।

श्रीमद्भागवतमें भी देखा जाता है—

धर्मस्य मम तुभ्यञ्च कुमाराणां भवस्य च।
विज्ञानस्य च सत्त्वस्य परस्यात्मा परायणम्॥
(श्रीमद्भा॰ २/६/१२)

अर्थात् हे नारद! उन पुरुषका अन्तःकरण (चित्त) धर्म, मेरा, तुम्हारा, सनत्कुमारादि, रुद्र, बुद्धि (विज्ञान) और हम सबके सत्त्व (अन्तःकरण) का परम आश्रय है।

सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्।
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति॥
(श्रीमद्भा॰ २/६/१६)

अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान जो कुछ भी था, है और होगा—सब विराट् पुरुष ही हैं। इनसे भिन्न किसीकी भी सत्ता नहीं है। वे दस अङ्गुलके स्थान मात्रमें अधिष्ठित रहकर इस विश्वको घेरे हुए हैं।

श्रीपरीक्षित् महाराजके वचन हैं—*स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता* (श्रीमद्भा॰ १०/३३/२७)। अर्थात् वे धर्म-मर्यादाके सेतु, उपदेश करनेवाले और रक्षक थे।

ब्रह्मतर्कमें भी द्रष्टव्य है—*वितस्तिमात्रं हृदयमास्थाय व्याप्नुते जगत्*॥ १६॥

सूत्र—प्रसिद्धेश्च॥ १७॥

सूत्रार्थ—ब्रह्ममें आकाश शब्दका तात्पर्य है, 'प्रसिद्धेः च'—यह प्रसिद्ध भी है। अतएव दहराकाश ब्रह्म ही हैं॥ १७॥

सूत्रानुवाद—श्रुतियोंमें परमात्मामें ही आकाश शब्दकी प्रसिद्धि है॥ १७॥

गोविन्दभाष्य—*'को ह्येवान्याद्'* (तै॰ २/७) इत्यादौ ब्रह्मण्याकाशशब्दस्य ख्यातेश्च॥ १७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'को ह्येवान्यात्'* (तै॰ २/७) इत्यादि श्रुतिमें ब्रह्ममें—परमेश्वरमें आकाश शब्दकी प्रसिद्धि है, इसलिए भी दहर परमेश्वर हैं॥ १७॥

सूक्ष्मा-टीका—प्रसिद्धेरित्यादि सुगमम्॥ १७॥

सूक्ष्मा-सार—प्रसिद्धेश्च—इस सूत्रका अर्थ सहज-बोध्य है॥ १७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—आकाश शब्द ब्रह्ममें ही प्रसिद्ध है। इसका प्रमाण छान्दोग्योपनिषदमें देखा जाता है—*'दहरोऽस्मिन्नतराकाशः'* (छा॰ ८/१/१) 'उस दहरमें जो अन्तराकाश है' इस श्रुतिके विचारसे ब्रह्म ही लक्षणीय हैं, कारण कहा गया है कि *'तदन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यमिति'* (छा॰ ८/१/१) अर्थात् उनका अन्वेषण करना चाहिये और उन्हींकी जिज्ञासा करनी चाहिये। पुनः छान्दोग्य (८/१४/१) में ही वर्णन है—*'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतम् स आत्मा।'* आकाश नामसे प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूपका निर्वाह करनेवाला है। वे (नाम और रूप) जिनके अन्तर्गत हैं, वे ब्रह्म हैं, वे अमृत हैं, वे ही आत्मा हैं। इस श्रुतिके द्वारा भी आकाश शब्दका

ब्रह्मसम्बन्धमें ही प्रयोग है। तैत्तिरीयोपनिषदमें भी वर्णन है—*'को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्'* (तै॰ २/७) यदि हृदयाकाशमें स्थित यह आनन्द (आनन्दस्वरूप आत्मा) न होता, तो कौन व्यक्ति अपान क्रिया करता और कौन प्राणन-क्रिया करता? यही तो उन्हें आनन्दित करता है। इसी प्रकार *'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते'*—ये समस्त भूत आकाशसे ही समुत्पन्न हैं।

श्रीमद्भागवतमें श्रुतदेवके वचन द्रष्टव्य हैं—

शृण्वतां गदतां शश्वदर्च्चतां त्वाभिवन्दताम्।
नृणां संवदतामन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम्॥

हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्म्मविक्षिप्तचेतसाम्।
आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यन्त्युपेतगुणात्मनाम्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८६/४६-४७)

अर्थात् हे भगवन्! आप उन्हींके हृदयमें प्रकाशित होते हैं, जो निरन्तर आपका श्रवण, कीर्त्तन, अर्चन एवं वन्दन करते हैं, एक-दूसरेके साथ आपकी लीलाकथाओंकी चर्चामें निमग्न रहते हैं और निर्मल अन्तःकरणवाले हैं। आप समस्त जीवोंके हृदयमें विराजमान रहते हैं। किन्तु कर्मोंमें उलझे चित्तवाले पुरुषोंकी अहङ्कार आदि चित्तवृत्तियोंसे आप ग्राह्य नहीं हो सकते, बल्कि बहुत दूर ही रहते हैं। श्रवण, कीर्त्तनादि आपके गुणगानसे जिसका चित्त शुद्ध हो गया है आप उन्हींके हृदयमें सदा विराजमान रहते हैं।

श्रीमद्भागवतमें और भी देखा जाता है,

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात्।
आकाशाद्घोषवान् प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा॥

छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः।
ओङ्काराद्व्यञ्जितस्पर्श-स्वरोष्मान्तःस्थभूषिताम्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२१/३८-३९)

जिस प्रकार मकड़ी अपने हृदयसे मुखके द्वारा जाला उगलती और फिर निगल लेती है, वैसे ही वेदमूर्त्ति अमृतमय घोषयुक्त

स्वयं-भगवान् हिरण्यगर्भात्मक स्पर्श आदि वर्णोंका सङ्कल्प करनेवाले मनरूप निमित्तकारणके द्वारा हृदयाकाशसे स्वयं-भगवान् अनाहतनाद अनन्त अपार अनेकों मार्गोंवालीको, वैखरीरूप वेदवाणीको स्वयं प्रकट करते हैं और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेते हैं। वह वाणी हृद्गत सूक्ष्म ओंकारके द्वारा अभिव्यक्त स्पर्श ('क' से लेकर 'म' अक्षर तक), स्वर ('अ' से लेकर 'औ' तक), ऊष्मा (श, ष, स, ह) और अन्तःस्थ (य, र, ल, व)—इन वर्णोंसे विभूषित है।

इसी प्रकार द्वादशस्कन्धमें भी कहा—

आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनन्तोपनस्ततः॥

(श्रीमद्भा० १२/५/८)

अर्थात् वे (स्वयं प्रकाश आत्मा) कार्य और कारण, व्यक्त और अव्यक्त सबसे परे हैं। वे आकाशके समान सबके आधार हैं, नित्य और निश्चल हैं, वे अनन्त हैं। आत्माकी उपमा आत्मा ही है।

इस प्रकार परमेश्वरके धर्मोंका विशेष रूपसे वर्णन होनेके कारण भूताकाशकी शङ्का निरस्त होती है॥१७॥

अवतरणिका भाष्य—ननु *'स एष संप्रसादोहस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते। एष आत्मेति होवाच। एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म'* (छा० ८/३/४) इति दहरवाक्यान्तराले जीवस्य परामर्शात् स एव दहरः स्यादिति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—संशय यह है कि दहर शब्दसे यह जीवात्मा भी हो सकता है, कारण—*'स एष सम्प्रसादो ... एतद् ब्रह्मेति'* (छा० ८/३/४) यह वह ईश्वर सम्प्रसाद (अनुग्रहप्राप्त) उपासक मृत्युके बाद इस भौतिक देहसे निकलकर परज्योतिको प्राप्त होकर अपने रूपमें अवस्थान करता है, उस परज्योति शब्दसे आत्मा अर्थात् विभु विज्ञानानन्दका निर्देश होता है। यही बात श्रुति कह रही है—वही (आत्मा ही) अमृत है, अभय है और वही ब्रह्म है। इस बातको दहरके मध्यमें कहनेसे जीवकी उक्ति दृष्ट होती है। इसलिए दहरसे जीवका ही बोध होता है। यदि ऐसा कहते हो तो इसके समाधानके लिए सूत्रकार कह रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। सम्प्रसादो जीवः। परं ज्योतिः परं ब्रह्म। एष परं ज्योतिःशब्दनिर्द्दिष्ट आत्मा विभुर्विज्ञानानन्दः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अवतरणिका भाष्यमें उक्त सम्प्रसाद शब्दका अर्थ जीवात्मा है। परज्योतिः अर्थात् परब्रह्म परमेश्वर। एषः—इस परज्योति शब्दसे जो निर्दिष्ट है, वही आत्मा अर्थात् विभु—विश्वव्यापक और सच्चिदानन्दस्वरूप है।

सूत्र—इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात्॥ १८॥

सूत्रार्थ—'इतरपरामर्शात्'—इतर-अन्य, दहरसे भिन्न जीवके उल्लेखके कारण 'सः' उपक्रमोक्त दहर शब्द वाच्य जीव ही होगा। 'इति' 'चेत्'—ऐसा यदि कोई कहे 'न' यह कहना सङ्गत नहीं है, कारण? 'असम्भवात्'—उपक्रममें वर्णित दहरके अपहृतपाप्मत्व इत्यादि आठ गुण जीवमें सम्भव नहीं हैं॥ १८॥

सूत्रानुवाद—दहर-विद्याके मध्यमें इतर जीवका भी परामर्श है, अतः जीव ही दहर होगा, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अपहृतपाप्मत्वादि गुण जीवमें सम्भव नहीं हैं॥ १८॥

गोविन्दभाष्य—मध्ये जीवपरामर्शादुपक्रमेऽपि स एवेति न शक्यं वक्तुम्। कुतः? असम्भवात्। उपक्रमोक्तस्य अपहतपाप्नत्वादि गुणाष्टकस्य जीवेऽनुपपत्तेरित्यर्थः॥ १८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—दहर-वचनोंके मध्यमें जीवका उल्लेख देखकर उपक्रममें वर्णित दहर जीव ही है, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ऐसा असम्भव है। उपक्रममें जो दहरके अपहतपाप्मत्व इत्यादि आठ गुणोंका वर्णन है, वे सब जीवमें सम्भव नहीं हैं अर्थात् असङ्गत हैं। इसलिए दहर जीव नहीं है॥ १८॥

सूक्ष्मा-टीका—मध्य इति। उपक्रमोक्तस्य उपक्रान्ते दहरे पठितस्य॥ १८॥

सूक्ष्मा-सार—'उपक्रमोक्तस्य'—उपक्रममें पठित अर्थात् दहरका उपक्रम करके उसके ही विशेषण रूपमें पठित अपहतपाप्मत्वादि आठ गुणोंके कहे जानेसे। असम्भव—इसलिए दहर जीव नहीं है॥ १८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत प्रकरणमें जिस श्रुतिपर विचार किया जा रहा है, उसके अन्तमें कहा गया है कि जो सम्प्रसाद (ईश्वर अनुग्रह प्राप्त) है, वह इस शरीरसे उत्थित होकर, परम ज्योतिको प्राप्तकर स्वीय रूपमें अवस्थान करता है, वह यही आत्मा है। संशय उठता है कि प्रक्रान्त दहर–विषय श्रुतिवचनके अन्तमें जब जीवका उल्लेख है, तब दहर जीव ही हो सकता है, ब्रह्म नहीं। इसी संशयका उत्तर इस सूत्रमें दिया गया है कि परिच्छिन्न जीवकी आकाशके साथ तुलना नहीं हो सकती और ब्रह्मसे भिन्न जीवमें अपहतपाप्मत्वादि गुण नहीं हो सकते।

श्रीमद्भागवतमें भी श्रीकपिल–देवहूति सम्वादमें पाया जाता है—

भूतेन्द्रियान्तःकरणात् प्रधानाज्जीवसंज्ञितात्।
आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२८/४१)

अर्थात् भूत, इन्द्रिय, अन्तःकरण और जीव संज्ञक आत्मासे सर्वोपादनरूप ब्रह्मसंज्ञक द्रष्टा भगवान् नित्य पृथक् हैं॥ १८॥

अवतरणिका भाष्य—स्यादेतत् दहरविद्यायाः परस्मात् *'य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य'* (छा॰ ८/७/१) इत्यादेर्जीवपरात् प्रजापतिवाक्यात् तदष्टकं दहरवाक्यान्तराले पठिते जीवेऽपि सम्भवेदतः स एव दहर इत्याशङ्क्य निराचष्टे—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पूर्वपक्षी कहते हैं—यह तो हो सकता है, क्या? यह कि अपहतपाप्मत्वादि आठ गुण जीवमें भी हो सकते हैं, किस प्रकार? इसका उत्तर यह कि दहर–उपासनाके पश्चात् उपासक जो यह आत्मा अपहतपाप्मा (पापनिर्मुक्त), जरारहित, मृत्युहीन, शोकातीत, कामनानिर्मुक्त, तृष्णारहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है, उसका ही अन्वेषण करें और उसका ही ध्यान करें इत्यादि। प्रजापतिके वाक्यसे जब जीव ही ज्ञात हो रहा है, तब दहरके अन्तरालमें, उपक्रम–उपसंहारके मध्य कहे गये उक्त गुणाष्टक जीवमें भी सम्भव हैं, अतएव जीव ही दहर है, इस आशङ्काके निराकरणके लिए कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—स्यादेतदिति। य इति आत्मा जीवलक्षणः। विमृत्युर्मरणरहितः। विजिघत्सः विगता जिघत्सा यस्य सः। एतद् गुणाष्टकविशिष्टं जीवस्य निजं स्वरूपम्। तदष्टकं गुणाष्टकम्—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—स्यादेतदित्यादि—य इत्यादि 'यः' अर्थात् जीवस्वरूप आत्मा, विमृत्युः—मरणहीन, विजिघत्सः—बुभुक्षा (भोजनेच्छा) जिसकी विगत हो गयी है—भोगेच्छासे शून्य। यह गुणाष्टक विशिष्टस्वरूप जीवमें स्वाभाविक है। तदष्टकम्से तात्पर्य है अपहतपाप्मत्व इत्यादि आठ गुण।

सूत्र—उत्तराच्चेदाविर्भावस्वरूपस्तु॥ १९॥

सूत्रार्थ—'उत्तरात् चेत्'—यदि दहर विद्याके बादमें लिखित प्रजापति वाक्यसे दहर शब्दको जीवपरक कहो, 'तु'—तो ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रजापतिके वाक्यमें साधनाके द्वारा जीवमें जो अपहतपाप्मत्वादि गुणविशिष्टस्वरूप उत्पन्न होता है, उसका ही यहाँ उल्लेख कर रहे हैं, 'आविर्भावस्वरूपः'—नित्य आविर्भूतस्वरूपका बोध नहीं होता, इसलिए प्रजापतिके वाक्यसे आविर्भूतस्वरूपको ग्रहण नहीं किया जा सकता॥ १९॥

सूत्रानुवाद—प्रजापतिके वाक्यमें परमात्माकी उपासनासे आविर्भूत स्व-स्वरूपवाले जीवात्मामें अपहतपाप्मत्वादि दहरके जो उपदेश हैं, वे परमात्माके लिए ही हैं, जीवमें सम्भव नहीं हैं॥ १९॥

गोविन्दभाष्य—शङ्काच्छेदाय तु-शब्दः। नेत्यनुवर्त्तते। प्रजापतिवाक्ये साधना-विर्भावितस्वरूपस्योपदेशात् न तेनाविर्भूतस्वरूपः शक्यो ग्रहीतुमित्यर्थः। दहरवाक्यार्थं तदष्टकं नित्याविर्भूतं तथैव प्रतीयात्। प्रजापतिवाक्योक्तं तत् साधनाविर्भावितम्। *'एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय'* (छा॰ ८/१२/३) इत्यादिना तथैव प्रतीतेरित्युभयोर्महदन्तरम्। किञ्च साधनाविर्भावितदष्टकेऽपि जीवे असम्भाव्याः सेतुत्वजगद्विधारकत्वादयो गुणाः परेशत्वं दहरस्य गमयन्ति॥ १९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—शास्त्रमें दो बातें हैं—एक साधन-बोधक और दूसरी साध्य-बोधक। साधन वाक्योंको साध्यपरक नहीं कहा जा सकता। इसी अभिप्रायसे सूत्रमें 'तु' शब्दका प्रयोग है, जिससे पूर्वोक्त शङ्का निरस्त हुई है। सूत्रमें 'न' पद न रहनेपर भी पूर्व सूत्रसे 'न'

शब्दकी इस सूत्रमें अनुवृत्ति है। प्रजापतिके वचनोंमें ब्रह्मोपासनारूप साधनाके द्वारा जीवका जो स्वरूप आविर्भूत होता है, उसका ही उल्लेख है। अतः साधनके द्वारा आविर्भूतस्वरूपके उपदेशसे नित्यसिद्धको ग्रहण नहीं किया जा सकता। दहर नित्यसिद्ध परमेश्वर-बोधक है और प्रजापतिके वाक्य साधनाके द्वारा जीवके आविर्भूतस्वरूपका बोधक हैं। अपहतपाप्मत्वादि आठ गुण नित्यसिद्ध स्वरूपके बोधक हैं—यह दहरका वाक्यार्थ है। इसके बाद उक्त *'एवमेव सम्प्रसाद'* इत्यादि श्रुतिसे यही प्रतीत होता है। अतएव दोनों वाक्योंके अर्थमें अनेक भेद हैं। और भी एक बात है कि साधनके द्वारा जो अष्टगुण जीवमें आविर्भूत होनेपर भी उस अष्टगुण विशिष्ट जीवमें विश्व-सेतुत्व, जगत्-विधारणत्व इत्यादि गुण किसी भी प्रकारसे सम्भव नहीं होते। इन गुणोंसे दहरके द्वारा परमेश्वरत्वका ही बोध होता है॥ १९॥

सूक्ष्मा-टीका—शङ्केति। साधनेति। साधनेन ब्रह्मोपासनेनाविर्भावितं तदष्टकवत् स्वरूपं यस्य स जीवः तथा तस्य तत्रोपदेशात्। तेनेति। प्रजापतिवाक्येन नित्यसिद्धरूपः परमात्मा न शक्यते नेतुमित्यर्थः। एतद्विदयति दहरेत्यादिना। एवमेवेति। आदिशब्दात् परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुष इति वाक्यशेषो ग्राह्यः। यत् परं ज्योतिः स उत्तमः पुरुषः श्रीहरिरित्यर्थः। लिङ्गान्तरमाह किञ्चेत्यादि॥ १९॥

सूक्ष्मा-सार—शङ्काच्छेदेति—पूर्वपक्ष द्वारा कथित शङ्काकी निवृत्तिके लिए। साधनेति—साधनकी सिद्धिके उपाय ब्रह्मकी उपासनाके द्वारा जो जीवका अष्टगुण समन्वितस्वरूप प्रकाशित होता है, उसी जीवके विषयमें इस प्रजापतिके वाक्यमें वर्णन है। इसलिए दोनों एक नहीं हैं। 'तेन'—इस प्रजापतिके वाक्यके द्वारा नित्यसिद्ध स्वरूप परमेश्वरको ग्रहण नहीं किया जा सकता—यह तात्पर्य है। इसीको दहर इत्यादि वाक्यके द्वारा विस्तारपूर्वक कहा जा रहा है। एवमेवैष वाक्यका अवशिष्ट वाक्य भी जानना चाहिये—*'परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन-रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः'* वह पुरुष (सम्प्रसाद जीव इस शरीरसे समुत्थान करके) परम ज्योतिःस्वरूपमें सम्पन्न (युक्त) होकर अपने स्वाभाविक रूपमें परिणत हो जाता है। जो परज्योतिः हैं, वही उत्तम पुरुष श्रीहरि हैं। किञ्च इत्यादि वाक्यके द्वारा और भी एक

कारण दिखाया है कि अष्टगुण विशिष्ट जीवमें सेतुत्व इत्यादि धर्म सम्भव नहीं हैं॥ १९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—दहर विद्याके द्वारा लिखित प्रजापतिके वाक्यका आश्रय करके यदि कोई जीवको ही ब्रह्मके समान अष्टगुणसे युक्त रूपमें विवेचना करके उसे दहर शब्दसे वाच्य कहनेका प्रयास करे, तो उसे जान लेना चाहिये कि जीवमें श्रीभगवान्‌की साधनासे अधिक-से-अधिक गुणाष्टकका आविर्भाव तो हो सकता है, किन्तु विष्णुसेतुत्व और जगद्विधारकत्व इत्यादि गुण उसमें कभी भी सम्भव नहीं हो सकते।

श्रीरामानुजाचार्यने भी कहा है कि अपहतपाप्मत्व इत्यादि गुण सर्वदा ब्रह्ममें ही रहते हैं। जीव कर्मफलबाध्य है, उसमें ये गुण कहाँ-से रहेंगे? जब जीव कर्म-बन्धनसे मुक्त होकर अपने स्वरूपको प्राप्त होता है, तभी जीवमें ये सब गुण प्रकाशित होते हैं। अपहतपाप्मत्व इत्यादि कितने ही गुण मुक्त जीव और ब्रह्ममें रहनेपर भी जगत्-सृष्टि, धारण एवं संहार करनेकी शक्ति भी ब्रह्मकी ही है, मुक्त जीवकी नहीं। परमेश्वर अनन्त कल्याण गुणोंके आधार हैं।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा॰ १/७/१०)

अर्थात् श्रीसूत गोस्वामीने कहा—ब्रह्मानन्दके सुखमें मग्न जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है, जो आत्मामें ही रमण करते हैं, वे भी मुक्त होकर अमित-विक्रम श्रीहरिकी फलकी कामनाओंसे रहित होकर अहैतुकी निष्काम सेवा करते रहते हैं, क्योंकि भगवान् श्रीहरि ऐसे ही गुणसम्पन्न हैं कि वे आत्मारामगणोंको भी आकर्षित कर लेते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृत (म॰ ६/१८५) में देखा जाता है—

आत्माराम पर्यन्त करे ईश्वर भजन।
ऐछे अचिन्त्य भगवानेर गुणगण॥

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने कहा—हे भट्टाचार्य! श्रीभगवान्‌के गुणसमूह इतने अलौकिक एवं चित्ताकर्षक हैं कि संसारसे मुक्त हुए आत्माराम मुनि भी उनकी भक्ति करते हैं॥ १९॥

अवतरणिका भाष्य—यद्येवं तर्हि तदन्तराले जीवप्रस्तावः किमर्थं तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—संशय यह है कि यदि ऐसा ही है, तो दहर उपक्रमके अन्तरालमें जीवका प्रस्ताव क्यों हुआ? इसके समाधानके लिए सूत्रकार कह रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—यद्येवमिति। तदन्तराले दहरवाक्यमध्ये।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अवतरणिका भाष्यके 'तदन्तराले' शब्दसे तात्पर्य है—'दहर वाक्यके बीच में'।

सूत्र—अन्यार्थश्च परामर्शः॥ २०॥

सूत्रार्थ—'परामर्शः'—दहरके अन्तरालमें जीवका उल्लेख, 'अन्यार्थश्च'—परमात्म-ज्ञानके लिए है॥ २०॥

सूत्रानुवाद—अन्तरालमें जीवात्माके लक्ष्यका सङ्केत (परामर्श) अन्य उद्देश्यसे ही है॥ २०॥

गोविन्दभाष्य—तत्र जीवपरामर्शः परमात्मज्ञानार्थ एव। यं प्राप्य जीवस्तदष्टकवता स्वरूपेणाभिनिष्पद्यते स एष परमात्मेति॥ २०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—दहरवाक्यके बीच जो जीवात्माका उल्लेख है, वह अन्य उद्देश्य अर्थात् परमात्माके स्वरूपज्ञानके लिए है। जिनको प्राप्त होनेपर उनके ही निष्कालुष्य इत्यादि अष्टगुणोंसे सम्पन्न स्वरूपसे सम्पन्न होते हैं, वे ही परमात्मा हैं। इन परमात्माको प्राप्त होकर जीव गुणाष्टकयुक्त स्वरूपमें अवस्थान करता है। यही ज्ञात करानेके लिए दहरवाक्यके मध्यमें जीवका उल्लेख है॥ २०॥

सूक्ष्मा-टीका—अन्यार्थेत्यादि स्पष्टम्॥ २०॥

सूक्ष्मा-सार—'अन्यार्थश्च' इत्यादि सूत्रार्थ सुस्पष्ट है, इसलिए विवृत्ति नहीं की गयी॥ २०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई पूर्वपक्ष करे कि यदि ऐसा ही है कि दहर शब्द ब्रह्मका ही ज्ञापक है, तो उसके अन्तरालमें अर्थात् दहरवाक्यके मध्यमें जीवका परामर्श अथवा उल्लेख क्यों है? तो इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि जीवका उल्लेख अन्यार्थ अर्थात् परमात्माके ज्ञानके लिए जानना चाहिये।

जिन्हें पाकर जीव अष्टगुणयुक्त स्वरूपसे सम्पन्न होता है, वे ही परमात्मा हैं। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मकी उपासनासे ब्रह्मको प्राप्त होनेपर ब्रह्मकी कृपासे अपहतपाप्मत्वादि अष्टगुणोंका आविर्भाव जीवमें हो सकता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या
चेतोमलानि विधमेद्गुण-कर्म्मजानि।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
साक्षाद् यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/३/४०)

जिस समय जीव श्रीहरिके पादपद्मकी सेवाकी अभिलाषासे उत्पन्न परम प्रेमभक्तिके बलसे गुण और कर्मसे उत्पन्न काम आदि अन्तःकरणकी मलराशिको विनाश करनेमें समर्थ होता है, तभी अपने निर्मल नेत्रोंके द्वारा सूर्यदेवके प्रकाशकी भाँति विशुद्ध अन्तःकरणमें आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करता है।

श्रीचैतन्यचरितामृत (अ॰ ४/१९२) में भी वर्णित है—

दीक्षाकाले भक्त करे आत्मसमर्पण।
सेइकाले कृष्ण तारे करे आत्मसम॥

सेइ देह करे तार चिदानन्दमय।
अप्राकृत देहे कृष्णेर चरण भजय॥

अर्थात् जब दीक्षा ली जाती है, तब भक्त श्रीभगवान्के लिए आत्मसमर्पण किया करता है, उसी समयसे ही श्रीकृष्ण उसे अपने समान चिदानन्दमय कर देते हैं। उस अप्राकृत देहसे ही भक्त श्रीभगवान्के चरणोंका सेवन किया करता है।

इसी प्रकार और भी देखा जाता है,

सर्व महा-गुणगण वैष्णव-शरीरे।
कृष्णभक्ते कृष्णेर गुण सकलि सञ्चारे॥

(चै॰च॰म॰ २२/७२)

अर्थात् वैष्णवोंके शरीरमें समस्त ही सद्गुण वर्त्तमान रहते हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण भक्तोंमें अपने गुणोंका सञ्चार करते हैं॥ २०॥

अवतरणिका भाष्य—ननु दहरोऽस्मिन्नित्यल्पत्वश्रवणात् (छा॰ ८/१/१) तदन्तराले पठितो जीव एव पूर्वत्रापि बोध्य इति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—यदि कहो *'दहरोऽस्मिन्'* (छा॰ ८/१/१) इस श्रुतिमें दहरको मध्यम परिमाणसे युक्त कहा गया है, इसलिए अन्तरालमें जीव पठित (कथित) है। अतएव जीव ही उपक्रम वाक्यमें पठित दहर शब्दसे बोध्य होगा, इसीके समाधानके लिए कह रहे हैं—

सूत्र—अल्पश्रुतेरितिचेत् तदुक्तम्॥ २१॥

सूत्रार्थ—'अल्पश्रुतेः'—दहरके अल्पपरिमाणत्व-मध्यम परिमाणत्व कथित होनेसे उपक्रम वाक्यमें भी दहरसे जीव कहा जाता है, 'इति चेत्'—यदि ऐसा कहा जाय तो 'तदुक्तं' उसका समाधान पहले ही कहा जा चुका है॥ २१॥

सूत्रानुवाद—दहरका अल्पपरिमाणत्व कथित होनेसे वह जीवका वाचक है, इस शङ्काका उत्तर दिया जा चुका है॥ २१॥

गोविन्दभाष्य—तत्र यत् समाधानं तत् प्रागेवोक्तम्। *'निचायत्वादेवं व्योमवच्च'* इत्यनेन विभोरपि प्रादेशमात्रत्वं तन्मात्रस्मृति-स्थानमानोपचारात्। स्मृतिभावापेक्षयावि-चिन्त्यमहिम्नस्तस्य तथा प्राकट्यादेव॥ २१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'निचायत्वादेवं व्योमच्च'* (वे॰सू॰ १/२/७) सूत्रमें स्मृति स्थान हृदयमें विभु परमेश्वरका प्रादेश परिमाणत्व सम्भव हो सकता है, क्योंकि स्मृति स्थानके परिमाणके अनुसार स्मर्यमाण आत्माका वह परिमाण औपचारिक (लाक्षणिक) है। स्मरणकारीकी स्मृतिकी महिमाके बलसे अचिन्तनीय महिमावाले उन श्रीभगवान्का

तत्-परिमाणमें (प्रादेश मात्रत्वादि रूपमें) उपासकके निकट प्रकट होना सम्भव है॥ २१॥

सूक्ष्मा-टीका—नन्विति। अल्पत्वं मध्यमत्वम्। पूर्वत्र दहरवाक्यादौ। अल्पेत्यादि स्पष्टम्॥ २१॥

सूक्ष्मा-सार—'अल्पत्व' का अर्थ है मध्यम परिमाणत्व। पूर्वत्र—इस दहरवाक्य इत्यादिमें अल्पत्वादि वाक्यका अर्थ सुस्पष्ट है॥ २१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—छान्दोग्योपनिषदमें *'दहरः अस्मिन् अन्तराकाशः'* (छा॰ ८/१/१) इसके मध्य क्षुद्र आकाश है—इससे अल्पत्व अर्थात् मध्यमत्वका वर्णन हुआ है। अतः यह जीवको ही लक्ष्य करके कहा गया है, ब्रह्मको नहीं। इसके समाधानके लिए सूत्रकार कह रहे हैं कि कुछ भी कहनेसे पूर्व ब्रह्मसूत्र (१/२/७) देख लेना चाहिये।

अचिन्त्यशक्तिशाली परब्रह्म भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए कभी अणु और कभी प्रादेश परिमाणरूपमें हृदयमें आविर्भूत होते हैं। सर्वशक्तिके आधार श्रीभगवान् इच्छामात्रसे सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर और महानसे भी महत्तर हो सकते हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

तान्येव तेऽभिरूपाणिरूपाणि भगवंस्तव।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२४/३१)

अर्थात् हे भगवन्! यद्यपि आप प्राकृतरूपरहित हैं, तथापि आपका जो अलौकिक अप्राकृत चतुर्भुजादिरूप है और जो-जो रूप आपके भक्तजनोंके लिए प्रीतिप्रद हैं, वे आपके समस्त रूप ही सम्भव हैं।

श्रीमद्भागवतमें और भी कहा है,

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-
मायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२/१२)

अर्थात् भगवान्ने प्रपञ्च जगत्में अपनी योगमायाके बलसे अपनी श्रीमूर्त्तिको प्रकटित किया था, यह श्रीविग्रह मर्त्यलीलाके लिए बड़ा उपयोगी था। उनका श्रीविग्रह इतना मनमोहक था कि स्वयं श्रीकृष्ण भी उसे देखकर विस्मित हो जाते थे। उनके इस रूपमें सौभाग्य और सौन्दर्यकी पराकाष्ठा थी। वे समस्त भूषणोंके भी भूषण हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृत (म॰ २१/१०१) में वर्णन है—

कृष्णेर यतेक खेला, सर्वोत्तम नरलीला
नरवपु ताँहार स्वरूप।

श्रीकृष्णकी (वैकुण्ठादि धामोंमें भिन्न-भिन्न स्वरूपसे) जितनी भी लीलाएँ हैं, उन सबमें उनकी नरवत् लीला (जो उन्होंने व्रजमें एक साधारण मनुष्यकी भाँति की हैं) सर्वश्रेष्ठ हैं। श्रीकृष्णका स्वरूप अनादिसिद्ध निजस्व नित्यरूप नरवपु है, अर्थात् नराकृति-द्विभुज, द्विपग आदिसे युक्त मनुष्यकी भाँति ही है॥ २१॥

अवतरणिका भाष्य—इतश्चैतदेवमित्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—'इतश्च' अर्थात् इस कारण भी दहर परमेश्वरस्वरूप है। सूत्रकार यह कहते हैं—

सूत्र—अनुकृतेस्तस्य च॥ २२॥

सूत्रार्थ—'तस्य'—उन नित्याविर्भूत अपहतपाप्मत्वादि गुणविशिष्ट दहरकी ही 'अनुकृतेः'—साधनाके द्वारा आविर्भूत गुणाष्टकको जीवके द्वारा अनुकरण करनेके कारण 'च'—भी दहर एवं जीव विभिन्न प्रतीयमान होते हैं॥ २२॥

सूत्रानुवाद—प्रजापतिके द्वारा प्रतिपादित अनुकर्त्ता (अनुकरण करनेवाला) जीव दहर शब्द प्रतिपादित अनुकार्य ब्रह्म नहीं हो सकता॥ २२॥

गोविन्दभाष्य—नित्याविर्भूततदष्टकविशिष्टस्य दहरस्य साधनाविर्भावितततदष्टकेन प्रजापतिवाक्योक्तेन जीवेनानुकरणात् तस्मादितरः सः। पूर्वमनृतापिहितस्वरूपः पश्चात् ब्रह्मोपासनया संछिन्नपिधानस्तदुपसम्पत्त्याविर्भावितततदष्टकविशिष्टः सन् तत्समो भवतीति प्रजापतिनिगदितस्य दहरानुकारः। अनुकार्यानुकर्त्रोर्मिथोऽन्यत्वन्तु सुसिद्धं *'पवनमनुहरते*

हनुमान्' (श्रीहरि॰व्या॰ ४/२१८) इत्यादिषु। दृश्यते च मुक्तस्य ब्रह्मानुकारः—*'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'* (मु॰ ३/१/३) इति श्रुत्यन्तरे॥ २२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—दहरके ये अष्टगुण नित्यसिद्ध हैं और प्रजापतिके वाक्यके द्वारा वर्णित जीवमें जो गुणाष्टकका आविर्भाव है, वह जीवके द्वारा उक्त गुणसम्पन्न दहरके अनुकरणसे साधित होता है, इसलिए दहरसे जीव स्वतन्त्र है, भिन्न है। जीवका स्वरूप पहले अर्थात् ब्रह्मोपासनाके पूर्व अविद्यासे आवृत होता है, बादमें ब्रह्मोपासनाके द्वारा अविद्याका आवरण छिन्न हो जानेपर परज्योतिकी सन्निधान प्राप्तिसे अपने अष्टगुण आविर्भूत होते हैं। तद्विशिष्ट होकर उसे ब्रह्मकी समता अर्थात् तुल्यता प्राप्त होती है। यही प्रजापतिवाक्यमें वर्णित जीवके दहरका अनुकरण कार्य है। एक अनुकार्य और दूसरा अनुकर्त्ता अर्थात् अनुकरणकारी है। अनुकार्य और अनुकरणकारीका परस्पर प्रभेद चिरप्रसिद्ध है। जिस प्रकार 'देखो, वेगवान हनुमान वायुका अनुकरण करते हैं' (*पवनमनुहरते हनुमान्* श्रीहरि॰व्या॰ ४/२१८) इत्यादि वाक्यसे वायु और हनुमानका भेद स्पष्ट देखा जा सकता है। मुक्त जीवके द्वारा ब्रह्मका अनुकरण अन्य श्रुतिमें भी देखा जाता है। *यथा निरञ्जन परमं साम्यमुपैति* (मु॰ ३/१/३) अर्थात् उस समय जीव उपाधिमुक्त होकर परम समताको प्राप्त हो जाता है॥ २२॥

सूक्ष्मा-टीका—अन्विति। चावधृतौ। अनुकरणं नाम तत्समतया वर्त्तनम्। तस्मात् जीवात्। स दहरः। इह स्फटियति पूर्वमिति। अनृतापिहितमविद्यासंवृतं स्वरूपं यस्य सः। संछिन्नपिधानो विनष्टाविद्यः। तदुपसंपत्त्या परंज्योतिःसन्निधिलाभेन। तत्समो ब्रह्मतुल्यः। मिथोऽन्यत्वं परस्परभेदः॥ २२॥

सूक्ष्मा-सार—सूत्रस्थ 'च' शब्द अवधारण (निश्चय) अर्थमें है अर्थात् उनका ही अनुकरण—यह बोध होता है। अनुकरण शब्दका अर्थ है, उसके समान भावमें अवस्थान। *'तस्मादितरः सः'* इति—तस्मात्—इस जीवसे, 'इतरः'—अन्य, 'सः'—दहर। *'पूर्वमनृतादि....अपिधानः।'* इत्यादि वाक्यसे भाष्यकारने दहर विषयको स्पष्ट कर दिया है। *'अनृतापिहित'* अर्थात् जिसका स्वरूप अविद्या द्वारा आच्छादित है—इस व्युत्पत्तिसे प्राप्त अविद्याच्छन्न स्वरूप। *'संछिन्नपिधानः'*—संछिन्न अर्थात् नष्ट,

पिधान अविद्यारूप आवरण जिसका अर्थात् विनष्टाविद्य, *'तदुपसम्पत्त्या'*—उन ब्रह्मके समीपमें गति द्वारा अर्थात् परज्योतिःका सान्निध्य प्राप्त करके *'तत्सम भवतीति'*—ब्रह्मतुल्य होता है। *'मिथोऽन्यत्वन्तु सुसिद्ध'* परस्पर प्रभेद स्पष्ट है॥ २२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—जीव ब्रह्मका अनुकरण करता है, कहनेका अर्थ है कि जो अनुकरण करता है, और जिसका अनुकरण किया जाता है—इन दोनोंका प्रभेद प्रसिद्ध है। छान्दोग्यमें प्रजापतिके वाक्यमें भी इस अनुकरणका उल्लेख है। मुण्डकोपनिषदमें द्रष्टव्य है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं,
कर्त्तारमीरां पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय,
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

अर्थात् जिस समय द्रष्टा सुवर्णवर्ण और ब्रह्माके भी उत्पत्तिस्थान उन जगत्कर्त्ता ईश्वर पुरुषको देखता है, उस समय वह विद्वान पाप-पुण्य दोनोंका त्यागकर निर्मल हो कर अत्यन्त समताको प्राप्त हो जाता है।

यहाँ भी देखा जा सकता है कि जीव ब्रह्मका अनुकरण करता है और समानता प्राप्त करता है।

श्रीमद्भागवतमें भी देखा जाता है,

अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्।
एवं समीक्ष्य चात्मानमात्मन्याधाय निष्कले॥

(श्रीमद्भा॰ १२/५/११)

श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरने इस श्लोककी टीकामें लिखा है—

"योऽहं स ब्रह्मैवाहं न संसारीति भावनया शोकादिनिवृत्तिः ब्रह्माहमिति अहमेव ब्रह्मेति भावनया च ब्रह्मणः परोक्षनिवृत्तिर्भवतीति व्यतीहारो दर्शितः। निष्कले निरुपाधौ आत्मनि ब्रह्मणि। पक्षे अहं धाम सूर्योपमस्य परमेश्वरस्य त्विट्कणश्चित्कण एवेत्यर्थः। 'गृहदेहत्विट्प्रभावधामनि' इत्यमरः। कीदृशं ब्रह्मपरं 'नारायणपरो विप्रः' इतिवद् ब्रह्मोपासकमित्यर्थः। अतएव

ब्रह्माहं ब्रह्मणः परमेश्वरस्यैवाहमिति षष्ठीतत्पुरुषः। एवं परमं पदं ब्रह्मस्वरूपं चरणारविन्दं वा समीक्ष्य आत्मानं स्वं आत्मनि परमात्मनि कृष्णे निष्कले निष्को वक्षोऽलङ्कार स्तद्वति।"

अर्थात् जो मैं हूँ, वह ब्रह्म मैं हूँ, मैं संसारी नहीं हूँ, इस भावनासे शोकादि चले जाते हैं। ब्रह्म मैं हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ—इस भावनासे भी ब्रह्मकी परोक्ष निवृत्ति होती है। यहाँ व्यतिहार समास दिखाया गया है। निष्कल (अखण्ड) निरुपाधि आत्मामें अर्थात् ब्रह्ममें, दूसरे पक्षमें मैं धाम हूँ, सूर्यके समान परमेश्वरका चित्कण हूँ। अमरकोषमें कहा है—*'गृहदेहत्विट् प्रभाव धामनि।'* अर्थात् गृह, देह, त्विट्, प्रभाव और धाम इन सभी अर्थोंमें धाम शब्दका व्यवहार होता है। किस प्रकार? *'ब्रह्म परं नारायण परो विप्रः'* इस प्रकार ब्रह्मका उपासक है। अतएव ब्रह्म मैं हूँ—इसका अर्थ है मैं परमेश्वरका हूँ—यहाँ षष्ठी तत्पुरुष समास है। इसके बाद परमपद ब्रह्मके स्वरूप अथवा ब्रह्मके चरणकमलका दर्शन करके स्वयं परमात्मा श्रीकृष्णमें निष्कल अर्थात् वक्ष-अलङ्कार विशेष (हारस्वरूप) हो जाते हैं।

इस प्रसङ्गमें श्रीगीताका *'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा'* (१८/५४) श्लोक भी आलोच्य है॥ २२॥

सूत्र—अपि स्मर्यते॥ २३॥

सूत्रार्थ—'स्मर्यते अपि'—जीवके द्वारा ब्रह्मका अनुकरण स्मृतिशास्त्रोंमें भी देखा जाता है। अतएव जीव और दहर भिन्न हैं॥ २३॥

सूत्रानुवाद—संसारी जीवात्माकी भी मुक्तावस्थामें परब्रह्मानुकारिता स्मृतिमें भी बतलायी गयी है॥ २३॥

गोविन्दभाष्य— *'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'* (श्रीगी॰ १४/२) इति। मुक्तानां भगवत्साधर्म्यलक्षणः स स्मर्यते। तस्मात् दहरः श्रीहरिरेव न जीवः॥ ॥ २३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'इदं ज्ञानं.......न व्यथन्ति च'* (श्रीगी॰ १४/२) इस ब्रह्मज्ञानको प्राप्त कर लेनेके बाद जीव मेरे साधर्म्यको प्राप्त करते हैं, इसके फलस्वरूप प्रलयके अन्तमें सृष्टिके आरम्भ होनेपर वे जन्म

ग्रहण नहीं करते और प्रलयकालमें व्यथित नहीं होते। इस स्मृतिवाक्यसे जाना जा सकता है कि मुक्तपुरुषोंको भगवान्का साम्यधर्म प्राप्त होता है, यह साम्य-धर्म-लाभरूप अनुकरणस्मृतिमें भी प्राप्त है। अतएव दहर शब्दका अर्थ श्रीहरि ही है, जीव नहीं॥ २३॥

सूक्ष्मा-टीका—इदमिति। इह वचनेन भेदेऽपि जीवबहुत्वमुक्तं तेन तत्र भगवतो मुक्तानाञ्च मिथो भेदः सिद्धः॥ २३॥

सूक्ष्मा-सार— *'इदमित्यादि'*—इस स्मृतिवाक्यमें जीव एवं परमेश्वरका भेद जाना जाता है। कारण साधर्म्य शब्दका अर्थ सादृश्य है, भिन्न होनेसे तद्धर्मयुक्तको सदृश कहा जाता है। अतएव मुक्त जीव एक नहीं है, मुक्तावस्थामें भी जीवका बहुत्व स्मृतिवाक्य द्वारा बोधित है। अथच ईश्वर एक हैं, इसलिए मुक्तपुरुषगण और परमेश्वर परस्पर भिन्न हैं—यह सिद्ध हुआ॥ २३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्व सूत्रमें जो जीवके ब्रह्मानुकरणके सम्बन्धमें उल्लेख हुआ था, उसका प्रमाण स्मृतिशास्त्रमें भी पाया जाता है। इस विषयमें श्रीलबलदेव प्रभुने अपने भाष्यमें श्रीगीताका *'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य'* श्लोक उद्धृत किया है। श्रीमद्भागवतमें भी द्रष्टव्य है—*'ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम्।'* (श्रीमद्भा॰ ११/५/४८)

अर्थात् शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्व इत्यादि नरपतियोंने शयन, आसन इत्यादि समस्त कार्योंमें वैरभावसे जिनका चिन्तन करते हुए वैसी ही गति, विलास, अवलोकन इत्यादि क्रियाओंके द्वारा वैसी ही बुद्धियुक्त होकर उनका (श्रीकृष्णका) साम्य प्राप्त किया था, तब उन श्रीकृष्णमें अनुरक्त व्यक्ति जो उनकी समानता प्राप्त करते हैं, इस विषयमें और कहना क्या है?

और भी,

समाधियोगेन नरनारायणाख्यं भगवन्तं वासुदेवमुपासीनः कालेन तन्महिमानमवाप। (श्रीमद्भा॰ ५/४/५)

अर्थात् समाधियोगके द्वारा भगवान् वासुदेवके नरनारायणरूपकी उपासना करते हुए समय आनेपर उन्हींकी महिमाको प्राप्त हुए।

इस श्लोकके 'महिमा' शब्दके लिए श्रीवीरराघवने कहा है कि छान्दोग्यमें उल्लिखित मुक्तस्वरूपमें अष्टलक्षणका आविर्भाव होना ही महिमाको प्राप्त करना है। श्रीधरने महिमाका अर्थ 'जीवन्मुक्ति' बतलाया है, तो श्रीविश्वनाथने इसका अर्थ 'वैकुण्ठ' बतलाया है।

श्रीमद्भागवतमें और भी देखा जाता है, *'परमभक्तियोगानुभावेन परिभावितान्तर्हृदयाधिगते भगवति सर्वेषां भूतानामात्मभूते प्रत्यगात्मन्येवात्म-नस्तादात्म्यमविशेषेण समीयुः।'* (श्रीमद्भा० ५/१/२७)

अर्थात् भक्तियोगके प्रभावसे उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया था और उनमें भगवान्का आविर्भाव हो गया था। उन्होंने औपाधिक देह एवं मनोधर्मका परित्याग करके भगवत्-साधर्म्यको प्राप्त कर लिया था।

इस श्लोकके 'तादात्म्य' शब्दके लिए श्रीवीरराघवने कहा है—साधर्म्य अर्थात् समान धर्म-वैशिष्ट्य; श्रीविजयध्वज कहते हैं 'तद्रूपसाम्य' अर्थात् श्रीभगवान्के समानरूप। श्रीजीव कहते हैं—'तत्साम्य' अर्थात् श्रीभगवान्की समता; श्रीशुकदेव कहते हैं—विभिन्नांश जीव श्रीभगवान्से भिन्न होनेपर भी अंशी भगवान्से पृथक् उसका अस्तित्व नहीं है, वह श्रीभगवान्से अभिन्न है, यही तादात्म्य शब्दका तात्पर्य है। अतएव साधर्म्य शब्दमें श्रीभगवान्के साथ जीवका एकीभाव अर्थात् केवलाभेद अथवा लय-प्राप्ति नहीं समझना चाहिये॥ २३॥

६—प्रमिताधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—कठवल्ल्यां पठ्यते—(२/१/२) *'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य ततो न विजुगुप्सते'* इत्यादि। इह वीक्षा। अङ्गुष्ठमात्रो जीवः श्रीविष्णुर्वेति। *'प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिरङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप'* (श्वे० ५/७-८) इत्यादि श्वेताश्वतरवाक्यैकार्थ्यात् जीव इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—कठोपनिषदकी एक वल्लीमें पढ़ा जाता है *'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो .... विजिगुप्सते'* (कठ० २/१/१२) शरीर स्थित हृदयमें अङ्गुष्ठ परिणाम पुरुष अर्थात् आत्मा विराजमान है, वह अतीत एवं भविष्यका नियामक है। उस आत्माकी उपासना करनेपर उपासक और जुगुप्सित नहीं होता अर्थात् श्लाघनीय (प्रशंसनीय) होता

है इत्यादि बातें बतायी गयी हैं। श्रुतिमें वर्णित इस विषयपर संशय है कि अङ्गुष्ठ परिमाण पुरुष कौन है? जीव अथवा परमेश्वर श्रीविष्णु? पूर्वपक्षी कहते हैं—श्रुतिमें जब मध्यम परिणाम-विशिष्ट पुरुषके विषयमें सुना जाता है, इस उक्तिकी और *'प्राणाधिपः सञ्चरति रवितुल्यरूपः'* (श्वे० ५/७-८) अङ्गुष्ठ परिमाण, सूर्यके समान ज्योतिर्मय प्राणाधिपति पुरुष निजकर्मवश सञ्चरण करता है इत्यादि और श्वेताश्वतरोपनिषदकी उक्तिके साथ एकवाक्यता ग्रहण करनेपर उसे (अङ्गुष्ठ परिमाण पुरुषको) जीव ही कहेंगे। सूत्रकार इस पूर्वपक्षका समाधान करते हुए कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्राकाश-शब्दस्यादिमे भूते रूढस्यापि प्रसिद्धि-वशादाकाशोपमत्वादिलिङ्गाच्च ब्रह्मपरत्वं यथा दर्शितं तथात्राङ्गुष्ठमात्रशब्दस्याङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप इति प्रसिद्धिवशात् परिच्छिन्नत्वलिङ्गेन जीवपरत्वमस्त्विति दृष्टान्तसङ्गत्याह कठवल्ल्यामिति। अङ्गुष्ठेति। आत्मनि देहे मध्ये हृदीत्यर्थः। ततस्तमुपास्य न विजुगुप्सते श्लाघ्यो भवतीत्यर्थः। अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः एतद्वैतदिति। तत्रेदं वाक्यमादिपदाद्ग्राह्यम्। अधूमक इति लिङ्गव्यत्ययेन निर्धुमज्योतिरिवेत्यर्थः। नित्यतामाह स एवाद्य इति। अद्य वर्त्तमानकाले स एवास्ति। श्वो भविष्यत्काले स एव भविता। भूतेऽपि स एवाभूदित्यस्योपलक्षणमेतत्। यन्नचिकेताः पप्रच्छ—यत्र धर्मादित्वादित्यादिना तद्वन्त्वेतदेव। प्राणाधिप इति। वनपर्वणि च—ततः सत्यवतः कायात् पाशवद्धं वशं गतम्। अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलादिति—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इससे पूर्व जिस प्रकार आकाश शब्दसे आदिभूत आकाशरूप भूतमें प्रसिद्धि रहनेपर भी लौकिक व्यवहारसे आकाश पदका आकाश-सादृश्यरूप अनुमापक (व्यापककी अन्तःस्थितिका अनुमान करानेवाले) लिङ्ग (प्रमाण) वशतः ब्रह्ममें तात्पर्य देखा गया, इसी प्रकार यहाँ अङ्गुष्ठमात्र शब्दकी अङ्गुष्ठ परिमाण सूर्यके समान प्रकाशस्वरूप प्रसिद्धिको ग्रहण करके परिच्छिन्न परिमाणत्वानुसार जीवमें तात्पर्य होना चाहिये। इस दृष्टान्तको लेकर कहते हैं कि कठवल्लीमें कहा है अङ्गुष्ठमात्र इत्यादि। *'आत्मनीति'* आत्मनि अर्थात् देहमें स्थित, मध्ये—हृदयमें अर्थात् इसके बाद उसकी (देहान्तर्वर्ती हृदयमें स्थित आत्माकी) उपासना करनेपर और निन्दाका

भाजन नहीं होता अर्थात् श्लाघनीय होता है। रवितुल्यरूप (श्वे॰ ५/७-८) इत्यादि वाक्यके अन्तर्गत आदि पर से जो श्रुति ग्राह्य है, वह यह है—*'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो..... एतद्वैतत्।'* (कठ॰ २/१/१३) अङ्गुष्ठ परिमाण वह जीवात्मा धूमहीन अग्निके समान है, वह वर्त्तमान और भविष्यका नियन्ता है, वही आदि पुरुष है, वही भविष्यमें रहेगा और वही यह समस्त प्रपञ्च है। इस श्रुतिके अन्तर्गत अधूमक पदमें पुल्लिङ्ग छोड़कर नपुंसक लिङ्ग लेना होगा अर्थात् *'अधूमकम् ज्योतिः'* जिसका अर्थ है निधूम ज्योतिके समान उज्ज्वल। *'स एवाद्यः'* का अर्थ है वे नित्य पुरुष हैं। 'अद्य' शब्दका अर्थ है वे वर्त्तमान कालमें हैं। 'श्व' अर्थात् वे भविष्यकालमें भी रहेंगे। इन दोनों कालोंमें उनकी सत्तासे यह भी जाना जा सकता है कि वे अतीतमें भी थे। कठोपनिषद में नचिकेताके पूछनेपर *'यत्र धर्माद्'* (कठ॰ १/२/१४) जहाँ धर्मका अभ्युदय इत्यादि ग्रन्थ (श्लोक छन्द) द्वारा जो वस्तु बतायी गयी है, वह प्रत्यगात्मा जीव ही है। *'प्राणाधिपः सञ्चरति'* (श्वे॰ ५/७-८) इत्यादि श्वेताश्वेतरीय उपनिषद वाक्यके साथ एक ही तात्पर्यक हेतु महाभारतके वनपर्वके सावित्री-सत्यवान् उपाख्यानमें भी है—

ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वंशगतः।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्॥
(म॰भा॰ ३/१९७/१७)

अर्थात् मृत्युके बाद यमराजने सत्यवान्के शरीरसे अपने अधीनीभूत अङ्गुष्ठ परिमाण पाशबद्ध जीवात्माको बलपूर्वक खींचकर निकाल लिया। यहाँ विरोध अर्थात् संशयका उत्तर देते हैं—

सूत्र—शब्दादेव प्रमितः॥ २४॥

सूत्रार्थ—'प्रमितः'—अङ्गुष्ठ परिमित पुरुष श्रीविष्णु ही हैं, कारण 'शब्दादेव'—'उपासना भूतभवास्य' इत्यादि श्रुतिवाक्य इसका प्रमाण हैं॥ २४॥

गोविन्दभाष्य—अङ्गुष्ठप्रमितः श्रीविष्णुरेव। कुतः? शब्दादेव। *'ईशानो भूतभव्यस्य'* (कठ॰ २/१/१२) इति श्रुतेरेवेत्यर्थः न वेदृगैश्वर्यः कर्माधीनस्य जीवस्य सम्भवेत्॥ २४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—श्रुतिमें कथित अङ्गुष्ठ परिमित पुरुष श्रीविष्णु ही हैं, जीव नहीं। किस हेतुसे? *'शब्दादेव'*—क्योंकि श्रुति वही कह रही है, यथा—*'ईशानो भूतभव्यस्य'* (कठ॰ २/१/१२) वे अतीत और भविष्य सभी वस्तुओंके नियन्ता हैं, यह नियन्तृत्व अथवा ऐश्वर्य जीवमें हो नहीं सकता। जीव कर्माधीन है॥ २४॥

सूक्ष्मा-टीका—शब्दादिति स्पष्टम्॥ २४॥

सूक्ष्मा-सार—भाष्यका अर्थ सुस्पष्ट है॥ २४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि पूर्वपक्ष करे कि कठोपनिषदमें देखा जाता है कि *'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्ये आत्मनि तिष्ठति'* (कठ॰ २/१/१२) अर्थात् अङ्गुष्ठमात्र पुरुष आत्मामें अवस्थान करता है। पुनः श्वेताश्वतरोपनिषदमें पढ़ा जाता है *'प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः, अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः'* (श्वे॰ ५/७-८) इन दोनों श्रुतिवाक्योंको एक करके जीवको ही वह अङ्गुष्ठमात्र पुरुष कहा जायेगा। इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकारने प्रस्तुत सूत्रमें समाधान किया है कि अङ्गुष्ठ परिमित पुरुष श्रीविष्णु ही हैं। इसका कारण भी उल्लिखित है—*'ईशानो भूतभव्यस्य'* (कठ॰ २/१/१२)। अतः इस श्रुतिके प्रमाणके आधारपर श्रीविष्णु ही भूत-भविष्यके नियामक प्रमाणित होते हैं। कर्माधीन जीवमें कभी भी नियन्त्रणकी शक्ति नहीं रह सकती।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

स वा इदं विश्वममोघलीलः
सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन्।
भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः
षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः॥

(श्रीमद्भा॰ १/३/३६)

भगवान् विष्णुकी लीला अलौकिक एवं अव्यर्थ-अमोघ है। वे इस विश्वकी सृष्टि, पालन एवं ध्वंस करते हैं। वे समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामी रूपसे विराजमान हैं और स्वतन्त्र रहकर छह इन्द्रियोंके विषयोंको गन्ध-ग्रहण करनेकी भाँति स्पर्श कर रहे हैं। किन्तु छह इन्द्रियोंके नियन्त्रक हृषीकेश इन सभी कार्योंमें आसक्त नहीं होते।

भगवन् सर्वभूतानामध्यक्षोऽवस्थितो गुहाम्।
वेद ह्यप्रतिरुद्धेन प्रज्ञानेन चिकीर्षितम्॥
(श्रीमद्भा० २/९/२४)

अर्थात् श्रीब्रह्माजीने कहा—हे भगवन्! आप तो सम्पूर्ण प्राणियोंके अध्यक्ष हैं। सबकी हृदय-कन्दराओंमें अन्तर्यामीरूपमें विराजित रहते हैं। आप अपने अप्रतिहत ज्ञानके प्रभावसे सभीके अभीष्टको जानते हैं। अतः मैं क्या करना चाहता हूँ—इससे आप अवगत ही हैं।

श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि यहाँ सन्देहका अवसर ही नहीं है। ईशान् (शासक) आदि शब्दसे ही अङ्गुष्ठ परिमितकी महिमा प्रकट होती है, जैसे कि दहरवाक्यमें सूक्ष्मकी व्यापकता स्वीकार कर ली गयी, वैसे ही अङ्गुष्ठमात्रकी ईशानता स्वीकार करनी चाहिये। श्रुति सर्वव्यापक भगवान्को यहाँ जिस स्थानपर जिस रूपसे उपयुक्त समझती है, वहाँ वैसा ही उनका वर्णन करती है। भगवान्में ही अङ्गुष्ठमात्र बननेकी क्षमता है॥ २४॥

अवतरणिका भाष्य—ननु विभोस्तत्प्रमितत्वं कथं तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—यदि कहो कि विश्वव्यापक अनवच्छिन्न परमेश्वरका यह परिमितत्व किस प्रकारसे सम्भव है। इस विषयमें समाधान कर रहे हैं—

सूत्र—हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्॥ २५॥

सूत्रार्थ—'हृद्यपेक्षया तु'—हृदयके परिमाणके अनुसार ही परमेश्वरकी यह परिमाणोक्ति औपचारिक अर्थात् लाक्षणिक है अथवा उपासकके हृदयमें अचिन्त्य महिमासे युक्त श्रीहरिका अङ्गुष्ठ परिमाणमें प्रकाश है, इस कारणसे परमेश्वरके विषयमें अङ्गुष्ठ परिमितत्वका कथन है। यदि कहो हाथी, घोड़े आदि प्राणी जो मनुष्यसे भिन्न हैं, उनके हृदयका परिमाण भी तो अङ्गुष्ठ परिमित नहीं है, इसका समाधान यह है कि *'मनुष्याधिकारत्वात्'*—मनुष्यको अधिकार करके ही शास्त्रकी उक्ति है। मनुष्यमात्रके अङ्गुष्ठ परिमाण हृदयको लक्ष्य करके अङ्गुष्ठ प्रमितत्व कहा गया है॥ २५॥

सूत्रानुवाद—यद्यपि शास्त्रकी प्राणीमात्रके लिए ही प्रवृत्ति है, तथापि मनुष्य ही उपासक एवं प्रयोजनवाला होता है, इसलिए शास्त्र मनुष्यको ही लक्ष्य करके सब कुछ कहता है। इसलिए मनुष्यके हृदयकी अपेक्षा करके ही कहा गया है 'अङ्गुष्ठमात्र'॥ २५॥

गोविन्दभाष्य—तु शब्दोऽवधारणे। अङ्गुष्ठमात्रे हृदि स्मर्यमाणत्वाद्वि-भोरप्यङ्गुष्ठमात्रत्वम्। हृन्मानापेक्षया तस्मिन् मानोपचारात् स्मर्त्तृभावापेक्षया तादृशस्यापि तस्याचिन्त्यमहिम्नस्तथा हृदि प्राकट्याद्वेत्युदितं प्राक्। ननु देहिभेदेन हृन्मानभेदात् तावत्त्वं तस्याशक्यं सम्पादयितुमिति चेत् तत्राह मनुष्येति। शास्त्रमविशेषेण प्रवृत्तमपि मनुष्यानधिकरोति। तेषां सामर्थ्यादिजुषामुपासकत्वसम्भवात्। ततश्च मनुष्यवपुषामैक-विध्यात् तद्वतां तदविरुद्धम्। तेन करितुरगादिहृदामनङ्गुष्ठमात्रत्वेऽपि न विरोधः। यत्तु जीवस्याप्यङ्गुष्ठमात्रत्वमुक्तं तत् किल तावति हृदि स्थितेरेव न तु तावत् स्वरूपतया बालाग्रशतभागेत्याद्युत्तरवाक्येन (श्वे॰ ५/९) तस्याणुत्वविनिश्चयात्। तस्मादिह श्रीविष्णुरेवाङ्गुष्ठमात्र इति॥ २५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्दका अर्थ है—अवधारण 'हृद्यपेक्षया'—हृदयके परिमाणके अनुसार। बात यह है कि हृदयमें स्मर्यमाण (उपास्यमान अथवा ध्येयमान) परमेश्वरको विभु (विश्वव्यापक) होनेपर भी अङ्गुष्ठ परिमाण कहा है—हृदयके परिमाणके अनुसार हृदयके उपास्यका परिमाण लाक्षणिक है अथवा स्मरण करनेवाले उपासकके मनके भावानुसार अचिन्त्य महिमावान विभु परिमाण श्रीहरिका हृत्-परिमाणानुसार प्राकट्य होता है, यह पहले भी कहा जा चुका है। अब आपत्ति यह है कि हाथी, घोड़ा, कीट-पतङ्ग आदिके शरीरोंमें जब प्रभेद (विभिन्नता) है, तब हृदयका परिमाण भी अलग-अलग है, देहीके भेदसे हृदयके परिमाणका भी भेद होना चाहिये, वहाँ अङ्गुष्ठ प्रमितता कैसे सङ्गत हो सकती है? अतएव अङ्गुष्ठ परिमाण प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं *'मनुष्याधिकारत्वात्'*—श्रुति इत्यादि शास्त्र यद्यपि अविशेष (साधारण) भावमें प्रवृत्त हैं, तो भी यह जान लेना चाहिये कि उनकी प्रवृत्ति विशेष करके मनुष्य जातिको अधिकार करके ही है। जिनमें उपासनाके अङ्ग-सामर्थ्य, चित्त-नियमन, वैराग्य इत्यादि धर्म हैं, उन्हें ही उपासक कहा जा सकता है, इसलिए मनुष्यशरीर

मात्र ही एक प्रकारके हैं—ऐसे शरीरधारी उपासकोंका, अङ्गुष्ठ-परिमित-हृदयत्वका होना असङ्गत नहीं है और इसी समाधानके अनुसार हाथी, घोड़े इत्यादिका हृदय अङ्गुष्ठ परिमाण न होनेपर भी अङ्गुष्ठमात्र हृदयत्वमें कुछ विरोध नहीं है। तब यह जो संशय है कि जीवका तो अङ्गुष्ठ-परिमाणत्व कहा गया है, वह तत् परिमाण अर्थात् अङ्गुष्ठ परिमाण हृदयमें उसकी (जीवकी) तत् परिमाण भावसे अवस्थितिके लिए है, अन्यथा अङ्गुष्ठ परिमितरूपमें भी नहीं है। इसका परिमाण उत्तर वाक्य (श्वे॰ ५/९) द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं कि जीव केशके अग्रभागके सौंवें भागका भी सौंवा भागस्वरूप है। इसलिए अणु-परिमाण ही जीवका सिद्धान्त है। अतएव अङ्गुष्ठ परिमाण पुरुष श्रीविष्णु ही हैं॥ २५॥

सूक्ष्मा-टीका—नन्वङ्गुष्ठमात्रत्वाल्लिङ्गात् जीव एव सोऽस्त्विति चेत् तत्राह हृद्यपेक्षयेति। लिङ्गापेक्षयेशान इति श्रुतेर्वलिष्ठत्वात् न तेन लिङ्गेन जीवः प्रतिपाद्य इत्यर्थः। तावत्त्वमङ्गुष्ठप्रमितत्वम्। तस्य ब्रह्मणः। तेषां मनुष्याणाम्। उक्तं श्वेताश्वतरश्रुत्या। तावति अङ्गुष्ठप्रमिते। तावत् स्वरूपतयेत्यङ्गुष्ठपरिमितस्वरूपतयेत्यर्थः। एवं सत्यङ्गुष्ठप्रमितत्वबोधकवाक्यानि लिङ्गदेहविशिष्ट जीवात्मबोधकानीति बोध्यम्। तस्येति जीवस्य॥ २५॥

सूक्ष्मा-सार—संशय यह है कि अङ्गुष्ठ-परिमाणरूप हेतुवश अङ्गुष्ठमात्र पुरुष जीव ही होना चाहिये, यदि यह कहते हो तो उसके समाधानके लिए सूत्रकार कह रहे हैं—*'हृद्यपेक्षयेति'*। लिङ्गकी अपेक्षा श्रुतिका प्राबल्य होता है, इसलिए अङ्गुष्ठ परिमाणमें जीवका प्रतिपादन नहीं हो सकता। *'ननु .... तावत्त्वं'* अर्थात् अङ्गुष्ठ-परिमितत्व, *'तस्यांशक्यं'*—तस्य अर्थात् ब्रह्मका *'तेषां सामर्थ्यात्'*—तेषां—मनुष्योंका, *'जीवस्य अङ्गुष्ठमात्रत्वम् उक्तम्'*—श्वेताश्वतरोपनिषदमें श्रुति द्वारा वर्णित है। *'तावति हृदि'*—'तावति'—अङ्गुष्ठ परिमितस्वरूपमें। *'तावत्स्वरूपतया'*—अङ्गुष्ठ परिमित-स्वरूपमें। *'एवं सतीत्यादि'*—ऐसा यदि होता है, तो आत्माके अङ्गुष्ठ-परिमित्व बोधक वाक्य लिङ्गदेह विशिष्ट जीवके लिए भी प्रयोग करना उचित है, यह जानना चाहिये। *'तस्याणुत्वविनिश्चयात्'*—'तस्य' अर्थात् जीवका अणुत्व तो निश्चित है ही॥ २५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—विश्वव्यापक विभु श्रीविष्णुका अङ्गुष्ठ-परिमाणत्व किस प्रकारसे सम्भव है? इस पूर्वपक्षके समाधानके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि यह हृदयके परिमाणकी अपेक्षासे ही कहा गया है, यद्यपि शास्त्र अविशेष भावमें ही प्रवृत्त है, तथापि उपासनाके सामर्थ्यादि विचारसे मनुष्य ही उपासनाके योग्य है।

तब यदि कोई कहे कि श्रुति जीवको भी अङ्गुष्ठ परिमाण कह रही है तो इसके उत्तरमें यह वक्तव्य है कि वह भी तत्-परिमाण हृदयमें अर्थात् अङ्गुष्ठ परिमाण हृदयमें ही जीवकी भी अवस्थितिके लिए प्रयुक्त है, यह जानना होगा। *'बालाग्रशतभागस्य'* श्वेताश्वतरीय श्रुति जीवके अणुत्वकी घोषणा कर रही है। इसलिए श्रीविष्णु ही अङ्गुष्ठ परिमाणरूपमें जीव-हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे वास करते हैं।

इस प्रसङ्गमें *'द्वा सुपर्णा सयुजा'* श्रुति भी आलोच्य है।

श्रीमद्भागवतमें महाराज परीक्षित्ने मातृगर्भमें जिस पुरुषको देखा था, उसका वर्णन है—

अङ्गुष्ठमात्रममलं स्फुरत्पुरटमौलिनम्।
अपीव्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससमच्युतम्॥

(श्रीमद्भा॰ १/१२/८)

अर्थात् परीक्षित्ने देखा कि वह पुरुष तो अङ्गूठे भरका है, उसकी कान्ति निर्मल है, उज्ज्वल स्वर्णमुकुटधारी है, अति सुन्दररूप है, विद्युतसे विभूषित मेघके समान पीताम्बर धारण किया हुआ है, वह निर्विकार पुरुष आजानुलम्बित सुन्दर चतुर्भुजधारी है, अग्निसे तपाये हुए स्वर्णमय कुण्डलोंसे सुशोभित है।

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ति॥

(श्रीमद्भा॰ २/२/८)

अर्थात् योगियोंकी पूर्वोक्त धारणासे भी अतिश्रेष्ठ अन्तर्यामी चिद्घनस्वरूप श्रीभगवान्की धारणा श्रेष्ठ है। जैसे कि कोई-कोई योगी पुरुष (व्यष्टि अन्तर्यामी चतुर्भुजकी धारणासे युक्त) अपनी देहके भीतर हृदयके गह्वर (आकाश) में विराजित प्रादेशमात्र पुरुष (अपनी

अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे पन्द्रह वर्षीय किशोर श्रीहरि) की धारणा द्वारा स्मरण करते हैं कि वे चतुर्भुज हैं और अपनी चारों भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए हैं।

इस प्रसङ्गमें श्रीधरस्वामी, श्रीलजीव गोस्वामी और श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरकी टीका द्रष्टव्य है।

कठोपनिषद (२/१/१२) श्लोकमें पाया जाता है—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्ये आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य ततो न विजिगुप्सत। एतद्वैतत्।

गजेन्द्रकी स्तुतिमें भी यही उल्लिखित है—*मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय।* (श्रीमद्भा॰ ८/३/१८)

अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष अपने हृदयमें जिनका निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं, उन सर्वैश्वर्य ज्ञानस्वरूप भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ॥ २५॥

७—तदुपर्यपीत्यधिकरणम् (देवताधिकरणम्)

अवतरणिका भाष्य—ब्रह्मणोहङ्गुष्ठपरिमितत्वसिद्धये तदावेदकं शास्त्रं मनुष्याधिकारमित्युक्तम्। तेन मनुष्याणामेव तदुपासकत्वमिति समर्थितम्। इदानीं तदपवादेन पराधिकरणमिदं प्रवर्त्तयते। बृहदारण्यके (१/४/१०) श्रूयते—*'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्'* इति। *'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्'* (बृ॰आ॰ ४/४/१६) इति च।

इह संशयः—इदं ब्रह्मोपासनं मनुष्येष्विव देवेषु श्रूयमाणं सम्भवेन्न वेति। देहेन्द्रियाभावेन सामर्थ्याभावात् न तेषु तदुपासनासम्भवः। मन्त्रात्मकाः खल्विन्द्रादयो देवा न तेषां देहेन्द्रियाणि सन्ति तदभावादेव सामर्थ्यवैराग्यार्थित्वानि च नेत्येवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पहले ब्रह्मके अङ्गुष्ठ-परिमितत्वकी सिद्धिके लिए जो शास्त्र ब्रह्मबोधक हैं, वे तो मनुष्योंके लिए हैं—इस प्रकार उनमें मनुष्योंका अधिकार दिखाकर केवल मनुष्योंके लिए ही अङ्गुष्ठ परिमाण ब्रह्मकी उपासनाका समर्थन हुआ है। अब उसके अपवादरूपमें परवर्त्ती अधिकरणका आरम्भ करते हैं। बृहदारण्यक श्रुति (१/४/१०) में सुना जाता है कि 'देवताओंमें जो-जो देवता परमेश्वरका ध्यान

करते हैं, वे ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होते हैं।' ऋषियों और मनुष्योंके सम्बन्धमें भी इस प्रकारके सिद्धान्त (नियम) हैं, और एक श्रुति (बृ॰आ॰ ४/४/१६) कहती है, 'देवतागण उस ज्योतिष्कमण्डलकी भी ज्योतिः (ज्योतिर्मय पदार्थ सूर्यादि वस्तुके भी प्रकाशक), दीर्घायुप्रद, अमृतस्वरूप, अविनश्वर परब्रह्मकी उपासना करते हैं।' यहाँ संशय यह है कि यह ब्रह्मोपासना मनुष्यके विषयमें जिस प्रकार सुनी जाती है, उसी प्रकार देवताओंके विषयमें सम्भव है कि नहीं? पूर्वपक्षी इस विषयमें निर्णय करते हैं कि जब देवताओंकी इन्द्रियाँ ही नहीं हैं, तब उनमें उपासनाकी शक्ति (सामर्थ्य) भी नहीं है। अतः उपासनाका विधान देवताओंमें सम्भव नहीं है। उनकी युक्ति (तर्क) यह है कि इन्द्रादि देवता मन्त्रात्मक हैं, इसलिए उनकी देह नहीं है, इन्द्रियाँ भी नहीं हैं। देह-इन्द्रियोंके अभावके कारण उनमें उपासनाकी सामर्थ्य, विषय-वैराग्य और अर्थित्व (कामना) इत्यादि भी रह नहीं सकते। अतएव मनुष्योंके लिए ही ब्रह्मोपासनाको जानना चाहिये, पूर्वपक्षीय इस कथनको निरस्त करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—मनुष्याधिकारं शास्त्रमिति प्राक् प्रोक्तं तर्हि क्रममुक्त्यर्थया उपासनया देवत्वं प्राप्तानां मनुष्याणां तत्राधिकारो न स्यादित्याक्षिप्य समाधानादाक्षेपसङ्गत्याह ब्रह्मणोऽङ्गुष्ठेत्यादि। प्रसङ्गसङ्गत्या वेत्येके। देवानामनधिकारात् तदर्थायां तस्यां देवादिभोगद्वारा मुक्तिकामानां नृणां प्रवृत्तिर्नेति पूर्वपक्षे फलं सिद्धान्ते तादृक् प्रवृत्तिरिति बोध्यम्। तद्य इति। देवादीनां मध्ये यो यो देवादिस्तत् तादृशगुणकं ब्रह्म प्रत्यबुध्यत ज्ञात्वोपास्त। स एव तदभवत् प्राप्नोत्। परस्मैपदं छान्दसम्। स एवेत्यादिना जीवब्रह्मणोरभेदोऽपि नाशङ्कनीयः सादृश्यावेदक-बहुवाक्यव्याकोपात्। तद्देवा इति। देवास्तद् ब्रह्मोपासते ध्यायस्ति। कीदृक् ज्योतिषां प्रकाशकानां सूर्यादीनां ज्योतिःप्रकाशकम्। आयुर्जीवनप्रदम्। अमृतमविनाशि नित्यमित्यर्थः। तेष्विति। देवेषु। तेषां मन्त्रात्मकानां देवानाम।—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आपत्ति यह है कि पहले कहा गया है कि शास्त्र मनुष्यको अवलम्बन करके ही प्रवृत्त होते हैं। ऐसा यदि है, तो जिस उपासनाका फल क्रममुक्ति है, उस उपासनाके द्वारा मनुष्योंको देवत्व प्राप्त होनेपर उनका उस उपासनामें और अधिकार नहीं रहता, इस आक्षेपके बाद समाधान वर्णित हुआ है—यह

आक्षेप-सङ्गति है, तदनुसार 'ब्रह्मणेऽङ्गुष्ठं' इत्यादि भाष्य कथित हुआ। कोई-कोई कहते हैं कि यह वर्णन प्रसङ्ग-सङ्गतिके अनुसार है। पूर्वपक्षीके सिद्धान्तका फल है—जिस कारणसे देवताओंका इस उपासनामें अधिकार नहीं है, तब क्रममुक्तिके अनुसार देवत्व प्रापक इस उपासनाके बाद देवभोग्य भोगोंसे विरक्त मुक्तिकामी मनुष्योंकी इस उपासनामें और प्रवृत्ति होगी नहीं। सिद्धान्तवादीका वक्तव्य है कि ऐसा होनेपर भी प्रवृत्ति होगी, यह जान लेना चाहिये। *'तद् यो यो'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—*'देवानाम्'* (पदमें निर्धारणमें षष्ठी) देवताओंमें जो-जो देवता इत्यादि उन गुणाष्टकशाली ब्रह्मको जानकर उनकी उपासना करते हैं, वे उन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। 'प्राप्ति' अर्थमें 'भू' धातु आत्मनेपदी होनेपर भी यहाँ जो 'अभवत्' पदमें परस्मैपद है, वह वैदिक प्रयोगके कारण है। *'स एव तदभवत्'* इत्यादि वाक्यसे जीव और ब्रह्मका ऐक्य अथवा अभेद शङ्काके योग्य नहीं है, यह स्वीकार करनेपर तो जीवके ब्रह्म-सादृश्यका बोध करानेवाले वाक्योंके साथ विरोध हो जायेगा। *'तद्देवा'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—देवता उन ब्रह्मकी उपासना करते हैं अर्थात् ध्यान करते हैं। ये ब्रह्म कैसे हैं? वे प्रकाशक हैं, जितने भी प्रकारके ज्योतिः-पदार्थ हैं, उन सबके वे प्रकाशक हैं। वे जीवनप्रद और अविनाशी अर्थात् नित्य हैं। 'तेषु'—देवताओंके विषयमें। 'तेषाम्' अर्थात् मन्त्रमय देवताओंके।

सूत्र—तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्॥ २६॥

सूत्रार्थ—'बादरायणः' भगवान् वेदव्यास कहते हैं, 'तदुपरि अपि', 'तत्' वह ब्रह्मोपासना 'उपरि'—मनुष्योंके ऊपरी लोकवर्त्ती देवताओंके विषयमें भी स्वीकार्य है। किस कारणसे? उत्तर—'सम्भवात्'—सामर्थ्यादिके सम्भव होनेसे॥ २६॥

सूत्रानुवाद—भगवान् बादरायण कहते हैं कि ब्रह्मोपासना मनुष्योंके ऊपर देवलोकमें निवास करनेवाले देवताओंमें भी सम्भव है॥ २६॥

गोविन्दभाष्य—तद्ब्रह्मोपासनं मनुष्याणामुपरि देवेषु च स्वीकार्यमिति भगवान् बादरायणो मन्यते। कुतः? उपनिषन्मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणलोकपरिज्ञातविग्रहशालिनां तेषां सामर्थ्यादिसम्भवात्। तदुपासने सामर्थ्यं दिव्यदेहेन्द्रिययोगात् निजैश्वर्यविषयं

वैराग्यञ्च। तदैश्वर्यस्य सावद्यत्वविनश्वरत्वेनानुभूयमानत्वात्। स्मृतिश्च (वि॰पु॰ ६/५/५०) *'न केवलं द्विजश्रेष्ठ नरके दुःखपद्धतिः। स्वर्गेऽपि पातभीतस्य क्षयिष्णोर्नास्ति निर्वृतिः'* तत एव ब्रह्मविषयमर्थित्वञ्च। तस्य निरवद्यनित्यापरिमितानन्दत्वेन श्रूयमाणत्वात्। विद्याग्रहणाय ब्रह्मचर्यमपि देवादीनां श्रूयते। *'त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा'* (५/२/१) इति बृहदारण्यके। इन्द्रस्य च छान्दोग्ये—*'एकशतं ह वै वर्षाणि मघवा प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास'* (६/१/१३) इति। तस्मात् सामर्थ्यादीनां सत्त्वादधिकारिणो देवादय इति॥ २६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—यह ब्रह्मोपासना मनुष्योंके ऊपरके लोकोंमें रहनेवाले देवताओंके विषयमें भी स्वीकार्य है, यह भगवान् बादरायण वेदव्यासका भी अभिमत है। किस कारणसे? उपनिषद, मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण और लोकप्रसिद्धिमें भी उनके शरीरका परिचय प्राप्त होता है। विग्रहवान देवताओंमें सामर्थ्य, वैराग्य, कामना इत्यादि सम्भव हैं? किस प्रकारसे? दिव्यदेह, इन्द्रिय इत्यादिके योगके कारण उनमें ब्रह्मोपासनाका सामर्थ्य है और अपने ऐश्वर्यके ऊपर भगवत्-ऐश्वर्यकी अपेक्षा रहनेसे उन्हें वैराग्य स्वीकार्य है। अपने ऐश्वर्यके वैराग्यके विषयमें युक्ति यह है कि वे मानते हैं कि हमारा यह इन्द्रत्वादि ऐश्वर्य परिणामी, ईर्ष्यादि दोषोंसे कलुषित और नश्वर है, जबकि भगवत्-ऐश्वर्य अपरिणामी, निर्दोष एवं शास्त्रवत है, इसलिए निजैश्वर्यसे वैराग्य होना स्वाभाविक है। मात्र इतना ही नहीं, स्मृति (वि॰पु॰ ६/५/५०) में भी वर्णन है कि महर्षि पराशर मैत्रेयजीसे कहते हैं—“हे ब्राह्मणोत्तम! केवल नरकमें ही दुःख है, ऐसा नहीं है, स्वर्ग-गमन करनेवाले व्यक्तियोंमें भी पतनका भय रहता ही है कि उनका स्थान विनाशशील है। अतः उनकी भी स्वस्ति नहीं है।” इस प्रकारके वैराग्यके कारण ही देवताओंकी ब्रह्म-विषयक कामना सुसङ्गत है। ब्रह्मपद निर्दोष, नित्य, अपरिमित आनन्दमय है। ब्रह्मविद्या प्राप्तिके लिए देवताओं आदिके द्वारा ब्रह्मचर्यव्रतका अवलम्बन भी सुना जाता है, जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद (५/२/१) में कहा गया है, प्रजापतिलोकमें प्रजापतिकी तीनों सन्तान—देवता, मनुष्य और असुरोंने अपने पिता (प्रजापति) के आश्रयमें ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया था। छान्दोग्योपनिषद (६/१/१३) में इन्द्रके सम्बन्धमें भी

ब्रह्मचर्यव्रतका उल्लेख है, यथा इन्द्रने प्रजापतिके निकट सौ वर्षों तक ब्रह्मचर्य धारण किया था। अतएव सामर्थ्य इत्यादि रहनेसे अङ्गुष्ठ परिमित ब्रह्मोपासनामें देवता इत्यादि भी अधिकारी हैं॥ २६॥

सूक्ष्मा-टीका—तदिति। उपनिषदिति। तेषां विग्रहषोगात् तत् सम्भवतीत्यर्थः। इदमत्र बोध्यम्। कर्मठैरपि देवताविग्रहाः स्वीकृताः अन्यथा यस्मै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेत् वषट् करिष्यन्निति श्रुतध्यानानुपपत्तिः। तथा मन्त्राणां तत्तभ्युपगमस्तदैश्वर्यशक्तौ अनवधानादिति। सामर्थ्यादिकं विशदयति तदुपासनेत्यादिना। सावद्यत्वं सदोषत्वं परिणामित्वमिति यावत्। न केवलमिति श्रीवैष्णवे। तस्य ब्रह्मणः। निरवद्यत्वं परिणामशून्यत्वम्। देवानां ब्रह्मोपासकत्वे प्रमाणान्तरमाह विद्येत्यादि। प्रजापतौ विधौ। इन्द्रस्य चेति चशब्दः पूर्वं ब्रह्मचर्यं समुच्चिनोति॥ २६॥

सूक्ष्मा-सार— *'तदुपर्यापि'* इत्यादि सूत्र—उपनिषद, मन्त्र इत्यादि भाष्य—देवताओंके शरीरके सम्बन्धके कारण सामर्थ्यादि सम्भव है। इस स्थलपर जाननेका एक विषय यह है कि कर्मी याज्ञिकगण भी देवताओंका शरीर स्वीकार करते हैं, ऐसा न होता, तो 'देवताओंके उद्देश्यसे घी इत्यादि हवनीय द्रव्य ग्रहीत होंगे, उनका ध्यान करके आहुति देंगे'—इस श्रुतिका निर्देश असङ्गत होता, क्योंकि मूर्त्तिके बिना ध्यान सम्भव नहीं है। इसी प्रकार मन्त्रोंका भी देवस्वरूप स्वीकार किया जाता है, यहाँ भी ऐसा न होता, तो ध्यात (ध्यान किये गये) देवताका ऐश्वर्य अथवा शक्तिज्ञान सम्भव न हो पाता, इस कारणसे भी देवताओंका शरीर स्वीकार करने योग्य है। *'तदुपासने'* इत्यादि वाक्यके द्वारा सामर्थ्य इत्यादिकी सत्ता विशद् रूपसे बतलायी गयी है। *'सावद्यत्वेत्यादि'* देवताओंके अपने-अपने ऐश्वर्यमें राग-द्वेषादि दोष हैं, फलतः परिणाम भी है। केवल इतना ही नहीं, श्रीविष्णुपुराणमें भी कहा गया है—*'न केवलमित्यादि।'* *'तस्य निरवद्येत्यादि'*—तस्य—उन ब्रह्मका, *'निरवद्यत्व'* अर्थात् परिणामशून्यत्व है। देवताओंकी ब्रह्मोपासकताके विषयमें अन्य प्रमाण दिखा रहे हैं—*'विद्याग्रहणायेत्यादि'*—*'प्रजापतौ'*—विधाताके समीपमें। 'इन्द्रस्य चेति', यहाँ 'च' शब्दका अर्थ है समुच्चय अर्थात् पूर्वोक्त ब्रह्मचर्यका संग्राहक॥ २६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्व सूत्रमें ब्रह्मका अङ्गुष्ठ-परिमितत्व निरूपित हुआ है और मनुष्य अधिकारमें उन्हीं ब्रह्मकी उपासनाका समर्थन

हुआ है। जिस प्रकार मनुष्योंमें ब्रह्मोपासना सुनी जाती है, उसी प्रकार देवता, ऋषियों आदिकी भी ब्रह्मोपासनाका वर्णन श्रुतिमें प्राप्त होता है। पूर्वपक्षी संशय करते हैं कि देवता मन्त्रात्मक हैं, उनमें देह अथवा इन्द्रिय नहीं हैं। इसलिए उनमें ब्रह्मोपासनाके उपयोगी सामर्थ्यादि रह नहीं सकते, इसलिए यह उपासना मनुष्यमात्रके लिए ही जाननी चाहिये। इसी संशयको निरस्त करनेके लिए सूत्रकारने प्रस्तुत सूत्रमें कहा है कि मनुष्योंके ऊपर अर्थात् ऊर्ध्वलोकमें जो रहते हैं, उनकी भी ब्रह्मोपासना स्वीकार्य है, क्योंकि देवताओंमें भी ब्रह्मकी उपासना करनेका प्रयोजन और योग्यता है अर्थात् उनकी दिव्य देह एवं इन्द्रियादि रहनेके कारण उनमें वैराग्य, कामना इत्यादि रहते हैं।

देवता, ऋषि, मनुष्य इत्यादिमें जो विशेष सुकृतिवान हैं, वे ही श्रीकृष्णकी आराधना कर सकते हैं। श्रीविष्णुकी आराधनाके बिना उनकी ऐश्वर्य-सिद्धि, विपत्से त्राण इत्यादि हो नहीं सकते, इसी कारण देवतागण विष्णुके ही शरणापन्न रहते हैं। स्वरूपतः सभी श्रीभगवान्के दास हैं। यदृच्छाक्रम (भाग्यवश) ही कोई उन्मुख अथवा विमुख भाव प्राप्त करके अपने-अपने कर्मानुसार आवागमन करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है— *'स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा'* (श्रीमद्भा॰ ११/२०/१२)। अर्थात् नारकीयगण और देवतागण दोनों ही इस ज्ञानभक्ति साधक मनुष्यजन्मकी इच्छा करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें और भी देखा जाता है,

ततश्च मनवः काले ईजिरे ऋषयोऽपरे।
पितरो विबुधा दैत्या मनुष्याः क्रतुभिर्विभुम्॥

(श्रीमद्भा॰ २/६/३०)

तदनन्तर मनुओंने अपने-अपने उचित अवसरोंपर तथा दूसरे ऋषियों, पितरों, देवताओं, दैत्यों, मनुष्योंने उन परमेश्वरकी यज्ञोंसे ही आराधना की।

तथा,

विष्णुर्द्विजक्रियामूलो यज्ञो धर्ममयः पुमान्।
देवर्षिपितृभूतानां धर्मस्य च परायणम्॥

(श्रीमद्भा॰ ७/२/११)

ब्राह्मणोंकी यज्ञादि क्रियाओंके मूल विष्णु हैं। वे ही यज्ञरूपी धर्ममय पुरुष हैं—वे ही देवता, ऋषि, पितर और समस्त प्राणियों एवं धर्मका परम आश्रय हैं। ब्राह्मणादिके वधसे यज्ञादि क्रियाओंका लोप हो जायेगा और विष्णुकी जड़ ही कट जायेगी।

और भी,

मुनयस्तुष्टुवुस्तुष्टा जगुर्गन्धर्वकिन्नरा॥
नृत्यन्ति स्म स्त्रियो देव्य आसीत् परममङ्गलम्।
देवा ब्रह्मादयः सर्वे उपतस्थुरभिष्टवैः॥

(श्रीमद्भा॰ ४/१/५३-५३)

मुनिगण आनन्दित होकर स्तुति करने लगे। गन्धर्व एवं किन्नर गाने लगे, दिव्याङ्गनाएँ नृत्य करने लगीं। इस प्रकार चारों दिशाओंमें आनन्द-मङ्गल छा गया। अधिक क्या? ब्रह्मादि सभी देवता अनेक प्रकारके स्तोत्रके द्वारा उन नर-नारायण ऋषिकी स्तुति करने लगे थे।

श्रीहरिभजन जो अत्यन्त दुर्लभ है, वह देवताओंकी प्रार्थनामें भी देखा जाता है,

अहो वतैषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥

(श्रीमद्भा॰ ५/१९/२०)

मनुष्यजन्ममें ही समस्त पुरुषार्थोंको प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए देवता भी मनुष्य जन्मकी इस प्रकारसे महिमा गाते हैं—अहो! भारतवर्षमें जन्मे मनुष्योंने ऐसी कौन-सी महापुण्यशाली तपस्या की है? अथवा स्वयं-भगवान् श्रीहरि इनपर बिना साधनाके ही क्यों प्रसन्न हो रहे हैं? क्योंकि जिस भारतभूमिमें मनुष्यजन्म प्राप्तिके लिए हम इच्छा करते हैं, इन्होंने उसी भारतके आँगनमें मुकुन्द-सेवाकी उपयोगी मानवयोनिको प्राप्त किया है।

श्रीचैतन्यभागवतमें श्रीमन्महाप्रभुके भी वचन हैं—

हर्त्ता कर्त्ता पालयिता कृष्ण से ईश्वर।
अज-भव आदि, सब कृष्णेर किङ्कर॥
(चै॰भा॰म॰ १/१४९)

वे श्रीकृष्ण ही ईश्वर हैं, सबके कर्त्ता, हर्त्ता एवं पालक हैं। ब्रह्मा, शिव आदि सब श्रीकृष्णके किङ्कर हैं॥ २६॥

अवतरणिका भाष्य—ननु देवादीनां विग्रहवत्त्वे स्वीक्रियमाणे कर्मणि विरोधः प्राप्नुयात् एकस्य परिच्छिन्नस्य बहुयज्ञेषु युगपदाहूतस्य सान्निध्यानुपपत्तेरिति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—यहाँ आपत्ति यह है कि यदि देवता इत्यादिका विग्रहत्व (शरीर) स्वीकार करते हैं, तो कर्म विषयमें विरोध आता है; क्योंकि परिच्छिन्न अर्थात् सीमाबद्ध देह-विशिष्ट इन्द्रादि देवताओंका बहुत यज्ञोंमें एक ही समय आवाहन होनेपर वे सर्वत्र किस प्रकार उपस्थित हो सकेंगे? इसके समाधानके लिए कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। कर्मणि यज्ञे। विरोधः ऋत्विगादिवत् सन्निधानेन तत्रोपकारिता न स्यादित्यर्थः। तत्र हेतुरेकस्य परिच्छिन्नस्य देहित्वेनैकदेशस्थितस्येत्यर्थः—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—कर्ममें अर्थात् यज्ञमें विरोध अर्थात् ऋत्विक इत्यादिकी जिस प्रकार वहाँ उपस्थिति द्वारा उपयोगिता है, उस प्रकार सन्निधानमें उपकारिता नहीं रहेगी—यह तात्पर्य है। इस विषयमें हेतु यह है कि देहधारी जीवात्मा तो परिच्छिन्न परिमाण है अर्थात् देहको आश्रय करके ही वह जीवात्मा वर्त्तमान है। इसलिए देह एकदेशपर स्थित होनेसे वह भी एकदेशस्थित है—

सूत्र—विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्॥ २७॥

सूत्रार्थ—'चेत्'—यदि, 'कर्मणि'—कार्यमें—युगपत् सान्निध्य इत्यादि विषयमें, विरोधः—असङ्गति कहते हो तो 'न'—वह भी नहीं है, क्योंकि 'अनेकप्रतिपत्तेः'—अनेक मूर्त्ति परिग्रह (धारण) करना, 'दर्शनात्'—सौभरि आदि मुनियोंके वृत्तान्तमें देखा जाता है, इसी प्रकार देवताओंके भी

कायव्यूह निर्माण द्वारा युगपत् सभी यज्ञोंमें सान्निध्य युक्तियुक्त है॥ २७॥

सूत्रानुवाद—यदि कहें कि देवता आदिका विग्रह माननेपर याग आदि कर्ममें एक देवताका एक कालमें अनेक यागोंमें सन्निधान सम्भव नहीं होनेसे विरोध होगा, तो ऐसा नहीं कह सकते। देवताओंमें एक कालमें अनेक रूपोंका धारण करना देखा गया है॥ २७॥

गोविन्दभाष्य—तत्स्वीकारेऽपि न तत्र विरोधः। कुतः? अनेकेति। शक्तिमतां सौभर्यादीनां कायव्यूहप्राप्तिदर्शनादित्यर्थः॥ २७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—देवताओंका विग्रह स्वीकार करनेपर भी एक समयमें समस्त यज्ञोंकी उपस्थितिके विषयमें कोई भी असङ्गति नहीं है, किस कारणसे? इसका उत्तर है कि शक्तिशाली सौभरि इत्यादि मुनियोंका कायव्यूह (अनेक शरीर प्रकाश) सुना जाता है॥ २७॥

सूक्ष्मा-टीका—तदिति। विग्रहवत्त्वम्बी (स्वी) कारेऽपि यज्ञोपकारितायां बाधो नेत्यर्थः। कायव्युहो बहूनि शरीराणि॥ २७॥

सूक्ष्मा-सार—देवताओंका विग्रहवत्त्व स्वीकार करनेपर भी यज्ञमें आवाहन स्थलमें कोई भी बाधा नहीं है। कायव्यूह—अर्थात् योगबलसे बहुत-से शरीरोंकी सृष्टि॥ २७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई कहे कि देवताओंका विग्रह स्वीकार करनेपर परिच्छिन्नस्वरूप एक देवताके लिए बहुत-से यज्ञोंमें समुपस्थिति किस प्रकारसे सम्भव है? इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—एक ही समयमें देवताओंकी विभिन्न स्थानोंपर उपस्थितिकी सम्भावना है। उनमें वह योग्यता है। भाष्यकार श्रीलबलदेव प्रभु कहते हैं कि प्रभूत शक्तिशाली सौभरि आदि ऋषि जब कायव्यूहका विस्तार कर सकते हैं, तब देवताओंके पक्षमें कायव्यूह धारण करना किस प्रकार असम्भव हो सकता है? तात्पर्य यह है कि वे विभिन्न यज्ञोंमें एक साथ आविर्भूत हो सकते हैं।

सौभरि ऋषिके कायव्यूहका वर्णन श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—*'पञ्चाशदासमुत पञ्चसहस्रसर्गः'* (श्रीमद्भा॰ ९/६/५२) अर्थात् मैं

पहले एकान्तमें अकेला ही तपस्यामें संलग्न था। फिर जलमें मछलीकी रतिक्रीड़ा देखकर वासनावशतः विवाह करके पचास हो गया और फिर सन्तानोंके रूपमें पाँच हजार।

दानवोंके द्वारा भी इच्छानुसाररूप धारणका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवतमें देखा जा सकता है—

सन्दिश्य साधुलोकस्य कदने कदनप्रियान्।
कामरूपधरान् दिक्षु दानवान् गृहमाविशत्॥
(श्रीमद्भा॰ १०/४/४४)

इसके बाद कंसने पर-पीड़न-प्रिय एवं इच्छानुसाररूप धारण करनेमें समर्थ दानवोंको सर्वत्र सज्जनोंका उत्पीड़नके लिए आदेश देकर अपने महलमें प्रवेश किया।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी सौभरि आदिके कायव्यूहका उल्लेख है—*सौभर्य्यादि प्राय सेइ कायव्यूह नय* (चै॰च॰म॰ २०/१६९)। अर्थात् सौभरि ऋषि आदि योगियोंकी भाँति वे अनेक मूर्त्तियाँ श्रीकृष्णकी कायव्यूह नहीं थीं॥ २७॥

अवतरणिका भाष्य—ननूक्तहेतोर्देवताविग्रहवादिनां कर्मणिविरोधो माभूत् वेदशब्दे तु स स्यात्। तदुत्पत्तेः पूर्वत्र तद्विनाशात् परत्र च तद्वाचके तस्मिन् वन्ध्यात्मजादिशब्दवदप्रामाण्यलक्षणो विरोधः। *'औत्पत्तिकस्तु शब्देनार्थस्य सम्बन्ध'* (मी॰द॰ १/१/५) इति शब्दतदर्थतत्सम्बन्धानां यत् पूर्वतन्त्रेण नित्यत्वमुक्तं तच्च विरुद्धं स्यादिति चेत्तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पुनः आपत्ति यह है कि कायव्यूह द्वारा एक समय सर्वत्र सन्निधिरूप हेतुके कारण देवता-विग्रहवादियोंका कर्म-विषयमें चाहे कोई विरोध न हो, किन्तु वेदोक्त देवविग्रह शब्दकी असङ्गति तो है ही, क्योंकि विग्रहकी उत्पत्तिके पूर्व और विग्रहके विनाशके पश्चात् वेदोक्त विग्रहवाचक शब्दका 'बन्ध्यापुत्र' शब्दके समान अप्रामाण्य अर्थात् निरर्थकत्वरूप विरोध रह ही गया। यदि कहो पदार्थ न रहे, पर पद रहनेमें बाधा क्या? ऐसा भी नहीं है, क्योंकि पदके साथ पदार्थका नित्य सम्बन्ध रहता है। पदसे कभी भी झूठे पदार्थका ज्ञान नहीं होता। शब्द और अर्थका सम्बन्ध भी नित्य

है, इस विषयको जो द्वादशाध्यायी पूर्वतन्त्र (पूर्वमीमांसा) दर्शनमें अभिव्यक्त किया है, उसका भी विरोध होगा, यदि ऐसा कहते हो, तो इसका समाधान यह है—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। स विरोधः। तद्युपत्तेः विग्रहोत्पत्तेः। तद्विनाशात् विग्रहविनाशात्। तद्वाचके विग्रहाभिधायिनि तस्मिन् वेदशब्दे। औत्पत्तिकः स्वाभाविकः नित्य इति यावत्। पूर्वतन्त्रेण द्वादशलक्षण्या।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'कर्मणि विरोधो भाभूत् वेदशब्दे तु सः स्यात्'*—सः—वह (वेदशब्दमें वह) विरोध हो सकता है। तदुत्पत्तेः—विग्रह उत्पत्तिके पूर्व, *तद्विनाश परत्र च*—उस विग्रहके नाशके बाद भी *'तद्वाचके तस्मिन्'*—उस विग्रहवाचक वेद शब्दमें विरोध हो सकता है, क्योंकि *'औत्पत्तिकस्तु शब्देनार्थस्य सम्बन्धः'* (मीमांसादर्शन १/१/५) शब्दके साथ अर्थका वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध है, औत्पत्तिक—स्वाभाविक अर्थात् नित्य। *'यत् पूर्वतन्त्रेण नित्यत्वमुक्त'*, पुनः जो द्वादशाध्यायी पूर्वमीमांसा है, उसके द्वारा भी नित्यत्व कहा गया है।

सूत्र—शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्॥ २८॥

सूत्रार्थ—'चेत्'—यदि कहो, 'शब्दे'—देवताओंको शरीरधारी माननेपर वैदिक शब्दमें विरोध आता है, 'इति न'—यह भी नहीं कह सकते, किस कारणसे? 'अतः प्रभावात्'—वे-वे (वेदोक्त) वैदिक शब्द नित्य आकृति वाचक हैं, उनका वाच्य नित्य आकृति है, उन-उन आकृतियोंके स्मरणसे उन-उन विग्रहोंकी उत्पत्ति हुई है। यह कहाँ-से पता चला? उत्तर है—'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्'—प्रत्यक्ष, श्रुति और अनुमान अर्थात् स्मृति-वाक्योंसे॥ २८॥

सूत्रानुवाद—यदि कहो कि देवताओंको देहधारी माननेपर वैदिक शब्दमें विरोध आता है, तो ऐसा नहीं, क्योंकि वेदोक्त शब्दोंसे देवता-जगत्‌की उत्पत्ति होती है। यह बात प्रत्यक्ष (वेद) एवं अनुमान (स्मृति) दोनोंके प्रमाणोंसे सिद्ध होती है॥ २८॥

गोविन्दभाष्य—वेदशब्देऽपि नोक्तलक्षणो विरोधः। कुतः? अतः प्रभवात्। नित्यतत्तदाकृतिवाचकात् तत्तद्वेदशब्दात् तत्तद्वाच्यनित्याकृत्यनुस्मृत्या तत्तद्वि-

ग्रहाणामुत्पत्तेरित्यर्थः। आकृतयोनित्याः सर्वव्यक्तिभ्यः पूर्वं स्थितेः। विश्वकर्मणा स्वशास्त्रे याः प्रोक्ताः चित्रकर्म-प्रसिद्धये *'यमं दण्डपाणिं लिखन्ति वरुणन्तु पाशहस्तम्'* इति। देवादिवाचका वेदशब्दा गवादिशब्दवत् स्वभावादेवाकृतिषु सङ्केतिताः सन्ति। न तु चैत्रादिशब्दवत् व्यक्तिमात्रेषु। तथाच नित्याकृतिवाचित्वाद्वेदशब्दानां, तद्वन्नाप्रामाण्यं, नापि पूर्वतन्त्रविरोध इति। इदं कुतः? प्रत्यक्षेति श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। श्रुतिस्तावत् शब्दपूर्वां सृष्टिमाह *'एत इति ह वै प्रजापतिर्देवानसृजत् असृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितृंस्तिरः पवित्रमिति ग्रहान्नसुव इति स्तोत्रं विश्वानीति मन्त्रं अभिसौभगेत्यन्याः प्रजा'* इति। (वि॰पु॰ १/५/६४) स्मृतिश्च—*'नामरूपञ्च भूतानां कृत्यानाञ्च प्रपञ्चनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार स'* इत्याद्या॥ २८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—वैदिक शब्दमें विग्रहका जो विरोध बतलाया गया है, वह भी नहीं होगा, क्योंकि 'अतः प्रभवात्' इन शब्दोंसे विग्रहकी उत्पत्ति होती है। बात यह है कि वे वेदोक्त शब्द उन-उन नित्य आकृतियोंके वाचक हैं, इसीसे उन समस्त शब्दोंके वाच्य उन आकृतियोंके स्मरणसे इन्द्रादि विग्रहोंकी उत्पत्ति होती है। नित्य शब्दसे नित्य अर्थ आकृतिको जाना जाता है, व्यक्तिको नहीं। व्यक्तिकी उत्पत्तिके पहले उसकी आकृति विद्यमान रहती है, इसी आकृतिका अनुस्मरण करके विग्रहका निर्माण किया जाता है। विश्वकर्मा चित्रकर्म-प्रसिद्धिके लिए अपने शास्त्रमें समस्त आकृतियोंका वर्णन करते हैं—जैसे यमको दण्डपाणि और वरुणको पाशहस्त अङ्कित (चित्रित) करना। अतएव देवादिवाचक वैदिक शब्द गो इत्यादि शब्दके समान स्वभावतः ही आकृति अर्थमें शक्ति-विशिष्ट (सङ्केतिक) हैं, व्यक्तिमें उनका शक्तिग्रह (सङ्केत) नहीं है, जैसे कि चैत्र, देवदत्त तथा डित्थ इत्यादि शब्दसे एक-एक व्यक्तिको जाना जाता है, उस प्रकारसे नहीं, इसलिए विग्रहकी उत्पत्तिके पहले और उसके विनाशके बाद भी नित्य आकृति वर्त्तमान रहनेसे उन-उन आकृतियोंका स्मरण होता है, उसी स्मरणसे विग्रहका निर्माण होता है।

अतएव नित्याकृति वाचक होनेके कारण वैदिक शब्दोंका बन्ध्यापुत्रादि शब्दोंके समान अप्रामाण्य (अथवा निरर्थकता) नहीं है एवं पूर्वमीमांसा दर्शनके साथ विरोध भी नहीं है। यह कैसे जान लिया? श्रुति एवं स्मृति वाक्यसे। श्रुति शब्दसे शब्दपूर्वा सृष्टिके बारेमें बताया गया है,

यथा—*'एत इति ह वै प्रजापति .... अन्याः प्रजाः'* इति—*'एते असृग्रम्, इन्दवः, तिरःपवित्रम्, आसुरो विश्वानि'*—विधाता इन सब मन्त्रस्थ पदोंके द्वारा क्रमपूर्वक देवतादियोंका स्मरण करके सृष्टि करते हैं। इनमें 'एते' इस पदमें एतच्छन्द इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओंका स्मारक है, इसी प्रकार असृग्र शब्द रुधिरप्रदान मनुष्योंका, इन्दु (चन्द्र) शब्द पितृपुरुषोंका, तिरःपवित्र ग्रहादिका, आसुर शब्द स्तोत्रका, विश्व शब्द मन्त्रका और अभिसौभग (निरतिशय सौभाग्य सूचक) शब्द प्रजादिका स्मारक है। स्मृतिवाक्य (विष्णुपुराण १/५/६४) भी है, यथा *'नामरूपञ्च .... चकार सः'* इत्यादि विष्णुपुराणमें कहा गया है कि उन ब्रह्माने सृष्टिके प्रारम्भमें वेद शब्दसे अवगत होकर समस्त प्राणियोंके नाम एवं रूपकी सृष्टि, करणीय कार्य-समुदायका विस्तार और देवताओं इत्यादिकी विभिन्न आकृति एवं अवयवोंका निर्माण किया। इसके अतिरिक्त ऐसी अन्य स्मृतियाँ भी हैं॥ २८॥

सूक्ष्मा-टीका—वेदेति। या आकृतयः। तद्वत् बन्ध्यात्मजादिशब्दवत्। प्रत्यक्षेति। श्रुतेः प्रत्यक्षत्वं प्रमाजनने अन्यानपेक्षत्वात्। स्मृतेरनुमानत्वं प्रमाजनने अन्यापेक्षत्वात्। एत इत्यादेरर्थः। एते असृग्रमिन्दवस्तिरःपवित्रमासुवो विश्वानि सौभगेत्येतैर्मन्त्रस्थपदैर्देवादीन् स्मृत्वा प्रजापतिर्विधाता ससर्जेत्यर्थः। तत्रैतच्छब्द इन्द्रियाधिष्टातृदेवानां स्मारकः। असृग्रशब्दो रुधिरप्रधानदेहानां मनुष्याणाम् इन्दुशब्दश्चन्द्रमण्डलस्थानां पितृणां तिरःपवित्र-शब्दः पवित्रं सोमं स्वमध्ये तिरस्कुर्वतां धारयतां ग्रहाणाम् आसुवशब्दः ऋचः सुवतां गानरूपाणं स्तोत्राणां विश्वशब्दो विश्वदेवशंसनानां स्तोत्रानन्तरं प्रयोगं विशतां मन्त्राणाम् अभिसौभगशब्दस्तु निरतिशयसौभगस्य वाचकः प्रजाः प्रजानामिति। नामरूपञ्चेति श्रीवैष्णवे। स ब्रह्मा। आद्यशब्दात् *'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे'* इति ग्राह्यम्॥ २८॥

सूक्ष्मा-सार— *'वेदशब्देऽपि'* इत्यादि *'स्वशास्त्रे याः प्रोक्ताः'*—विश्वकर्माने अपने शास्त्रमें जिन आकृतियोंका वर्णन किया है। *'वेदशब्दानां तद्वन्नप्रामाण्यं'*—वेद शब्दोंकी बन्ध्यापुत्रादि शब्दके समान अप्रामाणिकता नहीं है। *'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्'*—श्रुति प्रत्यक्ष किस प्रकारसे है? *'प्रमाज्ञानजनने'* प्रमात्मक (प्रत्यक्षात्मक) ज्ञानोत्पत्तिके विषयमें दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखती, इसलिए प्रत्यक्ष है। स्मृतिका अनुमानत्व प्रमाज्ञानमें दूसरे (श्रुति) की सापेक्षताके कारण हैं। (स्मृति अनुमान कहलाती है।) एत

इत्यादि श्रुतिका अर्थ है एते इत्यादि मन्त्रस्थ पदके स्मरणके द्वारा विधाताने देवताओंकी सृष्टि की। *'असृग्रम्'* इस पदके स्मरणसे मनुष्योंका, *'इन्दवः'* पदके स्मरणसे पितृपुरुषोंका, *'तिरःपवित्रम्'* पद स्मृतिके द्वारा ग्रहमण्डलीका, *'आसुर'* पदसे स्तोत्र, *'विश्वानि'* पदसे मन्त्र *'अभि-सौभग'* पदसे अन्य समस्त प्रजाकी सृष्टि की। उक्त सभीमें *'एते'* पदकी प्रकृति (मूल) एतद् शब्द इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओंका स्मारक है, असृग्र शब्द रुधिरप्रधान देहवाले मनुष्यका, इन्दु शब्द चन्द्रमण्डलस्थ पितरोंका, तिरःपवित्र शब्द पवित्र सोमको अपनेमें धारण करनेवाले अर्थमें ग्रहोंका, आसुर शब्द मन्त्रके गानरूप स्तोत्रोंका, विश्व शब्द विश्वदेवसूचक मन्त्रोंके स्तोत्र शंसन (गान) के बाद प्रयुक्त अर्थमें, अभिसौभग शब्द प्रजाओंके निरतिशय सौभाग्यका वाचक है। *'नामरूपञ्च'* इत्यादि स्मृतिवाक्य विष्णुपुराणमें कथित हैं। *'स चकार'*—उन प्रजापतिने किया। *'इत्याद्याः स्मृतयः'*—आद्य शब्दसे तात्पर्य है—*'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्, वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे'* (वि॰पु॰ १/५/६४)—प्रजापतिने वैदिक शब्दोंसे ही देवादिके पृथक्-पृथक् नाम, कर्म और विभिन्न प्रकारके संस्थानों (अवयवों) का निर्माण किया॥ २८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई पूर्वपक्ष करे कि विग्रहवादियोंका देवता-कर्ममें यद्यपि विरोध नहीं है, तो भी वैदिक शब्दोंमें तो विरोध है, क्योंकि विग्रहकी उत्पत्तिके पूर्व एवं विग्रहके विनाशके बाद बन्ध्याके पुत्रके समान वैदिक शब्दका व्यवहार अप्रामाणिक है। मीमांसाशास्त्रमें शब्दके साथ अर्थका जो नित्य सम्बन्ध वर्णित है, उससे भी विरोध होता है। इसीके उत्तरमें सूत्रकारने प्रस्तुत सूत्रमें कहा है कि नहीं, शब्दमें विरोध नहीं होता, क्योंकि वैदिक शब्द नित्य आकृतिवाचक हैं और उन-उन आकृतियोंका स्मरण करके ही विग्रहकी उत्पत्ति है। श्रुति एवं स्मृतियोंमें इस तथ्यके प्रमाण हैं। बृहदारण्यक श्रुतिमें कहा गया है—*'एत इति ह वै प्रजापतिर्देवानसृजत्, असृग्रमिति।'* तैत्तिरीय श्रुतिमें भी वर्णन है—*'स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत्'* (तै॰ब्रा॰ २/२/४/२) उन्होंने 'भू' शब्दसे भूमिकी सृष्टि

की। श्रीमरामानुजाचार्यने भी इस श्रुतिको उद्धृत किया है—*'वेदेन नामरूपे व्याकरोत् सतासती प्रजापतिः।'* (तै०ब्रा० २/६/२/३) अर्थात् श्रुतिका ही वचन है कि प्रजापतिने वेदसे सत् और असत् इन दो रूपोंको प्रकट किया। तथा *'अतएवौत्पत्तिके शब्दस्यार्थेन सम्बन्धे समाश्रित निरपेक्षमेव वेदस्य प्रामाण्यं मतम्'* अर्थात् शब्दका अपने वाच्यार्थके साथ औत्पत्तिक (नित्य) सम्बन्ध होता है, इसलिए उपदेशात्मक वेदधर्मका ज्ञापक है, क्योंकि वैदिक वाक्योंको धर्मका बोध करानेमें अन्य किसी भी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं होती। सर्वसम्वादिनी ग्रन्थमें श्रीजीव प्रभुने इस सूत्रकी व्याख्यामें लिखा है—*'इत्यत्र संवादादिरूपप्रक्रिया तु श्रोतृबोधसौकर्यकरीति सामञ्जस्यमेव भजते। तस्माद् वेदाख्य शास्त्रं प्रमाणम्, तत्तल्लक्षणहीनत्वात् तद्विरुद्धत्वाच्चावैदिकं तु शास्त्रं न प्रमाणम्।'* (तत्त्वसन्दर्भ १/११)

महाभारतमें भी देखा जाता है—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवाः॥

(महाभारत, शान्तिपर्व)

अर्थात् प्रलयके अन्तमें उस समय (सृष्टिकालमें) महर्षियोंने ब्रह्माजीके द्वारा प्रेरित होकर इतिहासके साथ वेदोंको तपस्याके बलसे ज्ञात किया था।

श्रीमद्भागवतमें भी द्रष्टव्य है—

ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयः स्मृताः॥

(श्रीमद्भा० १/३/२७)

अर्थात् प्रजापतिगण, मुनि, देवता, मनु, मनुपुत्र, मानव और जितने भी महान् शक्तिशाली हैं, सभी श्रीहरिके अंश हैं, उनकी विभूति हैं।

श्रीमद्भागवतमें ही श्रुति-स्तुतिमें देखा जाता है—

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं
यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये।

तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः
किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा॥
(श्रीमद्भा॰ १०/८७/२४)

हे भगवन्! आपसे ब्रह्मा और ब्रह्माजीसे निवृत्तिपरायण सनकादि और प्रवृत्तिपरायण मरीचि आदि देवता उत्पन्न हुए हैं। पूर्वसिद्ध पुरुषोत्तम आपको इस जगत्में अभी उत्पन्न होनेवाले, फिर विनष्ट होनेवाले मनुष्य किस प्रकार जान सकते हैं? हे देव! आप जिस समय सबको समेटकर शयन करते हैं, उस समय आकाशादि स्थूल-पदार्थ, महत्-तत्त्वादि सूक्ष्म-पदार्थ और इन दोनोंके द्वारा निर्मित स्थूलशरीर, काल, वेग, अथवा शास्त्र—कुछ भी नहीं रहता। जीवोंके लिए किसी भी प्रकारके ज्ञानका साधन नहीं रहता। ऐसी अवस्थामें आपके श्रीचरणोंमें भक्ति ही वरेण्य सर्वोत्तम है।

श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि जैसे मनुष्यत्वका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वैसा ज्ञान परमात्माकी सार्वभौम सत्ताके विषयमें नहीं होता, वह तो अनुमानपर ही आधारित होता है, यह अनुमान प्रत्यक्षके आधारपर ही होता है। जैसे कि जमदग्निपुत्र परशुरामको देखकर उनके स्वभावानुसार क्षत्रिय अंशका अनुमान हुआ, वैसे ही प्रपञ्च जगत्में विचार करनेपर परमात्मत्वका अनुभव होता है॥ २८॥

सूत्र—अतएव च नित्यत्वम्॥ २९॥

सूत्रार्थ—'अतः'—नित्याकृतिवाचकत्वके कारण और कर्त्ताके भी स्मरणके साथ सृष्टि होनेके कारण, 'एव च'—इसलिए भी 'नित्यत्वम्' वेद शब्दका नित्यत्व सिद्ध है॥ २९॥

सूत्रानुवाद—प्रजापतिकी सृष्टि शब्दपूर्वक होनेसे शब्दमय वेद नित्य हैं॥ २९॥

गोविन्दभाष्य—अतो नित्याकृतिवाचित्वात् कर्त्तुः स्मरणाच्च नित्यत्वं वेदस्य सिद्धम्। काठकादिसंज्ञा तु तत्तदुच्चरितत्वेनैव बोध्या॥ २९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अतएव शब्दके नित्य आकृतिवाचक होनेके कारण एवं स्मरणसे सृष्टिकर्त्ताका कर्त्तृत्व होनेके कारण वेद शब्दका

नित्यत्व सिद्ध है। तब काठकादि (*कठेन प्रोक्तम् काठकम्*—कठ द्वारा कथित) विभिन्न संज्ञाओंके कारण अनित्यत्वकी आशङ्का की जाती है, यह ठीक नहीं, वह तो कठ आदि मुनियोंके द्वारा उच्चारित हुआ है, यह जानना चाहिये॥ २९॥

सूक्ष्मा-टीका—नित्यत्वमिति। पुर्वपुर्वोच्चारणक्रमविशिष्टतया सर्ववेदोच्चार्य-माणत्वमित्यर्थः। नन्वेवं कठेन प्रोक्तं काठकमित्यादिनिरुक्तिः कथं तत्राह काठकादीति। कठादिशब्दैस्तत्तदाकृतिर्विचिन्त्य तत्तद्देहांस्तत्तच्छक्तियुक्तान् निर्माय तत्तद्ग्रन्थप्रकाशने ब्रह्मा तान् विनियुङ्क्ते। तेऽपि तद्दत्तशक्तयः पूर्वपूर्वकठादिप्रकाशितांस्तानधीत्यैव स्वरतो वर्णतश्चास्थलितानेव पश्यन्तीति न किञ्चिचोद्यम्। मोक्षधर्मे—*'युगान्ते तर्हि तान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भूवा'* इति। अष्टमे च—*'चतुर्युगास्ते कालेन ग्रस्तान् श्रुतिगणान् यथा। तपसा ऋषयोऽपश्यन् यतो धर्मः सनातन'* इति स्मृतिः॥ २९॥

सूक्ष्मा-सार—*'अतएव च नित्यत्वम्'*, वेदकी नित्यताके हेतुसे इस सूत्रमें कह रहे हैं कि पूर्व-पूर्वमें जिस प्रकार क्रमपूर्वक उच्चारण हुआ है, ठीक उसी क्रमसे समस्त वेदोंका उच्चारण है, अतएव वेद नित्य हैं, यह अर्थ है। अब प्रश्न यह है कि वेदके नित्य होनेपर *'कठेन प्रोक्तम्'*—कठ मुनि द्वारा प्रोक्त हैं, इसलिए वेदका नाम काठक है, यह व्युत्पत्तिलभ्य संज्ञा किस प्रकार सङ्गत होगी? इसके उत्तरमें कहते हैं—*'काठकादि श्रुतिस्तु।'* कठादि शब्दोंका अर्थ है—ब्रह्मा (चतुर्मुख) ने कठादि आकृतिविशिष्ट होकर अपनी (उसी कठादि) देहका चिन्तन करके उन-उन शक्तियोंसे युक्त कठादि देहोंका निर्माण किया। इसके बाद उन-उन ग्रन्थोंके प्रकाशनके लिए कठादि मुनियोंको प्रेरणा दी। उन कठादि ऋषियोंने भी ब्रह्माजी द्वारा प्रदत्त शक्तिसे शक्तिमान होकर पूर्व-पूर्व युगीय कठादि प्रकाशित उन सब ग्रन्थोंको न पढ़कर स्वर एवं वर्णके अनुसार त्रुटिहीन इन ग्रन्थोंको देखा। इस प्रकार समाधान हो जानेके बाद और कोई प्रश्न नहीं रह जाता। महाभारतके मोक्षधर्ममें भी देखा जाता है—

युगान्ते तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा॥

(म॰भा॰ शान्तिपर्व)

प्रलयके बाद (सृष्टिकालमें) ब्रह्माजीके द्वारा प्रेरित होकर महर्षियोंने इतिहासके साथ वेदोंको तपस्याके बलपर जान लिया था।

भागवतके अष्टमस्कन्धमें स्मृति है—

चतुर्युगान्ते कालेन ग्रस्ताञ्छ्रुतिगणान्यथा।
तपसा ऋषयोऽपश्यन्यतो धर्मः सनातनः॥

(श्रीमद्भा० ८/१४/४)

अर्थात् चतुर्युगीके अवसान होनेपर कालक्रमसे जब वेद लुप्त हो जाते हैं, तब ऋषिगण पूर्वरूप तपस्याके द्वारा पुनः उनका साक्षात्कार करते हैं। इसका कारण है कि इन श्रुतियोंसे सनातनधर्म पुनः प्रतिष्ठित होता है। वैदिक एवं स्मार्त्त धर्म सनातन हैं, कभी लुप्त नहीं होते॥ २९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकारने यही बताया है कि वैदिक शब्दके नित्य आकृति वाचकत्वके कारण और सृष्टिकर्त्ताके स्मरणके साथ सृष्टिके कारण वैदिक शब्दका नित्यत्व सिद्ध है। कठादि ऋषियों द्वारा उच्चारित होनेसे ही कठ संज्ञा प्राप्त हुई है।

इस विषयमें श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं—पहले ब्रह्माजीने ऋषियोंकी सृष्टि की और उन ऋषियोंने तपस्याके प्रभावसे मन्त्रोंका साक्षात्कार किया। मन्त्र सर्वदा विद्यमान रहते हैं।

वेदके प्रामाण्यके विषयमें श्रील जीव गोस्वामीपादने अपने रचित तत्त्वसन्दर्भ (१/११) में लिखा है—

वेदस्य न प्राकृतप्रत्यक्षादिवदविद्यावद् विषयमात्रत्वेन यावेदवाविद्या तावदेव तद्व्यवहारः। सति व्यवहारे प्रामाण्यं चेति मन्तव्यम्, अपौरुषेयत्वान्नित्यत्वात्, सर्वमुक्त्येक कालाभावेन तद्व्यवहारः (सर्वेषामेव जीवन्मुक्तानां यावत् सद्योविदेहमुक्तिप्रपञ्चे अवस्थाने) तदधिकारिणां सन्तास्तित्वात् परमेश्वरप्रसादेन परमेश्वरदेवाविद्यातीतानां चिच्छक्त्येक-विभवानामात्मारामाणां पार्षदानामपि ब्रह्मानन्दोपरिचय-भक्ति-परमानन्देन सामादिपारायणादेर्दर्शयिष्यमाणत्वात्।

इस कथनका मर्म यह है कि वैष्णवगण कहते हैं—प्राकृत प्रत्यक्षादि अविद्या विषयक मात्र ही हैं। जब तक अविद्या वर्त्तमान

है, तब तक ही उसका व्यवहार है, किन्तु वेदका प्रामाण्य वैसा नहीं है। व्यवहारमें आनेपर भी वेदका प्रामाण्य नित्य है, क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं। परेमश्वरके अनुग्रहसे परमेश्वरके समान अविद्यातीत चिच्छक्ति-वैभवविशिष्ट आत्माराम पार्षदगणोंके भी ब्रह्मानन्दकी अपेक्षा श्रेष्ठ भक्तिरूप परमानन्दके द्वारा सामादि पारायणका विषय देखा जाता है। परमेश्वर भी अपनी वेद-मर्यादाका आश्रय करके ही सृष्टि आदिका पुनः प्रवर्त्तन करते हैं।

यदि कोई पूर्वपक्ष करे कि परवर्ती जनोंके संवादादित्वके दर्शनके कारण किस प्रकारसे उनका अनादित्व सिद्ध है? इसके उत्तरमें कहा है—*'अतएव च नित्यत्वम्।'* इसी सूत्रके भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्यने ऋग्वेदका मन्त्र उद्धृत किया है—*'यज्ञेन वाचः पदवीयमायं तामन्वेविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्'* (ऋ॰सं॰ १०/७१/३)।

इसका तात्पर्य यह है कि पहले सुकृतिवश याज्ञिकगणने वेदप्राप्तिकी योग्यता प्राप्त करके ऋषियोंके हृदयमें स्थित वेदवाक्योंको प्राप्त किया था।

महाभारतमें भी पाया जाता है—

युगान्तरेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

(म॰भा॰ शान्तिपर्व)

इस प्रकार नित्यसिद्ध वेदशब्दोंका ऋषियोंके हृदयमें प्रवेश है, ऋषि वेदके कर्त्ता अथवा स्रष्टा नहीं हैं, बल्कि वे मन्त्रोंके द्रष्टा अथवा प्रकाशकमात्र हैं। वेदमें जो प्रत्येक कल्पमें नामादि देखे जाते हैं, वे भी अनादि-सिद्ध वेदके अनुरूप ही हैं।

श्रीब्रह्माजीके वचन हैं—

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्॥

(श्रीमद्भा॰ २/६/३२)

(यत्परं—इस प्रश्नके उत्तरका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि) हरिकी आज्ञासे ही नियुक्त होकर मैं संसारका सृजन करता हूँ। उनके

ही अधीन होकर शिव इस विश्वका संहार करते हैं। त्रिगुणमायाशक्तिधर (अन्तरङ्गा चित्-शक्ति, बहिरङ्गा (मायाशक्ति) तटस्था जीवशक्तिको धारण करनेवाले) श्रीहरि विष्णुरूपमें विश्वका पालन करतें हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी वर्णन है—

ब्रह्मा विष्णु हर—एइ सृष्ट्यादि ईश्वर।
तिने आज्ञाकारी कृष्णेर, कृष्ण अधीश्वर॥

(चै॰च॰म॰ २१/३६)

श्रीब्रह्मा, श्रीविष्णु एवं श्रीमहादेव—ये तीनों सृष्टिके ईश्वर हैं, किन्तु ये तीनों श्रीकृष्णके आज्ञाकारी हैं। श्रीकृष्ण सबके अधीश्वर हैं।

श्रीमद्भागवतमें और भी कहा गया है,

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः।
इतिहास-पुराणञ्च पञ्चमो वेद उच्यते॥

(श्रीमद्भा॰ १/४/२०)

उन्होंने ऋक्, यजुः, साम और अथर्व नामक चार वेदोंका पृथकीकरण किया। इतिहास एवं पुराण पञ्चम वेदके नामसे प्रसिद्ध हुए।

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः।
शस्त्रमिज्यां स्तुति-स्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात् क्रमात्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/१२/३७)

श्रीमैत्रेय ऋषिने कहा—ब्रह्माजीने अपने पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तरके चारों मुखोंसे क्रमशः ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्व—इन चारों वेदोंको प्रकाशित किया। उन्होंने यथाक्रमसे होताके कर्मरूपमें शास्त्र (अथवा अगीत मन्त्र-स्तोत्र), अध्वर्युके कर्मरूपमें इज्या (यज्ञ), उद्गाताके कर्मरूपमें स्तुतिस्तोम (अर्थात् सङ्गीत स्तोत्र एवं स्तोमके लिए रचित ऋक् समुदाय) एवं ब्रह्माके कर्मरूपमें प्रायश्चित्त (कर्म करते हुए किसी अङ्गकी हानि हो जानेपर) आदिका विधान किया।

श्रीसूतगोस्वामीके वचन हैं—

पराशरात् सत्यवत्यामंशांशकलया विभुः।
अवतीर्णो महाभाग वेदं चक्रे चतुर्विधम्॥

ऋगथर्वयजुः साम्नां राशीनुद्धृत्य वर्गशः।
चतस्रः संहिताश्चक्रे मन्त्रैर्मणिगणा इव॥

(श्रीमद्भा॰ १२/६/४९-५०)

भगवान् श्रीहरिने पराशरमुनिसे सत्यवतीके गर्भसे मायाके सात्त्विक अंशसे आविर्भूत होकर वेद शास्त्रको चार विभागोंमें विभक्त किया था। जैसे मणियोंके समूहमेंसे विभिन्न जातिकी मणियाँ छाँटकर अलग-अलग कर दी जाती हैं, वैसे ही महामति भगवान् व्यासदेवने मन्त्र-समुदायमेंसे भिन्न-भिन्न प्रकरणोंके अनुसार मन्त्रोंका संग्रह करके, उनसे ऋग्, यजुः, साम और अथर्व—ये चार संहिताएँ बनायीं।

वेद—वेदयति धर्मम् इति ब्रह्म च वेदः—निरुक्तिः। अर्थात्—जो धर्म एवं ब्रह्मका ज्ञान करानेवाला है, उसे वेद कहते हैं।

वेदान्तमतमें—धर्म-ब्रह्मप्रतिपादकमपौरुषेयवाक्यं वेदः। अर्थात्—धर्म एवं ब्रह्मके स्वरूपके प्रतिपादक जो अपौरुषेय वाक्य हैं, उन्हें वेद कहते हैं।

पुराणकर्त्ता कहते हैं—*ब्रह्ममुखनिर्गत-धर्मज्ञापक-शास्त्रं वेदः।*

अर्थात्—परम ब्रह्म श्रीभगवान्‌के श्रीमुखसे आविर्भूत जो धर्मका ज्ञापकशास्त्र है, उसे वेद कहते हैं।

न्यायशास्त्रके मतमें—*मीनशरीरावच्छेदेन भगवद्वाक्यं वेदः।*

अर्थात्—मीनावतार भगवान्‌का वाक्य ही वेद है।

श्रीगीतामें भी कहा है,

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।

(श्रीगी॰ १५/१५)

अर्थात् सभी वेदोंमें एकमात्र मैं ही जानने योग्य हूँ। मैं ही वेदान्तकर्त्ता और वेदज्ञ हूँ॥ २९॥

अवतरणिकाभाष्य—स्यादेतत्। वेदशब्दस्मृताकृत्यनुसृता देवादिविग्रहसृष्टिर्या विधातुः श्राव्यते सा किल नैमित्तिकप्रलयान्ते स्यात् प्राकृतिकप्रलये तु प्राकृतिकादितरस्य

सर्वस्य विनाशोक्तेस्तस्य तादृशी सृष्टिः कथं स्यात्? कथं वा वेदस्य नित्यत्वमिति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब आपत्ति यह है कि वेद शब्दसे स्मरणपूर्वक आकृतिके अनुसार देवता इत्यादिके विग्रहोंकी सृष्टि विधाताके द्वारा सुनी जाती है, इस प्रकारकी सृष्टि नैमित्तिक प्रलयके बाद हो सकती है, किन्तु प्राकृतिक प्रलयमें प्राकृत (प्रकृतिकी) शक्तिसे युक्त परमेश्वरसे भिन्न दूसरी समस्त वस्तुओंके ध्वंस हो जानेके कारण विधाताकी स्मृतिके अधीन वह सृष्टि किस प्रकारसे सम्भव है? और वेद भी किस प्रकारसे नित्य कहे जायेंगे? इसके उत्तरमें कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—स्यादेतदिति। सर्वस्येति। *'स दग्ध्वा सर्वाणि भूतानि'* इत्यादि सुवालश्रुतौ *'भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञ'* इत्यादि स्मृतौ च तमःशक्तिविशिष्टात् परेशादितरस्य वेदतद्वाच्याकृत्यादेस्तदनुसारिनिखिलप्रपञ्चस्य प्रलयाभिधानादित्यर्थः। शास्त्रमवकृष्य शयीत यदेति वेदलयः स्फुटं स्मर्यते। न चाकृतयस्तदा स्युरिति वाच्यं तत्सत्त्वे शेषसंज्ञाहसिद्धेः। तादृशीति। आकृत्यनुसृता देवादिविग्रहसृष्टिरित्यर्थः—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—स्यादेदित्यादि सुबालोपनिषदमें सुना जाता है—परमेश्वर समस्त सृष्ट पदार्थोंको दग्ध करके शयन करते हैं। श्रीमद्भागवतमें देवकी-वाक्यमें है—*'भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः'* (श्रीमद्भा॰ १०/३/२५) आप ही एकमात्र शेष नामसे अवशिष्ट रहते हैं—इत्यादि स्मृतिमें तमोगुणविशिष्ट अर्थात् तमःशक्तिग्राही श्रीभगवान्‌से भिन्न वेदशब्द और तद् वाच्य आकृति एवं उसके अनुसार समस्त प्रपञ्चका ध्वंस कहा गया है। यदि कहो कि वेद नित्य हैं और तद् वाच्य आकृति भी नित्य है, उसका लय किस प्रकारसे सङ्गत है? तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि श्रीभगवान् प्रलयकालमें वेदोंको अपनेमें रखकर शयन करते हैं, इस वाक्यमें स्पष्ट रूपसे वेदका लय स्मृत हुआ है, वेद और वेदवाच्य आकृतिका ध्वंस नहीं। तथापि यदि कहो कि शब्दलयकी बात ही स्मृत होती है, उस शब्दवाच्य नित्य आकृतिका लय क्यों होगा? तब उसका निश्चय है, यह भी मत कहिये, क्योंकि आकृतियाँ जब रहती हैं, तो उनका नाम

शेष रह नहीं सकता। *'तस्य तादृशी सृष्टिः'*—इस प्रकार आकृतिकी अनुसारिणी देवादि विग्रहकी सृष्टि है, यह अर्थ है।

सूत्र—समान-नाम-रूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च॥ ३०॥

सूत्रार्थ—'आवृत्तावपि अविरोधः'—महाप्रलयके बाद जो प्रथम सृष्टि होती है, उसमें और वेदोक्त शब्दमें कोई भी विरोध नहीं है, किस कारणसे? उत्तर—'समाननामरूपत्वात्' पूर्व युगमें उक्त नाम, रूप और अवयव गठन सृष्टिके बाद समान ही रहते हैं, इसलिए। यह कहाँसे पता चला? उत्तर—'दर्शनात्' श्रुतिसे, 'स्मृतेश्च' एवं पुराणादि स्मृतिसे भी॥ ३०॥

सूत्रानुवाद—प्राकृत सृष्टि, प्रलय प्रवाहरूप आवृत्ति अर्थात् महाप्रलयके बाद प्रथम सृष्टिमें भी समान नाम और रूप आदि रहनेके कारण वेदके नित्यत्वमें कोई विरोध नहीं है। श्रुति एवं स्मृतिका भी यही अभिमत है॥ ३०॥

गोविन्दभाष्य—शङ्काच्छेदाय चशब्दः। आवृत्तौ महाप्रलयात् परस्यामादिसृष्टावपि वेदशब्दे न विरोधः। कुतः? समानेति। पूर्वोक्ततुल्यनामरूपसंस्थानत्वादित्यर्थः। महाप्रलये वेदान्तद्वाच्यास्तत्तदाकृतयश्च नित्याः पदार्थाः सशक्तिके श्रीहरी ऐकीभावमापन्नास्तिष्ठन्ति। अथ तस्मिन् सिसृक्षौ सति ततोऽभिव्यज्यन्ते। तैर्वेदशब्दैस्तत्तदाकृतिपर्यालोचनपूर्विका तत्तद्व्यक्तिसृष्टिः श्रीहरेश्चतुर्मुखस्य च स्यात्। घटादिशब्दैः पुर्वघटाद्याकृतिविमर्शिनः कुलालस्य पूर्वसदृशी घटादिसृष्टिर्यथेत्युत्तरसृष्टानां पूर्वसृष्टेस्तौल्यम्। एवञ्च नैमित्तिकप्रलयान्तवत् महाप्रलयान्तेऽपि तादृक्सृष्टिर्भवेदेवेति। इदं कुतोऽवगतं तत्राह दर्शनेति। दर्शनं तावत् (ऐ॰ १/१/१) *'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् स ऐक्षत लोकान्नुत्सृजा'*। *'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तम्'* (श्वे॰ ६/१८) इति। *'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'* (ऋ॰सं॰ १०/१९०/३) इत्यादि। स्मृतिश्च—(वि॰पु॰ १/१२/६५) *'न्यग्रोधः सुमहानल्पे यथा वीजे व्यवस्थितः। संयमे विश्वमखिलं बीजभुते तथा त्वयि'* इति। *'नारायणः परो देवस्तस्माज्जातश्चतुर्मुख'* इति। *'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये'* (श्रीमद्भा॰ १/१/१) इति चैवमाद्या। अयमत्र निष्कर्षः। सर्वेश्वरोभगवान् महाप्रलयान्ते यथापूर्वं विश्वं विचिन्तयन् बहुस्यामिति सङ्कल्प्य सूक्ष्मात्मना स्वस्मिन् विलीनं भोक्तृभोग्य-समुदायं विभज्य महदादिब्रह्मपर्यन्तमण्डं पूर्ववन्निर्माय वेदांश्च पूर्वानु-पूर्विकानाविर्भाव्य मनसैव तान् ब्रह्माणमध्याप्य च पूर्ववद्देवादिरूपविश्वसृष्टौ तं

विनियुङ्क्ते, स्वयञ्च तदन्तर्नियमयन्नवतिष्ठते। सोऽपि तदनुग्रहलब्धसार्वज्ञ्यवीर्यो वेदैस्तत्तदाकृतीर्विमृश्य पूर्वदेवादितुल्यांस्तान् सृजतीति। तदेवमिन्दादिशब्दात्मनो वेदस्येन्द्राद्यर्थाकृतेश्च सदातनत्वात् तयोः सम्बन्धेऽपि तथात्वं सिद्धमितिशब्देऽपि न कोऽपि विरोधः। तथाच देवादीनां सामर्थ्यादिसम्भवात् तेषामपि ब्रह्मोपासनाधिकारः सिद्धः। देवाद्यधिकारेऽपि नाङ्गुष्ठमात्रश्रुतिर्विरुद्धा। तदङ्गुष्ठप्रमितत्वेन तत्सिद्धेः॥ ३०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रस्थ 'च' शब्दका प्रयोग पूर्वोक्त शङ्काके निवारणके लिए है। 'आवृत्तौ' अर्थात् महाप्रलयके बाद जो प्रथम सृष्टि होती है, उसमें भी वेद शब्दमें असङ्गति नहीं है, क्योंकि पूर्व युगके समान इसमें भी समान नाम, रूप, अवयवका गठन रहता है। बात यह है कि महाप्रलय कालमें समस्त वेद, उसके बोध्य पदार्थ और आकृति इत्यादि सभी नित्य पदार्थ शक्तिके साथ श्रीहरिमें एकीभूत होकर वर्त्तमान रहते हैं। प्रलयके अन्तमें जब श्रीहरि सृष्टि करनेके इच्छुक होते हैं, तो उनसे एक-एक करके समस्त वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। उस स्मृत वेद शब्दके द्वारा श्रीहरि और चतुर्मुखब्रह्माके द्वारा उन-उन आकृतियोंकी पर्यालोचना करके उस-उस व्यक्तिकी सृष्टि होती है, जिस प्रकार घटके नष्ट होनेपर कुम्हार पूर्व घटकी आकृतिका स्मरण करके पुनः उस प्रकारके नये घटकी रचना करता है। इसलिए परवर्तिनी सृष्टि पूर्व सृष्टिके ही समान है। इस प्रकार नैमित्तिक प्रलयके बाद होनेवाली सृष्टिके समान महाप्रलयमें भी पूर्वके समान ही सृष्टि होती है।

यदि कहो—यह जानकारी कहाँ-से प्राप्त हुई? तो इसका समाधान यह है कि दर्शनसे, वह किस प्रकार? श्रुतिमें है—*'आत्मा वा इदमेक'* (ऐ॰ १/१)—'इस विश्वकी सृष्टिसे पहले एकमात्र आत्मा ही था। उसने ईक्षण किया कि मैं लोककी सृष्टि करूँ।' *'यो ब्रह्माणं विदधाति'* (श्वे॰ ६/१८) जिन श्रीहरिने सर्वप्रथम चतुर्मुखब्रह्माकी सृष्टि की और उनके हृदयमें समस्त वेदोंको प्रकाशित किया, उन श्रीहरिका ध्यान करें। *'सूर्याचन्द्रमसौ'* (ऋ॰सं॰ १०/१९०/३) विधाताने पहलेके ही समान सूर्य-चन्द्रकी सृष्टि की, इत्यादि श्रुतिवाक्य भी इसके प्रमाण हैं। स्मृतिवाक्य—*न्यग्रोधः सुमहानल्पे* (वि॰पु॰ १/१२/६५) जिस प्रकार अति क्षुद्र बीजमें एक विशाल वटवृक्ष सूक्ष्म रूपसे अवस्थित रहता है। हे

हरि! उसी प्रकार प्रलयकालमें यह समस्त विश्व आपमें अवस्थान करता है। वराहपुराणमें भी कहा गया है कि 'परदेवता नारायणसे चतुर्मुखब्रह्मा उत्पन्न होते हैं।' श्रीमद्भागवत (१/१/१) में भी वर्णन है कि 'जो परमेश्वर ब्रह्माके हृदयमें वेदशास्त्रका प्रवर्त्तन करते हैं।'

सार तत्त्व यह है कि सर्वशक्तिमान सर्वनियन्ता श्रीहरि महाप्रलयके अवसान होनेपर पहलेके ही समान विश्वका स्मरण करके 'मैं बहुत हो जाऊँ' इस प्रकार सङ्कल्प करते हैं, बादमें सूक्ष्म रूपसे अपने शरीरमें लीन (लयको प्राप्त) भोक्तृ और भोग्य-समुदायात्मक विश्वका विभाग करके महत्-तत्त्वादि ब्रह्मा पर्यन्त अण्डका पहलेकी ही भाँति निर्माण करते हैं और चारों वेदोंको पूर्वानुपूर्व क्रमसे प्रकट करके ब्रह्माजीको मन-ही-मन अध्यापन करते हैं इस प्रकार पूर्व सृष्टिके समान देवादिरूप सृष्टिमें उन प्रजापति (ब्रह्मा) को नियुक्त करते हैं और स्वयं भी प्रजापतिके हृदयमें नियामक रूपसे अवस्थान करते हैं। विधाता भी परमेश्वरके अनुग्रहसे सर्वज्ञता और सृष्टिशक्ति प्राप्त करके वेदकी सहायतासे उस-उस आकृतिका स्मरण करके पूर्व देवतादिके समान ही देवादि देहोंकी सृष्टि करते हैं। इस प्रकार पाया जाता है कि इन्द्रादि शब्दात्मक वेद एवं इन्द्रादि अर्थ आकृति नित्य होनेके कारण तद्वाचक शब्द और वाच्य आकृतिका सम्बन्ध भी नित्य है—यह सिद्ध है। अतः वैदिक शब्दमें कोई भी विरोध अथवा असङ्गति नहीं रहती। इसी प्रकार देवताओंमें सामर्थ्यादिकी सत्ताके कारण परमेश्वरकी उपासनामें उनका अधिकार भी सिद्ध होता है। और भी, देवादिकी उपासनाके अधिकारमें भी उनके अङ्गुष्ठ परिमितत्व रूपमें अङ्गुष्ठ श्रुतिके विरोधका भी परिहार हो जाता है॥ ३०॥

सूक्ष्मा-टीका—समानेति। एकीभावमापन्नास्तिष्ठन्तीति। *'स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः। तदन्ते बोधयाञ्चक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम्'* इति स्मृतेः शक्तयस्तदाकृतयश्च। ताभिः साहित्योक्तिस्तदा तासां स्थितिमाह। श्रुतयश्च तदा सन्तीति स्फुटमुक्तम्। अतएव शास्त्रमवकृष्येत्युक्तं न तु दग्ध्वेति। तस्माद्वेदास्तत्तदाकृतयश्च नित्याः। श्रीहरेरिति। महदादेश्चतुर्मुखान्तस्य सृष्टिः श्रीहरिणा देवादिविग्रहाणां सृष्टिश्चतुर्मुखेनेत्यर्थः। न च शेषसंज्ञाऽसिद्धिः अशेषसंज्ञ इतिच्छेदात्। आत्मा

इति। अत्र सप्रकृतौ श्रीहरावेव सर्वस्य लय उक्तः। अत्र वेदाकृतिलयो वनलीनविहङ्गन्यायेन बोध्यः। महदादिप्रपञ्चलयश्च गन्धादिवच्चूर्णितघटादिवच्चेति वदन्ति। य इति। यः श्रीहरिः। विदधाति सृजति। सूर्येति। धाता ब्रह्मा। न्यग्रोध इति श्रीवैष्णवे। न्यग्रोधो बहुपाद्वट इत्यमरः। संषमे प्रलये। नारायण इति श्रीवाराहवाक्यम्। तेन इति श्रीभागवते मङ्गलपद्यावयवः। यो हरिरादिकवये ब्रह्मणे तं बोधयितुमित्यर्थः। हृदा मनसैव ब्रह्म वेदं तेने पाठितवानित्यर्थः। तदङ्गुष्ठेति। देवाद्यङ्गुष्ठप्रमितत्वेनेत्यर्थः ॥ ३० ॥

सूक्ष्मा-सार— *'एकीभावमापन्नास्तिष्ठन्ति इत्यादि'*—परमेश्वरमें एकीभावसे लीन रहते हैं, इस विषयमें स्मृतिवाक्य है कि—भगवान् प्रलयकालमें अपने द्वारा रचित इस विश्वको आकृति-शक्तियोंके साथ अपने उदरमें लीन करके शयन करते हैं। प्रलयके बाद श्रुतियाँ उन परमपुरुषको उनके बोधक शब्दोंके द्वारा पुनः जाग्रत करती हैं। यहाँ शक्ति शब्दसे शक्ति और उन-उन आकृतियोंको जानना होगा। 'उनके साथ स्थिति' से तात्पर्य है कि प्रलयकालमें भी वे सब आकृति थीं। उस समय श्रुतियाँ भी थीं, यह भी स्पष्ट रूपसे कहा गया। इसलिए कहते हैं *'शास्त्रमवकृष्य'*—शास्त्रको अपनेमें आकर्षित करके, दग्ध करके नहीं। अतएव प्रमाणित होता है कि वेदशब्द नित्य हैं और वेदवाच्य आकृतियाँ भी नित्य हैं। 'श्रीहरेरित्यादि'—श्रीहरि महत्से आरम्भ करके प्रजापति ब्रह्मा पर्यन्त सृष्टि करते हैं, बादमें चतुर्मुखब्रह्मा देवादि विग्रहोंकी सृष्टि करते हैं।

यदि कहो कि शब्द एवं शब्दवाच्य आकृतियाँ यदि नित्य हैं, तो भागवतोक्त शेष नाम किस प्रकार सिद्ध होगा? ऐसा नहीं कह सकते हो, *'शिष्यतेऽशेषसंज्ञः'* इस प्रकार पाठ करनेपर सङ्गति होगी। *'आत्मा वा इदमेक'*, इस श्रुतिमें प्रकृतिके साथ विद्यमान श्रीहरिमें ही समस्त प्रपञ्चका लय कहा गया है। तब जो इन श्रीहरिमें वेद एवं आकृतिका लय कहा गया, वह *'वनलीनविहङ्गन्यायेन'* अर्थात् 'वनमें पक्षी लीन हो गया है' कहनेपर जिस प्रकार वनमें पक्षी निस्तब्ध (शान्त) है, यह जाना जाता है, उसी प्रकार वेदादिकी कोई क्रिया उस समय प्रकाशित नहीं है, यह समझना चाहिये। महत् इत्यादि प्रपञ्चका लय भी

गन्धादिके लय और चूर्णित घटादिके समान जानना चाहिये, यह कहा जाता है। *'य इत्यादि'*—ये श्रीहरि 'विदधाति' सृष्टि करते हैं। *'सूर्याचन्द्रमसौ धाता'*—धाताका अर्थ है ब्रह्मा। *'न्यग्रोध इत्यादि'* श्लोक श्रीविष्णुपुराणमें सन्निहित हैं। न्यग्रोध शब्दका अर्थ है 'वट', जैसा कि अमरकोषमें कहा है—न्यग्रोधो, बहुपाद, वटः (अमरकोष २/४/३२)। संयमे अर्थात् प्रलयकालमें। *'नारायणः परो देवः'* इत्यादि वाक्य श्रीवराहपुराणसे उद्धृत हैं। *'तेने ब्रह्म हृदा'* यह श्लोक श्रीमद्भागवतके मङ्गलाचरणरूप प्रथम श्लोकमें कहा गया है। 'यः' जिन श्रीहरिने आदिकवि प्रथम स्रष्टा ब्रह्माको वेद ज्ञात करानेके लिए। हृदा अर्थात् मन-ही-मनमें, ब्रह्म-वेदको, तेने—अध्ययन कराया। *'तदङ्गुष्ठप्रमितत्वेन'* अर्थात् देवादिके अङ्गुष्ठ परिमित रूपमें॥ ३०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई इस प्रकारसे पूर्वपक्ष करे कि वेद शब्दसे स्मरणपूर्वक आकृतिके अनुसार देवतादिके विग्रहकी सृष्टि होती है, किन्तु वह नैमित्तिक प्रलयके बाद सम्भव होती है और जब प्राकृतिक प्रलयमें प्रकृति शक्तिसे समन्वित परमेश्वरके अतिरिक्त समस्त वस्तुओंका विनाश होता है, तब स्मृतिके अधीन होनेसे विधाताकी सृष्टि किस प्रकार सम्भव है? और फिर वेदका भी नित्यत्व किस प्रकारसे कहा जा सकता है? इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि महाप्रलयके बाद जो सृष्टि होती है, उसमें नाम, रूप समान रहनेके कारण आवृत्तिमें कोई विरोध देखा नहीं जाता। श्रुति एवं स्मृति इसके प्रमाण हैं—

प्रस्तुत सूत्रके भाष्यमें श्रीमन्मध्वाचार्यने एक श्रुति उद्धृत की है—

तथैव नियमःकाले स्वरादिनियमस्तथा।
तस्मान्नानीदृशं क्वापि विश्वमेतद्भविष्यति॥

स्मृति ग्रन्थ महाभारतमें भी द्रष्टव्य है—

अनादिनिधना नित्या वागुत् सृष्टा स्वयम्भुवाः।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥
(महाभारत शान्तिपर्व २३१/५६, ५७)

स्वयम्भूने सर्वप्रथम अनादिनिधन वेदमय, दिव्य वाक्य प्रकाशित किया, जिससे कि सारी सृष्टि होती है। ऋषियों आदिके नाम, रूप आदिकी वैदिक शब्दोंसे ही सृष्टि की गयी है।

श्रीमद्भागवतमें ही श्रीब्रह्माजीके वचन हैं—

येन स्वरोचिषा विश्वं रोचितं रोचयाम्यहम्।
यथार्कोऽग्निर्यथा सोमो यथर्क्षग्रहतारकाः॥
(श्रीमद्भा० २/५/११)

यह सम्पूर्ण विश्व स्वयं-प्रकाश भगवान्से प्रकाशित है। जिस प्रकार सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, ग्रह और नक्षत्रादि (परमेश्वरके) चिन्मय प्रकाशसे प्रकाशित वस्तुओंको पुनः प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार मैं उनकी ही शक्तिसे प्रकाशित वस्तुओंकी पुनः सृष्टि करके पिष्ट-पेषण (पिसे हुए को फिरसे पीसना) न्यायके द्वारा प्रकाशित करता हूँ। ब्रह्मकी ज्योतिके द्वारा ज्योतिर्मान होकर ब्रह्मके अनुगत भावसे सूर्यादि प्रकाश प्राप्त करते हैं और दूसरोंको प्रकाशित करते हैं। सूर्य आदि कोई भी स्वतन्त्र प्रकाशक नहीं हैं, इसी प्रकार मैं भी स्वतन्त्र सृष्टिकर्त्ता नहीं हूँ।

और भी,

तस्यापि द्रष्टुरीशस्य कूटस्थस्याखिलात्मनः।
सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहमीक्षयैवाभिचोदितः॥
(श्रीमद्भा० २/५/१७)

नारायण ही एकमात्र सभी प्राणियोंके नियन्ता, कूटस्थ, साक्षी, अन्तर्यामी और अन्तरात्मा हैं। मुझे भी उन्होंने ही बनाया है। न तो मेरी कोई स्वतन्त्र शक्ति है और न ही इच्छा। मैं उनकी ईक्षणशक्ति द्वारा प्रेरित होकर उनके ही द्वारा सृष्ट वस्तुओंकी ही सृष्टि करता हूँ।

स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः।
आत्मात्मन्यात्मनात्मानं संयच्छति पाति च॥
(श्रीमद्भा० २/६/३९)

वे अजन्मा हैं, आद्य पुरुषावतार हैं। प्रत्येक कल्पके आरम्भमें वे स्वयं अपने-आपमें अपने द्वारा अपना सृजन, पालन एवं संहार करते हैं।

सत्यं ह्यवयवः प्रोक्तः सर्वावयविनामिह।
विनार्थेन प्रतीयेरन् पटस्येवाङ्ग तन्तवः॥
(श्रीमद्भा० १२/४/२७)

हे राजन्! जिस प्रकार कार्य पदार्थ पटकी सत्ताके अतिरिक्त कारण पदार्थ सूतोंकी पृथक् सत्ता प्रतीत होती है, उसी प्रकार कार्यके अतिरिक्त कारणोंकी पृथक् सत्ता दिखायी पड़ती है॥ ३०॥

८—भावाधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—अथ यासु विद्यासु देवा एवोपास्यास्तासु तेषामधिकारः स्यान्न वेति विचार्यते। छान्दोग्ये (३/१/१) *'असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशः'* इत्यादिना सूर्यस्य देवमधुत्वं प्रतिपाद्यते, रश्मीनां छिद्रत्वञ्च तत्र वसुरुद्रादित्यमरुत्साध्याः पञ्चदेवगणाः स्वमुख्येन मुखेनामृतं दृष्टैव तृप्यन्तीत्यादि चोच्यते। सूर्यस्य मधुत्वञ्च ऋगादिप्रोक्तकर्मनिष्पाद्यस्य रश्मिद्वारा प्राप्तस्य रसस्याश्रयतया व्यपदिश्यते। एव मन्यत्राप्यन्यदेवोपासना च ग्राह्या। तत्र तावत् परमतमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब आशङ्का यह है कि जिन समस्त विद्याओंमें देवताओंको उपास्यरूपमें वर्णित किया गया है, उन सब विद्याओंमें देवताओंका अधिकार है या नहीं अर्थात् ये सब मन्त्र उपासना क्षेत्रमें उनके सम्बन्धमें पढ़ने योग्य हैं या नहीं? इसपर विचार किया जा रहा है। छान्दोग्योपनिषद (३/१/१) में कहा जाता है कि सूर्य ही देवताओंका मधु है अर्थात् वह मधुके समान आनन्ददायक है। *'तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशः'*—अन्तरिक्ष उस आदित्य-मधुका वक्र (तिरछा) आधार वंश है, क्योंकि आदित्य वहाँ अवस्थान करते हैं। इन सब श्रुतिवाक्योंसे प्रतिपादित होता है कि सूर्य ही देवमधुचक्र हैं,

रश्मियाँ उस मधुचक्र (मधुके छत्ते) के छिद्र हैं, उस मधुचक्रमें वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् और साध्य—ये पाँच देवता अपने-अपने गणोंमें प्रधानरूपमें मुखके द्वारा अमृत प्राप्त करते हैं, यह भी कहा गया है। सूर्यको जो मधुचक्र कहा गया है, वह ऋक् इत्यादि वेद-प्रतिपादित कर्मानुष्ठान साध्य कर्मरूप रश्मियोंकी सहायतासे प्राप्त रसके आश्रयत्वके कारण कहा गया है। इसी प्रकार अन्य श्रुतियोंमें भी देवतादिके द्वारा उपासनाको जानना चाहिये। इस विषयमें परमत (पूर्वपक्षीके मत) का उल्लेख कर रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वमुक्तो ब्रह्मविद्यायामधिकारो देवानामस्तु। तेषां परमानन्दस्य तत्फलस्याप्तेः। मध्वादिविद्यासु तु स मास्तु वसुत्वादिप्राप्तेस्तत्फलस्य तेषु सिद्धेरिति प्रत्युदाहरणसङ्गत्याह अथेत्यादिना। असावित्यादेरयं निर्यासः। आदित्यो देवमधु देवानां मोदनान्मध्विव मधु तस्य मधुनो द्युलोक एव तिरश्चीनवंशः आदित्याख्यमधुनोऽन्तरीक्षेऽवस्थानात् न देवमध्वाधारो यूपः। रोहितं शुक्लं कृष्णं परकृष्णं गोप्यञ्चेति पञ्च रोहितादीन्यमृतानि प्रागाद्यूर्द्धान्तपञ्चगवस्थिताभिरादित्य-रश्मिनाड़ीभिर्मधुच्छिद्रभूताभी रोहिताद्याख्यतत्तद्वेदोक्तकर्म्मकुसुमेभ्यस्तत्तद्वैदिक-मन्त्रमधुकरैरादित्यमण्डलमानीतानि। पञ्चमममृतं गोप्याख्यं प्रणवकुसुमादुपासनाभ्रमरै-रूर्द्धदिग्गतसूर्यरश्मिरूपेण गोप्याख्यमधुच्छिद्रद्वारा तन्मण्डलमानीतम्। रोहितादिकममृतं मकरन्दस्थानभूतं बह्नो हुतसोमाज्यपयःपुरोडाशादिरूपं बोध्यम्। तानि च रोहितादीन्यमृतानि यशस्तेजोवीर्यसर्वेन्द्रियान्नरूपेण निष्पन्नान्यादित्यमधुसम्बन्धीनि प्रागादिषु दिक्षु क्रमेण स्थितानं वस्वादीनामुपजीव्यानीत्येवं भावयतां बसुत्वादिप्राप्तिफलम्। वस्वादीनां समानानां मध्ये एको भूत्वा यश आद्यमृतं प्रत्यक्षानुमानादिभिः करणैरुपलभ्य तृप्यतीति। स्वेषु यो मुख्यस्तद्रूपेण मुखेनवक्तृेण इत्यर्थः। एवमन्यत्रापीति। आदित्यो ब्रह्मेत्यादिरूपा ग्राह्या।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्व वर्णित देवताओंका ब्रह्म-विद्यामें अधिकार रहता है, क्योंकि इसका फल जो परमानन्द प्राप्ति है, वह देवताओंका प्राप्य है। किन्तु मधु इत्यादि विद्यामें अधिकार नहीं है, क्योंकि मधु विद्या-उपासनाका फल वसुत्व इत्यादिकी प्राप्ति है। वह जब वसु इत्यादि देवताओंमें सिद्ध ही है, इस प्रकार प्रतिवादरूप सङ्गति दिखा रहे हैं—अथेत्यादि सन्दर्भ द्वारा। *'असौ इत्यादि'* श्रुतिका सारार्थ है—आदित्य देवताओंका मधुचक्र है, मधु

(शहद) जिस प्रकार आनन्द प्रदान करता है, उसी प्रकार आदित्य भी आनन्दका विधान करता है, अतः यह मधुके समान होनेसे मधुरूपक होता है। अन्तरिक्ष उस मधुरूप आदित्यका वक्र (तिरछा) आधारवंश है, क्योंकि आदित्य नामका मधुचक्र अन्तरिक्षमें ही अवस्थान करता है, यूपकाष्ठ (खूँटा) उसका आधार नहीं हो सकता। रोहित, शुक्ल, कृष्ण, परकृष्ण और गोप्य नामक ये पाँच अमृत पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊर्ध्वादि पाँच दिशाओंमें अवस्थित हैं। आदित्यकी रश्मिरूप नाड़ियाँ मधु निःसरणकी छिद्रस्वरूप हैं। रोहितादि नामक वेदोक्त कर्मसमुदाय पुष्पस्वरूप हैं, इन्हींसे वे-वे वेदोक्त मन्त्ररूप भ्रमर ऊर्ध्वादि दिशाओंमें स्थित सूर्यरश्मिरूपमें मधुचक्रके छिद्रकी सहायतासे उस मधुको आदित्यमण्डलमें लाकर सञ्चित करते हैं। रोहितादि पुष्परसका उसी प्रकारसे आधार हैं, जिस प्रकार अग्नि आहुत (हवनकी हुई सामग्री) सोम, घृत, छन्द, पुरोडाश इत्यादिका आधार है। उपासकके यश, तेज, वीर्य, सर्वेन्द्रिय और अन्नसे निष्पन्न, आदित्य मधुरूपमें परिणत ये रोहितादि पञ्चामृत पूर्वादि दिशाओंमें यथाक्रमसे अवस्थित वसु इत्यादिके काम्य-फल होते हैं। इस प्रकारकी भावनासे जो उपासना करते हैं, उन्हें ही वसुत्वादिकी प्राप्ति होती है। वसु, रुद्र इत्यादि सभी समान हैं, किन्तु उनमें एक व्यक्ति ही प्रधान होकर यश इत्यादि पञ्चामृतको प्रत्यक्ष, अनुमान इत्यादि प्रमाणके द्वारा उपलब्ध करके कृतार्थ होता है। अपने-अपने दलोंमें जो मुख्य है, वही मुख्यपात्र होकर उस अमृतको दूसरोंको भोग कराता है। इसी प्रकार अन्य श्रुतिमें *'आदित्यो ब्रह्म'* इत्यादिमें आदित्यकी उपासना कही गयी है।

सूत्र—मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः॥ ३१ ॥

सूत्रार्थ—'जैमिनिः'—पूर्वमीमांसाकार जैमिनि, 'अनधिकारं मध्वादिषु'—मधु इत्यादि विद्याओंमें देवताओंका अधिकार नहीं मानते, क्यों? उत्तर है—'असम्भवात्' क्योंकि यह असम्भव है, जो उपास्य है, वह उपासक नहीं हो सकता॥ ३१ ॥

सूत्रानुवाद—आदित्य (सूर्य), वसु आदि देवताओंके उपास्य कोटिमें आ जानेसे उनमें उपासकत्व सम्भव नहीं है—यह जैमिनिका मत है॥ ३१॥

गोविन्दभाष्य—जैमिनिर्देवानां मध्वादिषु विद्यास्वनधिकारं मन्यते। कुतः? असम्भवात्। न हि स्वयमुपास्यः सन्नुपासको भवितुमर्हति एकस्मिन्नुभयासम्भवात्। वसुत्वादिप्राप्तेर्मधुविद्याफलस्य सिद्धत्वेनार्थित्वासम्भवाच्च॥ ३१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—महर्षि जैमिनि मधु इत्यादि उपासनाओंमें देवताओंका अधिकार नहीं मानते, यह असम्भव है, क्योंकि जो उपास्य है, वह उपासक नहीं हो सकता। एक व्यक्तिमें उपास्यता एवं उपासकता—दोनों धर्म रह नहीं सकते। और एक कारण है, मधुविद्या उपासनाका फल वसुत्वादिको प्राप्त करना है, वह जब वसु इत्यादि देवताओंमें सिद्ध है, तब वह उपासना भी कामनाके अभावमें निष्फल है॥ ३१॥

सूक्ष्मा-टीका—असम्भवादिति। उपास्यतोपासकतयोरुभयोर्धर्म्मयोरेकस्मिन्नादित्येह-सम्भवादयोग्यत्वादित्यर्थः। एतदेवाह न हीति॥ ३१॥

सूक्ष्मा-सार—*'असम्भवात्'*—मध्वादिषु असम्भवात्—उपास्यता और उपासकता—इन दो भावोंकी एक आदित्यमें स्थिति असम्भव—अयौक्तिक है—इसीको 'न हीत्यादि' वाक्यके द्वारा बता रहे हैं॥ ३१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—किसीकी यदि इस प्रकार आशङ्का हो कि जिन विद्याओंमें देवता उपास्य हैं, उन सब विद्याओंमें उनका अधिकार है कि नहीं? छान्दोग्योपनिषदमें कहा गया है कि आदित्य देवताओंका मधु है। सूर्यका मधु ऋग्वेदादिमें प्रोक्त कर्मके द्वारा निष्पन्न एवं रश्मियोंके द्वारा प्राप्त रसके आश्रयस्वरूपमें निर्दिष्ट है। इसी प्रकार अन्यत्र अन्य देवताओंकी उपासना भी जाननी चाहिये। आदित्यको देवताओंका मधु इसलिए कहा गया है कि वह देवताओंके मोदका हेतु है। श्रुतिने यहाँ भ्रामर (भ्रमर अर्थात् मधुमक्खियोंके बनाये गये शहद) की समानता दिखलायी है। जैसे किसी तिरछे बाँस आदिके सहारे मधुमक्खियाँ अपने शहदका छत्ता लगाती हैं, ऐसे ही स्वर्गरूप किसी तिरछे बाँसमें लगा हुआ यह अन्तरिक्ष (आकाश) मधुका अपूप (छत्ता) है और उसमें अवस्थित आदित्य शहद है। जितने भी

सोमरस, आज्य (घृत) और दुग्धादि हवि द्रव्य अग्निमें आहुत होते हैं, वे अमृतरूपमें परिणत होकर रश्मिरूपी मधुपोंके द्वारा आदित्यमण्डलमें पहुँचाये जाते हैं। आदित्यमण्डलकी पूर्व दिशामें अवस्थित रोहित (लाल) रश्मियोंके द्वारा सञ्चित अमृतका उपभोग वसु-संज्ञक देवगण, दक्षिण दिशाकी शुक्ल (श्वेत) किरणोंके द्वारा लाये हुए यजुर्वेदीय कर्म-फलरूप अमृतका उपभोग रुद्रगण पश्चिम दिशाकी कृष्ण-किरणोंके द्वारा आहृत सामवेदीय कर्मोंके फलरूप अमृतका सेवन आदित्यगण एवं उत्तर दिशाकी अत्यन्त कृष्ण-रश्मियोंके द्वारा लाये गये अथर्ववेदीय कर्मके फलरूप अमृत एवं इतिहास-पुराणादिरूप रश्मियोंके द्वारा लाये गये अश्वमेध और वाचस्तोमसंज्ञक कर्मोंके फलरूप अमृतका सेवन मरुद्गण करते हैं। आदित्यरूप मधुकी गोप्य ऊर्ध्वगामी रश्मियोंके द्वारा प्रणवरूपी फूलोंसे जो अमृत लाया जाता है, उसका साध्यगण उपभोग करते हैं।

इस आशङ्काके उत्तरमें सूत्रकारने परमतका उल्लेख किया है। महर्षि जैमिनि मध्वादि विद्यामें देवताओंका अधिकार नहीं है, ऐसा मानते हैं, क्योंकि यह असम्भव है। एक ही व्यक्तिमें उपास्य एवं उपासकता दोनों धर्म रह नहीं सकते। छान्दोग्यमें कहा गया है कि इस उपासनाके फलसे उपासक वसुरूपमें जन्म ग्रहण करता है। इसलिए जो मधुविद्याके फलस्वरूप वसुत्व प्राप्त कर चुके हैं, वे पुनः उसीके लिए प्रार्थना क्यों करेंगे? यह तो असम्भव ही जान पड़ता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

सोऽमृतस्याभयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात्।
महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्ययः॥
(श्रीमद्भा॰ २/६/१८)

हे नारद! वे परमेश्वर अमृत एवं अभयपदके स्वामी हैं अर्थात् वे ही भोक्ता, भोजयिता एवं दाता हैं। मोक्षामृतका तिरस्कार करनेवाले उन्होंने मरणधर्मी (नश्वर) विषय-सुखोंका परित्याग कर दिया है। यही कारण है कि उन परमेश्वरकी महिमा असीम है॥ ३१॥

सूत्र—ज्योतिषि भावाच्च॥ ३२॥

सूत्रार्थ—'ज्योतिषिः'—परज्योतिःस्वरूप परमेश्वरमें ही, 'तेषाम्'—देवताओंके उपासकरूपमें, 'भावाच्च'—सत्ता अथवा अवस्थानके कारण—ब्रह्मोपासनासे भिन्न अन्य उपासनाओंमें उनका अधिकार नहीं है, यह प्रमाणित हुआ॥ ३२॥

सूत्रानुवाद—ज्योतिस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें देवताओंके उपासक होनेसे ब्रह्मोपासनासे भिन्न मधुविद्या आदिमें उनका अधिकार नहीं है॥ ३२॥

गोविन्दभाष्य— *'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः'* (बृ॰आ॰ ४/४/१६) इत्यादिश्रुतेर्ज्योतिषि परस्मिन् ब्रह्मणि तेषामुपासकतया भावाच्च न तास्वधिकारः। ब्रह्मोपासनस्य देवमनुष्यसाधारण्येऽपि विशिष्य देवानां तत्कथनं तेषामितरोपासननिॢत्तिं द्योतयति॥ ३२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'तद्देवा ज्योतिषां ज्योति'* (बृ॰आ॰ ४/४/१६)—'जो ज्योतिः-पदार्थोंके भी ज्योति अर्थात् प्रकाशक हैं, उनकी देवतागण उपासना करते हैं' इत्यादि श्रुतिसे प्रमाणित होता है कि परब्रह्ममें ही देवताओंका उपासकरूपमें अधिकार है, न कि उस मधु आदि विद्याओंमें। यद्यपि ब्रह्मोपासनामें देवता और मनुष्योंका समान अधिकार है, यह होनेपर भी विशेष करके देवतादियोंकी ब्रह्मोपासनाके वर्णनका उद्देश्य उनकी दूसरी उपासनाओंकी निवृत्तिको सूचित करना है॥ ३२॥

सूक्ष्मा-टीका—ज्योतिषीति। तत्कथनं ब्रह्मोपासकत्वकथनम्॥ ३२॥

सूक्ष्मा-सार—भाष्यके अन्तर्गत 'तत्कथनम्' का अर्थ है ब्रह्मोपासकत्वके विषयमें कथन॥ ३२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—बृहदारण्यकमें कहा गया है— *'तद् देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्'* (बृ॰आ॰ ४/४/१६) अर्थात् वे ज्योतिः-पदार्थोंके भी ज्योतिः अर्थात् प्रकाशक हैं। उनकी ही देवतागण आराधना करते हैं। अतः परब्रह्मकी उपासनामें तो देवताओंका अधिकार है, किन्तु मधुविद्या आदिमें नहीं।

मुण्डक श्रुतिमें भी द्रष्टव्य है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

(मु॰ २/२/११)

वहाँ (उन ब्रह्ममें) न सूर्य प्रकाशित होता है और न चन्द्रमा या तारे। वहाँ बिजली भी नहीं चमकती, फिर यह अग्नि किस गिनतीमें है? उनके प्रकाशित होनेसे ही सब प्रकाशित होता है और यह सब कुछ उन्हींके प्रकाशसे प्रकाशमान है।

श्रीहरिवंशमें श्रीभगवान्‌की उक्ति है—

तत्परं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत्।
ममैव तद्घनं तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत॥

(श्रीहरिवंशपुराण)

सर्वश्रेष्ठ परमब्रह्म ही समस्त जगत्‌का विभाग करते हैं, हे अर्जुन! उस घनज्योतिको मेरा ही तेजस्वरूप जानना चाहिये।

ब्रह्मसंहितामें वर्णन है—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि
कोटिष्वशेषवसुधादि विभूतिभिन्नम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

(ब्रह्मसंहिता ५/४०)

अर्थात् जिनकी प्रभासे उत्पन्न ब्रह्म अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमें अशेष वसुधा आदिके द्वारा विभाग करनेवाले हैं, मैं उन आदिपुरुष गोविन्दका भजन करता हूँ।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/२८/१५)

अर्थात् भगवान्‌ने पहले उन गोपोंको अपने त्रैकालिक सत्य, चिन्मय, अपरिछिन्न, स्वप्रकाश, नित्य और ज्योतिस्वरूप ब्रह्मका (ब्रह्मधामका) दर्शन कराया, जिसे मुनिगण गुणातीत होनेपर समाधिमें दर्शन कर पाते हैं।

श्रीदेवकी श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहती हैं—

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं,
ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं,
स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/३/२४)

अर्थात् माता देवकीने कहा—हे देव! वेदोंने जिस अव्यक्तरूपको जगत्‌का कारण बतलाया है, ब्रह्म, ज्योतिर्मय, मायारहित, निर्विकार, निर्विशेष, केवलस्वरूप कहकर वर्णन किया है, आप उसी बुद्धि आदिके प्रकाशक साक्षात् विष्णु हैं। अर्थात् निराकार, निर्विशेष, ज्योतिर्मय ब्रह्म विष्णुसे पृथक् नहीं है, परन्तु उनकी अङ्गकान्ति मात्र है।

श्रीब्रह्माजीकी स्तुतिमें भी कहा गया है—

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः,
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः,
पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१४/२३)

अर्थात् आप ही एकमात्र सत्य हैं, क्योंकि आप ही सबके आत्मा—परमात्मा हैं। आप इस परिदृश्यमान जगत्‌से भिन्न हैं। आप जगत्‌के जन्मादिके मूल कारण, पुराणपुरुष एवं सनातन हैं। आप पूर्ण, नित्यानन्दमय, कूटस्थ, विनाशरहित होनेके कारण अमृतस्वरूप, निरञ्जन अर्थात् मायिक गुणरहित, विशुद्ध, अनन्त और अद्वय हैं।

देवताओंकी स्तुतिमें वर्णन है—

विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमार्थे
कृतावतारस्य पदाम्बुजं ते।
व्रजेम सर्वे शरणं यदीश
स्मृतं प्रयच्छत्यभयं स्वपुंसाम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/५/४३)

हे ईश! विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके लिए अवतार लेनेवाले आपके चरणारविन्दोंमें हम सब शरणागत हैं। आपके ये चरणकमल आश्रित-पुरुषोंको आपका स्मरण कराते हुए अभय प्रदान करते हैं।

और भी,

त्वं नः सुराणामसि सान्वयानां
कटिस्थ आद्यः पुरुषः पुराणः।
त्वं देव शक्त्यां गुणकर्मयोनौ
रेतस्त्वजायां कविमाददधेऽजः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/५/५०)

हे परम देव! कारण सहित कार्यस्वरूप हम देवताओंके आप ही आदिकारण हैं। आप अविकारी, सभीके अधिष्ठाता और आदिरहित पुरातन पुरुष हैं। प्राकृत जन्मरहित आपने ही सत्त्वादि गुण और जन्मादिकी कारणभूत आद्याशक्ति मायामें समष्टि जीवरूप महत्-तत्त्वरूप वीर्यका आधान किया है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी उल्लिखित है—

चैतन्यावतारे कृष्णप्रेमे लुब्ध हञा।
ब्रह्मा-शिव-सनकादि पृथिवीते जन्मिया॥

कृष्णनाम लञा नाचे प्रेमवन्याय भासे।
नारद-प्रह्लादादि आसे मनुष्य प्रकाशे॥

(चै॰च॰अ॰ २/२६०-२६१)

अर्थात् श्रीचैतन्यदेवके अवतारके समय कृष्णप्रेममें लुब्ध होकर श्रीब्रह्माजी, श्रीशिवजी तथा सनकादि भी पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए थे एवं

वे सब कृष्णनाम प्राप्तकर नृत्य करते थे और प्रेमकी बाढ़में सराबोर होते थे। श्रीनारदजी, श्रीप्रह्लादजी, श्रीलक्ष्मीजी आदि—ये सब कृष्णप्रेम प्राप्त करनेके लिए मनुष्योंकी देहमें पृथ्वीपर प्रकट हुए थे॥ ३२॥

अवतरणिका भाष्य—एवं प्राप्ते ब्रवीति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सिद्धान्तवादी कहते हैं—

सूत्र—भावन्तु बादरायणोऽस्ति हि॥ ३३॥

सूत्रार्थ—'तु'—यह शङ्का भी न करना, मध्वादि उपासनामें भी 'भावं' देवताओंका अधिकार है, यह 'बादरायणः' भगवान् वेदव्यास स्वीकार करते हैं, 'हि' क्योंकि 'अस्ति'—है, क्या है? आदित्य, वसु इत्यादि देवताओंकी भी कार्यावस्थ ब्रह्मोपासना अर्थात् आदित्यादि मूर्त्तिमें ब्रह्मोपासना करनेके बाद आदित्यादि स्वरूपको प्राप्त होकर कारणावस्थ अर्थात् शुद्ध चिन्मूर्त्ति ब्रह्मको प्राप्त करनेकी इच्छासे अवगत हुआ जाता है, इसलिए उभयावस्थ ब्रह्मोपासना ही इसमें प्रतीत है॥ ३३॥

सूत्रानुवाद—मधु आदि उपासनाओंमें वसु आदि देवताओंका अधिकार भगवान् बादरायण मानते हैं, क्योंकि आदित्य भाव प्राप्त वसु आदि देवताओंको अपने-अपने अन्तर्यामी ब्रह्मकी उपासना द्वारा कल्पान्तरमें आदित्य वसु आदि भावप्राप्तिकी लिप्सा रहती है॥ ३३॥

गोविन्दभाष्य—तु शङ्काच्छेदार्थः। तास्वपि मध्वादिषूपासनासु भावं देवाधिकारस्य भगवान् बादरायणो मन्यते। हि यस्मादादित्यवस्वादीनामपि सतां स्वावस्थब्रह्मोपासनया स्वभावाप्तिपूर्वकब्रह्मलिप्सासम्भवोऽस्ति। कार्यकारणोभयावस्थब्रह्मोपासनस्यात्रावगमात्। इदानीमादित्यवस्वादयः सन्तः स्वावस्थब्रह्मोपासीनाः कल्पान्तरेऽप्यादित्यादयो भूत्वा आदित्याद्यन्तर्यामि कारणभूतं ब्रह्मोपास्य मुक्ताः सन्तस्तद्गमिष्यन्तीति भावः। न चादित्यादिशब्दानां ब्रह्म पर्यन्तत्वे मानाभावः। (छा॰ ३/११/३) *'य एतमेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद'* इत्युपसंहारस्य मानत्वात्। न च विद्याफलस्य वसुत्वादिप्राप्तेः सिद्धत्वादर्थित्वासम्भवः। लोके पुत्रिणामेव सतां जन्मान्तरे पुत्रलिप्सादर्शनात्। एवञ्च ब्रह्मण एवोपास्यत्वात्तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरित्यपि सुपपन्नम्। *'प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति स एतदग्निहोत्रं मिथुनमपश्यत्। तदुदिते सूर्योऽजुहोत्'* इति। *'देवा वै*

सत्रमासत' इत्यादि श्रुत्यन्तरसिद्धः कर्माधिकारश्च तेषां न विरुद्ध्यते। लोकसंग्रहार्थया भगवदाज्ञया तत्करणात्। ननु मधुविद्यादिशालिनामनेककल्पपर्यन्तं विलम्बं सहिष्णुनां कथं मुमुक्षुत्वं ब्रह्मलोकान्तसुखवैतृष्णय तत्त्वात् सत्यम्। तद्बोधकशास्त्राददृष्ट वैचित्र्यस्य नियामकत्वाच्च तादृशाः केचिदधिकारिणः सम्भवन्तीति स्वीकार्यम्। इदमधिकरणं पूर्वार्थे कैमुत्यद्योतनाय॥ ३३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द दूसरोंके मतकी शङ्काके निवारणके लिए है। इन सब मधु इत्यादिकी उपासनामें देवताओंका अधिकार है, यह भगवान् वेदव्यास मानते हैं। किस कारणसे? उत्तर—'हि'—क्योंकि आदित्य, वसु इत्यादि अवस्थाको प्राप्त होनेपर भी अपनी अवस्थास्वरूप ब्रह्मकी उपासनाके द्वारा अर्थात् आदित्यादि मूर्त्तिमें अवस्थित ब्रह्मकी उपासनाके फलस्वरूप आदित्यादि स्वरूप-प्राप्तिके बाद पुनः हम शुद्ध चित्स्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होंगे—इस प्रकार उनकी इच्छाकी सम्पूर्ण सम्भावना रहती है। इस स्थलपर कार्य ब्रह्म और कारण ब्रह्म—दोनों ब्रह्मकी ही उपासनासे अवगत हुआ जाता है। भावार्थ यह है कि इस क्षण (वर्त्तमान कल्पमें) आदित्य, वसु इत्यादि देवता होकर आदित्य वसु इत्यादिरूपी स्वावस्थ (कार्यावस्थ) ब्रह्मकी उपासनाके फलस्वरूप कल्पान्तरमें भी आदित्यादि विग्रहको प्राप्त होकर आदित्यादिके अन्तर्यामी कारणस्वरूप ब्रह्मकी उपासनाके फलस्वरूप मुक्त होकर उन ब्रह्मको प्राप्त होंगे। संशय यह है कि पूर्वोक्त *'आदित्यों देवमधु'* इत्यादि श्रुतिमें जिस आदित्यादि शब्दका ब्रह्ममें तात्पर्य है, इसका कोई भी प्रमाण नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस श्रुतिके उपसंहारमें कहा गया है कि *'य एवमेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद'* (छा॰ ३/११/३) अर्थात् 'जो इस उपनिषद प्रतिपाद्य ब्रह्मको जानता है', इस रूपमें उसे ब्रह्म ही कहा गया है।

यदि कहो कि इस उपासनाका फल वसुत्व इत्यादिकी प्राप्ति है, वह वसुत्व इत्यादि जिन्हें प्राप्त हुआ है, उनमें वसुत्व इत्यादिकी और कामना अब नहीं रह सकती, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। लौकिक व्यवहारमें देखा जाता है, लोकमें इस जन्ममें बहुत-से पुत्र रहनेपर भी जन्मान्तरमें पुत्र-प्राप्तिकी इच्छा बनी रहती है। इस प्रकार ब्रह्म (परमेश्वर) ही जब उपास्य हैं, तब देवगण उन ज्योतियोंकी भी

ज्योतिको प्राप्त करनेके लिए इच्छा करते हैं, यह वेदवाक्य सुसङ्गत ही है। उनका कर्माधिकार भी अन्य श्रुतिमें प्रतिपादित है, यथा—*'प्रजापतिरकामयत .... सत्रमासत'* इत्यादि—'प्रजापतिने कामना की कि मैं पुत्रादिरूपमें जन्म प्राप्त करूँ', 'उसने इस अग्निहोत्ररूप स्त्री-पुरुष (मिथुन) का दर्शन किया', 'सूर्योदय होनेपर उसने होममें आहुति दी।' अन्य श्रुतिमें भी है—*'देवा वै सत्रमासत'*—देवता मन्त्रमें प्रविष्ट हुए, अतएव श्रुतिसे भी सिद्ध होता है कि देवताओंका कर्माधिकार विरुद्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त देवताओंकी कर्मप्रवृत्ति देखकर मनुष्य भी कर्ममें प्रवृत्त होंगे, इसीलिए भगवान्ने देवताओंको कर्म करनेकी आज्ञा दी, वे भगवान्की आज्ञासे लोकसंग्रह हेतु अपना-अपना कर्म करते हैं। अब संशय यह है कि जो मधु-विद्याके उपासक हैं, उन्हें अनेक युगों तक विलम्ब सहन करना पड़ता है, क्योंकि जब उस ब्रह्मलोक तक सुखसे भी वैराग्य (वितृष्णा) होगा, तभी उनकी मुक्तिकी कामना सम्भव है, तब सद्य मुमुक्षुत्व किस प्रकार सम्भव होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं—हाँ, यह बात ठीक है, शास्त्र जब मुमुक्षुताका बोध कराते हैं, इस कारणसे और विचित्र अदृष्टवश उस मधुविद्याका कोई-कोई उपासक सद्य मोक्षका अधिकारी हो सकता है—इस कारणसे भी यह स्वीकार करना होगा। यह मधुविद्या अधिकरण पूर्वोक्त विषयमें कैमुतिक न्यायके प्रकाशके लिए है अर्थात् देवता भी जब इस उपासनासे सूर्यादि भावकी प्राप्तिके बाद ब्रह्मोपासनामें व्रती होते हैं, तब मनुष्यका यह जो कर्त्तव्य है, इसमें और क्या कहा जाय?॥ ३३॥

सूक्ष्मा-टीका—भावन्त्विवति। स्वावस्थेति। आदित्यादिमूर्त्तिकं ब्रह्मोपास्य पुनरप्यादित्यं प्राप्य तदनन्तरं शुद्धं चिन्मूर्त्तिकं ब्रह्म प्राप्स्याम इत्यभिलाषः सम्भवतीत्यर्थः। कारणमिति चिद्विग्रहमित्यर्थः। मधुविद्याया ब्रह्मोपासनत्वमुक्तं तत्राशङ्कते न चादित्यादिशब्दानामिति। तथा च देवानां ब्रह्मैकभक्ततमक्षतमिति। न च विद्याफलस्येति। इदानीं यौ राजास्ति स जन्मास्तरे राजा बुभूषतीतिवदिति बोध्यम्। एवञ्चेति। मध्वादिषूपासनास्वपि ब्रह्मैवोपास्यमतस्तद्देवा ज्योतिषामित्यादिश्रुतेर्नासङ्गतिरित्यर्थः। किञ्च लोकसंग्रहार्थमीश्वराज्ञया देवाः कर्माण्यस्य कुर्वन्ति किमुत साक्षाद्ब्रह्मस्वरूपं ध्यायन्ति न वेति शङ्कितव्यमित्यभिप्रायेणाह प्रजापतिरित्यादि। पुष्करादौ ब्रह्मादिभिर्यज्ञाः

कृता इति पुराणेतिहासयोरतिप्रसिद्धं यज्ञस्थलानि च प्रत्यक्षाणीति। केचिदिति। सनिष्ठाविशेषा एते बोध्याः॥ ३३॥

सूक्ष्मा–सार—*'भावं तु बादरायणः'* इत्यादि सूत्रके भाष्यके अन्तर्गत स्वावस्थ (कार्यावस्थ) ब्रह्मोपासना इत्यादि—आदित्यादिरूपी कार्य–ब्रह्मके उपासनाके फलस्वरूप पुनः आदित्यादि स्वरूप प्राप्त करनेके बाद निरुपाधिक चित्स्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होऊँगा—यह इच्छा हो सकती है। यही उक्त प्रबन्धका तात्पर्य है। कारणभूतम् अर्थात् चित्स्वरूप। इस अधिकरणमें मधुविद्याको ब्रह्मोपासना कहा गया है—*'न चादित्यादिशब्दानां'* इत्यादि ग्रन्थमें, जिसका अर्थ है—आदित्यादि शब्दोंका ब्रह्मार्थत्व भी असम्भव नहीं है। इसका समाधान यह है कि देवतादिका ब्रह्ममात्रका उपासकत्व स्थिर है। *'न च विद्याफलस्येति'*—पूर्वपक्षीकी आशङ्का है कि वसुत्वादिप्राप्त उपासकोंमें कामना नहीं रह सकती—यह कथन सङ्गत नहीं है, क्योंकि इस जन्ममें जो राजा है, वह जन्मान्तरमें भी राजा होनेकी इच्छा करता है, इसी प्रकार वसु होनेके बाद भी वसु होनेकी इच्छा हो सकती है, यह जानना चाहिये। *'एवञ्च ब्रह्मण एवेत्यादि'* मधु इत्यादि उपासनाओंमें ब्रह्म ही उपास्य हैं, अतएव *'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः'* इत्यादि श्रुतिकी कोई असङ्गति नहीं है। और एक बात है—ईश्वरके आदेशसे देवता लोकसंग्रहके लिए अपना कर्म तक करते हैं, साक्षात् ब्रह्मस्वरूपका ध्यान करते हैं कि नहीं—इस प्रकारकी शङ्का हो ही नहीं सकती, इस विषयमें और क्या कहा जाय, इसी अभिप्रायसे *'प्रजापतिरकामयत'* इत्यादि श्रुतिके द्वारा देवताओंका कर्माचरण कहा गया। पुष्करादि तीर्थोंमें ब्रह्मा इत्यादि देवताओंने यज्ञ किया था, यह बात पुराण एवं इतिहासमें बहुत प्रसिद्ध है तथा आज भी उन–उन यज्ञस्थलियोंको देखा जाता है। *'केचिदित्यादि'*—कोई–कोई मधुविद्याके अधिकारी हैं अर्थात् वे जो निष्ठाविशेषके साथ उपासना करते हैं॥ ३३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस अधिकरणमें पहले दो सूत्रोंमें पूर्वपक्षीके मतका वर्णन करके उस मतके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि ब्रह्मोपासनामें जिस प्रकार मनुष्योंके समान ही देवताओंका अधिकार है, उसी प्रकार मध्वादि उपासनामें भी उनका अधिकार है।

आदित्यादि कार्यावस्थ और उनके अन्तर्यामी कारणावस्थ—दोनों ही प्रकारकी ब्रह्मोपासना देखी जाती है।

देवताओंका कर्माधिकार भी विरुद्ध नहीं है। इसका कारण यह है कि लोकसंग्रहके लिए वे भगवान्‌की आज्ञासे अपना कर्म करते हैं।

यदि कोई कहे कि अनेक कल्पपर्यन्त विलम्ब सहनेवाले मधुविद्याके उपासकोंका मुमुक्षुत्व किस प्रकार सिद्ध होगा? ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि ब्रह्मलोक पर्यन्त सुखकी वितृष्णा हो जाय, तो यह सिद्ध हो सकता है। शास्त्रमें जब मुमुक्षुत्वकी बात कही जाती है, तब अदृष्ट-वैचित्र्यके नियामकत्वके कारण तादृश अधिकारीका मुमुक्षु होना सिद्ध हो सकता है, यह स्वीकार करना होगा।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम्।
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो॥

यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो।
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/४०/९-१०)

अर्थात् हे सर्वदेवमय प्रभो! कुछ लोग दूसरे देवताओंको आपसे भिन्न समझकर उनकी उपासना करते हैं। पर, उनकी यह उपासना समस्त देवताओंके अन्तर्यामी होनेके कारण आपकी ही आराधना कही जाती है। आप ही सर्वेश्वर हैं। हे प्रभो! समस्त नदियाँ पर्वतसे उत्पन्न होती हैं। जब वे वर्षाके जलसे भर जाती हैं, तब वे नदियाँ इधर-उधर विचरण करती हुई जिस प्रकार अन्तमें समुद्रमें मिल जाती हैं, उसी प्रकार सभी उपासनाएँ अन्तमें आपमें ही पर्यवसित हो जाती हैं।

इसी प्रकार—

यस्मिन् हरिर्भगवानिज्यमान इज्यामूर्तिर्यजतां शं तनोति।
कामानमोघान् स्थिरजङ्गमाना-मन्तर्बहिर्वायुरिवैष आत्मा॥

(श्रीमद्भा॰ १/१७/३४)

अर्थात् इस देशमें भगवान् श्रीहरि यज्ञोंके रूपमें निवास करते हैं, यज्ञोंके द्वारा उनकी पूजा होती है और वे यज्ञ करनेवालोंका कल्याण करते हैं। वे सर्वात्मा भगवान् वायुकी भाँति समस्त चराचर जीवोंके भीतर और बाहर एकसाथ रहते हुए उनकी कामनाओंको पूर्ण करते हैं।

यदि प्रश्न हो कि यज्ञमें इन्द्रादि देवता भी पूजित होते हैं, केवलमात्र भगवान् नहीं, इसके उत्तरमें कहते हैं—इज्यागणोंके अर्थात् इन्द्रादि देवताओंकी आत्ममूर्त्ति अर्थात् अन्तर्यामीरूप वे जिनकी आत्ममूर्त्ति हैं—श्रील विश्वनाथ।

इस प्रसङ्गमें श्रीमद्भगवद्गीताका निम्न श्लोक भी विवेचनीय है—

येऽयन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
(श्रीगी॰ ९/२३)

अर्थात् हे कौन्तेय! जो लोग श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंकी आराधना करते हैं, वे भी अविधिपूर्व मेरी ही आराधना करते हैं।

छान्दोग्योपनिषदमें वर्णन है कि इन्द्र और विरोचनने ब्रह्माजीकी सेवा की तथा ब्रह्मतत्त्व प्राप्त किया॥ ३३॥

९—शुगस्येत्यधिकरणम् (अपशूद्राधिकरणम्)

अवतरणिका भाष्य—मनुष्याणां देवादीनाञ्च सामर्थ्यादियोगाद्ब्रह्मोपासनायामधिकारः प्रोक्तः। सा च वेदान्तपाठादृते न सम्भवति *'औपनिषदः पुरुष'* (बृ॰आ॰ ३/९/२६) इत्यादि श्रुतेरिति स्थितम्। तत्प्रसङ्गादिदमारभ्यते—

छान्दोग्ये—*'जानश्रुतिर्ह पौत्रायण'* (४/१/१) इत्यादि आख्यायिका श्रूयते। तत्र हंसोक्तिश्रवणानन्तरं सयुग्वानो रैङ्कस्य सन्निधिगतेन जानश्रुतिना गोनिष्करथान् दर्शयित्वा देवतां पृष्टो रैङ्क आह *'अहह हारे त्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु'* इति तं शुद्रशब्देन संबोध्य पुनरप्याहृतगोनिष्करथकन्योपहारं *'तमाजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथाः'* (छा॰ ४/२/५) इत्युक्त्वासंवर्गविद्यामुपदिष्टवानिति वर्ण्यते।

इह भवति संशयः। वेदविद्यायां शूद्रोऽधिक्रियते न वेति। तत्र मनुष्याधिकारोक्तिरविशेषात् सामर्थ्यादिसत्त्वात् शूद्रेति श्रौतलिङ्गात् पुराणदिषु विदुरादीनां ब्रह्मवित्त्वदर्शनाच्च सोऽधिक्रियत इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पूर्व अधिकरणमें वर्णन हुआ है कि मनुष्य और देवताओंमें सामर्थ्य इत्यादि रहनेसे दोनोंका ही ब्रह्मोपासनामें अधिकार है, यह ब्रह्मोपासना वेदान्तशास्त्रके अध्ययनके बिना सम्भव नहीं है, क्योंकि श्रुति कहती है—'वे उपास्य पुरुष एकमात्र उपनिषद द्वारा बोध्य हैं'—यह सिद्धान्त है। इस प्रसङ्गसे प्रस्तुत अधिकरणका प्रारम्भ हो रहा है। छान्दोग्योपनिषद (४/१/१) में *'जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः'* इत्यादि रूपमें एक आख्यायिका सुनी जाती है।

हंसोक्ति सुननेके बाद जानश्रुति रथारूढ़ होकर मुनि रैक्वके समीप आया और उन्हें गो, हिरण्य (सुवर्ण हार) इत्यादि दिखाकर मुनिसे देवता-विषयक प्रश्न करने लगा। तब रैक्वने कहा, 'अरे शूद्र! तुम्हारी गायें तुम्हारे पास ही रहें।' इस प्रकार मुनिने राजाको शूद्र शब्दसे सम्बोधित किया। बादमें राजा पुनः गो, हिरण्य, रथ और कन्याको लाया और उपहारस्वरूप मुनिको देने लगा। मुनिने कहा, 'अहे शूद्र! तुम जो यह सब गो, हिरण्यादि उपहारमें लाये हो, तब क्या यह कन्या-उपहाररूप सुख देकर मुझे भुलाओगे?' यह कहकर राजाको संवर्ग विद्याका उपदेश दिया। इस प्रकार इस आख्यायिकामें रैक्वने राजाको शूद्र कहकर सम्बोधन किया है।

अब यहाँ संशय है कि वेदविद्यामें शूद्रका अधिकार है या नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं वेदविद्यामें मनुष्यमात्रका ही निर्विशेष रूपसे (वर्ण विशेषमें अधिकारका निर्देश न होनेके कारण) अधिकार है। इसके बाद सामर्थ्यादि होनेके कारण, पूर्वोक्त श्रुतिमें शूद्रके रूपमें सम्बोधन होनेके कारण और इसके अतिरिक्त पुराणादि शास्त्रमें विदुर इत्यादि शूद्रकी ब्रह्मज्ञताके वर्णनके कारण वेदविद्यामें शूद्रको भी अधिकारी कहा जायेगा। इस पूर्वपक्षकी उक्तिमें सूत्रकारका यह कहना है—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्र देवशब्दश्रुत्या मनुष्याधिकारनियमापवादेन देवानामधिकारो यथोक्तस्तथेह मुमुक्षौ जानश्रुतौ शूद्रेति श्रौतलिङ्गतो द्विजाधिकारनियमापवादेन वेदे शूद्रस्य चाधिकारोऽस्त्वितिदृष्टान्तसङ्गत्याह मनुष्याणामित्यादि। सिद्धान्ते शूद्रशब्दस्य क्षत्रिये समन्वयादध्यायान्तर्भावोऽस्य युक्तः। चातुर्वर्ण्यस्य ब्रह्मविद्यायामधिकारसाम्यं पूर्वपक्षे फलम्। सिद्धान्ते तु तत्तारतम्यं तदिति बोध्यम्।

छान्दोग्याख्यायिकायामेष निष्कर्षः। जानश्रुतिर्नृपः प्रियातिथिर्बहुप्रदो बहुसद्गुणो बभूव। तस्य गुणैः परितुष्टा देवर्षयो धृतहंसवपुषोग्रीष्मे प्रासादपृष्ठे शयानस्य तस्योपरि मालामावध्याजग्मुः। तेषामग्रगं हंसं पश्चादागच्छन्नेको हंसः संबोध्य साश्चर्यमाह—भो भो भल्लाक्ष अस्य जानश्रुतेर्द्युलोकव्यापि तेजो न पश्यसि तत्तेजस्त्वांधक्ष्यति अतस्तं विलङ्घ्य न गच्छेति भल्लाक्षेत्युपहासोक्तिर्भद्राक्षेत्यर्थः। इदं श्रुत्वा स प्राह। कमु वर एनमेतत् सन्तं सयुग्वानमिव रैङ्कमात्थेति। अस्यार्थः। कमुपदं आक्षेपार्थकं कथमित्यर्थः। वरो वराको जानश्रुतिः। रैङ्को नाम कश्चित्तत्त्वविद्वरेण्यो ब्रह्मचारी। योजयति देशान्तरं गमयति सयुग्वानं सारूढमिति युग्वा शकटः तेन सह स्थितमित्यर्थः। तथा चैनं वराकं प्राणिमात्रं जानश्रुतिं सयुग्वानं भगवन्तं ब्रह्मतेजसं रैक्कामिवात्थ ब्रवीषीत्यर्थः। अज्ञतया निजनिन्दां श्रुत्वोत्तप्तो विज्ञं रैङ्कमासाद्यायं कृतार्थो भवत्विति दयालुनां हंसानां भावः। अथ स नृपो हंसवाक्यात् स्वस्यापकर्षं रैङ्कस्योकर्षं च श्रुत्वा प्रतप्तहृत् रात्रिं कथञ्चिद्व्यतीयाय। ततो रात्र्यन्तसूचकं वन्दिस्तुतिमङ्गलतुर्यनिर्घोषमाकर्ण्य पर्यङ्कस्थ एव त्वरया क्षत्तारमाहूयादिदेश विविक्तेषु गिरिगुहादिषु रैङ्काभिधं सयुग्वानमम्बिष्य सम्यगाख्याहीति। स क्षत्ता तथैवान्विष्यन् क्वचिदतिविविक्ते शकटाधस्तान्निविष्टं पामानं कण्डूयन्तं वीक्ष्य सोऽयमिति निश्चित्य प्रावीण्याद्रैङ्कस्य गार्हस्थ्येच्छां ज्ञात्वा सत्वरमागत्य तं विज्ञापयामास। नृपश्च तमुपश्रुत्य गोनिष्करथान् गृहीत्वा रैङ्कमासाद्य देवतां पप्रच्छ रैङ्कस्तं प्राह अहहेति। अहहेतिनिपातः सकोपाह्वानमाह। हारणे युक्तो हारेत्वा मुक्तादामलग्नः प्राप्त इत्यर्थः। सरथस्त्वैव गोभिः सहास्तत तिष्ठतु। नैतावता मदिच्छासिद्धिरित भावः। एवं तदिच्छामवगम्य समानीतगोनिष्करथकन्योपहारं नृपं रैङ्कः प्राह आजहारेत्यादि। हे शुद्र इमा गोनिष्करथकन्यास्त्वमाजहारानीतवानसि किन्त्वनेनैव कन्योपहाररूपेण मुखेन द्वारा मामालपयिष्यथा भाणयिष्यसीत्यर्थः। विद्याग्रहणस्य कन्यैवैका दक्षिणेति निष्कर्षः।

इहेति। अधिक्रियते अधिकारी विधीयत इत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले *'देवा वै सत्रमासत'* इत्यादि श्रुतिमें जिस प्रकार 'देव' शब्दका उल्लेख रहनेके कारण साधारण (अविशेष) मनुष्यके अधिकारमें नियम अपवाद (नियमित कर्म बाधा) के द्वारा देवताओंके मन्त्रमें अधिकार पाया जाता है, इसी प्रकार यहाँ भी मुक्तिकामी जानश्रुतिको श्रुतिमें सम्बोधन कथित होनेके कारण (इस श्रुति) के द्वारा वेदसे भिन्न अन्य द्विजाधिकारमें शूद्रका नियमाधिकार निषेध रहनेपर भी वेदमें अधिकार हो। इस दृष्टान्त सङ्गतिको लेकर कहते हैं—*'मनुष्याणां देवादीनाञ्च। सिद्धान्तवादी*

कहते हैं—इस शूद्र शब्दके अर्थका क्षत्रियमें तात्पर्य रहनेके कारण इस आख्यायिकामें उसका (क्षत्रियका) सन्निवेश (अन्तर्भाव) युक्तियुक्त है। पुनः पूर्वपक्षीका सिद्धान्त है—चारों वर्णोंका ही ब्रह्मविद्यामें तुल्य अधिकार है। सिद्धान्तीके मतमें उनका तारतम्य है। छान्दोग्योक्त आख्यायिकाका संक्षिप्त विषय यह है कि जानश्रुति नामके एक राजा थे। वे आतिथ्यप्रिय, प्रचुर दाता एवं बहुसद्गुणसम्पन्न थे। उनके गुणोंसे अभिभूत होकर देवर्षिगण हंसकी मूर्त्ति धारण करके ग्रीष्मकालमें राजप्रासादके ऊपरी तलमें सोये हुए उन राजाके ऊपर श्रेणीबद्ध होकर उड़ते हुए पहुँचे। उस हंस-श्रेणीके पीछेवाले हंसने अग्रगामी हंसको सम्बोधन करके आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"ओ भल्लाक्ष! देख रहे हो न! इन जानश्रुति राजाका तेज स्वर्गलोक तक फैला हुआ है, तुम इसका लंघन न करना, कहीं यह तेज तुम्हें भस्म न कर डाले।" यहाँ 'भल्लाक्ष' का सम्बोधन भद्राक्षके उपहासके लिए है (इससे अग्रगामी हंसकी मन्ददृष्टि सूचित हो रही है, जो स्वयंको सम्यक् ब्रह्मज्ञानसे युक्त मान रहा है)। यह सुनकर अग्रगामी हंसने कहा—*'सायुग्वानम्'*—इसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—तुम किस प्रकार इस सामान्य (बेचारे) अज्ञ जानश्रुतिको शकटारोही (गाड़ीवाले) ब्रह्मविद् भगवान् रैक्के समान कह रहे हो। जानश्रुति अपनी निन्दा सुनकर अज्ञानवश दुःखी होगा और तब यह ब्रह्मविद् रैक्का आश्रय करके कृतार्थ हो जायेगा—यही दयालु हंसोंका अभिप्राय था। इस प्रकार उन राजाने जब हंसके वचनोंको सुना, तो उनका हृदय अपना अपकर्ष (न्यूनता) और रैक्का उत्कर्ष सुनकर कष्टका अनुभव करने लगा और उन्होंने तप्त हृदयसे किसी प्रकार वह रात्रि बितायी।

इसके बाद बन्दीगणोंके स्तुति-पाठ, मङ्गल-तुरही ध्वनि इत्यादि सुनकर उन्हें ज्ञात हुआ कि रात्रि बीत गयी है और प्रभात हो गया है। तब शयन-पलङ्गपर बैठे-ही-बैठे उन्होंने शीघ्र ही सारथिको बुलाया और आदेश दिया—"हे क्षत्तः (सारथि)! गिरि-गुहादि किसी निर्जन प्रदेशमें रैक्व नामका एक गाड़ीवाला है, तुम उसे खोजकर ठीक-ठीक पता लगाओ।" सारथि उसे खोजने लगा, तभी अति निर्जन स्थानमें उसने देखा कि एक गाड़ीके नीचे बैठा हुआ कोई

व्यक्ति खाज खुजला रहा है। उसे देखते ही सेवकने निश्चय कर लिया कि यही वह गाड़ीवाला है। बादमें सेवकको अपनी अभिज्ञताके द्वारा पता चल गया कि इसकी गृहस्थ होनेकी इच्छा है। वह शीघ्र ही राजाके समीप आया और सब समाचार निवेदन कर दिया। राजा उस सेवककी बात सुनकर गाय, बैल, सुवर्ण रथादि लेकर रैक्वके पास पहुँचे और देवताके विषयमें पूछने लगे। रैक्वने बड़े क्रोधके साथ जानश्रुतिसे कहा—"अरे! रे शूद्र! मुक्तामाला (मोतियोंकी लड़ियों) से सुसज्जित रथको लेकर आये हो और यह गाय-बैलका जोड़ा भी लाये हो, यह सब सामग्री तुम्हारे पास ही रहे। इस सामान्य सामग्रीसे मेरी इच्छा पूर्ण नहीं होगी।" तब रैक्वके अभिप्रायको जानकर राजाने उन्हें गाय, रत्नहार, रथ और एक सुन्दरी कन्या उपहारमें दी। इसपर रैक्वने प्रत्युत्तरमें कहा—अरे शूद्र! तू यह सब गाय इत्यादि सामग्री मेरे समीप लाया है, इनमें मात्र इस कन्यारूपी दक्षिणासे ही तू मुझसे संवर्ग ब्रह्मविद्याका उपदेश प्राप्त कर सकेगा।२

भाष्यमें 'इहेति' से तात्पर्य है—'अधिक्रियते', जिसका अर्थ है अधिकारी।

सूत्र—शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात् सूच्यते हि॥ ३४॥

सूत्रार्थ—'शुगस्य'—पूर्व सूत्रके शब्द 'चेत् न' से निषेधार्थक न शब्दकी इस सूत्रमें भी अनुवृत्ति है, जिसका अर्थ है 'नहीं', शूद्रका अधिकार नहीं है, क्यों? 'तदनादरश्रवणात्'—पूर्वोक्त हंसोंके द्वारा राजा जानश्रुतिके प्रति अनादर-श्रवणके कारण एवं 'तदाद्रवणात्'—उसी समय रैक्व मुनिके पास राजाके शीघ्र जानेके कारण, 'शुक्'—शोक, 'अस्य'—इस क्षत्रिय राजाको हुआ, यह जाना जाता है। अर्थात् शोक हेतु द्रवण, क्योंकि उस क्षत्रियको शूद्र सम्बोधित किया गया है, 'हि'—इससे, 'सूच्यते'—रैक्व मुनिकी सर्वज्ञता सूचित होती है। वस्तुतः राजा शूद्र नहीं हैं और उनके द्वारा शूद्रका वेदविद्यामें अधिकार भी प्रतिपादित नहीं हो रहा है॥ ३४॥

सूत्रानुवाद—हंसोंके मुखसे रैक्व मुनिकी अपेक्षा अपनी तुच्छता सुनकर जानश्रुतिको अनादरका अनुभव हुआ और वे उनके पास

विद्या-प्राप्तिके लिए शीघ्र ही गये, इसलिए रैक्वने उन्हें शूद्र कहकर पुकारा, इससे इन मुनिकी सर्वज्ञता सूचित होती है॥ ३४॥

गोविन्दभाष्य—नेत्यनुवर्त्तते। तस्यां शूद्रो नाधिक्रियते। कुतः? हि यस्मादस्य पौत्रायणस्य जानश्रुतेरब्रह्मज्ञस्य *'कमु वर एनमेतत् सन्तं सयुग्वानमिव रैक्वमात्थ'* (छा॰ ४/१/३) इति हंसोक्तानादरवाक्यश्रवणात्तदा ब्रह्मज्ञं रैक्वः प्रत्याद्रवणात् शुक् संजातेति सूच्यते अस्यामाख्यायिकायां तथा च शोकयोगादेवाशूद्रेऽपि तस्मिन् शूद्रेति संबोधनं स्वसार्वज्ञ्यविज्ञापनायैव न तु चतुर्थवर्णत्वादिति॥ ३४॥

भाष्यानुवाद—पूर्व सूत्रसे 'न' शब्दके द्वारा बोध्य निषेधार्थक 'न' का इस सूत्रमें अनुवर्त्तन है, जिसका अर्थ है—पूर्वपक्षीय युक्तिके द्वारा वेदविद्यामें शूद्रके अधिकारका विधान नहीं है। किस कारणसे? उत्तर—क्योंकि पुत्रायणके गोत्रमें उत्पन्न जनश्रुतिका पुत्र जानश्रुति पौत्रायण अब्रह्मविद्के प्रति, 'अहे श्रेष्ठ हंस! किस कारणसे आप उस अब्रह्म व्यक्तिको हंसके समान कह रहे हैं?'—इस अवज्ञापूर्ण वचनोंके श्रवणसे और तत्क्षण ही ब्रह्मज्ञ रैक्वके समीप जानेसे सूचित होता है कि राजाको शुक् अर्थात् अत्यधिक दुःख हुआ। इस आख्यायिकामें शूद्र न होनेपर भी जानश्रुति राजाको जो शूद्र कहकर सम्बोधित किया है, वह शोक-योगके कारण है अर्थात् जो शोकसे कातर होता है, उसे ही शूद्र कहा जाता है। यह भी रैक्वकी अपनी सर्वज्ञता विज्ञापनके लिए है। अर्थात् वह रैक्व अपने प्रभावसे राजाका शोक एवं उसका कारण जानता है, इसीका परिचय देनेके लिए राजाको शूद्र कहा है, ब्राह्मणादि चारों वर्णोंमें अन्तिम (चतुर्थ) वर्ण शूद्रत्वके बोधनके लिए नहीं॥ ३४॥

सूक्ष्मा-टीका—शुगस्येति। पौत्रायणस्य पुत्रायणगोत्रस्य। जानश्रुतेर्जनश्रुतापत्यस्य। शुगिति। शुचा शोकेन द्रवति रैक्वं प्रति गच्छतीति व्युत्पत्तेः। तथा च यौगिकोऽयं शूद्रशब्दः क्षत्रियेऽपि प्रयुक्तः स्वप्रभावपरिचयायेत्यर्थः॥ ३४॥

सूक्ष्मा-सार—शुगस्य इत्यादि सूत्रके भाष्यके अन्तर्गत 'पौत्रायणस्य'— इसका अर्थ है पुत्रायण गोत्रमें उत्पन्न सन्तान, जानश्रुतेका अर्थ है—जनश्रुतके पुत्रका। इसके बाद शूद्र शब्दका व्युत्पत्तिपरक अर्थ बता रहे हैं—'शुचा' अर्थात् शोकके कारण (अपना अपकर्ष सुननेसे हुए दुःखके कारण), द्रवति—रैक्वके समीप शीघ्र जा रहे हैं, इस प्रकार

पृषोदरादित्व (उदरमें मण्डलाकार चिह्न) के कारण सिद्ध है। अर्थात् शूद्र शब्दमें जो दीर्घ ऊकारका प्रयोग किया गया है, वह पृषोदरादिगणके अनुसार है, जो कि सर्वज्ञताका ज्ञापक है। इस कथनमें रैङ्कने अपनी सर्वज्ञता सूचित की है। ऐसा मान लेनेपर 'शूद्र' शब्द यौगिक है, शु—शोकमें, द्रवति—शीघ्र जा रहे हैं, इस प्रकार यह क्षत्रियके ऊपर भी प्रयुक्त हुआ है, इस 'शूद्र' शब्दका प्रयोग क्षत्रियपर अपना प्रभाव प्रदर्शन करनेके लिए है॥ ३४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—मनुष्य और देवताओंमें सामर्थ्यादि योगके कारण उनका ब्रह्मकी उपासनामें अधिकार है, यह पहले ही बताया गया है। यह उपासना वेदान्तपाठके बिना सम्भव नहीं है, कारण श्रुतिमें पाया जाता है कि उपनिषद पुरुषको जानना होगा, इसी प्रसङ्गसे परवर्ती अधिकरणका आरम्भ हुआ है।

छान्दोग्योपनिषद (४/१/१–५) में कथित आख्यायिकाके आधारपर यह संशय है कि वेदविद्यामें शूद्रका अधिकार है या नहीं? वेदविद्यामें अविशेष (साधारण) रूपसे मनुष्यके अधिकारका निर्देश एवं सामर्थ्यादिकी बात रहती है। श्रुतिमें शूद्रके उल्लेखमें श्रौतलिङ्गके कारण एवं पुराणादिमें विदुरादि शूद्रोंके ब्रह्मज्ञत्व दर्शनके कारण शूद्रका भी वेदविद्यामें अधिकार है, यह यदि कहा जाता है तो इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि नहीं, शूद्रका अधिकार नहीं है, कारण पूर्वोक्त हंसोंका राजाके प्रति अनादर श्रवणके कारण, राजाका रैङ्क मुनिके समीप शीघ्र गमनके कारण और उनका शोक प्रकाशित होनेके कारण शूद्रके सम्बोधन मात्रसे शूद्रका अनधिकार सूचित हुआ है।

श्रीरामानुजाचार्यका मन्तव्य है कि *'शुचेर्दश्च'* (अष्टाध्यायी, सिद्धान्त कौमुदी, उणा प्रकरण–१७६) इस सूत्रके द्वारा 'शुच शोके' धातुसे रक् प्रत्यय 'च' कारको 'द' कारका आदेश एवं 'उ' कारको दीर्घ करनेपर शूद्र शब्दकी निष्पत्ति पाणिनिने मानी है, जिसका अर्थ है—शोचक या शोककर्त्ता।

'भल्लाक्ष' शब्दका मूल शब्द है भद्राक्ष, जिसका अर्थ होता है—स्वस्थ नेत्रवाला। यहाँ कटाक्षपूर्ण उक्ति (अथवा विपरीत लक्षणा)

से यह शब्द अन्धे व्यक्तिका बोधक है, इस प्रकार अग्रगामी हंसको पृष्ठगामी हंस कहता है कि 'हे अन्धे!' अग्रगामी हंस भी पृष्ठगामी हंससे कहता है 'कंवर'। 'वर' शब्द भी 'भल्लाक्ष' शब्दके समान ही कटाक्षपूर्ण सम्बोधन अथवा विपरीत लक्षणाके द्वारा अवर या नीच अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

स्त्रीशूद्रद्विजवन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥

(श्रीमद्भा॰ १/४/२५)

स्त्री, शूद्र एवं सावित्री-पतित ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य कुलमें उत्पन्न व्यक्तियोंका वेदत्रयीके श्रवणमें अधिकार नहीं है। वे इस संसारमें वेदोक्त शुभकर्मोंसे अज्ञ हैं, इन कल्याणकारी कर्मोंमें वे भूलकर बैठते हैं—इन लोगोंका मङ्गल किस प्रकार हो—यह सोचकर महर्षि वेदव्यासने कृपापूर्वक महाभारत-इतिहासकी रचना की।

श्रीमन्मध्वाचार्यके भाष्यमें स्कन्दपुराणका वचन है—

भारतं ब्राह्मणादीनां वेदार्थपरिवृत्तये।
त एव वेदास्त्वन्येषां त्वेतद्वै कस्यचित्सुखम्॥

श्रीमाध्वभाष्यमें उद्धृत व्योमसंहिताका वचन है—

अन्त्यजा अपि ये भक्ता नामज्ञानाधिकारिणः।
स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनाम् तन्त्रज्ञानेऽधिकारिता॥

श्रीमहाभारतमें भी पाया जाता है—

शूद्र चैतद्भवेल्लक्षणं द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो ब्राह्मणो न च॥

(महाभारत, शाल्यपर्व १८९/८)

अर्थात् शूद्रमें यदि ब्राह्मणके लक्षण प्रतीत होते हों एवं ब्राह्मणमें शूद्रके लक्षण उपलब्ध हों, तो शूद्र शूद्र नहीं होता एवं ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं हो सकता।

पद्मपुराणमें भी देखा जाता है—

न शूद्रा भगवद्भक्तास्ते तु भागवता मताः।
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये न भक्ता जनार्दने॥

भगवत्-भक्तिपरायण व्यक्ति कभी भी शूद्र नहीं कहलाते, उन्हें 'भागवत' ही कहा जाता है। जनार्दनके प्रति भक्ति न होनेपर कोई किसी भी जातिका क्यों न हो, उनकी 'शूद्र' में ही गणना होती है।

'शुगस्य तदनादरश्रवणात्' इस सूत्रमें पूर्णप्रज्ञदर्शनमें माध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—*'नासौ पौत्रायणः शूद्रः शुचाद्द्रवणमेव हि शूद्रत्वम्।'*

राजा पौत्रायणः शोकाच्छूद्रेति मुनिमोदितः।
प्राणविद्यामवाप्यास्मात् परं धर्ममवाप्तवान्॥

(पद्मपुराण)

अर्थात् शोक द्वारा जो वशीभूत हैं, वे ही शूद्र हैं। पद्मपुराणमें लिखा हुआ है कि राजा पौत्रायण क्षत्रिय होनेपर भी शोकसे ग्रसित होनेपर रैक्व मुनि द्वारा शूद्र कहे गये हैं। इन्हीं रैक्व मुनिसे प्राणविद्या पाकर परम धर्मको प्राप्त हुए हैं॥ ३४॥

अवतरणिका भाष्य—एवं शूद्रत्वलिङ्गे निरस्ते कोऽयमिति जिज्ञासायां क्षत्रियत्वमस्य वक्तुं सूत्रयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकार शूद्रत्वरूपमें लक्षण ग्रहण करके जिस ब्रह्मविद्यामें शूद्रके भी अधिकारकी आशङ्का हुई है, उसके खण्डित होनेपर पुनः प्रश्न उठता है कि तब यह जानश्रुति किस जातिके हैं? इसके उत्तरमें उनके क्षत्रिय-जातीयत्वको बतानेके लिए निम्न सूत्र कह रहे हैं—

सूत्र—क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्॥ ३५॥

सूत्रार्थ—'क्षत्रियत्वावगतेः च'—उपक्रम (प्रकरण) में वर्णित आख्यायिकासे जानश्रुतिको क्षत्रिय जाना जाता है, इस कारणसे वे शूद्र नहीं हैं और 'उत्तरत्र'—आख्यायिकाके उपसंहारमें भी संवर्गविद्या-वाक्योंके अन्तमें प्रयुक्त चैत्ररथ शब्दद्वारा अर्थात् 'चैत्ररथेन' अभिप्रतारि-संज्ञक चैत्ररथ

शब्दके प्रयोगके द्वारा उनका क्षत्रियत्व ज्ञापित हुआ है। 'लिङ्गात्'—इस ज्ञापकरूप हेतुसे उनका क्षत्रियत्व प्रमाणित हुआ है॥ ३५॥

सूत्रानुवाद—प्रकरणमें वर्णित लक्षणोंसे जानश्रुतिको क्षत्रिय जाना जाता है और बादमें कहे गये चैत्ररथके साथ भोजन करनेसे उनमें क्षत्रियके लक्षण होनेसे उनका क्षत्रिय होना सिद्ध होता है॥ ३५॥

गोविन्दभाष्य—अस्य जानश्रुतेः क्षत्रियत्वमवगम्यते श्रद्धादेयो बहुदायीत्य (छा० ४/१/१) नेकदानादिसमधिगतजनपदाधिपत्यात् क्षत्तारमुवाचेति (छा० ४/१/६) क्षत्तुः प्रेषणात् रैक्काय गोनिष्करथकन्यादिदानाच्च। न ह्येतानि क्षत्रियादन्यस्य सम्भवन्ति। राजधर्मत्वादुपक्रमाख्यायिकायां क्षत्रियत्वमवगतम्। अथोपसंहाराख्यायिकायां तदवगम्यते इत्याह उत्तरत्रैतत् संवर्गविद्यावाक्यशेषे संकीर्त्तितेन चैत्ररथेनाभिप्रतारिसंज्ञेन क्षत्रियत्वं विज्ञायते। वाक्यशेषस्तथाहाथ शौनकं कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविश्यमानौ ब्रह्मचारी विभिक्षे (छा० ४/३/५) इत्यादि। नन्वभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वं क्षत्रियत्वञ्च नास्मिन् प्रकरणे प्रतीत इति चेत्तत्राह लिङ्गादिति। अथ शौनकमित्यादिना साहचर्याल्लिङ्गादभिप्रतारिणः कापेयसम्बन्धः प्रतीतः। अन्यत्र *'चैतेन वै चैत्ररथं कापेया अयाजयन्'* (ताण्ड्य ब्राह्मण २०/१२/५) इति कापेय-संबन्धिनश्चैत्ररथत्वं श्रुयते। *'तस्माच्चैत्ररथिर्नाम क्षत्रपतिरजायत'* इति चैत्ररथस्य क्षत्रियत्वञ्चेति। तदेवं तस्य तत्तच्च सिद्धम्। तथा च संवर्गविद्योपासकौ कापेयाभिप्रतारिणौ वा ब्राह्मणक्षत्रियौ निर्द्दिष्टावतस्तस्यामेव विद्यायां गुरु-शिष्यभावेनान्वितौ रैक्कजानश्रुती च तथा स्यातामिति तस्य क्षत्रियत्वम्। ततश्च वेदे शूद्रो नाधिकारीत्यर्थो युक्त्या साधितः॥ ३५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस जानश्रुतिके क्षत्रियत्वसे अवगत हुआ जाता है, क्योंकि *'श्रद्धादेयो बहुदायी'* (छा० ४/१/१) इत्यादि श्रुति-पदके अर्थानुसार अनेक दानादि ज्ञात होनेसे उसका बहुत-से जनपदों (ग्राम-नगरों) का आधिपत्य सूचित हुआ है और *'क्षत्तारमुवाच'* (छा० ४/१/६) वाक्यमें क्षत्तः (सारथि) को प्रेरणा दी जा रही है। इसके अतिरिक्त रैक्क मुनिको गो-मिथुन, सुवर्णालङ्कार, रथ और कन्यादान भी सुना जा रहा है। इन सब कारणोंसे जानश्रुतिके विशेष धनवान होनेका भी परिचय प्राप्त होता है। क्षत्रियके बिना अन्य किसी जातिमें अर्थात् शूद्रमें यह सब राजधर्म सम्भव नहीं है। आख्यायिकाके उपक्रममें इसी राजधर्मके वर्णनके कारण जानश्रुतिका क्षत्रियत्व कहा गया है और उपसंहारमें वर्णित आख्यायिकासे भी उनके क्षत्रियत्वसे

अवगत हुआ जा सकता है। इसी बातको सूत्रकारने *'उत्तरत्र'* पदके द्वारा प्रकाशित किया है, जिसका अर्थ है उत्तरभागमें अर्थात् उस संवर्गविद्याके अन्तिम वाक्यमें वर्णित चैत्ररथ शब्द, जो अभिप्रतारी संज्ञक है, उससे भी क्षत्रियत्वका बोध होता हैं। वाक्यके अन्तमें वही कह रहे हैं—*'अथ शौनकं कापेयम् ..... ब्रह्मचारी विभिक्षे'* (छा॰ ४/३/५), एक बार कपिके गोत्रमें उत्पन्न हुए पुरोहित शुनकपुत्र और कक्षसेनका पुत्र काक्षसेनि जो नामसे अभिप्रतारी थे, वे दोनों भोजन कर रहे थे, रसोइया उन्हें भोजन परोस रहा था। उसी समय एक ब्रह्मचारी उनके निकट आया और उनसे भिक्षा माँगी। आख्यायिकाके इस अंशसे जाना जाता है—वे दोनों ही उत्तम वर्णके थे (एक था ब्राह्मण और दूसरा क्षत्रिय)। अब प्रश्न यह उठता है कि अभिप्रतारीका चैत्ररथत्व और क्षत्रियत्व तो इस प्रकरणमें प्रतीत नहीं हो रहा है, तो कहते हैं 'लिङ्गात्' अर्थात् *'अथ शौनकमित्यादि'* वाक्यके द्वारा साहचर्यरूप प्रमाण (लिङ्ग) से अभिप्रतारीका कापेय-पुरोहित सम्बन्ध प्रतीत होता है और अन्य वाक्यमें भी *'एतेन चैत्ररथं कापेया अयाजयन्'* (ताण्ड्य ब्राह्मण २०/१२/५)—कपिवंशीय शौनक ब्राह्मण, यागके द्वारा चैत्ररथसे याजन (यज्ञ) करा रहे थे। इसमें कापेय यजमानका चैत्ररथत्व सुना जाता है और उससे चैत्ररथि नामके क्षत्रियराजने जन्म लिया—इसमें चैत्ररथका क्षत्रियत्व भी प्रतिपादित हुआ। इस प्रकार यह प्रमाणित हुआ कि अभिप्रतारी ही चैत्ररथ है और वही क्षत्रिय है। इस प्रकार संवर्गविद्याके उपासक कापेय और अभिप्रतारी ही ब्राह्मण एवं क्षत्रिय निर्दिष्ट हुए। अतएव इस उपासनामें गुरु-शिष्य भावसे युक्त रैक्क एवं जानश्रुति ब्राह्मण एवं क्षत्रिय हो सकते हैं। इसीलिए कहा है कि जानश्रुति क्षत्रिय है, शूद्र नहीं। इस प्रकार शूद्र वेद-विद्याका अधिकारी नहीं है, यह बात यहाँ युक्तिपूर्वक प्रमाणित हुई॥ ३५॥

सूक्ष्मा-टीका—ननु मुख्यशुद्रः सोऽस्तु किं जघन्येन योगेनेत्यत आह क्षत्रियत्वावगतेश्चेति। अन्यस्य जातिशुद्रस्येत्यर्थः अथेति। तदिति क्षत्रियत्वम्। अथ शौनकमिति। शुनकस्यापत्यं शौनकम्। कपिगोत्रं कापेयं पुरोहितम्। अभिप्रतारिणं यजमानम्। कक्षसेनस्यापत्यं काक्षसेनिम्। तौ भोक्तुमुपविष्टौ पाचकेन परिविश्यमानौ

कश्चिद् ब्रह्मचारी विभिक्षे याचितवानित्यर्थः। एतेनेति। एतेन द्विरात्रेण कर्मणा चैत्ररथमभिप्रतारिणं कापेया अयाजयन्नित्यर्थः। तस्मादिति चैत्ररथात् क्षत्रियादित्यर्थः। तस्येत्यभिप्रतारिणं। तत्तच्चेति चैत्ररथत्वं क्षत्रियत्वं चेत्यर्थः। तथा स्यातां ब्राह्मणक्षत्रियौ भवेताम्॥ ३५॥

सूक्ष्मा-सार—यहाँ प्रश्न है कि जानश्रुति मुख्यार्थके अनुसार शूद्र हो, तो दुर्बल योगशक्तिके द्वारा उनका शूद्रत्व किस प्रकार स्वीकृत होगा? इसके उत्तरमें सूत्रकार कह रहे हैं—*'क्षत्रियत्वागतेश्च।'* आख्यायिकाके द्वारा जिस हेतुसे उनका क्षत्रियत्व बोधित हुआ है, वह है *'न हि एतानि क्षत्रियादन्यस्य सम्भवन्ति'*—क्षत्रियके अतिरिक्त अन्य अर्थात् शूद्र जातिमें यह सब सम्भव नहीं है। *अथोपसंहाराख्यायिकामित्यादि*—'तत्' अर्थात् क्षत्रियत्वसे अवगत हुआ जाता है। *'वाक्यशेषस्तथाह अथ शौनकम्'*—शुनकका पुत्र, *'कापेयं'*—कपिगोत्रमें पुरोहित। *'अभिप्रतारिणं'*—अभिप्रतारी राजा यजमान। *'काक्षसेनिम्'*—कक्षसेनका पुत्र। ये दोनों जन भोजनके लिए बैठे थे। पाचक उन्हें परोस रहा था। *'कश्चित् ब्रह्मचारी विभिक्षे'*—किसी एक ब्रह्मचारीने भिक्षा माँगी। *'अन्यत्र च एतेन'* इत्यादि—द्विरात्रसाध्य (दो रातोंमें पूर्ण होनेवाले) यागकर्म द्वारा चैत्ररथ अभिप्रतारीको कपिगोत्रीय पुरोहितोंने यज्ञ कराया था, यह अर्थ है। *'तस्मात् चैत्ररथिनाम् इत्यादि'*, तस्मात्—उस चैत्ररथ क्षत्रियसे। तस्य तत्तच्च अर्थात् तस्य उस अभिप्रतारीका चैत्ररथत्व और क्षत्रियत्व। 'तथा स्याताम्'—इस प्रकार वे ब्राह्मण और क्षत्रिय होने चाहिये॥ ३५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त छान्दोग्यकी आख्यायिकासे जानश्रुतिका शूद्रत्व प्रमाण निरस्त हो गया। वे क्षत्रिय हैं—यही सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें बतला रहे हैं। आख्यायिकाके उपक्रमसे जानश्रुतिके क्षत्रियत्वका बोध हो ही रहा है और इसी आख्यायिकाके उपसंहारमें चैत्ररथ शब्दके उल्लेखसे भी उनका क्षत्रिय होना स्पष्ट होता है। साहचर्यरूप प्रमाणके आधारपर भी अभिप्रतारीका कापेय पुरोहितसे सम्बन्ध और ब्राह्मणगण चैत्ररथसे याजन करा रहे हैं तथा चैत्ररथी नामके क्षत्रिय राजाने जन्म लिया है, इत्यादि प्रमाणोंसे अभिप्रतारीका चैत्ररथ होना और उनका क्षत्रिय होना प्रमाणित हुआ है। इसके द्वारा वेदमें शूद्रका अधिकार नहीं है, यह भी सिद्ध हुआ है।

माध्व भाष्यमें पाया जाता है—*अयं अश्वतरीरथ इति चित्ररथ-सम्बन्धित्वेन लिङ्गेन पौत्रायणस्य क्षत्रियत्वावगतेश्च। रथस्त्वश्वतरीयुक्तश्चित्र इत्यभिधीयते। इति ब्राह्मे। यत्र वेदो रथस्तत्र न वेदो यत्र नो रथ इति च ब्रह्मवैवर्त्ते।*

अर्थात् यह जो द्रुतगामी अश्वोंसे युक्त रथ है—इस चित्ररथ सम्बन्धी चिह्नके द्वारा ही पौत्रायणोंको क्षत्रियतत्त्वकी उपलब्धि हुई थी, ऐसा ब्रह्मपुराणमें लिखा हुआ है। रथमें अश्वतरीके संयोगसे चित्र बना हुआ है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराणके मतानुसार जहाँ वेद है, वहीं रथ है तथा जहाँ वेद नहीं है, रथ भी वहाँपर नहीं है। चैत्ररथ चिह्न दर्शनसे उत्तरत्रको क्षत्रियत्वकी उपलब्धि हुई।

इन सब वैदिक प्रसङ्गोंसे ज्ञात होता है कि लक्षण दर्शनसे वर्णज्ञानकी अभिव्यक्ति होती है।

छान्दोग्यमें माध्वभाष्यधृत सामसंहिताका वाक्य है—

आर्जवं ब्राह्मणे साक्षात् शूद्रोऽनार्ज्जवलक्षणः।
गौतमस्त्विवति विज्ञाय सत्यकाममुपानयत्॥

अर्थात् ब्राह्मणमें साक्षात् सरलता एवं शूद्रमें कुटिलता विद्यमान होती है। हारिद्रुमत गौतमने गुणोंपर ऐसा मत प्रकट करते हुए सत्यकामको उपनयन अथवा सावित्र्य संस्कार प्रदान किया।

इस प्रसङ्गमें छान्दोग्यका सत्यकाम जाबाल उपाख्यान भी विवेच्य है—*तं होवाच किं गोत्रो नु सौम्यसीति। स होवाच। नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्मि।* (छा॰ ४/४/४)

अर्थात् गौतमने उससे कहा—हे सौम्य (ब्राह्मण)! तुम किस गोत्रके हो? उन्होंने कहा—मैं नहीं जानता कि मेरा गोत्र क्या है।

श्रीमद्भागवतमें भी द्रष्टव्य है—

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्॥
(भा. ७/११/३५)

अर्थात् मनुष्योंमें वर्णाभिव्यञ्जक जो समस्त लक्षण बताये गये हैं, वे यदि दूसरे वर्णवालेमें भी मिलें, तो उसे भी उसी वर्णका समझना चाहिये। (केवल जन्मके द्वारा वर्ण निरूपित नहीं होगा।)

इसी (श्रीमद्भा० ७/११/३५) श्लोककी भावार्थदीपिकामें श्रीधरस्वामिपादका अभिमत देखा जाता है—*शमादिभिरेव-ब्राह्मणादि-व्यवहारो मुख्यः न जातिमात्रात्। यद् यदि अन्यत्र वर्णान्तरेऽपि दृश्येत, तद्वर्णान्तरं तेनैव लक्षणनिमित्तेनैवं वर्णेन विनिर्दिशेत्, न तु जातिनिमित्तेनेत्यर्थः।*

अर्थात् शम आदि गुणोंके द्वारा ब्राह्मणादि वर्ण स्थिर (निश्चय) करना प्रधान कर्त्तव्य है। साधारणतः जातिके द्वारा जो ब्राह्मणत्व निरूपित होता है, केवल यही नियम नहीं है। इसका प्रतिपादन करनेके लिए *'यस्य यल्लक्षणम्'* श्लोकको उद्धृत करते हैं। यदि शौक्र ब्राह्मण (जन्मसे ब्राह्मण) के बिना अशौक्र ब्राह्मणमें अर्थात् जिसकी ब्राह्मण संज्ञा नहीं है, ऐसे व्यक्तिमें शमादि गुण दृष्टिगत हों, तो उसे जातीय व्यक्ति न मानकर लक्षण द्वारा उसका 'वर्ण' निरूपण करना चाहिये। अन्यथा विरुद्ध आचरण होगा।

श्रीनीलकण्ठने महाभारतकी टीकामें लिखा है—

शूद्रोऽपि शमाद्युपेतो ब्राह्मण एव, ब्राह्मणोऽपि कामाद्युपेतः शूद्र एव।

(महाभारत, वनपर्व १८०/२३-२६)

अर्थात् शमादि गुणोंसे युक्त होनेपर शूद्र ब्राह्मण ही है और कामादिसे युक्त होनेपर ब्राह्मण शूद्र ही है।

श्रीमन्महाप्रभुका निर्देश है—

सहजे निर्मल एइ 'ब्राह्मण'-हृदय।
कृष्णेर वसिते एइ योग्यस्थान हय॥
'मात्सर्य' चण्डाल केने इहाँ बसाइला।
परम-पवित्र स्थान 'अपवित्र' कैला॥

(चै०च०म० १५/२७४-२७५)

अर्थात् ब्राह्मणोंका हृदय स्वाभाविक रूपसे निर्मल होता है। वह श्रीकृष्णके बैठनेका योग्य स्थान होता है, किन्तु तुमने इस हृदयमें मात्सर्यरूपी चाण्डालको क्यों बैठा दिया? इससे तुमने परम पवित्र स्थानको अपवित्र कर दिया॥ ३५॥

अवतरणिका भाष्य—तदेवं श्रुत्याद्यनुग्रहेण दर्शयति—

अवतरणिका भाष्य—इस प्रकार क्षत्रियत्व सिद्ध हो जानेपर सूत्रकार श्रुति इत्यादिकी सहायतासे उसे दृढ़ करते हुए कहते हैं—

सूत्र—संस्कारपरामर्शात् तदभावाभिलापाच्च॥ ३६॥

सूत्रार्थ—'संस्कार परामर्शात्'—अन्य श्रुतिमें वेदोंके अध्यापनमें तीनों वर्णोंके लिए उपनयन संस्कारका उल्लेख है और 'तदभावाभिलापाच्च' उस संस्कारके अभावके कारण वेदविद्यामें शूद्र अधिकारी नहीं है॥ ३६॥

सूत्रानुवाद—वेदाध्ययनके लिए उपनयन-संस्कारका उल्लेख और उस संस्कारके अभावके कारण शूद्रका वेदाध्ययनमें अधिकार नहीं है॥ ३६॥

गोविन्दभाष्य—श्रुत्यन्तरे *'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयेदेकादशे क्षत्रियं द्वादशे वैश्यम्'* इत्यध्यापनाय संस्कारविमर्शनात्तत्र ब्राह्मणानामेवाधिकारः। *'नाग्निर्न यज्ञो न क्रिया न संस्कारो न ब्रतानि शूद्रस्य'* इति संस्काराभावकथनाच्च शूद्रस्य नाधिकारः। त्रैवर्णिकबाह्यस्य संस्काराविधानात् संस्कारसापेक्षे वेदपाठे तस्य न सः॥ ३६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—दूसरी श्रुतिमें है—*'अष्टवर्षं .... वैश्यम्'*—आठ वर्षके ब्राह्मणकुमारको उपनीत करावे और इसके बाद उसे वेदाध्ययन करावे, इसी प्रकार ग्यारह वर्षके क्षत्रियको और बारह वर्षके वैश्यको उपनीत कराके वेद पढ़ावे। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि वेदाध्यापनका अङ्ग उपनयन-संस्कार है और उसमें ब्राह्मणादिका अधिकार है। पुनः शूद्रमें उस उपनयन-संस्कारका अभाव कहा गया है, यथा—*'नाग्निर्न यज्ञो न क्रिया .... शूद्रस्य।'* शूद्रजातिकी अग्निमें प्रतिष्ठा नहीं है, अग्निहोत्रादि यज्ञ नहीं है, वेदाध्यापन आदि क्रिया नहीं है, उपनयन-संस्कार नहीं है और पारायणादि व्रत भी नहीं है—इस प्रकार श्रुतिमें संस्कार-निषेध ही कहा गया है। अतः शूद्रका ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है। सिद्धान्त यह है कि द्विजातिसे बहिर्भूत वर्णके संस्कारके अविधानके कारण उपनयन-सापेक्ष वेदपाठमें उसका अधिकार नहीं है॥ ३६॥

सूक्ष्मा-टीका—संस्कारेति। अष्टवर्षमित्यादिखिलश्रुतौ त्रैवर्णिकानामेव वेदाध्ययनाङ्गोपनयनसंस्कारपरामर्शात्तेषामेव तदध्ययनेऽधिकारः। नाग्निरित्यादौ तु शुद्राणां तत्संस्काराभावोक्तेर्न तेषां तत्र अधिकार इत्यर्थः। च-शब्दोऽवधारणे। *'न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति'* इति स्मृतेश्च। पातकं भक्ष्याभक्ष्य-विभागाभावकृतमित्यर्थः॥ ३६॥

सूक्ष्मा-सार—*'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनीयत'*—इत्यादि सम्पूर्ण श्रुतिमें ब्राह्मणादि तीन वर्णोंके ही वेदाध्ययनाङ्ग उपनयन-संस्कारका उल्लेख है, इसलिए उनका ही वेदाध्ययनमें अधिकार है और *'नाग्निर्नयज्ञ'* इत्यादि श्रुतिमें शूद्रजातिके उपनयन-संस्कारका निषेध है, इसलिए उसका वेदपाठमें अधिकार नहीं है। यही उक्त दोनों श्रुतियोंका अभिप्राय है। *'संस्काराभावकथनाच्च'* में 'च' शब्द अवधारण (निश्चय) के लिए है। संस्कार-अभावके सम्बन्धमें स्मृतिवाक्य भी प्रमाण हैं—यथा *'न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति'*—शूद्रको किसी प्रकारका भक्ष्याभक्ष्य-विचार जनित पाप नहीं लगता, वह संस्कार भी पानेके योग्य नहीं है॥ ३६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्व सूत्रमें शूद्रका वेदाधिकार नहीं है, इसे युक्तिके द्वारा स्थापित करके प्रस्तुत सूत्रमें श्रुतियोंके प्रमाण द्वारा उसका समर्थन कर रहे हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका उपनयन-संस्कार है, यह कहकर जिस प्रकार उन्हें वेदाधिकार प्रदान किया गया है, उस प्रकार शूद्रके संस्कारके अभावके कारण उसका वेदाधिकार नहीं है, यह जानना चाहिये। वेदपाठ संस्कार-सापेक्ष है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

संस्कारा यदविच्छिन्नाः स द्विजोऽजो जगाद यम्।
इज्याध्ययनदानानि विहितानि द्विजन्मनाम्।
जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः॥

(श्रीमद्भा॰ ७/११/१३)

जिनके वंशमें गर्भाधानादि संस्कार अखण्ड रूपसे होते आये हैं और जिनका अनुमोदन ब्रह्माजीके द्वारा हुआ है, वे ही द्विज हैं। जन्म एवं कर्ममें परिशुद्ध ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्योंको यज्ञ, अध्ययन, दान एवं ब्रह्मचर्यादि आश्रमोंमें विहित कर्मोंका पालन करना चाहिये।

वैष्णवस्मृतिराज श्रीहरिभक्तिविलास-धृत विष्णुयामल वाक्यमें भी देखा जाता है—

अशुद्धाः शूद्रकल्पा हि ब्राह्मणाः कलिसम्भवाः।
तेषामागममार्गेण शुद्धिर्न श्रौतवर्त्मना॥

(ह॰भ॰वि॰ ५वाँ विलास,
३ संख्या धृत विष्णुयामल वाक्य)

कलियुग अर्थात् विवाद और तर्कमें शौक्र ब्राह्मणोंकी शुद्धता नहीं है, वे शूद्रोंके समान ही हैं। उनकी वैदिक कर्मानुष्ठान विधिमें निर्मलता नहीं है। पाञ्चरात्रिक विधानमें ही उनकी शुद्धि है।

और भी,

यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रसविधानतः।
तथा दीक्षा-विधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम्॥

(ह॰भ॰वि॰ द्वितीय विलास,
सप्तम संख्या, तत्त्वसागर वचन)

अर्थात् जिस प्रकार किसी विशेष रासायनिक प्रक्रियाके द्वारा कांसा स्वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार (वैष्णवी) दीक्षा विधानके द्वारा नरमात्रमें ही विप्रता प्रमाणित होती है।

नारदपञ्चरात्रमें—

स्वयं ब्रह्मणि निक्षिप्तान् जातानेव हि मन्त्रतः।
विनीतानथ पुत्रादीन् संस्कृत्य प्रतिबोधयेत्॥

(नारदपञ्चरात्र, भारद्वाजसंहिता २/३४)

अर्थात् आचार्य गुरु स्वयं पाञ्चरात्रिक मन्त्र प्रदान करते हैं। उस मन्त्रके प्रभावसे शिष्यका पुनर्जन्म होता है। विनीत शिष्योंको वैदिक दस संस्कारोंसे संस्कृत कर आचार्य अपने शिष्योंको ब्रह्मचारी बनाकर उन्हें मन्त्रके अर्थकी दीक्षा देवें।

मनुसंहिता (२/२६०) में भी पाया जाता है—

मातुरग्रेधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुति चोदनात्॥

श्रुतियोंमें कहा गया है कि द्विजका माताकी कोखसे प्रथम जन्म ही शौक्र जन्म है, बादमें उपनयन होनेपर द्वितीय जन्म होता है, इसके पश्चात् यज्ञ-दीक्षा पानेपर उसका तृतीय जन्म होता है। (इसलिए जन्मके तीन प्रकार हैं—शौक्र, सावित्र और दैक्ष।)॥ ३६॥

अवतरणिका भाष्य—संस्काराभावं द्रढयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—शूद्रके उपनयन-संस्कार अभावको युक्ति-प्रमाणसे दृढ़ करते हुए कहते हैं—

सूत्र—तदभावनिर्द्धारणे च प्रवृत्तेः॥ ३७॥

सूत्रार्थ—'तदभावनिर्द्धारणे च'—गौतमके द्वारा सत्यकाम-जाबालके सम्बन्धमें शूद्रत्वका अभाव निश्चय होनेके बाद ही 'प्रवृत्तेः'—उपनयनपूर्वक वेदाध्यापनमें प्रवृत्तिके कारण जाना जाता है कि शूद्रका संस्कार और वेदाध्यापनमें अधिकार नहीं है॥ ३७॥

सूत्रानुवाद—शूद्रत्वके अभावका निश्चय होनेपर ही उपनयनके प्रदान करनेकी प्रवृत्तिका उल्लेख हैं॥ ३७॥

गोविन्दभाष्य—छान्दोग्य एव (४/४/४)—नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्मीति सत्यवचसा जाबालस्य शूद्रत्वाभावे निर्द्धारिते सति नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सौम्याहर त्वोपानेष्ये न सत्यादगा (छा॰ ४/४/५) इति गौतमस्य गुरोस्तत्संस्कारादौ प्रवृत्तेश्च ब्राह्मणपदोपलक्षितत्रैवर्णिकत्वमेव संस्कारप्रयोजकमवगम्यते अतो न शूद्रोऽधिकारी॥ ३७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—छान्दोग्योपनिषदमें यह आख्यायिका वर्णित है। यथा—पितृहीन जाबाल वेदाध्ययनकी कामनासे गुरुगृहमें गौतम मुनिके समीप आया। गुरुने उससे पूछा—तुम्हारा गोत्र क्या है? इसके उत्तरमें जाबालने कहा, 'देव! मैं नहीं जानता कि मैं किस गोत्रमें उत्पन्न हुआ हूँ।' जाबालके इस सत्यवचनसे सन्तुष्ट होकर ऋषिने उसका अशूद्रत्व निश्चय कर लिया। अब्राह्मण इस प्रकारसे सत्यवचन बोल नहीं सकता, यह सत्य बोल रहा है, तो निश्चय ही यह ब्राह्मण है। इस बोधसे मुनिने जाबालसे कहा, 'वत्स! समिधा लाओ, मैं तुम्हारा उपनयन-संस्कार करूँगा, तुम सत्यसे भ्रष्ट नहीं हो।' इस प्रकार

उपनयन-संस्कारमें गौतम मुनिकी प्रवृत्तिवश यह जाना जाता है कि ब्राह्मण पदसे बोधित द्विजातित्व ही संस्कारका प्रयोजक है, अतएव शूद्र इसमें अधिकारी नहीं है॥ ३७॥

सूक्ष्मा-टीका—तदभावेति। जाबालः खलु मृतपितृको गुरूपसत्तिकामो गोत्रमजानन्मातरं। पप्रच्छ किं गोत्रोऽहमस्मीति। साप्यहं न जानामीति प्रत्युवाच। ततः स गौतममुपेत्याह। भगवन् त्वयि ब्रह्मचर्यं चरितुमिच्छाम्यनुगृह्णातु भगवानिति। किं गोत्रोऽसीति गौतमेन पृष्टः स आह नाहं गोत्रं वेद नापि मन्माता इति। ततः स गौतमस्तदीयेन सत्यवचसा तस्य शूद्रत्वाभावं निश्चित्य तदूपनयनादौ प्रवृत्तस्तं प्राह नैतदित्यादि। अस्यार्थः। एतत् सत्यवचनं विवक्तुं विविच्य निःसंशयं वक्तुमब्राह्मणो नार्हति। न त्वं सत्यादगाः सत्यवाक्यादतिगतः। तस्मात्त्वं ब्राह्मणोऽसीत्यर्थः। हे सौम्य, सत्यकाम जाबाल त्वामहमुपनेष्ये तदर्थां समिधमाहरेति॥ ३७॥

सूक्ष्मा-सार—मृतपितृक (जिसके पिता जन्मसे पहले ही परलोकवासी हो गये थे) जाबाल ब्रह्मचर्य ग्रहण करनेकी कामनासे गुरुगृह गया। वह अपना गोत्र नहीं जानता था, उसने अपनी माँसे पूछा, 'माँ! मैं किस गोत्रमें उत्पन्न हुआ हूँ?' माँने उसे उत्तर दिया—'मुझे भी तुम्हारा गोत्र पता नहीं है।' इसके बाद वह महर्षि गौतमके निकट गया और कहा—'भगवन्! मैं आपके निकट ब्रह्मचर्यका आचरण करना चाहता हूँ। आप मुझपर अनुग्रह करें।' गौतमने उससे पूछा 'हे वत्स! तुम किस गोत्रके हो?' प्रत्युत्तरमें जाबालने कहा, 'मैं अपना गोत्र नहीं जानता, मेरी माताको भी यह पता नहीं है।' बालकके वचन सुनकर ऋषि समझ गये कि यह बालक शूद्र नहीं है, ऐसा निश्चय करके वे उसके उपनयनादिमें प्रवृत्त हो गये और उससे कहने लगे—'इस प्रकार विवेचनापूर्वक निःसंशय होकर सत्यवचन ब्राह्मणके अतिरिक्त कोई और नहीं कह सकता। तुम सत्य वचनसे भ्रष्ट नहीं हो, इसलिए तुम ब्राह्मण ही हो। भद्र! सत्यकाम जाबाल! मैं तुम्हें उपनीत करूँगा, जाओ, संस्कारोपयोगी समिधा ले आओ!'॥ ३७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार शूद्रके संस्कार-अभावको ही पुनः दृढ़ कर रहे हैं। शूद्रत्वका अभाव निश्चित होनेपर ही ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया गया है। इस प्रसङ्गमें भाष्य और

टीका—दोनोंमें ही छान्दोग्य श्रुतिमें वर्णित सत्यकाम एवं गौतमके प्रसङ्गको उद्धृत किया गया है। एक बार जबालाका पुत्र सत्यकाम हारिद्रुमत गौतम ऋषिके समीप वेदाध्ययनके लिए गया। गौतमने जिस समय सत्यकामसे गोत्र-विषयक प्रश्न किया, उसके उत्तरमें उसने अपनी अज्ञता प्रकट की, तब उसकी माताने अपने यौवन कालमें उसे जिस प्रकार प्राप्त किया था, उसे सत्यकामने मुनिके समीप सरलतापूर्वक निवेदन कर दिया।

माताने उससे कहा, "हे तात! तू जिस गोत्रवाला है, उसे मैं नहीं जानती। पहले मैं पतिके घर आये हुए बहुत-से अतिथियोंकी सेवा करनेवाली परिचारिका थी। (परिचर्यामें संलग्न होनेसे गोत्र आदिकी ओर मेरा ध्यान नहीं था।) उन्हीं दिनों युवावस्थामें जब मैंने तुझे प्राप्त किया। (तेरे पिता पहले ही परलोकवासी हो गये थे।) इसलिए मैं यह नहीं जानती कि तू किस गोत्रवाला है? मैं तो जबाला नामवाली हूँ और तू सत्यकाम नामवाला है। अतः तू अपनेको 'सत्यकाम जाबाल' बतला देना।"

सत्यकामकी इस प्रकार सरलता और सत्यवादितारूप ब्राह्मण-लक्षण (चिह्न) जानकर मुनिने उसे उपनीत कराके उसे वेदाध्ययन कराया। इससे स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है कि गुणको देखकर ही जाबालका शूद्रत्वका अभाव निर्धारित (निश्चित) किया गया और उसे ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया।

आजकल गुणकी ओर न देखकर केवल जन्मगत विचारसे ब्राह्मणकी योग्यताका निरूपण किया जाता है। यह किस प्रकार शास्त्रसङ्गत हो सकता है, इसपर सुधीजन स्वयं विचार कर सकते हैं। दूसरी बात यह है कि जो वेदविद्या संस्कार-सापेक्ष है, वह संस्कार भी अधिकांश स्थानोंपर यथा समय और यथायथ भावसे न होकर केवल दिखावामात्र होता है, यह कहना भी अत्युक्ति नहीं है। इसीलिए वैदिक युगसे कथित ब्राह्मणताकी बात वैदिकाचार्योंके द्वारा समर्थित है। पहले भी इसके प्रमाणमें कुछ उदाहरण दिये गये हैं। कलियुगमें विशेष रूपसे शौक्र ब्राह्मणताकी शुद्धि नहीं है। कारण गर्भाधानसे आरम्भ करके कोई भी संस्कार यथासमयमें यथायथ

भावसे गृहीत नहीं होता। इसलिए वर्त्तमान युगमें वैदिक एवं पौराणिक दीक्षाके अयोग्य व्यक्तियोंको सद्‌गुरु जो पाञ्चरात्रिक विधानानुसार दीक्षित करके संस्कारपूर्वक वेदादिगम्य तत्त्वज्ञान प्रदान करते हैं, वही शास्त्रसम्मत और युक्तिसङ्गत है। हमारे परमाराध्यतम परमगुरुदेव नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपादने दैववर्णाश्रमधर्मके पुनः प्रवर्त्तन-मूलमें जो हरिभजनकी आदर्श-शिक्षा प्रदान की है, उसमें ही शास्त्र एवं महाजन द्वारा प्रदर्शित पन्थाका गौरव संरक्षित है। मात्सर्य भावसे युक्त कितने ही लोग अपने शौक्रपन्थाकी दुहाई देकर वर्णधर्म विचारकी परिपाटीपर चल रहे हैं, वे निर्मत्सर भागवत समाजका आदर नहीं कर सकते।

इस प्रसङ्गमें श्रीमद्भागवतका *'यस्य यल्लक्षणं प्रोक्त'* श्लोक एवं पूर्वकथित श्रीधरस्वामिपाद और श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरकी टीका भी विवेच्य है।

श्रीमद्भागवतमें ही और भी प्राप्त होता है—

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/५/२-३)

अर्थात् श्रीचमसऋषिने कहा—हे राजन्! आदिपुरुष भगवान् विष्णुके मुखसे सत्त्वगुणी ब्राह्मण, भुजाओंसे सत्त्व एवं रजोगुणी क्षत्रिय, जाँघोंसे रजो एवं तमोगुणी देवता और चरणोंसे तमोगुणी शूद्र उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्मचर्यादि आश्रम-चतुष्टय भी उनके साथ ही उत्पन्न हुआ था। इस चतुर्वर्गमें स्थित जो पुरुष स्वयंकी उत्पत्तिके साक्षात् कारणस्वरूप ईश्वरकी अज्ञानवश आराधना नहीं करते अथवा उनका तत्त्व जानकर भी उनकी अवज्ञा करते हैं, वे स्थानभ्रष्ट और अधःपतित होते हैं।

श्रीमद्गीता (४/१३) में भी श्रीकृष्णने कहा है—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।*

गुण और कर्मके विभागानुसार ब्राह्मणादि चार प्रकारके वर्णसमूह मेरे द्वारा सृष्ट हुए हैं।

इस प्रसङ्गमें श्रीमद्भागवतके ७/११/२१—२४ और ११/१७/१६—१९ श्लोक भी विवेचनीय हैं॥ ३७॥

सूत्र—श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्चास्य॥ ३८॥

सूत्रार्थ—'श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्'—शूद्रका वेदश्रवण निषिद्ध है, अतएव वेदाध्ययन और वेदार्थज्ञान अथवा वैदिक कर्मानुष्ठान भी शास्त्रमें निषिद्ध है, इसलिए शूद्र ब्रह्मविद्यामें अनधिकारी है, 'स्मृतेश्च'—स्मृति-वाक्योंमें भी, 'अस्य' उसका अनधिकार प्रतिपादित हुआ है॥ ३८॥

सूत्रानुवाद—शूद्रके उपनयन-संस्कार नहीं होनेसे अथवा निषिद्ध होनेसे उसके लिए वेदका श्रवण, अध्ययनादि निषिद्ध हैं। स्मृतिमें भी उसका अनधिकार कहा गया है॥ ३८॥

गोविन्दभाष्य— *'पद्यु ह वा एतत् श्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्।' 'तस्माच्छूद्रो बहुपशुरयज्ञीय'* इति शूद्रस्य वेदश्रवणादिप्रतिषेधान्न स तत्राधिकारी। अनुपश्रुण्वतोऽध्ययनतदर्थज्ञानतदनुष्ठानानि न सम्भवन्तीत्यतस्तान्यपि प्रतिषिद्धानि। *'नाग्निर्न यज्ञः शूद्रस्य तथैवाध्ययनं कुतः? केवलैव तु शुश्रूषा त्रिवर्णानां विधीयते'*। *'वेदाक्षरविचारेण शूद्रः पतति तत्क्षणात्'* इत्यादि स्मृतेश्च। तथा विदुरादीनां तु सिद्धप्रज्ञत्वान्न किञ्चिच्चोद्यम्। शूद्रादीनां मोक्षस्तु पुराणादिश्रवणजज्ञानात् सम्भविष्यति। फले तु तारतम्यं भावि॥ ३८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—श्रुतिमें शूद्रके वेदश्रवणादिके निषेधसे अवगत हुआ जाता है। यथा *पद्यु ह वा एतत् ... बहुपशुरयज्ञीय*—शूद्र पादसञ्चरण (चलने) में क्षमताशाली होनेपर भी श्मशानस्वरूप है अर्थात् श्मशानमें जिस प्रकार यज्ञादि निषिद्ध हैं, इसी प्रकार शूद्रका भी यज्ञादि अनुष्ठान निषिद्ध हैं, तब शूद्र पैरोंसे सञ्चरण तो कर सकता है। श्मशान जड़ है, वह चल नहीं सकता, इतना ही प्रभेद है। अतएव शूद्रके समीप वेदाध्ययन नहीं करना चाहिये। शूद्र पशुतुल्य है, यज्ञके अयोग्य है। इन सबसे यही प्रतिपादित हुआ कि शूद्रका वेदश्रवण निषिद्ध कहे जानेसे वह ब्रह्मविद्याका अधिकारी नहीं है।

वेदश्रवणका अधिकार न रहनेसे वेदाध्ययन, वेदार्थज्ञान और वेदप्रतिपाद्य यागादिका अनुष्ठान भी सम्भव नहीं है, अतएव ये सब शूद्रके लिए निषिद्ध कहे गये। स्मृतिवचन है—*'नाग्निर्न यज्ञः ... तत्क्षणात्।'* शूद्रकी अग्निमें प्रतिष्ठा नहीं है, यज्ञमें अधिकार नहीं है, तब उसका वेदाध्ययन भी किस प्रकारसे सम्भव है? ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी शुश्रूषा करना ही उसके लिए विहित है। शूद्र यदि वेदाक्षरका विचार भी करे, तो वह उसी क्षण पतित हो जाता है। जो विदुर, धर्मव्याध आदि शूद्रोंकी वेदार्थ-ज्ञानवत्ता सुनी जाती है, वह उनके सिद्ध-प्रज्ञत्वके कारण है अर्थात् पूर्वजन्मार्जित श्रवणादिवश उनकी ज्ञानोत्पत्ति है, यह ऐहिक (इस लोककी) नहीं है। अतएव इसमें कोई आपत्ति नहीं है और शूद्र इत्यादिकी मुक्ति भी पुराणादि श्रवणजनित ब्रह्मज्ञानसे है। किन्तु वेदान्तशास्त्रके श्रवणके लिए तत्त्वज्ञानका फल और इस ब्रह्मज्ञानके फलमें भी तारतम्य है॥ ३८॥

सूक्ष्मा-टीका—श्रवणेति। अर्थशब्देनार्थज्ञानतदनुष्ठाने बोध्ये। पद्यु ह वेति। पद्यु पादसंयुक्तं सञ्चारक्षारक्षममित्यर्थः। बहुपशुः पशुतुल्यः। बहुच्प्रत्ययः—विभाषा सुपो बहुच्पुरस्तात्त्विति सूत्रात्। अयज्ञीयो यज्ञानर्हः। नाग्निरित्यादि स्फुटार्थः। आदिपदादुद्यमपर्वणि श्रीभगवद्वाक्यम्। परिचर्याविनिन्दं ब्राह्मणानां नाधीयीत प्रतिषिद्धोऽस्य यज्ञः। नित्योत्थितो भूतये अतन्द्रितः स्यादेष स्मृतः शूद्रधर्मः पुराणः इति। स्मृत्यन्तरं चास्ति। अथास्य वेदमुपश्रुण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणं अध्ययने जिह्वाच्छेदः अर्थावधारणे हृदयविदारणमिति। अस्यार्थः। अस्येति शूद्रस्य। एपुजतुभ्यां प्रतप्ताभ्यां सीसलाक्षाभ्यां तद्द्रवाभ्यामित्यर्थः। श्रोत्रपरिपूरणं वेदश्रवणप्रायश्चित्तमित्यर्थ इति। विदुरादीनां चेत्यादिपदाद्धर्मव्याधः। एषां पूर्वजन्मानुष्ठितश्रवणादिना वामदेवादि-वज्ज्ञानोत्पत्तिरिति सर्वं सुस्थम्। तारतम्यमिति आनन्दोत्कर्षापकर्षरूपमित्यर्थः॥ ३८॥

सूक्ष्मा-सार—सूत्रोक्त 'अर्थ' शब्दसे अर्थका ज्ञान और उसका अनुष्ठान बोध्य है। 'पद्यु ह वै' इत्यादि पद्यु—चरण संयुक्त अर्थात् सञ्चरणमें समर्थ श्मशान। बहु पशुः—पशुतुल्य। पशु शब्दके सादृश्य अर्थमें बहुच् प्रत्यय—इस प्रत्ययका प्रकृतिके पूर्वमें योग रहता है, जैसा कि सूत्र है—*'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु'* सादृश्यार्थमें (थोड़ी-सी कमी विशिष्ट अर्थमें) वर्त्तमान सुबन्त पदके उत्तरमें विकल्पसे बहुच् प्रत्यय होता है, किन्तु यह प्रत्यय प्रकृतिके पूर्वमें ही युक्त होता है (स्थान

प्राप्त करता है)। *'अयज्ञीयः'*—'यज्ञके अयोग्य'। *'नाग्निरित्यादि'*—इस स्मृतिवाक्यका अर्थ सुबोध्य है। *'इत्यादि स्मृतेश्च'*—आदि पदमें महाभारतके उद्योगपर्वमें श्रीभगवान्‌के द्वारा कहा हुआ वचन है, यथा—*'परिचर्याविनिन्दं .... शूद्रधर्मः पुराणः'*—ब्राह्मणोंके लिए किसी दूसरे वर्णकी सेवा निन्दनीय है, किन्तु शूद्रका यही कर्त्तव्य है। वह वेदाध्ययन न करे, यज्ञ उसके लिए निषिद्ध है, सम्पद्के लिए सर्वदा अप्रमत्त भावसे उद्योगी रहे, यही पूर्वतन शूद्रधर्म कहा गया है। अन्य स्मृतिमें भी है—*'अथास्य वेदमुपश्रृण्वतः .... हृदयविदारणम्।'* अर्थात् यदि शूद्र वेदका श्रवण करे, तो उसके कानोंके छेदोंको गर्म लाह और शीशेसे पूर्ण कर दो, यदि मोहवश वेदाध्ययन करे, तो जीभ काट डालो और यदि वेदार्थपर विचार करे, तो हृदय विदीर्ण कर डालो, कान भर दो—इत्यादि बातें वेद-श्रवणके कारण प्रायश्चितस्वरूप हैं। *'विदुरादीनाम्'*—इस स्थलपर आदि पदसे धर्मव्याध भी ग्रहणीय है। इन विदुर इत्यादिके पूर्वजन्मार्जित श्रवणादिके द्वारा वामदेवादिके समान ज्ञानोत्पत्ति स्वतःस्फूर्त्त है। अतएव अब कोई शङ्का रह नहीं जाती। तारतम्यका क्या अभिप्राय है? यह आनन्दगत उत्कर्ष और अपकर्ष स्वरूप है॥ ३८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—श्रुतिमें शूद्रका वेद-श्रवण, अध्ययन, तत्-सम्बन्धित अर्थ-विचार और अनुष्ठान निषिद्ध हुआ है, इसलिए उसका वेदमें अधिकार नहीं है। इसी प्रकार स्मृतिमें भी निषिद्ध होनेसे शूद्रका वेदमें अधिकार सिद्ध होता है।

विदुरादिके सिद्धप्रज्ञत्वके कारण उनके सम्बन्धमें कुछ कहने योग्य नहीं रहता। पुराण-श्रवण-जनित ज्ञानसे ही शूद्रकी मुक्ति हो सकती है, तब उसके फलमें भी तारतम्य रहता है।

शूद्रके सम्बन्धमें श्रीमहाभारतमें विचार है—

साम्प्रतञ्च मतो मेऽसि ब्राह्मणो नात्र संशयः।
ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्त्तमानो विकर्मसु॥

दाम्भिको दुष्कृतः प्राज्ञः शूद्रेण सदृशो भवेत्।
यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद्द्विजः॥
(महाभारत, वनपर्व २१५/१३-१५)

अर्थात् ब्राह्मणने धर्मव्याधसे कहा—मेरी दृष्टिमें अब तुम ठीक ब्राह्मण हो, इसमें सन्देह नहीं है। कारण, जो ब्राह्मण दाम्भिक और अनेक बुरे कर्मोंमें लिप्त रहता है, वह शूद्रके समान है। जो शूद्र इन्द्रिय-निग्रह, सत्य और धर्मके विषयमें निरन्तर ऊँचा उठा हुआ है, उसे ही मैं ब्राह्मण कहकर विवेचना करता हूँ, क्योंकि 'सच्चरित्र' वृत्ति एवं स्वभाव ही एकमात्र ब्राह्मण होनेका कारण है।

श्रीमद्भागवतमें श्रीमैत्रेय ऋषि विदुरजीसे कहते हैं—

पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये।
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः॥
(श्रीमद्भा॰ ३/६/३३)

प्रस्तुत श्लोककी टीकामें श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर लिखते हैं—'शुश्रूषा'—परिचर्या वृत्ति, यह वर्णाश्रमधर्मकी सिद्धिके लिए उन विराट् पुरुषके चरणोंसे उत्पन्न हुई है। (श्रीभगवान्‌की) सेवाके बिना किसी भी कर्मकी सिद्धि हो नहीं सकती। अतएव शूद्रकी वृत्ति होनेपर भी वस्तुतः परिचर्या सभी वर्णोंके लिए है—यह भाव है। विराट् पुरुषके चरणोंसे शूद्र शुश्रूषा कार्यके लिए उत्पन्न हुए हैं। परिचर्या वृत्तिसे ही हरि सन्तुष्ट होते हैं, अतः इस प्रकार वेदाध्ययनादि वृत्तिसे यहाँ परिचर्याका उत्कर्ष सूचित हुआ है। परिचर्या जीवमात्रका ही स्वाभाविक धर्म है।

श्रीलजीव गोस्वामीने भी कहा है—शुश्रूषा वृत्ति सार्ववर्णिक है। ब्राह्मणादि सभी वर्ण जब श्रीहरिकी शुश्रूषा करते हैं, तब इस सेवावृत्तिसे श्रीहरि सन्तुष्ट होते हैं, इसीलिए ही शुश्रूषा वृत्तिकी महिमा दिखायी गयी है। नित्य, नैमित्तिक कर्म अथवा वर्णाश्रमधर्मके पालनका परित्याग करके श्रीहरिके चरणकमलोंका भजन करते-करते असिद्धावस्थामें यदि भजनसे कोई किसी प्रकारसे भ्रष्ट होता है अथवा उसकी मृत्यु

हो जाती है, तो भी किसी अमङ्गलकी आशङ्का नहीं है, परन्तु भजनहीन व्यक्तियोंके भक्तिशून्य स्वधर्म-पालनके द्वारा कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता—भागवतीय (१/५/१७) श्लोकसे केवल स्वधर्म (अर्थात् अपना-अपना वर्ण और आश्रम धर्म) पालनके द्वारा ही भगवत्-पोषण अङ्गीकृत हुआ है। अतएव सेवावृत्ति ही हरि-तोषणका कारण है।

श्रीमैत्रेय ऋषि विदुरजीसे कहते हैं—

एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः।
श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां कथासुधायामुपसंप्रयोगम्॥
(श्रीमद्भा॰ ३/६/३७)

हे विदुरजी! उत्तमश्लोक भगवान्‌का गुणानुवाद ही मनुष्योंकी वाणीका परम लाभ है। विद्वानोंके द्वारा कीर्त्तित उस भगवत्-कथामृतका पान करना ही कानोंका सबसे बड़ा लाभ है—पण्डितजन यही बतलाते हैं।

श्रील ठाकुर भक्तिविनोद विरचित जैवधर्मके छठे अध्यायमें कहा गया है—

ब्राह्मण दो प्रकारके हैं—स्वभावसिद्ध ब्राह्मण और केवल जातिसिद्ध ब्राह्मण। स्वभावसिद्ध ब्राह्मण प्रायः वैष्णव होते हैं। अतएव उनका सम्मान सर्वसम्मत है। जातिसिद्ध ब्राह्मणोंका व्यावहारिक सम्मान है। इसमें वैष्णवोंकी भी यही सम्मति है। इस सम्बन्धमें शास्त्रमें लिखा है—

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-पादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥
(श्रीमद्भा॰ ७/९/१०)

और मेरा यह भी मानना है कि द्वादश गुणोंसे विभूषित ब्राह्मण यदि भगवान् पद्मनाभके चरणारविन्दसे विमुख है, तो उसकी अपेक्षा वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राणोंको भगवान्‌में अर्पित कर रखा है। ऐसा चाण्डाल अपने समस्त कुलको पवित्र कर देता है, किन्तु वह दाम्भिक ब्राह्मण स्वयंको भी पवित्र नहीं कर सकता।

जो भी वर्ण हो, शुद्ध वैष्णव होनेसे ही पारमार्थिक ब्राह्मणता प्राप्त कर सकते हैं। वेद दो भागोंमें विभाजित है, अर्थात् सामान्य कर्मादि प्रतिपादक वेद और तत्त्व-प्रतिपादक वेद। व्यावहारिक ब्राह्मणोंका कर्मादि प्रतिपादक वेदमें अधिकार है और पारमार्थिक ब्राह्मणोंका तत्त्वप्रतिपादक वेदमें अधिकार है। किसी भी वर्णसे उत्पन्न हों, शुद्ध वैष्णव तत्त्वप्रतिपादक वेदका अध्ययन एवं अध्यापन कर सकते हैं और करते हैं। जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद (४/४/२१) में है—*'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।'* अर्थात् बुद्धिमान ब्रह्मज्ञ पुरुष शास्त्रादि द्वारा अवगत होकर उनकी (परब्रह्मकी) प्रेमभक्ति प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करेंगे।

पुनश्च,

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः।
अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः॥
(बृ॰आ॰ ३/८/१०)

अर्थात् हे गार्गि! अच्युत वस्तुस्वरूप भगवान्‌को जाने बिना ही जो इस लोकसे चले जाते हैं, वे कृपण हैं और जो भगवान्‌को जानकर इस लोकसे चले जाते हैं, वे ब्राह्मण हैं।

व्यावहारिक ब्राह्मणके सम्बन्धमें मनुने कहा है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र करुते श्रमम्।
सजीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥
(मनुः २/१६८)

अर्थात् जो ब्राह्मण वेदाध्ययन न करके अन्य विषयोंमें (लाभ, पूजा, प्रतिष्ठादि भगवत्-भिन्न विषयोंमें) परिश्रम करते हैं, वे अपनी जीवित आवस्थामें ही सवंश शूद्रत्वको प्राप्त होते हैं।

तत्त्वप्रतिपादक वेदके अधिकारके सम्बन्धमें इस प्रकार निरूपण है—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
(श्वेताश्वेतर ६/२३)

जिनकी श्रीभगवान्‌में पराभक्ति है और श्रीभगवान्‌के समान ही श्रीगुरुदेवके प्रति भी शुद्धभक्ति है, उसी महात्माके हृदयमें श्रुतियोंके सभी मर्मार्थ प्रकाशित होते हैं॥ ३८॥

१०—कम्पनाधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—एवं प्रासङ्गिकं समाप्य प्रकृतं समन्वयं चिन्तयति। कठवल्ल्यां पठ्यते (२/३/२)—*'यदिदं किञ्चिज्जगत्सर्वंप्राणएजति निःसृतम्। महद्भयं बज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति'* इति। किमत्र वज्रमशनिर्ब्रह्म वेति संशये भयहेतुतया कम्पकारित्वात्तज्ज्ञानेन मोक्षस्य च वाचनिकत्वादशनिर्वज्रशब्दादवगम्यते। प्राणत्वञ्चास्य रक्षकत्वात। न च प्रकरणाद्ब्रह्मार्थता शक्या कर्त्तुम्, उद्यतं वज्रमिति श्रुत्या तस्य वाधादित्येवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकार ब्रह्मविद्यामें शूद्रके अधिकार-विषयक विचार-प्रसङ्गको समाप्त करके प्रक्रान्त विषयमें—अङ्गुष्ठ परिमाण शब्दका ब्रह्ममें तात्पर्यके समान समन्वय (लक्ष्यमें लक्षण योग) का विचार करते हैं—कठोपनिषदकी एकवल्ली (२/३/२) में पढ़ा जाता है, यथा—*'यदिदं किञ्चित् ... भवन्ति।'* यह जो वज्र अर्थात् नियन्ता है, इससे परिदृश्यमान विश्व—समस्त ही उत्पन्न है, यह वज्र ही रक्षक है, यही समस्त जगत्‌को भयभीत करनेवाला है। वही समस्त जगत्‌की परिचालना करता है—इस प्रकार जो जानता है, वही मुक्तिका अधिकारी होता है। अब यहाँ संशय यह होता है कि इस वज्र शब्दसे किसे जानें, प्रसिद्ध वज्रको अथवा ब्रह्मको? पूर्वपक्षी कहते हैं—श्रुतिमें जब उसे भयका कारण कहा गया है, उस हेतुसे, कम्पकी उत्पादकतासे और उसके ज्ञानसे मुक्तिप्राप्तिकी बात कहे जानेसे वज्र शब्दसे अशनि अर्थ ही ग्राह्य है। तब जो इस वज्रको प्राण कहा गया है, वह उसके रक्षकत्वके उद्देश्यसे कहा गया है। यदि कहो कि प्रकरणाधीन 'ब्रह्म' अर्थ ही युक्तियुक्त है, तो यह भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि *'उद्यतं वज्रं'* कहनेसे निष्क्रिय ब्रह्मका उद्यम बाधित होता है। इसके उत्तरमें कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—एवमिति। प्रासङ्गिकमधिकारविचारम्। पूर्वत्रेशानश्रुत्या जीवलिङ्गं बाधित्वाङ्गुष्ठशब्दस्य ब्रह्मपरत्वं यथोक्तं तथेह बज्र श्रुत्या प्रकरणं

बाधित्वा वज्रशब्दस्याशनिपरत्वं वाच्यमिति दृष्टान्तसङ्गत्याह कठवल्ल्यामित्यादि। यदिति। वजयति नियमयति जनानिति वज्रं ब्रह्म। कीदृशं तत् प्राणो रक्षकं प्राणितीति व्युत्पत्तेः। महद्विभुः। भयं दण्डधरं विभेत्यस्मादिति व्युत्पत्तेः। उद्यतं प्रकाशशालि। कीदृग्जगत् निःसृतमुत्पन्नम्। तथाच यदिदं किञ्चिद्वज्रं कर्त्तृ उत्पन्नं सर्वं जगत् एजति कम्पयति एतद्यो विदुस्तेऽमृता मोक्षिणो भवन्तीति। किमत्रेति। ननु वज्रज्ञानेन कथं मोक्षस्तत्राह तज्ज्ञानेनेति। न हि वचनस्यादिगुरुत्वमस्तीत्यर्थः। तस्येति प्रकरणस्य। श्रुत्या प्रकरणबाधस्तु सुसिद् एवेत्याकाशस्तल्लिङ्गादित्यादिवद्बोध्यः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—प्रसङ्गाधीन विचारको समाप्त करके दृष्टान्त-सङ्गतिको ग्रहण करते हुए कहते हैं—*'पूर्वत्रेति'*—जिस प्रकार पहले ईशान शब्दके रहनेसे जीवानुमापक लिङ्गके अभावमें जीवको न जानकर अङ्गुष्ठ-शब्दको ब्रह्म तात्पर्यमें प्रयुक्त कहा गया था, उसी प्रकार इस श्रुतिमें भी वज्र शब्द रहनेसे प्रकरणको बाधित करके अर्थात् जीव-प्रकरणमें वज्र शब्दका प्रयोग देखकर जो जीवपर विचार किया गया है, उसे अस्वीकार करके अशनि अर्थ ही कहना होगा, इस सङ्गतिके अनुसार कह रहे हैं—*'कठवल्ल्यामित्यादि।'* वज्र शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जो वजन करता है अर्थात् समस्त लोकको नियमबद्ध करता है अर्थात् ब्रह्म, यह ब्रह्म किस प्रकारका है? प्राणः अर्थात् रक्षक जिसके द्वारा जीवित रहता है, यह व्युत्पत्ति है। श्रुतिके अन्तर्गत महत् शब्दका अर्थ है विभु, 'भयम्' अर्थात् भीतिजनक दण्डको धारण करनेवाला। जिससे भय होता है, यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भीतिजनक है। 'उद्यतम्' अर्थात् प्रकाशवान, किस प्रकार जगत्को एजति अर्थात् एजन-कम्पन-गमन अर्थात् नियमसे चेष्टा करता है? निःसृतम् अर्थात् उत्पन्न। इस सम्पूर्ण श्रुतिका अर्थ इस प्रकार है—

यह जो वज्र है, जो नियन्ता है, वह (कर्त्ता) उत्पन्न समस्त जगत्को कम्पित करता है। इसे जो जानता है, वह अमृत अर्थात् मोक्षाधिकारी हो जाता है। 'किमत्रेति' भाष्य—प्रश्न यह है कि वज्रज्ञानसे मुक्ति किस प्रकार सम्भव है? उत्तर यह है कि वज्र शब्दका अर्थ ब्रह्मज्ञानसे ही होगा। श्रुति जब कहती है, तब उसके ऊपर कहनेके लिए कुछ नहीं है—यही तात्पर्य है। *'प्रकरणाद्*

ब्रह्मार्थताशक्या'—इस भाष्यमें 'तस्य' प्रकारणका—साक्षात् श्रुति जो प्रकरणको बाधित करती है, यह सुसिद्ध है। जिस प्रकार *'आकाशस्तल्लिङ्गात्'* इत्यादि, के समान यह ज्ञातव्य है।

सूत्र—कम्पनात्॥ ३९॥

सूत्रार्थ—'कम्पनात्'—क्योंकि वज्र सहित समस्त जगत्का परिचालक है, इसलिए वज्र शब्दसे ब्रह्म ही ग्रहण करना चाहिये॥ ३९॥

सूत्रानुवाद—वज्रादिके साथ समस्त जगत्के कम्पनकी बात परमात्मासे ही सम्भव हो सकती है। अतः यहाँ वज्र शब्द ब्रह्मका ही बोधक है॥ ३९॥

गोविन्दभाष्य—वज्रादिसहितस्य कृत्स्नस्य जगतः कम्पकत्वाद्वज्रमत्र ब्रह्मैव। *'चक्रं चंक्रमणादेष वजनाद्वज्रमुच्यते। खण्डनात् खड्ग एवैष हेतिनामा हरिः स्वयम्'* इति स्मरणाच्च। अयं भावः। प्राणशब्दितत्वं भयहेतुत्वं च परमात्मनः श्रुतिप्रसिद्धम्। तत्तच्चात्र वज्र शब्दितस्य कीर्त्त्यमानं सदस्य परमात्मत्वं गमयतीति॥ ३९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—वज्र इत्यादि कँपानेवाले सभी द्रव्योंके साथ समस्त जगत्का परिचालन करनेके कारण श्रुतिमें कथित वज्र शब्द ब्रह्म ही है। स्मृतिमें भी यही पाया जाता है, यथा—*'चक्रं चंक्रमणादेष .... हरिः स्वयम्।'* ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें कहा गया है—श्रीहरि स्वयं सर्वत्र गमन (व्यापक—सर्वत्र फैले हुए) करनेके कारण चक्रस्वरूप, सबको वर्जन (संयत) करनेके कारण वज्रस्वरूप और दुष्टोंका विनाश करनेके कारण खड्गस्वरूप कहे गये हैं। अतः वे स्वयं ही इन समस्त अस्त्रोंके नामोंको धारण करनेवाले हैं। इस सूत्रका तात्पर्य यह है कि परमेश्वरका प्राण शब्दसे संज्ञितत्व (प्राणशब्दित्व) और भय-जनकत्व धर्म श्रुति-प्रसिद्ध है। ये दोनों धर्म वज्र शब्दके द्वारा संज्ञितत्व कहे जानेसे यह वज्र परमेश्वरस्वरूप है, यह जानना चाहिये॥ ३९॥

सूक्ष्मा-टीका—कम्पनादिति। उद्योऽत्र पक्षः। वज्रशब्देन श्रीहरिर्वाच्य इत्यत्र ब्रह्मवैवर्त्तवाक्यमुदाहरति चक्रमिति। चंक्रमणात् सर्वत्र गमनात् वजनान्नियमनात् खण्डनाद्दुष्टविनाशनादित्यर्थः। अयं भाव इति। अत्र सर्वपालकत्वसर्वप्रशास्तृत्वमोचकत्वै-र्लिङ्गैर्वज्रश्रुतावेकस्या बाधो युक्तः। त्यजेदेकं कुलस्यार्थे इति न्यायादिति प्रागवोचाम॥ ३९॥

सूक्ष्मा-सार— *'कम्पनात्'*—इस श्रुतिमें यद्यपि पूर्वपक्षके प्रतिवादका बोध करानेवाला कोई भी शब्द नहीं है, तो भी इसे सिद्धान्त पक्षके रूपमें समझना होगा। वज्र शब्दका अर्थ है श्रीहरि, इस विषयमें ब्रह्मवैवर्त्तपुराणकी उक्तिको प्रमाणरूपमें दिखा रहे हैं, *'चक्रं चंक्रमणादि'*। चंक्रमण शब्द गत्यर्थक क्रम धातुके यङ् लुक प्रत्ययके अन्तमें ल्युट् प्रत्ययसे निष्पन्न होता है। इसीलिए यह सर्वत्र गमनका बोध कराता है। इसी प्रकार वजि धातुसे निष्पन्न वज्र शब्दका अर्थ नियमन अर्थात् शासन और खण्डि धातुसे निष्पन्न खड्‌ग शब्दका अर्थ दुष्टदमन बोधित होनेसे वे (श्रीहरि) चक्र, वज्र और खड्‌ग नामसे अभिहित होते हैं। बात यह है कि चक्र शब्दमें सर्वपालकत्व, वज्र शब्दमें सर्वनियन्तृत्व और खड्‌ग शब्दमें दुःखमोचक धर्मोंके द्वारा ज्ञापित अशनि नहीं हो सकता, अतः इन-इन हेतुओंसे श्रीहरि ही बोधित हो रहे हैं। तब जो प्रत्यक्ष रूपसे वज्र श्रुति है, इसका बाध (विरोध) स्वीकार करना होगा, क्योंकि लौकिक नीति है—कुलरक्षा करनेमें एकका त्याग करे। यह पहले भी हमने बतलाया है॥ ३९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—ब्रह्मविद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं है, इस प्रसङ्गको समाप्त करके प्रक्रान्त विषयके समन्वयपर विचार किया गया है। कठोपनिषदमें प्राप्त होता है, *'यदिदं किञ्च जगत् सर्वम्* (कठ० २/३/३)। इस स्थलपर यदि किसीको संशय होता है कि यह श्रुति कथित वस्तु है क्या? क्या यह प्रसिद्ध वज्र अर्थात् अशनि है अथवा ब्रह्म है? इस संशयके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि वज्रादिके साथ सम्पूर्ण जगत्का कम्पन अर्थात् परिचालनके कारण यहाँ ब्रह्मको ही जाना जाता है। खड्‌ग इत्यादि शब्दसे स्वयं श्रीहरिको ही समस्त शस्त्रधारी समझना चाहिये। परमात्माको ही प्राण शब्दसे कहा जाता है और परमात्मा ही भयके कारण हैं, यह श्रुति-प्रसिद्ध है। कठोपनिषदमें कहा गया है—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

(कठ० २/३/३)

अर्थात् परमेश्वरके ही भयसे अग्नि तपता है, सूर्य तपता है, इन्हींके भयसे इन्द्र, वायु और पञ्चम देवता मृत्यु अपने-अपने कार्योंमें रत हैं।

परमात्मा प्राणस्वरूप हैं, यह बृहदारण्यकमें पाया जाता है—*प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत* (बृ०आ० ४/४/१८)। अर्थात् वे प्राणके प्राण और चक्षुके चक्षु हैं।

अतः यहाँ वज्र शब्दसे कीर्त्यमान श्रीहरिको जानना चाहिये।

और भी, एक बात ध्यान देने योग्य है कि प्रकरणमें कठोपनिषदका जो वचन उल्लिखित है कि *'एतद् य विदुरमृतास्ते भवन्ति'* अर्थात् जो महान भयानक सर्वशक्तिमान परमेश्वरको जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं। अतः वज्रको जाननेसे किसीका भी मोक्ष नहीं हो सकता।

श्वेताश्वतरोपनिषद (३/८) में भी पाया जाता है—*तमेवं विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।* अर्थात् उसे (परमेश्वरको) ही जानकर पुरुष मृत्युको पार करता है, इसके अतिरिक्त परमपद-प्राप्तिका कोई और मार्ग नहीं है।

और भी, *य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति* (श्वे० ३/१०)। अर्थात् जो उन परमेश्वरको जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं तथा अन्य दुःखको ही प्राप्त होते हैं।

इन वाक्योंसे पूर्वपक्षीके संशयका निरसन होता है कि श्रीहरिके अतिरिक्त वज्र अथवा प्राणवायुको जाननेसे किसीकी भी मोक्ष-प्राप्ति सम्भव नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें श्रीकपिलदेवने कहा है—

मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्॥
(श्रीमद्भा० ३/२५/४२)

मेरे ही भयसे वायु चलती है, मेरे ही भयसे सूर्य तपता है, इन्द्र मेरे ही भयसे वारि वर्षण करते हैं, अग्नि मेरे ही भयसे दहन करता है और मृत्यु मेरे ही भयसे अपने कार्यमें प्रवृत्त होती है।

और भी,

यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात्।
यद्भयाद्वर्षते देवो भगणो भाति यद्भयात्॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२९/४०)

इसीके भयसे वायु चलती है, इसीके भयसे सूर्य ताप प्रदान करता है, इन्द्र वर्षण करता है और तारे भी इसीके भयसे प्रदीप्त होते हैं॥ ३९॥

सूत्र—ज्योतिर्दर्शनात्॥ ४०॥

सूत्रार्थ—'ज्योतिः'—'न तत्र सूर्यो भाति' इत्यादि, इसके पूर्व श्रुतिमें ज्योतिः पदार्थके विषयमें बताया गया है और परवर्ती श्रुतिमें 'भयादस्याग्निस्तपति' में भी उस ज्योतिकी उक्ति सुनी जाती है। 'दर्शनात्' इसलिए दीप्ति एवं भय शब्दोंके द्वारा बोध्य तेजविशेषमात्र परमेश्वरनिष्ठ होनेसे इस तेज शब्दको देखकर दोनों श्रुतियोंके मध्यवर्ती वज्र श्रुति भी परमेश्वर तात्पर्यमें प्रयुक्त है, यह निश्चय करना उचित है॥ ४०॥

सूत्रानुवाद—उक्त प्रकरणका वर्ण्य ज्योतितत्त्व ब्रह्म ही है, क्योंकि सभी जगह उसका ब्रह्मके रूपमें विवेचन किया गया है। जो शब्द ब्रह्मके स्थानपर कहे जायेंगे, वे सभी ब्रह्मवाचक ही होंगे, यह निश्चित है॥ ४०॥

गोविन्दभाष्य—*'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारके'* (कठ॰ ३/२/१५) इत्यादिकमितः प्राक् श्रुतम्। *'भयादस्याग्निस्तपति'* (कठ॰ २/३/३) इत्यादिकं परत्र। तत्रोभयत्रापि ब्रह्मैकान्तस्य ज्योतिषस्तेजसा। दर्शनादन्तरालेऽपि ब्रह्मैव वज्र-शब्दादवधारणीयम्॥ ४०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जहाँ (उन ब्रह्मके समक्ष) सूर्य भी प्रकाशक नहीं है, चन्द्र एवं तारे इत्यादि किसीका भी प्रकाश नहीं है इत्यादि श्रुति (कठ॰ २/२/१५) पहले सुनी जाती है, और इसके बाद भी *'भयादस्याग्निस्तपति'*—उसके भयसे अग्नि ताप देता है—इन दोनों श्रुतियोंमें ही साधारण भास और भय शब्दसे प्रतिपाद्य असाधारण

ब्रह्मके तेज (ज्योति) का वर्णन रहनेसे दोनों श्रुतियोंके मध्यगत वज्र श्रुतिमें वज्र शब्दसे जो भयङ्कर वस्तु कही गयी है, वह परमेश्वर है, यह निश्चय करना होगा॥ ४०॥

सूक्ष्मा-टीका—ज्योतिरिति। *'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारके नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'* इति वाक्यं यदिदं किञ्चिदित्यतः पूर्वं श्रूयते। *'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चम'* इति वाक्यन्तु तस्मात् परत्र श्रूयते। तत्रोभयत्रापि ब्रह्मसाधारणस्य भासभयशब्दबोधस्य तेजसः प्रभावस्य दर्शनान्मध्यगतं वज्रशब्दोक्तं भयङ्करं वस्तु ब्रह्मैवेत्यर्थः। अत्र ज्योतिः पारमैश्वर्यं बोध्यम्॥ ४०॥

सूक्ष्मा-सार— *'न तत्र सूर्यो न चन्द्रतारकम्'* इत्यादि श्रुति (कठ० २/२/१५) का अवशिष्टांश इस प्रकार है—*'नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'* अर्थात् उन परमेश्वरको सूर्य प्रकाशित नहीं करता, चन्द्रनक्षत्र भी नहीं करते। यह प्रकाशमान विद्युत् भी उनका प्रकाशक नहीं है। अग्नि भी नहीं है, तब और क्या कहा जाय? वे ही मात्र सबके प्रकाशक हैं, उनके प्रकाशसे ही सबका प्रकाश है, यह वाक्य *'यदिदं किञ्चित्'* इत्यादि (२/३/२) श्रुतिके पूर्व सुना जाता है। पुनः *'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।'*—यह वाक्य उक्त श्रुतिके बाद सुना जाता है। इसका अर्थ है—उन परमेश्वरके भयसे अग्नि तापित होता है। सूर्य किरण देता है, इन्द्र, वायु प्रत्येक ही उनके भयसे कार्य करते हैं। कृतान्त इनके भयसे दौड़ता है। इन दोनों श्रुतियोंमें प्रकाशकत्व और भीतिप्रदत्व धर्म ब्रह्मनिष्ठ हैं, इन भासन एवं भीति शब्दसे बोध्य तेज अथवा प्रभावका ज्ञान होनेसे दोनों श्रुतियोंके मध्यगत इस वज्र श्रुतिके अन्तर्गत वज्र शब्द वाच्य भयङ्कर वस्तु ब्रह्मबोधक ही है, इसमें जो ज्योतिः शब्दका प्रयोग है, उसका अर्थ परमेश्वर अथवा सर्वनियन्तृत्व है॥ ४०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कठोपनिषदमें पहले तो वर्णन है—*'न तत्र सूर्यो भाति'* (कठ० २/२/१५) और बादमें ही वर्णन है *'भयादस्याग्निस्तपति'* (कठ० २/३/३)। इन दोनों श्रुतियोंके मध्य *'यदिदं किञ्च सर्वम्'* (कठ०

२/३/२) श्रुति वज्रका वर्णन करती है, पहले और बादमें जब ब्रह्ममात्रका बोध करानेवाली ज्योतिः एवं भय शब्द ब्रह्मको ही लक्ष्य करते हैं, तब मध्यवर्ती स्थानमें भी वज्र शब्दमें उक्त भयङ्कर वस्तु वे ब्रह्म हैं, यह अवधारण (निश्चय) करना होगा। कारण समस्त तेजोंकी कारणीभूत ज्योतिः परब्रह्मके अतिरिक्त कोई और हो नहीं सकता।

श्रीमद्भागवतमें है—

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/३/२४)

माता देवकीने कहा—हे देव! वेदोंने जिस अव्यक्तरूपको जगत्का कारण बतलाया है, ब्रह्म, ज्योतिर्मय, मायारहित, निर्विकार, निर्विशेष, केवलस्वरूप कहकर वर्णन किया है, आप उसी बुद्धि आदिके प्रकाशक साक्षात् विष्णु हैं॥४०॥

११—आकाशाधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—‘*आकाशो ह वै नामरूपयोनिर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा*’ (छा॰ ८/१४/१) इति श्रुतं छान्दोग्ये। तत्राकाशशब्देन संसारबन्धाद्विनिर्मुक्तो जीवात्मोच्यते परमात्मा वेति सन्देहे। ‘*अश्व इव रोमाणि विधुय पापम्*’ (छा॰ ८/१३/१) इत्यादिना पूर्व मुक्तस्य प्रकृतत्वात् ते यदन्तरेति (छा॰ ८/१४/१) नामरूपविमुक्तस्याभिधानात् तस्यापि भूतपूर्वगत्या तन्निर्वोढृत्व-सम्भवादसङ्कुचितप्रकाशशब्दस्यापि तत्रोपपत्तेश्च विमुक्तात्मेह प्रतिपाद्यते ‘*तद्ब्रह्म तदमृतम्*’ (छा॰ ८/१४/१) इति तदवस्था विमृष्टेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—छान्दोग्योपनिषदमें सुना जाता है ‘*आकाशो ह वै ... स आत्मेति*’ (८/१४/१)—आकाश ही विश्वप्रपञ्चके नाम एवं रूपका निर्वाहक है अर्थात् उससे ही समस्त नामरूप उत्पन्न हुआ है। जो नामरूपके बिना ही वर्त्तमान है अर्थात् जो नामरूपसे विनिर्मुक्त हैं, वे ही ब्रह्म हैं, वे ही नित्य अमृत हैं, वे ही आत्मा हैं। इस श्रुतिमें उक्त आकाश शब्दका वाच्य कौन है? संसार-बन्धनसे मुक्त जीवात्मा?

अथवा परमात्मा–परमेश्वर? इस संशयपर पूर्वपक्षीका मन्तव्य है कि यहाँ आकाश शब्दसे विमुक्त आत्मा वाच्य है, कारण श्रुति कहती है—*'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्'* (छा० ८/१३/१) इत्यादि, अश्व जिस प्रकार रोमोंको कम्पित करता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान प्रभावसे जीव समस्त पापोंको त्यागकर मुक्त हो जाता है, इत्यादि श्रुतिमें पहले मुक्तपुरुषका विषय आरम्भ हुआ है। इसके बाद उस श्रुतिस्थ *'ये यदन्तरा'* (छा० ८/१४/१) ये नामरूप जिसे छोड़कर रहते हैं, यह कहनेसे नामरूपसे विमुक्त जीवको ही जाना जाता है, इस मुक्त जीवात्माका नामरूप निर्वाहकत्व भूतपूर्व अवस्थानुसार (गति द्वारा) सम्भव है, इसके अतिरिक्त आकाश शब्दका अर्थ अबाधित (असङ्कुचित) प्रकाशशालित्व धर्म उन मुक्तात्मामें युक्तियुक्त है। अतएव इन सब कारणोंसे इस श्रुतिस्थ आकाश शब्दका वाच्य विमुक्त आत्माको ही कहा जायेगा। तब जो *'तद् ब्रह्म तदमृत'* (छा० ८/१४/१) कहा गया है, वह भी मुक्त जीवकी मुक्तावस्थाका ही वर्णन है। पूर्वपक्षके इस मन्तव्यपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्र प्राणशब्दितत्वादिकं वज शब्दस्य ब्रह्मपरत्वे यथा गमकं तथाकाशशब्दस्य तत्परत्वे गमकं किञ्चिन्नास्तीति प्रत्युदाहरण–सङ्गत्याहाकाशेत्यादि। तद्ब्रह्म तदमृतमित्यादेर्मुक्तजीवेऽपि सम्भवादित्याशयः। आकाशो हेत्यस्यार्थः। आकाशो ब्रह्मैव। ह वै निश्चये। नामरूपयोर्निर्वहिता निर्वाहकृत्। ते नामरूपे संज्ञादिविमुक्तस्याकाशस्यान्तरा मध्ये स्तः यद्वा ते द्वे यदन्तरा यद्विना स्तः ताभ्यां यदस्पृष्टम् इत्यर्थः। तस्यापीति मुक्तजीवस्य—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले प्राण शब्दसे शब्दित्व इत्यादिको अनुमापक रूपमें वज्र शब्दका जिस प्रकार ब्रह्ममें तात्पर्य दिखाया, उसी प्रकार आकाश शब्दकी ब्रह्मपरतामें अनुमापक कुछ भी नहीं है, इस प्रत्युदाहरण सङ्गतिको ग्रहण करके कहते हैं—*'आकाशेत्यादि।'* *'तद्ब्रह्म तदमृतम्'* इत्यादि श्रुतिकी उक्ति मुक्त जीवमें भी सम्भव है—यह अभिप्राय है। *'आकाशो ह'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है आकाश अर्थात् ब्रह्म ही, श्रुतिमें उक्त 'ह' शब्दका अर्थ निश्चय है। *'कर्मवशात् नामरूपे भजतः'*—इसमें युक्ति है—नामरूपका निर्वाह करनेवाला। ये

नाम और रूप संज्ञादिरहित आकाशमें रहते हैं, अथवा इसका अर्थ इस प्रकार है—ये नाम और रूप इन दोनोंके बिना जो रहता है अर्थात् जो ब्रह्म नाम और रूपसे असंपृक्त है। *'तस्यापि'*—उस मुक्त जीवका भी—

सूत्र—आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्॥ ४१॥

सूत्रार्थ—'आकाशः'—इस श्रुतिके अन्तर्गत आकाश शब्दका अर्थ परमेश्वर है, कारण क्या है? उत्तर—'अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्' क्योंकि नामरूप निर्वाहकत्व धर्म मुक्तावस्थ जीवके अतिरिक्त अन्य आकाशको ज्ञात कराता है, इसका कारण है बद्धावस्थामें अर्थात् मुक्तावस्थाके पूर्व जीवमें यह नामरूप निर्वाहक शक्ति नहीं रहती, तब कर्मवश जीव नामरूपका भोग करता है, स्वेच्छानुसार नामरूप ले नहीं सकता, मुक्तावस्थामें भी उस जीवकी जगत्-निर्माणादिसे भिन्न अन्य कार्यमें स्वाधीनता है, यह बादमें वर्णन होगा॥ ४१॥

सूत्रानुवाद—आकाशका अर्थ परब्रह्म है, क्योंकि उसे नामरूप जगत्से पृथक् वस्तु बताया गया है॥ ४१॥

गोविन्दभाष्य—इहाकाशः परमात्मैव न मुक्तजीवः। कुतः? अर्थान्तरेति। अयमर्थः—नामरूपनिर्वोढृत्वं किल मुक्तावस्थाज्जीवादन्यमाकाशं साधयति। बद्धावस्थं तं खलु कर्मवशात् नामरूपे भजतः। स्वयन्तु तन्निर्वोढृत्वे न शक्तः। मुक्तावस्थस्य तु तस्य तत्र जगद्व्यापारवर्ज्यमिति वक्ष्यमाणात् परमात्मनस्तु जगन्निर्म्मितुषु क्षमस्य श्रुत्यैव तदुक्तम्। *'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'* (छा॰ ६/३/२) इत्यादिना। तस्मात् परमात्मैवेह बोध्यः। आदिशब्दात् निरुपाधिकबृहत्त्वादिरूपं ब्रह्मत्वादि। यत्तु पूर्वं मुक्तः प्रकृत इत्युक्तं तन्न ब्रह्मलोकमिति (छा॰ ८/१३/१) परमात्मनः प्रकृतत्वात् आकाशशब्दश्च व्यापकत्वादसङ्गत्वाच्च परमात्मनि प्रयुक्तः प्रसिद्धश्च तत्रैवेति॥ ४१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—यहाँ शङ्काका निरसन करते हुए कहते हैं कि श्रुतिमें उक्त आकाश पद परमात्माका बोधक है, मुक्त जीवका नहीं। किस कारणसे? *'अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्'*—इसका तात्पर्य है कि जागतिक पदार्थोंकी नामरूप रचनाशक्ति मुक्तावस्थामें उपनीत जीवमें सम्भव नहीं है, अतएव इससे भिन्न आकाश पद वाच्य बता रहे हैं।

इस विषयमें युक्ति यह है—जीव बद्धावस्थामें रहते हुए कर्मवशतः नामरूपको प्राप्त होता है, अन्यथा जीव स्वयं उन नामरूपका निर्वाह नहीं कर सकता। तब जो मुक्त जीवकी क्षमता सुनी जाती है, वह जगत्-सृष्टि व्यापारका परित्याग करके अन्य विषयक व्यापारके सम्बन्ध है, यह बादमें कहा जायेगा।

किन्तु परमेश्वर जगत्-निर्माण कार्यमें सर्वदा ही समर्थ हैं, श्रुति भी उनकी इस विषयमें स्वतन्त्रता बतला रही है। यथा *'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'* (छा॰ ६/३/२) में 'जीवात्मारूपमें विश्वमें प्रविष्ट होकर नामरूपकी अभिव्यक्ति करता हूँ' इत्यादि। अतएव परमेश्वर ही यहाँ आकाश पद वाच्य हैं। सूत्रोक्त आदि शब्दसे उनका निरुपाधिकत्व, बृहत्त्वादिरूप ब्रह्मत्व और नामरूपादि निर्वाहकत्व जानना होगा। यदि कहो कि मुक्त जीवका वर्णन ही प्रक्रान्त है, तो ऐसा नहीं है क्योंकि 'ब्रह्मलोकम्' इस ब्रह्मलोक शब्दसे परमेश्वर ही प्रक्रान्त हैं। आकाश शब्द जो परमेश्वरमें प्रयुक्त होता है, वह उन परमेश्वरके व्यापकत्व और निर्लिप्तत्वके कारण ही। आकाश शब्दकी परमात्मा अर्थमें ही प्रसिद्धि है॥ ४१ ॥

सूक्ष्मा-टीका—इहेति। जगन्निर्मितीति। सत्यसङ्कल्पयोगादिति भावः। प्रसिद्धश्च को ह्येवान्यादित्यादौ॥ ४१ ॥

सूक्ष्मा-सार—*'परमात्मनस्तु जगन्निर्मितिक्षमस्य'*—वे सत्यसङ्कल्पवशतः जो इच्छा करते हैं, वैसा ही हो जाता है, इसलिए वे जगत्के निर्माणमें समर्थ हैं। आकाश शब्दकी परमेश्वरमें प्रसिद्धि *'को ह्येवान्यादित्यादि'* (तै॰ २/७) श्रुतिमें है॥ ४१ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—छान्दोग्योपनिषदमें श्रुति है—*'आकाशो ह वै नामरूपयोनिर्वाहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा'* (छा॰ ८/१४/१)। यहाँ पूर्वपक्षी कहते हैं, यह 'आकाश' शब्द मुक्तजीवमें ही उपपन्न (प्रमाणित) है। वही ब्रह्म है, वही अमृत है। सूत्रकारने पूर्वपक्षका निरसन करते हुए प्रस्तुत सूत्रमें कहा है—आकाश शब्दके अर्थान्तर (भिन्नता) के उल्लेखके कारण आकाश शब्दसे परमात्माको ही जानें, मुक्त जीवको नहीं। बद्धजीव कर्माधीन होकर नाम एवं

रूपका भजन (अनुसरण) करता है। स्वयं नाम, रूपका निर्वाहक नहीं हो सकता। मुक्तावस्थामें भी जीवकी जगत्-निर्माणादि कार्यको छोड़कर अन्यत्र स्वाधीनता देखी जाती है। परमेश्वर श्रीहरि ही सर्वदा जगत्-निर्माणादि कार्यमें समर्थ हैं। श्रुतिमें कहा है—'मैं जीवरूपसे विश्वके मध्य अनुप्रविष्ट होकर नाम एवं रूपका प्रकाश करता हूँ' इत्यादि। और भी, अर्थान्तरत्वादि शब्दके आदि शब्दके द्वारा निरुपाधिक बृहत्त्वादि धर्मोंको ब्रह्मका ही धर्म जानना चाहिये। अतएव इस स्थलपर आकाश शब्द परमात्माका ही ज्ञान कराता है। पूर्वपक्षी यदि कहते हैं कि यहाँ मुक्तजीव ही प्रक्रान्त विषय है, तो ऐसा नहीं है क्योंकि 'ब्रह्मलोक' शब्दसे यहाँ परमात्मा ही प्रक्रान्त विषय हैं। आकाश शब्द व्यापकत्व एवं असङ्गत्व गुणोंके प्रयोगके कारण परमात्माके लिए ही प्रयुक्त हो सकता है, जीवमें उसकी सङ्गति नहीं हो सकती, यह प्रसिद्ध है।

श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है—

यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः।
अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत्तन्नतोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा॰ ६/१६/२३)

जो ब्रह्म आकाशके समान निर्लिप्त भावसे सम्पूर्ण वस्तुओंके बाहर-भीतर व्याप्त हैं, मन, बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियाँ जिन्हें अपनी ज्ञानशक्तिसे जान नहीं सकती तथा प्राणशक्ति जिनका स्पर्श नहीं कर सकती, मैं ऐसे आपको नमस्कार करता हूँ।

इस प्रसङ्गमें *'आकाशस्तल्लिङ्गात्'* (ब्र॰सू॰ १/१/२२) भी द्रष्टव्य है।

तैत्तिरीय श्रुतिमें देखा जाता है—*को ह्येवानात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्* (तै॰ २/७)॥४१॥

११—सुषुप्त्युत् क्रान्त्यधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—स्यादेतत्, मुक्तादपि जीवादर्थान्तरं ब्रह्मेति नोयुक्तं क्षोदाक्षमत्वात्। तथाहि बृहदारण्यके (४/३/७) *'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः पुरुषः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः स समानः सन्नूभौ लोकावनुसञ्चरति'* इत्यादिना

बद्धावस्थं जीवमुपक्रम्य *'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमय'* (बृ॰आ॰ ४/४/५) इत्यादिना तस्यैव ब्रह्मत्वं परामृश्यते। परत्रापि *'अथाकामयमानः'* (बृ॰आ॰ ४/४/६) इत्यादिना मुक्तावस्थेति विमृश्य *'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'* इति तस्य तथात्वं निश्चीयते तथान्तेऽपि *'अभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेद'* (बृ॰आ॰ ४/४/२५) इति फलोक्तिश्च। तदेवं सति यः क्वचिज्जीवब्रह्मणोर्भेदव्यपदेशः स खलु घटाकाश–महाकाशवदुपाधिकृतः स्यात् तद्विगमे परिच्छिन्नस्य जीवस्य महत्त्वं घटनाशे घटाकाशस्येव। विश्वकृत्त्वादि च तस्यैवेश्वरत्वात् तस्मान्नार्थान्तरं मुक्तजीपरद्ब्रह्मेत्याक्षिप्तौ पठति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद— *'स्यादेतदित्यादि'*, ऐसा होनेपर यह तो कहा जा सकता है कि जीवके मुक्त होनेपर उससे ब्रह्म स्वतन्त्र है, यह असङ्गत है, क्योंकि यह कथन विचारमें अयोग्य है। किस प्रकारसे? इसका उत्तर है कि बृहदारण्यकमें इसी प्रकार कहा गया है— *'कतम आत्मेति'* (४/३/७), आत्मा कौन है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं, *'योऽयं विज्ञानमयः पुरुषः .... लोकावनुसञ्चरति'* (४/४/५), जो विज्ञानघन आत्मा है, वह प्राणोंके मध्य हृदयमें ज्योतिरूपमें विराजमान है, जो इहलोक और परलोकमें समान भावसे विचरण करता है, इत्यादिके द्वारा बद्धावस्थ जीवको उपक्रम करके बादमें कहते हैं *'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयः'*, वह यह विज्ञानमय आत्मा ही ब्रह्म है, इत्यादिके द्वारा उस (बद्धावस्थ) जीवको ही ब्रह्मत्व रूपसे बोध कराया गया है। और बादमें भी *'अथाकामयमानः'* (बृ॰आ॰ ४/४/६) इसके बाद वह कामनाशून्य होता है, इत्यादि द्वारा उसकी ही मुक्तावस्था है, इस प्रकार सिद्धान्त करके *'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'*, ब्रह्म होकर ही मुक्तावस्था जीव ब्रह्मको प्राप्त होता है, इस उक्तिके (वचन) द्वारा उसका ब्रह्मत्व निर्धारित (निश्चित) है, मात्र इतना ही नहीं, अन्तमें भी *'अभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेद'* (४/४/२५)—जो इस प्रकार ब्रह्मज्ञान प्राप्त करता है, वह अभय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, यह कहकर फल भी बताया गया। अतएव इस प्रकारकी अवस्थामें किसी स्थलपर यदि जीव और ब्रह्मके भेदका उल्लेख कहा जाता है, तो वह घटाकाश–महाकाशके समान सोपाधिकत्व निरुपाधिकत्वरूप औपाधिक भेदजनितमात्र है। अर्थात्

जिस प्रकार घट-नाशके बाद घटाकाश महाकाशमें मिल जाता है, उसी प्रकार देहादि उपाधिके नाश होनेपर देशतः और कालतः परिच्छिन्न (सीमाबद्ध) जीव असीमत्व प्राप्त कर लेता है और विश्वसृष्टत्व इत्यादि धर्म भी उस मुक्तावस्थ ब्रह्मके ईश्वरत्वके प्राप्त होनेपर सम्भव हैं। अतएव मुक्त जीवसे ब्रह्म स्वतन्त्र नहीं है, इस आक्षेपके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकभाष्य टीका—स्यादेतदिति। अर्थान्तरं भिन्नमित्यर्थः। उभाविति। इहलोक परलोकावित्यर्थः। तथात्वमिति ब्रह्मत्वम्। फलोक्तिः ब्रह्म भूयायाप्तिवचनम्। क्वचित् द्वासुपर्णेत्यादिषु। तस्यैव ब्रह्मणः—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'जीवादर्थान्तरम्'*—अर्थान्तर अर्थात् भिन्न। *'उभौ लोकावनुसञ्चरति'*—दोनों लोक—इहलोक और परलोक। *'तस्य तथात्वम्'*—उस जीवका ब्रह्मत्व निर्णीत हुआ है। *'य एवं वेदेति फलोक्तिश्च'*—ब्रह्मभाव हेतु ब्रह्म-प्राप्तिका कथन है। *'क्वचिज्जीव ब्रह्मणो भेदावगमात्'*, क्वचित्—किसी-किसी स्थानपर यथा—*'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'* इत्यादि श्रुतिमें। *'तस्यैवेश्वरत्वात्'*—उस ब्रह्मका ही ईश्वरत्व कहा है।

सूत्र—सुषुप्त्युत् क्रान्त्योर्भेदेन॥ ४२॥

सूत्रार्थ—'सुषुप्ति'—सुषुप्ति और 'उत्क्रान्त्योः'—देहसे उत्क्रमणमें (मृत्युकालमें) भी, 'भेदेन'—जीवसे ब्रह्मका भेद रहता है। उक्त वाक्य सन्दर्भसे मुक्त जीव ब्रह्म हो सकता है, इस प्रकारका कथन सङ्गत नहीं है॥ ४२॥

सूत्रानुवाद—सुषुप्ति तथा मृत्युकालमें जीवात्मा तथा ब्रह्ममें भेद कहा गया है॥ ४२॥

गोविन्दभाष्य—व्यपदेशादित्यनुवर्त्तते। तस्मिन् वाक्यसन्दर्भे मुक्तजीवो ब्रह्म वेति न सम्भवति। कुतः? सुषुप्तावुत्क्रान्तौ च जीवाद्भेदेन ब्रह्मणो व्यपदेशात्। सुषुप्तौ तावत् *'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्'* (बृ॰आ॰ ४/३/२१) इति। उत्क्रान्तौ च *'प्राज्ञेनात्मना अन्वारूढ उत्सर्जन् याति'* (बृ॰आ॰ ४/३/३५) इति। उत्सर्जन्हिक्कशब्दं कुर्वन्। न च स्वपत उत्क्रमतो वा

अकिञ्चिज्ज्ञस्य तदैव प्राज्ञेन स्वेनैव परिष्वङ्गान्वारोहौ सम्भवेताम्। न च जीवान्तरेण तस्यापि सार्वज्ञ्याभावात्॥ ४२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—यहाँ इस सूत्रमें पूर्व सूत्रसे *'व्यपदेशात्'* इस पदकी अनुवृत्ति है। पूर्वोक्त वाक्यसन्दर्भमें पूर्वपक्षीका युक्ति-सिद्ध मुक्त जीव ब्रह्म भी हो सकता है, यह उक्ति सम्भव नहीं है, कारण? सुषुप्ति दशामें और उत्क्रान्ति स्थलपर जीवसे ब्रह्मके भेदका उल्लेख है। वह भेद किस प्रकार दिखाया है? सुषुप्तिकालमें जीव प्राज्ञ आत्माके साथ संश्लिष्ट होकर (मिलकर) रहता है, तब वह बाह्य किसी वस्तुको नहीं जान सकता और आन्तरिक वृत्तिका भी अनुभव नहीं कर सकता। पुनः उत्क्रान्ति (मृत्यु) कालमें भी जीव प्राज्ञ आत्माके द्वारा अधिष्ठित (परिचालित) होकर हिक्का शब्द (हिचकीका शब्द) करते हुए यहाँ शरीर त्याग करके चला जाता है। इस सुषुप्तिकाल अथवा उत्क्रमण (मृत्यु) कालमें जीवको कोई भी ज्ञान नहीं रहता। इस प्रकार एक ही प्राज्ञका स्वयंके द्वारा स्वयंका सञ्चालन और अधिष्ठान सम्भव नहीं हो सकता और अन्य जीवके द्वारा भी ये दोनों कार्य संघटित नहीं हो सकते, क्योंकि सञ्चालक अथवा अधिष्ठानकारक वह जीवान्तर सर्वज्ञ नहीं है। अतएव मुक्त जीव और परमेश्वर एक नहीं हैं॥ ४२॥

सूक्ष्मा-टीका—सुषुप्तीति। संपरिष्वक्तः समाश्लिष्टः। अन्वारूढोऽधिष्ठितः। तस्यापि जीवान्तरस्यापि॥ ४२॥

सूक्ष्मा-सार—सुषुप्तीत्यादि *'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः'*, संपरिष्वक्त अर्थात् आश्लिष्ट। अन्वारूढ—अधिष्ठित। *'तस्यापि सार्वज्ञयाभावात्'*, तस्य अर्थात् जीवान्तरका भी॥ ४२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई इस प्रकार आशङ्का करे कि ऐसा होनेपर मुक्तजीवसे ब्रह्म अर्थान्तर अर्थात् भिन्न है, यह विचारके अयोग्य होनेसे उपयुक्त नहीं है। कारण बृहदारण्यक श्रुतिमें कहा गया है—*'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमय पुरुषः प्राणेषु हृद्यन्तज्योतिः'* (बृ०आ० ४/३/७) श्रुतिके विचारमें बद्धावस्थ जीवको ही उपक्रम करके

'जो यह आत्मा विज्ञानमय ब्रह्म है' इत्यादि वाक्यमें बद्धजीवके ही ब्रह्मत्वका विचार हुआ है। बादमें 'मुक्तावस्थामें जीव ब्रह्मत्वको प्राप्त होता है' इत्यादि द्वारा ब्रह्मत्वका निश्चय करना होता है, अन्तमें वह अभय ब्रह्मस्वरूप होता है, इस प्रकार फलोक्ति भी देखी जाती है। किसी-किसी श्रुतिमें जो जीव और ब्रह्मका भेद कहा गया है, वह केवल घटकाश और महाकाशके समान औपाधिक भेदमात्र है। उपाधिके विगत होनेपर ही जीवकी ईश्वर-प्राप्तिमें विश्व-कर्त्तृत्वादि धर्मकी प्राप्ति होती है। अतएव मुक्तजीव ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, इस प्रकार आक्षेप होनेपर उसके समाधानके लिए सूत्रकार कह रहे हैं कि उक्त वाक्यके सन्दर्भके द्वारा मुक्तजीव ब्रह्म ही है, यह कहना सम्भव नहीं है, कारण सुषुप्ति (सोते हुए) और उत्क्रान्ति (मृत्यु) दशामें जीव और ब्रह्मके भेदका स्पष्ट उल्लेख है। सुषुप्तिकालमें प्राज्ञ आत्माका परमेश्वरके साथ मिलन होनेपर जीव बाह्य और अन्तर कुछ भी नहीं जान पाता और उत्क्रान्ति (मृत्यु) दशामें परमात्माके द्वारा अधिष्ठित होनेसे देह त्यागकर चला जाता है। दोनों ही प्रकारकी अवस्थाओंमें ही जीवके साथ परमात्माका अभेद रूपसे मिलन अथवा एकत्र अधिष्ठान सम्भव नहीं है। सर्वज्ञत्वादिके अभावके कारण भी जीवान्तरके साथ मिलन कहना भी सङ्गत नहीं होता। प्राज्ञ शब्द सर्वज्ञताका सूचक है। ब्रह्म ही सर्वज्ञ है, जीव सर्वज्ञ नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत्॥

(श्रीमद्भा॰ ७/७/३२)

अर्थात् सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीहरि समस्त प्राणियोंमें वर्त्तमान हैं—इस भावनासे सभी जीवोंके स्वरूप, स्थिति एवं उन विषयोंके अनुसार हृदयसे सबका यथोचित सम्मान करना चाहिये।

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः।
ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः॥

(श्रीमद्भा॰ ७/७/२५)

अर्थात् बुद्धिकी तीन वृत्तियाँ हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। इन तीनों वृत्तियोंका जिसके द्वारा अनुभव होता है, वही सबका अध्यक्ष, सबका नियन्ता पुरुष, परमात्मा है।

तदा पुमान् मुक्तसमस्तबन्धनस्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम्॥

अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम्।
तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधास्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम्॥

(श्रीमद्भा॰ ७/७/३६-३७)

अर्थात् उस समय वे समस्त भव-बन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं। उनके मन और शरीर भगवान्‌की लीलाओंका ध्यान करते-करते अप्राकृत सच्चिदानन्दमयता प्राप्त हो जाते हैं। भक्तिकी अतिशयताके कारण उनकी अविद्या आदि अज्ञान और जागतिक वासनाएँ सम्पूर्ण रूपसे दग्ध हो जाती हैं। और वे मुक्तजीव भलीभाँति भगवान्‌को प्राप्त कर लेते हैं। यह संसार, चक्रके समान परिवर्त्तनशील है। जो व्यक्ति केवल एक बार भी भगवान् वासुदेवका आश्रय ग्रहण कर लेता है, उसका संसार-चक्र नष्ट हो जाता है। मनके इस ईषत् ध्यानसे ही प्रेम-सेवा सुखरूपी मोक्ष प्राप्त हो जाता है—पण्डितोंका यही कहना है। इसलिए तुम सब अपने हृदयमें अन्तर्यामी परमेश्वरकी आराधना करो।

श्रीमद्भागवतमें और भी देखा जाता है—

यस्त्वत्र बद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा भूतेन्द्रियाशयमयीमवलम्ब्य मायाम्।
आस्ते विशुद्धमविकारमखण्डबोधमातप्यमानहृदयेऽवसितं नमामि॥

(श्रीमद्भा॰ ३/३१/१३)

अर्थात् जीव और भगवान्‌में वैशिष्ट्य है—जीव सेवक हैं, भगवान् सेव्य हैं। जीव शरणागत हैं, भगवान् शरण्य हैं। जो 'मैं' जननी-जठरके देहाकारमें परिणत मायाका आश्रय लेकर कर्म द्वारा आवृतस्वरूप होकर बद्धके समान अवस्थान करता हूँ और भगवान् जो अन्तर्यामीरूपमें मेरे साथ उस स्थानपर वास करते हैं, यह मुझमें और भगवान्‌में

वैशिष्ट्यगत भेद है। भगवान् स्थूल एवं लिङ्ग उपाधिसे रहित हैं अर्थात् उनके देह और देहीमें भेद नहीं है, वे अखण्ड ज्ञानस्वरूप हैं। हमारे सन्तप्त हृदयमें उनका यह रूप प्रकाशित हो। वे ही हमारे शरण्य हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ।

श्रीमद्भागवतमें श्रुति-स्तवमें देखा जाता है—

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता-
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८७/३०)

अर्थात् हे नित्यस्वरूप! अनन्त जीव यदि स्वरूपतः आपसे उत्पन्न न होकर नित्य एवं सर्वव्यापक होते, तो वे आपके द्वारा शासित नहीं हो सकते थे। आपसे उत्पन्न होनेपर ही उनका शासन सम्भव है। आप अग्नि-स्थानीय हैं और जीव आपसे चिनगारीके रूपमें उत्पन्न होते हैं। अतः आप उनके अपरित्यज्य कारण हैं, नियन्ता हैं और सर्वत्र अन्तर्यामीरूपमें समान भावसे अवस्थित हैं। आपका वह स्वरूप कैसा है, उसे जानना अत्यन्त कठिन है। जो लोग ऐसा समझते हैं कि मैंने जान लिया है, वे अज्ञानी हैं। उन्होंने आपको यथार्थ रूपमें न जानकर अपनी बुद्धिके विषयको ही जाना है, आप तो उससे परे हैं। साथ ही बुद्धिकी भिन्नताके कारण ही भिन्न-भिन्न मति होती हैं, इसलिए उनकी दुष्टता, एक मतके साथ दूसरे मतका विरोध स्पष्ट ही है। अतएव आपका स्वरूप समस्त मतवादोंसे परे है।

श्रुति-स्तवमें *'दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय'* (श्रीमद्भा॰ १०/८७/२१) श्लोकमें श्रीधरस्वामिके द्वारा उद्धृत सर्वज्ञ भाष्यकार व्याख्यामें पाया जाता है—*'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते।'*

इस प्रकार विवेच्य वाक्यमें ब्रह्मको ही लक्ष्य किया गया है।

श्रीचैतन्यचरितामृत (म॰ १८/११५) में भी देखा जाता है,

येई मूढ़ कहे,—'जीव', 'ईश्वर' हय सम।
सेइ त 'पाषण्डी' हय, दण्डे तारे यम॥

अर्थात् श्रीमन्महाप्रभुने आगे कहा—जो मूर्ख लोग जीव एवं ईश्वरको समान कहते हैं, वे पाखण्डी हैं और उन्हें यमसे दण्ड मिलता है॥ ४२॥

अवतरणिका भाष्य—ननु नैतावताभीष्टसिद्धिरौपाधिकभेदाभ्युपगमादिति चेत् तत्राह—

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादे
श्रीबलदेवकृतमवतरणिका-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि इससे भी तो तुम्हारा अभिप्रेत अर्थात् तुम्हारा जो वक्तव्य है कि मुक्त जीव और ब्रह्ममें भेद है, यह सिद्ध नहीं हुआ, कारण यह भेद तो औपाधिक है, वास्तविक नहीं। यह यदि कहो, तो कहते हैं—

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके तृतीय पादके
श्रीबलदेवकृत गोविन्दभाष्यकी अवतरणिकाका अनुवाद समाप्त॥

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। एतावता सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्जीवब्रह्मभेद-प्रतिपादनेन नाभीष्टसिद्धिर्मुक्तजीवाद्ब्रह्मणो भेदसिद्धिर्नेत्यर्थः। तत्र हेतुरौपाधिकेति। अस्मत्सिद्धान्तेऽप्याविद्यिके भेदस्वीकारादित्यर्थः।

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादे
श्रीबलदेवकृत-अवतरणिका-भाष्यस्य सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—यहाँ तकके प्रबन्धके द्वारा सुषुप्ति एवं उत्क्रमण (मृत्यु) अवस्थामें जीव एवं ब्रह्मका भेद प्रदर्शित किया गया, तो भी तुम्हारी अभीष्ट सिद्धि अर्थात् मुक्तजीवसे ब्रह्मका पार्थक्य है, इसकी सिद्धि नहीं हुई। *'न चौपाधिकत्वं भेदस्य इति'* मुक्त जीव और ब्रह्मका जो पार्थक्य दिखाया है, वह औपाधिक कहा जायेगा, क्योंकि हमारा सिद्धान्त भी आविद्यिक है अर्थात् अविद्याजनित भेद स्वीकृत ही है, 'नचेत्यादि' द्वारा पूर्वपक्षीका यह आशय जानना चाहिये।

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके तृतीय पादके
श्रीबलदेवकृत अवतरणिका भाष्यकी टीकाका अनुवाद समाप्त॥

सूत्र—पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादे सूत्रं समाप्तम्॥

सूत्रार्थ—'पत्यादिशब्देभ्यः'—बादमें इस श्रुतिके अन्तिम भागमें पठित पति इत्यादि शब्दोंसे भी दोनोंके (जीव एवं ब्रह्मके) भेदसे अवगत हुआ जाता है। यथा 'स वा अयमात्मा ... असम्भेदाय' (बृ॰आ॰ ४/४/५, ४/४/२२)॥ ४३ ॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके तृतीय पादके सूत्रार्थ समाप्त॥

सूत्रानुवाद—परब्रह्मके लिए श्रुतिमें पति, परमपति इत्यादि शब्दोंका प्रयोग होनेके कारण जीवात्मा और परब्रह्म परमात्माका भेद सिद्ध है॥ ४३ ॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके तृतीय पादके सूत्रानुवाद समाप्त॥

गोविन्दभाष्य—तत्रैवोत्तरत्र पत्यादयः शब्दाः पठ्यन्ते—*'स वा अयमात्मा* (बृ॰आ॰ ४/४/५) *सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः* (बृ॰आ॰ ४/४/२२) *सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च स न साधुना कर्मणा भूयान्न वासाधुना कनीयानेष भूताधिपतिरेष लोकेश्वर एष लोकपालः स सेतुर्विधारण एषां लोकानामसम्भेदाय'* इत्यादिना। तेभ्यो मुक्तजीवादन्यद् ब्रह्मेति विज्ञायते। न हि सर्वाधिपत्यं सर्वप्रशासनादिकं वा मुक्तजीवस्य शक्यं वक्तुं *'जगद्व्यापारवर्ज्यम्'* इति प्रतिषेधात्। *'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्'* (तै॰ब्रा॰ ३/११/१७) इति तैत्तिरीयके ब्रह्मण एव तच्छ्रवणात्। न चौपाधिकत्वं भेदस्य तस्य मुक्तावपि श्रवणात्। अंशाधिकरणे (२/३/४२) तु तथात्वं परिहरिष्यामः। अयमात्मा ब्रह्मेत्यत्र (बृ॰आ॰ २/५/१९) जीवस्य तदुक्तिस्तद्गुणांशयोगात्। ब्रह्मैव सन्नित्यत्र (बृ॰आ॰ ४/४/६) तु आविर्भावितगुणाष्टकेन ब्रह्मसदृशः सन्नित्येवार्थः। *'परमं साम्यमुपैति'* (मु॰ ३/१/३) इत्यादि श्रवणात् ब्रह्मभावोत्तरभावित्वाच्च ब्रह्माप्ययस्येति पूर्वमभाषि। तदेवं बद्धमुक्तोभयावस्थात् जीवात् ब्रह्मणो भेदसिद्धौ नामरूपनिर्वोढाऽकाशो न मुक्तजीवः किन्तु परमात्मैवेति सिद्धम्। *'नेतरोऽनुपपत्तेः'* (१/१/१६) *'भेदव्यपदेशाच्च'* (१/३/५) इत्यत्र यत् शङ्कानिदानं तदिहैवोक्तमिति पुनरुक्तिर्मुक्तिकालिकभेदाभ्यासात् न दोष इत्यपरे॥ ४३ ॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादे
श्रीबलदेवकृतं मूल-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—'तत्र'—इसी श्रुतिमें ही 'उत्तरत्र'—अन्तिम भागमें पति इत्यादि शब्द पढ़े जाते हैं। यथा *'स वा अयमात्मा ..... असम्भेदाय।'* यह आत्मा सबका स्वामी, सबका नियन्ता, सबका अधिपति है और वही सबपर शासन करता है। वह जो कुछ भी है, वह साधु कर्मोंके द्वारा बड़ा नहीं होता और असाधु कर्मोंके द्वारा छोटा नहीं होता। वह प्राणियोंका अधिपति है, वह लोकपाल है, वह लोकनियन्ता है, वह लोक-संस्थाका सेतु है, जिससे इन सबकी शृङ्खला भङ्ग न हो, इसके लिए वह सबका विशेष रूपसे धारक है। अतएव इन सब वचनोंसे जाना जाता है कि ब्रह्म जीवसे भिन्न है। इन सभी वाक्योंमें वर्णित सर्वाधिपत्य और सर्वप्रशासनादि कार्य मुक्तजीवके लिए नहीं कहे जा सकते, क्योंकि श्रुतिमें ही मुक्तजीवकी जगत्-व्यापारके अतिरिक्त अन्यत्र स्वतन्त्रता कही गयी है। तैत्तिरीय श्रुति (३/११/१०) में *'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्'* ब्रह्मके सम्बन्धमें सुना जाता है कि वह जीवके शरीरके मध्यमें प्रवेश करके उनपर शासन करता है। भेदको औपाधिक भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मुक्तिमें भी इस भेदकी बात सुनी जाती है।

अंशाधिकरणमें जीवके औपाधिकत्वका हम खण्डन करेंगे। तब जो *'अयमात्मा ब्रह्म'* (बृ॰आ॰ २/५/१९)—यह आत्मा ही ब्रह्म है, इस उक्तिमें जीवके ब्रह्मत्वकी उक्ति है, इसका तात्पर्य है—जीवमें ब्रह्मका आंशिक गुण रहता है। और *'ब्रह्मैव सन्नित्यत्र'* (बृ॰आ॰ ४/४/६), यहाँ भी कहा है कि ब्रह्मरूपको प्राप्त करके जीव ब्रह्मको प्राप्त होता है, यहाँ जीवके गुणाष्टक आविर्भूत होनेपर वह ब्रह्म सदृश होता है, इस प्रकारका अर्थ ही प्रकाशित होता है। *'परमं साम्यमुपैतीत्यादि दिव्यम्'* (मु॰ ३/१/३)—परम दिव्य ब्रह्मके सादृश्यको प्राप्त होता है, इस वर्णनके द्वारा पुनः ब्रह्मभाव प्राप्तिकी परवर्ती अवस्थाकी प्राप्तिका वर्णन होनेसे *'ब्रह्माप्ययस्य'* यह श्रुतिके पहले भी कहा गया है। अतएव इस प्रकारसे बद्धावस्थ और मुक्तावस्थ—दोनों ही प्रकारके जीवोंसे

ब्रह्मका भेद सिद्ध होनेसे नामरूपका निर्वाहक आकाश वह मुक्तजीव नहीं है, बल्कि परमेश्वर है, यह सिद्ध हुआ। यदि कहो, *'नेतरोऽनुपपत्तेः'* (ब्र॰सू॰ १/१/१६) इस सूत्रके द्वारा और *'भेदव्यपदेशात्'* के द्वारा भी तो जीव एवं ब्रह्मका पार्थक्य वर्णित हुआ है, तब फिर उसका यहाँ कथन क्यों? तो इसका उत्तर यह है कि पूर्वोक्त दोनों सूत्रोंमें वर्णित समाधान जिस शङ्काके ऊपर हुआ है, उस शङ्काका मूल कारण यहाँ कहा गया है, इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं है। इसका कारण है कि मुक्तिकालमें भी जीवका ब्रह्मसे भेद रहता है, इसीकी बार-बार आवृत्ति की गयी है—कुछ लोग ऐसी व्याख्या करते हैं॥ ४३॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके तृतीय पादके
श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यका अनुवाद समाप्त॥

सूक्ष्मा-टीका—तत्रैवेति। तच्छ्रवणात् सर्वाधिपत्याद्युक्तेः। तथात्वमौपाधिकत्वम्। तदुक्तिर्ब्रह्मत्वोक्तिः। ननु तद्भेद आनन्दमयाधिकरणे दर्शितोऽस्त्यत्र पुनस्तदुक्तिः पौनरुक्तमिति चेत्तत्राह नेतर इत्यादि। सङ्गत्यस्तरमाह मुक्तिकालिकेति॥ ४३॥

इति श्रीश्रीव्यसदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादे
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यव्याख्याने श्रीबलदेवकृत-सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

सूक्ष्मा-सार—तत्रैव *'ब्रह्मण एव तच्छ्रवणात्'*—तैत्तिरीयोपनिषदमें ही ब्रह्मका सर्वाधिपत्य इत्यादि सुना जाता है। *अंशाधिकरणे तु तथात्वं* अर्थात् औपाधिकत्व। *'जीवस्य तदुक्तिः'* मुक्त जीवके ब्रह्मत्वका कथन है। यदि कहो, पहले (प्रथम पादमें) आनन्दमयाधिकरणमें तो जीव और ब्रह्मका भेद देखा जाता है और यहाँ इस भेदका कथन पुनरुक्ति दोषग्रस्त है, इसमें उत्तर है—*'नेतरोऽनुपपत्तेः'* इत्यादि। अथवा अन्य और युक्ति दिखा रहे हैं—*'मुक्तिकालिक भेदाभ्यासात्'* मुक्तिकालीन जीवका जो भेद रहता है, वह पुनः-पुनः कहनेके अभिप्रायसे यह उक्ति है—कुछ लोग ऐसा कहते हैं॥ ४३॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके तृतीय पादके
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यकी व्याख्यामें श्रीबलदेवकृत
सूक्ष्मा-टीकाका अनुवाद समाप्त॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्षी यदि कहते हैं कि तुम्हारी यहाँ तक की बातोंसे तो अभीष्ट अर्थात् मुक्तजीव और ब्रह्मका भेद सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि भेद तो औपाधिकमात्र है। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि, इस श्रुतिमें बादमें पत्यादि शब्द कहे जानेके कारण मुक्तजीवको ही ब्रह्मसे भिन्न रूपमें निर्देश किया गया है।

बृहदारण्यक श्रुतिमें *'स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा'* इत्यादि (बृ॰आ॰ २/५/१५) वाक्यमें एवं अन्यान्य श्रुतिवाक्योंमें ब्रह्मको मुक्तजीवसे भिन्न सुना जाता है। इस विषयमें भाष्य एवं टीका द्रष्टव्य है।

और जिस भेदको औपाधिकमात्र कहा जा रहा है, वह भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि मुक्तिमें भी जीव एवं ईश्वरका भेद सुना जाता है।

तब जो किसी-किसी स्थलपर जीवको ब्रह्म कहा गया है, वह केवल इसीलिए कि ब्रह्मके आंशिक गुण जीवमें हैं। और जो जीव ब्रह्म होकर ब्रह्मको प्राप्त करता है, उसका अर्थ है कि वह मात्र आविर्भावित गुणाष्टक द्वारा ब्रह्मका सादृश्य प्राप्त करता है। अतः बद्ध एवं मुक्त सभी अवस्थाओंमें ही जीव ब्रह्मसे भिन्न है और यहाँ आकाश शब्दसे परमात्माको ही जानना होगा, मुक्तजीवको नहीं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

स एष आत्मात्मवतामधीश्वर-
स्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः।
गतव्यलीकैरज-शङ्करादिभि-
र्वितर्क्यलिङ्गो भगवान् प्रसीदताम्॥

श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापति-
र्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां
प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः॥

(श्रीमद्भा॰ २/४/१९—२१)

अर्थात् वे भगवान् ही सबके अधीश्वरके रूपमें प्रसिद्ध हैं। वे कर्मकाण्डियोंके लिए वेदत्रयीरूप देवमय हैं, धार्मिकोंके लिए धर्ममय एवं तपस्वियोंके लिए तपोमय हैं, वे ही आत्मनिष्ठ-धीर ज्ञानी एवं योगी पुरुषोंके लिए आत्मतत्त्वरूपमें उपास्य हैं। कैतवयुक्त (मुक्तिकी कामनावाले कपट-धर्मयुक्त) ज्ञानी एवं योगी पुरुषोंकी बात तो दूर रहे, शुद्ध हृदयवाले निष्कपट ब्रह्मा और शङ्कर आदि भी जिनके स्वरूपका चिन्तन करते रहते हैं, पर उनके निश्चित स्वरूपको जान नहीं पाते और आश्चर्यचकित होकर देखते रहते हैं, वे भगवान् परमेश्वर मुझपर प्रसन्न हों। जो परमेश्वर समस्त सम्पत्तियोंकी अधिष्ठात्री लक्ष्मीदेवीके पति हैं, यज्ञेश्वररूपमें यज्ञोंके भोग करनेवाले और फल प्रदान करनेवाले सम्पूर्ण प्रजाओंके अधीश्वर हैं, वे व्यष्टिरूपमें जीवोंके अन्तर्यामी पुरुष हैं तथा समस्त योग्य भुवनों (लोकों) के एकमात्र भोक्ता अथवा पालन करनेवाले हैं, उन्होंने ही कृपा करते हुए अवतार लेकर धरापतित्व (पृथिवीके पतिके रूपमें) लीलाको प्रकाशित किया है, यदुवंशमें अवतीर्ण होकर अन्धक, वृष्णि और यदुवंशीय भक्तोंका पालन एवं रक्षण किया है, जो उनके एकमात्र आश्रय-स्थल (सहारा) हैं, ऐसे साधुओंके प्रति भक्तवत्सल श्रीभगवान् मुझपर प्रसन्न हों।

श्रीमद्गीतामें भी *'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः'* (१४/२) के श्लोककी टीकामें श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर और श्रीधरस्वामिपादने साधर्म्यका तात्पर्य सारूप्यलक्षणा मुक्ति बतलाया है।

श्रीबलदेव विद्याभूषण कृत प्रमेय-रत्नावली ग्रन्थके चतुर्थ प्रमेयकी कान्तिमाला टीकामें कहा है कि मुण्डकोपनिषद (३/१/३) के श्लोकमें 'साम्य' तथा गीता (१४/२) के श्लोकमें लिखित 'साधर्म्य' शब्दोंका तात्पर्य मोक्ष-अवस्थामें भी जीव ईश्वरका भेद है—ऐसा समझना चाहिये। उन्होंने *'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'* श्लोकके 'ब्रह्मैव' पदका अर्थ ब्रह्मतुल्य बताया है। 'एव' कार का प्रयोग तुलनाके अर्थमें किया जाता है। इसलिए 'ब्रह्मैव' का तात्पर्य होगा—भगवान्के समान धर्मकी प्राप्ति अथवा जन्म-मरणसे रहित होना। किन्तु सृष्टि इत्यादि करनेका गुण उसमें कदापि नहीं होगा। श्रील बलदेव विद्याभूषणने वर्त्तमान

श्लोककी टीकामें लिखा है—*'गुरूपासनयेदं वक्ष्यमाणं ज्ञानम् उपाश्रित्य प्राप्य जनाः सर्वेशस्य मम नित्याविर्भूतगुणाष्टकस्य साधर्म्यं साधनाविर्भावितेन तदष्टकेन साम्यमागताः सन्तः ... जन्ममृत्युभ्यां रहिता मुक्ता भवन्तीति मोक्षे जीव-बहुत्वमुक्तं,—'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः'* (सामवेद, कठोपनिषत् १/३/९) *इत्यादि श्रुतिभ्यश्चैतदवगतम्।'*

अर्थात् गुरुकी उपासनाके द्वारा उपरोक्त ज्ञानको प्राप्तकर श्रद्धालु जीव भक्तिका साधन करते-करते उपास्य भगवान्‌के नित्य गुणोंमेंसे आठ गुणोंको आंशिक रूपमें प्राप्त करके जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है। श्रुतियोंमें मोक्षकी अवस्थामें भी जीवोंका बहुत्व देखा जाता है—*'तद्विष्णो परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः'* अर्थात् सूरिगण—मुक्तगण मुक्त अवस्थामें विष्णुके परमपदका सदैव दर्शन करते हैं।

'साम्य' शब्दका उल्लेख मुण्डक श्रुतिमें भी देखा जाता है—*'यदा पश्यः पश्यते ... साम्यमुपैति।'* श्रीमद्भागवत (११/५/४८) में भी 'तत्साम्यमापुः' की बात कही गयी है।

श्रीमद्भागवतके पञ्चम स्कन्धके चतुर्थ अध्यायके पञ्चम श्लोकमें *'तन्महिमानमवाप'* में 'महिमा' शब्दके लिए श्रीवीरराघव कहते हैं कि इसका अर्थ है—छान्दोग्यमें उल्लिखित मुक्तस्वरूपमें अष्टलक्षणोंका आविर्भाव, श्रीधरस्वामिपाद कहते हैं—'जीवन्मुक्तिः', श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके अनुसार इसका अर्थ है 'वैकुण्ठ'। श्रीमद्भागवतके (५/१/२७) श्लोकमें 'तादात्म्य' शब्दका अर्थ श्रीवीरराघव साधर्म्य अर्थात् समान धर्म बताते हैं, श्रीविजयध्वज कहते हैं—'तद्रूपसाम्य' अर्थात् भगवान्‌के समानरूप, श्रीजीवगोस्वामिपाद कहते हैं 'तत्साम्य' अर्थात् भगवान्‌की समता, श्रीशुकदेव कहते हैं—विभिन्नांश जीव भगवान्‌से भिन्न होनेपर भी अंशी भगवान्‌से उसका पृथक् अस्तित्व नहीं है, इस रूपमें ही वह भगवान्‌से अभिन्न है और यही 'तादात्म्य' शब्दका तात्पर्य है। अतएव 'साधर्म्य' अथवा 'साम्य' शब्दमें श्रीभगवान्‌के साथ जीवका एकीभाव अर्थात् केवलाभेद अथवा लयकी प्राप्तिकी बातका किसीके भी द्वारा सङ्केत नहीं किया गया है।

इस सन्दर्भमें श्रीमद्भागवतका निम्न श्लोक भी विवेचनीय है—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥
(श्रीमद्भा॰ ६/१४/५)

हे महामुने! इन करोड़ों मुक्त एवं सिद्धजनोंमें भी ऐसा प्रशान्तात्मा शुद्धभक्त अत्यन्त दुर्लभ है, जो एकमात्र भगवान् श्रीनारायणके ही परायण हो।

मुण्डकोपनिषद (३/१/४) में भी यह श्रुति पायी जाती है—*आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।*

अर्थात् वह आत्मामें क्रीड़ा करनेवाला और आत्मामें ही रमण करनेवाला क्रियावान पुरुष ब्रह्मवेत्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

कोटि ज्ञानी मध्ये हय एक जन मुक्त।
कोटि मुक्त मध्ये दुर्लभ एक कृष्णभक्त॥
(चै॰च॰म॰ १९/१४८)

अर्थात् कोटि ज्ञानियोंमें कोई एक ज्ञानी मायाबन्धनसे रहित होकर मुक्ति प्राप्त करके जीवन्मुक्त हो पाता है अर्थात् साधनकी सिद्धिको प्राप्त करता है, ऐसे कोटि जीवन्मुक्तोंमें कोई एक कृष्णभक्तका मिलना भी दुर्लभ है।

और भी,

'मायाधीश' 'मायावश'—ईश्वरे जीवे भेद।
हेन जीवे ईश्वर सह कहत अभेद॥
(चै॰च॰म॰ ६/१६२)

अर्थात् श्रीभगवान् मायाके अधीश्वर हैं और जीव मायाके अधीन है, अधीश और अधीनमें जो भेद है, वही भेद ईश्वर और जीवमें है॥ ४३॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके तृतीय पादकी गोविन्दतोषणी नामक वृत्ति समाप्त॥



चतुर्थः पादः

मङ्गलाचरण

तमाः सांख्यघनोदीर्णं विदीर्णं यस्य गोगणैः।
तं संविद्भूषणं कृष्णपूषणं समुपास्महे॥

कुछ वाक्य ऐसे हैं, जो ब्रह्मके भी बोधक हैं और प्रकृतिके भी बोधक प्रतीत होते हैं। अब उन वाक्योंकी ब्रह्ममें ही योजना करनेके लिए भाष्यकार मङ्गलाचरण कर रहे हैं—*'तमः सांख्य'* इत्यादि, जिन बादरायणरूप सूर्यकी वाक्यरूप किरणोंके द्वारा सांख्यदर्शनकार कपिलमुनिरूप मेघके द्वारा उत्पन्न किया गया अज्ञानरूप अन्धकार विदीर्ण हुआ है, उन ज्ञानशक्तिरूप अलङ्कारसे अलंकृत श्रीकृष्णद्वैपायन सूर्यको हम नमस्कार करते हैं।

१—आनुमानिकाधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—मुक्त्युपायतया जिज्ञास्यं विश्वजन्मादिबीजं जडाज्जीवाच्च विलक्षणमविचिन्त्यानन्तशक्तिसार्वज्ञ्यादिकल्याणगुणमयं निरस्तहेयं निरङ्कुशैश्वर्यं परं ब्रह्म परामृष्टं प्राक्। इदानीन्तु कासुचिच्छाखासु दृश्यमानानां कपिलतन्त्रसिद्ध-प्रधानपुमर्थकशब्दान्वितानां वाक्यानां समन्वयस्तत्रैव चिन्त्यते। कठवल्ल्यामिदमामनन्ति। (१/३/१०-११) *'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥'* इति।

तत्राव्यक्तशब्देन स्मार्त्तं प्रधानं वाच्यं शरीरं वेति सन्देहे महदव्यक्तपुरुषाणां परापरभावेन स्मृतिप्रसिद्धानां श्रुतौ यथावत् प्रत्यभिज्ञानात् स्मार्त्तं स्वतन्त्रं प्रधानमिह वाच्यं शरीरं वेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इससे पहलेके पाद-विचारमें सिद्धान्त किया था कि परब्रह्म मुक्तिके उपाय (साधन) रूपमें उपास्य एवं विचार्य हैं। वे विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयके कारण, जड़

पदार्थ प्रकृति आदि एवं जीवात्मासे स्वतन्त्र, अचिन्त्य-अनन्त शक्तिशाली और सर्वज्ञत्वादि कल्याण गुणमय, हेय-राग-द्वेष-अविद्या आदिसे वर्जित एवं अबाधित (निरंकुश) ऐश्वर्य (नियामकत्व) सम्पन्न हैं। किसी-किसी वेदशाखामें दृश्यमान कपिल-तन्त्रसिद्ध प्रधान और पुरुष बोधक शब्दसे युक्त जो वाक्य समष्टि (समूह) है, इस पादमें उसका भी समन्वय ब्रह्ममें विचारित हुआ है। कठोपनिषदमें कहा गया है—*'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था .... परागतिः'* (१/३/१०-११)—इन्द्रियोंसे शब्दादि विषय उन इन्द्रियोंको आकर्षण करनेके कारण प्रधान हैं, उन शब्दादि विषयोंसे मन प्रधान है, क्योंकि मनसे ही इन्द्रिय एवं विषयका परस्पर सम्बन्ध घटित होता है। संशयात्मक मनसे निश्चयात्मिका बुद्धिका श्रेष्ठत्व है, कारण बुद्धि जो भोगोपकरण निश्चय कर देती है, उसीका आत्मा भोग करती है। देह-इन्द्रिय-अन्तःकरण वर्गका स्वामी भोक्तात्मा है। इस भोक्तृत्वके कारण महान (महत्-तत्त्व), बुद्धिसे श्रेष्ठ है। पुनः उस महानसे अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्मशरीर प्रधान है, क्योंकि लिङ्गशरीर ही जीवात्माको नाना शरीरोंमें ले जाता है। इस अव्यक्त नामक लिङ्गशरीरसे पुरुष अर्थात् परमेश्वर श्रेष्ठ हैं, इसका कारण यह है कि वही सर्वनियन्ता और सर्वप्रवर्त्तक हैं। उस पुरुषसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, वही श्रेष्ठोंकी अन्तिम सीमा है, वही चरम गति है। यहाँ संशय यह उठता है कि इस श्रुतिमें पठित अव्यक्त शब्दका वाच्य कौन है? स्मृति वाक्यसे जाना हुआ प्रधान अथवा प्रकृति अथवा लिङ्गशरीर? इस संशयके समाधानके लिए पूर्वपक्षी कहते हैं कि इस श्रुतिमें महान, अव्यक्त एवं पुरुषका उत्तरोत्तर श्रेष्ठत्व वर्णित होनेके कारण अव्यक्त शब्दके द्वारा वाच्य स्मृतिमें उक्त स्वाधीन प्रकृति (प्रधान) ही होगी अथवा शरीर है। इस मन्तव्यपर सूत्रकार उत्तर देते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथ प्रधानपुरुषावभासकानि कानिचिद्वाक्यानि ब्रह्मणि सङ्गमयितुं मङ्गलमाचरति तम इति। यस्य श्रीकृष्णपुष्णः श्रीबादरायणर-वेर्गोगणैर्वाग्वृन्दैरेव गोगणैः किरणवृन्दैः सांख्यघनोदीर्णं कपिलमेघकल्पितं तमः अज्ञानमेव तमस्तिमिरं विदीर्णं विनष्टमभूत् तं वयं समुपास्महे भजामहे इत्यन्वयः। गौर्नादित्ये बलीवर्दे किरणक्रतुभेदयोः। स्त्री तु स्याद् दिशि भारत्यां भूमौ च

सुरभावपि। नृस्त्रियां स्वर्गवज्राम्बुरश्मिदृग्बाणलोमस्विति केशवः। तं कीदृशमित्याह संविदिति। संवित् ज्ञानशक्तिः सैव निखिलपालनलक्षणो विचारः। स एव भूषणं यस्य तमित्यर्थः। अत्र समस्तवस्तुविषयं रूपकमङ्गि परस्परितन्त्वङ्गम्। अष्टाविंशति सूत्रकमष्टाधिकरणकं चतुर्थपादं व्याख्यातुमुक्तार्थानुवादपूर्वकमवतारयति मुक्त्युपाय-तयेत्यादिना। पूर्वपूर्वत्र ब्रह्मैव कारणं न प्रधानादीत्युक्तम्। तन्न युक्तं प्रधानादेरपि कारणत्वेन वेदान्तेषुपलब्धेः। न च कारणद्वय वैयर्थ्यं कल्प्यं भेदेन व्यवस्थितेरित्याक्षेपः सङ्गतिरियमप्येकेषामिति वदता सूत्रकृतैवं सूच्यते। अनन्तरन्यायप्रसिद्धजीवोक्ति-भङ्गेनाप्रसिद्धब्रह्मोक्तिपरवदप्रसिद्धप्रधानोक्तिपरमेव काठकवाक्यं स्यादिति दृष्टान्तसङ्गतिः। पूर्वपक्षे ब्रह्मसमन्वयानियमः सिद्धान्ते तु तन्नियमः फलमिति भाव्यम्। इन्द्रियेभ्य इत्यादि। अर्थाः शब्दादयो विषया इन्द्रियेभ्यः परास्तदाकर्षकत्वेन प्रधानभूता इत्यर्थः। अतएवेन्द्रियाणि ग्रहाः शब्दादयस्त्वतिग्रहाः श्रूयन्ते। गृह्णन्ति निबध्नन्ति विषयासक्तं पशुमिति पूर्वेषां ग्रहत्वं तदाकर्षकत्वात् तदुत्तरेषान्त्वतिग्रहत्वमिति ज्ञेयम्। इन्द्रियार्थव्यवहारस्य मनोमूलत्वादर्थेभ्यो मनः प्रधानम्। निश्चित्य विषयान् भुङ्क्ते इति संशयात्मकान् मनसो निश्चयात्मिका बुद्धिः परा। भोगोपकरणाद्बुद्धेर्भोक्तात्मा परः। कीदृशो महान् देहेन्द्रियान्तःकरणानां स्वामीत्यर्थः। महत आत्मनो जीवादव्यक्तं सूक्ष्मशरीरं तेनैव जीवस्य नानायोनिषु समाकर्षणात् तस्मात् तत् प्रधानमित्यर्थः। तस्मादव्यक्तात् सूक्ष्मात् शरीरात् पुरुषः परः। देहेन्द्रियादि सर्वनियन्तृत्वात्तत्तत्सर्व-प्रवर्त्तकत्वाच्च तस्मादपि प्रधानमित्यर्थः। तत्रेति। परापरभावेनेति। यथोत्तरं परत्वं यथापूर्वम् अपरत्वमिति ज्ञेयम्—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—श्रुतिमें कितने ही वाक्य ऐसे देखे जाते हैं, जो प्रधानका भी बोध कराते हैं और पुरुषके (जीवके) भी बोधक हैं। ऐसे सभी वाक्योंका परमेश्वरमें समन्वय करनेके लिए इस पादका आरम्भ हुआ है। इसमें (विघ्न विनाशके लिए) 'तमः' इत्यादि द्वारा मङ्गलाचरण किया गया है। श्लोकस्थ 'यस्य' का अर्थ है जिन श्रीकृष्णद्वैपायनरूप सूर्यका, 'गोगणैः' का अर्थ है वाक्यवृन्दरूप किरणोंके द्वारा 'सांख्यघनोदीर्णं' का अर्थ है कपिलरूप मेघके द्वारा कल्पित, तमः—अज्ञानरूप अन्धकार, विदीर्णमभूत—विनष्ट हुआ है, तत्—उन श्रीकृष्णद्वैपायनका, वयं 'समुपास्महे'—हम भजन करते हैं। 'गो' शब्दका अर्थ वाक्य एवं किरण है। इस विषयमें केशव नामक अभिधान कर्त्ताकी उक्तिका प्रमाण दिखला रहे हैं कि गो शब्द सूर्य अर्थमें पुलिङ्ग है। इसी प्रकार बलीवर्द, किरण एवं यज्ञ-विशेष अर्थोंमें

भी पुलिङ्ग है, किन्तु दिक्, वाक्य, भूमि, गाय एवं पृथ्वी अर्थोंमें स्त्रीलिङ्ग है। पुनः स्वर्ग, वज्र, जल, रश्मि, चक्षु, बाण एवं लोन अर्थोंमें उभयलिङ्ग है। श्रीकृष्ण सूर्य किस प्रकारसे हैं? इसे बतला रहे हैं—*'संविद् विभूषणम्'* संविद् अर्थात् ज्ञानशक्ति तद्रूप निखिलपालनरूप विचार जिनका विभूषण अर्थात् अलङ्कार है। इस स्थलपर समस्त वस्तु विषयक साङ्गरूपक है। इसमें अङ्गी पूषा है और परम्परितरूपक उसका अङ्ग है। इस चतुर्थपादमें अट्ठाईस सूत्र और आठ अधिकरण हैं। इन्हींकी व्याख्या करनेके अभिप्रायसे भाष्यकारने पूर्वपादोक्त विषयका उल्लेख करके 'मुक्त्युपायतया' इत्यादि ग्रन्थके (वाक्य) द्वारा अवतरणिका की है। पहले कहा था—ब्रह्म ही जगत्का कारण है, प्रकृति इत्यादि नहीं, पर यह बात तो युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि कुछ वेदान्तवाक्योंमें प्रधानादिको भी जगत्के कारणरूपमें जाना जाता है। पुनः दोनोंको ही कारण नहीं कहा गया, इसमें दोनों कल्पनाएँ व्यर्थ हैं। ऐसा नहीं है, भेद व्यवस्था भी उसमें है। यह आक्षेप-सङ्गति है, इसे भी सूत्रकार *'एकेषामिति'* कहकर सूचित कर रहे हैं।

यहाँ दृष्टान्त-सङ्गति भी है, यथा—कुछ समय पहले युक्तिसिद्ध जीववादका निरास करके जिस प्रकार श्रुतिवाक्यको अप्रसिद्ध ब्रह्मपर कहा गया, उसी प्रकार काठक वाक्य भी अप्रसिद्ध प्रधान बोधक होना चाहिये। अप्रसिद्धका अर्थ है लौकिक प्रसिद्धिका न होना। पूर्वपक्ष-उक्तिका फल है ब्रह्मके समन्वयका अभाव, जब कि सिद्धान्तके पक्षमें ब्रह्ममें ही समन्वय है, यही फलका तारतम्य है, इसीको विचार करना होगा। *'इन्द्रियेभ्योः'* इत्यादि कठवल्ली (१/३/१०-११) का अर्थ है—अर्थाः-शब्दादि विषय, ये इन्द्रियवर्गसे पर (श्रेष्ठ) अर्थात् प्रधानभूत हैं। इसका कारण है कि विषय इन्द्रियोंके लिए आकर्षक हैं, इसलिए ही श्रुतिमें इन्द्रियोंको ग्रह और विषयोंको अतिग्रह कहा गया है। यथा—शब्दादि विषय विषयासक्त पशुरूपी पुरुषको इन्द्रियके द्वारा आबद्ध करते हैं, इसलिए इन्द्रियका नाम ग्रह है, इन इन्द्रियोंको आकर्षित करनेके कारण विषयोंका नाम अतिग्रह है। मन विषयोंसे श्रेष्ठ है, क्योंकि मन विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धका मूल है। जीव निश्चित रूपसे विषयोंका भोग करता है, इसलिए निश्चयात्मक बुद्धि

संशयात्मक मनसे श्रेष्ठ है। भोग-साधिका बुद्धिसे भोगकारी आत्मा श्रेष्ठ है। कैसा आत्मा? जो महान है अर्थात् जो देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणका स्वामी अर्थात् सञ्चालक है। उस महत् आत्मा जीवसे अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्मशरीर श्रेष्ठ है, क्योंकि वही जीवको नाना शरीरोंमें खींचकर ले जाता है। इस सूक्ष्मशरीरसे पुरुष परमेश्वर श्रेष्ठ है, क्योंकि वे ही देह, इन्द्रिय इत्यादिके नियन्ता एवं समस्तके ही प्रवर्त्तक हैं। उनसे श्रेष्ठ अर्थात् प्रधान कोई नहीं है। *'तत्राव्यक्तशब्देन'* इत्यादि भाष्य—*'परापरभावेण'*—पूर्वोत्तर भावसे इनमें जो उत्तर-उत्तर हैं, वे श्रेष्ठ हैं और जो पूर्व वर्णित हैं, उन्हें अपर (निम्न) जानना चाहिये।

सूत्र—आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च॥ १ ॥

सूत्रार्थ—'एकेषाम्'—किसी-किसीवादीकेमतमें 'आनुमानिकमपि'—स्मृतिवचनके द्वारा अनुमान-प्राप्त प्रकृति भी अव्यक्त-शब्दका वाच्य अर्थ हो सकती है, 'इति चेत्'—यदि ऐसा कहते हो तो 'न' यह सङ्गत नहीं है, क्योंकि 'शरीररूपकविन्यस्त गृहीतेः' रथरूपक द्वारा शरीरकी रथरूपमें कल्पना की गई है, इसलिए शरीर ही अव्यक्त शब्द द्वारा बोध्य है। 'दर्शयति च' और आत्मा शरीरादिकी रथादिरूपमें कल्पना भी पूर्वश्रुतिमें दिखायी गयी है। इस कारण भी शरीर अव्यक्त शब्द वाच्य है॥ १ ॥

सूत्रानुवाद—किसी-किसी वादी अर्थात् एक कठ शाखावालोंकी शाखामें आनुमानिक प्रधान (जड़-प्रकृति) को भी जगत्के कारणरूपमें सुना जाता है। किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अव्क्त शब्दसे यहाँ शरीर ही लिया गया है, कि शरीरको ही रथका रूपक देकर रथके सादृश्यसे ग्रहण किया गया है॥ १ ॥

गोविन्दभाष्य—एकेषां कठानामानुमानिकं स्मार्त्तं प्रधानमपि वाच्यं दृश्यते। न व्यक्तमव्यक्तमिति व्युत्पत्त्या तदुक्तेरिति चेन्न। कुतः? शरीरेत्यादेः शरीरमेवात्र रथरूपकविन्यस्तमव्यक्तशब्देन गृह्यते। दर्शयति चैतत् प्राक्तनो ग्रन्थ आत्मशरीरादीनां रथादिरूपकक्लृप्तिम्। एतदुक्तं भवति पूर्वत्र।—(कठ० १/३/३-४) *'आत्मानं रथिनं*

विद्धि शरीरं रथमेव च। बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्' इत्यादिना *'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विञ्चोः परमं पदम्'* इत्यन्तेन ग्रन्थेन। श्रीविष्णुपदप्रेप्सुमुपासकं रथित्वेन तच्छरीरादिकं रथादित्वेन रूपयित्वा यस्यैते रथादयो वशे भवन्ति सोऽध्वनः पारं तत्पदमाप्नोतीत्युक्त्वाथ रथादिरूपितानां तेषां शरीरादीनां वशीकार्यतायां गौण्यप्राधान्यमुच्यत इन्द्रियभ्यः पराह्यर्था (कठ॰ १/३/१०) इत्यादिना। तत्र यानीन्द्रियादीणि रथरूपके अश्वादिभावेन प्रकृतानि तान्येवेह वाक्येऽपि गृह्यन्ते प्रायःशब्दतौल्यात्। यत्तु शरीरमवशिष्टं तत् खलु अव्यक्तशब्देन परिशेषात् प्रकरणाच्चेति। न च स्मार्त्ततत्त्वप्रत्यभिज्ञात्रास्ति तन्मतविरोधात्॥ १ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—कुछ काठकोंके मतमें आनुमानिक अर्थात् अनुमान-प्रमाण-लभ्य स्मृतिशास्त्रोक्त प्रधान भी अव्यक्त शब्दका वाच्य देखा जाता है। इसका कारण है कि वे अव्यक्त शब्दका *'न व्यक्तम् अव्यक्तम्'* 'जो व्यक्त नहीं है, वही अव्यक्त है'—इस व्युत्पत्तिके द्वारा ऐसा ही कहते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है। किसलिए? उत्तर है—शरीरकी रथरूपमें कल्पना करके पर-पर बुद्धि इत्यादिको सारथि इत्यादि रूपमें विन्यस्त (क्रमपूर्वक रख) करके परमेश्वरके बाद शरीरके संनिवेश (स्थान) के कारण यहाँ अव्यक्त शब्दका वाच्य शरीर ही मानना होगा।

इसके अतिरिक्त पूर्ववर्त्ती श्रुति ग्रन्थ भी आत्मा, शरीर इत्यादिकी रथी, रथादि रूपसे कल्पना दिखला रहा है, यथा *'आत्मानं रथिनं विद्धि.... तेषुगोचरान्'* (कठ॰ १/३/३-४) अर्थात् आत्माको रथी, शरीरको रथ, बुद्धिको सारथि और मनको अश्वरश्मिस्थानीय रूप (घोड़ेकी लगाम) समझो, इन्द्रियोंको अश्वके रूपमें जानो, शब्दादि विषय इन अश्वोंके गोचर (विचरणभूमि) अर्थात् लक्ष्य-पथ स्वरूप हैं, इत्यादि कहकर बादमें *'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्'* अर्थात् 'जो प्रमाता (विशुद्ध ज्ञान रखनेवाला) यदि सत्प्रसङ्गी होता है, वह संसार-पथके उस पारमें अवस्थित श्रीविष्णुके परम पदको प्राप्त करता है'—इस अन्तिम ग्रन्थ (वाक्य) के द्वारा भी श्रीविष्णुपद-प्राप्तिके इच्छुक उपासकको रथीरूपमें एवं उसके शरीरको रथादि रूपमें रूपक करके श्रुति कहती है—जिनके ये रथादि वशमें होते हैं, वे ही

संसार-पथके पार स्थित श्रीविष्णुके परमपदको प्राप्त होते हैं। इस प्रकारसे शरीरादिको रथादि रूपमें कल्पित किया गया है, बादमें वशीकरण-कार्य-विषयमें *'इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः'* (कठ० १/३/१०) इत्यादि द्वारा गौण-प्रधान भाव कहा गया है। इस रथरूपकमें जिन समस्त इन्द्रियोंको अश्वादि रूपमें कल्पित किया है, उन सबको इसी वाक्यसे ही ग्रहण किया गया है। क्योंकि दोनों श्रुतियोंमें वर्णित शब्दोंका प्रायः साम्य ही है, किन्तु जो *'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः'* इत्यादि श्रुतिमें शरीरका उल्लेख अवशिष्ट था, वह उल्लिखित 'अव्यक्त' शब्दके द्वारा ग्राह्य होगा—यह परिशेषसे तथा प्रकरणसे जाना जाता है। कपिल स्मृति—सांख्यशास्त्रोक्त तत्त्वोंसे यहाँ अव्यक्त शब्दकी प्रधानमें विवक्षा है, किन्तु ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उनके मतके विरुद्धमें ही यहाँ *'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः'* इत्यादि वाक्य हैं। किस प्रकारसे? यह टीकामें अन्वेषणीय है॥ १॥

सूक्ष्मा-टीका—आनुमानिकेति। एकेषामिति। एतदिति। पूर्वत्रेति। एतस्मादिन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इत्यादिवाक्यात् पूर्ववर्त्तीत्यर्थः। आत्मानमित्यादेरर्थः। आत्मतो भोक्तृत्वेन प्राधान्यात् रथित्वं भोगसाधनशरीररथस्वामित्वमित्यर्थः। शरीरस्य रथवद्भोगसाधनत्वाद्रथत्वम्। विवेकाविवेकवृत्तिभ्यां शरीरद्वारा सुखदुःखयोर्भोक्तुर्नयनात् बुद्धेः सारथित्वम्। मनसा हयरश्मिस्थानीयेन विवेकिना विषयेभ्य इन्द्रियाणि निवर्त्त्यन्ते। तेन अविवेकिना तेषु तानि प्रवर्त्त्यन्ते इति मनसः प्रग्रहत्वम्। इन्द्रियाणि संयतानि सन्मार्गं प्रापयन्ति असंयतानि कुमार्गमिति तेषां हयत्वम्। हयो मार्गमालक्ष्य चलन्तीन्द्रियाणि तु विषयमुपलभ्येति शब्दादीनां गोचरत्वं मार्गत्वमित्यर्थः। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण इति वाक्यमिहैव बोध्यम्। इन्द्रियं मनोयुक्तं यथा स्यात् तथात्मा जीवो भोक्तेत्याहुरित्यर्थः। युक्तमिति भावे निष्ठा। ईदृशो यः प्रमाता स चेत् सत्प्रसङ्गी स्यात् तदा अध्वनः संसारमार्गस्य पारं विष्णोस्तत् परमव्योमाख्यं पदमाप्नोतीति। वशीकार्यतायामिति। इन्द्रियाणां वशीकार्यता तत्प्रवृत्त्यनधीनतया भगवत्प्रावण्यं तत्प्रमाणं भगवतो वशीकार्यता तद्भक्तैस्तस्य प्रपत्तिरेवेति बोध्यम्। अव्यक्तशब्देनेति गृह्यन्त इति पूर्वेणैवान्वयः। परिशेषादिति। प्रसक्तप्रतिषेधेनान्यत्राप्रसङ्गात शिष्यमाणे अप्रत्ययात् परिशेषस्तस्मादित्यर्थः। न चेति। स्मार्त्ततत्त्वानि कपिलस्मृत्युक्तानि। तन्मतविरोधादिति। इन्द्रियेभ्योऽर्थानां परत्वं तद्धेतुत्वादिति अर्थेभ्यो मनसः परत्वं तद्धेतुत्वादिति च सांख्या न मन्यन्ते। महानात्मा बुद्धेः पर इत्यत्रापि महतो महान् पर इति वाच्यम्। एतच्च तैर्नमन्तव्यं बुद्धिशब्देन महत्तत्त्वस्य स्वीकारात्। तथात्मशब्देन महतो विशेषणं च तन्मतमिति सर्वमेतत् तत्सिद्धान्तेन सहासङ्गतम्। अतः पुरुषविष्वस्तानामेवेह ग्रहणं युक्तमिति॥ १॥

सूक्ष्मा-सार— *'आनुमानिकम्'* इत्यादि सूत्रमें उक्त *'एकेषाम्'* पदकी व्याख्याके अन्तर्गत *'एतदुक्तं भवति पूर्वत्र'* (कठ॰ १/३/३-४) कहा गया। इसमें पूर्वत्र पदका अर्थ है—*'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः'* (कठ॰ १/३/१०) इत्यादि वाक्यका जो पूर्ववर्त्ती अर्थ है। *'आत्मानं रथिनं विद्धि'* इत्यादि वाक्यका अर्थ है—आत्मा रथी (रथारूढ़ व्यक्ति) है, क्यों? क्योंकि आत्मा भोगकारी है, इसलिए प्रधान है। उसका रथित्व है अर्थात् भोगोपकरण शरीररूप रथका उसमें स्वामित्व है। रथके समान ही शरीर भोगका साधन है। इसलिए यह रथरूपमें वर्णित हुआ है। बुद्धि इसका सारथि है, क्योंकि बुद्धि विवेक एवं अविवेक दो प्रकारकी वृत्तियों द्वारा शरीरकी सहायतासे भोक्ताको सुख अथवा दुःखमें ले जाती है। मन अश्वकी लगाम है, जिसके द्वारा विवेकी व्यक्ति विषयोंसे इन्द्रियोंको निर्वत्त कर लेता है और अविवेकी व्यक्ति इन्द्रियोंको विषयमें प्रवृत्त करता है, इस प्रकार अश्व-रज्जुका कार्य करनेके कारण मनको प्रग्रह (लगाम) कहा गया है। इन्द्रियाँ संयत होनेपर रथीको उत्तम पथपर ले जाती हैं और असंयत होनेपर कुमार्गकी ओर ले जाती हैं, इसलिए इन्द्रियोंको अश्व कहा गया।

अश्व जिस प्रकार पथको देखकर चलता है, इन्द्रियाँ भी उसी प्रकार विषयके उद्देश्यसे धावित होती हैं। इसलिए शब्दादि विषय इन्द्रियोंके गोचर अर्थात् विचरण भूमि अथवा मार्गस्थानीय हैं। *'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'* (कठ॰ १/३/४) यह स्मृतिवाक्य इसका प्रमाण है। इसका अर्थ है—जिस समय इन्द्रियका मनके साथ संयोग होता है, उसी समय आत्माको (गन्धादिका) भोक्ता कहा जाता है, 'मनोयुक्तं' अर्थात् मनोयोगको, इसलिए भाववाच्यमें 'युज्' धातुमें 'क्त' प्रत्ययके योगसे 'युक्त' पदकी निष्पत्ति होती है। इसी प्रकार यदि भोक्ता विशेष रूपसे सत्सङ्ग प्राप्त करता है, तब वह संसारपथसे अतीत विष्णुके उस परमव्योम नामक परमपदको प्राप्त होता है। इन्द्रियका वशीकरण अर्थात् इन्द्रिय इत्यादिकी अनधीनता (अधीन न होने) के कारण भगवत्-प्रवणता है, यही इन्द्रिय-वशीकरणका प्रमाण अथवा ज्ञापक है और भगवान्का वशीकरण उनके भक्तोंके द्वारा

उनके प्रति शरणागति है, यह जानना चाहिये। *'तत् खलु अव्यक्तशब्देन'* इसका क्रियापद पूर्वोक्त 'गृह्यन्ते' ही होगा। इसका कारण है *'परिशेषात्प्रकरणाच्चेति'*—परिशेष शब्दका अर्थ है—जिसमें प्रसक्ति (अनुमान) हुई थी, उसका निषेध करनेके बाद अन्यत्र प्रसक्ति न रहनेसे जो बाकी रहा, उसका प्रत्यय (ज्ञान) न होना ही परिशेष कहा जाता है, इस परिशेषवशतः अव्यक्त शब्दके द्वारा क्रियापद 'गृह्यन्ते' लेना होगा। (अर्थात् परिशेषके प्रकरणके अनुसार अवशिष्ट शरीर अव्यक्त शब्द द्वारा विशेषतः कहा गया है।)

'न च स्मार्त्ततत्त्वप्रत्यभिज्ञा अस्ति'—इत्यादि स्मार्ततत्त्व अर्थात् कपिल-सांख्यमें उक्त अव्यक्तसे प्रधानको ही जाना जाता है—किन्तु ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'तन्मतविरोधात्' उनके मतके साथ हमारे मतमें विरोध आता है, किस प्रकार? इसे बतला रहे हैं—इन्द्रियोंसे विषय प्रधान हैं, क्योंकि इन्द्रियाँ विषयोंके अधीन हैं, विषयोंसे मन प्रधान है, क्योंकि विषय मनके अधीन है—यह बात सांख्यवादियोंको स्वीकार नहीं है। पुनः महान आत्मा बुद्धिसे श्रेष्ठ है—इस उक्तिमें उस महानसे परमेश्वर महान श्रेष्ठ हैं—इस श्रुतिके अर्थपर कहते हैं कि यह भी सांख्यवादियोंको मान्य नहीं है, क्योंकि वे तो महान कहनेसे बुद्धितत्त्वको स्वीकार करते हैं, आत्माको नहीं। और महान आत्मा कहनेसे आत्मा महत्का विशेषण है, यह उनका सिद्ध मत है। (बुद्धि आत्माकी इच्छाधीन है, इसलिए उसके लिए ही महान यह विशेषण लगाया गया है, वे ऐसा मानते हैं) हमारा (हम वेदान्तियोंका) समस्त सिद्धान्त ही उनके सिद्धान्तके साथ सङ्गत नहीं होता। इसलिए परमेश्वर-विश्वासवादियोंका मत ही ग्रहणीय है॥ १॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत पादमें प्रधान एवं पुरुषको प्रकाशित करनेवाले कितने ही शब्द जो श्रुतियोंमें स्थान-स्थानपर पाये जाते हैं, उनका परमेश्वरमें जो समन्वय हुआ है, उसीका विचार यहाँ आरम्भ किया गया है। पहले मङ्गलाचरण श्लोक कह रहे हैं—जिन श्रीकृष्णद्वैपायनरूप सूर्यने वाक्यरूप अपनी किरणोंके द्वारा कपिलके सांख्यरूपमेघान्धकारको विनष्ट किया था, उनका हम भजन करते हैं।

इस चतुर्थपादमें अट्ठाईस सूत्र एवं आठ अधिकरण हैं। पहले कहा गया था कि मुक्तिके उपायरूपमें ब्रह्म ही जिज्ञास्य हैं एवं वे जगत्के कारण और जीवादि तत्त्वसे विलक्षण, अनन्त कल्याणगुणमय एवं हेयगुणवर्जित हैं। इन्हीं निरंकुश ऐश्वर्यशाली परब्रह्मका ही इससे पहले विचार किया गया है। किन्तु श्रुतिमें किसी-किसी शाखामें कपिलके द्वारा वर्णित प्रकृतिवाचक शब्द देखे जाते हैं, उन शब्दोंको जो ब्रह्ममें समन्वय है, उसीपर यहाँ विचार किया गया है।

कठोपनिषदमें पाया जाता है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु पर बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥
(कठ० १/३/११)

अर्थात् इन्द्रियोंसे विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे आत्मा श्रेष्ठ है। यह आत्मा देह, इन्द्रियादि समस्तका प्रधान है। महान आत्मासे अव्यक्त श्रेष्ठ है, अव्यक्तसे पुरुष नामक भगवान् श्रेष्ठ हैं। पुरुषसे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। वे ही पराकाष्ठा (परम अवधि) और परागति अर्थात् परम प्राप्य हैं।

यहाँ संशय यह है कि 'अव्यक्त' शब्दसे श्रुतिमें उक्त स्वतन्त्र प्रधानको कहा गया है अथवा शरीरको कहा गया है। महत्, अव्यक्त एवं पुरुषको उत्तरोत्तर पर एवं अपर भावके द्वारा स्मृति-प्रसिद्ध तत्त्वोंका श्रुतिमें यथावत् प्रत्यभिज्ञानके कारण स्मृतिमें उक्त प्रधान ही यहाँ वाच्य है अर्थात् कहा गया है, यदि ऐसा कहते हो तो इसके उत्तरमें सूत्रकार वर्त्तमान सूत्रमें कह रहे हैं—*'आनुमानिकम् अपि', 'न व्यक्तं अव्यक्तम्'* इस व्युत्पत्तिके द्वारा काठकोंका आनुमानिक अर्थात् सांख्यदर्शनोक्त प्रकृति ही वाच्य है, इस प्रकार कहा नहीं जाता। कारण यहाँ अव्यक्त शब्दका अर्थ शरीर है। इससे पूर्व इसी कठोपनिषदमें *'आत्मानं रथिनं ... तु'* (१/३/३-९) इत्यादिमें जीवकी रथारूढ़ व्यक्तिके साथ तुलना करते हुए कहा गया है—"हे नचिकेता!

शरीरको रथस्वरूप, जीवको रथी, बुद्धिको सारथिस्वरूप और मनको अश्वको बाँधनेवाली रज्जु जानो। जो विवेक नामकी बुद्धिको सारथि, एवं मनको अश्व-बन्धन करनेवाली रज्जु कर सकते हैं, वे ही संसारसे अतीत उन विष्णुके परमपदको प्राप्त कर सकते हैं।" परवर्त्ती श्लोकोंमें *'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः'* इत्यादि कहे जानेसे पूर्वोक्त रथरूपकमें जिन समस्त इन्द्रियोंकी अश्वादि रूपमें कल्पना की गयी है, वे समस्त ही इस वाक्यमें भी गृहीत हुई हैं, क्योंकि दोनों ही श्रुतियोंमें वर्णित शब्दोंमें प्रायः समानता है। इसलिए प्रकरणसे जाना जाता है कि इस स्थलपर 'अव्यक्त' शब्द द्वारा सूक्ष्मशरीरको ही स्पष्ट रूपसे बताया गया है, यह सांख्योक्त प्रकृति वाच्य नहीं है। इसका कारण है कि *'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः'* इत्यादि वाक्योंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठत्व स्वीकार करनेपर उनके मतका विरोध स्वयं ही उपस्थित हो जाता है। इस स्थलपर टीकामें वर्णित विवरण द्रष्टव्य है।

श्रीमद्भागवतमें सूक्ष्मशरीरके विषयमें पाया जाता है।

येनैवारभते कर्म तेनैवामुत्र तत् पुमान्।
भुङ्क्ते ह्यव्यवधानेन लिङ्गेन मनसा स्वयम्॥

(श्रीमद्भा॰ ४/२९/६०)

अर्थात् श्रीनारदजी कहते हैं—जीव स्थूलदेह द्वारा जिन कर्मोंको करते हैं, वासनामय लिङ्गदेह ही उन कर्मोंका मूल कारण है। स्थूलदेहके विनष्ट होनेपर भी लिङ्गदेहका नाश नहीं होता। यह लिङ्गदेह ही स्वर्ग-नरकादिमें फलभोग कराती रहती है।

इसी प्रकार,

प्राप्नोतीहाञ्जसा धीरः स्वदृशा च्छिन्नसंशयः।
यद्गत्वा न निवर्त्तेत योगी लिङ्गाद्विनिर्गमे॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२७/२९)

अर्थात् इस प्रकार बहुत-से जन्मोंमें बहुत-सी योनियोंमें भ्रमण करता हुआ जीव जिस समय भगवत्-आश्रित होकर ब्रह्मलोक तक समस्त भोगोंसे वैराग्य प्राप्त कर लेता है, उस स्थितिमें आत्मज्ञान होनेके कारण उसके समस्त संशय छिन्न हो जाते हैं और लिङ्गशरीरके

नाश होनेपर वह उस मङ्गलमय स्थानको जाता है, जहाँसे कभी उसका पुनरागमन नहीं होता॥ १॥

अवतरणिका भाष्य—ननु शरीरस्य व्यक्तत्वादव्यक्तशब्दवाच्यता कथमित्याशङ्क्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पूर्वपक्षवादियोंकी आपत्ति है कि आप अव्यक्त शब्दका अर्थ जो लिङ्गशरीर कहते हैं, यह सिद्धान्त किस प्रकार हुआ? शरीर तो व्यक्त है और जो व्यक्तसे भिन्न है, वह अव्यक्त है, इस आशङ्काका उद्भावन (उदय या उपस्थित) करके उत्तर दे रहे हैं—

सूत्र—सूक्ष्मन्तु तदर्हत्वात्॥ २॥

सूत्रार्थ—'सूक्ष्मन्तु'—हाँ, अव्यक्त शब्दका अर्थ सूक्ष्मशरीर है, किस कारणसे? 'तदर्हत्वात्'—क्योंकि सूक्ष्मशरीर अव्यक्त शब्दके योग्य है॥ २॥

सूत्रानुवाद—शरीरकी सूक्ष्म अवस्थाको लक्ष्य करके कहा गया है कि वही अव्यक्त शब्दके योग्य है॥ २॥

गोविन्दभाष्य—शङ्कानिरासाय तु शब्दः। कारणात्मना सूक्ष्मशरीरमिह विवक्ष्यते। कुतः? तदर्हत्वात्। तस्य सूक्ष्मशरीरस्य अव्यक्तशब्दयोग्यत्वात्। (बृ०आ० १/४/७) *'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्'* इति श्रुतिरपीदं स्थूलावस्थं जगत् प्राग्बीजशक्त्यवस्थं तद्योग्यं दर्शयति॥ २॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—व्यक्त शब्दसे प्रतिपाद्य शरीर अव्यक्त शब्द वाच्य किस प्रकार हो सकता है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि सूत्रोक्त 'तु' शब्दका अर्थ पूर्वोक्त आशङ्काका खण्डन है। कारणस्वरूपमें सूक्ष्मशरीर यहाँ विवक्षित (वक्ताका अभिप्रेत) है। किस कारणसे? इसका उत्तर है—*'तदर्हत्वात्'*—क्योंकि यह सूक्ष्मशरीर अव्यक्त शब्दके वाच्य होनेके योग्य है। श्रुति यह योग्यता दिखा रही है—*'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीदिति'* (बृ०आ० १/४/७) तद् अर्थात् 'वह', इदं—यह परिदृश्यमान जगत्, 'ह'—इस रूपमें प्रसिद्ध, 'अव्याकृतम्'—नाम रूपमें अनभिव्यक्त अथवा अव्यक्त 'आसीत्'—था अर्थात् यह स्थूलावस्थापन्न

जगत् सृष्टिके पहले प्रलयकालमें बीजशक्तिरूप अवस्थामें था—इस बातसे श्रुति सूक्ष्मशरीरको ही अव्यक्त शब्दके योग्य बता रही है॥ २॥

सूक्ष्मा-टीका—सूक्ष्ममिति। गोभिः श्रीणीत मत्सवमितिवत् प्रकृतिवाचकेन शब्देन विकारो लक्ष्यः। गोभिर्गोविकारैः पयोभिर्मत्सवं सोमं श्रीणीतमिश्रितं कुर्यादिति तदर्थः। प्राक् प्रलये। तद्योग्यमव्यक्तशब्दयोग्यम्॥ २॥

सूक्ष्मा-सार—*'सूक्ष्मं शरीरमिह गृह्यते'* इति—*'गोभिः श्रीणीत मत्सवम्'* (ऋ॰सं॰ ९/४६/४) अर्थात् गोदुग्धके साथ सोम मिश्रित करें। यहाँ 'गो' शब्द दुग्धकी प्रकृतिका वाचक है, इसके द्वारा जिस प्रकार इसका विकार अर्थ दूध लक्षित होता है, उसी प्रकार यहाँ भी अव्यक्त शब्दसे कारणरूपमें स्थित सूक्ष्मशरीरको जानना होगा। *'प्राक् बीज-शक्त्यवस्थम्'*—'प्राक्' अर्थात् प्रलयकालमें *'तद्योग्यं दर्शयति'*—वह (सूक्ष्मशरीर) अव्यक्त शब्दके योग्य है—यह अर्थ है॥ २॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—व्यक्त शरीरको अव्यक्त किस प्रकार कहा जाता है, इसीके उत्तरमें प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि सूक्ष्मशरीर ही अव्यक्त शब्दके योग्य है। श्रुतिमें भी सूक्ष्मशरीरकी अव्यक्त शब्द योग्यता प्रदर्शित हुई है। बृहदारण्यकोपनिषद (१/४/७) में पाया जाता है—*'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौ नामायमिदं रूप इति'* अर्थात् यह जगत् उस समय (उत्पत्तिसे पूर्व) अव्याकृत था। वह नाम-रूपके योगसे व्यक्त हुआ, अर्थात् यह इस नाम और इस रूपवाला है, इस प्रकार व्यक्त हुआ। अतः इस समय भी यह अव्याकृत वस्तु इस नाम और इस रूपवाली है—इस प्रकार व्यक्त होती है। अव्याकृत और अव्यक्त पद पर्यायवाची हैं। यह श्रुति 'अव्यक्त' शब्दके व्यवहारका प्रमाण प्रस्तुत करती है।

'गोभिः श्रीणीत मत्सवम्' (ऋ॰सं॰ ९/४६/४) सोमलताके रसको मत्सव कहते हैं, क्योंकि वह कुछ मद-कारक होता है, उसे दूधमें मिलानेके लिए कहा गया है। यद्यपि 'श्रीञ पाके' धातुके लोट् लकारके मध्यम पुरुष बहुवचनमें 'श्रीणीत' शब्द बना है, तथापि यहाँ पकानेमें 'श्रीञ्' का प्रयोग न होकर मिलाने (मिश्रण करने) में माना जाता है।

श्रीमद्भागवत (श्रीमद्भा॰ ४/२९/७४-७५) में वर्णन है—

एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत् षोडशविस्तृतम्।
एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते॥

अनेन पुरुषों देहानुपादत्ते विमुञ्चति।
हर्ष शोकं भयं दुःखं सुखञ्चानेन विन्दति॥

इस प्रकार पाँच तन्मात्राओंसे बना हुआ और सोलह तत्त्वोंके रूपमें विकसित त्रिगुणात्मक संघात ही लिङ्गदेह है। यह लिङ्गदेह जब चेतना शक्तिसे युक्त होता है, तब उसे जीव कहते हैं। इस लिङ्गदेहके द्वारा देही जीव भिन्न-भिन्न स्थूलदेहोंका ग्रहण एवं परित्याग करता है और इसी स्थूलदेहसे ही उसे हर्ष, शोक, भय, दुःख एवं सुखादिका अनुभव होता है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें देखा जाता है—

सब मुक्त करि तुमि वैकुण्ठे पाठाइवा।
सूक्ष्मजीवे पुनः कर्मे उद्‌बुद्ध करिवा॥

सेई जीव हबे इहा स्थावर जङ्गम।
ताहाते भरिबे ब्रह्माण्ड येन पूर्वसम॥

(चै॰च॰अ॰ ३/७८-७९)

नामाचार्य श्रीहरिदास कहते हैं—प्रभो! जब तक आप इस मर्त्त्यलोकमें प्रकट रहेंगे, तब तक आप जगत्‌के जितने भी स्थावर-जङ्गम हैं, उन सबको मुक्त करके वैकुण्ठ भेज देंगे। इधर जो समस्त जीव सूक्ष्म रूपसे अपने-अपने कर्मों सहित कारणसमुद्रमें अवस्थान करते हैं—उनके कर्मोंको जाग्रत कर उन्हें आप स्थूलदेह प्रदान कर देंगे वे ही स्थावर जङ्गम रूपमें आकर फिर इस ब्रह्माण्डको पहलेकी भाँति भर देंगे॥ २॥

अवतरणिका भाष्य—ननु सूक्ष्मं चेत् कारणं स्वीकृतं प्रविष्टं तत् साङ्ख्य कुक्षौ प्रधानस्य तत्रैवं निरूपणादित्याशङ्कायामाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न हो सकता है कि यदि सूक्ष्मशरीरको ही कारण स्वीकार करते हैं, तब तो यह सांख्यमतमें ही प्रविष्ट हो

गया, क्योंकि सांख्यशास्त्रमें प्रधानको ही इस प्रकारसे अव्यक्त कारण रूपमें निरूपण किया है, इस आशङ्काके उत्तरमें कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। तत्रेति सांख्यशास्त्रे।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अवतरणिका भाष्यके अन्तर्गत 'तत्र' शब्दका अर्थ है सांख्यशास्त्रमें।

सूत्र—तदधीनत्वादर्थवत्॥ ३॥

सूत्रार्थ—'तदधीनत्वात्'—परमकारण ब्रह्मके अधीन होकर ही प्रकृति 'अर्थवत्' निजकार्य उत्पादनमें सामर्थ्यरूप फल प्राप्त करती है, अतएव प्रकृतिको जगत्-कारण नहीं कहा जा सकता॥ ३॥

सूत्रानुवाद—परम कारणभूत परमात्माके अधीन होकर ही प्रधान निजकार्य सृष्टि-उत्पादनरूप फलका सामर्थ्य प्राप्त करता है॥ ३॥

गोविन्दभाष्य—परमकारणब्रह्माधीनत्वादर्थवत् प्रधानं स्वकार्योत्पादनफलवदित्यर्थः। तदीक्षणेनैव प्रधानं वर्त्तते न तु स्वतः जाड्यात्। श्रुतिश्च श्वेताश्वतराणां (४/१०)। *'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।' 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्।'* (४/९) *'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति'* (४/१) इत्याद्या। स्मृतिश्च—(श्रीमद्भा॰ १/१०/२२) *'स एव भूयो निजवीर्यचोदितां स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम्। अनामरूपात्मनि रूपनामनी विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत्।' 'प्रधानं पुरुषञ्चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः। क्षोभयामास संप्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ'* (वि॰पु॰ १/२/२९)। *'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचरायरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते'* (श्रीगी॰ ९/१०) इत्याद्या। एवमभ्युपगमान्नास्माकं साङ्ख्यमते प्रवेशः। स्वतन्त्रमेव प्रधानं कारणमिति तत्राभ्युपगमात्॥ ३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—परमकारण ब्रह्मके अधीनत्वके कारण ही प्रधान स्व-कार्य-उत्पादनरूप फलसे युक्त होता है। *'स ईक्षत'* इत्यादि श्रुति-बोधित परमेश्वरके ईक्षण अर्थात् उनकी सिसृक्षा (सृष्टिकी इच्छा) से प्रधान कार्यमें प्रवृत्त होता है। जड़ता अथवा अचेतनत्ववश उसका स्वतः जगत्-कर्त्तृत्त्व नहीं है। श्वेताश्वतरोपनिषदमें श्रुति कहती है—*'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। अस्मान्मायी सृजते*

विश्वमेतत्।' (४/९) अर्थात् प्रकृतिको माया जानो और परमेश्वरको मायाधीश जानो। इस प्रधानके द्वारा ही मायी परमेश्वर इस विश्वकी सृष्टि करते हैं। इसी उपनिषदमें और भी देखा जाता है—*'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।'* (४/१) अर्थात् जो एक तथा अरूप होकर भी शक्तिका आश्रय करके मनके द्वारा सङ्कल्पित एवं निश्चय करके अनेक नाम-रूपका सृजन करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें भी वर्णन है—वे ईश्वर श्रीहरि प्रकृतिको क्षोभित करनेके लिए अन्तर्यामीरूपमें उसमें प्रवेश करते हैं। यह प्रकृति भगवान्‌के अपने शक्तिबलसे वशीभूत है अर्थात् महदादि सृष्टिमें नियोजित है, अपने शक्तिस्वरूप जीवोंको मोहित करनेवाली, सृष्टि-कार्यकी इच्छा रखनेवाली इस प्रकृतिके बीच नाम रूपहीन जीवोंमें नाम-रूप उत्पादन करनेकी इच्छासे अर्थात् जीवोंके भोग एवं मुक्ति विधानके लिए स्थूल-सूक्ष्म-देहकी सृष्टिकी इच्छासे—जीवोंके नाम-रूप सृष्टिके पहले ही तत्प्रतिपादक वेदादि शास्त्रोंकी रचना की। स्मृतिशास्त्र विष्णुपुराण (१/२/२९) में भी कहा है—सृष्टिकालमें श्रीहरि प्रकृति और जीवमें अपनी इच्छाके अनुसार प्रवेश करके सविकार और निर्विकार दोनोंको ही क्षोभित करते हैं। श्रीमद्भागवद्गीता (९/१०) में भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे कहा है—*'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते।'* अध्यक्ष—स्वामी, परमेश्वर मेरे द्वारा अधिष्ठित होकर प्रकृति स्थावर-जङ्गमात्मक जगत्‌की सृष्टि करती है। मेरे द्वारा प्रकृतिमें अधिष्ठानवश एवं मेरी इस अध्यक्षताके कारण जगत् पुनः-पुनः उत्पन्न होता है। अतः इन सब श्रुति-स्मृति वाक्योंसे हम ईश्वर द्वारा की गयी सृष्टिको स्वीकार करते हैं। सांख्यमतमें हमारा अन्तर्भाव नहीं है, वे प्रधानको स्वतन्त्र कारण कहते हैं। उसे पुरुषाधिष्ठित्व रूपमें नहीं मानते॥ ३॥

सूक्ष्मा-टीका—तदधीनेति। परमेति। अस्मादिति प्रधानात् तदुपादायेत्यर्थः। मायी परेशः। यः परेशः। निहितार्थः इदमेवं करिष्यामीति चित्तधृतप्रयोजन इत्यर्थः। दधाति सृजति। स एवेति श्रीभागवते। स ईश्वरः श्रीहरिः प्रकृतिमनुससार तां क्षोभयितुं प्रविवेशेत्यर्थः। कीदृशीमित्याह निजेति। निजवीर्येण स्वरूपशक्तिबलेन

चोदितां वशीकृत्य महदादिकार्ये निषोजितामित्यर्थः। स्वशक्तिभुतानां जीवानां मायां मोहिकां वशयित्रीमित्यर्थः। किमर्थमनुससार। अनामरूपे संज्ञामूर्त्तिरहिते आत्मनि जीवे रूपनामनी देवादिमूर्त्तितत्तत्संज्ञे विधित्समानश्चिकीर्षुर्जीवानां भोगापवर्गार्थं तेषां स्थुलसूक्ष्मोपाधिं सिसृक्षन्नित्यर्थः। शास्त्रकृत् तदनुसृतेः पूर्वमेव वेदादिशास्त्राविर्भावकारीति कर्मज्ञानभक्तिसिद्धये प्रागेव तत्प्रतिपादकं शास्त्रं प्रकटितवानिति निरुपाधि हि तत् कर्त्तृत्वमुक्तम्। प्रधानमिति श्रीवैष्णवे। पुरुषं जीवशक्तिम्। व्ययाव्ययौ सविकारनिर्विकारौ। मयेति श्रीगीतासु। अध्यक्षेण स्वामिना। मया क्षेत्रज्ञकर्मानुगुण्येनाधिर्ष्ठिता प्रकृतिः सचराचरं सूयते जनयति। अनेन क्षेत्रज्ञकर्मानुगुण्येन मत्कर्त्तृकेण प्रकृत्यधिष्ठानेन हेतुना जगद्विपरिवर्त्तते पुनःपुनर्भवति॥ ३॥

सूक्ष्मा-सार— *'तदधीनेत्यादि'* सूत्रके भाष्यमें— *'परमेश्वरेत्यादि' 'अस्मान्मायी सृजते'* इत्यादि—'अस्मात्' इस प्रधानसे अर्थात् प्रधानको ग्रहण करके। 'मायी'—अर्थात् परमेश्वर। *'य एको वर्णो इत्यादि'*—'यः' जो परमेश्वर। 'निहितार्थः'—जो सृष्टिके अभिप्रेत पदार्थोंको अपने चित्तमें निहित करते हैं अर्थात् 'इस वस्तुको इस प्रकार करूँगा'—इस प्रयोजनसे अपने चित्तमें धारण करते हैं। 'दधाति'—सृजन करते हैं। *'स एव भूयः'* इत्यादि—श्रीमद्भागवतमें धृत 'सः' वे ईश्वर श्रीहरि हैं। *'प्रकृतिमनुससार'* प्रकृतिमें उसकी विकृतिको उत्पन्न करनेके लिए प्रवेश करते हैं। किस प्रकारकी प्रकृतिमें प्रवेश करते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं— *'निजवीर्यचोदितां'*—स्वरूपशक्तिबलसे वशीकृत करके महदादि कार्योंके उत्पादनमें जिसे नियोजित कर रखा है। स्वजीवमायाम्—अपनी शक्तिस्वरूप जीवकी माया—मोह उत्पन्न करनेवाली अर्थात् वशमें करनेवाली, किसलिए उसमें प्रवेश करते हैं? इसका उत्तर है—अनामरूपात्मनि—संज्ञा (नाम) एवं मूर्त्तिहीन जीवमें। 'रूपनामनी' देवादिमूर्त्तिरूप एवं इन्द्रादि नाम 'विधित्समानः' करनेके इच्छुक होकर अर्थात् जीवोंकी भुक्ति (भोग) एवं मुक्तिके लिए उनके स्थूल-सूक्ष्म शरीरकी सृष्टि करनेके लिए 'शास्त्रकृत्'—शास्त्रोंका आविर्भाव किया है। इस प्रकृतिमें प्रवेशके पूर्व ही वे वेदादि शास्त्रके आविर्भावक हैं, शास्त्रकृत् कहनेका उद्देश्य है—जीवके कर्म, ज्ञान एवं भक्तियोगकी सिद्धिके लिए पहलेसे ही शास्त्र प्रकटित कर दिये थे। यह उन परमात्माका निरूपाधि (उपाधि सम्पर्कसे रहित) कर्त्तृत्व है। *'प्रधानं*

पुरुषञ्चापि' श्लोक विष्णुपुराणमें कहा गया है। 'पुरुषं' अर्थात् जीवशक्तिको। व्ययाव्ययौ—सविकार एवं निर्विकार दोनों पदार्थ। 'मयाध्यक्षेण' इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवतमें कथित हैं। 'अध्यक्षेण'—स्वामी—परिचालक मेरे द्वारा। जीव—जीवके शुभाशुभ कर्मानुसार मेरे द्वारा अधिष्ठित अथवा परिचालित प्रकृति स्थावर-जङ्गमात्मक विश्वकी सृष्टि करती है। 'हेतुना अनेन' में 'अनेन' इस क्षेत्रज्ञ जीव एवं कर्मके आनुकूल्यवश जगत् बार-बार परिवर्त्तित (अथवा प्रादुर्भूत) होता है॥ ३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यहाँ कोई पूर्वपक्ष करे कि सूक्ष्मशरीरको ही यदि कारणरूपमें स्वीकार करना है, तो सांख्यकी प्रकृति जो अव्यक्त कारणरूपमें निरूपित की गयी है, उसीको कहा जाय। इस आशङ्काका निरास करनेके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि श्रीभगवान्‌की अधीनतामें प्रकृति सृष्टिका सामर्थ्य प्राप्त करती है। सांख्यकी प्रकृति स्वतन्त्र है, इसलिए सांख्यकी प्रकृतिको जगत्‌का कारण नहीं कह सकते।

इस विषयमें श्वेताश्वतर श्रुति कहती है—

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्-
तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्ध।
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥
(श्वे॰ ४/९-१०)

अर्थात् मायाके अधीश्वर, प्रकृतिके परिचालक भगवान् मायाशक्तिके द्वारा इस विश्व समुदायका सृजन करते हैं। उनकी मायासे आबद्ध होकर जीव इस रचित विश्वमें दृढ़ रूपसे (बँधा) रहता है। श्रीभगवान्‌की तीन शक्तियाँ हैं—यथा अन्तरङ्गा स्वरूपशक्ति, बहिरङ्गा मायाशक्ति और तटस्था नामकी जीवशक्ति। इनमें त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको मायाके रूपमें जानना होगा, परमेश्वरको मायी अर्थात् मायाके अधीश्वर रूपमें जानना चाहिये। उन स्वरूपशक्तिमान परमेश्वरके विभिन्नांश जीवोंके द्वारा यह जड़जगत् व्याप्त है।

इसी उपनिषदमें श्रुति और भी वर्णन कर रही है—*'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति'* (श्वे॰ ४/१) अर्थात् अद्वितीय परमेश्वर लीलामय श्रीहरि प्राकृतरूपरहित होकर भी सृष्टि आदिकी इच्छा लेकर अर्थात् मनमें निगूढ़ सृष्टिका सङ्कल्प लेकर अकेले ही अन्योंसे निरपेक्ष रूपमें बहुत प्रकारसे अपने शक्तियोगसे नानाविध नाम-रूपसे युक्त विश्वकी सृष्टि करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें भी वर्णन है—

स एव भूयो निजवीर्यचोदितां
स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम्।
अनामरूपात्मनि रूपनामनी
विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत्॥

(श्रीमद्भा॰ १/१०/२२)

अर्थात् वे श्रीभगवान् ही अपने अप्रच्युत (अपतित) स्वरूपमें अवस्थित होकर (सृष्टिप्रवाह अनादिवश) पुनः-पुनः जीवोंके भोगके लिए जड़ीय नाम-रूपरहित जीवात्माके नाम एवं रूप इत्यादिकी सृष्टि करनेकी इच्छासे अपनी कालशक्ति द्वारा प्रेरित स्वयंके अंशभूत जीवोंको मोहित करनेवाली सृष्टि करनेकी अभिलाषा रखनेवाली बहिरङ्गाशक्तिमें अन्तर्यामीरूपसे अधिष्ठित रहते हैं और कर्मोंका विधान करनेके लिए वेदादि शास्त्रोंकी रचना करते हैं।

श्रीगीतामें भी स्वयं श्रीभगवान्ने कहा है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।* (९/१०) अर्थात् मेरी अध्यक्षतामें बहिरङ्गा प्रकृति या मायाशक्ति चर-अचर सहित सम्पूर्ण जगत्को प्रसव करती है।

श्रुतिने भी कहा है—*स ऐक्षत* (बृ॰आ॰ १/२/५) अर्थात् उसने विचार किया।

श्रीब्रह्माजीके वचन हैं—

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्॥

(श्रीमद्भा॰ २/६/३२)

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

जगत् कारण नहे प्रकृति जड़रूपा।
शक्ति सञ्चारिया तारे कृष्ण करे कृपा॥

कृष्ण शक्त्ये प्रकृति हय गौण कारण।
अग्निशक्त्ये लौह यैछे करये जारण॥

अतएव कृष्ण मूल जगत्–कारण।
प्रकृति कारण यैछे अजा–गल–स्तन॥

(चै॰च॰आ॰ ५/५९–६१)

अर्थात् प्रकृति या गुणमाया जड़ है, इसलिए वह जगत्का कारण नहीं हो सकती। श्रीकृष्ण कृपा करके अपनी शक्तिका उसमें सञ्चार करते हैं। श्रीकृष्णकी शक्तिको पाकर प्रकृति जगत्का गौण उपादान कारण उसी प्रकार होती है, जैसे अग्निकी शक्तिसे लोहेमें जलानेकी शक्ति आ जाती है। अतएव श्रीकृष्ण ही जगत्के मूल कारण हैं। प्रकृति बकरीके गलेमें रहनेवाले स्तनके समान अर्थात् दिखावे मात्रके लिए ही जगत्का कारण है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें और भी देखा जाता है—

यद्यपि सांख्य माने 'प्रधान'–कारण।
जड़ हईते कभु नहे जगत्–सृजन॥

निज सृष्टि शक्ति प्रभु सञ्चारि प्रधाने।
ईश्वरेर शक्त्ये तबे हय त निर्माणे॥

(चै॰च॰आ॰ ६/१८–१९)

अर्थात् यद्यपि सांख्यमतमें संसारका कारण गुणमायाको माना गया है, परन्तु गुणमाया जड़ है, अतः जड़मायासे वैचित्रीमय सृष्टिकी रचना नहीं हो सकती।

इस प्रकार विभिन्न शास्त्रोंके प्रमाणों द्वारा यही प्रतिपादित होता है कि सांख्यका प्रधान जगत्का कारण नहीं हो सकता। श्रीभगवान्के ईक्षण अथवा अध्यक्षतामें प्रकृति सृष्टिकार्य सम्पन्न करती है। सांख्यकार कहते हैं, उनके द्वारा वर्णित प्रधान स्वतन्त्र है, इसलिए उनका प्रधान इस स्थलपर अव्यक्त शब्दका वाच्य नहीं हो सकता॥ ३॥

अवतरणिका भाष्य—इतोऽपि न प्रधानमव्यक्तशब्दवाच्यमित्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—और इस कारणसे भी प्रधान अव्यक्त शब्दका वाच्य नहीं हो सकता, वह कारण कह रहे हैं—

सूत्र—ज्ञेयत्वावचनाच्च॥ ४॥

सूत्रार्थ—वेद (श्रुति) में अव्यक्तको ज्ञेय नहीं कहा गया है, केवल अव्यक्तमात्र शब्द ही सुना जाता है और सांख्यवादी प्रकृतिको ज्ञेय कहते हैं, अतएव इस कारणसे भी प्रकृति अव्यक्त शब्दवाच्य नहीं है॥ ४॥

सूत्रानुवाद—वेदमें प्रकृतिको ज्ञेय (उपास्य) नहीं कहा गया है, इसलिए यह अव्यक्त सांख्योक्त प्रधान नहीं है॥ ४॥

गोविन्दभाष्य—गुणपुरुषान्यताप्रत्ययात् कैवल्यमिति वदन्तः सांख्याः प्रधानस्य ज्ञेयत्वं स्मरन्ति क्वचन विभूतिविशेषलाभाय च, न त्वत्र तदस्ति तदुपस्थापक-शब्दाभावात्॥ ४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'गुणपुरुषान्यताप्रत्ययात् कैवल्यम्'*—जीव और प्रकृतिके भेद-ज्ञानरूप विवेकसे जीवकी मुक्ति होती है, यह बात कहनेवाले सांख्यवादी प्रधानका ज्ञेयत्व स्वीकार करते हैं और किसी-किसी स्थलपर विभूति-विशेषकी प्राप्तिके लिए सत्त्वपुरुषान्यता ख्यातिका उल्लेख है, किन्तु यहाँ इस वेदान्तोपनिषदमें अव्यक्तशब्द मात्र ही सुना जाता है, विभूति विशेषकी प्राप्तिकी बात अथवा ऐसा अन्य कुछ भी नहीं सुना जाता। कारण तत्बोधक कोई शब्द नहीं है॥ ४॥

सूक्ष्मा-टीका—ज्ञेयत्वेति। गुणपुरुषेति। प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानेनेत्यर्थः। न त्वत्रेति। अत्र अस्यामुपनिषदि अव्यक्तशब्दमात्रं श्रूयते न त्वन्यदित्यर्थः॥ ४॥

सूक्ष्म-सार— *'ज्ञेयत्वावचनाच्च'* इस सूत्रके भाष्यमें *'गुणपुरुषान्यताप्रत्ययात्'* का अर्थ है—प्रकृतिपुरुषके भेदज्ञान द्वारा। 'न तत्र तदस्ति' यहाँ इस उपनिषदमें अव्यक्त शब्द मात्र सुना जाता है, कहीं भी विभूति-विशेष प्राप्तिकी बात सुनी नहीं जाती॥ ४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कठोपनिषदमें जिस अव्यक्तका उल्लेख है, उसका ज्ञेयत्व है अर्थात् उसे जानना चाहिये, यह कहीं नहीं कहा गया। सांख्यशास्त्रमें उक्त प्रकृति एवं पुरुषका भेद ज्ञान होनेपर मोक्षकी प्राप्ति होती है, यह कहकर प्रधानके भी ज्ञेयत्वका विचार किया गया है। सांख्यशास्त्रोक्त सत्त्वपुरुषान्यता ख्यातिसे तात्पर्य है—शब्दादि विषयोंकी उपलब्धिका नाम भोग एवं सत्त्व (प्रधान) और पुरुषकी अन्यता (भेद) की ख्यातिका नाम अपवर्ग है। (यहाँ मोक्षार्थक 'अपवर्ग' पद मोक्षके साधनीभूत सत्त्वपुरुषान्यता ख्यातिके लिए प्रयुक्त हुआ है) क्योंकि इस अन्यता ख्यातिके द्वारा ही पुरुष अपवृक्त (मुक्त) होता है। इसलिए इस स्थलपर सांख्यके प्रधानसे उपनिषद वर्णित अव्यक्तको पृथक् ही जानना होगा।

परमकारण ब्रह्मके अधीनत्वके कारण ही प्रकृति कार्य करनेमें समर्थ होती है, यह पूर्व सूत्रमें देखा गया है। इस समय तो यह बता रहे हैं कि जीवोंका अनर्थ करनेवाली प्रकृतिको विष्णुकी कृपासे भक्तगण जय कर लेते हैं।

इसका वर्णन भी श्रीमद्भागवतमें है—

तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं दैवीं सदसदात्मिकाम्।
दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणावतिष्ठते॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२८/४४)

जीवके स्वरूपको छिपानेवाली, बन्धनकी कारण, विष्णुकी बहिरङ्गाशक्तिरूपा, कार्य-कारणरूप अचिन्त्यस्वरूपा, दुरत्यया विष्णुमायाको भगवान्की कृपासे भक्तियोगके द्वारा ही जीतकर अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित हुआ जा सकता है।

श्रीगीतामें भी कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(श्रीगी॰ ७/१४)

अर्थात् यह जीव विमोहिनी एवं त्रिगुणात्मिका मेरी बहिरङ्गाशक्ति निश्चय ही दुस्तरा है, परन्तु जो मेरा ही आश्रय ग्रहण करते हैं, वे

इस मायाको पार कर जाते हैं।

श्रीचैतन्यभागवतमें भी देखा जाता है, *ये करये बन्दी, प्रभु! छाड़ाय सेइ से।* (चै॰च॰म॰ १/२१२) अर्थात् हे प्रभो! जो बन्दी बनाता है, वही छुड़ाता भी है॥ ४॥

सूत्र—वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात्॥ ५॥

सूत्रार्थ—'वदति' पूर्व सूत्रमें अव्यक्तको अज्ञेय कहा गया, इसमें पूर्वपक्षी आपत्ति करते हैं कि किसी-किसी श्रुतिमें उस अव्यक्तको ज्ञेय भी तो कहा गया है। 'इति चेत्' यदि ऐसा कहते हो, तो यह 'न' सङ्गत नहीं है, वहाँ 'प्राज्ञो'—प्राज्ञ अर्थात् परमात्माको ही ज्ञेय कहा गया है, अव्यक्तको नहीं, 'हि' क्योंकि 'प्रकरणात्' परमात्माके प्रकरणमें ही 'अशब्दम्' इत्यादि श्रुति है, जो यह प्रमाणित करती है॥ ५॥

सूत्रानुवाद—किसी-किसी श्रुतिमें अव्यक्त शब्दसे प्रतिपादित प्रधानको ज्ञेय बताया गया है, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है किन्तु यहाँ प्राज्ञ परमात्मा ही ज्ञेय हैं, प्रधान नहीं॥ ५॥

गोविन्दभाष्य—ननु ज्ञेयत्वावचनमप्रसिद्धम्। यतः *'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्। तथा रसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते'* (कठ॰ १/३/१५) इति परवाक्यं निचायेति तस्य ज्ञेयत्वं वदतीति चेन्न। कुतः? हि यस्मात् तत्र प्राज्ञः परमात्मैवाच्यते। *'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।' 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते'* (कठ॰ १/३/११-१२) इति तस्यैव प्रकृतत्वात्॥ ५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्वपक्षी आपत्ति करते हैं कि अव्यक्तका ज्ञेयत्व न कहना अप्रसिद्ध है, क्योंकि *'अशब्दमस्पर्शम्'* इत्यादि परवर्त्ती श्रुति (कठ॰ १/३/१५) वाक्यमें *'निचाय्य'*—इस ज्ञानार्थक पद द्वारा उसका अर्थात् अव्यक्तका ज्ञेयत्व प्रतिपादित हुआ है। श्रुतिका अर्थ इस प्रकार है—जो नित्य शब्दहीन, स्पर्शहीन, रूपहीन, अप्रच्युत-स्वभाव (अपतित-स्वभाव), उसी प्रकार रसहीन, गन्धशून्य, आदि अन्तरहित, महत्से अतीत शास्त्रवत तत्त्वको जानता है, वह मृत्युमुखसे मुक्त हो जाता है। इस आपत्तिके उत्तरमें कहते हैं—यदि यह कहते हो तो, ऐसा

नहीं है। किसलिए? क्योंकि इस श्रुतिमें परमात्माको ही लक्ष्य किया गया है, अव्यक्तको नहीं। इसका कारण, 'प्रकरणात्' परमात्माके प्रकरणमें वही कहा गया है। यह प्रकरण इस प्रकार है—*'पुरुषान्न परं किञ्चित्'* इत्यादि (कठ॰ १/३/११-१२) अर्थात् पुरुषसे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है, वे ही श्रेष्ठकी चरम सीमा हैं, वे ही परमगति (लक्ष्य) हैं। वे ही समस्त प्राणियोंमें प्रच्छन्न रूपसे रहनेके कारण जीवके निकट प्रकाशित नहीं होते॥ ५॥

सूक्ष्मा-टीका—वदतीति। अशब्दमिति। नित्यं सर्वदेति प्रत्येकं सम्बध्यते। निचाय ज्ञात्वा। प्रधानपक्षेऽप्येतद्वाक्यं सङ्गतम्। तत् किल शब्दादिशून्यं महत्त्वात् परञ्च ज्ञेयञ्च सांख्यैः स्मर्यते। मैवमेतत्। कुतः? प्रकरणात्। एवं सति ब्रह्मपक्षे तद्वाक्यार्थः। प्राकृतशब्दादिभोगशून्यं नित्यं महतो जीवाद्हिरगर्भादपि परं ब्रह्म निचाय ज्ञात्वोपास्य च मृत्युमुखात् कालाननात् विमुच्यते विमुक्तो भवतीति। इह वाक्ये सच्चिदानन्दैकरसं परमपुरुषार्थरूपं निखिलहेयप्रत्यनीकं ब्रह्म निरूप्यते न तु प्रधानमिति भावः॥ ५॥

सूक्ष्मा-सार—*'वदतीति'* सूत्रके भाष्यमें *'अशब्दम्'* इत्यादि श्रुतिके अन्तर्गत 'नित्यं' अर्थात् सर्वदा यह पद *'अशब्दमित्यादि'* प्रत्येक पदके साथ अन्वित है, यथा नित्यम् अशब्दम्, नित्यम् अस्पर्शम् इत्यादि। *'निचाय्य'* अर्थात् जानकर। आपत्ति यह है कि अशब्दमित्यादि श्रुति प्रधान पक्षमें भी सङ्गत है, क्योंकि यह प्रधान शब्दादि शून्य है और महत्त्ववशतः सर्वप्रधान एवं ज्ञेय है—ऐसा सांख्यवादी मानते हैं। तब परमात्मा पक्षमें ऐसा नहीं है, यह बात कहना किस प्रकारसे सङ्गत है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—ऐसा नहीं कह सकते, किसलिए? *'प्रकरणात्'* क्योंकि ब्रह्मप्रकरणमें ही यह कहा गया है। ऐसा होनेसे इस वाक्यार्थका ब्रह्मपक्षमें ही सामञ्जस्य है। *'अशब्दमित्यादि'* वाक्यका अर्थ इस प्रकार है—ब्रह्म प्राकृत शब्दादि भोगोंसे शून्य, नित्य, महान अर्थात् जीव हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) से भी प्रधान है, इन ब्रह्म (परमेश्वर) को जानकर और उनकी उपासना करके जीव कालके मुखसे मुक्त हो जाता है। इस प्रकार इस वाक्यमें सच्चिदानन्द एकरस परमपुरुषार्थस्वरूप एवं समस्त हेय पदार्थोंके प्रतिपक्ष रूपमें ब्रह्म ही निरूपित हैं, प्रधान नहीं, यही तात्पर्य है॥ ५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कठोपनिषदके प्रथम अध्यायकी तृतीय वल्लीमें देखा जाता है—*'अशब्दमित्यादि'*। इस श्रुतिका अर्थ है—वे ब्रह्म अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय इत्यादि हैं, उन्हें जानकर मृत्यु मुखसे मुक्त हुआ जा सकता है। अनेक लोग विचार कर सकते हैं कि सांख्यदर्शनमें भी तो प्रकृतिको शब्द, स्पर्शादि गुणोंसे रहित कहा गया है, इसलिए कठोपनिषदके इस वाक्यमें सांख्यकी प्रकृतिको ही ज्ञेय कहा गया है, ऐसा यदि कहते हो, तो इसके उत्तरमें यह सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रकरणमें प्राज्ञ परमात्माका ही प्रसङ्ग चल रहा है। कठोपनिषदके प्रस्तुत वाक्यमें उल्लिखित *'अशब्दम्'* इत्यादि वाक्यसे पहले कहा गया है—*'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा, सा परा गतिः'* (कठ॰ १/३/११)। और भी कहा गया कि *'एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते'* (कठ॰ १/३/१२) इसलिए प्रस्तुत प्रकरणमें परमात्माके विषयमें ही कहा जा रहा है, यह स्पष्ट रूपसे ज्ञात होता है। उन परमात्माको ही जानकर मुक्त हुआ जाता है, प्रकृतिको जान लेनेपर मुक्त हुआ जा सकता है, पूर्वपक्षका यह कथन यहाँ स्थापित नहीं हो सकता। दूसरी बात श्रुतिमें विभिन्न स्थानोंपर *'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'* इत्यादि वाक्योंमें परमात्माको ही जाननेसे संसारसे उत्तीर्ण हुआ जाता है, इस प्रकारके प्रचुर उपदेश हैं, प्रकृतिको जान लेनेसे मुक्त हुआ जा सकता है। ऐसा तो एक भी वाक्य कहींपर भी नहीं देखा जाता है। इतना ही नहीं, सांख्यशास्त्रमें भी कहा है कि *'गुणपुरुषान्यता प्रभावात्'* अर्थात् प्रकृतिपुरुष भेदज्ञानके द्वारा ही जीव मुक्त हो सकता है। अतएव प्रकृतिको जान लेनेपर मोक्ष होता है, यह बात सांख्यवादी भी नहीं कहते।

श्रीमद्भागवतमें श्रीगजेन्द्र-स्तवमें कहा गया है—

न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा
न नामरूपे गुणदोष एव वा।
तथापि लोकाप्ययसम्भवाय यः
स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति॥

तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
अरूपायोरुरूपाय नम आश्चर्यकर्मणे॥

(श्रीमद्भा॰ ८/३/८-९)

अर्थात् जिनका जन्म, कर्म, नाम, रूप एवं गुण-दोष नहीं हैं, तथापि जो लोकोंकी उत्पति एवं विनाशके लिए अपनी मायाके द्वारा इन सबको निरन्तर स्वीकार करते हैं, मैं उन अनन्तशक्ति, रूपरहित और बहुरूपी एवं अत्याश्चर्य कर्मशील उन परमेश्वको नमस्कार करता हूँ॥ ५॥

अवतरणिका भाष्य—इतोऽपि प्रधानं तद्वाच्यं नेत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस कारणसे भी प्रधान अव्यक्त शब्दवाच्य नहीं हो सकता, वह कारण बतला रहे हैं—

सूत्र—त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च॥ ६॥

सूत्रार्थ—'च'—पूर्वोक्त शङ्का-निवारणके लिए 'त्रयाणामेव'—तीनोंका ही अर्थात् कठवल्लीमें पिताका क्रोधोपशम, स्वर्ग-प्राप्तिके लिए अग्निविद्या और आत्मविद्या—इन तीनोंका ही, 'एवम्'—इस प्रकारसे ज्ञेयरूपमें, 'उपन्यास'—उपदेश है, 'प्रश्नश्च'—और इन्हींके सम्बन्धमें नचिकेताके द्वारा यमके समीप प्रश्न भी हुए हैं। इसके अतिरिक्त प्रधानका प्रश्न भी नहीं है, उपदेश भी नहीं है। इसलिए प्रधानकी बात यहाँ आ ही नहीं सकती॥ ६॥

सूत्रानुवाद—कठोपनिषदमें तीनका ही ज्ञेयरूपमें उल्लेख हुआ है तथा इन्हीं तीनोंके सम्बन्धमें प्रश्न भी किया गया है॥ ६॥

गोविन्दभाष्य—चकारः शङ्काहानाय। यदस्यां कठवल्ल्यां त्रयाणामेव पितृप्रसादस्वर्गाग्न्यात्मनामेवं ज्ञेयत्वेनोपन्यासः प्रश्नश्च त्रयाणामेव तेषां वीक्ष्यते, नान्यस्य कस्यचित् पदार्थस्य। ततो नात्र प्रधानं वेद्यम्॥ ६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रमें चकारका प्रयोग पूर्वोक्त शङ्काके निवारणके लिए है, अर्थात् तुम जो *'अशब्दमित्यादि'* पदकी प्रधानके बोधक रूपमें आशङ्का कर रहे हो, ऐसा नहीं है। क्योंकि इस कठवल्लीमें

पितृ-प्रसन्नता, स्वर्ग-प्राप्तिके लिए अग्निविद्या और आत्मविद्या—इन तीनोंका ही ज्ञेयरूपमें उपदेश किया गया है और नचिकेताको यमके निकट इन तीनोंके सम्बन्धमें ही प्रश्न करते हुए देखा जाता है, अन्य किसी प्रधानादि पदार्थके विषयमें जिज्ञासा नहीं हुई है, अतः इस श्रुतिके आधारपर प्रधान ज्ञेय नहीं हो सकता॥ ६॥

सूक्ष्मा-टीका—त्रयाणामिति। नचिकेतसा यमादर्थत्रयं वृतं पितृप्रसन्नता स्वर्गहेत्वग्निविद्या आत्मविद्या चेति। तन्मयमेव अत्रोपदिष्टं नान्यदिति कठवल्ल्यां दृश्यते ततोऽत्र प्रधानं नानेयमित्यर्थः। आत्मशब्देनात्मत्वजातिमद्ग्रहणाज्जीवेशयोर्लाभः॥ ६॥

सूक्ष्मा-सार—नचिकेताने यमके निकट तीन कामनाएँ की थीं, यथा—पिताकी प्रसन्नता, स्वर्ग-प्राप्तिकी आशासे अग्निविद्या और आत्मविद्या। इन तीनोंका ही कठवल्लीमें उपदेश है, इसके अतिरिक्त और कुछ उपदेश वहाँ देखा नहीं जाता। अतएव प्रधानको इस विषयमें लाया नहीं जा सकता, यही तात्पर्य है। आत्मविद्या पदके अन्तर्गत 'आत्मन्' शब्द आत्मत्व जाति-विशिष्टका प्रतिपादक है—इसलिए जीव (उपासक) और ईश्वर (उपास्य) दोनोंका वर्णन पाया जाता है॥ ६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कठवल्लीसे पूर्वोक्त वाक्यमें जिस प्रधानका वर्णन है, वह किसी प्रकारसे इस स्थलपर अव्यक्त शब्दका वाच्य नहीं हो सकता। इसमें और भी एक युक्ति सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें दिखला रहे हैं कि नचिकेताने यमके निकट जाकर तीन विषयोंसे सम्बन्धित प्रश्न किये थे और यमराजने उन तीन विषयोंका ही उपदेश दिया था। इस स्थलपर प्रकृतिके सम्बन्धमें कोई भी प्रश्न नहीं है और उपदेश भी नहीं है, इसलिए प्रधानकी बात यहाँ आ ही नहीं सकती। यदि कोई कहे कि यमने नचिकेताको जीव एवं परमात्माके सम्बन्धमें उपदेश दिया, जिसके कारण इस स्थलपर चार वरदानोंका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है, इसके उत्तरमें टीकाकार कहते हैं कि आत्मविद्याके अन्तर्गत आत्मन् शब्दका आत्मजातीय (एकजातीय) विचार ग्रहण करनेपर जीवात्मा एवं परमात्मा दोनोंकी ही उपलब्धि हो जाती है।

श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है कि स्वायम्भुव मनुने अपने पौत्र ध्रुवसे तत्त्वोपदेश-प्रसङ्गमें कहा था—*तमेव मृत्युममृतं तात दैवं सर्वात्मनोपेहि जगत्परायणम्* (श्रीमद्भा॰ ४/११/२६)। अर्थात् हे वत्स! वे अभक्तजनोंके लिए मृत्युस्वरूप और भक्तगणोंके लिए अमृतस्वरूप हैं। वे ही इस जगत्के परमेश्वर और जगत्-वासियोंके सर्वश्रेष्ठ आश्रय हैं। सर्वान्तःकरणसे उन्हीं भगवान्का आश्रय करो।

और भी उपदेश दिया है—*भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्याग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढम्* (श्रीमद्भा॰ ४/११/३०)। अर्थात् पाँच वर्षकी आयुमें ही भगवत्-स्वरूपमें अहैतुकी और बाधारहित पराभक्तिका अनुशीलन करके अति सहजमें ही 'मैं और मेरा रूप' सुदृढ़ अविद्या-ग्रन्थीका छेदन करनेमें समर्थ हुए थे॥ ६॥

सूत्र—महद्वच्च॥ ७॥

सूत्रार्थ—'महत्वत्'—महान शब्दके समान ही अव्यक्त शब्दके द्वारा 'च'—भी प्रधान ग्राह्य नहीं है॥ ७॥

सूत्रानुवाद—महत् शब्दकी भाँति अव्यक्त शब्द भी भिन्न अर्थबोधक है॥ ७॥

गोविन्दभाष्य—*'बुद्धेरात्मा महान् परः'* (कठ॰ १/३/१०) इत्यत्र यथा बुद्धिपरत्वोक्तेरात्मशब्दैकार्थ्याच्च महच्छब्देन स्मार्त्तं महत्तत्त्वं न गृह्यते। एवमात्मपरत्वोक्तेरव्यक्तशब्देन प्रधानं नेत्यर्थः॥ ७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जिस प्रकार *'बुद्धेरात्मा महान् परः'* (कठ॰ १/३/१०) अर्थात् 'बुद्धिसे महान आत्मा श्रेष्ठ है'—इस वाक्यमें बुद्धिसे महानका श्रेष्ठत्व कहनेसे और 'महान आत्मा' इस कथनसे आत्माके साथ महानका अभेद अर्थ प्रकाशित होनेसे महत् शब्द द्वारा सांख्योक्त महत्तत्त्व ग्रहणीय नहीं होता। इसी प्रकार आत्मासे परमेश्वरका प्रधान कहनेसे अव्यक्त शब्दका वाच्य प्रधान नहीं होता, यह सूत्रका तात्पर्य है॥ ७॥

सूक्ष्मा-टीका—महद्वच्चेति। बुद्धेरात्मेत्यत्र महच्छब्देन प्रथमविकारे वाच्ये महतो महान् पर इत्यनिष्टं स्यात् तथात्मशब्देन महतो विशेषणं चानिष्टमतो न

प्रथमविकारो गृह्यते। एवमात्मपरत्वोक्तेस्तत्राव्यक्तशब्देन प्रधानं न ग्राह्यम्। न ह्यात्मनः परतया प्रधानं सांख्यैर्मतं तस्मात् सूक्ष्मशरीरं तदिति सुष्ठुक्तम्॥७॥

सूक्ष्मा-सार— *'बुद्धेरात्मा महान् परः'* इस वाक्यमें महत् शब्दका वाच्य यदि सांख्योक्त महत्तत्त्व अथवा बुद्धितत्त्व होता है, तो *'महतो महान् परः'* अर्थात् 'महानसे महान श्रेष्ठ है' यह बात सांख्यमतमें सङ्गत नहीं होती, इसी प्रकार 'महान आत्मा'—इस कथनसे बोधित 'महान' शब्द आत्माका विशेषण भी नहीं हो सकता। इस प्रकार यह भी सांख्यका अपसिद्धान्त हो जाता है। अतएव श्रुति प्रोक्त महान शब्द प्रकृतिके प्रथम विकारका बोधक नहीं है। इसी प्रकार आत्मासे प्राधान्य कह देनेसे अव्यक्त शब्दके द्वारा प्रधानको ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रधान आत्मासे श्रेष्ठ हो—यह सांख्यका अभिमत नहीं है। अतएव यह ठीक ही कहा गया है कि अव्यक्त शब्दका अर्थ सूक्ष्मशरीर है॥७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस प्रसङ्गमें सूत्रकारने और एक सूत्र कहा है कि महानके समान ही अव्यक्त शब्दसे प्रधानका ग्रहण नहीं होता, जैसा कि कठवल्लीमें है—*'मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः'* (कठ॰ १/३/१०) अर्थात् मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धिसे महान आत्मा श्रेष्ठ है—इस वाक्यमें महान और आत्मा एकार्थक रूपमें प्रकाश पाते हैं तथापि महत् शब्दसे सांख्य कथित महत्-तत्त्वको कहा नहीं जा सकता। तात्पर्य यह है कि आत्मा शब्दके साथ महान शब्दका अभेद सम्बन्ध होनेसे महान शब्दसे सांख्योक्त महत्-तत्त्वकी उपलब्धि नहीं होती। वैसे ही आत्मासे अव्यक्त श्रेष्ठ है—इस वाक्यमें कहे गये अव्यक्तसे (महत्से) सांख्योक्त अव्यक्त (प्रधान अथवा महत्) को ग्रहण नहीं किया जा सकता। श्रुति कथित अव्यक्तको इस स्थलपर यदि प्रधान विचार कर भी लिया जाय तो सांख्यमतमें यह भी सङ्गत नहीं है, यह टीकामें देखना चाहिये।

श्रीमद्भागवत (११/१५/१४) में द्रष्टव्य है—

महत्यात्मनि यः सूत्रे धारयेन्मयि मानसम्।
प्राकाम्यं पारमेष्ठं मे विन्दतेऽव्यक्तजन्मनः॥

जो योगी सूत्रमें अर्थात् क्रियाशक्ति-प्रधान महत्तत्त्वरूप उपाधि-विशिष्ट मुझमें मनको लगा देता है, वह सर्वोत्कृष्ट मेरी 'प्रकाम' रूप सिद्धि प्राप्त करता है—जिससे इच्छानुसार सभी भोग प्राप्त हो जाते हैं॥ ७॥

२—चमसवदधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—अन्योहपि स्मार्त्तसिद्धान्तो निरस्यते। श्वेताश्वतरोपनिषदि पठ्यते (४/५)—*'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः'* इति।

किमत्र स्मृतिसिद्धा प्रकृतिरजा किंवा ब्रह्मात्मिका वैदिकीति सन्देहे अजामित्यकार्यत्वस्य वह्वीः प्रजाः सृजमानामिति स्वातन्त्र्येण सृष्टेश्च प्रत्ययात् स्मृतिसिद्धेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद अन्य सांख्यसिद्धान्तका भी खण्डन किया जा रहा है। श्वेताश्वतरोपनिषदमें पाठ है कि *'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां ... मजोऽन्यः।'* (श्वे॰ ४/५) पूर्वपक्षके मतमें इसका अर्थ है, यथा—'लोहित' अर्थात् रजोगुण, शुक्ल अर्थात् सत्त्वगुण और कृष्ण अर्थात् तमोगुण—यह त्रिगुणात्मिका, जो बहुत प्रकारकी सृष्टि करती है, जो स्वयं 'अजा'—जन्मरहिता और 'एकान्'—एक, अद्वितीया है, स्वरूपभूताः प्रजाः—अपने ही समान बहुत-सी प्रजाओंकी सृष्टि करनेवाली है, उस प्रकृतिका एक अज अर्थात् मायाधीन जीव सेवन करके अर्थात् उसे आत्मीय-बोधसे आश्रय करके उस प्रकृतिगत सुख-दुःखादिका भोग करता है। और दूसरा अज अर्थात् मुक्तपुरुष भुक्तभोगा प्रकृतिका त्याग कर देता है, अर्थात् अपने स्वरूपमें अवस्थित रहता है। इस श्रुतिमें कथित 'अजा' शब्दमें संशय यह है कि 'अजा' शब्दसे क्या सांख्यदर्शनमें सिद्धान्तित प्रकृति है अथवा वेदसिद्ध ब्रह्मात्मिका शक्ति? इस सन्देहपर पूर्वपक्षीका सिद्धान्त है—इस अजा शब्दसे सांख्योक्त प्रकृतिको ग्रहण करना होगा? क्योंकि वह अजा है, अर्थात् जन्मरहिता है, अकार्या है—वह कार्यस्वरूप नहीं है—किसीका कार्य नहीं है। यह प्रतिपादित हुआ है तथा *'वहवीः प्रजाः सृजमानाम्'*—बहुत-सी प्रजाओंकी सृष्टि करनेवाली कहनेसे स्वाधीन रूपसे अर्थात् अन्य निरपेक्ष रूपसे उसके सृष्टि-कर्त्तृत्वका ज्ञान होनेसे

भी सांख्योक्त प्रकृति ही ग्राह्य है, इस पूर्वपक्षके प्रतिवादके लिए कह रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वमव्यक्तशब्दमात्रेण प्रधानस्य स्फुटमप्रतीतेस्तच्छब्दस्य प्रकृतशरीरपरत्वमुक्तं इह त्वजाशब्दात् लोहितेत्यादिना त्रैगुण्यार्थाच्च तस्य स्फुटं प्रतीतेरजाशब्दः प्रधानपरोऽस्त्विति प्रत्युदाहरण सङ्गत्याह अन्योऽपीत्यादि। अजामित्यादेः पूर्वपक्षेऽर्थः। लोहितेति। वृजःसत्त्वतमांसि गुणा लक्ष्यन्ते। वह्वीः प्रजा इति वहवः पुरुषा बौध्यन्ते। सृजमानामित्यजायाः स्वतःकर्त्तृत्वञ्च। एको विवेकहीनोऽजः पुरुषस्तां जुषमाणो भजन्ननुशेते। तामात्मत्वेनोपगम्य तद्गतसुखदुःखाद्यनुभवतीत्यर्थः। अन्यस्त्वजो विवेकिनां भुक्तभोगां कृतभोगविवेकज्ञानां जहाति भुक्त्वा विमुच्यत इति। सिद्धान्ते तु एको जीवः अन्यस्त्वीश इत्यर्थो बोध्यः। अस्यापि जिघ्रति षड्गुणेश इति श्रीभागवते तद्भोगस्मरणात्। संशयं दर्शयति किमत्रेति। वैदिकी वेदोक्ता।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले अव्यक्त शब्दका केवल प्रयोग था, किन्तु उसके द्वारा प्रधान अर्थात् प्रकृतिकी स्पष्ट रूपसे प्रतीति नहीं होती थी। अब अव्यक्त शब्दका प्राकृतिक शरीरपरत्व कहा गया है—यहाँ 'अजा' शब्दसे और लोहित-शुक्ल-कृष्ण वर्ण कहनेसे उसके द्वारा त्रिगुणात्मिका (त्रिगुणात्मक प्रकृति) अर्थ ही प्रकाशित हो रहा है एवं अव्यक्त शब्दका अर्थ भी स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। अतएव श्रुतिमें उक्त अजा शब्दका प्रयोग प्रधान अर्थमें रहे—इस प्रत्युदाहरण अथवा आक्षेप-सङ्गतिको ग्रहण करके पूर्वपक्षी कहते हैं—*अन्योऽपीत्यादि*—लोहित शब्दसे रजोगुण, शुक्ल शब्दसे सत्त्वगुण और कृष्ण शब्दसे तमोगुण लक्षित है, 'वहवीः प्रजाः' कथनसे जीवका बहुत्व बोधित है और 'सृजमानाम्' शब्दसे प्रकृतिका 'स्वतः कर्तृत्व' प्रतिपादित है। 'एक' इत्यादि श्रुति अंशका अर्थ है कि एक पुरुष है, जो विवेकहीन है, वह इस प्रकृतिका भोग करके अनुशायी है अर्थात् आत्मीय बोधसे उस प्रकृतिका आश्रय करके उस प्रकृतिजन्य सुख-दुःखादिका अनुभव करता है, और दूसरा पुरुष है, जो विवेकीकी आत्मा है, वह प्रकृतिका भोग करके बादमें विवेकादिसे उसका त्याग कर देता है अर्थात् भोगके अन्तमें प्रकृति संश्रव (अङ्गीकार) से मुक्त हो जाता है। सिद्धान्तपक्षमें इस श्रुतिका अर्थ यह

है कि एक जीव है, दूसरा ईश्वर है, ईश्वरके भोगके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार कहा गया है—यथा *'जिघ्रति षड्गुणेशः'* अर्थात् षड्गुणैश्वर्यशाली ईश्वर उसका आघ्राण (दूरसे ही ईक्षण) करते हैं। *'किमत्र इत्यादि'* ग्रन्थ (वाक्य) के द्वारा संशय दिखा रहे हैं। वैदिकी-ब्रह्मात्मिका। भाष्यमें वैदिकी शब्दका अर्थ वेदवर्णित है।

सूत्र—चमसवदविशेषात्॥ ८॥

सूत्रार्थ—नहीं, विशेषात्का उल्लेख न होनेसे सांख्योक्त प्रकृति 'अजा' शब्दका लक्ष्य नहीं है, कारणः 'विशेषात्'—अजा शब्दकी व्युत्पत्ति है—'जो जन्मता नहीं है'—तदनुसार प्रकृतिको जो ज्ञात कराये—ऐसा कोई विशेष हेतु अथवा धर्म कहा नहीं गया है—इस विषयमें दृष्टान्त है—'चमसवत्' चमस शब्दके समान अर्थात् जिस प्रकार चमस कहनेपर व्युत्पत्तिके अनुसार मध्यमें गर्त्त-विशेष यज्ञीय द्रव्य-भक्षणका पात्र मात्र ही जाना जाता है, विशेष किसीको नहीं, इस प्रकार॥ ८॥

सूत्रानुवाद—'अजा' शब्द यहाँ सांख्यशास्त्रोक्त प्रकृतिका ही वाचक है, यह सिद्ध नहीं होता, क्योंकि किसी प्रकारकी विशेषताका उल्लेख न होनेसे 'चमस' की भाँति उसे दूसरे अर्थमें भी लिया जा सकता है॥ ८॥

गोविन्दभाष्य—वदतीति सूत्रान्नेत्यनुवर्त्तते। नात्र स्मृतिसिद्धा सा शक्या ग्रहीतुम्। कुतः? अविशेषात्। न जायत इति व्युत्पत्त्या अजात्वमात्रप्रतीतेस्तस्या ग्रहणे विशेषहेत्वभावादित्यर्थः। दृष्टान्तश्चमसवदिति। यथा बृहदारण्यके—(२/२/३) अर्वाग्विलश्चमस ऊर्द्ध्वबुघ्नेत्यस्मिन् मन्त्रे चम्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या यज्ञीयभक्षणसाधनत्वमात्रप्रतीतेर्विशेषाबोधात् नामतोरूपतश्च सोऽयं चमसविशेष इति न शक्यते ग्रहीतुम्। यौगिकशब्देष्वर्थप्रकरणादिकं विनार्थविशेषानिश्चयात् तद्वत्। तस्मादत्र मन्त्रे स्मृतिसिद्धा प्रकृतिर्नग्राह्या अर्थप्रकरणादेरप्यभावात्। नापि स्वातन्त्र्येण सृष्टेः प्रत्ययः प्रजाः सृजमानामिति (श्वे॰ ४/५) तन्मात्रप्रतीतेः॥ ८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'वदतीति चेन्न'* इत्यादि पूर्वोक्त सूत्रसे 'न' पदकी इस सूत्रमें भी अनुवृत्ति है। इसका अर्थ है—सांख्यशास्त्र सम्मत प्रकृत्ति यहाँ ग्रहणीय नहीं हो सकती। किस कारणसे? उत्तर—'अविशेषात्'

विशेषताका कोई हेतु उल्लिखित नहीं है। जिसका जन्म नहीं है, वह अजा है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार अजात्व धर्मकी प्रतीति होनेसे अजा शब्दसे प्रकृतिको मान लिया जाय, इस पक्षमें कोई विशेष विधान नहीं है—'अविशेषात्' पदका यही तात्पर्य है। इस विषयमें दृष्टान्त है—'चमसवत्'—चमस शब्दके समान। जिस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद (२/२/३) में कहा गया है—*'अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः'*—जिसके शेष भागमें नीचे गर्त्त है—*'चम्यते अनेन'*—इति चमस—जिसके द्वारा पान किया जाता है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार यज्ञीय द्रव्यका भक्षण पात्रमात्र ही प्रतीत होनेके कारण जिस प्रकार चमस कहनेसे किसी विशेष चमसको ग्रहण नहीं किया जाता। इसी कारण विशेषार्थका निश्चय कराना आवश्यक है। प्रकरण इत्यादि भी जब नहीं रहते, तब साधारण अर्थ ही ग्रहीत होता है, इस प्रकार यहाँ भी अजा शब्दसे स्मृतिसिद्ध प्रकृति वाच्य नहीं हो सकती, क्योंकि इसके पक्षमें अर्थ, प्रकरणादि विशेषका निर्णय करानेवाला कोई शब्द दिखायी नहीं देता। और भी एक बात है—प्रकृति स्वाधीन रूपसे सृष्टि करती है, यह किस प्रकारसे जाना जाय? श्रुतिमें तो यही कहा गया है कि मात्र वह बहु प्रजाकी सृष्टि करती है॥ ८॥

सूक्ष्मा-टीका—पूर्वपक्षं परिहरति चमसवदिति। चमसो यज्ञीयपात्रविशेषः। तस्याः सांख्योक्तायाः प्रकृतेः। सोऽयमिति। कथञ्चिदर्वाग्विलत्वादेरन्यत्राप्यविशेषादित्यर्थः। अर्थेति। अर्थेन प्रकरणेन च विशेषो निश्चीयते। यथा हरिं भज भवच्छिदे इत्यत्रानन्यसाध्येन मोक्षलक्षणेन फलेन हरिशब्दस्य परमात्मेत्येवार्थः। देवो जानाति मे मन इत्यत्र बक्तृश्रोतृबुद्धिसान्निध्यलक्षणेन देवशब्दस्य भवानित्येवार्थो निश्चितस्तथा प्रकृतेऽर्थप्रकरणादिकं नास्तीति न स्मार्त्तप्रकृतिर्निश्चितेत्यर्थः। संयोगादिरादिपदात् तन्मात्रेति। सृष्टिमात्रप्रत्ययादित्यर्थः॥ ८॥

सूक्ष्मा-सार—अब यहाँ पूर्वोक्त पूर्वपक्षीके मतका निराकरण कर रहे हैं—*'चमसवत्'* सूत्रमें चमससे तात्पर्य है यज्ञीय पात्र विशेष। *'तस्याः ग्रहणे'*—इस सांख्योक्त प्रकृतिके ग्रहणमें। *'अर्थ प्रकरणादिकं विना'* इत्यादि, अर्थ अर्थात् फल अथवा उद्देश्य एवं प्रकरणके द्वारा विशेषार्थ निश्चय होता है। जिस प्रकार *'हरिं भज भवच्छिदे'* अर्थात् संसार-निवृत्तिके लिए श्रीहरिका भजन करें—यह कहनेपर हरि शब्दसे

सिंह, इन्द्र इत्यादिका बोध न करके अनन्यसाध्य (जो हरिसे भिन्न अन्य द्वारा सिद्ध नहीं है) मोक्षरूप फल (उल्लेख) द्वारा हरि शब्दका परमात्मा अर्थ ही ग्राह्य है और प्रकरण द्वारा भी अर्थविशेष प्रतीत होता है। इसी प्रकार *'देवो जानाति मे मनः'*—देव मेरे मनको जानते हैं—इस कथनमें देव शब्दका अर्थ देवता न जानकर सन्निहित राजाको ही जाना जाता है। यहाँ प्रकरणसे वक्ता, बोद्धा, बुद्धि और सन्निधि—इन सबकी पर्यालोचनासे ही आप (राजा) यह अर्थ ही 'देव' शब्दसे निश्चित हुआ है। इसी प्रकार यहाँ प्रकृतिका जो बोधक हो, ऐसा निश्चय करानेवाला कोई अर्थ, प्रकरणादि प्रमाण नहीं है। इसलिए सांख्योक्त प्रकृति यहाँ ग्रहणीय नहीं है। प्रकरणादि कहनेसे संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता इत्यादि विशेष निश्चय करानेवाले वाक्योंको जानना चाहिये। *'तन्मात्र प्रतीतेः'* केवल सृष्टिमात्रकी ही प्रतीति होती है, इसलिए। सृष्टिके स्वातन्त्र्य अथवा अस्वातन्त्र्यका कोई उल्लेख नहीं है॥ ८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—श्वेताश्वतरोपनिषदके चतुर्थ अध्यायमें देखा जाता है—*'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः अजोह्येको जुषमाणोऽश्नुते जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः'* (४/५) इसका अर्थ है, अपने ही समान भूत-समुदायको रचनेवाली रक्त, श्वेत और कृष्ण वर्णा एक अजाको, निश्चय ही एक अज आसक्त होकर भोगता है। दूसरा अज उस भोगी हुई अजाको त्याग देता है—यहाँ अजा शब्दका जो उल्लेख है, वह क्या सांख्योक्त प्रकृति है अथवा वैदिकी ब्रह्मात्मिका शक्ति? पूर्वपक्षी यदि कहें कि यह सांख्यकी ही प्रकृति है तो इसके निरसनके लिए वर्त्तमान सूत्रमें कहते हैं—नहीं, वह नहीं हो सकती अर्थात् यहाँ सांख्योक्त प्रकृतिको लक्ष्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'अविशेषात्' अर्थात् अर्थ विशेषका कोई हेतु यहाँ उल्लिखित नहीं है, अजा (अजन्मा) होनेसे वह सांख्यकी प्रकृति होगी, ऐसा कहा नहीं जा सकता। दृष्टान्तस्वरूप कहते हैं कि चमसके शब्दके समान। जिस प्रकार चमस कहनेसे तलदेशमें गर्त्त-विशिष्ट यज्ञीय पान-पात्र मात्रको ही जाना जाता है, अन्य किसी विशेषको

नहीं, इस स्थलपर भी वैसा ही समझना चाहिये। विशेष रूपसे सांख्यकी प्रकृति स्वतन्त्र सृष्टि करनेवालीके रूपमें निरूपित हुई है, किन्तु ब्रह्मकी शक्ति ब्रह्मकी अधीनतामें काम करती है। यहाँ केवल प्रजासृष्टिकी चर्चामात्र है।

श्रीभगवान्‌की शक्ति जो भगवान्‌की अधीनतामें सृष्टि करती है, यह श्रीमद्भागवतमें है—

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया॥
गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः।
विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२६/४-५)

अर्थात् श्रीभगवान् विष्णुकी शक्तिरूपिणी अव्यक्ता गुणमयी प्रकृति, लीलाके लिए उनके समीपवर्त्ती होनेपर भी वे भगवान् यदृच्छा क्रमसे उसे बहिरङ्गा रूपमें ग्रहण करते हैं अर्थात् दूरसे ही उसमें ईक्षणके द्वारा जगत्‌की सृष्टि करते हैं। इसके बाद इस प्रकृतिको अपने सत्त्वादि गुणत्रयके द्वारा तदनुरूप विचित्र प्रजा-सृष्टि करते देखकर जीव नामका पुरुष जो इस प्रकृतिमें लीन था, प्रकृतिके संसर्गके समय ही अपने ज्ञानकी आवरण स्वरूपा अज्ञान रूपा अविद्याके द्वारा शीघ्र ही मुग्ध (मोहित) हो जाता है और अपने स्वरूपको भूल जाता है।

श्रीमद्भागवतमें श्रुति-स्तवमें भी देखा जाता है—

स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/८७/३८)

(संसारका मिथ्यात्व सिद्ध हो जानेपर जीव एवं ईश्वरका भेद प्रदर्शित करते हुए कहा जा रहा है) यह जीव मायासे मोहित होकर जब अविद्याको अपना लेता है, तब देह, इन्द्रियादि और गुणोंसे उत्पन्न वृत्तियोंको अपना मानकर उनमें फँस जाता है। उसके

स्वाभाविक आनन्दादि गुण ढक जाते हैं और वह बार-बार जन्म-मृत्यु भोगता है। आप सदा-सर्वदा नित्य ऐश्वर्यसे सम्पन्न हैं। जिस प्रकार सर्प केंचुल त्याग करता है, आप भी उसी प्रकार अविद्याकी उपेक्षा करके अपरिमित ऐश्वर्यके अधिकारी रूपमें अणिमादि आठ प्रकारकी विभूतियोंसे युक्त परम ऐश्वर्य पदपर विराजमान रहते हैं॥ ८॥

अवतरणिका भाष्य—वैदिकी ब्रह्मशक्तिस्तु ग्राह्या विशेषहेतुसत्त्वादित्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—वेदोक्त ब्रह्मशक्ति ही अजा शब्दसे ग्राह्य है, कारण इस विषयमें विशेष हेतु है, यही कह रहे हैं—

सूत्र—ज्योतिरूपक्रमा तु तथाह्यधीयत एके॥ ९॥

सूत्रार्थ—'ज्योतिः' अर्थात् ब्रह्म ही जिसका उपक्रम अर्थात् कारण है, इस 'अजामेकां' इत्यादि श्रुतिके द्वारा प्रतिपादित यह अजा ब्रह्मात्मिका शक्ति ही ग्राह्य है, 'तथा हि अधीयत एके' क्योंकि अथर्वविद्‌गण इसी प्रकार पाठ करते हैं। 'तु' यह शब्द निश्चयात्मक है॥ ९॥

सूत्रानुवाद—उपक्रम वाक्यसे अन्तिम अजा श्रुतिमें जगत्-कारण ज्योतिः पदसे ब्रह्मकी शक्तिरूपा वेद-सिद्धा अजा ही जानना चाहिये—यह एक शाखावाले आर्थर्वणिक पाठ करते हैं॥ ९॥

गोविन्दभाष्य—तुशब्दो निश्चये। ज्योतिर्ब्रह्म। *'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः'* (बृ॰आ॰ ४/४/१६) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धेः। तदेवोपक्रमः कारणं यस्याः सा ब्रह्मकारणैवेयमजा ग्राह्य चमसवदन्यतोऽस्या विशेषबोधादिति। तत्र यथा *'इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्द्ध्वबुध्नः'* इति (बृ॰आ॰ २/२/३) वाक्यशेषात् शिरोरूपश्चमसविशेषो निश्चित-स्तथास्यामपि प्रथमेऽध्याये अजामन्त्रान्विते चतुर्थे च शक्तेः प्रक्रमात् ब्रह्मशक्तिरूपो विशेष इति। अत्र पूर्वत्र—*'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगुढाम्'* (श्वे॰ १/३) इति। परत्र तु *'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्'* (श्वे॰ ४/१) इति। अथैतस्या ग्रहणे प्रमाणान्तरञ्च दर्शयति तथा हीति। हिर्हेतौ। यस्मादेके शाखिनस्तथाधीयते *'तस्मादेतद्ब्रह्मनामरूपमन्नञ्च जायत'* (मु॰ १/१/९) इति प्रकृतिमीश्वरोत्पन्नां पठन्ति। ब्रह्मशब्दवाच्यमत्र प्रधानं त्रिगुणावस्थं ग्राह्यं *'मम योनिर्महद्ब्रह्म'* (श्रीगी॰ १४/३) इति स्मृतेः॥ ९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द निश्चयके अर्थमें है। 'ज्योतिः' शब्दका अर्थ ब्रह्म है, क्योंकि श्रुतिमें वही प्रसिद्ध है। *'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः'* (बृ०आ० ४/४/१६) अर्थात् देवता ज्योतिः-समूह सूर्यादिके ज्योति-प्रकाशक उन ब्रह्मका ध्यान करें। ज्योतिः शब्दसे उपक्रमके कारण *'ज्योतिरुपक्रमा सा इयमजा'*—ज्योतिर्ब्रह्मसे उत्पन्न यह अजा अर्थात् ब्रह्मशक्ति ही अजा श्रुतिका प्रतिपाद्य है, क्योंकि चमसके समान प्रमाणान्तरसे ब्रह्मशक्तिका यही अर्थ जाना जाता है। इसी बातको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि *'यथेदं तच्छिरः'* इत्यादि अर्थात् मनुष्यका मस्तक चमस शब्दका वाच्य है, क्योंकि *'अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः'*—चमस कहनेसे यज्ञीय द्रव्य भक्षण पात्र विशेष नहीं, 'तच्छिरः' इत्यादि वाक्यके शेषांशसे मनुष्यके मस्तकरूप विशेष अर्थका बोध होता है—मनुष्यके मस्तकके अन्दर भी गर्त्त है, ऊर्ध्व भागमें गोलाकृति पिण्ड भी है। इसी प्रकार इस उपनिषद (वेदान्तदर्शन) के प्रथम अध्यायमें भी अजा मन्त्र द्वारा व्याप्त इस चतुर्थपादमें शक्तिके ही प्रक्रान्त होनेसे ब्रह्मशक्तिरूप विशेष अर्थ ही अजा शब्द द्वारा बोध्य है। इस उपनिषदके प्रथम भागमें पढ़ा गया था, *'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढा'* (श्वे० १/३) उन्होंने (ब्रह्मवेत्ताओंने) ध्यानयोगका आश्रय करके उनकी उपासना करते हुए ब्रह्मशक्तिका दर्शन किया, जो भगवान्‌के शक्तिस्व गुणोंसे आच्छन्न है। इसी उपनिषदमें बादमें पाठ है *'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्'* (श्वे० ४/१)—जो एक अद्वितीय एवं वर्णहीन (रूपहीन) होकर भी विभिन्न शक्तियोगसे बहुत-से रूपोंमें प्रकाशित होते हैं। तब देखा जाता है कि बहुत रूपोंमें अभिव्यक्तिका कारण ब्रह्मशक्ति ही है। इसपर भी अजा शब्दके द्वारा उस ब्रह्मशक्तिको ग्रहण करनेके लिए सूत्रकार प्रमाण भी दिखा रहे हैं—*'तथा ह्यधीयत एके'*—'हि' क्योंकि 'एके' कोई-कोई अर्थात् अथर्वशाखाविद्‌गण 'तथा' उसे ब्रह्मशक्तिरूपमें 'अधीयते' पाठ करते हैं अर्थात् उन परमेश्वरसे कार्य-ब्रह्म, प्रधान, नाम, रूप, भोग्य-वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं (मु० १/१/९)। अतएव श्रुतिमें प्रकृतिको ईश्वरसे उत्पन्न कहकर व्याख्या की गयी है। यहाँ ब्रह्म शब्दसे त्रिगुणात्मक अवस्थायुक्त प्रधान ही वाच्य है। यही अर्थ ग्रहण करना

चाहिये। इस प्रसङ्गमें भगवान्‌की उक्ति भी प्रमाण है—*'मम योनिर्महद् ब्रह्म'* (गीता १४/३) महत् नामक ब्रह्मरूपा प्रकृति मेरे गर्भाधानका स्थान है। यहाँ प्रधानका वाच्य ब्रह्म ही है॥ ९॥

सूक्ष्मा-टीका—ज्योतिरिति। शिरोरूप इति। मनुष्यमस्तकमिह चमसत्वेन रूप्यत इत्यर्थः। अस्यामुपनिषदि। शाखिन आथर्वणिकाः त्रिगुणावस्थं विभक्तगुणत्रयम। ममेति श्रीगीतासु॥ ९॥

सूक्ष्मा-सार— *'ज्योतिरुपक्रमा तु'* इत्यादि सूत्रके भाष्यमें 'वाक्यशेषात्' शिरोरूप इत्यादि मनुष्यके मस्तकको यहाँ चमस रूपसे रूपक किया गया है, यही तात्पर्य है। 'तथाऽस्यामपि'—इस उपनिषदमें—वेदान्तदर्शनमें। 'एके शाखिनस्तथा'—'शाखिनः' से तात्पर्य है अथर्वविद्‌गण—आर्थवर्णिक। 'प्रधानं त्रिगुणात्मकं'—सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंके विभागसे युक्त प्रधान। 'मम योनिर्महद्‌ब्रह्म'—यह श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है॥ ९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस स्थलपर जिस वैदिकी ब्रह्मशक्तिको जाना जा रहा है, उसका और भी एक विशेष हेतु सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें दिखा रहे हैं। *'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः'* (बृ०आ० ४/४/१६) श्रुतिमें ज्योतिः शब्दसे उपक्रम है—यह कहकर अजाको ब्रह्मकी ही शक्ति बतलाया है। पुनः वैदिक शाखान्तरमें प्रकृति जो ब्रह्मसे उत्पन्न है, यह पाठ है। यहाँ ब्रह्म शब्दसे त्रिगुणावस्थ प्रकृति ही प्रतिपादित हुई है। श्रीमद्भागवतमें कपिल-देवहूति संवादमें भगवान् श्रीकपिलदेवने कहा है—

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम्॥

(श्रीमद्भा० ३/२६/३)

अर्थात् अनादि (नित्य) परमात्मा ही पुरुष हैं, वे प्रकृतिसे पृथक् असङ्ग रूपमें प्राकृत गुणसे रहित हैं, वे समस्त इन्द्रियोंसे अगम्य हैं, स्वयं ज्योतिः हैं अर्थात् स्वप्रकाश यह विश्व उनके ही ईक्षणसे युक्त होकर प्रकाशित हो रहा है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कथित है—*मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।* (गीता १४/३) अर्थात् हे भारत! महत्-ब्रह्मरूपी प्रकृति मेरी योनि अर्थात् गर्भाधान स्थान है। उसमें मैं तटस्थ प्रभावरूप जीव (बीज) का आधान करता हूँ।

इस सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

कालवृत्त्यात्ममायायां गुणमय्यामधोक्षजः।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान्॥
(श्रीमद्भा० ३/५/२६)

अर्थात् चिच्छक्तियुक्त अतीन्द्रिय पुरुष भगवान्ने कालशक्ति द्वारा क्षोभित अपनी बहिरङ्गाशक्ति मायामें अपने अंश पुरुष रूपसे उसमें चिदाभासरूप बीज स्थापित किया।

दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्।
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम्॥
(श्रीमद्भा० ३/२६/१९)

अर्थात् जीवोंके अदृष्टवश क्षोभधर्मको प्राप्त सम्पूर्ण जीवोंके उत्पत्ति-स्थान प्रकृतिमें जब परमपुरुष परमात्माने चिद्रूप जीवशक्तिका आधान किया, उससे ही प्रकाश बहुल तेजोमय महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ।

श्रीकपिलदेवका और भी एक वाक्य है—

यत्तत् त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत्॥
(श्रीमद्भा० ३/२६/१०)

अर्थात् श्रीभगवान् कपिलदेवने कहा—जो सत्त्वादि तीनों गुणोंकी साम्यावस्था है एवं प्रलयमें भी कारणमात्ररूपमें वर्त्तमान रहती है, जो इस प्रकारसे नित्य है, उसीको पण्डितगण अनभिव्यक्त विशेष रूपमें 'अव्यक्त'; महत् आदि विशेषोंके आश्रयरूपमें 'प्रधान' और कार्य कारण रूप महत् आदिके अनुगत स्वरूपमें 'प्रकृति'—इन तीन नामोंसे कहते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी द्रष्टव्य है—

सेइ पुरुष माया-पाने करे अवधान।
प्रकृति क्षोभित करि करे वीर्येर आधान॥
साङ्ग-विशेषाभास रूपे प्रकृति स्पर्शन।
जीव-रूप 'बीज' ताते कैला समर्पण॥
(चै॰च॰म॰ २०/२१२-२१३)

अर्थात् जब वे कारण समुद्रशायी पुरुष मायाकी ओर दृष्टि डालते हैं, तो माया क्षोभित हो जाती है, तब उसमें पुरुष सृष्टिके मूल बीज (वीर्य अथवा मूल-उपादान) का आधान करते हैं। कारणसमुद्रशायी पुरुष अपने अङ्ग विशेष नेत्रोंके आभास या ज्योतिके द्वारा प्रकृतिको स्पर्श करते हैं अर्थात् प्रकृतिका साक्षात् रूपसे स्पर्श नहीं करते। उस क्षोभिता प्रकृतिमें जीवरूप मूल-उपादानको समर्पित करते हैं।

श्रीब्रह्मसंहितामें भी देखा जाता है—*या योनिः सा पराशक्तिः कामोबीजं महद् हरेः* (५/८)।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर इस श्लोकका तात्पर्य इस प्रकार बतलाते हैं—"सृष्टिकी कामनासे युक्त सङ्कर्षण ही प्रपञ्चकी रचनाके लिए उन्मुख श्रीकृष्णके अंश हैं। वे प्रथम पुरुषावतारके रूपमें कारणसमुद्रमें शयन करते हुए मायाके प्रति ईक्षण (दृष्टिपात) करते हैं। यही दृष्टिपात सृष्टिका निमित्त कारण है। उनकी प्रतिफलित ज्योतिका आभास ही शम्भुलिङ्ग है। वही रमाशक्तिकी छायारूपा मायादेवीकी योनि (प्रसव-यन्त्र) से संयुक्त होता है। उस समय महत्-तत्त्वरूप कामबीजका आभास उपस्थित होकर सृष्टिकार्यमें तत्पर हो उठता है। महाविष्णु द्वारा सृजित कामके प्रथम उदयको हिरण्यमय महत्तत्त्व कहते हैं। वहीं सृष्टि-रचनाके लिए उन्मुख मन तत्त्व है। इसमें एक अतिशय गूढ़ विचार यह है कि निमित्त एवं उपादानको लेकर पुरुषकी इच्छा ही सृष्टिकार्य करती है। यहाँपर माया अर्थात् योनि निमित्त है। शम्भु अर्थात् लिङ्ग उपादान हैं तथा पुरुष अर्थात् इच्छामय कर्त्ता महाविष्णु हैं। द्रव्यमय प्रधानरूप तत्त्व उपादान है तथा आधारमय प्रकृतितत्त्व ही माया है। उन दोनोंको मिलानेवाले इच्छामयतत्त्व ही प्रपञ्चरूप जड़जगत्का सृजन करनेवाले श्रीकृष्णके अंशस्वरूप पुरुष हैं। वे ही सृष्टिकर्त्ता हैं॥ ९॥

अवतरणिका भाष्य—ननु कथमस्याः प्रकृतेरजात्वं, अजायाः पुनः कथं ज्योतिरुत्पन्नत्वमित्याशङ्क्य समाधत्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आशङ्का यह है कि प्रकृति अजा हुई किस प्रकार और यदि वह अजा (अजन्मा) है, तो उसका ज्योतिःब्रह्मसे उत्पन्न होना किस प्रकार सम्भव है? इस आशङ्काका समाधान कर रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। अजात्वं ब्रह्मवन्नित्यत्वम्। ज्योतिरुत्पन्नत्वं ब्रह्मकार्यत्वम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अजात्व—अर्थात् ब्रह्मके समान नित्यत्व और ज्योतिरुत्पन्नत्वका अर्थ है ब्रह्मकार्यत्व।

सूत्र—कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः॥ १०॥

सूत्रार्थ—इस प्रकृतिका अजात्व और ज्योतिब्रह्मसे उत्पन्न होना—ये दोनों ही सम्भव हैं—'च' शब्दके द्वारा पूर्वोक्त शङ्काका निराकरण हुआ है। ये दोनों किस कारणसे सम्भव हैं? इसका उत्तर है—'कल्पनोपदेशात्' क्योंकि श्रुतिमें ब्रह्मसे प्रकृतिकी सृष्टि (उत्पत्ति) का उपदेश दिया गया है, इस प्रकृतिसे ही महदादि क्रमसे जगत्की सृष्टि हुई है। तब प्रकृतिका कारणत्व एवं कार्यत्व दोनों किस प्रकारसे सम्भव हैं? इसका उत्तर है—कारण ब्रह्ममें (प्रलय कालमें) यह प्रकृति लीन अवस्थामें रहनेसे नित्य है और कार्यावस्थामें अर्थात् सृष्टिकालमें वह ज्योतिसे उत्पन्न है, इस विषयमें दृष्टान्त बता रहे हैं—'मध्वादिवत्'—जिस प्रकार सूर्य कारणावस्थामें ब्रह्मके साथ एकीभूत है, अतएव वह नित्य है और कार्यावस्थामें अर्थात् वसु इत्यादि देवताओंके लिए मधुरूपमें देवभोग्य-सन्पदा है तथा इसी स्थितिमें उदय-अस्तमयके विभाजनसे युक्त रूपमें कल्पित होनेपर उसकी अनित्य रूपमें प्रतीति है, पर इसमें कोई विरोध अथवा असङ्गति नहीं है, इसी प्रकार 'अविरोधः' यहाँ भी कोई विरोध नहीं है॥ १०॥

सूत्रानुवाद—यहाँ 'अजा' का रूपक मानकर उसके त्रिविध रूपका कल्पनापूर्वक उपदेश दिया गया है, इसलिए भी मधु आदिकी भाँति कोई विरोध नहीं है॥ १०॥

गोविन्दभाष्य—च-शब्देन शङ्का निरस्यते। तद्द्वयमस्याः सम्भवति। कुतः? कल्पनेति। कल्पनं सृष्टिः। *'यथापूर्वमकल्पत्'* (ऋ॰सं॰ ११/१९०/१) इति प्रयोगात्। तमःशक्तिकाद्ब्रह्मणः प्रधानोत्पत्तिकथनादित्यर्थः। इदमत्र तत्त्वम्। तमोऽभिधानातिसूक्ष्मा नित्या च परस्य शक्तिरस्ति। *'तम आसोत् तमसा गूढमग्रे प्रकेतं यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिः'* (ऋ॰सं॰ १०/१/२९/३) इति *'गौरनाद्यन्तवती'* इत्यादि श्रुतेः। सा किल प्रलये तेन सहैक्यं गता, न तु तत्र विलीना तिष्ठति। *'पृथिव्यप्सु प्रलीयत'* (सु॰उ॰ २/४) इत्यादि श्रुत्या पृथिव्यादीनामक्षरान्तानां तमसि लयकथनात् तमसस्तु परस्मिन्नैक्यकथनात्। तदैक्यं नामातिसौक्ष्म्याद्विभागानर्हत्वमेव नान्यत्। इतरथा तम एकीभवतीति (सु॰उ॰ २/४) च्विप्रत्ययासामञ्जस्यात्। अथ सिसृक्षोः परस्माद्देवात् तमःशक्तिकात् त्रिगुणावस्थमव्यक्तमुत्पद्यते। *'महानव्यक्ते लीयते। अव्यक्तमक्षरे, अक्षरं तमसी'* (सु॰उ॰ २/४) इति श्रुतेः। *'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नंत्रिगुणं द्विजसत्तम'* (म॰भा॰मोक्ष॰ १८२/११) इत्यादि स्मृतेश्च। ततस्तु महदादेः सर्गः। तेन प्रधानकल्पनोपदेशेन कारणरूपा कार्यरूपा चेति व्यवस्था प्रकृतिसिद्धा। *'प्रधान पुंसोरजयोः कारणं कार्यभूतयोः'* (वि॰पु॰ १/९/३७) इति स्मृतेश्च। सृष्टिकाले तूद्भूतसत्त्वादिगुणा विभक्तनामरूपा प्रधानाव्यक्तादिशब्दिता लोहिताद्याकारा ज्योतिरुत्पन्नेति। दृष्टान्तमाह—मध्वादिवदिति। यथदित्यः कारणावस्थायामेकीभूतः कार्यावस्थायां वस्वादिभोग्यमधुत्वेनोदयास्तमयत्वेन च कल्प्यमानोऽपि न विरुध्यते (छा॰ ३/१/१) तद्वत्॥ १०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'च' शब्दसे पूर्वोक्त शङ्काका निराकरण हुआ है अर्थात् प्रकृतिका अजात्व एवं ज्योतिब्रह्मसे उत्पन्नत्व—ये दोनों ही सम्भव हैं। किस कारणसे? इसका उत्तर है—कल्पनाका अर्थ है सृष्टि। श्रुतिमें प्रयुक्त है—*'विश्वस्य मिषतो वशी सूर्याश्चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'* (ऋ॰सं॰ ११/१९०/१) अर्थात् जगत्-वासियोंकी दृष्टिके समक्ष ही परमात्माने पूर्व सृष्टिके समान ही सूर्य एवं चन्द्रमाकी सृष्टि की। तात्पर्य यह है कि तमःप्रधान शक्तिमय परमात्मासे प्रकृतिकी उत्पत्ति कही गयी है। इस सम्बन्धमें रहस्यपूर्ण बात यह है कि परमात्माकी तमः नामसे एक अति सूक्ष्म (दुर्ज्ञेय) एवं नित्य शक्ति है। श्रुति यही कह रही है—*'तम आसीत् तमसा गूढम्'* (ऋ॰सं॰ १०/१/२९/३) प्रलयकालमें तमः शक्ति अज्ञानके द्वारा आवृत्त होकर स्थित थी। उस समय समस्त तमोमय था, रात्रि एवं दिन कुछ भी न था, इसी कारणसे प्रकृति आदि एवं अन्तहीन थी। ऐसी प्रसिद्धि

है कि यह प्रकृति प्रलयकालमें ब्रह्मके साथ एक होकर अवस्थित रहती है, उनमें सम्पूर्ण रूपसे विलीन नहीं होती। श्रुति कहती है (सु॰उ॰ २/४)—पृथ्वी जलमें लीन होती है, जल अग्निमें, अग्नि वायुमें, वायु आकाशमें इत्यादि प्रकारसे पृथ्वी आदिसे लेकर अक्षर पर्यन्तका तममें लय होना कहा गया है। तमः शक्तिका लय नहीं कहा गया, किन्तु उसका परब्रह्ममें ऐक्य कहा गया है। ऐक्य शब्दका अर्थ है—अति सूक्ष्मताके कारण विभागका अयोग्यत्व अर्थात् सूक्ष्मता इतनी अधिक है कि उसका विभाग नहीं किया जा सकता, अन्य कुछ नहीं।

यदि इसे लय (लीन होना) कहा जाय, तब *'तम एकी भवति'* (सु॰उ॰ २/४)—जो एक था या एक हो गया, यह 'अभूत' तद्भाव अर्थमें 'च्वि' प्रत्ययका सामञ्जस्य नहीं होता। (जब कोई वस्तु कुछसे कुछ हो जावे अर्थात् जो पहले नहीं थी, वह हो जाय) तो च्वि प्रत्यय लगाकर इस भावको प्रकट करते हैं—(स्वार्थिक-प्रकरण—लघु सिद्धान्त कौमुदी) इसके बाद परमात्माने सृष्टिकी इच्छा की। तमः शक्तिसे सम्पन्न उन परमेश्वरसे त्रिगुणावस्थ अव्यक्तकी उत्पत्ति होती है, महान (महत्-तत्त्व) उस अव्यक्तमें लीन हो जाता है, अव्यक्त अक्षरमें और अक्षर तमः (शक्ति) में लीन हो जाता है—श्रुति इस प्रकारका वर्णन कर रही है। स्मृति (महाभारत, मोक्षपर्व १८२/११) शास्त्रमें भी कहा गया है—हे ब्राह्मणोत्तम! इस तमः शक्तिसम्पन्न परमात्मासे त्रिगुणावस्थ अव्यक्त उत्पन्न हुआ। अव्यक्तसे महद् इत्यादिकी सृष्टि (उत्पत्ति) हुई। अतएव इस प्रधानकी सृष्टिकी उक्तिके द्वारा दो प्रकारकी प्रकृति सिद्ध हुई—कारणरूपा एवं कार्यरूपा। प्रधान और पुरुष ये दोनों नित्य होकर भी कारणस्वरूप ब्रह्मके कार्य हैं—यह कथन विष्णुपुराणमें (१/९/३७) कहा गया है। अतः सिद्धान्त यह हुआ कि सृष्टिकालमें प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंका उद्भव होता है। नाम-रूपका विभाग होता है, प्रधानको अव्यक्त, अव्याकृत इत्यादि पर्यायवाची शब्दोंसे संज्ञित किया जाता है, यह प्रकृति लोहितादि (रक्त, शुक्ल, कृष्ण) आकार धारण करती है और

ब्रह्मज्योतिसे उत्पन्न होती है। इस विषयमें इस प्रकार दृष्टान्त है—*'मध्वादिवत्।'* आदित्य जिस प्रकार कारणावस्थामें एकीभूत होकर रहता है और कार्यावस्थामें वसु, रुद्रादिके भोग्य मधुरूपमें और उदय-अस्त-गमन रूपसे कल्पित होनेपर भी कोई विरुद्ध नहीं रहता। इसी प्रकार प्रकृतिके अजात्व एवं कार्यत्वमें भी कोई विरोध नहीं जानना चाहिये॥ १०॥

सूक्ष्मा-टीका—कल्पनेति। यथेति। अकल्पयदसृजत्। प्रकृतेर्नित्यत्वे प्रमाणं तम आसीदित्यादि। प्रकेतं जगत्। तेन परमात्मना सह। च्विप्रत्ययेति। अनेकमेकं भवतीति व्युत्पत्तेर्महानव्यक्तमित्यादि प्रलीनानामेवोत्पत्तिरिति भावः। स्मृतिस्तमर्थं स्फुटयति तस्मादिति भारतवाक्यम्। तस्मात् तमःशक्तिकात् परमात्मनः। प्रधानेति श्रीवैष्णवे। कारणमित्यत्र ब्रह्मेति बोध्यम्। द्व्यवस्थत्वं ग्राहयितुमाह यथेत्यादि। मधुव्यपदेशानर्हसूक्ष्मात्मना स्थितिः कारणावस्था वस्वादिभोग्यरसाश्रयतया मधुत्वं कार्यावस्थेत्यर्थः॥ १०॥

सूक्ष्मा-सार—*'कल्पनोपदेशाच्च'* इत्यादि सूत्रके भाष्यमें कथित *'यथापूर्वमकल्पयत्'* वाक्यमें अकल्पयत्का अर्थ है—सृष्टि की। प्रकृतिकी नित्यताके विषयमें *'तम आसीदित्यादि'* (ऋ॰सं॰ १०/१/२९/३) श्रुतिका प्रमाण दिया। श्रुतिमें निहित प्रकेतम्का अर्थ है 'जगत्'। *'तेन सहैक्यं गता'* में 'तेन' से तात्पर्य है परमात्माके साथ। *'एकी भवतीति'* (सु॰उ॰ २/४) *'च्विप्रत्ययासामञ्जस्यात्'* जो एक था नहीं, वह एक हो गया—इस अभूत तद्भाव अर्थमें च्वि प्रत्ययकी सङ्गति नहीं होती। महान् अव्यक्तमित्यादि—जो पहले था, उसीकी उत्पत्ति है—यह भावार्थ है। महाभारतमें *'तस्मादव्यक्तमित्यादि'*—इत्यादिसे इसी बातको स्पष्ट किया है। तस्मात् शब्दका अर्थ है—तमः शक्तिसम्पन्न उन परमात्मासे। *'प्रधानपुंसोरजयोः'* इत्यादि श्लोक विष्णुपुराणमें हैं। *'कारणम्'* अर्थात् ब्रह्म—यही जानना चाहिये। *'द्व्यवस्थत्वम्'* दोनों अवस्थाओं—(अजात्व और कार्यत्व) से सम्पन्नत्व ग्रहण करनेके लिए ही कह रहे हैं—यथा आदित्य इत्यादि। सूक्ष्म-स्वरूपमें मधु संज्ञासे संज्ञितत्त्व होनेकी अयोग्य स्थितिका नाम कारणावस्था है, वसु इत्यादिके भोग्य रसोंके आश्रयत्वके कारण मधुत्व है, यही कार्यावस्था है। यह भाष्यका तात्पर्य है॥ १०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रकृतिका अजात्व कहा गया और अजा होकर भी वह किस प्रकारसे ब्रह्मसे उत्पन्न होती है, इसीको प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि हाँ, हाँ, यह सम्भव है। प्रकृति ब्रह्मसे उत्पन्न होती है, यह श्रुति, स्मृति एवं विष्णुपुराण द्वारा प्रमाणित है। यह प्रधान कारणरूपा भी है और कार्यरूपा भी है। दृष्टान्तस्वरूप बता रहे हैं कि जिस प्रकार आदित्य कारणावस्थामें एक होकर भी कार्यावस्थामें वसु, रुद्रादिके भोग्य मधुरूपमें एवं उदय और अस्तमयादि रूपमें कल्पित होता है और उसमें कुछ विरुद्धता भी नहीं रहती, उसी प्रकार प्रकृतिके अजात्व एवं कार्यत्वमें भी कोई विरोध नहीं है।

श्रीपाद रामानुजाचार्यके भाष्यका मर्म यह है कि प्रकृतिको अजा रूपमें और ज्योतिरुपक्रमा विचारमें ब्रह्मसे उत्पन्न कहा है। ऊपर-ऊपर-से विरोध मान लेनेसे विरोध नहीं हो जाता। वस्तुतः प्रकृतिकी दो अवस्थाएँ हैं—कारणावस्था एवं कार्यावस्था। प्रकृतिकी कारणावस्थाको 'अजा' कहा गया है और कार्यावस्थाको ज्योतिरुपक्रमा कहा गया है। कल्पना अर्थात् सृष्टिके उपदेश हेतु। 'मध्वादिवत्' अर्थात् आदित्य सृष्टिके पूर्व एक रूपमें अवस्थान करके भी सृष्टिके बाद जिस प्रकार देवताओंके भोग्य रूपमें कल्पित होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी है।

श्रीमद्भागवतमें भी द्रष्टव्य है—

केवलात्मानुभावेन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम्।
संक्षोभयन् सृजत्यादौ तया सूत्रमरिन्दम॥

तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं सृजन्तीं विश्वतोमुखम्।
यस्मिन् प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/९/१९-२०)

अर्थात् हे शत्रुदमन! वे भगवान् ही सृष्टिकालमें केवल आत्मा अनुभूतरूप अपनी कालशक्तिके द्वारा अपनी त्रिगुणात्मिका मायाको क्षुब्ध करते हैं और उससे ही सर्व प्रथम क्रियाशक्ति प्रधान सूत्र (महत्तत्त्व) की रचना करते हैं। सब प्रकारकी सृष्टिका मूल कारण जिससे यह सारा विश्व सूतमें ताने-बानेकी तरह ओतप्रोत है और जिसके द्वारा जीव संसार दशाको प्राप्त होता है, शास्त्रकार त्रिगुणात्मक

विचित्र विश्वके अहङ्कारके द्वारा प्रकट करनेवाले उस सूत्ररूप महत्तत्त्वको ही त्रिगुणका कार्य कहा करते हैं।

और भी,

कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम्॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२६/८)

अर्थात् शरीर, इन्द्रियों तथा उनके अधिष्ठातृ देवताओंके कार्य-कारण-कर्त्तृत्व आदि भाव प्राप्तिके विषयमें पण्डितजन प्रकृतिको ही कारण बतलाते हैं। (क्योंकि कूटस्थ आत्मामें परमात्माका प्राधान्य विद्यमान है, इसलिए वह आत्मा निरुपाधिक-स्वतः ही निर्विकार है। प्रकृतिके परिमाणस्वरूप ही देह आदिमें अहङ्कार उत्पन्न होनेके कारण प्रकृतिके ही प्राधान्यवशतः उसीको ही इस कर्त्तृत्व आदिके कारण रूपमें कहा गया है।) किन्तु सुख-दुःख आदिके कर्मफलको भोगनेमें प्रकृतिसे भिन्न पुरुषको ही कारण कहा जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता (१३/२१) में—

कार्यकारण कर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

अर्थात् जड़ीय कार्य और कारणके कर्त्तृत्वके विषयमें प्रकृतिको हेतु कहा जाता है तथा जड़ीय सुख-दुःख आदिके भोक्तृत्वके विषयमें पुरुष अर्थात् बद्धजीवको हेतु कहा जाता है॥ १०॥

३—न संख्योपसंग्रहाधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—बृहदारण्यके—*'यस्मिन् पञ्चपञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्'* इति श्रूयते। किमत्र कापिलतन्त्रोक्तानि पञ्चविंशतितत्त्वानि ज्ञेयानि किंवा पञ्चैव केचिदन्ये इति वीक्षायां बहुब्रीहिगर्भकर्मधारयविशिष्टात् पञ्चपञ्चजनशब्दात् पञ्चविंशतिपदार्थप्रतीतेः कपिलोक्तान्येव तानि ग्राह्याणि आत्माकाशयोरतिरेकस्तु कथञ्चिन्निर्वर्त्तनीयः। जनशब्दस्तत्त्ववाचीत्येवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—बृहदारण्यक श्रुति (४/४/१७) में श्रुति है—जिसमें पच्चीस तत्त्व और आकाश प्रतिष्ठित हैं, उन्हींको मैं

परमात्मा जानकर उपासना करता हूँ, जो इस प्रकारसे अमृत-ब्रह्मको जानते हैं, वे अमृत (अमर) अर्थात् मुक्त होते हैं। इस विषयको लेकर संशय यह है—*'पञ्चपञ्चजनाः'* पदमें क्या सांख्यशास्त्रोक्त पच्चीस तत्त्व (यथा पृथ्वी, जल अग्नि, वायु, आकाश—ये स्थूल पञ्च महाभूत, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—ये पञ्चतन्मात्र अर्थात् सूक्ष्म महाभूत, चक्षुः, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक्—ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय, वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रिय, उभयेन्द्रिय—मन, अहङ्कार, महत्तत्त्व और प्रकृति एवं पुरुष) को जाना जाय अथवा पाँच तत्त्वसे पञ्चजन नामक किसी संज्ञा विशेषको माना जाय? जैसा कि कुछ लोग मानते हैं। इस संशयके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं कि सांख्योक्त पच्चीस तत्त्व ही पञ्चपञ्चजनाः पदका वाच्य हैं। इसका कारण? इसके उत्तरमें वे कहते हैं—*पञ्च पञ्चजनाः* पद बहुव्रीहि समासपूर्वक (गर्भित) कर्मधारय समाससे निष्पन्न हुआ है, इससे पच्चीस संख्यक पदार्थोंको ही जाना जाता है। बात यह है कि पहले *'पञ्चपञ्चाः पञ्चकृत्व आवृत्ताः पञ्च'*—अर्थात् पाँच बार आवृत्त पञ्च (जिस पाँच संख्याकी पाँच बार आवृत्ति की गयी है)—इस प्रकारसे तो बहुव्रीहि समास निष्पन्न है और इसके बाद पञ्चपञ्चजनाः इस वाक्यमें कर्मधारय समास है। संशय हो सकता है कि इन पच्चीस तत्त्वोंमें तो आकाश एवं आत्मा अथवा पुरुष भी ग्रहण किये जाते हैं, तब पुनः आकाश और *'तमेव मन्य आत्मानम्'* (उसे ही आत्मा मानकर जो अमृतस्वरूप ब्रह्मको जानते हैं) यह कहकर आत्माकी बातको अतिरिक्त रूपसे किसलिए कहा? इसका उत्तर यह है कि इन पच्चीस तत्त्वोंमें आकाश एवं आत्मा प्रधान है इस विवक्षा (कहनेकी इच्छा) से अतिरिक्तता (आकाश रूप छब्बीसवाँ पदार्थ) का किसी भी प्रकारसे निर्वाह करना होगा। जनशब्द मनुष्यवाची नहीं, तत्त्ववाचक है—इस प्रकार पूर्वपक्षवादियोंकी उक्तिका सूत्रकार समाधान कर रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वमजामन्त्रस्येशशक्तिपरत्वनिर्णायकः प्रागूर्द्धञ्च तच्छक्तिप्रसङ्गो यथास्ति तथायमस्मिन्निति मन्त्रस्य कपिलोक्तपञ्चविंशतितत्त्वनिर्णायका पञ्चजनश्रुतिरस्तीति दृष्टान्तसङ्गत्याह—बृहदारण्यके यस्मिन्नित्यादि। फलद्वयमिह

प्राग्वद्बोध्यम्। यस्मिन् परेशे प्राणादयः पञ्च सर्वाधार आकाशश्चैते सन्ति। तमेवात्मानं विभुविज्ञानानन्दं ब्रह्म—बृहद्गुणकममृतमविनाशि नमहं मन्ये ज्ञात्वोपासे। य इदं विद्वानमृतो मुक्तः। तद्विज्ञानेन मुक्तेरवश्यम्भावादिति भावः। बहुब्रीहिगर्भेति। पञ्चकृत्व आवृत्ताः पञ्चेति पञ्चपञ्चाः संख्येयाव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येइति सूत्रात् समासः। संख्येयार्थया संख्यया सहाव्ययादयः समस्यन्ते स बहुब्रीहिरिति तदर्थः। द्विरावृत्ताः दश द्विदश विप्रा इतिवत्। बहुब्रीहौ संख्येये उजबहुगुणादिति सूत्रात् उच्समासान्तः। संख्येये यो बहुब्रीहिस्तस्मात् उच् न च बहुगुणशब्दाच्चेति तदर्थः। अन्यपदार्थवृत्त्यभावेऽप्ययं बहुब्रीहिर्द्वित्रा इतिवद्बोध्यः। तल्लक्षणस्य प्रायोऽभिप्रायत्वात् तदधिकारपठितत्वेऽपि तत्त्वमिति न दोषः। ततश्च पञ्चपञ्चाश्च ते जनाश्चेति कर्मधारये पञ्चविंशतिलाभः। नन्वात्माकाशाभ्यां सप्तविंशतिः स्युरिति चेत् तत्राहात्मेति। पञ्चविंशत्यन्तर्भूतयोस्तयोः प्राधान्यात् कथञ्चित् पृथक्कृत्वोक्तिरित्यर्थः। कथञ्चित्त्वन्त्वगतिकगतिः। जनशब्दस्तत्त्ववाची जनस्तत्त्वसमूहक इति स्मरणात्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले जिस प्रकार *'अजामेकां लोहित्येत्यादि'* मन्त्रके अन्तर्गत यह निर्णय था कि 'अजा' शब्द परमेश्वरकी तमः शक्तिका वाचक है, क्योंकि इस श्रुतिके पहले एवं बादमें ब्रह्मशक्तिके प्रसङ्गमें वही उक्त है। इसी प्रकार *'यस्मिन् पञ्चपञ्चजनः'* इत्यादि मन्त्रकी पञ्चपञ्चजन श्रुति कपिलोक्त पच्चीस तत्त्वोंकी ही निर्णायिका (निर्णय देनेवाली) होगी। इस प्रकार दृष्टान्त-सङ्गतिके द्वारा भाष्यकार बृहदारण्यक इत्यादि वाक्य (ग्रन्थ) प्रस्तुत कर रहे हैं। इस उपासनामें पूर्वपक्षी सम्मत फल यह है कि पच्चीस तत्त्वोंकी उपासनासे मुक्ति प्राप्त होती है, जब कि सिद्धान्ती मतमें पञ्च संख्यक पञ्चजन संज्ञक पदार्थोंकी उपासनासे मुक्ति है। *'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना इत्यादि'* श्रुतिकी सिद्धान्त-सम्मत व्याख्या इस प्रकार है—उन परमेश्वरमें, प्राण इत्यादि पाँच पदार्थ और समस्तका आधार आकाश ये सभी अधिष्ठित हैं, उन सर्वव्यापक, विज्ञानानन्द ब्रह्मको मैं बृहत्त्वगुण सम्पन्न अमृत अर्थात् अविनाशी मानता हूँ अर्थात् उस प्रकारसे जानकर उपासना करता हूँ। जो इस प्रकारसे जानते हैं, वे अमृत अर्थात् मुक्त होते हैं—इस विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) के आधारपर मुक्ति अवश्यम्भाविनी है, यही अभिप्रेत है।

'बहुब्रीहि गर्भेत्यादि'—*'पञ्चपञ्चजनाः'* इस पदमें पहले 'पञ्चावृत्ताः पञ्च' इस वाक्यमें *'संख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये'* (अष्टाध्यायी

२/२/२५) अर्थात् संख्यार्थक संख्यावाचक शब्दोंके साथ अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक और संख्यावाचक शब्दोंका बहुव्रीहि समास होता है, जिस प्रकार द्विरावृत्ताः अर्थात् दो बार उच्चारित दस ब्राह्मण कहनेसे बीस ब्राह्मणोंको जाना जाता है, उसी प्रकार पञ्चावृत्ताः पञ्च इस अर्थमें पञ्च-पञ्च पद निष्पन्न हुआ है। इसके बाद पञ्चपञ्चाः किस प्रकार हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं—*'बहुव्रीहौ संख्येये बहुगुणात्'* (अष्टाध्यायी ५/४/७३) इसका अर्थ है—संख्यार्थक संख्या शब्दके साथ बहुव्रीहि समासके अन्तमें डच् (अ) प्रत्यय होता है। डच् प्रत्ययका 'ड' परे होनेके कारण (अथवा इत् संज्ञक होनेके कारण) पूर्वपदके 'टि' का लोप है, इसलिए पञ्चपञ्च अकारान्त हुआ। केवल बहु और गुण शब्दमें डच्का प्रयोग नहीं होता। यद्यपि बहुव्रीहि समासके नियम *'अनेकमन्यपदार्थे'* सूत्रानुसार (अष्टाध्यायी २/२/२४) समाससे निष्पन्न पदको समास घटक पदार्थ न जानकर अपर पदार्थ (अन्य पदके अर्थ) से जानें, (तात्पर्य यह है कि समासमें आये हुए पद यदि अपने अतिरिक्त किसी अन्य पदका बोध कराते हैं तो बहुव्रीहि समास होता है, जैसे—पीताम्बरः—पीत और अम्बर—ये दो पद निजी अभिप्रायको छोड़कर श्रीकृष्णका बोध कराते हैं) किन्तु यहाँ तो अन्य पदार्थका ज्ञान नहीं है, तो भी यह बहुव्रीहि हुआ है, जिस प्रकार द्वौ अथवा त्रयो वाक्यमें 'द्वित्र' शब्द अन्यार्थका बोधक न होनेपर भी बहुव्रीहि समाससे निष्पन्न होता है। तब यहाँ जो बहुव्रीहि समासके लक्षणकी अव्याप्ति हुई, वह भी नहीं है, यह लक्षण प्रचलित अर्थमें है। इसलिए बहुव्रीहि प्रकरणमें यह सूत्र पठित रूपमें बहुव्रीहि कहकर गण्य (माना जाता) है, अतः कोई दोष नहीं है। 'पञ्चपञ्च' शब्दकी निष्पत्तिके बाद *'पञ्चपञ्चाश्च ते जनाश्चेति'*—इस प्रकार कर्मधारय समास द्वारा पञ्चपञ्चजनसे पच्चीस तत्त्वोंको जाना जाता है। यदि कहो कि आकाश एवं आत्माको लेकर तो सत्ताईस तत्त्व होते हैं, तो उनका कहना है कि पच्चीस तत्त्वोंमें आकाश एवं आत्मा प्रधान हैं—इस अभिप्रायसे उन शब्दोंकी स्वतन्त्र रूपसे उक्ति है। 'कथञ्चित्' शब्दका अर्थ है—किसी भी प्रकारसे अर्थात् जहाँ कोई

गति नहीं है, वहाँ अगतिकी गति है। जन शब्द तत्त्ववाचक है। कहा गया है, जनस्तत्त्वसमूहके अर्थात् तत्त्वसमूहका नाम जन है।

सूत्र—न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च॥ ११॥

सूत्रार्थ—'न संख्या उपसंग्रहादपि'—नहीं, सांख्योक्त पञ्चावृत्त पाँच इस समास द्वारा पञ्चपञ्च शब्दसे पच्चीस तत्त्वोंका अवगम होनेपर 'अपि' भी इसे ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे सब इस श्रुतिके प्रतिपाद्य नहीं हैं। किस कारणसे? 'नाना भावात्' नानाविध भूतोंमें अनुगत धर्मके अभावसे पञ्चकत्व (एक-एक तत्त्वको पाँच-पाँच करके) को ग्रहण नहीं किया जा सकता, 'अतिरेकात् च' इसके अतिरिक्त आत्मा एवं आकाशका पृथक् उल्लेख होनेके कारण कुल संख्या सत्ताईस हो जाती है। आप लोग (पूर्वपक्षवादियो!) 'पञ्चपञ्चजनाः' इस पदमें दो बार पञ्चन् शब्दका प्रयोग देखकर भूल न करें। यदि कहो कि तो फिर सिद्धान्त क्या है? वही कह रहे हैं, पञ्चन् शब्द सप्तर्षि शब्दके समान नित्यसमाससे निष्पन्न होकर संज्ञाका वाचक है, जैसे कि पाणिनिके 'दिक् संख्ये संज्ञायाम्' (अष्टाध्यायी २/१/५०) सूत्रका कहना है यदि समस्त शब्दसे किसी पदार्थकी संज्ञाकी प्रतीति होती हो, तो दिशावाचक तथा संज्ञावाचक शब्दोंका कर्मधारय समास होता है, यह सूत्र उसका प्रमाण है। जिस प्रकार 'सप्तर्षयः सप्त' कहनेपर वशिष्ठ आदि प्रत्येकको ही सप्तर्षि शब्दसे संज्ञित किया जाता है, अन्यथा उनचास ऋषि मान लिये जायेंगे, जब कि एक-एक भी सप्तर्षि संज्ञासे ज्ञान होता है, इसी प्रकार पञ्चजन कहनेपर भी एक-एककी पञ्चजन संज्ञासे सङ्गति होगी। अतएव वाक्यका अर्थ यह है कि पञ्चजन नामके पाँच पदार्थ हैं॥ ११॥

सूत्रानुवाद—यहाँ पच्चीस तत्त्वोंका संकलन होनेपर भी सांख्यस्मृतिमें उक्त प्रधान आदि तत्त्व प्रतीत नहीं होते, क्योंकि श्रुतिमें आकाशके भी आधार रूपमें परमात्माके निदर्शनसे उनका अतिरिक्त रूपमें वर्णन है, जिससे केवल पच्चीस तत्त्वोंकी प्रतीति सम्भव नहीं है॥ ११॥

गोविन्दभाष्य—अपि शब्दः सम्भावनायाम्। संख्याग्रहणेनापि न तान्यत्र प्रतिपादयितुं शक्यन्ते। कुतः? नानेत्यादेः। नानाभूतेषु तेष्वनुगतधर्माभावेन पञ्चताया

ग्रहीतुमशक्यत्वात्। आत्माकाशयोः पृथङ् निर्द्देशेन सप्तविंशतितत्त्वापत्तेश्चं न हि पञ्चद्वयश्रुतिमात्रेण भ्रमितव्यम्। कस्तर्हि निर्णयः? उच्यते। पञ्चजनशब्दोऽयं समस्तः सप्तर्षिशब्दवत् संज्ञावाचकः। *'दिक्संख्ये संज्ञायाम्'* (२/१/५१) इति पाणिनिस्मरणात्। यथा सप्तर्षयः सप्तेत्येकैकोऽपि सप्तर्षिसंज्ञस्तथा पञ्चजनाः पञ्चत्येकैकोऽपि पञ्चजनसंज्ञ इत्यर्थः। ततश्च पञ्चजनसंज्ञकाः पञ्च पदार्था इति सुष्ठु॥ ११॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'अपि' शब्दका अर्थ यहाँ सम्भावना है, अर्थात् *'पञ्चपञ्च जनाः'* इत्यादि श्रुतिमें कथित पदके द्वारा पञ्चपञ्चक (पाँच बार पाँच) तत्त्व अर्थात् पच्चीस संख्याका बोध होनेपर भी उससे कपिलोक्त पच्चीस तत्त्वका यहाँ प्रतिपादन करना सम्भव नहीं है। क्यों? इसका उत्तर है—*'नाना भावात्'*, क्योंकि नानाभूत! कपिल-सिद्धान्त है—*'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति विकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृति र्न विकृतिः पुरुषः।'* (सां०का० ३) अर्थात् आद्या (मूल) प्रकृति एक है, वह नित्य है। महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्च तन्मात्राएँ—ये सात प्रकृति एवं विकृति दोनों स्वरूप हैं अर्थात् ये कार्य भी हो सकते हैं और कारण भी और सोलह जो कहे गये, वे हैं—पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और एक उभयेन्द्रिय (मन) तथा पञ्च महाभूत—ये केवल कार्य हैं, कारण नहीं, किन्तु पुरुष (आत्मा) प्रकृति भी नहीं है, विकृति भी नहीं है। इस प्रकार पच्चीस तत्त्व हैं, किन्तु पाँच-पाँच अवयव (जन) लेकर (एक तत्त्वको पाँच-पाँच करके) पच्चीस संख्या नहीं है। यदि कपिल वर्णित संख्याको स्वीकार कर भी लिया जाय तो उसमें भी बाधा है—*'अतिरेकाच्च'* अर्थात् एक आत्मा और भौत (भूतात्मक) से भिन्न आकाश—इन दोनोंको स्वीकार करनेपर सत्ताईस संख्या होती है। अतएव पञ्चपञ्चजन—इस दो बार पञ्चन् शब्दके उल्लेखसे आप पञ्चपञ्चक तत्त्व अर्थात् इसे पच्चीस तत्त्व कहकर भ्रममें न रहें। तब सिद्धान्त क्या है? वही कहते हैं—पञ्चपञ्चजन शब्द सप्तर्षि शब्दके समान संज्ञार्थमें कर्मधारय समाससे निष्पन्न है। यहाँ पाणिनिका सूत्र है—*'दिक् संख्ये संज्ञायाम्'* (२/१/५०) तदनुसार दिशा एवं संख्याके वाचक शब्दोंका तभी कर्मधारय समास होता है, जब कि समस्त पद

किसी पदार्थकी संज्ञा हो, अन्यथा नहीं। जिस प्रकार *'सप्तर्षयः सप्त'* कहनेपर प्रत्येक ऋषिको ही सप्तर्षि संज्ञासे कहा जाता है, इसी प्रकार *'पञ्चजनाः पञ्च'* कहनेपर भी प्रत्येक ही पञ्चजन संज्ञक है। अतएव सिद्धान्त यह है कि पाँच पदार्थ (प्राणादि) ही पञ्चजन-संज्ञक हैं—यही प्रकृत अर्थ है और यही सङ्गत कहा गया है॥ ११॥

सूक्ष्मा-टीका—एतं पूर्वपक्षं निरस्यन्नाह न संख्येति। तान्यत्रेति। कपिलोक्तानीत्यर्थः। नानाभूतेष्विति। मूलप्रकृतिरेका। प्रकृतिविकृतयो महदादयः सप्त। इन्द्रियाण्येकादश भूतानि तु पञ्चेति। विकृतय एव षोडश। प्रकृतिविकृतिभावहीनः पुरुष एक इत्येवं नानाभूतानि तानि न तु पञ्चपञ्चकरूपाणीत्यर्थः। कपिलोक्तसंख्याङ्गीकारे वाधकान्तरञ्चाह आत्मेति। तथा चापसिद्धान्तापत्तिः। दिगिति। एते संज्ञायामेव समस्येते स कर्मधारयः। दिग् यथा दक्षिणाग्निः। संख्या यथा सप्तर्षयो विप्रा इति॥ ११॥

सूक्ष्मा-सार—पूर्वपक्षका खण्डन करते हुए *'न संख्योपसंग्रहात्'* इत्यादि सूत्र कहा गया। *'तान्यत्र'*—तानि अर्थात् कपिलके द्वारा उक्त। नानाभूतेषु—विविध पदार्थोंमें सभीका पञ्च संख्या अवयवित्व नहीं है (पञ्चजन शब्दमें 'जन' उसका अवयव है)। यथा मूलप्रकृति इत्यादि सांख्यकारिकामें वर्णन है। इसका अर्थ यह है कि मूल प्रकृति एक है, जो विकारहीन है, महत्-तत्त्वसे सात (महत्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र) प्रकृति भी है, विकृति भी है। एकादश (मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय) इन्द्रिय और पाँच महाभूत (क्षिति, अप, तेज, मरुत् एवं व्योम)—ये सोलह केवल विकृति हैं। पुरुष (जीवात्मा) प्रकृति और विकृति भावसे रहित एक है। इस प्रकार नाना स्वरूपों और धर्मोंसे युक्त उनमेंसे प्रत्येकका पञ्चपञ्चक नहीं है। यहाँ कपिलोक्त सांख्यशास्त्र मान लेनेसे और भी एक प्रतिबन्धक अनुपपत्ति (तर्करहित युक्ति) है—*'आत्माकाशयोरतिरेकाच्च'* यह मान लेनेसे तो यह सांख्यके विरुद्धमें अपसिद्धान्त हो जायेगा अर्थात् सांख्यके साथ मेल ही नहीं बैठेगा। *'दिक्संख्ये संज्ञायाम्'* दिक्वाचकका उदाहरण है—दक्षिणाग्नि और संख्यावाचकका उदाहरण है—*सप्तर्षयो विप्राः*॥ ११॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—बृहदारण्यक श्रुति है—

यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥
(बृ॰आ॰ ४/४/१७)

अर्थात् जिसमें पञ्च पञ्चजन एवं आकाश प्रतिष्ठित है, वही आत्मा, ब्रह्म और अमृत है, यह जान लेनेपर अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। यहाँ संशय यह हो सकता है कि इस पञ्च पञ्चजन शब्दसे सांख्योक्त पच्चीस तत्त्वोंको ग्रहण किया जाय अथवा अन्य किसी और को? इस संशयके निराकरणके लिए प्रस्तुत सूत्रमें कहा है—नहीं, सांख्याभिमत पच्चीस तत्त्वोंको मत समझना, क्योंकि संख्याके उपग्रह (ग्रहण) के कारण सांख्यके तत्त्वोंको ग्रहण नहीं किया जा सकता। दूसरी बात यह है कि सांख्यकी वस्तुएँ विभिन्न भावोंसे युक्त कही गयी हैं और संख्यामें भी आकाश एवं आत्मा दो अधिक हो जाते हैं। अतः सांख्योक्त पच्चीसको तत्त्व रूपमें ग्रहण नहीं किया जा सकता।

यहाँ यह पञ्चजन शब्द सप्तर्षि शब्दके समान संज्ञावाचक मात्र है, संख्यावाचक नहीं। इसलिए प्राणादि पञ्च पदार्थोंको ही पञ्चजन शब्दसे लक्षित किया गया है।

श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है—

प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः।
पारतन्त्र्याद्वैसादृश्याद्द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम्॥

कान्तिस्तेजः प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम्।
यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमेर्वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान्॥
(श्रीमद्भा॰ १०/८५/६-७)

अर्थात् क्रियाशक्ति प्रधान प्राण आदिमें जो जगत्की वस्तुओंकी सृष्टि करनेका सामर्थ्य है, वह उनका अपना सामर्थ्य नहीं, आपकी ही है। क्योंकि वे आपके समान चेतन नहीं, अचेतन हैं, स्वतन्त्र नहीं, परतन्त्र हैं। वायुकी शक्तिके द्वारा जिस प्रकार तिनके आदि उड़ा करते हैं और पुरुषकी शक्तिके द्वारा जैसे बाणकी गति देखी जाती है, उसी प्रकार परमेश्वरकी शक्तिसे ही प्राणादि पदार्थोंकी केवल चेष्टा देखी जाती है, इनकी कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं होती। हे प्रभो! चन्द्रमाकी

कान्ति, अग्निका तेज, सूर्यकी प्रभा, विद्युत् एवं तारोंका टिमटिमाना, पर्वतोंकी स्थिरता एवं भूमिकी आधार शक्ति और गन्ध-वृत्ति—ये समस्त वस्तुतः आपकी ही शक्ति हैं॥ ११॥

अवतरणिका भाष्य—के ते इत्यपेक्षायामाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—तो फिर पञ्च पञ्चजनाः पदसे किसे ग्रहण किया जाय? इस प्रश्नके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र—प्राणादयो वाक्यशेषात्॥ १२॥

सूत्रार्थ—'प्राणादयो'—प्राण इत्यादि पाँचजन, 'वाक्यशेषात्'—प्राणस्य प्राणामित्यादि परिशिष्टमें कहे गये वाक्यसे इसका बोध होता है॥ १२॥

सूत्रानुवाद—पञ्चत्व संख्याका अन्वय होनेसे पञ्च प्राण ही यहाँ पञ्चजन शब्द वाच्य है॥ १२॥

गोविन्दभाष्य—*'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः'* (बृ॰आ॰ ४/४/१८) इत्यस्मात् प्राणादयः पञ्च ते बोध्याः॥ १२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'प्राणस्य प्राणम्......मनो विदुः'* (बृ॰आ॰ ४/४/१८) जो उन्हें प्राणोंके प्राण, चक्षुके चक्षु, कर्णके कर्ण, भोग्य वस्तुओंके भोग्य (अन्नके अन्न) और मनके मनको जानता है—इत्यादि श्रुतिसे प्राण, चक्षु, कर्ण, अन्न और मन—ये पाँच पदार्थ पञ्चजन शब्दसे ज्ञेय हैं॥ १२॥

सूक्ष्मा-टीका—प्राणेति। तत्तद्वृत्त्येककारणं तद्व्यापकं वा ब्रह्म ये विदुरित्यर्थः॥ १२॥

सूक्ष्मा-सार—प्राणादि ब्रह्मस्वरूप किस प्रकार हैं? इसकी मीमांसा यह है कि प्राण इत्यादिकी वृत्तिके एकमात्र कारण ब्रह्म अथवा उन प्राणोंमें व्याप्त रहनेवाले ब्रह्म हैं—जो यह जानते हैं—श्रुतिका यह अर्थ है॥ १२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—बृहदारण्यक श्रुतिमें वर्णित वे पञ्चजन पदार्थ कौन-कौन-से हैं? इसीको प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि पूर्वोक्त श्रुति वाक्यके अन्तमें पाया जाता है—

'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म।' (बृ॰आ॰ ४/४/१८) अर्थात् जो विद्वान उन प्राणके प्राण, चक्षुके चक्षु, श्रोत्रके श्रोत्र तथा मनके मनको जानते हैं, वे उन आदि पुराणपुरुष परमेश्वरको जानते हैं। अतएव प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न और मन—इन पाँच पदार्थोंका ही पञ्चजन शब्दसे उल्लेख किया जाता है। प्राणादि सभी ब्रह्म हैं, क्योंकि प्राण इत्यादि की वृत्तिके एकमात्र कारण ब्रह्म हैं अथवा तद्-व्यापक ब्रह्म है। श्रीमद्भागवतमें भी वर्णन है—

इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां त्वं देवाश्च तदनुग्रहः।
अवबोधो भवान् बुद्धेर्जीवस्यानुस्मृतिः सती॥
(श्रीमद्भा॰ १०/८५/१०)

अर्थात् इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंकी विषय-प्रकाशिका शक्ति, उसके अधिष्ठाता देवगण और उनकी अधिष्ठानशक्ति, बुद्धिकी (निश्चयात्मिका) अध्यवसायशक्ति और जीवोंकी यथार्थ प्रतिसन्धानशक्ति (विशुद्ध स्मृति) भी आप हैं अर्थात् आपका स्वरूप है॥१२॥

अवतरणिका भाष्य—नन्वेतन्माध्यन्दिनानां सङ्गच्छते न तु काण्वानां तेषामन्नपाठाभावादित्याशङ्क्य समाधत्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—संशय यह है कि प्राणादि पाँच संख्याओंमें अन्नका उल्लेख माध्यन्दिन शाखावाले तो करते हैं, किन्तु 'अन्न' शब्दके पाठके अभावके कारण काण्वशाखावाले इसे असङ्गत मानते हैं। तब पञ्चसंख्याकी उपपत्ति किस प्रकार होगी? इसका समाधान करते हैं—

सूत्र—ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने॥१३॥

सूत्रार्थ—'एकेषाम्'—किसीके अर्थात् काण्वशाखियोंके पाठमें 'असति अपि अन्ने'—अन्न शब्दका वर्णन न रहनेपर भी 'ज्योतिषा' (पूर्ववर्णित) ज्योतिः शब्दके पाठ द्वारा पञ्च संख्या पूर्ण की जा सकती है॥१३॥

सूत्रानुवाद—काण्वगणोंका अन्नका पाठ न रहनेपर भी ज्योतिः शब्दके द्वारा पञ्च संख्याकी पूर्ति की जा सकती है॥१३॥

गोविन्दभाष्य—एकेषां काण्वानां पाठे अन्ने असत्यपि ज्योतिषा पञ्चसंख्या सम्पद्यते। यस्मिन् पञ्चेत्यतः (बृ॰आ॰ ४/४/१४) पूर्वं तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरिति (बृ॰आ॰ ४/४/१६) ज्योतिषः पठितत्वात्। इहोभयेषां ज्योतिर्मन्त्रे तुल्येऽपि सति ज्योतिर्ग्रहणाग्रहणमपेक्ष्य सत्त्वासत्त्वनिबन्धनं बोध्यम्॥ १३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—कुछ अर्थात् काण्वशाखियोंके पाठमें अन्न शब्द न रहनेसे भी उस स्थानपर ज्योतिष शब्दके पाठसे पाँच संख्याकी पूर्ति होती है। जो *'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः'* (बृ॰आ॰ ४/४/१७)—जिनमें पाँच जन हैं, इत्यादि श्रुतिके पूर्व *'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः'* (बृ॰आ॰ ४/४/१६), वे (देवतागण समस्त ज्योतियोंके ज्योतिःस्वरूप) इस प्रकार श्रुति-पाठ करते हैं, वे श्रुतिमें ज्योतिष् शब्द पढ़ते हैं। यद्यपि शुक्ल यजुर्वेदकी दोनों शाखाओं काण्व एवं माध्यन्दिनके लिए पाठ समान ही है, तो भी *'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः'* इसमें ज्योतिष् शब्दके ग्रहणके कारण पञ्च संख्याका सत्त्व अर्थात् पूरण है और ज्योतिः शब्दके अनुल्लेख अर्थात् उस स्थानपर माध्यन्दिनोंके अन्न शब्दके उल्लेखके कारण काण्वशाखियोंके पक्षमें इसका (अन्नका) असत्त्व है। अर्थात् ज्योतिर्मन्त्रमें ग्रहण और अग्रहणके कारण अन्नका सत्त्व एवं असत्त्व है॥ १३॥

सूक्ष्मा-टीका—ज्योतिषैकेषामिति। प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदूरिति केचित् काण्वाः पठन्ति॥ १३॥

सूक्ष्मा-सार—कुछ काण्वशाखीयगण पाठ करते हैं—*'प्राणस्य प्राणमुत ये मनो विदुः'* (बृ॰आ॰ ४/४/१८) अर्थात् जो उन परमेश्वरको प्राणके प्राण, चक्षुके चक्षु, कर्णके कर्ण, और मनके मनके रूपमें जानते हैं, काण्वशारवीयगणों का पाठ है। इसमें 'अन्नस्य अन्नम्' का उल्लेख नहीं है॥ १३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—कोई यदि पूर्वपक्ष करे कि शुक्लयजुर्वेदकी काण्व और माध्यन्दिन दो शाखाओंमेंसे माध्यन्दिन शाखामें पूर्वोक्त वाक्य सङ्गत हो सकता है किन्तु काण्वगणोंके लिए नहीं, क्योंकि काण्वशाखीयगण अन्न शब्दका निर्देश नहीं करते। इस आशङ्काके समाधानके लिए इस सूत्रमें कहते हैं कि काण्वगणोंके द्वारा 'अन्न' का

पाठ न रहनेपर भी 'ज्योतिषा' अर्थात् 'ज्योतिः' शब्दके द्वारा पञ्च संख्या पूरण होती है। इस वाक्यके पूर्व ही बृहदारण्यकमे पाया जाता है। *'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्'* (बृ॰आ॰ ४/४/१६) अर्थात् ज्योतियोंके ज्योतिःस्वरूप अमृतकी देवगण 'आयु' इस प्रकार उपासना करते हैं। इस सम्बन्धमें श्रीरामानुजाचार्यका मन्तव्य है कि *'यस्मिन् पञ्च'* इत्यादिमें जो निदर्शन है, उससे विषयोंकी प्रकाशक पाँच इन्द्रियोंका ही बोध होता है। *'प्राणस्य'* पदमें कहे गये प्राण शब्दसे स्पर्शनेन्द्रियका ग्रहण होता है, इस इन्द्रियका वायुके साथ सम्बन्ध है। ज्योति शब्दको मुख्य प्राणसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। 'चक्षुषः' से चक्षुरिन्द्रियका एवं श्रोत्रस्यसे श्रोत्रेन्द्रियका निर्देश है। अन्नका अर्थ है—पृथ्वी, घ्राणेन्द्रियका पृथ्वीसे सम्बन्ध है, क्योंकि यह इन्द्रिय गन्ध गुणवाली पृथ्वीसे प्रकट है। *'अद्यते अनेन इति अन्नम्'* इस व्याख्याके अनुसार रसनेन्द्रिय भी अन्न शब्दवाची हो सकती है। 'मनसः' शब्दसे मनका निर्देश है। घ्राण एवं रसनका एक साथ निर्देश होनेपर भी पाँच संख्यामें कोई अन्तर नहीं आता। प्रकाश स्वभाववाली मनपर्यन्त इन्द्रियाँ ही 'पञ्चजन' शब्दसे निर्दिष्ट है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—*ज्योतिः परं यत्र रजस्तमश्च सत्त्वं न यद् ब्रह्म निरस्तभेदम्* (श्रीमद्भा॰ ८/७/३१)॥ १३॥

४—यथाव्यपदिष्टाधिकरणम् (कारणत्वाधिकरणम्)

अवतरणिका भाष्य—पुनरपि सांख्यः शङ्कते। वेदान्तेषु ब्रह्मैककारणं विश्वमिति न शक्यते वक्तुं तेष्वेककारणिकायाः सृष्टेरदर्शनात्। एकत्र *'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'* (तै॰ २/१/३) इत्यादिना सृष्टिरात्महेतुका प्रदर्श्यते। *'असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत तदात्माानं स्वयमकुरुत'* इत्यसद्धेतुका च। अन्यत्र क्वचिदाकाशहेतुका सृष्टिः पठयते। *'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच'* (छा॰ १/९/१) इत्यादिना। क्वचित् प्राणहेतुका। *'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति'* (छा॰ १/११/५) इत्यादिना। क्वचिदसद्धेतुका। *'असदेवेदमग्र आसीत् तत्समभवत्'* (छा॰ ३/१६/१) इत्यादिना। क्वचित् तु सद्धेतुका। *'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'* इति ब्रह्महेतुका। (छा॰ ६/२/१) क्वचित् *'तद्वेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत'* इत्यव्याकृतहेतुका च प्रोच्यते। एवमन्यत्रापि सानेकधा। तदेवं तेष्वेकस्य हेतोरनिरूपणात् ब्रह्मैकहेतुकं

विश्वमिति न शक्यते निश्चेतुं किन्तु प्रधानैकहेतुकं तन्निश्चेतुं शक्यते तद्वेदं तर्हीत्यादि (बृ॰आ॰ १/४/७) श्रवणात्। कार्यकारणयोः सारूप्यं खल्वस्मिन् पक्षे निर्बाधं वीक्ष्यते। इहात्माकाशब्रह्मशब्दा विभुत्वात् असत्सच्छब्दौ तस्य विकाराश्रयत्वात् नित्यत्वाच्च प्राणशब्दश्च स्वोत्पन्नतत्त्वरूपकत्वादीक्षादयोऽपि कार्याभिमुख्यत्वाभिप्रायेण तत्रैव योज्यास्तस्मात् सांख्योक्तं प्रधानमेव विश्वैकहेतुर्वेदान्तैरुच्यते इत्येवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पुनः सांख्यवादी सामने आकर आक्षेप करते हैं कि वेदान्तशास्त्रमें तो ब्रह्मको ही एकमात्र विश्वका कारण बतलाया गया है, यह सिद्धान्त तो उपयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि इस वेदान्त शास्त्रमें सृष्टिके कर्त्तारूपमें मात्र ब्रह्मका ही निदर्शन नहीं है। अपितु ब्रह्मके अतिरिक्त अन्यान्य कर्त्ताओंकी भी उपलब्धि देखी जाती है, जैसे—एक स्थानपर कहा गया—*'तस्माद् वा'* इत्यादि (तै॰ २/१/३) 'आत्मासे आकाशकी उत्पत्ति है।' यहाँ आत्मासे आकाशकी उत्पत्ति कहकर आत्माको सृष्टिका कारण दिखलाया गया, अन्य स्थानपर कहा गया है कि *'असद् वा इदमग्र इत्यादि'* (तै॰ २/७/१) अर्थात् प्रलयकालमें यह विश्व असत् अर्थात् शून्य था, उस शून्यसे सद्वस्तुका जन्म हुआ, और तब उस सत्‌ने स्वयंको नाम-रूपमें अभिव्यक्त कर दिया, इस प्रकार असत्‌को सृष्टिकी उत्पत्तिका कारण कहा गया है। और किसी अन्य स्थलपर आकाशसे सृष्टिकी उत्पत्ति सुनायी देती है, जैसे—*'अस्य लोकस्यका गतिरित्याकाश इति होवाच'* (छा॰ १/९/१) अर्थात् इस लोकका कारण कौन है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा 'आकाश' ही कारण है।

किसी-किसी स्थलपर सृष्टिका हेतु प्राणको कहा गया, यथा *'सर्वाणि ह वा'* इत्यादि (छा॰ १/११/५) अर्थात् इस समस्त विश्वका विलय प्राण ही में होता है। फिर किसी श्रुतिमें 'असत्' को ही सृष्टिका कारण बतलाया। यथा—*'असदेवेदमग्र आसीत्'* इत्यादि (छा॰ ३/१९/१) अर्थात् यह जगत् प्रलयकालमें शून्य (असत्) था, बादमें उत्पन्न हुआ। किसी-किसी श्रुतिमें ब्रह्म (सत्) से उत्पत्ति बतायी गयी। यथा—*'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'* इति (छा॰ ६/२/१) अर्थात् हे सौम्य! श्वेतकेतो! प्रलयकालमें मात्र एक ब्रह्म ही थे। वहाँ प्रकृतिसे भी सृष्टिका दिग्दर्शन है, इसका प्रमाण है—*'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतम्'* (बृ॰आ॰

१/४/७)—उस प्रलयकालमें 'तत्' 'वह प्रधान ही', 'ह'—प्रसिद्ध, अव्याकृतम्—अव्यक्त अर्थात् नाम रूपसे अनभिव्यक्त प्रकृति रूपमें, आसीत्—था। इस प्रकार इस स्थलपर 'अव्याकृत' शब्द द्वारा प्रकृतिको सृष्टिका हेतु बतलाया। इस प्रकार अन्यान्य स्थलोंपर भी इस सृष्टिके अनेक प्रकार अर्थात् विभिन्न हेतु कहे गये हैं।

अतएव वेदान्त-वाक्य-समुदायमें एक ही सृष्टिकर्त्ताका उल्लेख न होनेसे इस विश्वका कारण केवल ब्रह्म हैं, यह नहीं कहा जा सकता है, किन्तु एकमात्र प्रधानको निश्चित रूपसे कारण कहा जा सकता है, इसका प्रमाण यही पूर्वकथित *'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतम्'* श्रुति है। इस प्रधानवादके पक्षमें 'कार्य एवं कारण' की समानता भी निर्बाध रूपसे देखी जाती है। आत्मन्, आकाश एवं ब्रह्म जो विभिन्न श्रुतियोंमें 'कारण' रूपमें निर्दिष्ट हुए हैं, ये सब विभुत्वके द्योतक होनेके कारण प्रधानपर (प्रधानके लिए) हैं। असत्कारणवाद और सत्कारणवाद भी प्रधानके विकारके आश्रय और नित्य रूपमें प्रधानमें ही सङ्गत है। प्राणवाद पक्षमें भी प्राण शब्द स्व-उत्पन्न (प्रकृतिसे उत्पन्न) तत्त्व रूपमें रूपक (पूरकत्व) के कारण प्रकृतिमें ही सम्भव है। *'स ईक्षत'*, *'सोऽकामयत्'* इत्यादि श्रुतिमें जो 'ईक्षण' अथवा 'कामना' सुनायी पड़ते हैं, वे भी प्रधान-कारणवादमें कार्याभिमुख (सृष्ट्योन्मुखी) अभिप्रायसे प्रधानमें ही योजनीय (जोड़े जाने योग्य) अथवा उसीमें सङ्गत हैं। इस प्रकार कार्य एवं कारण दोनों रूपसे सांख्योक्त प्रधान ही विश्वका कारण है, यही वेदान्तवाक्यों द्वारा कथित है। पूर्वपक्षीके इस प्रकारके कथनके प्रतिवादमें सिद्धान्ती कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्र ज्योतिषा वा पञ्चसंख्यापूर्त्तिरिति विकल्पस्याविरोधः कारणविषयत्वाभावात्। अथ कारणे वस्तुनि तस्य विरुद्धत्वेन स्वीकारानौचित्यात् तदनादरेण प्रधानस्यैव कारणत्वं समर्थनीयमिति प्रत्युदाहरणसङ्गत्याह पुनरपीति। नन्वविरोधार्थमयं न्यायोऽत्रासङ्गतः। मैवम्। समन्वयाद्वाक्यार्थज्ञाने स्मृत्यादिप्रमाणान्तरविरोधशङ्कापरिहारस्याविरोधाध्यायार्थत्वात्। इह तु कारणविषयवाक्यानां मिथो विरोधान्न ब्रह्मणि समन्वयः संभवतीत्याशङ्क्य तत्परिहारेण समन्वयस्य साध्यत्वात् तदध्यायसङ्गतिसिद्धेः। असत्परस्य वाक्यस्य बाह्यस्वीकृतासत्परत्वनिरासेन समन्वयस्थापनात् पादसङ्गतिश्च बोध्या। एकत्रेति तैत्तिरीयके। अन्यत्रेति छान्दोग्ये।

अव्याकृतं प्रधानम्। तथाच प्रतिवेदान्तं कारणवैविध्यात् तद्विगानं स्फुटम्। तत्तत् प्रतिपादयतां मिथो विरोधान्न तेषां ब्रह्मणि समन्वयः। किन्त्वनुमानसिद्धप्रधानलक्ष्यत्वमेव साम्प्रतमिति भावः। एवमिति। सा सृष्टिरनेकधा परमाणुसमारब्धतत्सऽपरूपत्वादिनेत्यर्थः। विवक्षितमाह तदेवमिति। अस्मिन् पक्षे प्रधानवादे। इह प्रधाने। तत्रैव प्रधाने—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—प्रश्न है, पूर्वसूत्र *'ज्योतिषा वा पञ्चसंख्या-पूर्तिः'* में अन्नके स्थानपर ज्योतिः शब्द लेकर पञ्चजनकी पञ्च संख्या न होनेपर भी वह पूर्ण होगी, तो इस बातमें विकल्पकी बात आती है। परन्तु इस विकल्पसे कोई असङ्गति नहीं हो सकती, क्योंकि विकल्प कारणको लेकर नहीं है, संख्याको लेकर है, किन्तु विकल्पको सत्स्वरूप ब्रह्म-विषयमें विरोधके लिए स्वीकार किया जाय, तब तो यह अनुचित है। अतएव उसे न मानकर प्रधानको ही कारण कहा जाय, इस 'प्रत्युदाहरण न्याय' को लेकर सांख्यवादी *'पुनरपि'* इत्यादि वाक्यसे अर्थात् सांख्यमतको उठाकर आपत्ति करते हैं। यदि कहो, ब्रह्म-कारणवादमें विकल्प होनेपर तो विरोध होता है, अतएव अविरोधके लिए (विरोध न रहे, इसलिए) प्रत्युदाहरण न्याय यहाँ असङ्गत है अर्थात् इस अधिकरणको अविरोधार्थक मत कहो, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि *'तत्तु समन्वयात्'* (१/१/४) सूत्रमें ब्रह्ममें समस्त वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य प्रमाणित हुआ है, उसीकी रक्षा करनेके लिए समन्वय-बोधक वाक्यार्थ-ज्ञानमें स्मृति इत्यादि अन्यान्य प्रमाणोंका विरोध रह सकता है। इस आशङ्काके परिहारके लिए इस अधिकरणको अविरोध-अध्याय कहना होगा। इस अधिकरणमें जगत्-कारण विषयमें विभिन्न वाक्योंका परस्पर विरोध देखा जाता है, तब वेदान्तवाक्योंका ब्रह्ममें तात्पर्य किस प्रकार सम्भव होगा? यह आशङ्का करके भाष्यकार उसे निरस्त करनेके लिए वेदान्तवाक्योंका ब्रह्ममें तात्पर्य साधित कर रहे हैं, अतएव इस अध्यायकी आवश्यकता है और इस चतुर्थ पादकी उत्थापनिकाकी सङ्गति भी है, क्योंकि *'असद्वा इदमग्र आसीत्'* इत्यादि शून्यवाद-स्वीकृत सत्कारणतावादके निराकरणके द्वारा शून्यका ही जगत्-कारणत्व समन्वय अर्थात् तात्पर्य-स्थापनके लिए पूर्वपक्षीके द्वारा पाद-सङ्गति जानना चाहिये।

एकत्र अर्थात् तैत्तिरीयोपनिषदमें कहा गया है—*'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः'* इत्यादि और अन्यत्र अर्थात् छान्दोग्योपनिषदमें कहा गया *'क्वचिदाकाश-हेतुक।' 'तर्ह्यव्याकृतमासीत्'* में अव्याकृतका अर्थ है प्रधान। *'तथाचेत्यादि'*—यदि यह होता है तो प्रत्येक वेदान्तवाक्यमें विविध कारणोंके उल्लेखके कारण विरोध स्पष्ट ही है। उन-उन कारणोंके प्रतिपादक वेदान्तवाक्योंके परस्पर विरोधके कारण वेदान्तवाक्योंका ब्रह्ममें तात्पर्य हो नहीं सकता। अतएव अनुमान सिद्ध प्रधानमें ही उसका (वेदान्तवाक्य-समुदायका) तात्पर्य है, यही युक्तियुक्त है। यही पूर्वपक्षीका अभिप्राय है। *'एवमन्यत्रापि सानेकधा'* इति—न्याय वैशेषिक मतमें परमाणुसे द्व्यणुकादिके उत्पत्ति क्रमसे यह विश्व महत् परिमाणमें परिणत हुआ है, इत्यादि रूपमें सृष्टिके अनेक प्रकार कहे हैं। *'तदेव'* इत्यादिके द्वारा पूर्वपक्षीका जो विवक्षित है (जो वे कहना चाहते हैं), वही बता रहे हैं। *'अस्मिन् पक्षे'* से तात्पर्य है—प्रधान कारणवादमें। इहात्माकाशेत्यादिमें 'इह' से तात्पर्य है—इस प्रधानमें। कार्याभिमुख्यत्व अभिप्रायसे वही योजनीय है—यहाँ तत्रैवसे तात्पर्य है—उस प्रधानमें ही।

सूत्र—कारणत्वेन च आकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः॥ १४॥

सूत्रार्थ—'च' ऐसा नहीं है, ब्रह्म ही विश्वका एकमात्र कारण है यह निश्चय किया जा सकता है, किस कारणसे, 'आकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तेः' क्योंकि लक्षणसूत्र इत्यादिमें सर्वज्ञता, सत्यसङ्कल्पादि गुण विशिष्ट रूपसे ब्रह्ममें ही निर्णीत हुए हैं, 'कारणत्वेन' उन एक ब्रह्मके ही आकाशादिका कारणत्व समस्त वेदान्तमें कहा गया है॥ १४॥

सूत्रानुवाद—सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सत्यसङ्कल्प, निर्दोष परब्रह्मसे ही जगत्की सृष्टि हुई है, ऐसा निश्चित ही कह सकते हैं, क्योंकि आकाशादिमें कारण रूपसे ब्रह्मका ही उल्लेख है॥ १४॥

गोविन्दभाष्य—च शब्दः शङ्काच्छेदाय। ब्रह्मैव विश्वैकहेतुरिति शक्यते निश्चेतुम्। कुतः? आकाशादिषु कारणत्वेन यथाव्यपदिष्टोक्तेः। लक्षणसुत्रादिषु सार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पादिगुणकत्वेन निर्णीतं बह्म यथाव्यपदिष्टमुच्यते। तस्यैकस्यैव खादिहेतुत्वेन सर्वेषु वेदान्तेष्वभिधानात्। यथा *'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'* (तै॰ २/१/२)

इत्यादिना सार्वज्ञ्यादिगुणकतया निर्द्दिष्टं ब्रह्म *'तस्माद्वा एतस्मात्'* (तै॰ २/१/२) इत्यादिना कारणत्वेन विमृश्यते यथा च *'सदेव सौम्यदम्'* इत्यादौ (छा॰ ६/२/१) *'तदैक्षत बहु स्याम्'* (छा॰ ६/२/३) इति तद्गुणकत्वेन निर्द्दिष्टं ब्रह्म *'तत्तेजोऽसृजत'* (छा॰ ६/२/३) इति तत्त्वेन परामृश्यते एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। कार्यकारणयोः सारूप्यन्तु ब्रह्मपक्षे वक्ष्यामः। आत्माकाशप्राणसद्ब्रह्मशब्दा व्याप्तिसंदीप्ति-प्राणनसत्वृहदगुणकत्वयोगान्मुख्यास्तथेक्षादयश्च॥ १४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'च' शब्द पूर्वोक्त शङ्काके निराकरणके लिए है। ब्रह्म ही विश्वके एकमात्र कारण हैं, यह निश्चय करके कहा जा सकता है। लक्षणसूत्रादिमें सत्यसङ्कल्पादि गुण-वैशिष्ट्यके कारण जिस प्रकार ब्रह्मको जगत्के कारण रूपमें निर्णीत किया गया है, उसी प्रकार उन्हीं (गुण-विशिष्ट) एक ब्रह्मको समस्त वेदान्तमें आकाशादिके भी कारण रूपमें कहा गया है। ब्रह्मके लक्षण जिस प्रकार *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'*—जो सत्य वस्तुस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अन्तहीन हैं, वे ही ब्रह्म हैं, इत्यादि श्रुतियोंके द्वारा ब्रह्मको सर्वज्ञत्वादि गुण-विशिष्ट रूपमें निर्दिष्ट किया है, उन्हींको समस्त वेदान्तमें *'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः सकाशादाकाशः सम्भूतः'*—उन्हीं परमात्मासे आकाश उत्पन्न हुआ, इत्यादि द्वारा जगत्के कारण रूपमें कहा गया है। जिस प्रकार *'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'* इत्यादि श्रुतिमें निर्दिष्ट जो सत् अर्थात् ब्रह्म हैं, उन्होंने ही *'तदक्षैत बहुस्यामिति'* (छा॰ ६/२/३) इच्छा की—बहुत हो जाऊँ, इस प्रकार वे ही ब्रह्म ईक्षणकर्त्ताके रूपमें निर्दिष्ट हुए हैं। *'तत्तेजोऽसृजत'* उन्होंने अग्निकी सृष्टि की, इत्यादि श्रुतिके द्वारा उन ब्रह्मको ही तेज इत्यादिके सृष्टिकर्त्ताके रूपमें कहा गया है, इस प्रकार अन्य सभी स्थलोंपर भी जानना चाहिये। तब कार्य-कारणकी समानता ब्रह्म-पक्षमें किस प्रकार सम्भव है, यह आपत्ति हो सकती है, इसकी मीमांसा बादमें करेंगे। सृष्टिके कारण रूपमें कहे गये आत्मा, आकाश, प्राण, सत् और ब्रह्मन् शब्द ब्रह्म-कारणवादमें ही मुख्यार्थमें प्रयुक्त हैं—आत्मा व्याप्ति गुण-योगमें, आकाश सन्दीप्ति धर्ममें (आ समन्तात् काशते दीप्यते—जो सम्यक् रूपसे चारों ओर प्रकाशित होता है, इस व्युत्पत्तिके द्वारा) प्राण प्राणनमें, सत् सत्त्वमें और ब्रह्म बृहद् गुण-योगमें—इन्हीं ब्रह्मादि शब्दोंसे परमात्मा शब्दित

हैं। इन्हींके समान ईक्षणादि धर्म भी चैतन्यस्वरूप ब्रह्ममें सङ्गत हुए हैं, जड़-प्रकृतिके पक्षमें नहीं, यहाँ तो वे गौण हैं॥ १४॥

सूक्ष्मा-टीका—एवं प्राप्ते निरस्यति कारणत्वेन चेति। लक्षणेति। लक्षणसूत्रं जन्माद्यस्य यत इतोतत्। तस्यैकस्य ब्रह्मणस्तद्गुणकत्वं तैत्तिरीयके दर्शयति यथा सत्यमित्यादिना। अथ छान्दोग्येऽपि तद्गुणकत्वं दर्शयति यथा सदेवेत्यादिना। तत्त्वेन तद्गुणकत्वेन। एवमन्यत्रापीति बृहदारण्यकादावपि तैत्तिरीयकादिवत् तद्गुणकस्यैव ब्रह्मणः खादिहेतुत्वमन्वेषणीयमित्यर्थः। कार्येति। सारूप्यं साधर्म्यम्। आत्माकाशेत्यादौ क्रमेण व्याप्तिसन्दीप्तिप्राणनादि धर्मसम्बन्धो बोध्यः॥ १४॥

सूक्ष्मा-सार—*'एवं प्राप्ते निरस्यति कारणत्वेन च'*—इस पूर्वपक्षीके मतवादका खण्डन कर रहे हैं—लक्षणसूत्रादिषु—ब्रह्मके लक्षणकारक सूत्र हैं—*'जन्माद्यस्य यतः'* इत्यादि। उन एक ही ब्रह्मका जगत्—स्रष्टृत्व गुण तैत्तिरीयोपनिषदमें दिखा रहे हैं—सत्यं ज्ञानमित्यादि। छान्दोग्यमें भी ब्रह्मका जगत्-कर्त्तृत्व निरूपित है—*'सदेव सौम्येदमित्यादि।' 'तत्त्वेन परामृश्यते'*—का अभिप्राय है—इस जगत्के कर्त्तृत्व-गुण-विशिष्टत्व रूपमें *'एवमन्यत्रापि'*—बृहदारण्यक इत्यादिमें। तात्पर्य यह है—तैत्तिरीय इत्यादि श्रुतिके समान जगत्-सृजनकारित्व गुण विशिष्ट ब्रह्मका ही आकाशादि सृष्टिकारित्व है, (अर्थात् जगत् सृजनकारी गुण विशिष्ट रूपसे प्रतिपादित ब्रह्म ही आकाशादिका भी कारण है) इस प्रकार ये सभी श्रुतियाँ अनुसन्धानके योग्य हैं। *'कार्यकारणयोः सारूप्यम्'*—कारण-ब्रह्म ही आकाशादि कार्यका साधर्म्य है—उनमें ही विभुत्वरूप धर्मका सामञ्जस्य है। आत्माकाश इत्यादिमें यथाक्रमसे व्याप्ति, दीप्ति, प्राणन इत्यादि धर्मका आत्मादिसे सम्बन्ध जानना चाहिये॥ १४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सांख्यवादियोंकी पुनः एक और आशङ्का देखी जाती है कि श्रुतिके मतमें एकमात्र ब्रह्म ही जो विश्वके कारण हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एककारणताके बदलेमें भिन्न-भिन्न स्थलोंपर भिन्न-भिन्न कारण वर्णित हुए हैं—कहीं आत्मा, कहीं आकाश, कहीं प्राण, कहीं सत् और कहीं असत्को कारण रूपमें निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रकार कारणमें अनेकता दिखायी देनेसे एकमात्र ब्रह्म ही विश्वके हेतु हैं, यह निश्चय रूपसे नहीं कहा जा

सकता। सांख्यवादियोंके इस पूर्वपक्षके समाधानके लिए प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि नहीं, ब्रह्म ही विश्वके एकमात्र कारण हैं, यह निश्चय करके कहा जा सकता है। इसका कारण स्पष्ट है कि वे ही ब्रह्म आकाशादिके कारण रूपसे यथायथ व्यपदिष्ट (उपदिष्ट) हुए हैं। जिस प्रकार *'जन्माद्यस्य यतः'* इत्यादि लक्षणसूत्रोंमें सर्वज्ञता, सत्यसङ्कल्पता गुण विशिष्ट रूपसे ब्रह्ममें निर्णीत हुए हैं, उसी प्रकार आकाशादिके भी वे ही कारण हैं—यह भी उपदिष्ट (प्रतिपादित) है। अतः सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ चैतन्यस्वरूप ब्रह्ममें ही आकाशादिका कारणत्व है। जड़ा-प्रकृतिके सम्बन्धमें यह सब कभी भी सङ्गत नहीं हो सकता।

इस प्रकार विभिन्न श्रुतियोंमें ब्रह्मका जगत्-कारणत्व निश्चित हुआ है, यथा—*वासुदेवो वा इदमग्र आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः* (भगवत्-सन्दर्भ २३७) (महोपनिषत्)। अर्थात् एकमात्र वासुदेवरूपमें मैं ही सृष्टिके पहले था, ब्रह्मा, शङ्कर कोई नहीं थे।

आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः।

(बृ॰आ॰ १/४/१)

अर्थात् पहले यह जगत् पुरुषविध आत्मस्वरूपमें ही अवस्थित था, इसी प्रकारसे *'पुरुषो ह वै नारायणः'* (महो॰ १/१) नारायणरूप पुरुष ही सृष्टिके प्रथम अवस्थित हैं।

एको ह वै नारायण आसीत् (छा॰ ६/२/३)। एक नारायण ही सृष्टिके पहले थे।

'पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत' (महानारायणोपनिषद)। अर्थात् पुरुषरूप श्रीनारायणने ही कामना की।

नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परम्।
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्॥

(पूर्व तापिनी १/४)

अर्थात् श्रीनारायण ही परम ब्रह्म हैं, परमतत्त्व श्रीनारायण ही हैं। ऋत, सत्य, परमब्रह्म पुरुष कृष्ण पिङ्गल (वर्ण) हैं।

एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः।

एकमात्र नारायण ही थे, ब्रह्मा, शङ्कर उस समय नहीं थे।

अथर्ववेद शिखामें देखा जाता है—*अहमेकः प्रथममासम् वर्त्तामि भविष्यामि।* अर्थात् मैं ही एक पहले था, मैं ही हूँ और मैं ही रहूँगा।

और भी,

आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्। (बृ॰आ॰ १/४/१)

अर्थात् पहले यह पुरुषाकार आत्मा ही था। उसने आलोचना करनेपर अपनेसे भिन्न कोई न देखा। उसने आरम्भमें *'अहमस्मि'*—मैं हूँ, मैं यह हूँ—ऐसा कहा, इसलिए वह 'अहम्' नाम वाला हुआ।

नारायणोपनिषदमें भी है—

'ॐ अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत ततः प्रजाः सृजेयेति। ततः प्रजाः सृजेरण्। नारायणाद् ब्रह्मा जायते .....नारायण एवेदं सर्वम् यद्भुतं यच्च भव्यन्।" अर्थात् पुरुष नारायणने कामना की थी।

अनन्तर श्रीमद्भागवतमें भी देखा जाता है—*भगवानेक आसेदमग्र आत्माऽऽत्मनां विभुः।* (श्रीमद्भा॰ ३/५/२३)

अर्थात् इस दृश्यमान जगत्की सृष्टि होनेसे पूर्व समस्त जीवोंके आत्मस्वरूप और ईश्वर—इन छह ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण एकमात्र भगवान् ही थे।

और भी, *स चापि यत्र पुरुषो विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः।* (श्रीमद्भा॰ २/८/१०) अर्थात् जिनसे समस्त जगत्की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय होते हैं, वे ही पुरुष मायाके अधिपति, प्रकृतिके ईक्षणकर्त्ता तथा सभीमें अन्तर्यामी रूपसे विराजमान हैं।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा॰ २/९/३२)

अर्थात् सृष्टिके पूर्व एकमात्र मैं ही था। स्थूल और सूक्ष्म तथा इन दोनोंके कारणभूत प्रधान अथवा प्रकृति तक मुझसे पृथक् रूपमें अन्य कुछ भी न था।

तथा—

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।

(श्रीमद्भा॰ ४/७/५०)

अर्थात् जगत्का कारण मैं ही ब्रह्मा और महादेवके रूपमें प्रकाशित होता हूँ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें—

अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च सर्वशः। (श्रीगी॰ १०/२) अर्थात् सभी प्रकारसे मैं देवताओं और महर्षियोंका आदि कारण हूँ।

यो मामजनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम्। (श्रीगी॰ १०/३) अर्थात् जो मुझे अनादि, जन्मरहित और सभी लोकोंके महेश्वरके रूपमें जानते हैं।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते। (श्रीगी॰ १०/८) अर्थात् मैं सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ, मुझसे ही सभी कार्यमें प्रवृत्त होते हैं।

अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च। (श्रीगी॰ १०/२०) अर्थात् मैं ही सब जीवोंकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयका कारण हूँ।

मोक्षधर्ममें भी पाया जाता है—

प्रजापतिं च रुद्रञ्चाप्यहमेव सृजामि वै।
तौ हि मां न विजानीतो मम मायाविमोहितौ॥

अर्थात् प्रजापति एवं रुद्रकी सृष्टि मैं ही करता हूँ, मेरी मायासे मोहित होकर वे दोनों भी मुझे नहीं जानते हैं।

वराहपुराणमें वर्णन है—

नारायणः परो देवस्तस्माज्जातश्चतुर्मुखः।
तस्माद्रुद्रोऽभवद्देवः स च सर्वज्ञतां गतः॥

अर्थात् नारायण ही परम देव हैं, उनसे ही ब्रह्मा, रुद्र आदि सभी उत्पन्न हुए हैं, वे नारायण ही सर्वज्ञ हैं। ये नारायण कृष्णके वैभवविलास हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृत (म॰ ६/१४३) में कथित है—

ब्रह्म हइते जन्मे विश्व, ब्रह्मेते जीवय।
सेइ ब्रह्मे पुनरपि हये याय लय॥

अर्थात् ब्रह्मसे यह विश्व उत्पन्न होता है और ब्रह्मके द्वारा यह विश्व जीवित रहता है और प्रलयके समय यह विश्व ब्रह्ममें लीन हो जाता है॥ १४॥

अवतरणिका भाष्य—अथासदव्याकृतशब्दयोर्गतिमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद असत्-कारणवाद बोधक और प्रधान कारणवाद बोधक दोनों श्रुतियोंकी उपपत्ति (गति) क्या होगी?

सूत्र—समाकर्षात्॥ १५॥

सूत्रार्थ—'समाकर्षात्'—पूर्वोक्त वाक्योंसे प्रक्रान्त ब्रह्मकी अनुवृत्ति (सम्यक् रूपसे आकर्षण) के कारण असत्कारण श्रुति एवं प्रधान श्रुतिका ब्रह्ममें तात्पर्य जानना चाहिये॥ १५॥

सूत्रानुवाद—सर्वत्र पूर्वापरके प्रसङ्गमें कहे हुए शब्दों या वाक्योंका आकर्षण करके अन्वय करनेपर यही निश्चय होता है कि जगत्के कारण रूपसे भिन्न-भिन्न नामोंके द्वारा उन पूर्णब्रह्म परमेश्वरका ही वर्णन है॥ १५॥

गोविन्दभाष्य—सोऽकामयतेति (तै॰ २/६) पूर्वसन्दर्भप्रकृतस्य परमात्मनोऽसद्वा (तै॰ २/७) इत्यत्र आदित्यो ब्रह्मेति (छा॰ ३/१९/१) पूर्वनिर्द्दिष्टस्य ब्रह्मणोऽसदेवेदमित्यत्र च समाकर्षात् तत्तच्च वाक्यं ब्रह्मपरमेव। प्राक्सृष्टेर्नामरूपाविभागात् तत्सम्बन्धित-यास्तित्वाभावादसच्छब्देन तत्र ब्रह्मैवोक्तम्। अन्यथा सदेव सौम्येत्याद्यनन्त-रसम्भावितासत्कारण ताप्रत्युक्तेरासीदिति कालसम्बन्धस्य च विरोधः। असन्नेव स भवतीत्यादिना (तै॰ २/६) सद्वादिनो विगीतत्वाच्च सूक्ष्मशक्तिकं ब्रह्मैव तदर्थः। तद्वेदं तर्ही (बृ॰आ॰ १/४/७) त्यत्राप्यव्याकृतशब्देन तदन्तरालभूतं ब्रह्मैव बोध्यते। *'स एष इह प्रविष्टः'* इत्यादिपरवाक्यतस्तस्याकर्षणात् तच्छक्तिकं ब्रह्मैव स्वसङ्कल्पवशात् स्वयमेव नामरूपाभ्यां व्याक्रियत इति तत्रार्थः। इतरथा वेदान्तप्रतिष्ठितत्वं गतिसामान्यञ्च श्रुतं व्याकुप्यते। तस्मादेकं ब्रह्मैव विश्वहेतुरिति निश्चचेयम्॥ १५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'सोऽकामयत'* (तै॰ २/६) 'उसने कामना की' कहकर पूर्वसन्दर्भमें परब्रह्मका ही प्रसङ्ग आरम्भ किया गया था। *'असद्वा इदमग्र आसीत्'* अर्थात् पहले यह (जगत्) असत् (अनभिव्यक्त) ब्रह्मरूप ही था) (तै॰ २/७) में *'आदित्यो ब्रह्म', 'सूर्यः ब्रह्म'* कहकर

उपक्रान्त (प्रकरणान्त विश्वकी सृष्टि करनेवाले) ब्रह्मकी और *'असदेवेदम्'* (यह न था अर्थात् पहले यह असत् ही था), इत्यादि श्रुतिमें भी उन्हीं ब्रह्मकी अनुवृत्ति (समाकर्षण) के कारण उन सभी वाक्योंका ब्रह्ममें ही तात्पर्य जानना चाहिये। यदि कहो, ब्रह्म असत् शब्दके वाच्य किस प्रकार हो सकते हैं, यही बता रहे हैं कि सृष्टिके पहले नामरूपके द्वारा वस्तुका कोई विभाग न था और नामरूपसे सम्बन्धित रूपमें ब्रह्मका अस्तित्व भी प्रतीत होता नहीं है, इसलिए असत् शब्दके द्वारा ब्रह्मका ही उल्लेख जाना जाता है।

यदि यह स्वीकार नहीं करते हो तो *'सदेव सौम्येत्यादि'*—'हे सौम्य! यह सत्' इत्यादिके ठीक बाद ही जगत्के सम्भावित असत्-कारणतावादका प्रत्याख्यान नहीं होता और *'अग्र आसीत्'* में 'आसीत्—था' पदमें प्रतीयमान अतीतकाल सम्बन्ध भी विरुद्ध ही होता, क्योंकि शून्यका तो कालसे सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। इसके अतिरिक्त *'असन्नेव स भवति'* (तै॰ २/६) 'वह असत् ही हो रहा है' (अर्थात् यदि कोई 'ब्रह्म असत् है' ऐसा जानता है तो वह स्वयं भी असत् हो जाता है) में (असद्वादीकी) निन्दा करनेसे भी ब्रह्म सत् होकर भी असत्-स्वरूप हैं अर्थात् सूक्ष्म शक्ति विशिष्ट हैं। तथा इसी प्रकार *'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्'* (बृ॰आ॰ १/४/७) श्रुतिमें वर्णित अव्याकृत शब्दके द्वारा उस प्रकृति (अव्याकृत) के अन्तरात्मास्वरूप इन्हीं ब्रह्मको जाना जाता है। *'स एष इह प्रविष्टः'*, वे ही इस जगत्में प्रविष्ट हैं—इस परवर्त्ती वाक्यमें भी ब्रह्मके प्रतिपादन (अनुकर्षण) से यही प्रतिपादित है कि प्रधानका अन्तरात्मभूत ब्रह्म ही हैं। यदि कहो कि वे ब्रह्म नामरूप आकारमें अभिव्यक्त किस प्रकार हुए, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—वे अव्याकृत, सर्वज्ञ, सत्यसङ्कल्प ब्रह्म ही अपने सङ्कल्प (बहुभवन सृजनरूप सङ्कल्प) के कारण स्वयं ही नामरूपमें अभिव्यक्त हुए हैं—यह इस श्रुतिका अर्थ है। ब्रह्मकी कारणता न मानी जाय, तो वेदान्तशास्त्रमें प्रतिपादित ब्रह्मकी प्रतिष्ठा और गति सामान्यत्व (समस्त उपासकोंकी ब्रह्म ही एकमात्र गति हैं)—ये कथन विरुद्ध हो जाते हैं। अतएव ब्रह्म ही एकमात्र विश्वके कारण हैं, यह निश्चय करना चाहिये॥ १५॥

सूक्ष्मा–टीका—समाकर्षादिति। तत्सम्बन्धितया नामरूपोपयोगितया। अन्यथा सदेव सौम्येदमग्र आसीदिति सत्कारणतां निरूप्य तद्धयेक आहुरसदेवेदमग्र आसीदित्यादिना असत्कारणतां सम्भाव्य तस्याः प्रत्युक्तिः। कुतस्तु खलु सौम्येदं स्यादिति होवाच कथमसतः सजायेतेति वाक्येन कृतास्ति सा कथं सम्भवेत् यद्यसदेव कारणं स्यात् किञ्चासीदिति कालसम्बन्धोऽप्यस्य तया सह न स्यात् सतोरेव सम्बन्धात् तस्मादुक्तमेव चार्वित्यर्थः। तदन्तरात्मभूतं तच्छक्तिकं मतं व्याक्रियत इति कर्मकर्त्तरि प्रयोगः। एवमेव व्याचष्टे तच्छक्तिकमित्यादिना। कार्यविषयं विज्ञानं तु क्वचिदाकाशपूर्वतया क्वचित्तेजःपूर्वतया क्वचित् प्राणपूर्वतया क्वचिदक्रमाच्च सृष्टिवर्णनात् किल न वियदश्रुतेरित्यादिना परिहरिष्यति॥ १५॥

सूक्ष्मा–सार— *'समाकर्षात्'* सूत्रमें वर्णन है— *'प्राक् सृष्टेर्नामरूपा विभागात् तत्सम्बन्धितया'*—सृष्टिके पहले नाम-रूपका कोई भी विभाग न था। अतः तत्सम्बन्धितयाका अर्थ है—नामरूप विशिष्ट रूपसे। *'अन्यथा सदेवेत्यादि'* यदि ब्रह्मको ही जगत्का कारण नहीं कहा जाता है, तो प्रथमतः (पहले तो) *'सदेव सौम्यदमग्र आसीत्'* (छा॰ ६/२/१)—प्रलयमें एकमात्र ब्रह्म ही थे, इस श्रुतिके द्वारा 'सत्' की ही कारणता कही, उसके बाद *'तत् ह्येक आहुः असदेवेदमग्र आसीत्'* (छा॰ ६/२/१) उस समय वह सत् असत् ही था, इत्यादिके द्वारा असत्की कारणताकी सम्भावना की गयी और बादमें उसका प्रतिवाद किया गया, जैसे कि *'खलु सौम्येदं स्यात् इति होवाच'* (छा॰ ६/२/२)—महानुभाव! यह जगत् तब कहाँसे आया? क्योंकि असत् अर्थात् शून्यसे तो सत्का जन्म नहीं हो सकता, इस वाक्यसे असत्-कारणता खण्डित हुई और यदि असत्को ही कारण कहा जाय तो यह प्रतिवाद किस प्रकार सम्भव हुआ?

और एक बात है, *'सदेव सौम्यदमग्र आसीत्'* इस वाक्यमें जो अतीत कालका बोध करानेवाला 'आसीत्' पद है, उसका सम्बन्ध 'असत्' की प्रत्युक्ति (बदलेमें दिये गये उत्तर) के साथ युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि दो सत् वस्तुओंका तो काल सम्बन्ध हो सकता है, असत्का नहीं। इसलिए ब्रह्मको जो कारण कहा गया है, वही सुन्दर है, यही इसका तात्पर्य है। *'तच्छक्तिक'* शब्दके अर्थमें भी यही अभिप्रेत है कि वे उसके (प्रधानके) अन्तरात्मस्वरूप हैं। *'व्याक्रियते'*

यह 'कृ' धातुका कर्म-कर्त्तृ वाच्यमें लङ् विभक्तिमें प्रयोग है। बात यह है कि कर्मवाच्यमें प्रयुक्त कहनेपर उसका दूसरा और एक कर्त्ता अपेक्षित होता है, किन्तु उस समय ब्रह्मके अतिरिक्त और कोई न था। फिर वे किसके द्वारा अभिव्यक्त होंगे? इसलिए स्वयं अभिव्यक्त हुए, इस प्रकार यहाँ कर्मको ही कर्त्ता बनाकर प्रयोग हुआ है। *'तच्छक्तिकम्'* इत्यादि वाक्यसे इसी प्रकार व्याख्या की गयी है। जगत्-सृष्टि-रूप कार्यके सम्बन्धमें भी विविध वाक्य हैं, जैसे—किसी श्रुतिमें आकाशसे सृष्टिक्रम है, किसी स्थानपर तेजसे है और कहीं प्राणसे है और कहीं क्रम न रहनेपर भी सृष्टिका वर्णन किया गया है, *'न वियदश्रुतेः'* (ब्र॰सू॰ २/३/१) सूत्र द्वारा उस विरोधका परिहार किया जायेगा॥ १५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब 'असत्' एवं 'अव्याकृत' शब्दोंकी क्या गति है, वही प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि पूर्व प्रक्रान्त (प्रकरणके अन्तर्गत निर्दिष्ट) ब्रह्मका ही समाकर्षण अर्थात् उसी प्रसङ्गका अनुकरण करते हुए कहा गया है—ये सभी वाक्य ब्रह्मपर हैं अर्थात् इन सब वाक्योंका ब्रह्ममें ही तात्पर्य है।

तैत्तिरीयोपनिषदमें द्वितीय ब्रह्मवल्लीके छठे अध्यायमें पाया जाता है—*'असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद।'* अर्थात् यदि कोई मानता है कि ब्रह्म असत् है—नहीं है, अर्थात् ईश्वर नहीं है, जगत् अनादि है, स्वयं सिद्ध है, तब तो वह असाधु ही है, वह शास्त्रोंपर अविश्वास करनेवाला है, ब्रह्मके असत् होनेपर तो वह स्वयं ही असत् हो पड़ता है।

बादमें कहा—*'सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति'* (तै॰ २/६) उन्होंने इच्छा की (यह इच्छा उनके अधीन है, अन्य निरपेक्ष है, इस विषयमें किसी भी युक्ति अथवा तर्कका अवकाश नहीं है) कि मैं बहुत रूपसे प्रकट होऊँ। अतः मैं देव-मनुष्यादि रूपमें जगत्की सृष्टि करूँ।

तदनन्तर कहा—*'तत् सत्यमित्याचक्षते'* (तै॰ २/६) अर्थात् यह जो कुछ है, वह समस्त ही सत्य अर्थात् ब्रह्मस्वरूप एवं ब्रह्मात्मक है। पराशर आदि मुनि इसे 'सत्य' नामसे कहते हैं।

इसी उपनिषदके सप्तम अनुवाक्में कहा—*'असद् वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानाम् स्वयमकुरुत।'* अर्थात् सृष्टिके आदिमें यह जगत् ब्रह्ममें अनभिव्यक्त अर्थात् अव्यक्त रूपमें असत्कल्प (अप्रकट) था। इसके बाद उनकी सृष्टि करनेकी इच्छा हुई, जिसके कारण उन्होंने इस जगत्को नाम-रूपमें प्रकट कर दिया। उन ब्रह्मने सङ्कल्पवश अपनी प्रकृतिशक्तिका आश्रय करके स्वयंको स्वयं ही अपनेसे अभिन्न रूपमें विभक्त कर दिया। प्रकृतिकी सार्थकता परमात्माकी शक्ति माननेमें ही है, उनसे भिन्न स्वतन्त्र पदार्थान्तर माननेमें नहीं। इस प्रकार इन समस्त वाक्योंसे जानना होगा कि सृष्टिके पूर्व नामरूप द्वारा वस्तुका विभाग न था। कारण बादमें कहा गया *'सदेव सौम्य'* (छा॰ ६/२/१) और यह कहनेके साथ ही असत् कारणतावादका निरास हो गया। सूक्ष्मशक्ति-विशिष्ट ब्रह्म ही पहले असत्के प्रतिपाद्य थे और अव्याकृत शब्दके द्वारा भी उन्हीं ब्रह्मको प्रकृतिके अन्तरात्म स्वरूपमें जाना गया। *'स एष इह प्रविष्टः'* (बृ॰आ॰ १/४/७) (अर्थात् अव्याकृत वस्तु इस प्रकार व्यक्त होती है)—इस वाक्यमें श्रीब्रह्मके समाकर्षणके कारण प्रधानके अन्तरात्मभूत ब्रह्मको ही जाना जाता है और वे ही अपने सङ्कल्पवश नामरूप द्वारा व्यक्त होते हैं। अतः ब्रह्म ही विश्वके हेतु हैं, यह बिना किसी संशयके निश्चय किया जा सकता है।

श्रीमद्भागवतमें भी—

स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद् दृश्यमेकराट्।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं　　सुप्तशक्तिरसुप्तदृक्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/५/२४)

अर्थात् सृष्टिके प्रारम्भकालमें प्रकृतिके ईक्षणकर्त्ता सर्वाधिकारी पुरुष प्रधानको देख नहीं सकते थे (अर्थात् उस समय विश्व उनमें लीन था)। पुरुषमें चित्-शक्ति नित्य प्रकाशवती रहती है, किन्तु विश्व सृष्टिकी सहायता करनेवाली बहिरङ्गा मायाशक्ति उस समय उन पुरुषमें सुप्त रहती है। उन समष्टि विराट्का उनमें सूक्ष्म रूपसे विराजित रहनेपर भी (इसका कारण यह है कि कारणार्णवशायी

पुरुषका प्रकृतिमें ईक्षणके बिना समष्टि विराट्का प्राकट्य असम्भव है) न रहनेके समान ही विवेचना की गयी है।

इसका परवर्त्ती श्लोक है—

स वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः॥

(श्रीमद्भा० ३/५/२५)

अर्थात् द्रष्टास्वरूप परमेश्वरकी दृश्यस्वरूप शक्ति ही माया है, जो कार्य एवं कारण रूपसे अभिव्यक्त होती है। हे महाभाग! इस मायाशक्तिके द्वारा ही परमेश्वरने इस परिदृश्यमान विश्वकी सृष्टि की।

इन दोनों श्लोकोंके सम्बन्धमें श्रीधर स्वामिपादकी टीकाका सार इस प्रकार है—भगवान् द्रष्टा होकर भी दृश्य वस्तुको देख नहीं सकते थे, क्योंकि वे एकराट् थे, अर्थात् उस समय वे एक अद्वयतत्त्व रूपमें ही प्रकाशित थे। दृश्य वस्तुके अभावके कारण उस अद्वयतत्त्वका कोई भी द्रष्टा न था। इसलिए उस समय वे स्वयंको अविराजमान वस्तुके समान मान रहे थे, तब मायादि शक्तियाँ भी उनमें सुप्त थीं, किन्तु उनकी सत्ता नहीं है, यह भी वे नहीं मान रहे थे, क्योंकि उनकी चित्-शक्ति उनमें नित्य ही असुप्तावस्थामें अवस्थित है। श्रीभगवान्की द्रष्टृ-दृश्यानुसन्धानरूपा कार्य-कारणरूपा शक्ति ही वह माया है॥ १५॥

५—जगद्वाचित्वाधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—पुनरपि सांख्यं निरस्यति। कौषीतकीब्राह्मणे (४/१) बालाकिना विप्रेण ब्रह्म ते बृवाणीति प्रतिज्ञाय ब्रह्मतयादित्यादिषु षोडशेषु पुरुषेषूक्तेषु अजातशत्रुर्नाम राजा तान्निराकृत्य स्वयमाह *'यो वै बालाके एषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य चैतत् कर्म स वेदितव्यः'* (४/१८) इति। तत्र सन्देहः। किमत्र प्रकृत्यध्यक्षस्तन्त्रोक्तो भोक्ता वेद्यतयोपदिश्यते उत सर्वेश्वरः श्रीविष्णुरिति। यस्य चैतत् कर्मेति कर्मसम्बन्धवीक्षया भोक्तृत्वावगमात् उत्तरत्र च *'तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुः'* (४/१८) इत्यादिना। *'तद्यथा श्रेष्ठी स्वैभुङ्क्ते'* (४/२०) इत्यादिना च भोक्तुरेव प्रतिपादनात् सोऽयं तन्त्रोक्तो भवेत्। प्राणशब्दश्चात्र प्राणभृत्त्वादुपपद्यते। तदयमर्थः। य एषां पुरुषाणां भोगोपकरणभूतानां कर्त्ता कारणभूतस्तथा तद्धेतुभूतं पुण्यपापलक्षणं कर्म च यस्य

स वेदितव्यः प्रकृतिविविक्ततया ज्ञेय इति। तस्मात् तन्त्रोक्तो जीव एवास्मिन् प्रकरणे वेद्यः प्रतिपाद्यते। ततश्च वक्तव्यतयोपक्रान्तं ब्रह्म स एव, तदन्येश्वरासिद्धेः। ईक्षादयोऽपि कारणं गतास्तस्मिन्नवोपपन्नाः, तदधिष्ठाता प्रकृतिरेव विश्वजनयित्रीत्येवं प्राप्तौ—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—फिरसे सांख्यमतका खण्डन करते हैं, यथा—कौषीतकीब्राह्मण-वाक्यमें है कि बालाकि नामक ब्राह्मणने अजातशत्रु राजाके पास जाकर कहा 'मैं तुम्हें ब्रह्मके विषयमें बताऊँगा' (४/१) इस प्रकार प्रतिज्ञा करके आदित्य, चन्द्रमा आदि सोलह पुरुषों (जीवों) का ब्रह्मरूपमें उल्लेख (जो सूर्यमें यह पुरुष है, उसकी मैं उपासना करता हूँ, यहाँसे लेकर अन्तमें जो यह बायीं आँखमें पुरुष है, उसकी मैं उपासना करता हूँ—४/२ से ४/१७ तक) किया, किन्तु अजातशत्रुने उसकी बातका खण्डन करके स्वयं ही कहा—'अहे बालाके! जो इन आदित्यादि पुरुषोंका सृष्टिकर्त्ता है और यह विश्व जिनका कर्म (कार्य) है, वे ही ब्रह्म जानने योग्य हैं।' इस स्थलपर संशय है कि यहाँ वेद्य (जानने योग्य) रूपमें किसे कहा गया है? प्रकृतिके अधिष्ठाता (अध्यक्ष) तन्त्रोक्त (सांख्यशास्त्र प्रसिद्ध) भोक्ता जीवको अथवा सर्वेश्वर श्रीविष्णुको? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं, जीव ही ज्ञातव्य है, क्योंकि उक्त श्रुतिमें *'यस्य चैतत् कर्म'* कहनेमें कर्मका सम्बन्ध प्रतीत होता है, इस (पुण्यापुण्यरूप) कर्मका सम्बन्ध जीव (प्रकृति अधीन क्षेत्रज्ञ जीव) में ही सम्भव है (निष्क्रिय ब्रह्ममें नहीं)। प्राक्तन (पूर्व) कर्मसम्बन्धके कारण ही जीवका भोक्तृत्व जाना जाता है, इसीलिए इसके अतिरिक्त इस आख्यायिकाके अन्तमें कहा गया है, वे (बालाकि एवं अजातशत्रु) दोनों एक निद्रित (सोये हुए) पुरुषके पास आये—इत्यादि वृत्तान्तसे भोक्ता ही ज्ञातव्य पुरुष हैं, यह बोध होता है।

जिस प्रकार *'तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते'* (४/२०) श्रेष्ठी (श्रेष्ठ व्यक्ति) अपने भृत्योंके साथ भोजन कर रहा है कहनेसे श्रेष्ठीको ही भोक्ता जाना जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी तन्त्र-शास्त्रोक्त जीव ही वेद्य कहा जायेगा, और जिस प्राण शब्दको वेद्य-पुरुष कहा गया है, उसकी उपपत्ति भी प्राण शब्दमें 'प्राणभृत्' (प्राणधारक) इस लक्षणा

द्वारा दिखायी देती है। अतएव इस सबका तात्पर्य यह है कि जो यह भोगोपकरणस्वरूप आदित्य इत्यादि पुरुषोंका कर्त्ता अर्थात् कारणस्वरूप है एवं भोगके हेतु रूप जो पुण्य एवं पापरूप जीवके कर्म जिसके हैं, वही ज्ञेय है, वही प्रकृतिसे भिन्न है। अतएव इस प्रकरणमें तन्त्रोक्त जीव ही ज्ञेय (वेदितव्य) रूपमें प्रतिपादित है, इसी कारण इस प्रकरणमें वक्तव्यरूपमें उपक्रान्त ब्रह्म शब्दका अर्थ जीव है, ईश्वर नहीं। कारण (सांख्यतन्त्र सिद्ध प्रधान पुरुषके) अतिरिक्त ईश्वरकी सिद्धि नहीं है, सांख्यवादी जीवसे भिन्न ईश्वरको मानते नहीं हैं। कारण-स्थित ईक्षणादि धर्म भी जीवमें ही सङ्गत हैं, इसी जीवसे अधिष्ठित होकर प्रकृति विश्वकी उत्पादिका होती है। पूर्वपक्षके इस मतका निराकरण करते हुए कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्र स एष इति परवाक्यतो ब्रह्माकर्षणात् तद्वेदम् तर्हीति पूर्ववाक्यं ब्रह्मपरतया व्याख्यातं तद्वत् परस्मात् कर्मवाक्यात् पूर्वब्रह्मवाक्यं कापिलपुरुषपरं स्यादिति दृष्टान्तसङ्गत्याह कौषीतकीत्यादिना। बालाकिना बालाकापुत्रेण। बाह्वादिभ्यश्चेति सूत्रादिञ्प्रत्ययः। आदित्यादिष्विति। आदित्यचन्द्र-विद्युदाकाशाद्यधिकरणकेष्वित्यर्थः। तौ हेति बालाक्यजातशत्रू बोध्यौ। तद्यथेति। तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मा तैरात्मभिर्भुङ्क्ते। एवमेवैते आत्मानं भुञ्जन्तीति वाक्येन च भोक्तुरेव निरूपणादित्यर्थः। श्रुत्यर्थस्तु—श्रेष्ठी प्राणभूतः पूमान् स्वैर्भृ त्यैर्भोगोपकरणभूतैर्भुङ्क्ते भृत्याश्च भोजनाच्छादनादिना प्रधानं तमुपजीवन्ति। एवं जीवः आदित्यादिभिः प्रकाशादिना भोगोपकरणभूतैर्भुङ्क्ते। आदित्यादयोऽपि हविर्ग्रहणादिना भृत्यवज्जीवमुपजीवन्तीति जीवोऽत्र भोक्ता सिद्ध इति स एव सांख्योक्तो जीव एवेत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले जिस प्रकार *'स एषः'* (वह यह, वही इसमें प्रवेश हुआ) इत्यादि परवर्त्ती वाक्यसे ब्रह्मका ही आकर्षण करके *'तद्धेदं तर्हीत्यादि'* वाक्यको ब्रह्मका ही तात्पर्य बोधक कहा, इसी प्रकार परवर्त्ती कर्मबोधक (यस्य चैतत्कर्मेति) वाक्यसे जीवका आकर्षण करके पूर्ववर्त्ती ब्रह्मबोधक वाक्य भी सांख्योक्त पुरुषपर कहा जायेगा, इस दृष्टान्त-सङ्गतिके द्वारा कह रहे हैं—कौषीतकीब्राह्मणमें इत्यादि। बालाकिना अर्थात् बालाकाका पुत्र, उसके द्वारा। *'बाह्वादिभ्यश्च'* (पा॰सू॰ ४/१/९५) सूत्रके अनुसार बाहु

आदि शब्दोंसे परे अपत्य अर्थमें इञ् प्रत्यय होता है—यहाँ भी अपत्यार्थमें बालाका शब्दके उत्तरमें इञ् प्रत्यय है। *'आदित्यादिषु षोडशेषु जीवेषु'* का अर्थ है—आदित्य, चन्द्र, विद्युत्, आकाशादिगत अधिष्ठाता पुरुष। *'उभयत्र च तौ'* में तौ पदसे बालाकि एवं अजातशत्रु, इन दोनोंको जानना चाहिये। *'तद् यथा श्रेष्ठी इत्यादि'* अथवा *'स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्ति एवमेवैष प्रज्ञात्मा तैरात्मभिभुङ्क्ते, एवमेवैते आत्मानं भुञ्जन्ति'* (कौ॰ब्रा॰ ४/२०) इस श्रुतिवाक्यसे भी जिस हेतुसे भोक्ताका निरूपण हुआ है, इसलिए यह अर्थ है। इस श्रुतिका अर्थ इस प्रकार है—श्रेष्ठी एक प्राणस्वरूप पुरुष है, वह अपने भृत्योंके द्वारा भोग करता है, क्योंकि भृत्य भोगका सहायक है। भृत्य भी पुनः भोजन, आच्छादन आदिके द्वारा उस प्रधानका आश्रय करके जीवित रहते हैं। इस लौकिक व्यवहारके समान प्रकाशादि कार्य द्वारा जीव भोगोपकरण स्वरूप आदित्यादिकी सहायतासे भोग करता है, आदित्यादि भी जीव प्रदत्त हविके ग्रहणादिके द्वारा भृत्योंके समान जीवका आश्रय करके रहते हैं, अतः सिद्ध हुआ कि जीव ही भोक्ता है। *'स एष'* अर्थात् वही यह सांख्योक्त जीव ही इस प्रकरणमें वेद्य है, यह तात्पर्य है।

सूत्र—जगद्वाचित्वात्॥ १६॥

सुत्रार्थ—इस स्थलपर तन्त्रोक्त क्षेत्रज्ञ जीवका प्रतिपादन नहीं है, अपितु परमेश्वर श्रीहरि ही वेद्य हैं। इसका कारण क्या है? उत्तर है—*'जगद्वाचित्वात्'*—क्योंकि कर्म शब्द चिदंश जीव और जड़-प्रकृति आदि विश्व प्रपञ्चके वाचक हैं, उन्हींके कर्त्तारूपमें परमेश्वरको जाना जाता है। 'कर्मन्' शब्द यदि जगत् वाचक है, तब तो *'क्रियते यत् यत्'*—जो-जो किया जाता है—इस व्युत्पत्तिके अनुसार वह सार्थक है। इस सार्थकताका कारण है कि 'कर्मन्' शब्द यदि जगत्के अन्तर्भुक्त आदित्यादि सोलह पुरुषोंका बोध कराता है, तब किसी भी प्रकारसे उनका कर्त्तृत्व तो नहीं बता सकता और जो कर्म (कृत) है, वह कर्त्ता नहीं होता, इसलिए जगत्के कर्त्ता परमेश्वर हैं, क्षेत्रज्ञ जीव नहीं॥ १६॥

सूत्रानुवाद—'यह समस्त जगत् जिसका कर्म है' इत्यादि वाक्योंमें 'एतत्' शब्दसे प्रयुक्त 'कर्म' शब्द परमपुरुष परमेश्वरके कार्यरूप जगत्का ही वाचक है॥ १६॥

गोविन्दभाष्य—न ह्यत्र तन्त्रोक्तः क्षेत्रज्ञः प्रतिपाद्यते, अपि तु वेदान्तैकवेद्यः सर्वेश्वर एव। कुतः? जगदिति। एतच्छब्दसहचरस्य कर्मशब्दस्य चिज्जडात्मक-प्रपञ्चाभिधायित्वादित्यर्थः। तत्कर्तृत्वेन तस्यैव प्राप्तेः। इदमत्र तत्त्वम्। क्रियते इति व्युत्पत्त्या कर्मशब्दो जगद्वाची। सति च तद्वाचित्वे तच्छब्दः सार्थकः। पुरुषमात्रकर्तृत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थकत्वात्। न च तन्त्रोक्तस्य कर्तृत्वमस्वीकारात् न चाध्यासात् तदसङ्गश्रुतिव्याकोपात्। तस्मात् सर्वेश्वर एव तत्कर्त्ता। एवञ्च मृषावादित्वमजातशत्रोर्न स्यात्। ब्रह्म ते ब्रुवाणीति (कौ॰ब्रा॰ ४/१८) प्रतिज्ञाय षोडशपुरुषान् वदतो बालाकेर्मृषैव किलेति वाक्येन मृषाभाषित्वमापाद्य स्वयं ब्रह्म विवक्षुः स चेत्तज्जीवं ब्रूयात् तर्हि तस्यापि तत् स्यादिति। तदेवं सत्येष वाक्यार्थः। त्वया ये पुरुषा ब्रह्मत्वेनोक्तास्तेषां यः कर्त्ता ते यत्कार्यभूता भवन्तीत्यर्थः। नन्वेतावदेव कृत्स्नं जगद्यस्य कार्यं भवति स परमकारणभूतः सर्वेश्वर एव वेद्य इति॥ १६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस कौषीतकीब्राह्मणमें सांख्यतन्त्रमें उक्त क्षेत्रज्ञ पुरुष (जीव) का प्रतिपादन नहीं है, अपितु वेदान्तशास्त्रके एकमात्र वेद्य उन परमेश्वरका ज्ञातव्यरूपमें उपदेश है। किस कारणसे? उत्तर है—*'जगद्वाचित्वात्'*—*'यस्य चैतत् कर्म स वेदितव्यः'*—*'एतत् कर्म'* से तात्पर्य है—यह परिदृश्यमान चित्त और जड़समूहात्मक विश्व जिनका कर्म है अर्थात् उनका कर्त्ता जो है, वही ज्ञेय है। यहाँ 'एतद्' (यह) शब्दके साथ 'कर्मन्' (कर्म) शब्दका प्रयोग है, यह 'कर्मन्' चित् और जड़समूहात्मक (चेतनाचेतनात्मक) प्रपञ्चका वाचक होनेके कारण अपने कर्त्तारूपमें परमेश्वरका ही बोध कराता है। सार बात यह है कि जिसका 'यह कर्म' कहनेपर 'यह' अर्थात् परिदृश्यमान जगत् जिसका कार्य है—इस प्रकारका अर्थ ज्ञात कराता है। यहाँ 'यह' क्रियते, *'यत् यत् कर्म'* जो किया जाता है, अर्थात् उत्पादित होता है, उसका नाम कर्म है, क्योंकि कर्मन् शब्द कर्मवाच्यमें 'कृञ्' धातुमें 'सन्' प्रत्ययके योगसे निष्पन्न है। इसलिए जगत्का वाचक है। जगत् वादी होनेपर ही उसका (कर्मका) विशेषण अथवा सहचर रूपमें उच्चारित 'एतद्' शब्द सार्थक होगा। इसी प्रकारके अर्थसे आदित्यादि

सोलह पुरुषोंके कर्त्तृत्वकी शङ्काकी निवृत्ति होगी। आदित्यादि कर्म हैं, जो कर्म है, वह कर्त्ता नहीं होता।

पुनः सांख्यशास्त्रोक्त क्षेत्रज्ञका कर्त्तृत्व भी सङ्गत नहीं हो सकता, क्योंकि उनके मतमें तो प्रकृतिका जगत्–कर्त्तृत्व है, जीवका कर्त्तृत्व वे मानते नहीं हैं। यदि प्रकृतिका कर्त्तापन जीवमें आरोपित हो, तो भी सम्भव नहीं है, क्योंकि 'जीव निःसङ्ग (असङ्ग) है'—इस श्रुतिसे विरोध होता है। अतः सर्वेश्वर ही जगत्–कर्त्ता हैं, यह प्रमाणित होता है। ऐसा होनेसे अजातशत्रु राजाका भी मिथ्यावादित्व दोष नहीं रहता है। 'तुम्हें ब्रह्मतत्त्वका उपदेश करूँगा' यह कहकर बालाकिने प्रतिज्ञा की और आदित्य इत्यादि सोलह जीवोंके विषयमें कहा, तब 'मृषैव'—यह मिथ्या नहीं है—'किल' शब्दसे उनका मिथ्यावादित्व निर्णय करके अजातशत्रु स्वयं ही ब्रह्मस्वरूपका उपदेश करनेके लिए प्रवृत्त हो गये। अतः यदि वे जीवको ही ब्रह्म कहते हैं, तो उनका मिथ्यावादित्व होता है। अतएव इस अवस्थामें अजातशत्रुका वाक्यार्थ इस प्रकार जानना चाहिये—बालाके! तुमने जिन पुरुषोंको ब्रह्मरूपमें कहा, वे सब ब्रह्म नहीं हैं, जो इनका कर्त्ता हैं, ये सब उन्हींके कार्यस्वरूप हैं। अहे! यह परिदृश्यमान सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जिनका कार्यस्वरूप है, उन्हीं परमकारणस्वरूप सर्वेश्वरको जानो॥ १६॥

सूक्ष्मा–टीका—एवं प्राप्ते परिहरति जगदिति। ऊह्योऽत्र पक्षः। एतदिति। एतदिति सर्वनाम्ना प्रत्यक्षादिप्रमाणेऽपि लक्षितं जगन्निर्द्दिष्टम्। सति चेति। जगद्वाचित्वे सत्येव कर्मशब्दः सार्थकः स्यात्। तत्र हेतुः पुरुषमात्रेति। आदित्यादयः षोडश सर्वे कर्त्तार इति या शङ्का सा तदैव निवर्त्तते यदि कर्मशब्दोऽन्तर्भूतादित्यादिकं जगद्ब्रूयादित्यर्थः। न हि जगदन्तर्भूतानामादित्यादीनां जगत्कर्त्तृत्वं सम्भवेदिति भावः। न चेति। अस्वीकारात् तन्मते प्रकृतेरेव विश्वकर्त्तृत्वाभ्युपगमादित्यर्थः। न चाध्यासादिति।

पुरुषे कर्त्तृत्वं प्रकृत्यध्यासाद्भवेदिति न वाच्यम्। *'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'* इति श्रुतिव्याकोपापत्तेरित्यर्थः। स चेदिति। स नृपतिरजातशत्रुः। तदिति मृषाभाषित्वम्। सिद्धान्ते वाक्यार्थमाह तदेवं सतीत्यादिना॥ १६॥

सूक्ष्मा–सार—इस प्रकार *'जगद्वाचित्व'* सूत्रके द्वारा। पूर्वपक्षीके सिद्धान्तका परिहार कर रहे हैं। यह जो उत्तर पक्ष है—*'एतच्छब्दसहचरस्य'*

इत्यादि इसे ही ग्रहण करना चाहिये। 'एतद्'—इस सर्वनाम पदसे प्रत्यक्षादि प्रमाणमें प्रमित (प्रमाणित) जगत् निर्दिष्ट हुआ है। *'सति च तद्वाचित्वे'* इति—एतद् शब्दके जगद्वाचक होनेपर ही 'कर्म' शब्द सार्थक होगा। इस विषयमें कारण यह है—*'पुरुषमात्रकर्तृत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थकत्वादिति'* आदित्यादि सभी सोलह पुरुष जगत्के कर्त्ता हैं, यह जो शङ्का है, वह तभी निवृत्त होगी, यदि कर्म शब्दसे आदित्यादि पुरुषोंसे युक्त जगत्को जाना जाय। भावार्थ यह है कि जगत्के अन्तर्भुक्त आदित्यादि सोलह पुरुषोंका जगत्-कर्त्तृत्व सम्भव नहीं है। *'न च तन्त्रोक्तस्य कर्तृत्वम्'*—सांख्यशास्त्रमें उक्त क्षेत्रज्ञका कर्त्तृत्व भी नहीं कहा जा सकता, ऐसा कहनेसे तो अपसिद्धान्त होता है, क्योंकि सांख्यमतमें जीवका कर्त्तृत्व स्वीकृत नहीं है। यदि जीवमें आरोप मान भी लिया जाय, तो भी प्रकृतिकी कर्त्तृत्व-उक्ति भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि इससे 'पुरुष निसङ्ग है'—इस श्रुतिका विरोध होता है। *'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'* यह जीवात्मा निःसङ्ग है—यह श्रुति जीवका असङ्गत्व कह रही है, अतः आरोप करनेसे इस श्रुतिका व्याघात होता है। *'स चेत्यादि'* से तात्पर्य है—वह राजा अजातशत्रु, *'तत् स्यात्'* का अर्थ है—मिथ्यावादित्व हो जाता है। इसके बाद उत्तरवादीका सिद्धान्त-वाक्यार्थ बता रहे हैं—*'तदेवं सति'* इत्यादि द्वारा॥ १६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः सांख्यमतको निरस्त कर रहे हैं। कौषीतकी चतुर्थ अध्यायमें गार्ग्य-बालाकि और काशीराज अजातशत्रुका उपाख्यान है, जिसमें पाया जाता है—बालाका-पुत्र बालाकि नामक एक प्रसिद्ध वेदाध्यायी ब्राह्मण काशीराज अजातशत्रुके निकट उपस्थित हुआ और 'परब्रह्म क्या वस्तु है'—यह बतानेकी प्रतिज्ञा करके उसने आदित्यादि सोलह पुरुषोंको ही ब्रह्म कहकर निरूपण कर दिया। राजा अजातशत्रुने उसे परब्रह्मके विषयमें अनभिज्ञ जानकर कहा—'अहे बालाके! जो इन सब पुरुषोंका सृष्टिकर्त्ता है और यह विश्व जिनका कार्य है, वे ही परब्रह्म हैं।' इस वाक्यमें एक संशय यह है कि यहाँ प्रकृतिके अध्यक्ष सांख्योक्त भोक्ता जीवको वेद्य (जानने योग्य) कहा जाय अथवा सर्वेश्वर श्रीविष्णुको ही वेद्य कहा जाय? इस प्रसङ्गमें

पूर्वपक्षवादीने जिन समस्त युक्तियोंको अपनाया है, सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें उनको निरस्त करके यही स्थापित कर रहे हैं कि यहाँ तन्त्रोक्त क्षुद्र क्षेत्रज्ञ जीवका वेद्य रूपमें प्रतिपादन नहीं किया गया है, बल्कि वेदान्तवेद्य सर्वेश्वरका ही बोध कराया गया है। इस प्रसङ्गमें यही प्रतिपादित है कि सांख्यकी प्रकृति, जो जगत्का कारण हो नहीं सकती, पहले भी प्रकृतिवादका खण्डन करके इसे प्रमाणित किया गया था, इस समय भी प्रमाणित कर रहे हैं कि सांख्यका पुरुष अर्थात् तन्त्रोक्त क्षुद्र परिमाण क्षेत्रज्ञ जीव जगत्का कारण नहीं हो सकता। एकमात्र परब्रह्म ही समस्त चित्-जड़ात्मक प्रपञ्चके और समस्त जीवोंके कर्त्ता हैं, उनका ही कार्यस्वरूप यह सब है, अतः परम कारणस्वरूप परब्रह्म ही एकमात्र वेद्य हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

तव विभवः खलु भगवन् जगदुदयस्थितिलयादीनि।
विश्वसृजस्तेऽशांशास्तत्र मृषास्पर्द्धन्ते पृथगभिमत्या॥

(श्रीमद्भा॰ ६/१६/३५)

हे भगवन्! जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, लय जो कुछ भी है, वह वस्तुतः आपका ही लीला-विलास है। विश्व-निर्माता ब्रह्मादि देवगण—आपके ही अंशके अंश हैं। सृष्टि आदि कार्योंके कारण जो अलग-अलग रूपसे स्वयंको ईश्वर मान बैठे है—उनका यह अभिमान निरर्थक है।

और भी देखा जाता है—

असौ गुणमयैर्भावैर्भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः।
स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुङ्क्ते भूतेषु तद्गुणान्॥

(श्रीमद्भा॰ १/२/३२)

अर्थात् ये विश्वात्मा लीलामय श्रीहरि विविध व्यूहोंका विस्तार करके सूक्ष्म विषय, इन्द्रिय और मनरूप त्रिगुणमय भावोंसे अपने द्वारा बनायी हुई देव-नर-तिर्यक् आदि योनियोंमें प्रविष्ट होकर जीवोंको उन-उन योनियोंके अनुरूप विषयोंका लीलाक्रमसे भोग कराते हैं।

इस श्लोककी टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर कहते हैं—

'असौ विश्वात्मा भूतसूक्ष्माणि विषयाश्च इन्द्रियाणि च आत्मा मनश्च तैर्गुणमयैर्भावैः। स्वनिर्मितेषु देव-तिर्यगादिषु भूतेषु निर्विष्टः प्रविष्टः सन् तद्गुणान् तदनुरूपान् विषयान्। वैषयिकसुखानि भुङ्क्ते इति जीवानां भोक्तृत्वमन्तर्यामिणा विना न सिद्ध्यतीति वा जीवस्य तदीय तटस्थशक्तित्वाद्वा जीवद्वारा स्वयमन्तर्यामी भुङ्क्ते इति प्रयुज्यते। भोजयति जीवानिति णिजर्थो वा ज्ञेयः।'

अर्थात् वे विश्वात्मा सूक्ष्म विषय, इन्द्रिय एवं मनरूप त्रिगुणमय भावोंके द्वारा स्वनिर्मित देव, तिर्यगादि चारों प्रकारके प्राणियोंमें प्रविष्ट होकर उन-उनके अनुरूप विषयोंका भोग करते हैं—यह कहनेसे समस्त जीवोंका भोक्तृत्व अन्तर्यामीके बिना और किसीमें सिद्ध नहीं होता, यह जाना गया। अथवा जीव उनकी तटस्थाशक्ति होनेके कारण जीवके द्वारा स्वयं अन्तर्यामी भोग करते हैं, इस प्रकारसे प्रयोग होता है अथवा वे जीवोंको भोग कराते हैं, यह णिज् (प्रेरणा अर्थमें धातुसे णिच् प्रत्यय लगता है) प्रयोग जानना चाहिये॥ १६॥

अवतरणिका भाष्य—नन्वत्र जीवस्य मुख्यप्राणस्य च लिङ्गदर्शनात् तदन्यतरो ग्राह्य इति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—यदि कहो कि इस स्थलपर जीव एवं मुखके अन्तर्वर्ती प्राणवायुको साधित करनेवाला प्रमाण देखा जाता है, अतएव जीव अथवा प्राण ही गृहीत हों, यह आशङ्का करके समाधान करते हैं—

सूत्र—जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम्॥ १७॥

सूत्रार्थ—'जीवमुख्यप्राणलिंगात् न'—जीव एवं मुखान्तर्वर्ती प्राणवायुका साधक प्रमाण रहनेपर भी यह वाक्य ब्रह्ममें तात्पर्यका बोधक नहीं होता, 'इति चेत्'—यह यदि कहो तो, 'तद्व्याख्यातम्'—इन्द्र-प्रतर्द्दन आख्यायिका (ब्र॰सू॰ १/३/३१) में उसका निर्णय कर दिया गया है अर्थात् वह लिङ्ग (लक्षण) भी जीवादिपर न होकर ब्रह्मपर ही होगा, इस प्रकारसे मीमांसा की गयी है॥ १७॥

सूत्रानुवाद—यदि यह कहो कि जीव एवं मुख्य प्राणबोधक शब्दके प्रयोगसे ज्ञात होता है कि भोक्ता पुरुषका ही इस प्रकरणमें प्रतिपादन है, परमात्माका नहीं, तो इसका समाधान प्रतर्द्दन विद्यामें किया जा चुका है॥ १७॥

गोविन्दभाष्य—इन्द्रप्रतर्द्दनाख्यायिकायां तल्लिङ्गं निर्णीतम् (कौ॰ब्रा॰ ३)। तत्र किलोपक्रमोपसंहारपर्यालोचनेन वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वे निश्चिते जीवादिलिङ्गमपि तत्परत्वेन नीतम्। इहापि *'ब्रह्म ते ब्रवाणि'* इत्युपक्रमात् (४/१)। *'सर्वान् पाप्नोऽपहत्य सर्वेषां भूतानां श्रेष्ठमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद'* (४/२०) इत्युपसंहाराच्च तत्परत्वेन तन्नेयमिति। न चेदं वाक्यं प्रतर्द्दनाख्याननिर्णयाद्गतार्थं *'यस्यचैतत् कर्म'* इत्यस्यापूर्वत्वात्॥ १७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—वाक्यके अन्तमें जीव तथा मुख्यप्राणके बोध करानेवाले शब्दोंसे भी यहाँ जीवादिको ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि इन्द्र-प्रतर्द्दन आख्यायिकामें जीवलिङ्ग भी जीवादिपरक न होकर ब्रह्मपरक रूपसे निर्धारित हुआ है। वहाँ उपक्रम एवं उपसंहारकी पर्यालोचना द्वारा वाक्यका ब्रह्ममें तात्पर्य निश्चित होनेसे जीव एवं मुख्य प्राणका लिङ्ग भी ब्रह्मपररूपमें गृहीत हुआ है, इसी प्रकार यहाँ भी *'ब्रह्म ते ब्रवाणि'* (कौ॰आ॰ ४/१) तुम्हें ब्रह्मका उपदेश करूँगा, इस कथनके उपक्रममें ब्रह्मोपदेशका प्रसङ्ग रहनेसे और *'सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य'* इत्यादि, जो इस प्रकार जानता है, वह समस्त पापोंका नाश (भस्म) करके, समस्त प्राणियोंका श्रेष्ठत्व अर्थात् आधिपत्य प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार उपसंहार रहनेसे जीवादि लिङ्गका ब्रह्ममें तात्पर्य ग्रहण करना उचित है। यदि कहो कि इन्द्र-प्रतर्द्दन आख्यायिकामें निर्णयके लिए इस वाक्यकी मीमांसा हो तो चुकी है, पुनः यहाँ उसीका प्रसङ्ग किसलिए? ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रकरणके मध्यमें उक्त 'यस्य चैतत् कर्म' जिसका यह कर्म इस आशङ्कापर विचार वहाँ नहीं हुआ है॥ १७॥

सूक्ष्मा-टीका—आशङ्क्य समाधत्ते नन्वत्रेत्यादिना। जीवेति। इन्द्रप्रतर्द्दनेति। प्राणस्तथानुगमादित्यस्मिन्नधिकरणे चिन्तितमेतत्। तत्परत्वेन तन्नेयमिति। मध्येऽपि यस्य चैतत् कर्मेति जगदात्मक कर्मकर्त्तृत्वोक्तेः पुरुषमात्रानुक्तेश्चेति बोध्यम्। न चेदमिति। प्राणस्तथेत्यधिकरणे कर्मपदस्याविचारणान्न तेनोक्तार्थतेत्यर्थः॥ १७॥

सूक्ष्मा-सार—आशङ्का करके समाधान कर रहे हैं—नन्वत्र इत्यादि उक्तिके द्वारा। *'जीवमुख्यप्राणलिङ्गेति'* (ब्र॰सू॰ १/१/३१) सूत्रके भाष्यमें *'इन्द्रप्रतर्द्दनेत्यादि'* के द्वारा इस सम्बन्धमें व्याख्या हो चुकी है अर्थात् प्राणस्तथानुगमात् अधिकरणमें इसपर विचार कर लिया गया है। *'तत्परत्वेन तन्नेयम्'* इस ग्रन्थ (वाक्य) के द्वारा और मध्यमें भी *'यस्य चैतत् कर्म'* इस कथनके द्वारा ज्ञापित (ज्ञात कराये गये) जगत् रूप कार्यकी कर्त्तृत्व-उक्तिके कारण और पुरुषमात्रके कर्त्तृत्वकी अनुक्तिके कारण यह जान लेना चाहिये। *'न चेदं इत्यादि'* वाक्यका अर्थ है कि प्राणस्तथानुगमात् अधिकरणमें कर्मपदका विचार नहीं किया गया था, अतः उस अधिकरणके द्वारा वक्तव्य प्रमाणित नहीं होता, यह अर्थ है॥ १७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि पूर्वपक्ष हो कि जीव एवं मुख्यप्राणके लिङ्ग-दर्शन (लक्षण दिखायी देने) के कारण यहाँ उसे (प्राणको) ही ग्रहण करना होगा, तो इस पूर्वपक्षके समाधानके लिए प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि यदि ऐसा कहते हो, तो इन्द्र और प्रतर्द्दन आख्यायिकाके द्वारा निर्णीत कर दिया गया है अर्थात् उपक्रम और उपसंहारके विचारके द्वारा जीव एवं मुख्यप्राणका ब्रह्मपरत्व ही विचारित हुआ है।

कौषीतकी-उपनिषदके तृतीय अध्यायमें दिवोदासके पुत्र प्रतर्द्दन और इन्द्रका परस्पर जो कथोपकथन हुआ है, उसमें देखा जाता है कि इन्द्रने प्रतर्द्दनको वर माँगनेके लिए कहा, तब प्रतर्द्दनने कहा, 'जो मनुष्योंके लिए समस्त वस्तुओंकी अपेक्षा अधिक कल्याणजनक है, वही मुझे प्रदान करो।' तब इन्द्रने कहा—'मुझे (ब्रह्मको) ही जानो, वास्तव वस्तुको जानना ही मैं जीवके लिए सर्वापेक्षा हिततम मानता हूँ।' इस प्रकार यहाँपर ब्रह्मवस्तुकी ही अवगति (ज्ञान) कही गयी। बादमें प्राणका भी उल्लेख करके कहा कि, यदि प्राण न होता, तो चक्षु आदि होनेका भी कोई फल न होता, और यदि प्राण रहता है, तो इन्द्रियोंके अभावमें भी क्षति नहीं होती है। कर्मको जाननेकी चेष्टा न करके कर्त्ताको जाननेकी आवश्यकता है। उपसंहारमें कहा

कि समस्त-लोकाधिपति सर्वेश्वर मेरी आत्मा हैं, वही अमर आत्मा ज्ञानमय परब्रह्म हैं, वही एकमात्र ज्ञातव्य हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः साक्षात् स्वयंज्योतिरजः परेशः।
नारायणो भगवान् वासुदेवः स्वमाययात्मन्यवधीयमानः॥
यथानिलः स्थावरजङ्गमानामात्मस्वरूपेण निविष्ट ईशेत्।
एवं परो भगवान् वासुदेवः क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः॥
(श्रीमद्भा॰ ५/११/१३-१४)

अर्थात् वे क्षेत्रज्ञ, आत्मा, जगत्कारण, पूर्ण, अपरोक्ष, स्वतःप्रकाश, जन्मादिसे रहित एवं ब्रह्मादिके भी ईश्वर हैं। वे नारायण अर्थात् समस्त जीवोंके आश्रय हैं। वे षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् और समस्त प्राणियोंके आवास वासुदेव हैं। वे ही अपनी मायाके द्वारा जीवात्मामें उसके नियन्ताके रूपमें विराजमान हैं। वायु जिस प्रकार प्राणरूपमें स्थावर-जङ्गमादि समस्त प्राणियोंके अभ्यन्तरमें प्रविष्ट होकर उनका नियन्त्रित करती है, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्मा, परमपुरुष वासुदेव भी इस विश्व-प्रपञ्चमें प्रविष्ट होकर उनके ऊपर आधिपत्य करते हैं॥ १७॥

अवतरणिका भाष्य—ननु यद्यप्येतच्छब्दान्वितात् कर्मशब्दात् ब्रह्मणि प्रसिद्धात् प्राणशब्दाच्चायं सन्दर्भो ब्रह्मपरः कर्त्तुं शक्यस्तथापि जीवसङ्कीर्त्तनादतथाभूतत्वं तस्य। न च प्रश्नव्याख्यानाभ्यां जीवान्यद्ब्रह्मात्र शक्यं मन्तुम्। तत्रापि जीवस्यैव प्रत्ययात्। स्वापाधारादिपृच्छया जीव एव पृष्ट इति सुप्तिस्थानन्तु नाड्यः करणग्रामश्च प्राणशब्दिते जीव एवैकधा भवति, स एव च प्रतिबुध्यत इति व्याख्याने च प्रतीयते। तस्माज्जीवपरोऽयमिति शङ्कायां पठति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—यहाँ प्रश्न है कि यद्यपि *'यस्यैतत् कर्म'*—इस सांख्योक्त 'एतद्' शब्दके साथ अन्वित कर्म शब्दसे और ब्रह्म अर्थमें प्रसिद्ध प्राण शब्दसे इस वाक्यके सन्दर्भको ब्रह्मपर कहा जा सकता है, तो भी जीवके उल्लेखके कारण इस वाक्यके सन्दर्भमें ब्रह्म-बोधकताका अभाव ही कहा जायेगा। इसका कारण यह है कि प्रश्न एवं उत्तरसे जीवसे भिन्न ब्रह्मका इस वाक्यमें विचार नहीं किया

जा सकता, क्योंकि प्रश्नोत्तरमें जीवका ही प्रत्यय (धारणा) हो रहा है। स्वप्नका आधार इत्यादि प्रश्नोंके द्वारा जाना जाता है कि जीव विषयक प्रश्न हुए हैं। सुषुप्ति-स्थान, नाड़ियाँ अथवा इन्द्रियाँ प्राण शब्दसे संज्ञित जीवमें एक्य भावको प्राप्त हैं, यह जीव ही सुषुप्तिके बाद प्रतिबोधित (जागरित) होता है, इस प्रकारकी व्याख्यामें भी जीवकी ही प्रतीति होती है, इसलिए यह सन्दर्भ (यस्यैतत् कर्म) जीवपरक है, इस आशङ्काके उत्तरमें कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। अतथाभूतत्वं ब्रह्मबोधकत्वाभावः। तस्य वाक्यसन्दर्भस्य। तत्रापीति। प्रश्नव्याख्यानयोरपीत्यर्थः। स एवेति। शयनाधारादिप्रश्नद्वारेण जीव एव पृष्ट इति प्रश्ने प्रतीयत इत्यर्थः। स्फुटमन्यत्॥ १८॥

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—अवतरणिका भाष्यके अन्तर्गत *'जीवसङ्कीर्त्तनादतथाभूतत्वं तस्य'* इत्यादिमें *'अतथाभूतत्वं'* से जीव शब्दके उल्लेखके कारण ब्रह्मका बोध नहीं किया जा सकता, यह अर्थ है। 'तस्य' अर्थात् उस वाक्य सन्दर्भका। *'तत्रापि जीवस्यैव प्रत्ययात्'*—तत्र अर्थात् प्रश्न और उसके प्रत्युत्तरमें भी जीवको ही जाना जाता है, इसलिए। *'स एव च प्रतिबुध्यते'*—स एव—वह जीव ही है, यह अर्थ है, क्योंकि निद्राकालमें उसके आश्रयसे सम्बन्धित प्रश्न द्वारा जीव ही प्रश्नका विषय हुआ है—यह प्रश्नसे प्रतीत हो रहा है। अन्यान्य अंश सुस्पष्ट ही हैं।

सूत्र—अन्यार्थन्तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके॥ १८॥

सूत्रार्थ—ऐसा नहीं है, 'जैमिनिः'—आचार्य जैमिनि मानते हैं कि इस प्रबन्धमें जीवका उल्लेख 'अन्यार्थम् तु'—अन्य अर्थमें अर्थात् जीवसे भिन्न ब्रह्म-बोधके लिए है, कारण क्या है, उत्तर—'प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि'—बालाकिके प्रति अजातशत्रु राजाके शयन-विषयक प्रश्न और उसकी व्याख्यासे यही जाना जाता है अर्थात् इस शयनकर्त्ता जीवसे भिन्न ब्रह्मको ही जाना जाता है 'च' तथा, 'एवम्' इसी प्रकार 'एके'—इसके अतिरिक्त वेदकी एक शाखावाले वाजसनेयी वैदिकगण इस बालाकि-अजातशत्रु सन्वादमें वर्णित विज्ञानमय शब्दसे जीवको अभिहित करके

उससे भिन्न ब्रह्मका निर्देश करते हैं। पुनः उसकी व्याख्यामें भी सर्वेश्वर ही इस सन्वादमें ज्ञातव्य रूपसे उपदिष्ट हुए हैं॥ १८॥

सूत्रानुवाद—जैमिनि आचार्यका मत है कि इस वाक्यमें जीवका उल्लेख अन्यार्थक है, अर्थात् जीवातिरिक्त ब्रह्मस्वरूपका प्रतिपादन ही इसका एकमात्र उद्देश्य है। जैमिनिका यह मत प्रकरणके प्रश्न एवं व्याख्यानसे निश्चित हुआ है॥ १८॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दः शङ्काच्छेदाय। इह जीवसङ्कीर्त्तनमन्यार्थं जीवान्य-ब्रह्मबोधार्थमिति जैमिनिर्मन्यते। कुतः? प्रश्नेति। प्रश्नस्तावत् प्रबुद्धप्राणस्य सुप्तस्य प्रतिबोधने प्राणादिभिन्ने जीवे बोधिते पुनः—*'क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत् कुत एतदागात्'* (कौ॰ब्रा॰ ४/१९) इति जीवान्यब्रह्मविषयो दृश्यते। व्याख्यानमपि। *'यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति तथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति'* (कौ॰ब्रा॰ ४/१९) इत्यादि। *'एतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोका'* (कौ॰ब्रा॰ ४/१९) इति च जीवान्यदेव ब्रह्म गमयति। प्राणोऽत्र परमात्मा, तस्यैव सुषुप्त्याधारत्वप्रसिद्धेः। तत्रैव जीवादीनां लयो निष्क्रमश्च तस्मात्। नाडीनान्तु सुप्तिस्थानगमनाय द्वारमात्रता वक्ष्यते। जागरात् श्रान्तो जीवो यत्र स्वपिति पुनरपि भोगाय यस्मान्निःसरति सोऽयं परमात्मात्र वेद्य इति। अपि चैवमेके साजसनेयिनोऽस्मिन्नेव बालाक्यजातशत्रुसंवादे (बृ॰आ॰ २/१) विज्ञानमयशब्देन जीवमभिधाय ततो भिन्नं ब्रह्मामनन्ति। *'य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत् कुत एतदागात्'* (बृ॰आ॰ २/१/१६) इति प्रश्ने *'य एषोहन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते'* (बृ॰आ॰ २/१/१७) इति व्याख्याने च। तस्मात् सर्वेश्वर एवात्र वेद्यतयोपदिश्यत इति॥ १८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द पूर्वोक्त शङ्काके निवारणके लिए है। इस सन्वादमें जीवका उल्लेख जीवसे भिन्न ब्रह्मका बोध करानेके लिए है, यह आचार्य जैमिनि मानते हैं। किस कारणसे? उत्तरमें कहा गया है—प्रश्न-वाक्य और उनके व्याख्यानसे इसीकी प्रतीति होती है कि जीवसे ब्रह्म भिन्न है। प्रश्न-वाक्य यथा—ब्रह्मजिज्ञासु बालाकिको साथ ले जाकर अजातशत्रु सुप्त जीव सोमराजाके समीप आया और उसे मृदु स्वरसे पुकारा—'हे सोमराजन्!' परन्तु सोया हुआ सोमराजन् आह्वानके शब्दको सुन नहीं सका। उसके प्राण जगे हुए थे, तथापि जब उत्तर नहीं दिया गया है, तब जानना होगा कि प्राण,

भोक्ता-पुरुष नहीं है। इसके बाद यष्टि (लाठी) के आघात शब्दसे राजाको जगाया गया, इससे भी ज्ञात होता है कि जीव प्राणादिसे भिन्न है। तब जीवके शयनका आधार क्या है और कहाँ-से उत्पत्ति है? इस विषयमें (जीवसे भिन्न ब्रह्मतत्त्वके प्रतिपादनके लिए) स्वयं ही बालाकिसे प्रश्न किया, यथा—'अहे बालाकि! सुषुप्तिकालमें यह पुरुष कहाँ शयन कर रहा था? उस समय उसका एकी भाव कहाँ था? जागरण अवस्थामें वह कहाँ-से लौट आया? ये प्रश्न जीवसे भिन्न ब्रह्मको आश्रय करके ही देखे जाते हैं। इसके बाद इन प्रश्नोंके प्रत्युत्तर जो स्वयं ही दिये गये, उनसे भी यही जाना जाता है, यथा—जीव जिस समय सुषुप्तिमें मग्न रहता है, उस समय वह कोई भी स्वप्न नहीं देखता, इस प्रकार वह उस समय प्राणके साथ मिलित होकर रहता है, इत्यादि व्याख्यासे ज्ञात होता है कि उस परमेश्वरमें ये प्राणसमूह अर्थात् इन्द्रियाँ यथास्थानमें अधिष्ठान करते हैं। इन्द्रियोंसे देवतागण अर्थात् इन्द्रियोंके अधिष्ठाता सूर्यादि देवता उन परमेश्वरसे निष्क्रान्त (उत्पन्न) होते हैं, देवताओंसे लोकसमूह अर्थात् स्थानसमूह प्रकाशित होते हैं, इत्यादि वर्णनसे जीवसे भिन्न परमेश्वरका ही बोध होता है।

यहाँ प्राण शब्दका अर्थ परमात्मा है, क्योंकि वे परमात्मा ही सुषुप्तिकालीन जीवके शयन-स्थान (शयनाधार) रूपमें प्रसिद्ध हैं। उस समय उन परमात्मामें ही जीव, इन्द्रियाँ और तदधिष्ठाता देवताओंका लय रहता है और उन्हींसे इनका निष्क्रमण होता है। पुरीतत् इत्यादि नाड़ियाँ आधार नहीं हैं, वे सुषुप्ति-स्थानमें ले जानेके लिए द्वार मात्र हैं, यह बादमें और भी कहा जायेगा। सम्पूर्ण सार यह है कि जागरण अवस्थाके लिए परिश्रान्त जीव जिस स्थानमें शयन करता है और पुनः भोगके लिए जिसमेंसे निकलता है, वह सब ही परमात्मा हैं और वे ही जाननेयोग्य हैं। इसके अतिरिक्त वाजसनेयीगण कहते हैं कि इस बालाकि-अजातशत्रुके सन्वादमें विज्ञानमय शब्दका अर्थ जीव है और उस जीवसे परमेश्वर भिन्न हैं। यथा *'य एष विज्ञानमयः पुरुषः'* इत्यादि (बृ॰आ॰ २/१/१६) जो यह विज्ञानमय पुरुष हैं, वह सुषुप्तिकालमें कहाँ रहता है और पुनः वह कहाँसे आता है, इत्यादि प्रश्नोंमें और

'य एषोऽन्तर्हृदयआकाशस्तस्मिन् शेते' (बृ०आ० २/१/१७) जीवके हृदयमें जो यह आकाश है, उसमें ही जीव शयन करके रहता है—इस प्रत्युत्तरमें शयन-स्थान और निर्गम-स्थानसे परमात्माको ही जाना जाता है। अतएव इस सन्दर्भमें सर्वेश्वर परमात्मा ही ज्ञेय रूपमें उपदिष्ट हो रहे हैं॥ १८॥

सूक्ष्मा-टीका—एवं शङ्कायां पठत्यन्यार्थन्त्विति। प्रश्नेति। ब्रह्मजिज्ञासुं बालाकिमादायाजातशत्रुः सुप्तपुरुषसन्निधिं गत्वा हे सोमराजन्निति सुप्तमाहूयाह्वानशब्दाश्रवणात् प्राणादेरभोक्तृत्वं निरूप्य यष्टिघातोत्थापनेन प्राणादिभिन्ने जीवे प्रतिबोधिते पुनर्जीव-भिन्नाधिकरणभवनापादानविषयान् प्रश्नान् स्वयमेव चकार क्वैष एतदित्यादिना। अस्यार्थः। हे बालाके शयनमेतद्यथा स्यात् तथा एष पुरुषः क्व कस्मिन्नधिकरणेऽशयिष्ट स्वापे शयनं कृतवानित्यधिकरण प्रश्नार्थः। एतद्भवनमेकौभावो यथा स्यात् तथा क्वाश्रये सुप्तोदऽभूदिति भवनायतनप्रश्नार्थः। शयनभवनयोराधारं पृष्ट्-वोत्थानावस्थायामागमनापादानं पृच्छति। एतदागमनं यथा स्यात् तथा कुतः कस्मात् उद्बोधावस्थायामगादुत्थानं कृतवानित्यर्थः। एतत्प्रश्नोत्तरदानासमर्थं बालाकिं मत्वा स्वयमेवोत्तरमाह यदा सुप्त इत्यादि। शयनभवनयोराधार उत्थानापादानं च प्राणशब्दबोध्यः परमात्मैवेत्युत्तरार्थः। तथा च जीवस्य भोक्तुर्यत्र शयनभवने यतश्चोत्थानमेकीभावभ्रंशरूपः स पुरुषोत्तमो हरिरेवात्र निखिलकर्त्ता वेद्यतया मयोपदिष्ट इति। एतस्मादिति। आत्मनः परेशात। प्राणा इन्द्रियाणि। यथायतनं यथास्थानम्। देवास्तदधिष्ठातारः। लोकाः स्थानानीत्यर्थः। एष इति विज्ञानमयो जीवः॥ १८॥

सूक्ष्मा-सार—इस प्रकारकी आशङ्काका समाधान करनेके लिए *'अन्यार्थन्तु'* इत्यादि सूत्रसे *'प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्'* प्रश्न और उसके व्याख्यानके द्वारा समाधान कर रहे हैं। आख्यायिका इस प्रकार है—ब्रह्मज्ञानके इच्छुक बालाकिको लेकर राजा अजातशत्रु सोये हुए सोमराजाके निकट पहुँचा और उसे पुकारा—'अहे सोमराजन्!' राजाके उत्तर न देनेसे समझा गया कि वह आह्वान शब्दको सुन नहीं पाया है, इससे यह निरूपण हुआ कि प्राण इत्यादि भोक्ता-पुरुष नहीं है। इसके बाद यष्टि (छड़ी) के आघातसे राजाके उठनेपर अजातशत्रुने बतलाया—जीव प्राणादिसे भिन्न है। इसके बाद सुषुप्तिका अधिकरण (आश्रय), मिलन-स्थान एवं उससे निष्क्रमण होनेके लिए अपादान-कारक विषयक जो समस्त प्रश्न राजाने स्वयं ही किये, वे सभी जीवसे भिन्नका ही आश्रय करके पूछे गये।

'क्वैष इत्यादि' वाक्यका अर्थ है, यथा 'अहे बालाकि! सुषुप्तिकालमें यह जीव जो सोया हुआ था, वह उस समय कहाँ सोया था?' यह अधिकरण-कारक (आश्रय सम्बन्धित) प्रश्न है। और यह जो एकीभावका प्रश्न है, उसके लिए वाक्य है—*'क्व वा एतदभूत्'* अर्थात् किसके आश्रयमें यह जीव सोया हुआ था? यह एकीभावके आयतन (आश्रय) के लिए जिज्ञासा है। इस प्रकार शयनाधार और एकीभावके आधारकी जिज्ञासाके बाद उत्थानावस्था (प्रबुद्धावस्था) में उसके लौटकर आनेका प्रश्न है—*'कुत एतदागात्'* यह आगमन कहाँ-से हुआ? इसी प्रकार जागरण अवस्थामें यह कहाँ-से आया है अर्थात् किस प्रकार उत्थान किया है (प्रबुद्ध हुआ है)? इन सब प्रश्नोंके उत्तर देनेमें बालाकिको असमर्थ जानकर *'यदा सुप्त'* इत्यादि वाक्यके द्वारा स्वयं ही उत्तर देने लगे—कि शयन और एकीभावका आधार और उत्थानका अपादान—कुतः—प्राण शब्दके वाच्य परमात्मा ही हैं—यही अजातशत्रुके उत्तरोंका सार है—भोक्ता जीवका जिनमें शयन और एकीभाव है और जिनसे उत्थान है अर्थात् एकीभावका भङ्ग है, वे पुरुषोत्तम श्रीहरि ही यहाँ सर्वेश्वर हैं, वे ही वेद्य हैं, यह मैंने उपदेश किया है। *'एतस्मादात्मनः प्राणाः'*—उन परमेश्वरसे, प्राणाः—इन्द्रियाँ, *'यथायतनम् विप्रतिष्ठन्ते'*—यथास्थान लौटकर आयी हैं। *'प्राणेभ्यो देवाः'* का अर्थ है—इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवगण। *'देवेभ्यो लोकाः'* देवगणोंसे लोक अर्थात् स्थानोंमें स्थिति प्राप्त करते हैं अर्थात् प्रकाशित होते हैं। *'य एषोऽन्तर्हृदये'*, एषः—यह विज्ञानमय जीव॥ १८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई इस प्रकार आशङ्का करे कि 'एतद्' शब्दके साथ 'कर्मन्' शब्द और ब्रह्ममें प्रसिद्ध प्राण शब्द रहनेके कारण इस सन्दर्भको ब्रह्मपर कहा जाता है, किन्तु जीवके उल्लेखके कारण यह ब्रह्मपर नहीं माना जा सकता। यह जीवपर ही होना चाहिये—इस प्रकारकी आशङ्काकी मीमांसामें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि जैमिनिके मतमें जीवसे भिन्न ब्रह्मके बोधके लिए ही इस स्थलपर जीवका उल्लेख है। यही बालाकि और अजातशत्रुके प्रश्नोत्तरके द्वारा भी प्रमाणित हुआ है। पुनः वाजसनेयी सम्प्रदायमें इस

सन्वादमें जीवको विज्ञानमय निर्देश करके उससे ब्रह्मको भिन्न करके जीवका उल्लेख किया है, अतः इस सन्दर्भके प्रश्नोत्तरमें जीव शब्द ब्रह्मपर ही है।

बृहदारण्यकके द्वितीय अध्यायके प्रथम ब्राह्मणमें अजातशत्रु और बालाकिके प्रश्नोत्तरमें पाया जाता है—*'य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत् कुत एतदागात्'* (बृ॰आ॰ २/१/१६) इत्यादि प्रश्नोंमें और *'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते'* (बृ॰आ॰ २/१/१७) इत्यादि उत्तरोंमें सर्वेश्वर श्रीहरि ही यहाँ वेद्यरूपमें उपदिष्ट हैं।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

यस्त्वत्र बद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा भूतेन्द्रियाशयमयीमवलम्ब्य मायाम्।
आस्ते विशुद्धमविकारमखण्डबोधमातप्यमानहृदयेऽवसितं नमामि॥

यः पञ्चभूतरचिते रहितः शरीरेच्छन्नोऽथेन्द्रियगुणार्थचिदात्मकोऽहम्।
तेनाविकुण्ठमहिमानमृषिं तमेनं वन्दे परं प्रकृतिपुरुषयोः पुमांसम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/३१/१३-१४)

अर्थात् (जीव और श्रीभगवान्में वैशिष्ट्य है, जीव सेवक है, श्रीभगवान् सेव्य हैं, जीव शरणागत है और भगवान् शरण्य हैं) माताके जठरमें देहाकार-परिणता मायाको आश्रय करके कर्मके द्वारा आवृतस्वरूप होकर बद्धके समान मैं जो अवस्थान करता हूँ और श्रीभगवान्, जो अन्तर्यामी स्वरूपमें मेरे साथ इस स्थानपर वास करते हैं—यही मुझमें और श्रीभगवान्में विशेष पार्थक्य है। श्रीभगवान् स्थूल एवं लिङ्ग उपाधिसे रहित हैं अर्थात् उनके देह एवं देहीमें भेद नहीं है, वे अखण्ड ज्ञानस्वरूप हैं। मेरे सन्तप्त हृदयमें जो इस प्रकार प्रतीत हो रहे हैं, वे ही मेरे शरण्य हैं, उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ।

मैं पञ्चभूतोंसे निर्मित इस देहसे आच्छन्न होकर वास कर रहा हूँ, यह कहनेसे जिस प्रकार मेरा बोध हो रहा है, वह वास्तवमें नहीं है, क्योंकि मेरा नित्यस्वरूप पाञ्चभौतिक देहके साथ असङ्ग है, इसलिए इन्द्रिय, गुण, विषय और चिदाभासात्मक होना मेरे लिए असम्भव है, किन्तु श्रीभगवान्की महिमा इस शरीरयोगसे कुण्ठित नहीं होती। अर्थात् वे व्यष्टि-जीव हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे अवस्थान करते

हैं, उनके अप्राकृत स्वरूपका कोई विकार नहीं होता अर्थात् उनका मायासे संस्पर्श नहीं होता। कारण वे वैकुण्ठ-वस्तु हैं। वे प्रकृति और पुरुषके नियन्ता हैं और सर्वज्ञ हैं, मैं उन आदिपुरुषकी वन्दना करता हूँ॥ १८॥

६—वाक्यान्वयाधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—बृहदारण्यके (२/४, ४/५) याज्ञवल्क्यो मैत्रेयीं स्वभार्यामुपदिशति। *'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति'* (२/४/५) इत्युपक्रम्य *'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं विदितम्'* (२/४/५) इति। तत्र संशयः—किमस्मिन् वाक्ये द्रष्टव्यत्वेन तन्त्रोक्तो जीवात्मोपदिश्यते किं वा परमात्मेति। तत्रोपक्रमे पतिजायादिप्रीतिसंसूचनेन मध्ये *'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्यवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्ति'* (बृ॰आ॰ २/४/१२) इत्युत्पत्तिविनाशयोगेन संसारिस्वभावप्रतीतेरुपसंहारे *'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'* (बृ॰आ॰ २/४/१४) इति विज्ञातृत्वोक्तेश्च तन्त्रोक्तः स्यात्। आत्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानन्तु भोग्यजातस्य भोक्त्रर्थत्वादौपचारिकं भवेत्। न तु *'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन'* (बृ॰आ॰ ४/५/३) इत्यादिना अमृतत्वलाभोपायोपदेशात् कथमस्य वाक्यस्य जीवपरत्वमिति तस्यैव प्रकृतिवियुक्तस्य ज्ञानेन तत्त्व सम्भवात्। एवमन्यान्यपि ब्रह्मलिङ्गानि कथञ्चिदत्रैव नेयानि। तस्मादत्र जीवात्मोपदिश्यते। तदधिष्ठिता प्रकृतिर्विश्वकारणमिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—बृहदारण्यक (२/४, ४/५) में वर्णन है—याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयीको उपदेश देते हैं—*'न वा अरे'* इत्यादि—'अरे मैत्रेयि! पतिकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिए किसी स्त्रीको पति प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्माकी (अपनी ही) प्रीतिके लिए पति प्रिय होता है।' इस प्रकार आरम्भ करके *'न वा अरे सर्वस्य'* इत्यादि—अधिक क्या! अरे मैत्रेयि! किसीकी भी अभिलाषा पूर्ण करनेसे कोई प्रिय नहीं होता, आत्माकी ही प्रीतिके लिए सब सबके प्रिय होते हैं। *'आत्मा वा अरे'* इत्यादि—अतएव अरे मैत्रेयि! आत्माका ही दर्शन, श्रवण और मनन करो, आत्माका ही ध्यान करो, और मैत्रेयि! आत्माके ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है।

अब इस विषयमें संशय हो रहा है कि इस वाक्यमें द्रष्टव्य रूपमें क्या सांख्यशास्त्रोक्त जीवात्मा उपदिष्ट है, अथवा परमात्मा! इसमें पूर्वपक्षी कहते हैं—वहाँ (सांख्यशास्त्रमें) आरम्भमें पति, पत्नी इत्यादिकी प्रीतिकी सूचना दी गयी है एवं मध्यमें *'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय'* इत्यादिसे कहा गया है कि समस्त पञ्चभूतोंके देहरूपमें परिणत होनेके पहले ही उन भूतोंमेंसे उठकर (उत्पन्न होकर) अर्थात् देवादि भावका सम्यक् प्रकारसे भोग करके इन भूतोंके विनष्ट होनेके बाद वह पुरुष भी विनष्ट अर्थात् मृत हो जाता है, मृत्युके बाद अर्थात् प्रेतरूपमें स्थित उसकी देवादि कोई संज्ञा नहीं रहती, इस प्रकार उत्पत्ति एवं विनाशका सम्बन्ध (योग) वर्णित होनेसे इस पुरुषकी सांसारिक स्वभावकी प्रतीति होती है (इससे भी सांख्य तन्त्र सिद्ध पुरुषका ही यहाँ सम्बन्ध है) और उपसंहारमें भी *'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'* (बृ॰आ॰ २/४/१२) अरे मैत्रेयि! विज्ञाता पुरुषको किस उपायके द्वारा जानोगी? इस कथनमें भी उस पुरुषके विज्ञातृत्व धर्मका प्रतिपादन होनेसे यह पुरुष सांख्यशास्त्रोक्त जीवात्मा ही हो सकता है। तब यह जो कहा गया कि आत्मज्ञानसे समस्त ही ज्ञात हो जाता है तो हे सांख्यवादियो! यह तो जीवात्मबोधक नहीं हो सकता। यह कथन भी लाक्षणिक (गौण) है, क्योंकि जिस प्रकार भोग्य वस्तुएँ भोक्ताके अधीन रहती हैं, उसी प्रकार समस्त विज्ञान ही आत्म-विज्ञानके अधीन है। *'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन'* (बृ॰आ॰ ४/५/३) 'धनके द्वारा अमृतत्व (मुक्ति) की कोई आशा ही नहीं है' इत्यादि कथन द्वारा अमृतत्व-प्राप्तिका जो उपाय वर्णित है, उसमें *'विज्ञातारमरे'* (विज्ञातृस्वरूपको किस उपायसे जानोगी) इत्यादि वाक्यका जीवमें तात्पर्य किस प्रकार होगा? यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह जीव जिस समय तत्त्वज्ञानके द्वारा प्रकृति-सम्बन्धसे रहित होता है, तब उसका अमृतत्व (मुक्ति) सम्भव है। इस प्रकार अपरापर ब्रह्म-ज्ञापक धर्म भी किसी-न-किसी प्रकारसे जीवात्मामें ही समन्वय प्राप्त करेंगे। अतएव इस प्रबन्धमें जीवात्मा ही उपदिष्ट है। प्रकृति इसी जीवात्माके द्वारा अधिष्ठित होकर विश्व-सृष्टिका कारण है—पूर्वपक्षके इस मतको निरस्त करते हुए कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—ब्रह्मोपक्रमसामर्थ्याद्वाक्यार्थस्य यथा ब्रह्मपरत्वं वर्णितं प्राक् तद्वत् मैत्रेयी-ब्राह्मणे जीवोपक्रमसामर्थ्यात् जीवपरत्वं स्यादिति दृष्टान्तसङ्गत्याह बृहदारण्यक इत्यादिना। न वा अरे पत्युरित्यादेरर्थः। अरे मैत्रेयि मित्रपुत्रि पत्युः कामाय अभिलाषाय तं पूरयितुं पतिः प्रियो भवतीति नैव त्वया बोध्यं अपि तु आत्मनो जीवस्यैव कामाय पतिः प्रियो भवतीत्येवमग्रिमेषु पर्यायेषु व्याख्येयम्। यद् भोगाय पत्यादिप्रपञ्चः प्रकृत्या सृष्टः स एवात्मा जीवः प्रकृतेः प्राकृताच्च देहादेर्विविच्य त्वया द्रष्टव्य इति पूर्वपक्षार्थः। सिद्धान्तार्थस्तु भाष्येणैव स्फुटीकृतोऽस्तीति। तत्रोपक्रम इति। पतिजायादिभोग्यवद्भोक्तृपक्रमान्मध्येऽप्येतेभ्य इति जीवधर्मप्रत्ययाच्च कापिल एवायमात्मा द्रष्टव्योऽभिधीयते। एतेभ्यो देहरूपेण परिणतेभ्यः प्राक् तेभ्यो भूतेभ्यः सम्यगुत्थाय देवादिभावमनुभूयेत्यर्थः। तान्येवंभूतानि विनष्टान्यनुलक्ष्यीकृत्य विनश्यति म्रियते। प्रेतस्थितस्य तस्य देवमानवादिसंज्ञा नास्ति न भवतीत्यर्थः विज्ञातारमित्युपसंहाराच्च कापिलः सोऽभिमत इत्याहोपसंहार इति। सत्त्वधर्मो ज्ञानसुखे स्वस्मिन् अध्यस्य चिद्रूपोऽयं जीवः संज्ञातारं सुखिनञ्च मन्यत इति कापिलमतम्। ननु जीवविज्ञानेन सर्वविज्ञानं कथमुपपद्येत तथाहात्मेति। भोक्तृर्थत्वादिति। शयासनादिवदिति ज्ञेयम्। औपचारिकमिति गौणमित्यर्थः। न त्विति। तमेव विदित्वेत्यादौ परमात्मज्ञानस्यैव मोक्षोपायतया श्रवणत् नास्य वाक्यस्य जीवपरत्वमिति न वाच्यमित्यर्थः। तत्र हेतुस्तस्यैवेति। तस्य कापिलस्य जीवात्मनस्तत्त्वममृतत्वं मोक्ष इत्यर्थः। अत्रैव कापिले जीवात्मनि।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—उपक्रममें ब्रह्मका कथन होनेसे जिस प्रकार पूर्व वाक्यार्थ ब्रह्मपर कहा गया, उसी प्रकार बृहदारण्यकीय मैत्रेयी-ब्राह्मण वाक्यमें जीवका पहले उपक्रम रहनेसे वह भी जीवपरक होगा, इस दृष्टान्तरूप सङ्गतिके आधारपर कह रहे हैं कि बृहदारण्यक वाक्य *'न वा अरे पत्युः कामाय'* इत्यादि, इस श्रुतिवाक्यका अर्थ है—अरे मैत्रेयि! मित्र-पुत्रि! पतिकी अभिलाषापूर्तिके लिए पति प्रिय होता है, ऐसा सोचो मत, तब क्या? आत्माके अर्थात् जीवकी ही प्रीतिके लिए पति प्रिय होता है। इसी प्रकार परवर्ती वाक्योंकी व्याख्या करनी चाहिये। जिस आत्माके भोग-सम्पादनके लिए प्रकृति पति, स्त्री, पुत्र इत्यादिकी सृष्टि करती है, वह आत्मा जीव है, तुम उसे प्रकृतिसे और प्रकृतिके विकार देहादिसे पृथक् दृष्टिमें दर्शन करो, यही पूर्वपक्षका वक्तव्य है। सिद्धान्त अर्थ भाष्यके द्वारा ही स्फुट हुआ है। *'तत्रोपक्रमे पतिजायादि'*—उपक्रममें पति, जाया इत्यादि भोग्य वस्तुओंके

उल्लेखके समान भोक्ताका भी उल्लेख है और मध्यमें भी *'एतेभ्यः समुत्थाय'* इत्यादि वाक्यके द्वारा जीवधर्मका प्रत्यय होनेसे कपिलोक्त आत्मा ही द्रष्टव्य रूपमें अभिहित है (कहा गया है)। पहले देहादि रूपमें परिणत भूतसमुदायसे क्रमशः उठकर अर्थात् देवादि भावका भोग करके पुनः उस देवादि देहको विनष्ट देखकर स्वयं ही मृत हो जाता है। जिस समय प्रेतावस्थामें रहता है, उस समय उसकी देव, मनुष्यादि कोई संज्ञा नहीं रहती। इस कथनसे जीवका धर्म ही प्रकाशित हो रहा है।

पुनः उपसंहारमें *'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'* इस कथनके द्वारा भी कपिल तन्त्र-सिद्ध जीव ही अभिमत (सम्मत) है, यही बात उपसंहार इत्यादि वाक्योंमें भी कही गयी है। बुद्धि—धर्मज्ञान और सुखको स्वयंमें आरोप करके चित्स्वरूप यह जीव अपनेको विज्ञाता और सुखी मानता है, यही सांख्यमत है। अब प्रश्न यह है कि जीवके विज्ञानसे समस्त ही किस प्रकार विज्ञात हो जाता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—*'आत्मविज्ञानेन सर्वम्'* इत्यादि—यह लाक्षणिक होगा, शय्या-आसनादि जिस प्रकार भोक्ताके भोगके लिए हैं, उसी प्रकार समस्त भोग्य वस्तुएँ ही भोक्ताके भोगके लिए हैं। इसलिए भोक्ताका ज्ञान होनेपर भोग्यका भी ज्ञान होता है, इसी आत्म-विज्ञानके द्वारा समस्त विज्ञात होता है, यह श्रुतिका तात्पर्य है। आपत्ति यह है कि *'अमृतत्वस्य तु'* इत्यादि वाक्य द्वारा तत्त्वज्ञानको ही अमृतत्व-प्राप्तिका उपाय कहा गया है, तब किस प्रकारसे *'अस्य वाक्यस्य'*—इस वाक्यका जीवपरत्व होगा? क्योंकि *'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति'*—'उस परमात्माको जानकर ही मृत्युका अतिक्रमण करता है' इत्यादि वाक्यमें परमात्मज्ञानको ही मुक्तिका उपाय सुना जा रहा है, अतएव यह वाक्य जीवपर नहीं हो सकता, तो सांख्यवादी कहते हैं—यह नहीं कह सकते हो। इसका कारण यह है कि *'तस्यैव प्रकृतिविमुक्तस्येत्यादि'*—'तस्य' उस कपिलोक्त जीवात्माका, तत्त्वम्—अमृतत्व अर्थात् मोक्ष है। *'अत्रैव नेयानि'* यह कपिल जीवात्मामें योजनीय है, सङ्गत है।

सूत्र—वाक्यान्वयात्॥ १९॥

सूत्रार्थ—उक्त प्रबन्धमें परमात्मा ही उपदिष्ट हैं, किस हेतुसे? उत्तर—'वाक्यान्वयात्'—समग्र वाक्यका परमेश्वरमें ही समन्वय अर्थात् योजना है अथवा पूर्वापर सभी वाक्योंका यही तात्पर्य है॥ १९॥

सूत्रानुवाद—प्रकरण वाक्यमें सर्वेश्वर परमात्मा ही प्राप्तव्य हैं, ऐसा माननेसे ही वाक्योंके अर्थकी परस्पर सामञ्जस्यपूर्ण सङ्गति हो सकती है॥ १९॥

गोविन्दभाष्य—अत्र परमात्मैवोपदिश्यते न तु तन्त्रोक्तो जीवः। कुतः? पूर्वापर पर्यालोचनायां कृत्स्नस्य वाक्यस्य तत्रैव सम्बन्धात्॥ १९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस सन्दर्भमें पुरुष-पदके द्वारा परमात्मा ही उपदिष्ट हो रहे हैं, सांख्यशास्त्रोक्त जीवात्मा नहीं। किस कारणसे? इसका उत्तर है—पूर्वापर पर्यालोचनामें समस्त वाक्य ही उन परमेश्वरके तात्पर्यका बोध करानेवाले हैं॥ १९॥

सूक्ष्मा-टीका—एवं प्राप्ते ब्रूते वाक्यान्वयादिति। ऊह्योऽत्र पक्षः। तत्रैव परमात्मनि श्रीहरौ॥ १९॥

सूक्ष्मा-सार—इस प्रकार पूर्वपक्षवादका निश्चय होनेपर उसके उत्तरमें कहते हैं—*'वाक्यान्वयात्'*—यहाँ यह जो सिद्धान्त पक्ष है, उसे ही जानना चाहिये। *'तत्रैव सम्बन्धात्'* इति। 'तत्र'—उन परमेश्वर श्रीहरिमें॥ १९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—बृहदारण्यकोपनिषदके दूसरे अध्यायके चतुर्थ ब्राह्मणमें पाया जाता है कि याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीको तत्त्वज्ञानका उपदेश देते हुए कहा कि दूसरेकी प्रीतिके लिए कोई दूसरेको प्रेम नहीं करता, आत्माकी प्रीतिके लिए ही सब-सबको प्रेम करते हैं, अर्थात् पति पत्नीको, पिता पुत्रको एवं पुत्र पिताको प्रेम करता है। किसीकी प्रीतिके लिए कोई प्रिय नहीं होता, केवल आत्माकी प्रीतिके लिए ही सब सबके प्रिय होते हैं। इस आत्माके साक्षात्कारके लिए आत्म-विषयका ही श्रवण, मनन एवं ध्यान करना उचित है—इत्यादि वाक्योंसे संशय हो सकता है कि इस स्थलपर सांख्यके तन्त्रमें उक्त जीवात्माका उपदेश किया जा रहा है? अथवा परमात्माका ही द्रष्टव्य-श्रोतव्य रूपमें उपदेश है?

सांख्यवादीगण कितनी ही युक्तियोंके द्वारा निश्चय करते हैं कि यहाँ सांख्यके पुरुषका ही जीवात्मरूपमें उपदेश है। इस पूर्वपक्षको निरस्त करनेके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि नहीं, यहाँ सांख्यके पुरुषका निर्णय नहीं लिया जा सकता। यहाँ परमात्माका ही उपदेश है, क्योंकि पूर्वापर पर्यालोचना करनेपर समस्त वाक्योंका परमात्मा परमेश्वरमें ही समन्वय अर्थात् सम्बन्ध निश्चित होता है। इसके प्रधान कारण उपक्रममें ब्रह्मका ही प्रसङ्ग देखा जाता है। महर्षि याज्ञवल्क्य संन्यास ग्रहणके लिए कृतसङ्कल्प होकर पत्नी मैत्रेयीसे विदा लेना चाहते थे, इसलिए उन्होंने कात्यायनी और मैत्रेयी दोनोंमें धनादिका विभाग कर दिया और जानेका निश्चय किया। तभी मैत्रेयीने कहा, 'हे स्वामिन्! मैं क्या वित्तके द्वारा अमृतत्व प्राप्त कर सकूँगी?' इसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने कहा, 'नहीं, वित्तसे अमृतत्व प्राप्त नहीं हो सकता।' तब मैत्रेयीने पुनः कहा, 'जिससे अमृतत्व प्राप्त नहीं हो सकता, ऐसे वित्तका मैं क्या करूँगी? आप जो जानते हैं, मुझे वही उपदेश करें अर्थात् मोक्षका साधन बतायें।' उपसंहारमें भी जाना जाता है, 'जिन्हें जाननेसे समस्त विज्ञात हो जाता है', इसके अतिरिक्त विभिन्न श्रुतियोंमें भी देखा जाता है, 'परमात्माको जान लेनेपर संसारका अतिक्रमण हो जाता है अर्थात् अमृतत्व प्राप्त हो जाता है।' अतएव समस्त वाक्योंपर विचार करनेपर श्रीहरिमें ही सम्बन्ध जानना होगा।

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुक-वाक्यमें भी पाया जाता है—

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि॥

तद्राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम्।
न तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तगृहादिषु॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१४/५०-५१)

श्रीशुकदेवगोस्वामीने कहा—हे राजन्! अपनी आत्मा ही समस्त प्राणियोंको प्रिय होती है। आत्माके अतिरिक्त पुत्र, धन आदि आत्माको प्रिय तो होते हैं, किन्तु गौण रूपसे, साक्षात् प्रिय नहीं होते।

अतः हे राजेन्द्र! यही कारण है कि सभी प्राणियोंको अपनी आत्माके प्रति जैसा स्नेह होता है, ममताके विषयीभूत अपने पुत्र, धन एवं गृहादिमें वैसा नहीं होता।

और भी,

तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम्॥

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

(श्रीमद्भा० १०/१४/५४-५५)

अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त प्राणियोंको अपनी ही आत्मा सर्वाधिक प्रियतम होती है। इस निखिल चराचर जगत्के प्रति प्रेम भी आत्माके सुखके कारण होता है। परीक्षित्! तुम श्रीकृष्णको समस्त जीवोंके आत्मास्वरूप जानो। वे जगत्के मङ्गलके लिए योगमायाका आश्रय लेकर अवतीर्ण होकर मायिक उपाधि अथवा भौतिक देहधारी रूपमें प्रतीत होते हैं॥ १९॥

अवतरणिका भाष्य—तमेतं प्रतिज्ञातं वाक्यन्वयं त्रिमुनिसम्मत्यापि द्रढयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—सूत्रकार प्रतिज्ञा करते हैं—समस्त वेदान्तवाक्योंका परमेश्वर श्रीहरिमें ही समन्वय अर्थात् तात्पर्य है, तीन मुनियोंका यही अनुमोदन (सम्मति) है, अतः प्रतिज्ञात (सुदृढ़) समन्वयको और भी दृढ़ करते हुए कहते हैं—

सूत्र—प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः॥ २०॥

सूत्रार्थ—'आश्मरथ्यः'—आश्मरथ्य मुनि कहते हैं, 'प्रतिज्ञा'—आत्माके विज्ञानसे समस्त विज्ञात होता है, यह जो प्रतिज्ञा (दृढ़तापूर्वक कहा गया वचन है) वही 'सिद्धेर्लिङ्गम्'—आत्माके परमेश्वरत्वकी सिद्धिका लिङ्ग है अर्थात् ज्ञापक है॥ २०॥

सूत्रानुवाद—एकको जान लेनेसे सम्पूर्णका ज्ञान हो जाता है, इस प्रतिज्ञाकी सिद्धिके लिए प्रकरणमें आत्मा शब्दका प्रयोग किया गया

है, जिससे कि जीवात्मवाची शब्दोंसे परमात्माका अर्थ बोध होता है, यह आचार्य आश्मरथ्यका अभिमत है॥ २०॥

गोविन्दभाष्य—आत्मनो विज्ञानेन सर्वं विदितमिति या प्रतिज्ञा सैवास्यात्मनः परात्मत्वसिद्धेर्लिङ्गमित्याश्मरथ्यो मन्यते। न ह्यात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुपदिष्टम्। अन्यत्र परमकारणविज्ञानात् तत् सम्भवेत्। न चैतदौपचारिकं शक्यं वक्तुम्। आत्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय *'ब्रह्म तं परादादित्यादिना'* (बृ॰आ॰ २/४/६) तस्यैवात्मनो ब्रह्मक्षत्रादिविश्वाश्रयतायाः सर्वरूपतायाश्चोक्तत्वात्। न हि सा सा च परस्मादन्यत्र सम्भवेत्। न च *'तस्य वा एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्'* (बृ॰आ॰ २/४/१०) इत्यादिदर्शित कृत्स्नजगत्कारणता तदन्यस्मिन् कर्मवश्ये पुंसि शक्या व्याख्यातुम्। न चानादृत्य वित्तादिकं मोक्षोपायं पृच्छतीं मैत्रेयीं स्वपत्नीं प्रति ब्रह्मान्यं जीवं ब्रुवन्नाप्तः। तज्ज्ञानेनैव मोक्षश्रवणात्। तमेव विदित्वेति (श्वे॰ ३/८) ब्रह्मज्ञानेनैव मोक्षश्रवणात्। तस्मादयं परमात्मैवेति॥ २०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'आत्मनो विज्ञानेन सर्वं विदितं भवति'*—आत्माके विज्ञानसे समस्त विज्ञात होता है, यह जो प्रतिज्ञा है, वही इस आत्माकी परमात्मा सिद्धिका लिङ्ग (लक्षण) अथवा ज्ञापक है, यह आश्मरथ्य मुनिका कहना है। इस आत्मविज्ञानका तात्पर्य जीवविज्ञान नहीं है, अपितु परमेश्वरका विज्ञान है। जीवात्माके विज्ञानसे समस्त विज्ञान उपदिष्ट नहीं होता, क्योंकि परम कारण परमेश्वरके विज्ञानके बिना अन्य किसी भी विज्ञानसे समस्त विज्ञान सम्भव नहीं है। इस एक विज्ञानसे समस्त विज्ञानकी बात भी लाक्षणिक (औपचारिक) नहीं कही जा सकती, क्योंकि पहले तो आत्मविज्ञानके द्वारा समस्त विज्ञानकी प्रतिज्ञा की गयी है, इसके बाद *'ब्रह्म ते परादादित्यादिना'* (बृ॰आ॰ २/४/६) उन परमकारण ब्रह्मसे जगत्को पृथक् रूपमें देखनेसे पराभूत (निन्दित) होना पड़ता है, इत्यादि श्रुतिके द्वारा उस आत्माका ही ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि समस्त विश्वका आश्रयत्व और सर्वस्वरूपत्व प्रतिपादित कर रहे हैं, उस आत्माकी विश्वाश्रयता और सर्वस्वरूपता परमेश्वरके अतिरिक्त अन्य किसीमें सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त *'तस्य वा एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसित मतम्'* (बृ॰आ॰ २/४/१०) वेदत्रय (तीनों वेद) उन महापुरुषके निःश्वासस्वरूप हैं, यह श्रुतिके द्वारा कहा गया है—समस्त जगत्का कारणत्व भी परमेश्वरके

अतिरिक्त अन्य कर्माधीन पुरुष जीवमें कहा नहीं जा सकता। और भी एक कारण है कि मैत्रेयी वित्त इत्यादिका अनादर करके जब पति याज्ञवल्क्यसे मुक्तिका उपाय पूछती है, तब याज्ञवल्क्य मुनि अपनी पत्नीको यदि ब्रह्म-भिन्न जीवका उपदेश करते हैं, तो वे प्रमाण-पुरुष नहीं होते हैं, अपितु अनाप्त (शास्त्रीय ज्ञानसे रहित) ही होते हैं, क्योंकि जीव-ज्ञानसे मुक्ति प्राप्त नहीं होती। पुनः *'तमेव विदित्वा'* (श्वे॰ ३/८) इत्यादि श्रुतिसे भी ब्रह्मज्ञानके द्वारा मुक्तिकी बात सुनी जाती है, इन सभी कारणोंसे इस आत्मा शब्दसे परमेश्वरको ही जानना चाहिये॥ २०॥

सूक्ष्मा-टीका—त्रिमुनिसम्मत्यापीति। आश्मरथ्यौडुलोमिकाशकृत्स्नमतेनापीत्यपि-शब्दात् स्वस्यैतदेव मतमित्युक्तम्। प्रतिज्ञेति। लिङ्गं सामर्थ्यं बोध्यम्। न चैतदिति। एतदेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं। न हि सा सा चेति। सा विश्वाश्रयता सा सर्वज्ञता च परेशादन्यत्र जीवे न सम्भवतीत्यर्थः। तस्याल्पकत्वादिति भावः। तदन्यस्मिन् परेशभिन्ने पुंसि जीवे कर्मवश्ये इति हेतुगर्भं विशेषणमेतत्। न चेति ब्रुवन् याज्ञयवल्क्यः। तज्ज्ञानेन जीवज्ञानेन॥ २०॥

सूक्ष्मा-सार—अवतरणिका भाष्य स्थित *'त्रिमुनिसम्मत्याऽपि'* इति—आश्मरथ्य, औडुलोमि और काशकृत्स्न—इन तीनों मुनियोंका मत 'अपि' (भी) शब्दके द्वारा कहा गया है और यह स्वयं व्यासजीका मत भी है। प्रतिज्ञा इत्यादि सूत्रमें *'सिद्धेर्लिङ्गम्'*—लिङ्ग शब्दका अर्थ सामर्थ्य जानें। *'न चैतदौपचारिकम्'* इत्यादि भाष्यमें 'एतत्' का अर्थ है—एकके विज्ञानसे समस्तका विज्ञान। *'न हि सा सा च'* इति, प्रथम 'सा' पदका अर्थ है—विश्वाश्रयता, दूसरे 'सा' पदका अर्थ है—सर्वज्ञता, ये दोनों 'परेशादन्यत्र'—परमेश्वरसे भिन्न अन्यमें अर्थात् जीवमें सम्भव नहीं हो सकते, यह अर्थ है। अभिप्राय यह है—जीव जो क्षुद्र और परिच्छिन्न है, उनमें सर्वाश्रयत्व और सर्वज्ञता इत्यादि रह नहीं सकते। 'तदन्यस्मिन्'—परमेश्वरसे भिन्न अन्य, 'पुंसि'—जीवमें, 'कर्मवश्ये'—क्योंकि जीव कर्माधीन है, इस हेतुका बोध करानेवाला यह जीवका विशेषण है। *'न चानादृत्य ... नाप्तः'* में ब्रुवनका अर्थ है—वचन कहनेवाले याज्ञवल्क्य। *'तज्ज्ञानेन मोक्षाभावात्'* से तात्पर्य है—क्योंकि जीवस्वरूपके ज्ञान द्वारा मुक्ति नहीं होती॥ २०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकारका प्रतिज्ञान (दृढ़तापूर्वक कहा हुआ) वाक्य है कि समस्त वेदान्तवाक्योंका श्रीहरिमें ही सम्बन्ध निश्चित हुआ है। इसी बातको वे तीन मुनियोंकी सम्मतिका उल्लेख करके और भी दृढ़ कर रहे हैं। सबसे पहले आश्मरथ्य मुनिका मत है। उनका कहना है कि 'आत्माके विज्ञानसे ही सब जाना जाता है', यह जो प्रतिज्ञा वाक्य है, यही आत्माके परमात्मत्वकी सिद्धिका ज्ञापक है। यह जीवविज्ञान नहीं है। महर्षि याज्ञवल्क्यने जो 'आत्मा' कहनेसे परमात्माका ही निर्देश किया है, उसीको आश्मरथ्यने भी विभिन्न युक्तियोंसे सुनिश्चित एवं दृढ़ किया है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम्।
प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात् तर्ह्येव कश्मलम्॥

यदा रहितमात्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः।
स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन् स्वाराज्यमृच्छति॥

(श्रीमद्भा॰ ३/९/३२–३३)

काष्ठमें स्थित अग्निके समान मैं समस्त प्राणियोंमें व्याप्त हूँ। जिस समय जीव मुझे इस भावसे देखता है, उसी समय वह अपने अज्ञानरूप मोहको त्याग करनेमें समर्थ हो जाता है। जिस समय लोग पृथ्वी आदि भूत, इन्द्रिय, सत्त्वादि गुण एवं विषयोंसे परिमुक्त शुद्ध जीवात्माको अपने आश्रयस्वरूप मेरे साथ अभिन्न रूपमें (अपने जीवात्मत्वको परित्याग करके नहीं) दर्शन करते हैं, तभी वे स्वस्वरूप अर्थात् श्रीकृष्णदास्यरूप मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं।

अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि।
अतो मयि रतिं कुर्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/९/४२)

हे विधाता! मैं आत्माओं (जीवों) का भी आत्मा हूँ, इसलिए स्त्री-पुत्र आदि अतिप्रिय वस्तुओंसे भी अधिक प्रियतम एवं निर्दोष हूँ। मेरे निमित्त ही देहादिके प्रति प्रियभाव उदित होता है। यह देह

कृष्णसेवामें नियुक्त होनेके लिए उपयोगी है, अतएव मुझसे ही प्रेम करना कर्त्तव्य है॥ २०॥

अवतरणिका भाष्य—ननु जीवोऽयमात्मा पत्यादिप्रियतासंसूचनेन संसारप्रत्ययात्। न चात्र वाक्यप्रतिज्ञानुपरोधार्थमात्मनस्तु कामायेत्यत्रात्मशब्देन परमात्मानं व्याख्याय तत्राराधकगतं सर्वकर्त्तृकं सर्वकर्मकं वा प्रीणनं विवक्षणीयम्। *'येनार्च्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि। रज्यन्ति जन्तवस्तत्र स्थावरा जङ्गमा अपि'* इति स्मृतेरिति वाच्यम्। तथाभावस्य तत्रावीक्षणादित्याशङ्क्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसमें पूर्वपक्षीका मत है कि वर्णित आत्माको जीव ही कहना होगा, क्योंकि श्रुतिमें पति इत्यादिका प्रियत्व सूचित होनेके कारण संसारित्व ही प्रतीत हो रहा है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रतिज्ञा वाक्यके लिए वक्तव्य यह है कि *'आत्मनस्तु कामाय'* इत्यादि श्रुतिके अन्तर्गत 'आत्मन्' शब्दसे 'परमात्मा' अर्थ करके उन परमात्मा-परमेश्वरकी आराधनामें उपासकका सभीके द्वारा प्रीति-सम्पादन और सभीको प्रेम करना फल है, इस विषयमें स्मृति वाक्य भी प्रमाण हैं। यथा—*'येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि। रज्यन्ति जन्तवस्तत्र स्थावरा जङ्गमा अपि।'* (पाद्मे) जो श्रीहरिकी पूजा (अर्चना) करते हैं, उनके द्वारा समस्त जगत् पूजित (तृप्त) है। उन श्रीहरिके उपासकोंपर स्थावर-जङ्गम सभी प्राणी भी अनुरक्त रहते हैं, तो यह किस प्रकार कहा जा सकता है? क्योंकि श्रीभगवान्की आराधनामें जो जगत् द्वारा प्रीणन अथवा जगत्के लिए प्रीणन है, वह तो यहाँ देखा नहीं जा रहा। इस आशङ्काके उत्तरमें कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—न चात्रेति। प्रतिज्ञानुपरोधार्थमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञान-सिद्ध्यर्थम्। येनार्च्चित इति पाद्मे। सर्वकर्मकं प्रीणनं पूर्वार्द्धे सर्वकर्त्तृकन्तु परार्द्धे बोध्यम्। तथेति। तथाभावस्य तादृशप्रीणनस्य। तत्र भगवदाराधके अदर्शनादित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'न चात्र वाक्य प्रतिज्ञानुपरोधार्थम्'* इत्यादि भाष्यमें *'प्रतिज्ञानुपरोधार्थम्'* अर्थात् 'एकको जान लेनेसे समस्त ही जान लिया जाता है'—यह कथन प्रतिज्ञात विषयको प्रमाणित करनेके लिए है। *'येनार्चितो हरिस्तेन'* इत्यादि श्लोक पद्मपुराणमें कथित हैं। पूर्वार्धमें 'आत्मन्' शब्दमें परमात्माकी व्याख्या करके बताया

गया है कि श्रीहरिके उपासकको सभी प्रेम करते हैं, यह सभीके द्वारा प्रीणन है और शेषार्धके द्वारा कहा गया है कि वह उपासक सभीको प्रेम करता है, इससे सर्वकर्मक प्रीणन जानना चाहिये। *'तथा भावस्य तत्रावीक्षणात्'* में 'तथा भावस्य' का अर्थ है—'तादृश प्रीणन' और 'तत्र' का अर्थ है—उन भगवान्‌की आराधना करनेवालेमें 'अवीक्षणात्'—'अदर्शनात्' देखा नहीं जाता॥ २१॥

सूत्र—उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः॥ २१॥

सूत्रार्थ—'औडुलोमिः'—औडुलोमि मुनि कहते हैं, 'उत्क्रमिष्यतः' जिस समय साधनसम्पन्न ज्ञानी व्यक्ति संसारसे मुक्त होकर शीघ्र ही परमेश्वरको प्राप्त होता है, 'एवं भावात्' इस प्रकार सर्वप्रियता होती है, इसलिए उपक्रममें कथित 'आत्मन्' शब्दके द्वारा परमेश्वर ही बोध्य (ज्ञातव्य) है॥ २१॥

सूत्रानुवाद—शरीरसे उत्क्रमण कर जाते समय जीवके लिए परमात्माके साथ तादात्म्य भाव होनेसे आत्मन् शब्दसे परमात्माका ही वर्णन है॥ २१॥

गोविन्दभाष्य—उत्क्रमिष्यतः साधनसम्पन्नस्यासन्नपरमात्मप्राप्तेर्विदुष एवं भावात् सर्वप्रियत्वादुपक्रमगतेनात्मशब्देन परमात्मैव बोध्य इत्यौडुलोमिर्मन्यते। तदयमत्र वाक्यार्थः—पत्युः कामाय (बृ॰आ॰ २/४/५) मत्प्रयोजनायाहमस्याः प्रियः स्यामित्येवंरूपाय पतिः प्रियो न भवति किन्तु आत्मनः परमात्मनः कामाय स्वाराधकप्रिय-प्रतिलम्भनरूपायैवेत्यर्थः। काम इच्छा। तं सफलं कर्त्तुमित्यर्थः। *'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः'* इति सूत्राच्चतुर्थी। भक्त्याराधितः खलु भगवान् भक्तानां सर्ववस्तुगतं प्रियत्वं सम्पादयति। *'अकिञ्चनस्य शान्तस्य दान्तस्य समचेतसः। मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिश'* (श्रीमद्भा॰ ११/१४/१३) इति स्मृतेः। यद्वा पत्युः कामाय पतिं प्रियं न करोत्यपि तु परमात्मनः कामायैव। *'प्राणबुद्धिमनः-स्वात्मदारापत्यधनादयः। यत्सम्पर्कात् प्रिया आसंस्ततः कोऽन्यः परः प्रिय'* (श्रीमद्भा॰ १०/२३/२७) इति स्मरणात्। कामः सुखम्। चतुर्थी पूर्ववत्। तथा च यत्सम्पर्कात् यत्सङ्कल्पाद् यत्सम्बन्धाद्वा अप्रियमपि प्रियं भवति स श्रीहरिरेव प्रेष्ठो द्रष्टव्य इति। किञ्च नायमात्मशब्दो जीवार्थक इति शक्यमाग्रहीतुं, तस्य विभौ परेशे मुख्यव्युत्पन्नत्वात्। इतरथा आत्मा वा अरे (बृ॰आ॰ २/४/५) इत्यनेनानन्वयापत्तिः। सत्याञ्च तस्यां वाक्यभेदः। स्वीकृते च तस्मिन पूर्ववाक्यस्य न किञ्चित् फलं पश्यामः।

द्रष्टव्यतौपयिकतया तस्योपदेशात्। न चोभयत्रापि जीवार्थकोऽस्तु, ब्रह्मैकान्त-धर्मश्रुतिव्याकोपात्। यद्यप्ययं निर्गुणात्मवादी *'चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वात् इत्यौडुलोमिः'* इति वक्ष्यमाणात्, तथाप्यविद्याविनिवृत्तये तादृगात्माभिव्यक्तये च श्रीहरिं भजत्या त्त्विर्ज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयत इति वक्ष्यमाणत् भक्तिरेव सर्वाभीष्टसाधिकेति प्रसिद्धम्॥ २१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'उत्क्रमिष्यतः'*—इस संसारसे मुक्ति-प्राप्तिका अधिकारी, वह किस प्रकारसे है? साधनसम्पन्नस्य—जो साधनसम्पन्न हुआ है, परमेश्वरकी सान्निध्य-प्राप्ति जिसके आसन्न (निकट) है, ऐसे ज्ञानी व्यक्तिके समान होकर रहता है अर्थात् जिसमें सर्वप्रियत्व है, इसलिए उपक्रममें कथित आत्मन् शब्दके द्वारा परमेश्वरको ही जानना होगा, यह औडुलोमि मुनिका मत है। अतएव *'न वा अरे पत्युः कामाय'* इत्यादि श्रुतिवाक्यका यहाँ यह अर्थ है—अपनी अथवा पतिकी प्रीति साधनके लिए पति पत्नीका प्रिय होता है, इस प्रकारके उद्देश्यसे पति प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्माके अर्थात् परमेश्वरके प्रीणनके लिए अर्थात् जो परमेश्वरके भक्त हैं, ऐसे पति इत्यादिका प्रियत्व सम्पादनके लिए ही पति प्रिय होता है अर्थात् भगवान्के आराधकके सभी प्रिय होते हैं, इसलिए पति प्रिय होता है। *'कामाय'* इस पदमें चतुर्थी विभक्ति है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—काम शब्दका अर्थ है इच्छा। उसे सफल करनेके लिए *'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः'* (पा॰सू॰ २/३/१४) किसी एक उह्य (अप्रयुक्त) क्रियाको निष्पन्न करनेवाली प्रयुक्तमान क्रिया जिसका उपपद होती है, वैसे ही 'तुम्' अर्थको प्रकाशित करनेवाले, किन्तु अप्रयुक्त 'तुमुन्' प्रत्ययके कर्ममें चतुर्थी होती है। जिस प्रकार *'पुष्पाय वाटीं प्रयाति'* पुष्प लानेके लिए वाटिका जाता है, *'पुष्पम् आहर्तुं वाटीं प्रयाति'*—यहाँ पुष्प-आहरणके लिए वाटिका जानेका प्रयोजन आहरण (लानेके लिए) है, इसलिए पुष्पायमें चतुर्थी है, भगवान्का अभिलाष—समस्त भक्तोंके प्रति प्रीति है, उसीको सफल करनेके लिए पति इत्यादि वस्तुएँ प्रिय होती हैं।

बात यह है कि भक्तके द्वारा भक्तिपूर्वक आराधित होनेसे भगवान् भक्तोंकी समस्त वस्तुगत प्रियताका सम्पादन करते हैं। स्मृतिशास्त्र श्रीमद्भागवत (११/१४/१३) में भी यही कहा गया है कि *'अकिञ्चनस्य'*

इत्यादि अर्थात् जो अकिञ्चन और जितेन्द्रिय हैं, मनका दमन करते हैं, सभीको समान दृष्टिसे देखते हैं, मुझे पाकर जिनका चित्त सन्तुष्ट है, उस व्यक्तिके लिए समस्त दिशाएँ सुखसे पूर्ण हैं। अथवा *'न पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति'* इस श्रुतिकी अन्य रूपसे व्याख्या इस प्रकार है *'पत्युः कामाय'*—पतिके सुख (काम-पूरण) के लिए पति प्रिय नहीं होता, किन्तु परमेश्वरको सन्तुष्ट करनेके लिए पति प्रिय होता है। इस विषयमें भी श्रीमद्भागवतमें प्रमाण है, यथा—*'प्राणबुद्धि'* इत्यादि (श्रीमद्भा॰ १०/२३/२७) अर्थात् प्राण, बुद्धि, मन, देह, स्त्री, पुत्र, कन्या, धन इत्यादि जिनके सम्बन्धके कारण प्रिय होते हैं, उनसे प्रधान (बढ़कर) प्रिय और कौन हो सकता है? यहाँ काम शब्दका अर्थ सुख है और क्रियार्थ उपपद चतुर्थी पूर्ववत् है। इस वाक्यका तात्पर्य है कि जिनकी इच्छा और अधिष्ठानसे अप्रिय भी प्रिय होता है, उन श्रीहरिको ही सर्वाधिक प्रिय जानें।

और एक बात है कि पूर्वपक्षी जो 'आत्मन्' शब्दको जीवात्मपर बतलानेकी चेष्टा करते हैं, वह सम्भव नहीं है, क्योंकि यह शब्द विभु (विश्वव्यापक) परमेश्वरमें ही मुख्यवृत्ति अभिधाशक्तिसे व्युत्पन्न है। उपक्रमस्थ 'आत्मन्' शब्दका यदि जीवमें तात्पर्य स्वीकार करते हैं, तो *'आत्मा वा अरे'* इत्यादि वाक्यकी इस आत्मन् शब्दके साथ एकवाक्यता नहीं रहती। किस प्रकार? देखा जाता है कि *'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यो'* (बृ॰आ॰ २/४/५) वाक्यसे यदि जीवात्माका बोध होता है, तो 'एक उनका ज्ञान होनेपर समस्त ज्ञात हो जाता है'—इस वाक्यसे बोधित परमेश्वर और द्रष्टव्य रूपमें बोधित जीवात्मा भिन्न-भिन्न हो जायेंगे और दोनों वाक्यार्थोंमें परस्पर अन्वयका अभाव हो जायेगा। यदि इस अनन्वयापत्ति (सम्बन्धके अभावरूप आपत्ति) को इष्टापत्ति (वादी कल्पित आपत्ति जो प्रतिवादीको भी वाञ्छित है) कहो, तो वाक्यभेद हो जाता है और *'सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो न चेष्यते'* अर्थात् एकवाक्यता सम्भव होनेपर वाक्यभेद शास्त्रकारोंको अभिप्रेत नहीं है—यह सिद्धान्त मीमांसाशास्त्रमें निर्णीत है। वाक्यभेद स्वीकार करनेपर पूर्ववाक्यका कोई फल ही नहीं रहेगा, क्योंकि केवल

'द्रष्टव्यः' अर्थात् द्रष्टव्यताके निर्वाहके लिए ही तो उसका (पूर्व श्रुतिवाक्यका) उपदेश देखा जाता है।

यदि कहो पूर्ववाक्य एवं परवाक्य—दोनों स्थलोंपर ही 'आत्मन्' शब्दका अर्थ जीवात्मा रहे, तो यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा होनेपर केवल ब्रह्ममात्रमें सङ्गत धर्मोंका बोध करानेवाली श्रुतियाँ बाधित हो पड़ेंगी। यद्यपि निर्गुण आत्मवादी औडुलोमिने *'चिति तन्मात्रेण तन्मूलकत्वादित्यौडुलोमि'* (ब्रह्मसूत्र ४/४/६) में कहा है कि ब्रह्मध्यानके द्वारा अविद्या दग्ध होनेपर मुक्त जीव चिद्रूप ब्रह्ममें सम्पन्न होकर केवल चित्स्वरूपमें ही आविर्भूत होता है, क्योंकि उस समय सैन्धव खण्ड (नमकके डेले) को जलमें डालनेकी परवर्ती अवस्थाके समान वह बाह्यहीन, अन्तरहीन एक प्रज्ञानघन हो जाता है, ऐसा होनेपर ही अविद्या-दाहके लिए और इसी प्रकार आत्माके आविर्भावके लिए वह श्रीहरिका भजन करता है, इस बातको औडुलोमिने *'आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते'* (ब्रह्मसूत्र ३/४/४५) स्वामी श्रीभगवान् निरेपक्ष भावसे अपने भक्तोंके द्वारा भक्ति मूल्यसे उसी प्रकार क्रीत हो जाते हैं, जिस प्रकार ऋत्विकगण दक्षिणाके बदलेमें यजमान द्वारा क्रीत हो जाते हैं। इस सूत्रमें कहा है—औडुलोमि ऋषि निर्गुण आत्मवादी हैं, इसलिए उनका भक्तिवाद रिक्त-भक्तिवाद नामसे अभिहित है। यह बादमें कहा जायेगा। यह प्रसिद्ध है कि भक्ति ही सभीका अभीष्ट साधित करती है॥ २१॥

सूक्ष्मा-टीका—उत्क्रमिष्यत इति। एवं भावादित्यस्य व्याख्यानं सर्वप्रियत्वादिति। सर्वेषां प्रियः प्रीणनकर्त्ता यः स च सर्वे प्रियाः प्रीणनकर्त्तारो यस्य स च सर्वप्रियस्तत्त्वादित्यर्थः। प्रीञ् तर्पणे इत्यस्मात् कर्त्तरि कप्रत्ययः। इगुपधज्ञाप्रीकिरः क इति सूत्रात्। तदयमत्रेति। सर्वं वस्तु मद्भक्तस्यानुकुलमस्तु। मद्भक्तस्तु मदधिष्ठानधिया सर्वस्मिन् वस्तुनि अनुकूलोऽस्तु इति भगवतो योऽभिलाषस्तमहं सफलं कर्त्तुम्। पत्यादिवस्तु भक्तस्य प्रियं भासते। ततश्च पत्यादिवस्तुनि भगवदधिष्ठानत्वसम्बन्धं विज्ञाय तदीयत्वधिया सर्वं तदनुकूलयति प्राणेत्यादिना न तु तद्विषयीत्यर्थः। क्रियार्थेति। क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोऽप्रयुक्तस्य तुमुनः कर्मणि चतुर्थी स्यादित्यर्थः। यथा पुष्पाय वाटीं प्रयातीत्यादि पुष्पमाहर्त्तुमित्याद्यर्थः। पुष्पाहरणार्थं हि वाटीप्रयाणं एवं भगवदभिलाषसाफल्यकरणार्थं पत्यादिवस्तुप्रियताभवनमिति योज्यम्।

तत्र सर्वकर्तृकप्रीणनपक्षं व्युत्पादयति भक्त्याराधित इति। सर्ववस्त्वित्ति। हरिसङ्कल्पेन सर्वं तस्य प्रियकरं भवतीत्यर्थः। अकिञ्चनस्येति श्रीभागवते। सर्वा दिशस्त-द्वर्त्तिनोऽर्थास्ताश्चत्यर्थः। सर्वकर्मकप्रीणनपक्षं व्युत्पादयति यद्वेति। प्राणेति श्रीभागवते। यत्सम्पर्कात् यदधिष्ठानत्वलक्षणात् सम्बन्धात्। वक्तुस्तात्पर्यमाह तथाचेति। किञ्चेति। अयमुपक्रमवाक्यस्थः। इतरथेति। उपक्रमस्थात्मब्दस्य जीवार्थकत्वस्वीकारे तेन सहात्मा वा अरे इति वाक्यस्यैकवाक्यतालक्षणसम्बन्धो न स्यात् तस्यैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानवेदिनः परेशपरत्वादित्यर्थः। तस्यामनन्वयापत्तौ। तस्मिन् वाक्यभेदे। तस्य पूर्ववाक्यस्य। उभयत्रापि पूर्ववाक्ये परवाक्ये चेत्यर्थः। नन्वौडुलोमेरीदृग्भक्तिव्याहारः कथं तत्राह यद्यपीति। सूत्रद्वयार्थस्तु तद्भाष्य द्रष्टव्यः॥ २१॥

सूक्ष्मा–सार— *'उत्क्रमिष्यतः'* इत्यादि सूत्रमें उक्त *'एवं भावात्'* पदकी व्याख्या भाष्योक्त *'सर्वप्रियत्वात्'* सर्वप्रियत्वके कारण है। इसका अर्थ है *'सर्वेषां प्रियः'* सभीकी प्रीतिका सम्पादन करनेवाला और *'सर्वे प्रियाः प्रीणनकर्त्तारा यस्य'* जिसे सभी प्रीति करनेवाले हैं—इस प्रकारकी व्युत्पत्तिसे सर्वप्रीणनकर्त्तृत्व और सर्वप्रीणनकर्मत्व जाना जाता है। प्रिय शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'प्रीञ् तर्पणे' तृप्त करना, इस अर्थमें क्रमादिगण 'प्री' धातुके उत्तरमें कर्त्तृवाच्यमें 'क' प्रत्यय है। इसका सूत्र है—*'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः'* जिन धातुओंकी उपधामें (शब्दके अन्तिम वर्णसे पूर्वके वर्णमें) इक् (इ, उ, ऋ, ऌ वर्ण) प्रत्याहार रहता है, उन ज्ञा, प्री और कृ धातुके उत्तरमें कर्त्तृवाच्यमें 'क' प्रत्यय होता है। *'तदयमत्र वाक्यार्थे इति'* समस्त वस्तुएँ मेरे भक्तको प्रिय होती हैं और मेरा भक्त 'मैं सर्वत्र हूँ' यह मानकर समस्त वस्तुओंसे प्रेम करता है, इसलिए भक्तके लिए पति इत्यादि वस्तुएँ प्रिय होती प्रतीत होती हैं। इसीके फलसे पति इत्यादि वस्तुओंमें भगवान्‌का अधिष्ठानरूप सम्बन्ध जानकर उनकी समस्त वस्तुएँ अपनी ही हैं—इस ज्ञानसे भक्त उन पति आदिसे प्रेम करते हैं। प्राण इत्यादि भागवत श्लोक द्वारा यह बोधित हुआ, किन्तु *'न प्रियो भवति'*—इसका अर्थ यह है कि पति प्रियताका विषय नहीं है। 'कामाय' पदमें जो चतुर्थी विभक्ति है, उसका सूत्र बता रहे हैं—*'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः'* यहाँ *'क्रियार्थोपपदस्य'* का अर्थ है—क्रियार्था क्रिया जिसका उद्देश्य है, इस प्रकार जो क्रिया जिसका उपपद (संज्ञा या धातुसे पूर्व प्रयुक्त शब्द)

होगी, इस प्रकारसे। स्थानिनः—उह्य अर्थात् अप्रयुक्त। तुमुनः—तुमुन् प्रत्ययके अन्तमें क्रियाका जो कर्म है, उसमें चतुर्थी होगी। उदाहरणके लिए *'पुष्पाय वाटीं प्रयाति'* अर्थात् फूल लानेके लिए फूलोंके बगीचेमें जाता है—यहाँ 'पुष्पाय' पदमें चतुर्थी है, इसी प्रकार क्रियार्था क्रिया—पुष्पाहरणके लिए वाटिकाकी ओर प्रयाण क्रिया है, वह आहर्त्तुम्—इस अप्रयुक्त 'तुमुन्' प्रत्ययके अन्तमें क्रियाका उपपद (समीपमें प्रयुक्त पद) है। अतएव 'तुम्' अर्थ (निमित्त) प्रकाशक आहर्त्तुम् इस पदका कर्म है—पुष्प—इसमें चतुर्थी विभक्ति है। इसी प्रकार 'कामाय' पदमें 'कामपूरयितुं' भगवान्की अभिलाषा पूर्ण करनेके लिए पति इत्यादि प्रिय होते हैं, इसी प्रकार सर्वत्र अर्थ जोड़ना चाहिये। भाष्यमें जो *'सर्वकर्त्तृक प्रीणन'* (सभीके द्वारा किया जानेवाला) प्रीणन (प्रीति) का प्रयोग है, अब उसे *'भक्त्याराधितः खलु भगवान्'*—'भगवान् भक्तिके साथ आराधित होनेपर' इत्यादि वाक्यसे प्रमाणित कर रहे हैं। *'सर्ववस्तुगतं प्रियत्वं'*—समस्त वस्तुएँ उसके लिए प्रीति-सम्पादक होती हैं अर्थात् सभी उसका प्रिय करते हैं। *'अकिञ्चनस्य शान्तस्य'* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवतका है। *'सर्वा दिशः'* इसका अर्थ है समस्त दिशाओंमें अवस्थित पदार्थ और वे दिशाएँ। अतएव अब यद्वा पत्युः इत्यादि पक्षसे सर्वकर्मक प्रीणनवादको युक्तियुक्त कर रहे हैं। *'प्राणबुद्धि मनः'* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवतमें कहा गया है। *'यत् सम्पर्कात्'* जिसके अधिष्ठानरूप सम्पर्क अथवा सम्बन्धके कारण *'तथाच यत्सम्पर्कात् यत्सङ्कल्पात्'* इत्यादि भागवतवाक्य द्वारा वक्ताका तात्पर्य बता रहे हैं। 'किञ्च नायमात्म' शब्दमें 'अयम्' का अर्थ है उपक्रम वाक्य स्थित 'आत्मन्' शब्द। *'इतरथा आत्म वा अरे'* इत्यादि। 'इतरथा' का अर्थ है अन्यथा अर्थात् उपक्रम वाक्य स्थित आत्मन् शब्दका जीव अर्थ स्वीकार करनेपर उस वाक्यके साथ *'आत्मा वा अरे'* इत्यादि वाक्यका एकवाक्यतारूप सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् दो वाक्य मिलकर एक अर्थका प्रकाश नहीं कर सकते। देखो, तुम्हारा (पूर्वपक्षका) मत है कि प्रथम वाक्यमें उक्त आत्मा जीव है और *'तस्यैकविज्ञानेन'* इत्यादि दूसरे वाक्यके अन्तर्गत सर्वविज्ञानविद् परमेश्वर हैं—अतएव दोनों वाक्योंके विभिन्न होनेसे

एकवाक्यता असम्भव है। *'सत्याञ्च तस्याम्'* ऐसा होनेपर अर्थात् अनन्वयापत्ति घटित होनेपर, *'स्वीकृते च तस्मिन्'* उसे अर्थात् वाक्यभेद मान लेनेपर। *'द्रष्टव्यतौपयिकतया तस्योपदेशात्'* तस्य अर्थात् उस पूर्व वाक्यका। *'न चोभयत्रापि'*—दोनों क्षेत्रोंमें ही अर्थात् पूर्व वाक्य और उत्तर वाक्यमें। यदि कहो कि औडुलोमि मुनिकी इस प्रकारकी उक्तिको भक्तिके विषयमें किस प्रकार जान लिया? इस विषयमें उत्तर दिया है—*'यद्यप्ययं निर्गुणात्मवादी'* इत्यादि भाष्यमें उक्त दोनों सूत्रोंका अर्थ उन-उन सूत्रोंके भाष्यमें देखना चाहिये। हमने इस भाष्यके अनुवादमें उसे स्पष्ट किया है॥ २१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि पूर्वपक्ष इस प्रकार है कि पति आदिकी प्रियता इस स्थलपर सूचित होनेसे संसारत्व प्रतीत होता है, इसलिए 'आत्मन्' शब्दसे जीवको ही ग्रहण करना होगा। परमात्माके प्रीणनसे समस्त जगत्का प्रीणनरूप धर्म तो कुछ कहा नहीं है, इस पूर्वपक्षका निरसन करते हुए औडुलोमि मुनि कहते हैं, जो साधनसम्पन्न हैं और जिनकी परमात्म-प्राप्ति निकट है, वे ही सर्वप्रिय होते हैं, इसलिए उपक्रममें कथित आत्मन् शब्दसे परमात्माका ही बोध है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयात्मना सुखं यत् तत् कुतः स्याद्विषयात्मनाम्॥

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः।
मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१४/१२-१३)

अर्थात् हे उद्धव! जो अपने अन्तःकरणको सब प्रकारसे मुझे ही समर्पित कर चुका है, ऐसे विषय-वासनाशून्य व्यक्तिके हृदयमें मेरे परमानन्दस्वरूपकी स्फूर्त्ति होनेसे जो सुख होता है, विषयोंमें आसक्त पुरुषोंको वह सुख किस प्रकारसे सम्भव है? अर्थात् किसी प्रकारसे सम्भव नहीं है। जो सब प्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित अकिञ्चन है, अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके शान्त और समदर्शी हो गया है, जो मेरी प्राप्तिसे ही मेरे सान्निध्यका अनुभव करके सदा-सर्वदा पूर्ण

सन्तोषका अनुभव करता है, उसके लिए समस्त जगत् सुखमय प्रतीत होता है।

श्रीमद्भागवतमें ही और भी,

प्राणबुद्धिमनःस्वात्मदारापत्यधनादयः ।
यत्सम्पर्कात् प्रिया आसंस्ततः कोऽन्वपरः प्रियः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/२३/२७)

अर्थात् आत्माके सम्बन्धके कारण ही प्राण, बुद्धि, मन, आत्मीय, देह, स्त्री, पुत्र, धन, स्वजन आदि समस्त सांसारिक वस्तुएँ प्रिय लगती हैं। उस आत्माके भी आत्मा—परमात्मा मुझ श्रीकृष्णसे अधिक प्रिय वस्तु और क्या हो सकती है?॥ २१॥

अवतरणिका भाष्य—स्यादेतत्। *'स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्राप्त उदकमेवानुलीयते न हास्योद्ग्रहणायैव स्याद् यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा। अरे इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघनएवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति'* (बृ॰आ॰ ४/५/१३) इत्येतन्मध्यमं वाक्यं कथं प्रतिसमाधेयम्। तन्त्रोक्तजीवसाधने निपुणतरत्वादित्याशङ्क्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आशङ्का यह है कि जिस प्रकार सैन्धव-खण्डको जलमें फेंक दिया जाय, तो वह जलमें विलीन हो जाता है और तब उस सैन्धवका उद्धार करना (पूर्ववत् दशा रहना) असम्भव है, जिस-जिस जलभागसे उसे लेंगे, उस-उस जलप्रदेशमें लवण ही (नमकमय ही) प्रतीत होता है, उदक (जल) एवं लवणके पार्थक्य (अविमिश्र भाव) की उपलब्धि नहीं होती, उसी प्रकार उस प्रत्यगात्मा (ज्ञानघन) का स्वरूप अनवच्छिन्न (असीमित) है, वह सत्य, नित्य, अपार, विभु एवं विश्वव्यापक है—यह वस्तु विज्ञानघन जीव है, वह प्रकृतिका अध्यास प्राप्त करके देह, इन्द्रियादि रूपमें परिणत आकाशादि पञ्च भूतोंसे उत्पत्ति प्राप्त करके (उत्पन्न होकर) और उनके साथ संसर्ग पाकर (मिलित होकर) देव, मानव इत्यादि संज्ञाओंसे संज्ञित होता है और उन सब देह, इन्द्रियादिके उपादान आकाशादिके विनष्ट होनेपर वह भी विनष्ट हो जाता है। सिद्धान्त पक्षमें इस सन्दर्भका अर्थ इस प्रकार है। जिस प्रकार सैन्धव लवणका

एक खण्ड (डला) जलमें फेंक देनेपर वह जलमें सर्वत्र फैल जाता है और तब जलसे उसे उठाया (निकाला) नहीं जा सकता—हे मैत्रेयि! इसी प्रकार विज्ञानघन जीवमें वे पूजनीय, अनन्त, अपार (विभु) ब्रह्म व्यापक हैं। अब इस मध्यम वाक्यका समाधान किस प्रकार होगा? पूर्वपक्ष कहता है कि यह मध्यम वाक्य सांख्योक्त जीव-साधनमें अति सुदक्ष है अर्थात् जीवका सम्यक् रूपसे निरूपण कर रहा है, इस आशङ्कापर उत्तर देते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पुनः शङ्कते स्यादेतदिति। स यथेत्यस्य पूर्वपक्षेऽयमर्थः। सैन्धवखण्डे उदकक्षिप्ते तत्र विलीयमानस्य तस्योद्ग्रहणं कर्त्तुमशक्यम्। यतो यत उदकप्रदेशात् स आदीयते तत्तत्प्रदेशो लवणमेव न तुदकलवणयोः पार्थक्येन प्राप्तिः। एवमिदं प्रत्यग्रुपं महत् पूज्यं अनवच्छिन्नं भूतं सत्यं अनन्तं नित्यमपारं विभुम्। ईदृशं वस्तु विज्ञानघनो जीवः प्रकृत्यध्यासी सन् देहेन्द्रियभावेन परिणतेभ्यो भूतेभ्यः खादिभ्य एव समुत्थाय तैः संसृष्टः सन् देवमानवादि संज्ञया व्यक्तीभूय तान्येव भूतानि अनुविनश्यति अनुपश्चात् विनश्यति तद्विनाशेन विनाशी भवति। सिद्धान्ते त्वयमर्थः। सैन्धवखण्डो यथोदके क्षिप्तस्तद्व्याप्नोति न चास्योद्धृत्य ग्रहणं भवेत्। अरे मैत्रेयि! एवमेव विज्ञानघने जीवे इदं महद्भूतमनन्तमपारं ब्रह्म व्याप्यास्तीत्यनुषङ्गः। कृत्स्नं जीवस्वरूपं तद्व्याप्यं भवति न तु बहिस्तेनावृतमित्यर्थः। अन्तःप्रवेशाभिप्रायादेवाणोरणीयानितिश्रुतिराह। सर्वावच्छेदेन व्याप्तेस्तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरिति श्रुतिः सङ्गच्छते। इत्थञ्चोपास्यस्य श्रीहरेः सदा सान्निध्यात् तस्योपासने प्रवृत्तेरुत्साहो योग्य इति भावः। स च विज्ञानघनस्तञ्चेन्नोपास्ते तर्हि एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति तद्युत्पत्तिविनाशावात्मनि मन्यमानः संसरतीत्यर्थः। यद्यसौ तमुपास्ते तदा प्रेत्य तल्लोकं प्राप्य तत्र विराजतस्तस्य संज्ञा नास्ति। भूतसंसृष्टतया देवमनुष्यादिधीरात्मनि न भवतीत्यर्थः। स्वरूपनिष्ठा तद्धृत्यत्वधीस्तत्र स्फुरत्येवेति। विज्ञानघनशब्दस्य महद्विशेषणत्वे क्लीवत्वं स्यान्नच्चैवमस्ति। तथाचोक्तमेव सुष्ठु।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'स्यादेतत्'* कहकर पुनः आशङ्का करते हैं—*'स यथा सैन्धवखिलो'* इत्यादि श्रुतिका पूर्वपक्षी सम्मत अर्थ इस प्रकार है—जलमें सैन्धवखण्ड फेंकनेसे वह जलमें ही मिल जाता है और उसे वहाँसे नहीं उठाया (निकाला) जा सकता, जलके जिस-जिस अंशसे उसे ग्रहण किया जाता है, वह-वह अंश ही लवण प्रतीत होता है, लवण एवं जलके किसी भी प्रकारके पार्थक्यकी

उपलब्धि नहीं होती, इसी प्रकार इस प्रत्यगात्माका स्वरूप महत् अर्थात् पूज्य, असीम, सत्य, सनातन, व्यापक है, यह विज्ञानघन जीव प्रकृतिके अध्यासवश देह, इन्द्रियादि रूपसे परिणति प्राप्त आकाशादि पञ्चभूतोंसे अर्थात् पाञ्चभौतिक देहसे उत्पन्न होता है और उसीके साथ सन्तुष्ट (मिलित) होकर देवता, मनुष्य इत्यादि संज्ञाओंमें व्यक्त होता है, उन आश्रित पञ्चभूतोंके विनष्ट होनेके बाद वह भी विनष्ट हो जाता है—यह पूर्वपक्षवादीका अर्थ है। किन्तु सिद्धान्तपक्षमें अर्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार सैन्धवखण्डको जलमें फेंक दिया जाय, तो वह जलमें व्याप्त हो जाता है और उसे उससे नहीं निकाला जा सकता, इसी प्रकार अरे मैत्रेयि! विज्ञानघन जीवमें प्रविष्ट यह महद्भूत अनन्त, असीम ब्रह्म उस जीवमें व्याप्त होकर रहता है। तात्पर्य यह है कि समस्त जीवस्वरूप ही ब्रह्म द्वारा व्याप्त है, इस ब्रह्मके द्वारा (देहका) बहिर्भाग आवृत नहीं होता। जीवके क्षुद्र हृदयमें उन ब्रह्मका प्रवेश मानकर ही श्रुतिने उसे अणुसे अणुतर कहा है। पुनः सर्वावयवच्छेद (सर्वांश) में व्याप्ति मानकर *'तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिः'* अर्थात् तिलमें तेल और दधिमें घीके समान ब्रह्मकी अवस्थिति है—इस प्रकार यह श्रुति *'अरे इदं महद्भूत'* (बृ॰आ॰ ४/४/१३) सङ्गत एवं सार्थक होती है। अब यह स्पष्ट हो जाता है कि उपास्य श्रीहरिका जीवमें सर्वदा ही सन्निधान रहता है, इस कारणसे उनकी उपासनाके विषयमें प्रवृत्तिके लिए उत्साह देना उचित ही है, यह तात्पर्य है। जीव यदि उन परमपुरुष विज्ञानघनकी उपासना न करे, तो इन पञ्चभूतोंसे वह आत्मप्रकाश (देहरूपमें अभिव्यक्ति) प्राप्त करता है और उनके नाश होनेपर स्वयं भी मृत्युके मुखमें चला जाता है। इस उत्पत्ति एवं विनाशका आत्मामें अभिमान करके वह इस संसारसे आया-जाया करता है—यह इसका अर्थ है। यदि वही जीव परमात्माकी उपासना करे, तो मृत्युके बाद श्रीहरिके लोक वैकुण्ठधाममें जाकर वहाँ विराजमान रहता है, उस समय उसकी देव, मनुष्यादि कोई संज्ञा नहीं रहती। पञ्चभूतोंके संसर्गके कारण जो देव, मनुष्य इत्यादिमें आत्माभिमान था, वह और नहीं रहता। उस समय तो उसका स्वरूपनिष्ठ भृत्यत्व ज्ञान (मैं भगवान्का सेवक हूँ) ही

प्रकाशित होता है। विज्ञानघन शब्दको यदि महद्भूतका विशेषण कहा जाय, तो विज्ञानघन क्लीवलिङ्गम् (नपुंसक लिङ्गम्) हो जाता है, किन्तु ऐसा तो है नहीं, वह तो पुल्लिंग है। अतः सिद्धान्ती जिस प्रकारसे कहते हैं, वही समीचीन है और वही युक्तियुक्त है।

सूत्र—अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः॥ २२॥

सूत्रार्थ—'अवस्थितेः' जलमें क्षिप्त सैन्धव लवणके समान विज्ञानघन शब्दसे संज्ञित जीवसे भिन्न महाभूत अर्थात् परमात्माकी अवस्थिति है, ऐसा उपदिष्ट होनेसे इन सभी वाक्योंके मध्यमें पतित यह वाक्य परमेश्वर बोधक है, इसलिए परमात्मा और जीवका भेद प्रतीयमान होनेसे महद्भूत, अनन्त वस्तु विज्ञानघन जीव नहीं है, 'इति' यह 'काशकृत्स्नः' काशकृत्स्न मुनि कहते हैं॥ २२॥

सूत्रानुवाद—परमात्मा एवं जीवके भेदकी प्रतीति होनेके कारण महद्भूत अनन्तवस्तु कभी विज्ञानघन जीव नहीं हो सकती—इस प्रकार काशकृत्स्न मुनि कहते हैं॥ २२॥

गोविन्दभाष्य—उदके सैन्धवखिल्यस्येव विज्ञानघनशब्दितस्य जीवेतरस्य महतो भूतस्य परमात्मनोऽवस्थितेरुपदेशात् तन्मध्यगतं वाक्यं परमात्मपरमेव। तथा च परापरात्मनोर्भेदप्रत्ययात् न महद्भू तमनन्तं वस्त्वेव विज्ञानघनो जीव इति काशकृत्स्नो मन्यते। अयमत्र निष्कर्षः। *'येनाहं नामृतः स्यां किमहं तेन कुर्याम्'* (बृ॰आ॰ ४/५/४) इति मोक्षोपायं पृष्टो मुनिरात्मा वा अरे द्रष्टव्य (बृ॰आ॰ ४/५/६) इत्यादिना परमात्मोपासनं तदुपायमुक्त्वा आत्मनि खल्वरे दृष्ट इत्यादिना उपायस्य लक्षणं स यथा दुन्दुभेरित्यादिना (४/५/८) उपासनोपकरणं करणनियमनं च सामान्यादुपदिश्य स यथा आर्द्रैधोऽग्नेरित्यादिना स यथा सर्वासामपामित्यादिना (४/५/१२) च सविस्तरं तदुभयं पुनरुक्त्वा अथ मोक्षोपायप्रवृत्तिप्रोत्साहनाय स यथा सैन्धवेत्यादिना (४/५/१३) सदैवोपासस्यसान्निध्यमुपपाद्य एतेभ्य एव भूतेभ्यः समुत्थायेत्यनुपासकस्य देहोत्पत्तिविनाशानुकारितया संसारतो देहात्मभ्रान्तिं प्रदर्श्य, न प्रेत्यसंज्ञास्ति (१३) इत्युपासकस्य तु परमं देहवियोगं प्राप्य विमुक्तस्य तदानीं स्वाभाविकस्वज्ञानोदयाद्भूतसङ्घातेनैकीकृत्य आत्मनि देवमनुष्यादिधीर्नास्तीत्यभिधाय यत्रहि द्वैतमिव भवतीत्यादिना मुक्तस्यापि तस्य परमात्मानमाश्रयमुपदिश्य येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयादिति तस्य दुर्ज्ञेयतामापाद्य विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति प्रक्रमोक्तात् तत्प्रसादरूपादुपासनाद्विना तं सर्वज्ञमीश्वरं केनोपायेन

जानीयात् न केनापीत्येतदेवोपासनममृतत्वोपायः परमात्माप्तिरेवामृतत्वमित्युपसंहृतवान्। अतः परमात्मैवास्मिन् वाक्यसन्दर्भे निरूप्यते न तु तन्त्रोक्तः पुमान् न च तदधिष्ठिता प्रकृतिरिति॥ २२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जलमें निक्षिप्त सैन्धव लवण जिस प्रकार जलमें रहता है, उसी प्रकार विज्ञानघन जीवसे भिन्न महाभूत अर्थात् परमात्माकी जीवमें अवस्थिति है, जीवको उनसे पृथक् रूपमें देखा नहीं जाता, यह उपदिष्ट है। इन वाक्योंमें पतित *'आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति'*—इस वाक्यके अन्तर्गत 'आत्मन्' शब्द परमात्माका ही बोधक है, इसीसे परमात्मा एवं जीवके भेदकी प्रतीतिवश महद्भूत अनन्त वस्तु विज्ञानघन जीव नहीं हो सकती, यह विचार काशकृत्स्नका भी है। इस विषयमें सिद्धान्त यह है कि जब मैत्रेयीने अपने पति याज्ञवल्क्यसे कहा कि वित्त इत्यादिसे मुझे अमृतत्व (मृत्युसे मुक्ति) प्राप्त नहीं होगी (बृ॰आ॰ ४/५/४), तब इसे लेकर मैं क्या करूँगी? आप मुझे मुक्तिका उपाय बतायें। इस प्रकार मोक्षके उपायकी जिज्ञासा करनेपर मुनिने पत्नीसे कहा, *'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'* (बृ॰आ॰ ४/५/६) 'अरे मैत्रेयि! आत्मा ही द्रष्टव्य है' इत्यादि वाक्यके द्वारा उपास्य परमात्माकी उपासनाका उपाय बताकर आगे कहा, *'आत्मनि खल्वरे दृष्टे'* (बृ॰आ॰ ४/५/८) 'अरे! आत्म-दर्शन हो जाय, फिर कोई और ज्ञान नहीं रहता' इत्यादि वाक्यके निर्देशसे उस उपायका चिह्न (लक्षण) भी प्रकाशित कर दिया।

'स यथा दुन्दुभेः' जिस प्रकार दुन्दुभिकी ध्वनिमें निविष्ट चित्तवाला व्यक्ति अन्य शब्द (अथवा ध्वनि) सुन नहीं पाता, उसी प्रकार श्रीहरिमें निविष्ट चित्तवाला व्यक्ति श्रीहरिको ही ग्रहण करता है, इसके अतिरिक्त और कुछ ग्रहण (ज्ञान) नहीं कर पाता—इत्यादि वाक्यको उपासनाका उपकरण बताया गया है। पुनः साधारण रूपसे उपासनाके साधन रूपमें इन्द्रिय-संयमादिका उपदेश दिया। इसके बाद पुनः उपास्य एवं उपासना—दोनोंके ही विस्तृत रूपसे लक्षण बताये गये हैं कि जिस प्रकार गीली लकड़ीमें स्थित अग्निमेंसे धूआँ और चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार जिनसे निःश्वासरूप वेद इत्यादि शब्द

प्रादुर्भूत होते हैं, वे ही परमेश्वर हैं—इस कथनसे उपास्यका लक्षण कहा गया और उपासनाके लक्षण इन्द्रिय-संयमादिका इस प्रकार वर्णन किया—*'सर्वासामपामित्यादिना'* (बृ॰आ॰ ४/५/१२) अर्थात् समुद्र जिस प्रकार समस्त जलका एकमात्र प्रधान आश्रय है अथवा जिस प्रकार स्पर्श आदिकी ग्राहक त्वचा इत्यादि इन्द्रियाँ हैं, उसी प्रकार श्रीहरि ही समस्त इन्द्रियवृत्तियोंके आश्रय हैं और इन्द्रियाँ श्रीहरिकी ग्राहक हैं।

इसके बाद मुनिने पत्नीका मोक्षके उपायमें उत्साह वर्द्धन करते हुए दृष्टान्त दिया—*'स यथा सैन्धवखिल्य'* (बृ॰आ॰ ४/५/१३) वे उपास्य श्रीहरि सर्वदा मुझमें विराजित हैं, सर्वदा मेरे पास हैं, इस युक्तिसे परमात्माका सन्निधान प्रमाणित करके उस व्यक्तिकी गतिका वर्णन किया, जो परमेश्वरका उपासक नहीं है—*'एतेभ्य एव भूतेभ्यः'*—इस पाञ्चभौतिक देहसे उठकर (निकलकर या ऊपर जाकर) वह अनुपासक पुनः तदाश्रित पञ्चभूतोंके विनाश हो जानेपर विनष्ट हो जाता है, इस प्रकार देहकी उत्पत्ति एवं विनाशका अनुसरण करते हुए वह जीव संसारमें आया-जाया करता है, इस दृष्टान्तसे देहात्म-भ्रान्तिका उपदेश दिया। इसके बाद जो ब्रह्मोपासक है—*'न प्रेत्य संज्ञास्ति'* उसकी मृत्युके बाद और (देव, मनुष्यादि देहके अभावके कारण) कोई संज्ञा नहीं रहती, इससे स्पष्ट किया कि उपासकका वह अन्तिम देह-वियोग—जिस वियोगको पाकर वह विमुक्त हो जाता है, उसका उस समय स्वभावसिद्ध आत्मस्वरूप-बोधका उदय होनेसे पञ्चभूतादि संज्ञामें आत्माभिमान अर्थात् 'मैं देवता हूँ', 'मैं मनुष्य हूँ' अथवा 'मैं पशु हूँ'—इस प्रकारका ज्ञान नहीं रहता। यह कहकर आगे उपदेश दिया—*'यत्र हि द्वैतमिव भवति'* अर्थात् 'जहाँ द्वैतके समान प्रतीत होता है'—इस उक्तिसे स्पष्ट किया कि मुक्त पुरुषके भी आश्रय परमात्मा हैं।

इस उपदेशके बाद कहा—*'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्'* (बृ॰आ॰ ४/५/१५) जिनकी सहायतासे समस्त ज्ञान होता है, उसे किसके द्वारा जानेंगे? इस कथनमें उपास्यके दुर्ज्ञेयत्वका प्रतिपादन करते हुए समाधान किया—*'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'* (बृ॰आ॰

४/५/१५) विज्ञाताको किस प्रकार जाना जाता है? इस प्रक्रम (जिसका आरम्भ हुआ है) में उक्त प्रश्नकी मीमांसा की गयी, उनकी अनुग्रहरूप उपासनाके बिना उन सर्वज्ञ परमेश्वरको किस उपाय (साधन) से जानेंगे? किसीके भी द्वारा तो नहीं। तब बताया गया कि परमेश्वरकी उपासना अथवा प्रसाद ही मुक्ति-प्राप्तिका उपाय है और परमेश्वरकी प्राप्ति ही मुक्तिका स्वरूप है—इस प्रकार इस प्रकरणका उपसंहार किया। अतएव यह सिद्ध होता है कि इस वाक्य-सन्दर्भमें परमात्माका ही निरूपण हुआ है, सांख्योक्त मुक्तिका नहीं, उस पुरुषाधिष्ठित प्रकृतिका भी नहीं॥ २२॥

सूक्ष्मा-टीका—अवस्थितेरितीति। अयमत्रेति। येन वित्तादिना। तत्रात्मनि खल्वित्यादौ। यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं स्यात् स परमात्मेत्यर्थादुपास्यलक्षणमुक्तं भवति। स यथेति। स दृष्टान्तो यथेत्यर्थः। यथा वाद्यमानस्य दुन्दुभिशङ्खादेर्ध्वनौ निहितमनास्तं ध्वनिं गृह्णाति नान्यमेवं श्रीहरिनिहितमनाः श्रीहरिमेव गृह्णीयान्न ततोऽन्यदिति करणसंयमस्तदुपासनोपयोगीत्यर्थः। यथार्द्रैधोऽग्नेरित्यादिना पुनरुपास्यलक्षणम्। यथार्द्रकाष्ठयुक्तादग्नेर्धुमविस्फुलिङ्गा व्युचरन्ति एवं यस्मात् वेदादयो निःश्वसितरूपा नित्यशब्दा प्रादुर्भवन्ति स परमात्मेत्यर्थः। स यथा सर्वासामित्यादिना पुनः करणनियमनमुक्तम्। यथा सर्वासामपां समुद्रो मुख्याश्रयो यथा च सर्वेषां स्पर्शादीनां त्वगादयो ग्राहकास्तथा श्रीहरिरेव सर्वेन्द्रियव्यापाराश्रयस्तद्ग्राही च विधेय इति तदर्थः। अवशिष्टं स्फुटार्थम्। स्वज्ञानोदयादिति। निजस्वरूपनिजज्ञानाविर्भावादित्यर्थः। यत्र हि द्वैतमिवेत्यादौ परमात्मसङ्कल्पसिद्धदिव्यविग्रहयोगो मुक्तस्येति चतुर्थेऽध्याये स्फुटीभावी॥ २२॥

सूक्ष्मा-सार—‘*अवस्थितेरिति*’ सूत्रके भाष्यके अन्तर्गत कथित ‘*अयमत्र निष्कर्षः*’—‘इसकी मीमांसा यह है’ का परिचय ‘*येनाहं नामृतः स्याम्*’—जिस वित्त इत्यादिके द्वारा। ‘*तत्रात्मनि खल्वरे दृष्टे*’ इत्यादिमें ‘तत्र’ से तात्पर्य है—इस विषयमें, और ‘*आत्मनि खल्वरे दृष्टे*’ इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—जिन्हें विज्ञात करनेसे समस्त ही विज्ञात हो जाता है, वे ही परमेश्वर हैं, इस अर्थके द्वारा उपास्यका लक्षण (स्वरूप) कहा गया। ‘*स यथा दुन्दुभेः*’ में यथा शब्दके अर्थमें दृष्टान्त दिया है, जिस प्रकार दुन्दुभि, शङ्ख इत्यादिके बजते रहनेपर उस ध्वनिमें निविष्ट चित्तवाला व्यक्ति उसी ध्वनिको सुनता है, अन्य कोई शब्द

सुनता नहीं, उसी प्रकार श्रीहरिके ध्यानमें एकाग्रचित्त व्यक्ति श्रीहरिको ही ग्रहण करता है, कुछ और ग्रहण नहीं कर पाता, यही इन्द्रिय-संयम है, यही उपासनाका उपयोगी साधन है—यही तात्पर्य है। *'यथा आर्द्रैधाऽग्नेः'* इत्यादि वाक्यसे पुनः उपास्यके लक्षण कहे गये हैं। इसका अर्थ है—जिस प्रकार आर्द्र कड़ीमें लगी अग्निसे धुआँ और चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार जिनसे स्वयंके निःश्वास रूपमें वेदादि नित्य शब्द प्रकाशित होते हैं, वे ही परमेश्वर हैं। *'स यथा सर्वासामपाम्'* इत्यादि वाक्यमें इन्द्रिय-संयमकी बात पुनः कही गयी है, इसका अर्थ है कि जिस प्रकार समुद्र जलका प्रधान आश्रय है अथवा जिस प्रकार त्वचा इत्यादि इन्द्रियाँ स्पर्शादि विषयका ज्ञान करा देती हैं, उसी प्रकार श्रीहरिको ही समस्त इन्द्रियवृत्तिका मुख्य आश्रय मानेंगे और समस्त इन्द्रियोंसे उनके लिए ही साधना करेंगे—यह वक्तव्य है। भाष्यका अवशिष्टांश सुस्पष्ट है। *'स्वज्ञानोदयाद्भूतसंघातेनैकीकृत्येत्यादि'* का अर्थ है—नित्यस्वरूप नित्यज्ञान उदित होता है, इसलिए। *'यत्र हि द्वैतमिव भवति'*—उस समय मुक्तपुरुषका परमात्माकी इच्छासे सिद्ध दिव्य देहसे सम्बन्ध होता है, यह चतुर्थ अध्यायमें व्यक्त होगा॥ २२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब पुनः और एक आशङ्का उठायी गयी है कि सैन्धव लवणके डेलेको यदि जलमें डाल दिया जाय, वह जलमें मिल जाता है और तब उसे जलसे पृथक् नहीं किया जा सकता अथवा ऐसा कहना चाहिये कि जल एवं लवणका पार्थक्य उपलब्ध नहीं होता। इसी प्रकार प्रत्यगात्मस्वरूप महत्-पूज्य, अनवच्छिन्न, सत्य, अनन्त, नित्य, अपार, विभु—ऐसी वस्तु जो विज्ञानमय जीव है, वह प्रकृतिमें अध्यासके कारण देह, इन्द्रियरूपमें परिणति प्राप्त आकाशादि भूतोंसे उत्पत्ति प्राप्त करता है और देव, मानवादि संज्ञा प्राप्त करता है, इन सब भूतोंके विनष्ट होनेपर वह भी विनष्ट हो जाता है—यह पूर्वपक्षवादीकी युक्ति है, किन्तु सिद्धान्तगत अर्थ यह है कि सैन्धव लवणके खण्डको जलमें डालनेसे वह जिस प्रकार जलमें व्याप्त हो जाता है और उसे जलसे निकाला नहीं जा सकता, उसी प्रकार अरे मैत्रेयि! उस विज्ञानमय जीवमें वे अनन्त, अपार, विभु, महाभूत

स्वरूप ब्रह्म व्याप्त रहते हैं। अतएव सम्पूर्ण जीवसमुदाय उनके द्वारा व्याप्त है। इस स्थलपर प्रकरणके मध्यमें कहे गये वाक्यका समाधान किस प्रकार होगा? सांख्यशास्त्रमें उक्त जीव-साधनमें अधिक निपुण है, इस आशङ्काका प्रस्तुत सूत्रमें उत्तर दे रहे हैं कि काशकृत्स्न मुनिके मतमें ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त होकर अवस्थान करते हैं, जीवसे भिन्न ब्रह्मकी अवस्थितिका बोध कहीं नहीं है, इसलिए मध्यम वाक्य परमात्मा, परब्रह्मपरक ही है। अतः महद्भूत अनन्त वस्तु जीव है, इस बातको काशकृत्स्न मुनि स्वीकार नहीं करते।

इस विषयमें विस्तृत विवेचना भाष्य एवं टीकामें देखनी चाहिये। बृहदारण्यकोपनिषदके चतुर्थ अध्यायके पञ्चम ब्राह्मणमें वर्णित विषय ही इस स्थलपर विवेचित हुआ है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षेतानन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२८/४२)

जगत्‌में जिस प्रकार समस्त भूत-समुदायको महाभूतोंके अनुवर्ती रूपमें देखा जाता है, उसी प्रकार भक्तियोगी भी समस्त प्राणियोंमें परमात्माको और परमात्माको समस्त प्राणियोंमें अनन्य भावसे देखे।

श्रीमद्भागवतमें ही और भी,

सर्वभूतात्मभावेन भूतावासं हरिं भवान्।
आराध्याप दुराराध्यं विष्णोस्तत् परमं पदम्॥

(श्रीमद्भा॰ ४/११/११)

श्रीहरि दुराराध्य हैं, परन्तु तुमने तो लड़कपनमें ही समस्त प्राणियोंमें उन प्रभुका अधिष्ठान जानकर सर्वात्मभावसे श्रीहरिकी आराधना करके परमोत्कृष्ट पदको प्राप्त कर लिया है।

सम्प्रसन्ने भगवति पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः।
विमुक्तो जीवनिर्मुक्तो ब्रह्म निर्वाणमृच्छति॥

(श्रीमद्भा॰ ४/११/१४)

भगवान्‌के सुप्रसन्न होनेपर पुरुष प्राकृत गुणोंसे मुक्त होते हैं तथा कार्यस्वरूप लिङ्गशरीरसे मुक्त होकर परमानन्दस्वरूप ब्रह्मपदको प्राप्त करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता (६/२९) में भी कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

अर्थात् सर्वत्र समदर्शी योगयुक्त पुरुष सभी भूतोंमें आत्माको तथा आत्मामें सभी भूतोंको अवस्थित देखते हैं।

जीव-हृदयमें श्रीकृष्णकी अवस्थितिके सम्बन्धमें श्रीभगवत्-वाक्य भी पाया जाता है—

अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः।
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः॥

एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्मात्मना ततः।
उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८२/४५-४६)

अर्थात् हे गोपियो! पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश—ये पञ्च महाभूत जिस प्रकार सम्पूर्ण भौतिक पदार्थोंके आदि, अन्त मध्यमें और भीतर-बाहर आदि रूपमें वर्त्तमान रहते हैं, उसी प्रकार मैं भी सभीके भीतर एवं बाहर विराजमान रहता हूँ। इसलिए तुमलोगोंसे मेरा कभी वियोग नहीं है। सभी प्राणियोंके शरीरमें पाँचों भूत कारणरूपमें वर्त्तमान हैं, आत्मामें नहीं, आत्मा भी भोक्ताके रूपमें भूतोंमें (जीवोंमें) विराजमान है, कारण रूपमें नहीं। यह दोनों ही परिपूर्ण परमात्मारूपी मुझमें प्रकाशित हो रहे हैं—ऐसा समझो॥ २२॥

७—प्रकृत्यधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—एवं निरीश्वरं प्रधानवादं निरस्य सेश्वरं तमिदानीं निरस्यन् विश्वकारणतावादिवाक्यानि परस्मिन् ब्रह्मणि प्रवर्त्तयति। *'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'* (तै॰ २/१)। *'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'* (तै॰ ३/१)। *'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं'* (छा॰ ६/२/१)। *'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'*

(छा॰ ६/२/३)। *'स ऐक्षत लोकान् नु सृजा'* (ऐ॰ १/१/१) इत्यादीनि वचांसि श्रूयन्ते। किमेषु निमित्तमेव ब्रह्म मन्तव्यं किंवा निमित्तोपादानरूपं तदिति वीक्षायां पूर्वपक्षो दर्श्यते। तथाहि यद्यप्युपनिषदस्तस्माद्वा एतस्मादित्यादि-भिर्वाक्यैर्जगत्कारणतया परं ब्रह्माहुस्तथापि तासु निमित्तमात्रता तस्य मन्तव्या। तदैक्षत (छा॰ ६/२/३) स ऐक्षत (ऐ॰ १/१/१) इत्यादिषु वीक्षणपूर्वकसृष्टिवर्णनात् तत्पूर्वकस्रष्टारः खलु कुलालादयो घटादिनिमित्तान्येव दृश्यन्ते। जगदुपादानन्तु प्रकृतिरेव स्यात् उपादानोपादेययोस्तयोः साधर्म्यदर्शनात्। न च निमित्तमेवोपादानमिति शक्यं वक्तुम्। लोके जडस्य मृदादेर्घटाद्युपादानत्वं चेतनस्य तु कुलालादेर्घटादिनिमित्तत्व-मिति तयोर्भेदनियमात्। तथानेककारकसिद्धञ्च कार्यं वीक्ष्यते। तदेवं लोकसिद्धं भावमुपेक्ष्य तस्यैकस्यैव तदुभयत्वं वक्तुं न ताः क्षमन्ते। अतो निर्विकारेण ब्रह्मणा अधिष्ठिता विकारिणी प्रकृतिरेव विकृतस्य विश्वस्य जगदुपादानं ब्रह्म तु निमित्तमेव केवलम्। न चैतद् यौक्तिकं—*'विकारजननीमज्ञामष्टरूपामजां ध्रुवाम्। ध्यायतेऽध्यासिता तेन तन्यते प्रेरिता पुनः। सूयते पुरुषार्थञ्च तेनैवाधिष्ठिता जगत्। गौरनाद्यन्तवती जनित्री भूतभाविनी। सितासिता च रक्ता च सर्वकामदुघा विभोः। पिवन्त्येनामविषमाम-विज्ञाताः कुमारकाः। एकस्तु पिवते देवः स्वच्छन्दोऽत्र वशानुगाम्। ध्यानक्रियाभ्यां भगवान् भुङ्क्तेऽसौ प्रसभं विभुः। सर्वसाधारणीं दोग्ध्रींपीयमानां तु यज्वभिः। चतुर्विंशतिसंख्याकमव्यक्तं व्यक्तमुच्यते'* (३/७/१५)। इति चुल्लिकोपनिषदि श्रवणात्। स्मृतिश्चैवमाह। *'यथा सन्निधिमात्रेण गन्धः क्षोभाय जायते। मनसो नोपकर्त्तृत्वात् तथासौ परमेश्वरः'* (वि॰पु॰ १/२/३०)। *'सन्निधानाद् यथाकाशकालाद्याः कारणं तरोः। तथैवापरिणामेन विश्वस्य भगवान् हरिः'* (२/७/३७)। *'निमित्तमात्रमेवासौ सृष्टानां सर्गकर्मणि। प्रधानकारणी भूता यतो वै सृज्यशक्तयः'* (१/४/५१) इत्याद्यः। एवं सिद्धौ क्वचिद्ब्रह्मोपादानताभाषि वचांसि कथञ्चिदन्यथैव नेयानीत्येवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—उक्त प्रकारके निरीश्वरवाद (प्रकृतिके कर्त्तृत्ववाद) का खण्डन करके सेश्वर प्रकृतिके कर्त्तृत्ववाद (पातञ्जल मत) को निरस्त करनेके लिए विश्वके कारणताबोधक वाक्योंका परब्रह्ममें समन्वय कर रहे हैं। *'तस्माद्वा एतस्मादात्मन् आकाशः सम्भूतः'* (तै॰ २/१) आत्मासे आकाशकी उत्पत्ति है, उसी प्रकार *'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'* (तै॰ ३/१) जिनसे इस समस्त विश्व-प्रपञ्चकी उत्पत्ति है। *'सदेव सौम्यदमग्र आसीत्'* (छा॰ ६/२/१) सृष्टिके पूर्व एकमात्र सत्-ब्रह्म ही थे, *'एकमेवाद्वितीयम्'*—एकमात्र वे ही सजातीय, विजातीय और स्वरूपगत तीनों भेदोंसे रहित थे, *'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय'* (छा॰ ६/२/३) उन ब्रह्मने विचार किया—मैं लोकोंकी सृष्टि

करूँ, *'स ऐक्षत लोकान् नु सृजा'* (ऐ० १/१/१), उसने प्रजा-सृष्टिकी इच्छा की, इत्यादि बहुत-से श्रुति वाक्य सुने जाते हैं। इन सब वाक्योंसे यही ज्ञात होता है कि ब्रह्म जगत्के कारण हैं, किन्तु कौन-सा कारण हैं? ब्रह्म क्या निमित्त कारण हैं? अथवा निमित्त एवं उपादान दोनों ही कारणस्वरूप हैं? इस सन्देहके ऊपर पूर्वपक्षका सिद्धान्त दिखा रहे हैं—यद्यपि उपनिषद *'तस्माद्वा एतस्माद्'* इत्यादि वाक्योंसे परमेश्वरको जगत्के कारण रूपमें वर्णन कर रहे हैं, तो भी वे निमित्त कारण हैं—इतना मात्र ही विचार करना चाहिये। इसका कारण स्पष्ट है *'तदैक्षत'* अथवा *'स ऐक्षत'* इत्यादि श्रुतिमें देखा जा रहा है कि यह सृष्टि ईक्षणमयी है। जिस प्रकार कुम्हार इत्यादि घटादि कार्यका निमित्त कारण हैं, उसी प्रकार ईश्वर भी निमित्त कारण हैं। जगत्का उपादान कारण प्रकृति है, क्योंकि उपादान और उपादेय—दोनोंमें समानरूपता देखी जाती है। निमित्त कारण ही उपादान कारण होगा—यह तो नहीं कहा जा सकता। लौकिक व्यवहारमें देखा जाता है कि मृत्तिकादि जड़-पदार्थ उपादान हैं और चेतन कुम्भकार आदि घटादि कार्यके निमित्त कारण हैं, इस प्रकार नियमित एवं उपादानका भेद नियम्यभूत है—यह देखनेमें आता है। इसके अतिरिक्त एक कार्यकी सिद्धि अनेक कारणोंसे होती हुई देखी जाती है। अतएव लोक-प्रसिद्ध व्यवहारका अनादर करके उस एक ब्रह्मको निमित्त कारण और उपादान कारण—दोनों ही कहना सङ्गत नहीं है, अतएव निष्क्रिय निर्विकार ब्रह्म द्वारा अधिष्ठित होकर विकारमयी प्रकृति ही विकृत विश्वका उपादान कारण है और ब्रह्म केवल निमित्त कारणमात्र हैं। यह बात केवल युक्तिमूलक है, ऐसा नहीं है, अपितु श्रुतिमूलक भी है। श्रुति है—अचेतन (जड़ा) प्रकृति विकार-जगत्को उत्पन्न करती है, वह जड़ है, स्वयं जन्मादि विकारसे रहित, शुद्ध होनेके कारण नित्य है और भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन आठ प्रकारोंमें विभक्त है। श्रीभगवान् उसका वीक्षण (ईक्षण) करते हैं अर्थात् यह प्रकृति भगवान् द्वारा अधिष्ठित होकर 'ध्यायते' अर्थात् सृष्टिकार्य करनेके लिए अभिलाषिणी होती है। परमेश्वर द्वारा प्रेरित होकर 'तन्यते' कार्योंको

उत्पन्न करती है। किसलिए करती है? उसी को कह रहे हैं—*'सूयते पुरुषार्थम्'*—जीवात्माके भोग एवं मोक्षके लिए। गायोंके समान उत्पादन योग्य यह प्रकृति आदि-अन्तहीन है। वह उत्पादिका है—इसलिए कि वह पृथ्वीकी जननी-जनयित्री है, वह नित्या है—इसलिए कि वह समस्त भूतोंकी उत्पादिका—भूतभावनी है। वह श्वेत, कृष्ण एवं रक्तवर्ण अर्थात् सत्त्व, तम और रजोगुणमयी है। वह ईश्वरकी समस्त कामनाओंको अर्थात् उनके विचित्र-विविध सृष्टिकार्यको सम्पादित करती है। इस गोरूपिणी प्रकृतिका विवेकहीन जीव गोवत्सके समान पान करते हैं अर्थात् भोग करते हैं, किन्तु वैषम्यहीन प्रकृति सभी वत्सोंको समान समझती है। लीलामय वे ही एक परमेश्वर अपनी इच्छासे अपने वशीभूत उस प्रकृतिका प्रेरणादिके द्वारा भोग करते हैं। भोगका परिचय इस प्रकार है—वे परमेश्वर ध्यान एवं सृष्टि-सङ्कल्पकी परिणतिस्वरूप क्रिया द्वारा बलपूर्वक प्रकृतिका भोग करते हैं। भगवान् षडैश्वर्यशाली हैं, इसलिए उनका प्रकृति-भोग भी प्रकृतिके साथ घटित नहीं होता। कर्मीजन सर्वसाधारणी काम-प्रसविनी इस प्रकृतिका भोग करते हैं। यह स्वतः अव्यक्त प्रधान चौबीस तत्त्वरूपमें व्यक्त होती है और इन्हीं नामोंसे कही जाती है—चूल्लिका-उपनिषद (३/७/१५) में यह सुना जाता है। अतएव प्रकृतिको उपादान कारण कहना उचित है। पुनः स्मृतिवाक्य भी है, यथा श्रीविष्णुपुराणमें कहा है—जिस प्रकार गन्ध नासिकासे मात्र संयुक्त होनेपर ही मनमें विकार उत्पन्न कर देता है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं करता, उसी प्रकार परमेश्वर भी सन्निधिमात्रमें प्रकृतिकी विकृतिके कारण हैं, जगत्के कारण नहीं। अथवा जिस प्रकार आकाश, काल इत्यादि सन्निधिमात्रसे ही वृक्षके उपकारक चिह्न हैं, वृक्षके कारण नहीं, उसी प्रकार श्रीहरि सन्निधिमात्रसे ही जगत्के हेतु हैं, किन्तु वे जगत्-सृष्टिका कार्य नहीं करते। अतएव भगवान् श्रीहरि समस्त सृष्ट वस्तुओंके सृष्टि-कार्यके निमित्त कारण हैं, प्रकृति ही सृज्य शक्तियोंका कारण है—इत्यादि वर्णन स्मृतिशास्त्रमें प्राप्त होता है। यदि ऐसा है, तो कितने ही वाक्य हैं जो ब्रह्मकी उपादान-कारणताको बतलाते हैं। इसमें सामञ्जस्य यह है कि उनके सान्निध्यके बिना जब प्रकृतिका परिणाम

नहीं है, तब ब्रह्म ही उपादान कारणमें लक्षणा द्वारा कथित हैं, इस पूर्वपक्षवादके खण्डनके लिए कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्रैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानश्रवणात् वाक्यं यथा ब्रह्मपरमभूत् तथेह वीक्षापूर्वकसृष्टिश्रवणात् वाक्यं निमित्तमात्रतावबोधि भवत्विति दृष्टान्तसङ्गतिः। एवं निरीश्वरमित्यादिना। सेश्वरमिति पातञ्जलं ज्ञेयम्। तदिति ब्रह्म बोध्यम्। तयोरिति प्रकृतिजगतोरित्यर्थः। भावमभिप्रायम्। भावः सत्ता स्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मस्विति नानार्थवर्गः। तस्यैकस्येति ब्रह्मण एवेत्यर्थः। तदुभयत्वमिति निमित्तत्वमुपादानत्वञ्चेत्यर्थः। ता उपनिषदः। क्षमन्ते समर्था भवन्ति। केवलं शुद्धं विकारशून्यमिति हेतुगर्भविशेषणम्। न चैतदिति। यौक्तिकं युक्तिबलकल्पितम्। विकारेत्यस्यार्थः। विकारजननीं शुद्धाम्। अज्ञां जडाम्। अष्टरूपामिति। *'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा'* इति स्मृतेः। अजां जन्मरहितां अतो ध्रुवां नित्यां वीक्षते भगवानितिशेषः। तेनेश्वरेणाध्यासिताधिष्ठिता सती ध्यायते कार्याणि सिसृक्षति। तेन प्रेरिता सती तन्यते कार्याण्युत्पादयति। किमर्थमित्याह सुयत इत्यादि। पुरुषार्थं जीवभोगापवर्गार्थं जगत् सूयत इत्यर्थः। गौः सन्तानोत्पादनसाम्यात् तत्तुल्या। अनाद्यन्तवती नित्येत्यर्थः। उभयत्र क्रमेण हेतु। जनित्री भूतभाविनीति। सितेत्यादिना सत्त्वतमरजोमयी त्युक्ता। विभोरीशस्य सर्वकामदुघा विविधविचित्रसर्गसाधिका। अविज्ञाता विवेकख्यातिहीनास्तत्कार्यदेहादिवन्धनास्तद्वशा जीवा एतां पिबन्त्यनुभवन्तीत्यर्थः। अविषमां सर्वेषु कुमारेषु साधारणीम्। एको मुख्यो देवः क्रीडापरः परमात्मा स्वच्छन्दः स्वतन्त्रो वशानुगां स्वायत्तामेनां पिबते भुङ्क्ते तत्प्रवर्त्तनादिना तामनुभवतीत्यर्थः। तदेवाह ध्यानेति। ध्यानं स ऐक्षत लोकान् नु सृजा इति। कार्यं सृष्टिसङ्कल्पः क्रिया तस्याः परिणतिः। ताभ्यां प्रसभं बलादेव भुङ्क्ते। नन्वेवं प्रकृत्यनुभवे तल्पेपः स्यादिति चेत्तत्राह भगवानिति। तदाप्यविलुप्तषडैश्वर्य इत्यर्थः। यज्वभिर्यजमानैः कर्मिभिरित्यर्थः। यथा सन्निधीति श्रीवैष्णवे। गन्धो नासिकासन्निहितः सन् मनसः क्षोभहेतुर्भवति न तु किञ्चित् करोति। आकाशादयश्च तरुं नोत्पादयन्ति न च तं वर्द्धयन्ति किन्तु सन्निधिमात्रेण सन्निधानादेवावकाशादिदानद्वारा तस्य हेतवः कथ्यन्ते। तथा प्रकृतिसन्निधिमात्रेण जगद्धेतुरीश्वरो न तु तत्र व्यापारीति। स्फुटार्थमन्यत्। श्रुतौ प्रतीतो व्यापारोऽत्रनिरस्तः। ननु ब्रह्मैवोपादानमिति वदतां वचसां का गतिरिति चेत् तत्राह कथञ्चिदिति तत्सन्निधिं विना प्रकृतौ परिणामो न भवेदिति तस्यैव स उपचर्य्यतामिति भावः। एवं प्राप्ते।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले जिस प्रकार 'एक उसके विज्ञात होनेपर सब कुछ ज्ञात हो जाता हैं, यह सुननेसे *'आत्मनस्तु*

कामाय पतिः प्रियो भवति' (पत्नीके लिए पति प्रिय नहीं होता, अपनी आत्माके लिए प्रिय होता है) इत्यादि वाक्योंका ब्रह्ममें तात्पर्य–बोध हुआ है, इसी प्रकार यहाँ भी वीक्षणपूर्वक सृष्टिका निर्देश होनेसे यह वाक्य ब्रह्मके निमित्त–कारणताका बोधक रहे—इस दृष्टान्त–सङ्गतिको इस प्रकरणमें जानना चाहिये। *'एवं निरीश्वरमित्यादि'* कहनेसे सेश्वर प्रधानवादका अर्थ पातञ्जल योगवाद जानना चाहिये। *'तदैक्षत'* में तद् शब्दका अर्थ ब्रह्म है। *'उपादानोपादेययोः तयोः साधर्म्यदर्शनात्'* इति, यहाँ 'तयोः' का अर्थ है—प्रकृतिका और जगत्का। *'तदेवं लोकसिद्धं भावमुपेक्ष्य'*, भाव अर्थात् सत्ता वस्तु–स्थिति। नानार्थकोषमें भाव शब्दका अर्थ सत्ता, स्वभाव, अभिप्राय, चेष्टा, आत्मा और जन्म है। *'तस्यैकस्य इति'* तस्य अर्थात् ब्रह्मका। तदूभयत्वम् अर्थात् निमित्त कारणता और उपादान कारणता—ये दोनों। न ताः क्षमन्ते—ताः वे उपनिषद। 'न क्षमन्ते'—समर्थ नहीं है। *'निमित्तमेव केवलम्'* केवलम् अर्थात् शुद्ध विकारशून्य—यह हेतुबोधक विशेषण अर्थात् जिस हेतुसे विकारशून्य है, इसलिए। *'न चैतद् यौक्तिकम् इति'*, *'यौक्तिकम्'* अर्थात् युक्ति–बलसे कल्पित, केवल वही नहीं। *'विकारजननीमज्ञाम्'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है *'विकारजननीम्'* विकारकी कारण, किन्तु शुद्ध, स्वयंमें विकारहीन, अज्ञा—जड़ा—अचेतन। अष्टरूपा—भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन आठ प्रकारोंमें विभक्त अन्य प्रकारकी (बहिरङ्ग अथवा अपरा) मेरी प्रकृति है—यह श्रीमद्भगवद्गीता (७/४) में कहा गया है। अजाम्—जन्मरहित, इसलिए ध्रुवा—नित्या, उसीको 'वीक्षते' देखते हैं। कौन? उत्तर—श्रीभगवान्—यह उह्य (अप्रयुक्त) पद है। उन ईश्वर द्वारा अध्यासित अर्थात् परिचालित होकर प्रकृति ध्यायते—सृष्टिकार्य करनेकी इच्छा करती है अर्थात् उन परमेश्वर द्वारा प्रेरित होकर कार्य उत्पादन करती है। किसलिए करती है? इस प्रयोजनसे कहते हैं—*'सूयते पुरुषार्थम्'* पुरुषके भोग एवं मुक्ति—दोनोंके लिए जगत्की सृष्टि करती है—यह अर्थ है। प्रकृति गोतुल्य है, सन्तानोत्पादनके सादृश्यसे प्रकृतिको गाय कहा गया है। *'अनाद्यन्तवती'*—जिसका उत्पत्ति एवं विनाश नहीं है अर्थात् वह नित्य

है। गाय और प्रकृतिके साम्यके कारण दोनोंको यथाक्रमसे दिखला रहे हैं—गो जनयित्री है और प्रकृति भूतों (जीवों) की सृष्टि करनेवाली है। *'सितासिता च'* इत्यादि—सत्त्व, रज और तम, इस प्रकार इसे त्रिगुणमयी कहकर शुक्ला, रक्ता और कृष्णा कहा है। *'विभोः सर्वकामदुधा'*—विभोः अर्थात् परमेश्वरकी, सर्वकामदुधा—विविध विचित्र सृष्टिका निष्पादन करनेवाली। *'अविज्ञाता'*—विवेक ख्यातिहीन जीव अर्थात् प्रकृतिके कार्य देहादिके ऊपर आत्माभिमानवश बद्ध, प्रकृतिके वशीभूत *'एताम्'* उस प्रकृतिको, पिबन्ति—अनुभव करते हैं। *'अविषमाम्'*—सभी सन्तानोंपर समान रूपसे स्नेहवती। एकः—मुख्य, देवः—लीलामय परमेश्वर, स्वच्छन्दः—स्वाधीन, वशानुगाम्—आज्ञाधीन। इस प्रकृतिका भोग करते हैं अर्थात् प्रेरणादि द्वारा उसका अनुभव करते हैं। यही कह रहे हैं—*'ध्यान क्रियाभ्यां भगवान्'* इति, ध्यान अर्थात् लोक-सृष्टि करूँ—यह सङ्कल्प कार्य, क्रिया—उस कार्यकी परिणति। इन दोनोंके वशतः बलपूर्वक भोग करते हैं। यदि कहो कि ऐसा होनेसे तो परमेश्वरका प्रकृति-सङ्ग हो गया, तो उत्तर है, कि ऐसा नहीं है क्योंकि वे भगवान् हैं, उनका षडैश्वर्य प्रकृतिके सङ्गसे भी लुप्त नहीं होता, यह अर्थ है। *'पीयमानां तु यज्वभिरिति'*, यज्वभिः—यागकारी अर्थात् कर्मियोंके द्वारा पीयमाना अर्थात् उपभुज्यमाना। *'यथा सन्निधिमात्रेण'* श्लोक विष्णुपुराणका है। गन्ध नासिकासे संयुक्त होकर मनकी विकृतिका कारणमात्र होता है, किन्तु कुछ करता नहीं है, आकाशादि भी इसी प्रकार अवकाश-दानादिके द्वारा तरुओंके उपकारक हैं, उसके सृष्टिकारक नहीं, उसी प्रकार भगवान् श्रीहरि प्रकृतिकी सन्निधिमात्रसे जगत्के हेतु हैं, इसके अतिरिक्त सृष्टिकार्यमें उनका कोई भी कार्य नहीं है। अन्यान्य श्लोकांशका अर्थ सुस्पष्ट है। श्रुतिमें प्रतीयमान ईश्वरके कार्यका यहाँ निरास (खण्डन) किया गया है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो जिन वाक्योंमें ब्रह्मको उपादानरूपमें घोषित किया है, उनकी सङ्गति किस प्रकार होगी? यदि यह कहते हो, तो उत्तर देते हैं—*'कथञ्चिद्'*—किसी प्रकारसे अर्थात् ब्रह्मकी सन्निधिके बिना प्रकृतिका महदादि रूपमें परिणाम नहीं है। इस प्रकारसे

प्रकृतिका कार्य परमेश्वरमें आरोपित किया गया है। यही *'कथञ्चित्'* इस उक्तिका अभिप्राय है। इस प्रकार पूर्वपक्षीके मतका निराकरण करनेके लिए कहते हैं—

सूत्र—प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्॥ २३॥

सूत्रार्थ—'प्रकृतिश्च'—ब्रह्म जगत्के निमित्त कारण हैं और उपादान कारण भी। किस हेतुसे? उत्तर 'प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'—प्रतिज्ञावाक्य और दृष्टान्त—इनके द्वारा वैसा माने जानेसे कोई असामञ्जस्य नहीं रहता, सामञ्जस्यकी रक्षाके लिए परमेश्वरको उपादान कारण भी कहा गया है। प्रतिज्ञावाक्य और दष्टान्त भाष्यमें देखने चाहिये॥ २३॥

सूत्रानुवाद—प्रतिज्ञा एवं दृष्टान्तके सामञ्जस्यसे ब्रह्म ही जगत्के उपादान कारण हैं और निमित्त कारण भी॥ २३॥

गोविन्दभाष्य—ब्रह्मैव जगतः प्रकृतिरुपादानं कुतः? प्रतिज्ञेत्यादेः। श्रौतयोः प्रतिज्ञादृष्टान्तयोरानुगुण्यादित्यर्थः। *'श्वेतकेतो यन्नु सौम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्षीर्येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमित्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानविषया प्रतिज्ञा'* (छा॰ ६/१/३१) श्रूयते छान्दोग्ये। सा किलादेशस्य उपादानत्वे सति सम्भवेत् कार्यस्य तदव्यतिरेकात्। निमित्तात् तस्याव्यतिरेकस्तु न कुलालघटयोर्व्यतिरेकात्। दृष्टान्तेऽपि *'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्'* (छा॰ ६/१/४) इत्यादिरुपादानविज्ञानात् कार्यविज्ञानविषयस्तत्रैव श्रुतः। स च निमित्तमात्र ताभ्युपगमे न सम्भवेत्। न हि कुजाले विज्ञातेघटो विज्ञायते। तदनुपरोधाद् विश्वस्योपादानञ्चशब्दान्निमित्तञ्च ब्रह्मैवेति॥ २३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ब्रह्म ही जगत्के उपादान कारण हैं, प्रकृति नहीं, क्योंकि प्रतिज्ञा और दृष्टान्तका इसमें विरोध नहीं है। श्रुतिमें प्रदर्शित प्रतिज्ञा और दृष्टान्तके आनुगुण्य अथवा सामञ्जस्य (अनुरोध) के कारण इसे स्वीकार करना होगा। प्रतिज्ञा वाक्य है, यथा—श्वेतकेतुके पिता उद्दालकने उससे कहा, वत्स प्रियदर्शन श्वेतकेतो! यह जो हो रहा है, वह क्या है? तुम तो अङ्गपूर्वक वेदाध्ययनके अभिमानसे अभिमानी हो उठे हो, स्वयंको महान मान रहे हो, इसलिए अविनीत भी हो गये हो, यह क्या है? जिस प्रश्नका उत्तर ज्ञात होनेसे अश्रुत तत्त्व भी श्रुत हो जाता है, जिसका मनन करनेपर मनन करनेके लिए

कुछ भी बाकी नहीं रहता, अज्ञात भी ज्ञात हो जाता है, इस प्रकार एक तत्त्वके ज्ञानसे समस्त ज्ञान हो जाता है, इस विषयमें तुमने प्रश्न किया है, जिससे मैं समझता हूँ कि तुमने सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं किया है।' इस प्रबन्धसे यह प्रतिज्ञात (उद्घोषित) हुआ कि ब्रह्मज्ञानसे ही समस्तका विज्ञान है, अतएव ब्रह्म ही छान्दोग्योपनिषदमें प्रतिज्ञात हैं। उपदेश्य ब्रह्म यदि उपादान कारण हों, तो वही प्रतिज्ञा युक्तियुक्त है, क्योंकि कार्य ब्रह्म (उपादान कारण) से पृथक् नहीं है, किन्तु निमित्त कारणसे कार्यका पार्थक्य है, जिस प्रकार कुम्हार और घटका। दृष्टान्तस्वरूप श्रुतिवाक्यमें भी वही कहा गया है—*'यथा सौम्यकेन'* (छा॰ ६/१/४) अर्थात् हे वत्स! जिस प्रकार एक मृत्-पिण्ड (मिट्टके खण्ड) को जान लेनेसे मृत्तिकासे बने हुए समस्त घट, सकोरे आदि कार्योंका ज्ञान होता है, इत्यादि वाक्यमें उपादान कारणके विज्ञानसे समस्त कार्योंका विज्ञान होता है, यह प्रतिपाद्य विषय है, यही इस स्थलपर सुना जा रहा है। ब्रह्मको निमित्त-मात्र कहनेपर यह दृष्टान्त सङ्गत नहीं होता। कारण कुम्भकार (कुम्हार) के जाननेपर घटका ज्ञान नहीं होता। अतएव इस दृष्टान्त (उदाहरण) से भी प्रतिज्ञाका भङ्ग नहीं होता। इसी अनुरोध (सामञ्जस्य) से परमेश्वर ही विश्वके उपादान कारण हैं और सूत्रोक्त 'च' शब्द भी निमित्त कारणका निश्चय कराता है॥ २३॥

सूक्ष्मा-टीका—प्रकृतिश्चेति। श्वेतकेतो इति तत्पितुरुद्दालकस्य वाक्यम्। श्वेतेकतो हे सौम्य चन्द्रवत् प्रियदर्शन अनूचानमानी साङ्गवेदाध्ययनवानस्मीत्यभिमानवान्। अतएव महामनाः महानस्मीति मनो यस्यासौ तथा। अतएव स्तब्धो विनयशून्योऽसि। इदं यत् तत् किमित्यर्थः। येन प्रश्नेन मतेन विज्ञातेन अन्यत् सर्वं अश्रुतममतं अविज्ञातमपि श्रुतं मतं विज्ञातञ्च भवति तमादेशं परेशमप्राक्षीः पृष्टवान् अभूदित्यर्थः। आदेशः शास्ता उपदेश्यो वेत्यर्थः। तादृशस्य त्सय विज्ञानं तव प्रायेणाभून्न वेति। कथमन्यथा तव महागर्वोदयः स्यात्। स्फुटार्थमन्यत्॥ २३॥

सूक्ष्मा-सार—*'प्रकृतिश्च'* इत्यादि सूत्रमें *'श्वेतकेतो यन्नु सौम्यमेदं'* (छा॰ ६/१/३१) इत्यादि वाक्य श्वेतकेतुके पिता उद्दालकका है। वे कहते हैं—'अरे चन्द्रदर्शन! प्रियदर्शन! श्वेतकेतो! तुम अनूचानमानी (षडङ्ग वेदके ज्ञातारूपमें अभिमानी) हो रहे हो, 'मैं महान हूँ, मैं

महान हूँ' यह सोचकर गर्वका पोषण कर रहे हो, इसलिए विनयशून्य भी हो गये हो, किन्तु इससे क्या! यह जो तुमने मुझसे परमेश्वरके सम्बन्धमें प्रश्न किया है कि जिसे जान लेनेसे अन्य अश्रुत भी श्रुत हो जाता है, जो मनका अविषयी भूत है, उसका भी मनन हो जाता है, अदृष्ट भी दृष्ट हो जाता है, उसके विषयमें कहें, यह प्रश्न किसलिए किया? *'आदेशः'* अर्थात् प्रशास्ता (प्रकृतिके अधिष्ठाता) अर्थात् शासनकारी अथवा उपदेशके विषयीभूत उन परमेश्वरके सम्बन्धमें विज्ञान तुम्हें सम्पूर्ण रूपसे हुआ कि नहीं, सन्देह हो रहा है। वह न होनेपर ही अर्थात् यदि परमेश्वरको यथार्थ भावसे जान लेते तो तुममें इस प्रकारका गर्व उदित नहीं होता। अन्यान्य अंश सुस्पष्ट ही हैं॥ २३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—निरीश्वर सांख्यवादका खण्डन करते हुए सेश्वर पातञ्जलमतके भी खण्डनके लिए विश्वके कारणता-वाचक वाक्योंका उन परब्रह्ममें ही समन्वय कर रहे हैं। ये श्रुतिवाक्य हैं, यथा— *'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'* (तै॰ २/१), *'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'* (तै॰ ३/१), *'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'* (छा॰ ६/२/१), *'स ऐक्षत लोकान्नुसृजा'* (बृ॰आ॰ १/२/६ एवं ऐ॰ १/१/१), *'तदैक्षत बहु स्याम्'* (छा॰ ६/२/३) इत्यादि विभिन्न श्रुतिवाक्योंसे ब्रह्मको ही जगत्का कारण कह रहे हैं। इस स्थलपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि यद्यपि ये सब श्रुतियाँ ब्रह्मको ही जगत्का कारण कह रही हैं, तो भी वे निमित्त कारणमात्र हैं, उन्हें उपादान कारण नहीं कहा जा सकता, प्रकृतिको ही जगत्का उपादान कारण कहना होगा। इस विषयमें जिन श्रुतियोंका प्रदर्शन किया है, वे सभी अवतरणिका भाष्यमें देखी जा सकती हैं। पूर्वपक्षवादीकी इन सभी युक्तियोंके खण्डनके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि ब्रह्म ही जगत्के निमित्त एवं उपादान कारण हैं, क्योंकि श्रुति-प्रसिद्ध प्रतिज्ञावाक्य और दृष्टान्तसे यही दिग्दर्शित होता है। इस प्रसङ्गमें भाष्यकारने श्वेतकेतु और उद्दालककी कथाका वर्णन करके प्रमाणित किया है कि श्रुतिके इस प्रतिज्ञावाक्य और दृष्टान्तके द्वारा यह सिद्ध है कि ब्रह्म ही जगत्के निमित्त एवं उपादान कारण हैं, यह अवश्य ही स्वीकार्य है।

इस प्रसङ्गमें श्रीपाद रामानुजाचार्यके भाष्यका सार इस प्रकार है—

श्रुतिमें जहाँ ब्रह्मके द्वारा अधिष्ठित प्रकृतिको जगत्का कारण कहा है, वहीं अव्याकृत (प्रकृतिके अन्तर्यामी) नामरूप ब्रह्मको ही प्रकृति शब्दसे निर्दिष्ट किया है। साधारणतः उपादान और निमित्त कारण भिन्न होनेपर भी कुम्भकारके क्षेत्रमें कुम्भकारको निमित्त कारण और मृत्तिकाको उपादान कारण देखा जाता है, किन्तु ब्रह्म स्वयं निमित्त एवं उपादान कारण दोनों हो सकते हैं। ब्रह्म सर्वशक्तिमान हैं, इसलिए इच्छामात्रसे जगत्की रचना कर सकते हैं, अन्य किसीकी भी उन्हें अपेक्षा नहीं है, किन्तु मिट्टी न मिले, तो कुम्भकार घट प्रस्तुत (निर्मित) करनेमें समर्थ नहीं हो सकता।

श्रीभगवान्के निमित्त और उपादान कारण होनेकी बात श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार कही गयी है—

यथा नभस्यभ्रतमःप्रकाशा भवन्ति भूपा न भवन्त्यनुक्रमात्।
एवं परे ब्रह्मणि शक्तयस्त्वम् रजस्तमःसत्त्वमिति प्रवाहः॥

(श्रीमद्भा॰ ४/३१/१७)

हे नृपतियो! जिस प्रकार आकाशमें कभी मेघ, कभी अन्धकार और कभी प्रकाश क्रमशः प्रकट होते हैं और उसीमें लीन हो जाते हैं, किन्तु आकाश अविकृत ही रहता है, उसी प्रकार परब्रह्ममें रज, तम और सत्त्वरूप शक्तियाँ कभी प्रकाशित होती हैं और कभी लीन हो जाती हैं। इनका प्रवाह चलता रहता है, परन्तु इन सबसे असङ्ग परमात्मामें कोई विकार नहीं होता।

प्रस्तुत श्लोककी टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि देखो, गुणमय विश्वमें गुणातीत हरि किस प्रकारसे कारण हो सकते हैं? जिस प्रकार मिट्टीसे बने घटका मृत्तिकाके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु उपादान कारण नहीं हो सकती और इसी प्रकार विश्वके प्रति हरिका उपादानत्व है, तो फिर उनका निर्विकारत्व किस प्रकारसे सम्भव है? इसका उत्तर है कि जिस प्रकार सूर्य मेघ और हिमाद्रिसे भिन्न होकर भी उनका उपादान कारण है, पर निर्विकार है, उसी प्रकार श्रीभगवान् भी विश्वके उपादान कारण होकर निर्विकार रहते हैं।

और भी,

तेनैकमात्मानमशेषदेहिनां कालं प्रधानं पुरुषं परेशम्।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहमात्मैकभावेन भजध्वमद्धा॥

(श्रीमद्भा० ४/३१/१८)

अर्थात् क्योंकि वे सर्वकारणकारण हैं, इसलिए वे ही निखिल देहोंके आत्मा, निमित्त एवं उपादान कारण हैं। वे अपने शक्तिप्रवाहमें गुणप्रवाहरूप संसारसे निर्मुक्त हैं अर्थात् वे मायाधीश हैं। उन परमपुरुष परमेश्वरको आत्मासे अभिन्न जानकर साक्षात् रूपसे भजन करो।

कुबेरके दोनों पुत्रोंने वृक्षरूपी यमलार्जुनसे अर्थात् वृक्षयोनिसे मुक्त होकर श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें स्तुति करते हुए कहा—

कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्य पुरुषः परः।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः॥

त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः।
त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः॥

त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजःसत्त्वतमोमयी।
त्वमेव पुरुषोऽध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित्॥

(श्रीमद्भा० १०/१०/२९-३१)

उन दोनों सिद्धपुरुषों (नलकूबर और मणिग्रीवके परिवर्त्तित रूप) ने कहा—हे श्रीकृष्ण! हे परम योगेश्वर श्रीकृष्ण! आपका प्रभाव अचिन्त्य है, आप परमपुरुष एवं जगत्के मूल निमित्त एवं उपादान कारण हैं। ब्रह्मविद्जन इस व्यक्त-अव्यक्त जगत्को आपके ही स्वरूपमें देखते हैं। हे भगवन्! सभी प्राणियोंकी देह, प्राण, अहङ्कार एवं इन्द्रियोंके नियन्ता एकमात्र आप ही हैं। आप ही सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक और अविनाशी ईश्वरस्वरूप हैं। आप ही काल एवं त्रिगुणात्मिका सूक्ष्म प्रकृति हैं। आप ही महत्-तत्त्व हैं। आप ही अन्तर्यामी होनेसे समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणके ज्ञाता एवं पुरुषस्वरूप हैं। आप ही समस्त स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंके कर्म, विकार, भाव, धर्म और सत्ताको जाननेवाले सबके साक्षी परमात्मा हैं। (तात्पर्य यह है कि वस्तु—भगवान्, वस्तुशक्ति—प्रकृति, वस्तुका अंश—पुरुष, वस्तुका

कार्य—महत्—ये सभी ही शुद्धाद्वैत विचारसे वास्तव-वस्तु हैं। अतः वस्तुतत्त्वके विचारसे ये सब अभिन्न हैं। गौड़ीय वैष्णवोंके विचारमें स्वरूप, तद्रूपवैभव, जीव एवं प्रधान—परतत्त्वसे स्वतन्त्र नहीं हैं)।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी द्रष्टव्य है—

जगत् कारण नहे प्रकृति जड़रूपा।
शक्ति सञ्चारिया तारे कृष्ण करे कृपा॥

कृष्ण शक्त्ये प्रकृति हय गौण कारण।
अग्नि शक्त्ये लौह यैछे करये जारण॥

अतएव कृष्ण मूल-जगत्-कारण।
प्रकृति कारण यैछे अजा-गल-स्तन॥

(चै॰च॰आ॰ ५/५९-६१)

अर्थात् प्रकृति या गुणमाया जड़ है, इसलिए वह जगत्का कारण नहीं हो सकती। श्रीकृष्णकृपा करके अपनी शक्तिका उसमें सञ्चार करते हैं। श्रीकृष्णकी शक्तिको पाकर प्रकृति जगत्का गौण उपादान-कारण उसी प्रकार होती है, जैसे अग्निकी शक्तिसे लोहेमें जलानेकी शक्ति आ जाती है। अतएव श्रीकृष्ण ही जगत्के मुख्य कारण हैं। प्रकृति बकरीके गलेमें रहनेवाले स्तनके समान अर्थात् दिखावे मात्रके लिए ही जगत्का कारण है।

इसके अनुभाष्यमें श्रीश्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर प्रभुपादने लिखा है—

"बहिरङ्गा मायाशक्ति जगत्के उपादान अंशमें 'प्रधान' और 'प्रकृति' नामसे प्रसिद्ध है और जगत्के निमित्तांशमें 'माया' नामसे प्रसिद्ध है। जड़रूपा प्रकृति जगत्का कारण नहीं है, क्योंकि कारणार्णवशायी महाविष्णुके रूपमें श्रीकृष्ण ही प्रकृतिमें उपादान अथवा द्रव्यशक्ति प्रदान करके शक्तिका सञ्चार करते हैं। उदाहरणके लिए तप्त लोहेकी उपमा देते हैं—जिस प्रकार लोहेमें दाहन अथवा ताप प्रदान करना आदि शक्तियाँ नहीं हैं, किन्तु अग्निके स्पर्शसे तप्त लोहा अन्य वस्तुको तपा देनेमें समर्थ हो जाता है, उसी प्रकार लौहरूप जड़ा प्रकृतिमें द्रव्य अथवा उपादान होनेकी स्वतन्त्रता नहीं है। अग्नि-सदृश

कारणोदकशायीकी ईक्षणशक्ति सञ्चारित होनेपर लौहके समान प्रकृति उपादान प्रतिमा दाहिका अथवा ताप-प्रदायिनी शक्तिसे युक्त होती है। उपादान परिचयमें प्रसिद्ध जड़ा-प्रकृतिको उपादान कहकर कारण मानना भ्रान्तिमात्र है।

श्रीकपिलदेव कहते हैं—

यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गात् धूमाद्वापि स्वसम्भवात्।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद् यथाग्निः पृथगुल्मुकात्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२८/४०)

अर्थात् यद्यपि धूआँ, जलती हुई लकड़ी और चिनगारीमें अग्निरूप उपादानके रहनेसे अग्निके साथ वे एक वस्तुके रूपमें कहे जाते हैं, ऐसा होनेपर भी जलती हुई लकड़ी (मशाल) से अग्नि पृथक् वस्तु है; धूम-स्थानीय 'भूतसमूह', विस्फुलिंग (चिनगारी) स्थानीय 'जीव' और उल्मूक (जलती हुई लकड़ी) स्थानीय 'प्रधान' सभी अग्निस्थानीय सर्वोपादान भगवान्से शक्तियाँ प्राप्त करके अपना-अपना पृथक् परिचय देते हैं, ऐसा होनेपर भी सभीके उपादान कारण भगवान् हैं। जगत्को उपादान कहकर जिस 'प्रधान' का निश्चय किया गया है, उस प्रधानमें भगवान्के निहित उपादान कारणत्वसे उसका वैसा परिचय है। 'प्रधान' भगवान्से स्वतन्त्र उपादानत्वमें पृथक् विषय नहीं हो सकता। उपादान-मूलाश्रय श्रीकृष्णको विस्तृत करके सांख्यके उपादानत्वको प्रकृतिमें आरोपित करना उसी प्रकार निष्फल है, जिस प्रकार अजाके गलदेशमें स्थित स्तनाकृति मांसपिण्डका दुग्ध प्रदान करनेमें असमर्थ होना।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें अन्यत्र भी पाया जाता है—

मायाद्वारे सृजे तेंहो ब्रह्माण्डेर गण।
जड़रूपा प्रकृति नहे ब्रह्माण्ड-कारण॥

जड़ हइते सृष्टि नहे ईश्वर शक्ति बिने।
ताहाते सङ्कर्षण करे शक्तिर आधाने॥

ईश्वरेर शक्त्ये सृष्टि करये प्रकृति।
लौह येन अग्नि-शक्त्ये पाय दाह शक्ति॥

(चै॰च॰म॰ २०/२५९-२६१)

श्रीसङ्कर्षण मायाके द्वारा प्राकृत ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि करते हैं। (सृष्टि-रचनामें कुम्भकारके चाककी भाँति ही माया आनुषङ्गिक कारण है, क्योंकि) जड़रूपा प्रकृति ब्रह्माण्ड रचनाका मुख्य कारण नहीं हो सकती। अतः श्रीसङ्कर्षण ही अपनी शक्तिका सञ्चार उस मायामें करते हैं, जिससे सृष्टिकार्य सम्पन्न होता है। ईश्वरकी शक्ति पाकर ही जड़-माया सृष्टिकी रचना करती है, जैसे अग्निकी शक्ति पाकर लोहा (जो वस्तुतः जलानेकी शक्तिसे रहित है) जलाने लगता है।

इस प्रसङ्गमें श्रीमद्भागवतका १०/४६/३१ श्लोक भी देखना चाहिये॥ २३॥

सूत्र—अभिध्योपदेशाच्च॥ २४॥

सूत्रार्थ—ब्रह्म जो जगत्के उपादान कारण हैं, इस सम्बन्धमें दूसरा हेतु है—'अभिध्योपदेश'—अर्थात् सङ्कल्पपूर्वक सृष्टिका उपदेश श्रुतिमें है, 'च' शब्दसे बहुसृजनकारित्व, यह हेतुक भी है॥ २४॥

सूत्रानुवाद—स्रष्टा ब्रह्मकी, स्वयंको ही अनेक रूपोंमें प्रकट होनेकी सङ्कल्पपूर्विका सृष्टिका श्रुतिमें उपदेश है, इससे भी ब्रह्मकी निमित्त और उपादान कारणता सिद्ध होती है॥ २४॥

गोविन्दभाष्य—च-शब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। *'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय, स तपोऽतप्यत तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत्। यदिदं किञ्चन तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत्'* (तै॰ २/६) इति तैत्तिरीयके परमात्मन एव चिज्जडात्मना बहुभवनसङ्कल्पोपदेशात् तदात्मकबहुस्रष्टृत्वोपदेशाच्च स एवोभय-रूपः॥ २४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'च' शब्द अनुक्त समुच्चार्थमें है अर्थात् यह 'चकार' जो कहा नहीं गया है—*'बहु स्यां प्रजायेय'* उस बहु-स्रष्टृत्वका भी ग्राहक है। यह श्रुति इस प्रकार है—*'सोऽकामयत'*—उन्होंने सङ्कल्प किया, *'बहु स्याम्'* मैं बहुत रूपोंमें प्रकट हो जाऊँ, *'प्रजायेय'*—मैं जन्म लूँ, यह विचार करके *'स तपोऽतप्यत'* वे तपस्या करने लगे। *'तपस्तप्त्वा इदम् सर्वमसृजत्'*—तपस्या करके उन्होंने इस परिदृश्यमान समस्त जगत्की सृष्टि की। *'यदिदं किञ्चन तत्सृष्ट्वा*

तदेवानुप्राविशत्' यह जो कुछ है, उन सबकी सृष्टि करके उसमें अन्तर्यामी रूपसे प्रवेश किया। *'तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्च अभवत्'* उसमें प्रवेश करके वे सत् अर्थात् आकाश एवं वायु 'त्यत्' अर्थात् अग्नि, जल एवं पृथ्वी हो गये। तैत्तिरीयोपनिषदमें इस प्रकारसे परमेश्वरके ही चित्—जीव एवं जड़—महदादि रूपमें व्यक्त होनेसे, बहुत-से रूपोंमें प्रकाशका सङ्कल्प उपदिष्ट होनेसे एवं उस चित्-जड़ात्मक पदार्थोंका स्रष्टृत्व कथित होनेसे यह सिद्ध होता है कि परमेश्वर ही उपादान कारण एवं निमित्त कारण दोनों स्वरूप हैं॥ २४॥

सूक्ष्मा-टीका—अभिध्येति। अभिध्या सङ्कल्पः। चशब्दाद्बहुस्रष्टृत्वोपदेशः। यद्यपि अकामयतेति वाक्यं पूर्वं ज्ञातपरं तथापि परवाक्यस्य तस्य तत्रत्यज्ञानाय तदाकारतामात्रं पुनरुक्तम्। सच्चेत्याकाशवायु त्यच्चेति तेजोऽपपृथिव्यः॥ २४॥

सूक्ष्मा-सार—अभिध्या शब्दका अर्थ है 'सङ्कल्प'। 'च' शब्दसे बहु-स्रष्टृत्वका कथन है। यद्यपि *'सोऽकामयत'* इत्यादि वाक्य पहलेसे ही ज्ञात है, तो भी *'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'* यह दूसरा वाक्य भी उसी स्थानका बोधक है, यह ज्ञात करानेके लिए है। सत्य शब्दके दो अंश हैं—'सत्' और 'त्यत्'। उनमें 'सत्' जो नित्य है—आकाश एवं वायु, त्यत्—अग्नि, जल एवं पृथ्वी। सत् का अर्थ है मूर्त्त और त्यत् का अर्थ है—अमूर्त्त, दोनों वे ही हो गये। दोनों ही ब्रह्मके रूपमें हैं॥ २४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—ब्रह्म ही जगत्के निमित्त एवं उपादान कारण हैं, इस विषयमें और एक युक्ति प्रस्तुत सूत्रमें दे रहे हैं कि सङ्कल्प एवं बहु-स्रष्टृत्वके उपदेशसे यही प्रतिपादित हुआ है। *'सोऽकामयत'*, *'बहु स्यां प्रजायेयेति स तपोऽतप्यत'* इत्यादि (तैत्तिरीयक २/६) श्रुतिके सारसे अवगत हुआ जा सकता है—पुरुषने सृष्टिके विषयमें ईक्षण—विवेचना की। विवेचना करके उन्होंने समस्त जगत्की सृष्टि की और सृष्टि करके अन्तर्यामी रूपसे उसमें अनुप्रवेश किया। संसारमें अनुप्रवेश करते हुए 'सत्' अर्थात् आकाश, वायु और 'त्यत्' अर्थात् पृथ्वी, जल और अग्नि दोनों ही हो गये। छान्दोग्य (५/२/३) में भी है—*'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति।'*

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

तमेव देवं वयमात्मदैवतं परं प्रधानं पुरुषं विश्वमन्यम्।
व्रजाम सर्वे शरणं शरण्यं स्वानां स नो धास्यति शं महात्मा॥
(श्रीमद्भा॰ ६/९/२६)

अर्थात् जो समस्त जीवोंके उपास्यदेव हैं, जो समस्त कारणोंके कारण हैं, जो प्रकृति एवं पुरुष—इन दोनों रूपोंमें और विश्वस्वरूप होकर भी विश्वसे भिन्न हैं अर्थात् इस प्रपञ्चके समान विकारयुक्त नहीं हैं, हम उन्हीं शरणागत-वत्सल भगवान्‌की शरण ग्रहण करते हैं। वे महानुभाव उदार शिरोमणि श्रीभगवान् ही हमारा कल्याण करें।

नारदीयपुराणमें वर्णन है—

अविकारोऽपि परमः प्रकृतिस्तु विकारिणी।
अनुप्रविश्य गोविन्दः प्रकृतिश्चाभिधीयते॥

परमपुरुष अविकारी हैं और प्रकृति विकारमयी है। इस जगत्‌में अनुप्रवेश करके गोविन्द ही प्रकृति नामसे कहे जाते हैं।

ब्रह्माण्डपुराणमें—

स्मृतिरव्यवधानेन प्रकृतित्वमिति स्थितिः।
उभयात्मक सूतित्वाद्वासुदेवः परः पुमान्।
प्रकृतिः पुरुषश्चेति शब्दैरेकोऽभिधीयते॥

श्रीचैतन्यचरितामृत (आ॰ ६/१६) में भी पाया जाता है—

आपने पुरुष—विश्वेर 'निमित्त' कारण।
अद्वैत-रूपे 'उपादान' हन नारायण॥

श्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरके भाष्यमें पाया जाता है—जिस प्रकार प्रकृतिमें निमित्त और उपादान—ये दो भाग हैं, उसी प्रकार पुरुष (कारणसमुद्रशायी) महाविष्णुरूपमें निमित्त और अद्वैत रूपमें उपादान—इन दो मूर्त्तियों (स्वरूपों) में विश्वकी सृष्टि करते हैं।

इस प्रकार सृष्टिका सङ्कल्प करनेके कारण ब्रह्ममें कर्त्तृत्व निमित्त-कारणत्व है और वे ही ब्रह्म अनेक हुए, इसलिए उनमें उपादानत्व है॥ २४॥

सूत्र—साक्षाच्चोभयाम्नानात्॥ २५॥

सूत्रार्थ—'च'—'ही' अर्थमें है, 'साक्षात्'—श्रुतिमें साक्षात् रूपसे, 'उभय'—परमेश्वरके दोनों उपादान-कारणत्व एवं निमित्त-कारणत्वका 'आम्नात्' कथन है, इसलिए परमेश्वरकी उभयरूपता है॥ २५॥

सूत्रानुवाद—श्रुति साक्षात् अपने वचनोंसे ब्रह्मको निमित्त एवं उपादान कारण कहती है, इसलिए भी ब्रह्म जगत्के अभिन्न निमित्त-उपादान कारण हैं॥ २५॥

गोविन्दभाष्य—अवधृतौ चशब्दः *'किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीत् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः मनीषिणो मनसा पृच्छतैतत् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः मनीषिणो मनसा प्रब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्'* इति तत्रैव साक्षादुभयरूपत्वकथनादेव तस्य तथात्वम्। इह हि यतो बृक्षादुपादानभूताद् द्यावापृथिवीशब्दोपलक्षितं जगदीश्वरो निष्टतक्षुर्निर्म्मितवान्। वचनव्यत्ययश्छान्दसः। स वृक्षः कस्तदाधारभूतं वनञ्च किं, भुवनानि धारयन् स यदध्यतिष्ठत् तत् किमिति लोकानुसारिणि प्रश्ने अलौकिकवस्तुत्वात् स च तत्तच्च ब्रह्मैवेत्युक्तमतस्तदेवोभयरूपमिति॥ २५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—'च' शब्द यहाँ अवधारण अर्थात् 'ही' अर्थमें है। *'किं स्विद्वनम्'*, वह वन क्या था? वह वृक्ष था अथवा क्या था? जिससे वे स्वर्गलोक एवं मर्त्त्य (पृथ्वी) लोक उत्पन्न हुए। हे मनीषियो! मन-ही-मनमें यह प्रश्न करो, इस समस्त भुवनको धारण करके जो अधिष्ठित हैं, वे ब्रह्म ही वन हैं, वे ब्रह्म ही वृक्ष हैं, उन्हींसे अन्तरिक्ष एवं पृथ्वी निर्मित हैं। हे मनीषियो! मैं मन-ही-मन विचार करके तुम लोगोंको प्रत्युत्तर दे रहा हूँ, परमेश्वर ही भुवनोंको धारण करके उनमें अधिष्ठान करते हैं। इस प्रकारसे इस श्रुतिमें साक्षात् रूपसे परमेश्वरके उभयरूपात्मक कथनके कारण निमित्तकारणत्व और उपादानकारणत्व दोनों ही सङ्गत हो रहे हैं। इस श्रुतिमें जो यह वाक्य है कि *'यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः'*—इसका अर्थ है कि जिन उपादान कारणस्वरूप परमेश्वरसे द्यावापृथ्वी—स्वर्ग, पृथ्वी और समस्त जगत् निर्मित हुए हैं, *'निष्टतक्षुः'*—इस पदमें बहुवचन क्यों है? 'निष्टतक्ष' यहाँ एकवचनान्त पद होना ही उचित था, इस प्रश्नके उत्तरमें कह रहे हैं—*'वचन व्यत्ययश्छान्दसः'*—वैदिक प्रयोगमें वचनका

व्यतिक्रम (ल्लंघन) होता है, इसलिए यहाँ एकवचनके स्थानपर बहुवचनका प्रयोग है। यह वृक्ष क्या है? इस वृक्षका आधारस्वरूप वन है या कुछ और? भुवनको धारण करके यह वृक्ष जिन्हें आश्रय करके स्थित है, वह वन क्या है? यह प्रश्न लौकिक व्यवहारसे हुआ है, इसके उत्तरमें कहते हैं कि अलौकिक वस्तुके रूपमें वह ब्रह्म वृक्ष भी हो सकता है और वृक्षका आधार वन भी हो सकता है, यह दोनों रूपमें कहा गया है, अतएव वे परमेश्वर दोनों स्वरूप हैं—निमित्त भी और उपादान भी॥ २५॥

सूक्ष्मा-टीका—स च तत्तच्चेति। स च वृक्षः तत्तच्च वनमधिष्ठानञ्चेत्यर्थः ब्रह्मैवेत्यर्थः। उभयरूपं निमित्तोपादानात्मकमित्यर्थः॥ २५॥

सूक्ष्मा-सार—*'स च तत् तच्च'* इत्यादिमें सः का अर्थ है—वह वृक्ष, 'तत् तच्च' अर्थात् वह वन एवं उसका अधिष्ठान भी। 'तत'—वह ब्रह्म ही उक्त स्वरूप है, 'उभयरूपम'—निमित्त कारण और उपादान कारण—इस प्रकारसे दोनों स्वरूप॥ २५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कह रहे हैं कि श्रुतिमें साक्षात् रूपसे परब्रह्मका ही विश्वके निमित्त एवं उपादान कारण रूपमें वर्णन प्राप्त होता है। श्रुतिवाक्यमें पाया जाता है कि मनीषियोंने मन-ही-मनमें जिज्ञासा की कि यह वन क्या है? ये वृक्ष क्या हैं, जिससे अन्तरिक्ष और पृथ्वी निर्मित हुए हैं, जिससे यह वृक्ष इन भुवनोंको धारण करके स्थित है? इत्यादि प्रश्नोंमें अलौकिक वस्तुके रूपमें वह वृक्ष एवं उसके आधारभूत वन दोनों ही ब्रह्म कहे गये हैं। अतएव वे ब्रह्म ही निमित्त एवं उपादानस्वरूप हैं। श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान्का कथन भी है—

आत्मन्येवात्मनात्मानं सृजे हन्म्यनुपालये।
आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना॥

(श्रीमद्भा॰ १०/४७/३०)

मैं अपनी मायाशक्तिके बलसे अपने ही भीतर भूत, इन्द्रिय एवं गुण स्वरूप बन जाता हूँ और स्वयं निमित्त बनकर अपने आपको रचता हूँ, पालता हूँ और स्वयं ही समेट लेता हूँ॥ २५॥

सूत्र—आत्मकृतेः परिणामात्॥ २६॥

सूत्रार्थ—परमेश्वरका सृष्टिकार्यमें कर्त्तृत्व और कर्मत्व दोनों ही सुना जाता है, इसलिए परमेश्वर निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों ही हैं। कारण क्या है? उत्तर—आत्मकृतेः—आत्मविषयक कृति और 'परिणामात्'—शास्त्रीय तात्त्विक अन्यथा भावात्मक परिणाम श्रुतिमें वर्णित होनेके कारण॥ २६॥

सूत्रानुवाद—श्रुतिमें उनके जगत् रूपमें परिणत होनेका वर्णन होनेसे ब्रह्म ही जगत्के उपादान और निमित्त कारण हैं॥ २६॥

गोविन्दभाष्य—सोऽकामयतेति (तै॰ २/६) सृष्टिकामत्वेन प्रकृतः परमात्मैव तदात्मानं स्वयमकुरुतेति (तै॰ २/७) सृष्टेः कर्त्तृभूतः कर्मभूतश्च श्रूयते अतस्तस्यैव तदुभयरूपत्वम्। ननु कथमेकस्यैव पूर्वसिद्धस्य कर्त्तृतया स्थितस्य क्रियमाणत्वं, तत्राह परिणामादिति। कूटस्थत्वाद्यविरोधिपरिणामविशेषसम्भवादविरुद्धं तस्य तत्। इदमत्र तत्त्वं—*'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'* (श्वे॰ ६/८), *'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश'* (श्वे॰ ६/१६) इति श्रुतेस्त्रिशक्तिः ब्रह्म। *'विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा। अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते'* (वि॰पु॰ ६/७/६१)॥ इति स्मृतेश्च। तस्य निमित्तत्वमुपादानत्वञ्चाभिधीयते। तत्राद्यं पराख्यशक्तिमद्रुपेण, द्वितीयन्तु तदन्यशक्तिद्वयद्वारैव। सविशेषणे विधि निषेधौ विशेषणमुपसंक्रामत इति न्यायात्। *'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्'* (श्वे॰ ४/१) इत्यादि श्रवणाच्च। एवञ्च निमित्तं कूटस्थमुपादानन्तु परिणामीति सूक्ष्मप्रकृतिकं कर्त्तृ स्थूलप्रकृतिकं कर्म इत्येकस्यैव तदुभयत्वं सिद्धं। मृत्पिण्डादिदृष्टान्तश्रवणात्। परिणामादिति सूत्राक्षराच्च भ्रान्त्यध्यास-पर्य्यायोऽतात्त्विकान्यथाभावात्मा विवर्त्तः परिहृतः। न च शुक्त्यादिवद्ब्रह्मण्यध्यासः सम्भवति तद्वत् तस्य पुरो निहितत्वाभावात्। न चाकाशवत् तत्र सः तद्वत् तस्य गम्यत्वाभावात्। किञ्चान्यथाभावोऽन्यथाभानमेव। तच्च नावृत्तिमन्तरेण सम्भवेत्। आवृत्तिस्तु ब्रह्मेतरत्वाद्विवर्त्तान्तः पतेदित्यनवस्थैव। एवमपि क्वचित् तदुक्तिर्विरागायैवेति तत्त्वविदः। इतरथा तन्मात्रभूतादीनां न्यूनतातिरेको वा श्रूयते भ्रान्तेरनियतरूपत्वात्। नियतस्वभावानां वस्तूनां भावविनिमयश्च दृश्यते। तस्मात् तात्त्विकान्यथाभावात्मा परिणाम एव शास्त्रीयः॥ २६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सोऽकामयत (तै॰ २/६) अर्थात् उन्होंने सृष्टिकी इच्छा की, इस श्रुतिकथनके द्वारा सृष्टिकामत्व रूपमें परमेश्वर ही प्रक्रान्त (प्रकरणके प्रतिपाद्य) हो रहे हैं, इसलिए वे सृष्टिके कर्त्तृभूत

हैं और *'तदात्मानं स्वयमकुरुत'* (तै॰ २/७) उस समय (सृष्टिकालमें) उन्होंने स्वयंको स्वयंमें प्रकाशित कर दिया—इस श्रुतिकथनसे वे सृष्टिके कर्मभूत हैं। अतएव उन परमेश्वरमें कर्त्तृत्व-कर्मत्व उभयरूपता है। अब प्रश्न यह है कि जब यह पहलेसे ही सिद्ध है कि वे कर्त्तारूपमें स्थित हैं, तब उन एक परमेश्वरमें क्रियमाणत्व (कर्त्तृत्व) और कर्मत्व दोनों किस प्रकारसे सम्भव हैं? इस विषयमें समाधान यह है कि *'परिणामात्'* परिणामसे ब्रह्मके कूटस्थादि धर्म भङ्ग नहीं होते, इस अविरोधी परिणाम विशेषके (कर्त्तृत्व और कर्मत्वमें कोई विरोध नहीं) सम्भव होनेसे उनका कर्मत्व भी अविरोधी है। इस विषयमें सारतत्त्व यह है कि—श्रुति कहती है—*'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते', 'प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः'*—उन परमेश्वरकी विविध शक्तियाँ सुनी जाती हैं, यथा पराशक्ति, प्रधानशक्ति एवं क्षेत्रज्ञाशक्ति। परमेश्वर इन तीन शक्तियोंसे सम्पन्न हैं, वे प्रधान और क्षेत्रज्ञके अधिपति गुणाधीश्वर हैं।

विष्णुपुराणमें कहा गया है—विष्णुशक्तिका नाम पराशक्ति है, दूसरी क्षेत्रज्ञा (परासे भिन्न) अपराशक्ति है और कर्म नामक जो अविद्या अथवा मायाशक्ति है, वह तृतीया शक्ति है। उन परमेश्वरकी निमित्तकारणता और उपादानकारणता भी अभिहित हुई है। इनमें जो निमित्तकारणता है, वह परा नामक शक्तिमत् रूपके द्वारा है और जो उपादानकारणता है, वह परासे भिन्न और जो दो शक्तियाँ हैं, उनके द्वारा है। यदि कहा जाय कि उपादानशक्तिविशिष्ट ब्रह्मके विधानके द्वारा उपादानशक्तिका विधान किस प्रकार जान लिया, तो इसका उत्तर है कि *'सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः सति विशेष्यबाधे'* अर्थात् जब विशेषणसे विशिष्ट विशेष्यमें विधि अथवा निषेध बाधित होंगे, तब वे विधि अथवा निषेध विशेषणमें पर्यवसित होंगे, इसीलिए यहाँ (ब्रह्मकी शक्तिमें पर्यवसित) उपादानत्वका विधान है, उपादानकारणत्व विशिष्ट ब्रह्मका विधान नहीं है और फिर ब्रह्म तो सिद्ध हैं, उनका विधान नहीं होता। इसके अतिरिक्त श्रुति भी परमेश्वरके निमित्तत्व एवं उपादानत्वकी घोषणा करती है, यथा *'स एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्'* (श्वे॰ ४/१) वे एक अरूप होकर भी विभिन्न शक्तियोगसे

बहुत-से रूपोंमें प्रकाशित होते हैं, इत्यादि। इस प्रकारसे कूटस्थ (निर्विकार) ब्रह्म निमित्त हैं (अथवा निमित्त वस्तु कूटस्थ है) और उपादान वस्तु परिणामी है। तमः शब्दसे संज्ञित, अनभिव्यक्त गुणमयी, सङ्कुचित ज्ञानविशिष्टा एवं जीव शब्दसे संज्ञिता प्रकृतिके आधार पराख्याशक्तिविशिष्ट ब्रह्म कर्त्ता अर्थात् निमित्त कारण हैं और स्थूल प्रकृतिके आधार ब्रह्म उपादान कारण हैं—जो कर्म हैं, इस प्रकार एक ही परमेश्वरकी उभयरूपता सिद्ध है।

यदि कहो, विश्वप्रपञ्च ब्रह्मका विवर्त्त है, ऐसा भी नहीं है, इसमें मृत्-पिण्डका दृष्टान्त (घड़ा मिट्टीकी परिणति है) श्रुत होनेसे और सूत्रमें भी 'परिणामात्' परिणाम कहे जानेसे परिणामवाद ही ग्राह्य है, विवर्त्तवाद नहीं। विवर्त्त तो भ्रमात्मक अध्यास (ब्रह्ममें भ्रमवश जगत्की प्रतीति) के ऊपर प्रतिष्ठित है, अतात्त्विक असत्स्वरूप अन्यथा भावात्मक है। इसी प्रकारके विवर्त्तका ही इस सूत्रके द्वारा निराकरण किया गया है। विवर्त्तवादमें किस प्रकार असङ्गति है, यह दिखा रहे हैं कि जिस प्रकार शुक्ति (सीपी) में रजतका अध्यास (किसी वस्तुको अन्य वस्तु समझना) है, उसी प्रकार ब्रह्म सम्मुख (पुरोनिहित—सामने रखी हुई वस्तु) अवस्थित नहीं हैं, पुनः आकाशके समान अध्यास अर्थात् विश्वव्यापक आकाशके ऊपर घटाकाशादिके समान जिस प्रकार अल्पपरिमाणत्वका अध्यास होता है (विश्वव्यापकको अल्प-परिमाण समझ लिया जाता है), इस प्रकार भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ब्रह्मका आकाशके समान इन्द्रिय-ग्राह्यत्व नहीं है।

और एक बात है—अन्यथाभावका नाम है अध्यास। अन्यथाभाव कहनेसे अन्य प्रकारका ज्ञान (अन्यथाभान) समझा जाता है, यह अन्यथा ज्ञान द्वितीय वस्तु व्यतिरेक (अभाव) में किस प्रकारसे सम्भव है? ब्रह्मके अतिरिक्त जब दूसरी वस्तु है ही नहीं, तब विवर्त्त भी नहीं है। यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय, तो उसका ज्ञान भी विवर्त्त (भ्रम) में ही पड़ जाता है, वह विवर्त्त भी अन्यथा ज्ञानाधीन है, वह अन्यथा ज्ञान भी विवर्त्तके मध्यमें ही पतित है। इसलिए अनवस्था दोष आ जाता है। ऐसा होनेपर भी यदि किसी-किसी स्थानपर विवर्त्तवादकी बात कही जाती है, तो वह वैराग्योत्पादनके

लिए ही है—यह तत्त्वविदोंका सिद्धान्त है। यदि अन्यथा कहते हो अर्थात् विवर्त्तवादको ही स्वीकार करते हो, तो कदाचित् शब्दादि तन्मात्रा और आकाशादि भूत-समुदायका न्यून एवं अधिक भाव भी सुना जाता, परन्तु भ्रम नियमके अधीन नहीं है और नियत (निश्चित) स्वभावसम्पन्न वस्तुओंका भी स्वरूप-विनिमय देखा जाता अर्थात् अग्निका जो उष्ण स्वभाव है, वह शीतल होता और शीतल स्पर्श जलमें उष्णता होती। अतएव यह जो अन्यथाभावात्मक परिणाम है, वही तात्त्विक यथार्थ है, विवर्त्तके समान भ्रमात्मक नहीं एवं यही शास्त्रसम्मत है॥ २६॥

सूक्ष्मा-टीका—आत्मकृतेरिति। लोके तु खलु कृतिमान् कर्त्ता कृतिविषयो मृत्सुवर्णादिरुपादानमिति व्यवस्था। आत्मानमिति द्वितीयया कृतिविषयत्वम्। स्वयमित्यनेन कृतिमत्त्वञ्च। तथाचोपादानं निमित्तञ्च ब्रह्मैवेत्युक्तम्। कुतः? आत्मकृतेरात्मसम्बन्धिन्याः कृतेरित्यर्थः। सम्बन्धश्चात्र विषयविषयिभावः। आत्माधाराधारिभावश्च। इदमत्रेति। परा-प्रधानक्षेत्रज्ञरूपा शक्तित्रयी। विञ्चिवति श्रीवैष्णवे। अविद्या कर्म्मसंज्ञा च तृतीया शक्तिर्म्मायेत्यर्थः। तस्येति ब्रह्मणः। अभिधीयते शास्त्रेषु। सविशेषणे इति। विशिष्टे वस्तुनि यो विधिर्निषेधश्श्च स खलु विशेषणपर्य्यवसायीत्यर्थः। यथा गौरः पुमानित्यत्र गौरत्वं पुंसो विहितं तत् खलु विशेषणदेहपर्य्यवसायिप्रतीतम्। यथा भगवत्कैङ्कर्य्यप्रतिबन्धी स्तम्भो निन्द्य इत्यर्थः। तत् कैङ्कर्य्यप्रतिबन्धित्वं स्तम्भस्य विशेषणं निषिध्यते। माभूदिति तथैतद्बोध्यम्। एवञ्चेति। कूटस्थं निर्विकारम्। सूक्ष्मेति। सूक्ष्मानभिव्यक्तगुणा तमःशब्दिता सङ्कुचितज्ञाना जीवशब्दिता च प्रकृतिर्यत्र तत्परावद्ब्रह्मकर्त्तृ निमित्तं तादृक् तदुभयांशस्तुपादानं बोध्यम्। स्थुलाभिव्यक्तगुणा प्रधानादिविकाशितगुणा जीवशब्दिता च प्रकृतिर्यस्य तद्ब्रह्मेति। कर्मैति क्रियमाणमित्यर्थः। ननु ब्रह्मणो विवर्त्तोऽस्तु प्रपञ्च इति चेत् तत्राह मृत्पिण्डादीति। विवर्त्तवादेऽनुपपत्तिं दर्शयति न चेति। तद्वत् शुक्त्यादिवत्। तस्य ब्रह्मणः। ननु पुरोनिहितत्वमप्रयोजकं विभोरप्याकाशस्येवाल्पाध्यासादिति चेत् तत्राह आकाशवदिति। गम्यत्वं गोचरत्वमध्यासे प्रयोजकं ब्रह्मणि तत्त्वाभावान्नाध्यास इत्यर्थः। किञ्चेति। तच्चान्यथाभानम्। एवमिति। *'आत्मानमेवात्मतया विजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम्। ज्ञानेन भूयोऽपि च तत् प्रलीयते रज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा'* इत्यादौ विवर्त्तवादोक्तिः प्रपञ्चे वैराग्यायेत्यर्थः। इतरथेति। तन्मात्राणि शब्दादीनि भूतानि खादीनि ये चैव प्रतिसर्गं श्रूयन्ते नाधिकानि न चोनानि। तेज उष्णं जलं शीतं पृथिवी त्वनुष्णाशीतेत्येवं वस्तुस्वभावाश्च नियता अनुभूयन्ते सर्वैः। तदेतत् सर्वं विपर्यस्तम्। तस्मात् यदि रज्जुभुजङ्गादिवद् भ्रमविजृम्भितः प्रपञ्चः स्यात् तस्यानादित्वात् वस्तुभूतत्वादेव

चेयमेकरूपता सिद्ध्येत्। सादित्वे सृष्टेरकस्मात् स्वीकारे मुक्तानामपि पुनर्जन्मप्रसङ्गात् पूर्वसृष्टिसादृश्यानुपपत्तिश्च। अवस्तुभूतत्वे स्वाप्निकराज्यादिवत् क्षणे क्षणे वैलक्षण्यञ्च स्यात्। शास्त्रीय इति। तदात्मानं स्वयमकुरुतेति *'पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद् य'* इति श्रुतेः। *'कालाद्गुणव्यतिकरः परिणामस्वभावतः'* इत्यादि स्मृतेः। परिणामादिति सूत्रखण्डाच्च॥ २६॥

सूक्ष्मा-सार— *'आत्मकृतेरित्यादि'* सूत्रका अभिप्राय इस प्रकार है कि लौकिक व्यवहारमें देखा जाता है कि जो कृति (कार्य) करता है, वह कर्त्ता कहलाता है, जिस विषयमें चेष्टा करता है, वह कृतिका विषय—कर्म है, जिस प्रकार मृत्तिका, सुवर्ण इत्यादि उपादान हैं, ऐसी अवस्था है। अतएव *'आत्मानं स्वयमकुरुत'* इस श्रुतिके अन्तर्गत *'आत्मानम्'* पदमें द्वितीया विभक्ति द्वारा कृति-विषयत्व ही बोधित है। *'स्वयम्'* इस पद द्वारा कृतिमान (कृतिमत्त्व) भी दिखता है अर्थात् उन्होंने आत्माको—स्वयंको व्यक्त कर दिया—इस प्रकार कहनेसे आत्माका कर्त्तृत्व एवं कर्मत्व दोनों ही जान पड़ते हैं। अतएव आत्माको (परमेश्वर) निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों ही कहा गया है, कारण क्या है? इसका उत्तर है *'आत्मकृतेः'* आत्मसम्बन्धिनी कृतिके कारण, सम्बन्ध-विशिष्टका नाम सम्बन्धी है, यह सम्बन्ध विषय-विषयीरूपमें है अर्थात् एक कृतिका विषय कर्म है, दूसरी कृतिका आश्रयकर्त्ता है, ये कर्म और कर्त्ता एक आत्मा ही हैं और आत्म-विषयक आश्रय-आश्रयी भाव है। *'इदमत्र तत्त्वमित्यादि'*—परा, प्रधान और क्षेत्रज्ञ रूप शक्तित्रय। *'विष्णुशक्तिः परा'* इत्यादि श्लोक विष्णुपुराणमें कहा गया है। अविद्या कर्म नामकी तृतीया शक्ति अर्थात् माया है। *'तस्य निमित्तत्वम्'*—तस्य अर्थात् उन ब्रह्मका, उपादानत्वञ्च अभिधीयते—उपादानत्व भी शास्त्रमें कहा गया है। *'सविशेषेण विधिनिषेधौ'* इत्यादि न्यायका अर्थ है—किसी भी विशेषणविशिष्ट वस्तुके ऊपर जो विधि और निषेध कहे गये हैं, वे विशेषणके ऊपर ही पर्यवसित होते हैं, जिस प्रकार *'गौरः पुमान्'* कहनेपर गौरत्वका विधान पुरुषके ऊपर होता है और वह गौरत्व देहमें पर्यवसित रूपमें प्रतीत होता है। निषेधका उदाहरण है—भगवत्-कैङ्कर्य-प्रतिबन्धी स्तब्धः, अहङ्कार भगवान्के दासत्वका प्रतिबन्धक अर्थात् निन्दनीय है,

इस कथनमें भगवत्-कैङ्कर्य-प्रतिबन्धित्व (अहङ्कार) का निषेध जाना जाता है, स्तम्भमान व्यक्तिका नहीं। स्तब्धत्व विशेषणका है अर्थात् स्तब्धत्व भगवत्-कैङ्कर्यमें प्रतिबन्धक है। स्तब्धवान्‌का निषेध नहीं है, यही उक्त न्यायका प्रतिपाद्य है। *'एवञ्च निमित्तं कूटस्थम्'* इत्यादि, कूटस्थम् अर्थात् निर्विकार। *'सूक्ष्मप्रकृतिकं कर्त्तृस्थूलप्रकृतिकं कर्मेत्यादि'*— *'सूक्ष्मप्रकृतिकम्'* सूक्ष्म अर्थात् जिनके गुण (सत्त्व, रज और तम) अभिव्यक्त नहीं हैं, उन्हींको तमः शब्दसे शब्दित किया गयाहै, वही सङ्कुचित ज्ञान जीव नामकी प्रकृति जिसमें है, ऐसे पराशक्तिमान ब्रह्म कर्त्ता अर्थात् निमित्तकारण हैं तथा अविद्या और कर्म—इन दोनों शक्तियोंसे समन्वित वे उपादान कारण हैं। स्थूलप्रकृति ब्रह्म कर्मपदवाच्य हैं। स्थूल अर्थात् जिनके गुण अभिव्यक्त हैं अथवा प्रकृति आदि रूपमें विकासित (प्रकाशित) हुए हैं और जीव नामकी प्रकृति जिनकी है, वे ब्रह्म कर्म अर्थात् क्रियमाण कार्यात्मक हैं। अतः 'ननु इत्यादि' के द्वारा विवर्त्तवादकी भर्त्सना करते हुए खण्डन कर रहे हैं। प्रश्न यह है कि विश्व प्रपञ्च ब्रह्मका विवर्त्त क्यों न हो? यह यदि जिज्ञासा करते हो, तो कहते हैं कि नहीं, विवर्त्त नहीं है, ऐसा होनेसे तो मृत्-पिण्ड, सुवर्ण इत्यादि श्रुतियोंमें प्रदर्शित दृष्टान्त सङ्गत नहीं होंगे। अध्यास वस्तु मिथ्या है, अध्यासका अधिष्ठान सत्य है, किन्तु कटकादि (कङ्गनादि) और घटादि द्रव्योंका सुवर्णादि और मृत्तिकादिमें अध्यास स्वीकार करनेपर मृत्तिकादिकी सत्यता स्वीकार करनी होती है, किन्तु वास्तवमें तो वे असत्य हैं। पुनः दार्ष्टान्तिक ब्रह्म सत्य है, यह दृष्टान्त असङ्गत होता है। अब *'न चेत्यादि'* वाक्यसे शुक्तिमें रजत भ्रमरूप विवर्त्तवादमें अनुपपत्ति (तर्कका अभाव) दिखा रहे हैं। शुक्ति इत्यादिमें रजत इत्यादिके अध्यासके समान ब्रह्ममें जगत्‌का अध्यास अर्थात् कल्पना नहीं कही जाती, क्योंकि 'तद्वत्' शुक्ति इत्यादिके समान 'तस्य'—उन ब्रह्मकी 'पुरोनिहितत्वाभावात्' सम्मुख स्थिति नहीं है। प्रश्न है कि यह पुरोनिहितत्व धर्म विवर्त्तका प्रयोजक नहीं है अर्थात् अनुकूल-तर्करहित है, क्योंकि देखा जाता है कि सर्वव्यापी आकाशका भी घटादिमें अल्पत्व (क्षुद्र परिमाणत्व) रूपमें अध्यास है, कोई आकाश तो वहाँ पुरोनिहित (सम्मुख रखी वस्तु)

नहीं है (क्योंकि ब्रह्मके समान आकाश भी प्रत्यक्षका अविषय है), ऐसा यदि कहते हो तो इस विषयमें उत्तर यह है *'न चाकाशवदित्यादि'* आकाशके समान अध्यास नहीं कहा गया है, क्योंकि आकाश गम्य पदार्थ है, ब्रह्म गम्य नहीं है। गम्यत्व अथवा गोचरत्व अध्यासके प्रयोजक (निमित्त अथवा कारण) हैं, वे ब्रह्ममें नहीं हैं, अतएव जगत्का अध्यास ब्रह्ममें स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'किञ्चेति' विवर्त्तवादमें और एक अनुपपत्ति है कि अन्यथाभावको विवर्त्त कहा गया है, जिसका अर्थ है—अन्य प्रकारका ज्ञान, जैसे कि शुक्तिका रजत रूपमें ज्ञान। *'तच्च नावृत्तिमन्तरेण सम्भवेत्'*—यह अन्यथाज्ञान द्वितीय वस्तुके न रहनेपर नहीं हो सकता और ब्रह्म अद्वितीय वस्तु हैं। यदि द्वितीय वस्तु जगदादिकी वास्तव सत्ता स्वीकार की जाय, तो वह वस्तु द्वितीय होगी, किन्तु वह वस्तु भी विवर्त्त (भ्रम) में आ पड़ता है और इस प्रकार अनवस्था हो जाती है। बात यह है कि ब्रह्मसे भिन्न वस्तुका ही जब अभाव है, तब ब्रह्ममें उसका ज्ञान होना ही विवर्त्त है, पुनः उसे सत्य कहनेपर उसमें जिसका ज्ञान होगा, उसकी सत्ता मानी जायेगी, यह भी विवर्त्त (भ्रम) है, इस प्रकार अनवस्था घटित हो जाती है। *'एवमपि क्वचित्'*, यदि विवर्त्त स्वीकार नहीं करना है, तो किसी-किसी शास्त्रमें जो विवर्त्तका उल्लेख है, वह किसलिए है? उसकी सङ्गति किस प्रकार होगी? जैसा कि कहा गया है—*'आत्मानमेवात्मतयाविजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम्। ज्ञानेन भूयोऽपि च तत् प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा।'* (श्रीमद्भा० १०/१४/२५) जिस प्रकार अज्ञानके कारण ही रज्जुमें सर्प शरीरकी प्रतीति है और ज्ञानोदय होनेपर वह विनष्ट हो जाती है, इसी प्रकार परमात्मस्वरूप आपको ज्ञानानन्द स्वरूपमें जो नहीं जानते, उनके अज्ञानके कारण ही संसार होता है और ज्ञानोदय होनेपर वह विनष्ट हो जाता है।

इस उक्तिसे विवर्त्तवादका जो समर्थन है, उसका उद्देश्य विश्व-प्रपञ्चके प्रति मिथ्यात्वका बोध कराके वैराग्य उत्पन्न कराना है। 'इतरथा'—इसके व्यतिरेकमें अर्थात् यथायथ यदि विवर्त्तको माना जाय, तो दोष ही है। शब्दादि तन्मात्र, आकाशादि पञ्चभूत और अन्यान्य पदार्थ प्रत्येक जो

सृष्टिकालमें उत्पन्न होते हैं, उससे अधिक भी नहीं, कम भी नहीं होते, यथायथ होते हैं। पुनः अग्नि उष्ण होती है, इसी प्रकार जल शीतल है, पृथ्वी अनुष्ण अशीतल स्पर्श है, इस प्रकार वस्तुओंका स्वभाव नियमाधीन है, उनका भाव-विनिमय नहीं है, यह सभी अनुभव करते हैं, यदि विवर्त्त स्वीकार करते हैं, तो यह इससे विपरीत हो जाता है। यदि रज्जुमें सर्पके समान विश्वप्रपञ्च ब्रह्ममें भ्रम-कार्य अर्थात् विवर्त्त है, तो इस विश्वका अनादित्व और वास्तवत्व नहीं रहता, जिसके कारण प्रत्येक युगकी सृष्टिकी एकरूपता सिद्ध होती है, क्योंकि विश्वको सादि (आदियुक्त, अनादि न होनेसे) कहनेपर अकस्मात् सृष्टिका स्वीकार करनेपर मुक्त पुरुषोंके भी पुनर्जन्मकी आपत्ति होती है एवं पूर्व सृष्टिके सादृश्यकी भी अनुपपत्ति घटित होती है। यदि अवास्तव कहा जाता है, तब स्वप्न-दृष्ट राजादिके समान क्षण-क्षणमें परिवर्त्तित होना पड़ सकता है। अतएव विवर्त्त नहीं है। *'परिणाम एव शास्त्रीयः'* यह श्रुति परिणामके विषयमें ही कह रही है, यथा— *'तदात्मान् स्वयमकुरुत'*—सृष्टिके आरम्भमें परमेश्वरने स्वयंको अभिव्यक्त किया। स्मृतिवाक्यमें देखा जाता है— *'पाच्यांश्च सर्वान् परिपाचयेद् यः'* जिन्होंने परिणामके योग्य पदार्थोंका परिणाम किया। और भी, *'कालाद्गुणव्यतिकरः परिणामस्वभावतः'* (श्रीमद्भा॰ २/५/२२) कालसे परिणामस्वभावमें गुणका कार्य है। अर्थात् भगवान्के द्वारा काल अधिष्ठित होनेपर कालसे गुणोंमें क्षोभ उपस्थित होता है। सूत्रके 'परिणामात्', इस अंशसे परिणामवादसे अवगत हुआ जा सकता है॥ २६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार दिग्दर्शन कर रहे हैं कि परमेश्वरमें सृष्टिके सम्बन्धमें कर्त्तृत्व एवं कर्मत्वकी बात सुनी जाती है, इस कारण वे निमित्त एवं उपादान—उभय कारणस्वरूप हैं। सृष्टि-विषयमें स्वयंसे सम्बन्धित कृति एवं शक्तिके परिणाम-विचारमें यही प्रतिपादित हुआ है। भाष्यकार कहते हैं—तैत्तिरीय श्रुतिके *'सोऽकामयत'* (२/६) इस वाक्यसे ब्रह्मका कृतिमत्त्व ही स्पष्ट जाना जाता है, पुनः *'तदात्मानम् स्वयमकुरुत'* (तै॰ २/७) वाक्यमें ब्रह्मके

कर्मभूतत्वके विषयमें स्पष्ट रूपसे कहा गया है। अतएव यही कहना होगा कि वे निमित्त एवं उपादान उभयस्वरूप हैं। यदि पूर्वपक्ष यह है कि जो एकमात्र कर्त्तृ रूपमें पूर्वसिद्ध हैं, वे किस प्रकारसे कर्मस्वरूप हो सकते हैं? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि यह परिणामवादसे सिद्ध है। इसका कारण है कि वे कूटस्थ हैं, इसलिए उनकी शक्तिका परिणाम हेतु है, उनके निर्विकारत्वका कोई विरोध है नहीं। अतएव वे कर्त्ता होकर भी स्वयं कूटस्थ हैं, इसलिए उनका कर्मस्वरूप होना अविरुद्ध है।

इस विषयमें प्रमाणके रूपमें विभिन्न श्रुति और स्मृति द्रष्टव्य हैं। भाष्यकार श्रील बलदेव प्रभुने अपने भाष्य और टीकामें विवर्त्तवादियोंके विवर्त्तवादकी असारताका विभिन्न युक्तियोंसे खण्डन करके शक्ति-परिणामवादकी स्थापना की है। यह वहीं देखना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें—

कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया।
आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे॥
कालाद् गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः।
कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत्॥

(श्रीमद्भा॰ २/५/२१-२२)

अर्थात् वे मायाधीश भगवान् बहुत प्रकारसे इच्छा करके अपनेमें अनुस्यूत (बँधे हुए) रूपसे अवस्थित जीवके अदृष्ट, काल एवं स्वभावको स्वेच्छासे अपनी मायाके द्वारा सृष्टिके लिए आश्रय प्रदान करते हैं। भगवान्के द्वारा काल अधिष्ठित होनेपर कालसे गुणोंमें क्षोभ उपस्थित होता है अर्थात् त्रिगुणकी साम्यावस्था त्यक्त हो जाती है। ईश्वर आश्रित स्वभावसे परिणाम होता है और पुरुषाधिष्ठित जीवके कर्मसे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है।

और भी,

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
वासुदेवात् परो ब्रह्मन् न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः॥

(श्रीमद्भा॰ २/५/१४)

हे नारद! उपादानरूप महाभूतादि द्रव्य, जन्म प्राप्त करनेके निमित्त कर्म (कर्मफल), गुणोंका क्षोभक काल, इसके परिणामका हेतु स्वभाव और भोक्ता जीव इनमेंसे किसी की भी श्रीवासुदेवसे भिन्न सत्ता नहीं है।

आत्मसृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य स्वशक्तिभिः।
ईयते बहुधा ब्रह्मन् श्रुत-प्रत्यक्ष गोचरम्॥
(श्रीमद्भा॰ १०/४८/१९)

हे ब्रह्मन्! आप अपनी शक्तिसे इस जगत्की रचनाकर इसमें प्रविष्ट-से जान पड़ते हैं। जो कुछ भी सुनायी अथवा दिखायी पड़ रहा है, उनमें विविध रूपमें आप ही प्रतीत हो रहे हैं।

श्रीउद्धवजीकी उक्ति है—

दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत् स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकञ्च।
विनाच्युताद्वस्तुतरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/४६/४३)

इस श्लोककी टीकामें श्रील विश्नाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर लिखते हैं—'*वस्तुतस्तु भो व्रजराज, युस्मदादिकं सर्वमिदं जगत्तच्छक्ति-सृष्टत्वात्तदात्मकमेव जानीहि ब्रूहि च तदनुरूपमित्याह, दृष्टमिति।*'

अर्थात् वस्तुतः हे व्रजराज (नन्दराय) जी! आपके समान ही यह समस्त जगत् उनके द्वारा सृष्ट हैं, अतः इस जगत्को कृष्णमय समझें और तदनुरूप व्यवहार करें।

इस प्रसङ्गमें श्रीमन्महाप्रभु प्रकाशानन्दजीसे कहते हैं—

व्यासेर सूत्रेते कहे परिणामवाद।
व्यास भ्रान्त बलि उठाइल विवाद॥

परिणाम-वादे ईश्वर हयेन विकारी।
एक कहि विवर्त्तवाद स्थापना ये करि॥

वस्तुतः परिणामवाद सेइ त प्रमाण।
देहे आत्मबुद्धि हय विवर्त्तेर स्थान॥

अविचिन्त्यशक्ति-युक्त श्रीभगवान्।
इच्छाय जगत्-रूपे पाय परिणाम॥

तथापि अचिन्त्यशक्त्ये हय अविकारी।
प्राकृत चिन्तामणि ताहे दृष्टान्त धरि॥

नाना रत्नराशि हय चिन्तामणि हैते।
तथापिह मणि रहे स्वरूपे अविकृते॥

प्राकृत वस्तुते यदि अचिन्त्यशक्ति हय।
ईश्वरेर अचिन्त्यशक्ति—इथे कि विस्मय॥

(चै॰च॰आ॰ ७/१२१-१२७)

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद द्वारा इन पयारोंके अनुभाष्यमें उद्धृत श्रील जीव गोस्वामी प्रभुके द्वारा रचित 'परमात्मसन्दर्भ' का सार इस प्रकार है—

"विवर्त्त अथवा मिथ्यावादके अनुसार अथवा इसके आश्रयमें जीव इत्यादि सभी द्वितीय-भाव-विशिष्ट तत्त्व ब्रह्मके निजस्व रूपमें अज्ञान द्वारा कल्पित हुए हैं, दूसरे किसी भी प्रकारके धर्मसे रहित, सर्व-विलक्षण, अहङ्कारशून्य, चिन्मात्र ब्रह्मवस्तुकी अज्ञानाश्रय योग्यता, अज्ञानविषयाश्रितता और भ्रम-हेतुता कभी भी सम्भवपर नहीं है। ब्रह्मवस्तु परम अलौकिक वस्तु है, इसलिए क्षुद्र मानवोंके लिए उनमें अचिन्त्यशक्तिकी सम्भावना है। प्राकृत चिन्तामणि इत्यादि वस्तुओंमें भी जब अलौकिक शक्ति दिखायी देती है, तब ब्रह्ममें भी अलौकिक शक्ति निश्चित रूपसे विराजमान है। वात, कफ और पित्त—ये त्रिविध दोष जब एक साथ रोगीका आश्रय कर लेते हैं, तब जिस प्रकार परस्पर विरोधी धातु शोधनके लिए औषधिकी व्यवस्था होती है, उसी प्रकार परस्पर विरोधी गुणत्रय धारिणीशक्तिके द्वारा ब्रह्मकी निराकारता आदि सम्भव होनेपर भी उनके अवयवादि स्वीकृत किये जाते हैं, इस विषयमें वेद प्रमाण हैं—*'विचित्रशक्तिः पुरुषः पुराणो, न चान्येषां शक्त्यस्तादृशः स्युः'* (श्वे॰) सनातनपुरुष विचित्र शक्तिविशिष्ट हैं, दूसरे किसीमें इस प्रकारकी शक्तियाँ नहीं हैं। श्रीमद्भागवत (३/३३/३) में भी *'आत्मा ईश्वरोऽतर्क्य सहस्रशक्तिः'*—आप जीवोंके ईश्वर हैं। आप

सहस्रशक्तिविशिष्ट हैं। आपकी अनन्तशक्ति तर्कके अगम्य है। ब्रह्मसूत्र (२/१/२८) *'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि'* आत्मामें ऐसी विचित्रता (विचित्रसृष्टि) देखी जाती है। ब्रह्ममें द्वैतभावकी सङ्गति न रहनेके कारण ब्रह्ममें अज्ञानादिकी भी असम्भावनाके कारण ब्रह्ममें अज्ञानादिकी कल्पना करना सम्भव नहीं है। 'ब्रह्म अचिन्त्यशक्तिसे सम्पन्न हैं'—यह भाव युक्तियुक्त है और श्रुति समन्वित है, क्योंकि श्रुतिवाक्यसे उनमें द्वैतानुपपत्ति (द्वैतरूप युक्तिका अभाव एवं द्वैत सहित अन्य भावोंकी भी असङ्गति) दूर हो गयी है। ऐसा होनेपर अचिन्त्यशक्ति ही द्वैतकी उपपत्ति (औचित्य) के कारण रूपमें अवशिष्ट (शेष) रहती है। यही कारण है कि निर्विकार स्वभावसे सम्पन्न होनेपर भी परमात्माकी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे विश्वरूपमें परिणामादि संघटित होते हैं।

"जिस प्रकार चिन्तामणि स्वयं विकारसे युक्त न होकर सर्वार्थ-प्रसव करनेमें समर्थ है, अयस्कान्तमणि (चुम्बक) भी स्वयं विकार-विशिष्ट न होकर अन्य लोहा आदिको अपनी ओर आकर्षित—चालित करनेमें समर्थ है, उसी प्रकार ब्रह्मवस्तु विकृत न होकर ब्रह्मकी विकार योग्य शक्ति ही विकृत होकर विश्वाकारमें परिणत होती है। इस प्रकार ब्रह्ममें उन-उन प्रकारकी शक्तियोंके रहनेके कारण प्राकृतकी भाँति माया शब्दके लिए इन्द्रजाल-विद्या वाचकतायुक्त नहीं है, अनुचित है। इस मायासे विचित्रता निर्मित होनेके कारण विचित्रार्थककी शक्तिवाचकता सिद्ध होती है। इसलिए परमात्माका परिणाम ही यह विश्व है, यही शास्त्रसिद्धान्त है। अपरिणत सत्यवस्तुके अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे ही परिणति होती है। सद्वस्तुमें तन्मात्र प्रकाशमान स्वरूपका ही विस्ताररूप द्रव्यात्मक शक्ति है। इसी शक्तिरूपकी ही परिणति होती है, स्वरूपका परिणाम नहीं होता। जिस प्रकार चिन्तामणि अपनी शक्तिकी परिचालना करके भी अपनेमें किसी भी प्रकारके विकारको अन्तर्भुक्त नहीं होने देती, उसी प्रकार स्वरूपमें भी किसी प्रकारका विकार नहीं आता।

"अतएव कोई-कोई विश्वके उपादान रूपमें 'ब्रह्म' का और कोई-कोई विश्वके उपादानके रूपमें 'प्रधान' का निरूपण करते हैं, यह जाना जाता है। पहले वारि-दर्शन (वर्षाको देख) करके वर्षाके

सम्बन्धमें धारणा उदित होती है, परन्तु जब उसका प्रसङ्ग नहीं रहता, उस समय वह भाव सोया रहता है और पुनः जब उसके समान कोई वस्तु दिखायी देती है, तो वह वृत्ति जागरुक हो जाती है। उस वस्तुके विशेष अनुसन्धानके बिना उस वस्तुका पूर्व वस्तुके साथ अभेद जानकर स्वेच्छापरायण होकर आरोप कर देनेसे वारि (वर्षा) मिथ्या नहीं हो जाती अथवा स्मरणमयी तदाकार (जलके स्मरणसे जलाकार) वृत्ति मिथ्या नहीं होती अथवा वारितुल्य दिखायी देनेवाली मरीचिका (मृगतृष्णा) आदि वस्तु मिथ्या नहीं होती। किन्तु वारिके साथ अभेद मानकर इस प्रकार आरोप करना अयथार्थ अथवा मिथ्या है। स्वप्नमें भी 'मायामात्र ही समग्र अप्रकाशित स्वरूप है'—इस न्यायके आश्रयसे जागरणके समय प्रतीत (दृष्ट) वस्तुकी आकाररूपिणी मनोवृत्तिमें परमात्माकी माया पहलेकी भाँति उस वस्तुमें अभेदका आरोप करती है, इसलिए वस्तुतः कुछ भी मिथ्या नहीं है। शुद्धात्मामें अथवा परमात्मामें इस प्रकारका आरोप ही मिथ्या है, विश्व मिथ्या नहीं है। और भी है, विवर्त्तका दृष्टान्त—ज्ञानादि प्रकरणसमूहमें उल्लिखित होनेके कारण गौण है और परिणामवाद स्वप्रकरणमें पठित होनेके कारण मुख्य है एवं ज्ञानादि दोनों प्रकरणोंमें परिणामवाद पठित होनेके कारण सन्दंश (चिमटा अथवा सँडसी) न्याय सिद्ध प्राबल्य हेतु शक्तिपरिणामवादको ही श्रीभागवत-तात्पर्यके रूपमें जाना जाता है।"

श्रीमन्महाप्रभुने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यसे जो कहा था, उसमें भी पाया जाता है—

परिणाम-वाद व्यास-सूत्रेर सम्मत।
अचिन्त्यशक्ति ईश्वर जगद्रूपे परिणत॥

मणि यैछे अविकृत प्रसवे हेमभार।
जगद्रूप हय ईश्वर तबु अविकार॥

'व्यास-भ्रान्त' बलि सेइ सूत्रे दोष दिया।
विवर्त्तवाद स्थापियाछे कल्पना करिया॥

जीवेर देहे आत्मबुद्धि, सेइ मिथ्या हय।
जगत् ये मिथ्या नहे, नश्वर मात्र हय॥

(चै॰च॰म॰ ६/१७०-१७३)

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद अपने अनुभाष्यमें लिखते हैं—

"शक्तिपरिणामवाद ही *'जन्माद्यस्य'* इत्यादि सूत्रका सम्मत है। असंख्य, अनन्त नित्यशक्ति जिनमें जात, स्थित और अव्यक्त है, शक्तिसमूह जिनके अधीन हैं, इस प्रकारकी शक्तियोंके प्रभु ही ईश्वर हैं। अनन्त रूपमें विराजमान नित्य-अनित्य शक्ति, आत्म-अनात्म शक्ति इत्यादिकी युगपत् (एकसाथ) अवस्थिति ईश्वरमें किस प्रकारसे सम्भव है? इस तत्त्वको जीव मायाशक्तिके अधीन रहते हुए जड़बद्धावस्थामें नहीं समझ सकता, इसलिए मानवज्ञानमें इस प्रकार परस्पर विरुद्ध गुणसमाश्रय (गुणोंका एकसाथ होना) अचिन्त्य है, किन्तु ईश्वरमें यह नित्य अवस्थित हैं। मानव जड़ज्ञानके अहङ्कारसे स्वयंमें क्षुद्र अज्ञानरूप सामर्थ्यको मिथ्या कल्पनाके द्वारा विपुल रूपमें समझता है, वह जिस शक्ति-रहितता रूप एक अवस्थाकी ब्रह्मरूपमें कल्पना करता है, वह चिन्त्य शक्तिका प्रकार भेदमात्र है। ऐसी कल्पनासे जगत्को ईश्वरके 'परिणाम' रूपमें समझनेपर विवर्त्तवाद अवश्य ग्रहणीय है, किन्तु ईश्वरत्वमें जो अचिन्त्य नित्य शक्तिमत्ता निहित है, उसे जाननेपर ईश्वरकी बहिरङ्गा मायाशक्ति-परिणत खण्डज्ञानगम्य राज्यमें भी जो प्रकाशित अथवा अवतीर्ण हो सकता है, उसे ही जाना जाता है।"

किसी मणिमें इस प्रकारकी शक्ति निहित है कि मणि स्वर्णकी सृष्टि करके भी अपने मणित्वको अन्य प्रकारसे परिणत अथवा परिवर्त्तित नहीं करती। स्वर्णकी सृष्टिके पहले मणि जिस प्रकार थी, स्वर्ण-प्रसवके बाद भी वह उसी प्रकार रहती है। इस प्रकार प्रकृत अन्तर्निहित शक्तिके प्रभावसे मणि स्वयंमें विकार प्राप्त न करके और मणिभिन्न अपरवस्तु (स्वर्ण) को प्रसव करके भी अपने मणित्वमें अवस्थित रह सकती है, उसी प्रकार सच्चिदानन्द ईश्वर अपनी मायाशक्तिको परिचालित करके, उस प्रकारकी शक्तिको विकारयोग्य गुणमय जगत् रूपमें परिणत कर सकते हैं। ईश्वर स्वयंकी अन्यतम शक्तिको विकारमय जगत् रूपमें परिणत करके भी निजस्वरूपको विकार-रहित रख सकते हैं—यह नित्यशक्ति उनमें वर्त्तमान है।

इस सूत्रमें अर्थात् ब्रह्मसूत्रके प्रारम्भमें *'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'* सूत्रके उत्तरमें पहलेसे ही *'जन्माद्यस्य यतः'* सूत्र है। यह सूत्र परिणामवादके उद्देश्यसे ही लिखित है, यथा *'यतो वा इमानि भूतानि'*, यह तैत्तिरीय वाक्य है, *'यथोर्णनाभः सृजते गृह्णते च'*—यह मुण्डक वाक्य है और श्रीमद्भागवतके प्रारम्भमें उक्त सभी श्लोकोंका तात्पर्य ही 'परिणामवाद' है, परन्तु श्रीशङ्कराचार्य 'परिणामवाद' ग्रहण करनेपर बादमें *'जन्माद्यस्य यतः'* सूत्रको दुष्टसूत्र (दोषमय सूत्र) और उसके लेखक श्रीव्यासदेवको भ्रान्त कहकर काल्पनिक लक्षणा-वृत्तिवादियोंके आक्रमणके पात्र होते हैं, उसके प्रतिषेध (रोक) के लिए एवं अपने गुरु व्यासको एवं *'जन्माद्यस्य'* सूत्रको यथाक्रमसे परिणामवादी और परिणामवाद कहकर निन्दित न करें, इस उद्देश्यसे काल्पनिक युक्तियोंका विस्तार करते हुए वेदके अंशविशेषमें लिखित अन्य तात्पर्य ज्ञापक 'विवर्त्तवाद' को ही वे सत्यके रूपमें स्थापित करते हैं।

नित्य कृष्णदास निर्मल जीव कर्मफलभोग-परायण स्थूल-सूक्ष्म दोनों देहोंमें भ्रमपूर्वक जो 'मैं' बुद्धि करता है, ऐसी बुद्धि मिथ्या है और यही विवर्त्तवादका स्थल है। जीवात्मा अनित्यकालवशयोग्य ब्रह्मके अज्ञानके कारण तात्कालिक स्थूलशरीर अथवा सूक्ष्मशरीर नहीं है। विश्व वस्तुतः मिथ्या नहीं है, कालके द्वारा परिवर्त्तनीय है अर्थात् कालके वशीभूत है। विश्व-भोग बुद्धिमें जीवका विवर्त्त है। इस अचित् विश्वका स्वरूपशक्ति-परिणत है। मायावादी जीवस्वरूपमें एवं विश्वके स्वरूपमें 'विवर्त्त' का विचार करते हैं, किन्तु जीव और विश्व दोनों ही शक्ति-परिणामवाद हैं॥ २६॥

सूत्र—योनिश्च हि गीयते॥ २७॥

सूत्रार्थ—'योनिः च'—उपादान कारण और पुरुष अर्थात् निमित्त कारण—इस उभयस्वरूपमें ब्रह्म 'गीयते'—श्रुतिमें कथित हैं, 'हि' इस हेतुसे, परमेश्वर दोनों ही हैं॥ २७॥

सूत्रानुवाद—इस हेतुसे भी ब्रह्म जगत्के निमित्त एवं उपादान कारण हैं कि परमात्माको सम्पूर्ण कार्यजगत्की योनि कहा गया है॥ २७॥

गोविन्दभाष्य— *'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः'* (मु॰ १/१/६) *'कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्'* (मु॰ ३/१/३) इत्यादि श्रुतौ योनिमिति कर्त्तारं पुरुषमिति च गीयते हि यस्मादतो ब्रह्मैवोभयम्। योनिशब्दस्तूपादानवाची। पृथिवी योनि-रोषधिवनस्पतीनामित्यादि प्रयोगात्। यत् खलु निमित्तोपादानयोर्लोकवेदाभ्यां भेद इति यच्च लोके कार्यस्यानेकसिद्धत्वनियमादेकस्मादेव तस्मात् तद्वक्तुं न ताः क्षमा इत्युक्तं तदनेनैव प्रत्युक्तम्॥ २७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः'* (मु॰ ३/१/६), *'कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्'* (मुण्डक) जो कर्त्ता अर्थात् निमित्त कारण नियन्ता पुरुष ब्रह्मभूत आदिकारण हैं, उन्हों पण्डितगण समस्त प्राणियोंका उपादान कारण मानते हैं, इत्यादि श्रुतिमें *'योनिम्'* पदके द्वारा एवं *'कर्त्तारम् पुरुषम्'* यह पद जिस हेतुसे कहा गया है, वह इसलिए कि ब्रह्म उपादान एवं निमित्त उभयस्वरूप हैं। 'योनि' शब्द उपादान वाचक है। जिस हेतुसे *'पृथिवी योनिरोषधिवनस्पतीनाम्'* पृथ्वी औषधि, वनस्पति इत्यादिकी योनि अर्थात् उत्पत्तिस्थान अथवा उपादान कारण है, इत्यादि प्रयोग देखे जाते हैं। लोकव्यवहारके द्वारा एवं वेदशास्त्रके द्वारा भी निमित्त कारण एवं उपादान कारणका भेद कहा गया है और यह भी कहा है कि कार्यकी सिद्धि अनेक कारणों (सामग्रियों) से होती है। अतः यह जो आपत्ति की जाती है कि उपनषिदवाक्य एक ब्रह्मसे जगत्-कार्यकी उत्पत्ति नहीं कह सकते, इसका प्रत्युत्तर अथवा खण्डन इस *'आत्मकृतेः परिणामात्'* सूत्रकी व्याख्या द्वारा हो चुका है॥ २७॥

सूक्ष्मा-टीका—योनिरिति। यत् खल्विति। तत् जगत् कार्यम्। ता उपनिषदः। अनेनैव आत्मकृतेरिति सूत्रव्याख्यानेनैव॥ २७॥

सूक्ष्मा-सार— *'योनिरित्यादि'* सूत्रके *'यत् खलु'* इत्यादि भाष्यमें *'तस्माद् तद्वक्तुम्'* में 'तत्' का अर्थ है 'जगत्-कार्य'। *'न ताः क्षमाः'* में 'ताः' का अर्थ है 'उपनिषदवाक्य'। *'तदनेनैव प्रत्युक्तम्'* में 'अनेन' से तात्पर्य है 'आत्मकृतेः परिणामात्'—इस सूत्रकी व्याख्यासे ही विवर्त्तवादका खण्डन हो गया है॥ २७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—ब्रह्म जो उपादान एवं निमित्त कारणस्वरूप हैं, तदनुकूल ही सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रुतिमें ब्रह्मको योनिस्वरूप और कर्त्तापुरुष कहा है, वे उभयस्वरूप हैं, यही प्रतिपादित हुआ है। मुण्डक श्रुतिमें है—*'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः'*—धीर व्यक्ति उन भूतयोनि ब्रह्मका ध्यानयोगमें दर्शन करते हैं एवं *'कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्'*—वे कर्त्ता ईश्वर पुरुष ब्रह्माकी योनि हैं—इस प्रकार इन स्थानोंपर योनि एवं कर्त्ता पुरुष गीत (कथित) होनेसे ब्रह्म ही उभयस्वरूप हैं। कोई यदि पूर्वपक्ष करे कि उपादान कारण एवं निमित्त कारण परस्पर भेदयुक्त हैं एवं एक कार्यके बहुत-से कारण रहते हैं, इसलिए एक ब्रह्मसे ही जगत्की उत्पत्तिका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, इसके उत्तरमें कहते हैं कि पूर्व सूत्रमें उक्त आपत्तिका खण्डन कर दिया गया है।

श्रीमद्भागवतमें—

जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयोः।
शक्तेः शिवस्य च परं यत् तद्ब्रह्म निरन्तरम्॥

(श्रीमद्भा॰ ४/६/४२)

ब्रह्माजीने कहा—आप सदाशिव रूपमें प्राकृत-अप्राकृत समस्त विश्वके ईश्वर हैं। आप प्राकृत प्रपञ्चकी योनिरूपी प्रकृति और बीजरूप पुरुष शिवके अंशी हैं। निर्गुण और निर्विकार जो ब्रह्म है, वह भी आप ही हैं। आप मुझे दैन्यवश नमस्कारादि कर रहे हैं, परन्तु मैं आपके ऐश्वर्यको जानता हूँ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

(श्री॰गी॰ १४/३)

अर्थात् हे भारत! महत्-ब्रह्मरूपी प्रकृति मेरी योनि अर्थात् गर्भाधान स्थान है। उसमें मैं तटस्थ प्रभावरूप जीव (बीज) का आधान करता हूँ। उससे ही समस्त जीवोंका जन्म होता है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥
(श्री॰गी॰ १४/४)

अर्थात् हे कुन्तीनन्दन! देव, पशु इत्यादि समस्त योनियोंमें जो शरीर उत्पन्न होते हैं, महत्–ब्रह्म अर्थात् प्रकृति उनकी योनि अर्थात् जननीस्वरूपा है और मैं बीज आधानकर्त्ता पितास्वरूप हूँ॥ २७॥

८—सर्वव्याख्यानाधिकरणम्

अवतरणिका भाष्य—अथ दर्शितः समन्वयो भज्येत न वेति विशङ्कां विहन्तुं अधिकरणमारभते। श्वेताश्वतरोपनिषदादौ श्रूयते—*'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः'* (१/१०)। *'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः'* (३/२)। *'यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च। विश्वाधिको रुद्रः शिवो महर्षिः'* (श्वे॰ ३/४)। *'यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवल'* इति। *'प्रधानादिदमुत्पन्नं प्रधानमधिगच्छति। प्रधाने लयमभ्येति न ह्यन्यत् कारणं मतम्'* इति। *'जीवाद्भवन्ति भूतानि जीवे तिष्ठन्त्यचञ्चलाः। जीवे च लयमिच्छन्ति न जीवात् कारणं परम्'* इति चैवमादि। तत्र संशयः। किमेते हरादिशब्दाः शितिकण्ठादेर्वाचकाः उत परब्रह्मण एवेति। प्रसिद्धेः शितिकण्ठादेरेवेति प्राप्ते—

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित–श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादे
श्रीबलदेवकृतमवतरणिका–श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

अवतरणिका भाष्यानुवाद—विश्वके कारण सर्वनियन्ता श्रीहरिमें ही वेदान्तवाक्योंका समन्वय अथवा तात्पर्य देखा जाता है, किन्तु इस पूर्व प्रदर्शित समन्वयका भङ्ग है कि नहीं, इस आशङ्काके निराकरणके लिए इस अधिकरणका प्रारम्भ किया जा रहा है। श्वेताश्वेतरादि उपनिषदमें सुना जाता है कि *'क्षरं प्रधानं अमृताक्षरं हरः'* (१/१०) प्रधान अथवा प्रकृति क्षरपदार्थ हैं, किन्तु हर अक्षर—अविनश्वर हैं। इस श्रुतिमें *'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः'* (३/२) एक रुद्र ही थे, उनसे भिन्न द्वितीय आश्रय लेकर यह भूतवर्ग न था। *'यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च। विश्वाधिपो रुद्रः शिवो महर्षिः।'* (श्वे॰ ३/४) वे समस्त देवताओंकी उत्पत्तिके स्थान और स्थितिके कारण हैं, विश्वके सर्वश्रेष्ठ, रुद्र (संसार–पीड़ाको दूर करनेवाले), महायोगी और मङ्गलमय

हैं। इस श्रुतिमें शिवको जगत्‌का कारण कहा गया है। और भी कहा गया है कि जब केवल तम था, दिन नहीं था, रात्रि नहीं थी, सत् नहीं था, असत् नहीं था, एक अद्वितीय शिव ही उस समय थे, इससे भी शिवका ही परमेश्वरत्व घोषित हुआ है और किसी श्रुतिमें प्रधानको ही सर्वकारण कहा है, यथा *'प्रधानादिमुत्पन्नम्'* प्रधानसे ही उत्पन्न हुआ है, प्रधानको ही आश्रय करके रहता है और प्रधानमें ही लय प्राप्त होता है और अन्य कोई कारण सम्मत नहीं है। अन्य श्रुतिमें कहा गया है—जीवात्मासे ही पञ्च भूतोंकी उत्पत्ति होती है, जीवमें ही स्थिति होती है और जीवमें ही लय होता है, अतएव जीवसे अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है। इस प्रकार और भी अनेक श्रुतियाँ विभिन्न मतवाद प्रकाशित कर रही हैं। अब संशय यह है कि हर इत्यादि शब्द क्या शितिकण्ठादि (शिवादि) के वाचक हैं? अथवा परब्रह्मका वाचक है? पूर्वपक्षी कहते हैं कि हर इत्यादि शब्द शितिकण्ठादि अर्थमें ही प्रसिद्ध हैं, अतएव उनके ही वाचक होंगे, इस मतके खण्डनके लिए कह रहे हैं—

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके चतुर्थ पादके
श्रीबलदेवकृत गोविन्दभाष्यकी अवतरणिकाका अनुवाद समाप्त॥

अवतरणिकाभाष्य टीका—विश्वकारणे सर्वेश्वरे श्रीहरौ वेदानां समन्वयो दर्शितः स न युज्यते श्रीशिवादेरपि विश्वकारणत्वेन श्रवणादित्याक्षिप्य समाधेराक्षेपोऽत्र सङ्गतिः। अथेत्यादि। क्षरमित्यादौ हरादिशब्दानां सिद्धान्तार्थोऽयं हरति तत्त्वानि लयाभिमुख्यं नयति इति हरः परमात्मा स त्वमृताक्षर इत्यर्थः। रुजं संसृतिपीड़ां द्रावयति अपनयतीति रुद्रः स एव। एकः सर्वाध्यक्षः। तस्मात् द्वितीयाय न तस्थुः ततोऽन्यं नोपतस्थुराशिश्रियुरित्यर्थः। शिवो मङ्गलरूपः श्रीहरिः मङ्गलं मङ्गलानामिति सहस्रनामस्तोत्रात्। प्रधानादिति। प्रधानात् सर्वतत्त्वमुख्यात् परमात्मनः। जीवादिति जीवयति सर्वानिति व्युत्पत्तेर्जीवः परेशः को ह्येवान्यादिति श्रुतेश्चेति। पूर्वपक्षे तु हरादिनामानः शितिकण्ठादयो बोध्याः। तत्रेति। तत्र क्षरमित्यादिश्रुतिषु। शितिकण्ठादेरुमापत्यादेः।

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादे
श्रीबलदेवकृत-अवतरणिका-भाष्यस्य सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आक्षेप है कि जगत्-सृष्टिके कारण सर्वनियन्ता श्रीहरिमें जो समस्त वेदोंका तात्पर्य देखा जाता है, वह तो युक्तियुक्त नहीं है। इसका कारण यह है कि विश्व-कर्त्तृत्व रूपमें शिवादिका उल्लेख श्रुतिमें देखा जाता है, इस आक्षेपका समाधान होनेसे इस प्रकरणमें आक्षेप-सङ्गति जानना चाहिये। *'क्षरम् प्रधानमित्यादि'* श्रुतिके अन्तर्गत हर इत्यादि शब्दका पूर्वपक्षीके मतमें जो अर्थ है, वह अवतरणिका भाष्यानुवादमें देखा जाता है। सम्प्रति सिद्धान्त अर्थ दिखा रहे हैं—हरति अर्थात् पच्चीस तत्त्वोंको जो लयकी ओर ले जाते हैं, उन परमेश्वरका—किन्तु वे अमृत अर्थात् नित्य हैं, अक्षर—निर्विकार हैं, यह अर्थ है। वे ही रुद्र हैं—'रुजं'—संसार-पीड़ाको जो 'द्रावयति' दूर कर देते हैं—इस अर्थमें। 'एकः'—सर्वाध्यक्ष हैं, इसलिए *'द्वितीयाय न तस्थुः'*—उन्हें छोड़कर अन्य किसीका भी तत्त्व आश्रय नहीं करते। वे शिव हैं, मङ्गलमय श्रीहरि हैं, *'मङ्गलं मङ्गलानाम्'* समस्त मङ्गलोंका मङ्गलत्व उनमें है, क्योंकि विष्णुके सहस्रनामस्तोत्रमें यही कहा गया है। *'प्रधानादिमुत्पन्नम्'* इत्यादि श्रुतिका सिद्धान्तित अर्थ इस प्रकार है, यथा प्रधान अर्थात् समस्त तत्त्वोंमें जो श्रेष्ठ हैं, उन परमेश्वरसे यह विश्व उत्पन्न है। *'जीवाद् भवन्ति भूतानि'* इत्यादि श्रुतिका सिद्धान्तार्थ है—*'जीवयति सर्वान्'*, जो सबको जीवित रखते हैं, इस व्युत्पत्तिके अनुसार जीव शब्दका अर्थ परमेश्वर है। श्रुतिमें भी यही कह रहे हैं—*'कोह्येवानात्'*—उनसे भिन्न और कौन जीवनदाता है? पूर्वपक्षीके मतमें हर इत्यादि शब्दोंको प्रसिद्ध शितिकण्ठ (महादेव) का वाचक जानना चाहिये। *'तत्र संशयः'* इत्यादिमें तत्र अर्थात् *'क्षरं प्रधानम्'* इत्यादि श्रुतिमें *'शितिकण्ठादेर्वाचकाः'* शितिकण्ठ इत्यादि नीलकण्ठ उमापतिका अभिधायक (वाचक या परिचायक) है।

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके चतुर्थ पादके श्रीबलदेवकृत अवतरणिका भाष्यकी टीकाका अनुवाद समाप्त॥

सूत्र—एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः॥ २८॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादे सूत्रं समाप्तम्॥

सूत्रार्थ—'एतेन'—पूर्वोक्त प्रकारसे ब्रह्ममें समन्वय विचारके द्वारा, 'सर्वे' समस्त हर इत्यादि शब्द भी, 'व्याख्याताः'—व्याख्यात हुए हैं अर्थात् ब्रह्ममें तात्पर्य योजित हुआ है, क्योंकि हर आदि समस्त ही उनके नाम हैं। द्वितीय 'व्याख्याताः' शब्द अध्यायकी समाप्तिका सूचक है॥ २८॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके चतुर्थ पादके
सूत्रार्थ समाप्त॥

सूत्रानुवाद—इस प्रकार समन्वयपूर्वक विवेचनसे समस्त वेदविरुद्धवादोंका निरसन हो गया है और जड़-चेतनसे विलक्षण सर्वत्र सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्ममें ही समस्त श्रुतियोंका तात्पर्य निर्धारित हुआ है॥ २८॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके चतुर्थ पादके
सूत्रानुवाद समाप्त॥

गोविन्दभाष्य—एतेनोक्तप्रकारकसमन्वयचिन्तनेन सर्वे हरादयः शब्दा व्याख्याता ब्रह्मपरतया नीताः तस्य सर्वनामत्वात्। *'नामानि विश्वानि न सन्ति लोके यदाविरासीत् पुरुषस्य सर्वम्। नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति तं वै विष्णु परममुदाहरन्ति'* इति भाल्ववेयश्रुतिः। वैशम्पायनोऽप्यतान् श्रीकृष्णाह्वयान् सस्मार। *'श्रीनारायणादीनि नामानि विनान्यानि रुद्रादिभ्यो हरिर्दत्तवान्'* इत्यन्यत्र स्मर्यते। किन्त्वयमत्र नियमः। यत्रान्यवाचकत्वेऽप्यविरोधस्तत्रान्यदमुख्यतयोच्यते। यत्र तु विरोधस्तत्र श्रीविष्णुरेविति। पदाभ्यासोऽध्यायसमाप्तिद्योतनाय।

सर्वे वेदाः पर्यवस्यन्ति यस्मिन् सत्यानन्ताचिन्त्यशक्तौ परेशे।
विश्वोत्पत्तिस्थेमभङ्गादिलीले नित्यं तस्मिन्नस्तु कृष्णे मतिर्नः॥ २८॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादे
श्रीबलदेवकृतं मूल-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्वोक्त प्रकारके समन्वय पर विचार करनेपर देखा जाता है कि हर, शिव, रुद्र, विश्वेश्वर, प्रधान, जीव इत्यादि शब्द ब्रह्ममें ही तात्पर्यबोधक हैं, क्योंकि वे समस्त नाममय हैं। भाल्ववेय श्रुति वही कह रही है, यथा *'नामानि विश्वानि न सन्ति'* इत्यादि। ये जितने भी कार्य, नाम लौकिक प्रयोगमें सुने जाते हैं, ये सब कारणनामसे भिन्न नहीं हैं, परमेश्वरसे ही सब व्यक्त हुआ है।

पुनः सबके नाम जिनमें लीन होते हैं, उन्हें ही पण्डितगण परमपुरुष विष्णु नामसे कहते हैं। वैशम्पायन मुनि भी इन शिव, रुद्र इत्यादि नामोंको श्रीकृष्णका वाचक ही मानते हैं। अन्यत्र स्कन्दपुराणमें भी कहा गया है कि श्रीहरिने अपने नारायण इत्यादिसे भिन्न अन्य सभी हर इत्यादि नाम रुद्र, ब्रह्मा इत्यादिको दिये थे। ऐसा होनेपर भी सिद्धान्त (नियम) यह है कि जहाँ ये नाम दूसरेके वाचक हैं, तो भी कोई विरोध नहीं है, वहाँ ये अन्य नाम गौण रूपमें कथित हैं, किन्तु जहाँ विरोध है, वहाँ जिस प्रकार नारायण शब्द रुद्रमें प्रयुक्त हुआ है, उस नामके श्रीविष्णु ही वाच्य हैं। *'व्याख्याता व्याख्याताः'* यह जो दो बार व्याख्यात शब्दकी आवृत्ति की गयी है, वह अध्यायकी समाप्तिकी द्योतक है। अध्यायके अन्तमें पुनः मङ्गलाचरण कर रहे हैं। भाष्यकार पतञ्जलि मुनि भी कहते हैं—*'मङ्गलाद्यानि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि प्रथन्ते आयुष्मत् पुरुषाणि भवन्ति'* इत्यादि—जिन सभी ग्रन्थोंके आदि, मध्य और अवसानमें मङ्गलाचरण है, वे सभी ग्रन्थ अप्रतिहत गतिसे चलते हैं और ग्रन्थकारकी परमायु बढ़ती है। यहाँ सर्ववेदाः इत्यादि मङ्गलाचरणात्मक श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—समस्त वेद जिन परमेश्वरमें पर्यवसित होते हैं अर्थात् श्रीभगवान्‌का ही ज्ञान कराते हैं, जो सत्यस्वरूप, अचिन्तनीय, अनन्तशक्तिसम्पन्न हैं, विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं लय जिनकी लीला है, उन परमेश्वर श्रीकृष्णमें हमारी अविचल भक्ति हो॥ २८॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके चतुर्थ पादके श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यका अनुवाद समाप्त॥

सूक्ष्मा-टीका—एतेनेति। तस्येति। तस्य परब्रह्मणः। श्रीविष्णोरेव हरादिनाम-नामित्वादित्यर्थः। यदुक्तं ब्रह्माण्डे। *'रुजं द्रावयते यस्मात् रुद्रस्तस्माज्जनार्द्दनः। ईशनादेव चेशानो महादेवो महत्त्वतः। पिबन्ति ये नरा नाकं मुक्ताः संसारसागरात्। तदाधारो यतो विष्णुः पिनाकीति ततः स्मृतः। शिवः सुखात्मकत्वेन सर्वसंरोधनाद्धरः। कृत्त्यात्मकमिदं विश्वं यतो वस्ते प्रवर्त्तयन्। कृत्तिवासास्ततो देवो विरिञ्चिश्च विरेचनात्। बृंहणाद् ब्रह्मनामासावैश्वर्यादिन्द्र उच्यते। एवं नानाविधैः शब्दैरेक एव त्रिविक्रमः। वेदेषु च पुराणेषु गीयते पुरुषोत्तमः।'* इति मनुष्यादिशब्दानामपि श्रीहरौ वृत्तिः श्रूयते। किमुत तत्र योगभाजां हरादिशब्दानामित्यभिप्रायेणोदाहरति यद् यतः

पुरुषादेव सर्वमाविरभूत्। नामानीति। कार्यानामान्यपि कारणनामान्येवाभेदादितिभावः। वैशस्पायनोऽपीति। एतान् हरादिशब्दान्। अन्यत्रेति। यथा स्कान्दे। *'ऋते नारायणादीनि नामानि पुरुषोत्तमः। प्रादादन्यत्र भगवान् राजवत् त्र्यम्बकं पुरम्'* इति। ब्राह्मे च—*'चतुर्मुखः शतानन्दो ब्रह्मणः पद्मभूः'* इति। *'उग्रो भस्मधरो नग्नः कापालीति शिवस्य च। विशेषनामानि ददौ स्वकीयान्यपि केशव'* इति। यत्रेति शास्त्रे। इत्थं पञ्चत्रिंशदधिकैकशतसूत्रकेण सप्तत्रिंशदधिकरणकेन प्रथमाध्यायेन ब्रह्मणि वेदानां समन्वयं निरूप्याथ तद्भक्त्याशया मङ्गलमाचरति सर्व इति। स्थेमा पालनम्। भङ्गः संहारः॥ २८॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादे
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यव्याख्याने श्रीबलदेवकृत-सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

सूक्ष्मा-सार—'एतेन' इत्यादि सूत्रके भाष्यमें *'तस्य सर्वनामत्वात्'* में 'तस्य' अर्थात् उन परब्रह्मके, क्योंकि श्रीविष्णु ही हर आदि नामके नामी हैं। ब्रह्माण्डपुराणमें कहा गया है *'रुजमित्यादि'*। क्योंकि वे संसारकी पीड़ाको दूर कर देते हैं, इसलिए रुद्र हैं, इसीलिए वे जनार्दन हैं—लोकके रक्षक हैं। समस्त नियन्ता रूपमें वे ईशान, सर्वश्रेष्ठ देव हैं, इसलिए महादेव हैं। 'पिनाकी' पि—पिवन्ति—भोग करते हैं, नाकं—स्वर्गम्। अर्थात् संसार-सागरसे जो मुक्त होते हैं, विष्णु उनके आधार हैं, इसलिए विष्णुको ही पिनाकी कहा जाता है। आनन्दस्वरूप हैं, इसलिए वे शिव हैं, समस्त संसारका नाश करते हैं, इस रूपमें वे हर हैं, इस विश्वका नाम कृति अर्थात् वेष्टन कर्म है, इस कृतिको जो प्रवर्त्तित (परिचालित) करते हैं, इस कारण वे 'कृतिवासाः' हैं। संसारका विरेचन अर्थात् दूरीकरण करते हैं, इसलिए विरिञ्चि हैं, 'बृंहणात्' वर्द्धकत्वके कारण वे ब्रह्म नामसे ख्यात हैं, 'इदि परमैश्वर्ये' इस अर्थमें इन्द्+र प्रत्ययसे इन्द्र शब्द निष्पन्न होता है। अतएव परमेश्वर रूपमें वे इन्द्र नामसे कहे जाते हैं। इस प्रकार एक ही परमेश्वर त्रिविक्रम, नारायण अनेक प्रकारके शब्दोंसे शब्दित होते हैं। वेद, पुराणमें जो उत्तमपुरुष नामसे कथित हैं, वे ही पुरुषोत्तम हैं। जब मनुष्यादि शब्द भी श्रीहरिके वाचक हैं, यह रूढ़ि शक्तिसे (शब्दके प्रचलित अर्थसे) जाना जाता है, जहाँ प्रकृति प्रत्ययके योगबलसे श्रीहरिको ही जाना जाता है, तब उन हर इत्यादि शब्दोंसे परमेश्वरको

जाना जायेगा, इसमें और क्या कहना है? किस अभिप्रायसे कह रहे हैं—*'यदाविरासीत् पुरुषस्तु सर्वम्'* यह अर्थ है—'यत्'—जिनसे, 'सर्वम्'—समस्त विश्व, 'आविरासीत्'—आविर्भूत हुआ है। श्रीनारायणादि कार्य नाम भी कारण नामस्वरूप हैं, वे अभिन्न हैं—इस अभिप्रायमें। *'वैशम्पायनोऽपीत्यादि'*—एतान्—इन सब हर इत्यादि शब्दोंका। 'अन्यत्र स्मर्यते'—अन्य स्थलपर भी स्मृत होता है। यथा स्कन्दपुराणमें *'ऋते नारायणादीनि नामानि पुरुषोत्तमः। प्रादादन्यत्र भगवान् राजवत् त्र्यम्बकम् पुरम्'* इति अर्थात् भगवान् श्रीहरिने नारायण, त्रिविक्रम इत्यादि इन अपने नामोंके अतिरिक्त अन्य समस्त नाम दूसरे-दूसरेको दे दिये। जिस प्रकार राजा अपने राजचिह्नोंके अतिरिक्त अपरापर भोग्य वस्तुएँ दूसरोंको दे देता है, इसी प्रकार पुरुषोत्तम श्रीहरिने महादेवजीको त्र्यम्बक, पुरारि नाम दिये हैं, अतएव पुरारि शब्द महादेवजीका वाचक है। ब्रह्मपुराणमें भी कहा गया है—पद्मयोनि ब्रह्माके चतुर्मुख, शतानन्द (जिनके सैकड़ों रूप हैं), पद्मयोनि इत्यादि नाम हैं और शिवजीके उग्र, भस्मधर, नग्न, कपाली इत्यादि नाम हैं। विशेष नाम अपने होनेपर भी अपरापर देवताओंको प्रदान कर दिये। *'यत्रान्यवाचकत्वेऽपयविरोध'* इत्यादिमें 'यत्र' का अर्थ है—जिस शास्त्रमें। इस प्रकार एक सौ पैंतीस सूत्रों और सैंतीस अधिकरणोंसे समन्वित प्रथम अध्याय द्वारा समस्त वेदान्तवाक्योंका ब्रह्ममें तात्पर्य दिखाया गया है। अब उन ब्रह्ममें भक्तिके उत्कर्षकी आशासे मङ्गलाचरण कर रहे हैं—*'सर्वे वेदाः पर्यवस्यन्ति'* इत्यादि। 'स्थेमा' का अर्थ है स्थिरत्व अथवा पालन। 'भङ्ग' का अर्थ है—प्रलय, संहार॥ २८॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके चतुर्थ पादके
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यकी व्याख्यामें श्रीबलदेवकृत
सूक्ष्मा-टीकाका अनुवाद समाप्त॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई आशङ्का करे कि श्रीहरि ही विश्वके एकमात्र कारण और सभीके ईश्वर कहे गये हैं, उनमें ही सभी वेदवाक्योंका समन्वय वर्णित हुआ है, तो यह युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि कहीं-कहीं शिवादिको और कहीं-कहीं विश्वको कारण रूपमें

वर्णन किया गया है। श्वेताश्वेतरमें जिस प्रकार कहा गया है कि *'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः'* (१/१०), *'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः'* (३/२) इत्यादि अर्थात् क्षर, प्रधान, अमृत, अक्षर, संहारकर्त्ता हर ही सबके अध्यक्ष हैं। वे मनुष्यकी संसार-पीड़ा दूर करके रुद्र नामसे कहे जाते हैं, उनके बिना द्वितीय आश्रय नहीं है। यहाँ यदि इस प्रकार संशय उपस्थित होता है कि यह हरादि शब्द क्या शितिकण्ठवाचक है अथवा यह परब्रह्मका वाचक है? यदि पूर्वपक्षी कहें कि 'हर' शब्द 'शितिकण्ठ' अर्थमें ही प्रसिद्ध है, इसलिए शितिकण्ठको ही हर कहना होगा। इसके खण्डनके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कह रहे हैं कि पूर्वोक्त प्रकारसे ब्रह्म-समन्वय विचारके द्वारा 'हर' इत्यादि शब्द जो एकमात्र परब्रह्मके वाचक हैं, यही प्रतिपादित हुआ है। कारण ब्रह्म ही सर्वनामस्वरूप हैं अर्थात् समस्त नाम ही परब्रह्मके वाचक हैं। इस विषयमें भाष्य और टीका देखनी चाहिये।

श्रीभगवान्‌के वचनमें पाया जाता है—

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः॥

आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम्॥

तस्मिन् ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि।
ब्रह्मरुद्रौ च भूतानि भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति॥

(श्रीमद्भा॰ ४/७/५०-५२)

श्रीभगवान्‌ने कहा—हे दक्ष! मैं जगत्‌का परम कारण, आत्मा, ईश्वर एवं साक्षी स्वरूप हूँ। मैं स्वयं-प्रकाश, जड़-उपाधि-शून्य एवं अप्राकृत वस्तु हूँ। मैं ही पुनः गुणावतार ब्रह्मा एवं शिव रूपमें प्रकट होता हूँ। हे विप्रवर! मैं ही त्रिगुणात्मक मायाका अधीश्वर होकर भी गुणातीत हूँ। मैं ही सत्त्वगुण स्वरूपमें जगत्‌की रक्षा करता हूँ। मैं ही ब्रह्मा एवं रुद्र रूपमें विश्वकी सृष्टि एवं संहार करता हूँ। इस प्रकार मैं इन त्रिविध कार्योंके उपयुक्त ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश नाम धारण करता हूँ। मैं अद्वयज्ञानपरतत्त्व रूप हूँ अर्थात् मुझसे अलग किसीका

भी स्वतन्त्र अधिष्ठान नहीं है। मैं ही एकमात्र स्वतन्त्र भगवान् हूँ। ब्रह्मा, रुद्रादि सभी मेरे अधीन तत्त्वरूपमें मुझमें ही अवस्थित हैं। अज्ञानी व्यक्ति ही मेरे गुणावतार ब्रह्मा, रुद्रको और तटस्थाशक्तिके रूपमें सम्पूर्ण जीवोंको मेरे साथ अभेद होते हुए भी मुझसे पृथक् मानते हैं।

अन्यत्र भी देखा जाता है,

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरि विरिञ्चि-हरेति संज्ञाः
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः॥

(श्रीमद्भा॰ १/२/२३)

सत्त्व, रज और तम—ये तीन प्रकृतिके गुण हैं। इन तीन गुणोंके अधीश्वररूप परमपुरुष तुरीय श्रीनारायण अपनी मायाशक्तिके द्वारा इस विश्वका पालन, उत्पत्ति और ध्वंस करनेके लिए विष्णु, ब्रह्मा और शिव—ये तीन नाम धारण करते हैं। इनमेंसे सत्त्वविग्रह श्रीवासुदेव ही भक्तोंका अभिलषित मङ्गल करते हैं। अतः अन्य देवताओंकी उपासनाको छोड़कर श्रीवासुदेव भगवान्‌की ही एकमात्र उपासना करनी चाहिये।

श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रमें श्रीविष्णुके शिवादि नाम पाये जाते हैं—

'सर्वः शर्वः शिवः स्थाणुर्भूतादिर्निधिरव्ययः।'
'वासुदेवो वृहद्भानुरादिदेवः पुरन्दरः।'
'जीवो विनयिता साक्षी मुकुन्दोऽमितविक्रमः।'
'ब्रह्मण्यो ब्रह्मकृद् ब्रह्मा ब्रह्म ब्रह्म विवर्द्धनः।'
'अणर्वृहन् कृशः स्थूलो गुणभृन्निर्गुणो महान्।'

सब काल, सब स्थान और सबके उत्पत्तिकर्त्ता होनेसे आप 'सर्व' हैं। दुःखोंको दूर करने और सुख देनेसे आप 'शर्व' हैं। कल्याणरूप होनेसे आप 'शिव' हैं। अचल और व्यापक होनेसे आप 'स्थाणु' हैं। आप चराचरके आदि कारण हैं, इससे 'भूतादि' हैं। आप 'अक्षय', 'निधि' हैं। वसुदेवके पुत्र होनेसे आप 'वासुदेव' हैं। जगत्‌को प्रकाशित

करते हैं, इससे 'बृहद्भानु' हैं। सबके आदि कारण होनेसे 'आदिदेव' हैं। देवताओंके शत्रुओंको मारनेसे आप 'पुरन्दर' हैं। प्राणोंको धारण करनेसे आप 'जीव' हैं। नम्र होनेसे 'विनयिता' हैं। सबके धर्माधर्मके देखनेसे 'साक्षी' हैं। मुक्तिदाता होनेसे 'मुकुन्द' हैं। अपार बल होनेसे 'अमित-विक्रम' हैं। तप, वेद, सत्य ज्ञानके अधिकारी होनेसे 'ब्रह्मण्य' हैं। तपादिके करनेसे 'ब्रह्मकृत्' हैं। 'ब्रह्म' रूपसे सबको रचते हैं, इससे 'ब्रह्मा' हैं। सत्यादि लक्षणोंसे युक्त बृहत् होनेसे 'ब्रह्म' हैं। तपादि बढ़ानेसे आप 'ब्रह्म-विवर्द्धन' हैं। सूक्ष्मरूप होनेसे अणु हैं। ब्रह्माण्डमें व्याप्त होनेसे 'बृहत्' हैं। बहुत हल्के होनेसे 'कृश' हैं। सबकी आत्मा होनेसे 'स्थूल' हैं। सत्त्व, रज, तम गुणोंको धारण करनेसे 'गुणभृत्' हैं। गुणरहित होनेसे आप 'निर्गुण' हैं। सर्वपूज्य होनेसे 'महान्' हैं।

वेद और पुराणमें जो नाना प्रकारके शब्दोंमें पुरुषोत्तमतत्त्वका गान किया जाता है, उसमें भी पाया जाता है—

रुजं द्रावयते यस्माद्रुद्रस्तस्माज्जनार्दनः।
ईशनादेव चेशानो महादेवो महत्त्वतः॥

पिवन्ति ये नरा नाकम् मुक्ताः संसारसागरात्।
तदाधारो यतो विष्णुः पिनाकीति ततः स्मृतः॥

शिवः सुखात्मकत्वेन सर्वसंरोधनाद्धरः।
कृत्यात्मकमिदं विश्वं यतो वस्ते प्रवर्त्तयन्॥

कृत्तिवासास्ततो देवो विरिञ्चिश्च विरेचनात्।
वृंहणाद् ब्रह्मनामासौ ऐश्वर्यादिन्द्र उच्यते॥

एवं नानाविधैः शब्दैरेक एव त्रिविक्रमः।
वेदेषु च पुराणेषु गीयते पुरुषोत्तमः॥

(ब्रह्माण्डपुराण)

इसकी व्याख्या सूक्ष्मा-टीकामें की गयी है।

स्कन्दपुराणमें पाया जाता है कि पुरुषोत्तमने केशव, नारायणादिसे भिन्न अन्य नाम देवतादियोंको प्रदान कर दिये। ब्रह्मपुराणमें भी इस विषयका उल्लेख है, जो टीकामें देखना चाहिये।

सूत्रमें द्वितीय 'व्याख्याताः' शब्दके द्वारा अध्यायकी समाप्ति सूचित हुई है। अन्तमें पुनः मङ्गलाचरणपूर्वक अध्यायकी समाप्ति की गयी है।

आचार्य श्रीशङ्करके भाष्यका मर्म इस प्रकार है—इसके द्वारा सभीकी व्याख्या हो गयी है। प्रथम अध्याय समाप्त हुआ कहकर भी 'व्याख्याताः' शब्दका यहाँ दो बार व्यवहार किया गया है। अनेक लोगोंका विचार है—सांख्यका प्रकृतिवाद उपनिषदमें पाया जाता है और कोई-कोई कहते हैं—वैशेषिकोंका परमाणुवाद भी उपनषिदमें देखा जाता है, इस प्रकार उपनिषदके द्वारा अन्यान्य मतवादोंके समर्थनकी चेष्टा अनेक लोगोंके द्वारा की जाती है, इनमें सांख्य मतका अवलम्बन करनेवाले ही प्रधान है। इसीलिए सांख्यमतका खण्डन करनेके लिए विशेष यत्न हुआ है और इस प्रकारसे वैशेषिकादि मत भी खण्डित हो जाते हैं।

श्रीरामानुजाचार्यके श्रीभाष्यका सार यह है—प्रथम अध्यायके चारों पादोंमें जो युक्ति-प्रणाली दिग्दर्शित हुई है, उसके द्वारा समस्त वेदान्तमें जगत्-कारण प्रतिपादक विशेष-विशेष वाक्यसमूह जो चेतन-अचेतन-विलक्षण-सर्वज्ञ-सर्वशक्ति ब्रह्म-प्रतिपादन परायण हैं, उनका ही निर्णय हुआ है अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ब्रह्म ही इस जगत्के कारण हैं, यही श्रुतिके सिद्धान्तमें कहा गया है। अध्यायकी समाप्तिका ज्ञान करानेके लिए 'व्याख्यात' शब्द दो बार कहा गया है।

श्रीमन्मध्वाचार्यके भाष्यका सार इस प्रकार है—पूर्वोक्त कारणसे शून्यादि शब्दसमूह भी श्रीभगवान् विष्णु विषयक रूपमें निरूपित हुए हैं। महोपनिषदमें पाया जाता है कि वे ही शून्य हैं, वे ही तुच्छ हैं, वे ही अभाव हैं, वे ही अव्यक्त, अदृश्य, अचिन्त्य एवं निर्गुण हैं। महाकौर्ममें भी है कि भगवान् श्रीविष्णु स्वयं अदृश्य होकर आत्मसुखसे सबके सुखको अल्प करते हैं, इसलिए उन्हें शून्य कहते हैं, वे सभीको तोदन (पीड़ित) अर्थात् प्रेरण करते हैं, इसलिए उन्हें तुच्छ कहा जाता है। कोई इन पुरुषोत्तमको उत्पन्न नहीं कर सकता, इसलिए वे अभाव शब्द वाच्य हैं। वे सबके अलक्ष्य हैं, इसलिए नाश

शब्दसे कथित हैं। सम्पूर्ण पदार्थ समुदाय ही श्रीविष्णुके अधीन है, इसलिए वे-वे पदार्थवाचक शब्दसमूह भी श्रीविष्णुवाचक हैं। केवल व्यवहारकारियोंके व्यवहारके लिए अन्यान्य अर्थोंमें शब्दोंका प्रयोग होता है। अतएव जगत्के जन्म-स्थिति-भङ्ग-कर्त्तृत्वादि अनन्त गुण विष्णुमें ही सिद्ध हैं। वराहसंहितामें भी लिखा है कि अध्यायके मूल (प्रारम्भ) से अन्त पर्यन्त लिखित विषयोंके अवधारणके लिए प्राज्ञ व्यक्तिगण अध्यायके अन्तमें द्विरुक्ति (अन्तिम शब्दका दो बार) प्रयोग करते हैं॥ २८॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके चतुर्थ पादकी गोविन्दतोषणी नामक वृत्ति समाप्त॥

प्रथम अध्याय समाप्त॥



सम्बन्धतत्त्वात्मक

प्रथम अध्यायकी अधिकरण सूची



प्रथम अध्यायकी सूत्र-सूची

(अक्षरादि क्रमसे)

प्रथम अध्यायके प्रथम पादसे चतुर्थ पाद तक

(च)

(छ)

(ज)

(त)

(द)

(ध)

(न)

(व)

(श)

(स)

